Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2

काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती

डॉ. स

R
८४.०१
३११.२

0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती

पुनर्मूल्यांकन

खण्ड-2

डॉ. सुरेश गौतम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

R
८४.०१
३१९.२
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri 102495

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
कृपया पुस्तक के ऊपर कोई निशान आदि
न लगायें।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R
८४.०१
३११.२

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या............ आगत संख्या 162495

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती

पुनर्मूल्यांकन

खण्ड-2

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

DONATION

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती

पुनर्मूल्यांकन

खण्ड-2

102495

102495

डॉ. सुरेश गौतम
एम.ए., पी.एच.डी., डी.लिट्.
वरिष्ठ रीडर, हिन्दी विभाग
सत्यवती कॉलेज, अशोक विहार-III
दिल्ली-110052
(दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

"उत्तर प्रदेश भाषा संस्थान
के सौजन्य से"

प्रकाशक :
श्री अल्मोड़ा बुक डिपो
माल रोड, अल्मोड़ा-263 601

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक :
श्री अल्मोड़ा बुक डिपो
माल रोड, अल्मोड़ा-263 601
दूरभाष : 22148, 22113

शाखा :
ए-2/71बी, प्रथम तल,
लारेंस रोड, दिल्ली-110 035
दूरभाष : 7100104
फैक्स : 011 - 7193852

वितरक :
अनुपम प्रकाशन
3014, मस्जिद खजूर, किनारी बाजार,
दिल्ली-6 दूरभाष : 3265634, 3253049

R
८8.09
391.2

सर्वाधिकार © : **वरुण गौतम**

संस्करण : 1997

ISBN : 81-85865-61-2

मुल्य 700/- रू. (भाग 1, 2, रू. 1400/- सेट)

लेज़र टाईपसैटिंग :
बी.डी. कम्प्यूटर्स
दिल्ली-31, दूरभाष : 2246173

मुद्रक :
डी.के. फाइन आर्ट प्रेस (प्रा.) लि.
दिल्ली-110 052

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तपबोध

"..... तुम्हारे मनन और लेखन के विराट आयामों को देख कर संकोच लगता है... विस्मय तो होता ही है। आज हिन्दी गीत पर विशेष कर आधुनिक सृजन पर तुम्हारे जैसा गहन अनुशीलन और ज्ञान किसी अन्य लेखक का नज़र नहीं आता......।"

– स्व. रामेश्वर शुक्ल अंचल

"..... गीत/नवगीत को ले कर डॉ. सुरेश गौतम ने गहरी आलोचनात्मक समझ विकसित कर ली है। इनकी तटस्थता और निष्पक्षता में संदेह नहीं... पैठ गहरी है... चिन्तन के लिए इन ग्रंथों में प्रभूत सामग्री है। ग्रन्थ रूप में नवगीत समीक्षा की पहल लगभग एक दशक पूर्व इन्होंने ही की थी... उसके बाद ये ग्रन्थ गीत पर समीक्षा के क्षेत्र में एक बड़े अभाव की पूर्ति है...।"

– आचार्य विजयेन्द्र स्नातक

"..... मैं डॉ. सुरेश गौतम..... के प्रति कृतज्ञ हूं... मुझ से भी कुछ कहने को कहा। नयी कविता और नवगीत - दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं... अगर गीत ओस की बूंद की तरह एक हरे-भरे विस्तार पर बिछा हुआ दिख रहा है तो उसे एक निगाह खड़े हो कर देखिए तो सही। मुझे लगता है इस पुस्तक ने हम से यही कहना चाहा है... समर्थ गीतकारों के स्वभाव और संस्पर्श को हम तक पहुंचाने की कोशिश इस दिशा में इस प्रथम पुस्तक ने की है। इस प्रारम्भ को प्रणाम कर के..... मैं सुरेश गौतम.. से अनुरोध करना चाहूंगा कि वे अपनी गीत के प्रति आकर्षण-वृत्ति को मद्धिम नहीं पड़ने देंगे और इस विधा को उसकी समस्त संभावनाओं के साथ क्रमशः ही क्यों न हो, प्रस्तुत करते रहेंगे।"

– स्व. भवानी प्रसाद मिश्र सन् 1985 में प्रकाशित ग्रंथ
'नवगीत : इतिहास और उपलब्धि' से।

"..... गीत के लिए आप जिस संकल्प और संस्कार के साथ काम कर रहे हैं, उसके लिए मैं आप को बधाई देता हूँ। आज के युग में कविता की एक Neglected विधा के प्रति आप जैसी आत्मीयता सचमुच आदर योग्य है। वैसे मेरी नज़र में ऐसे काम को वे करते हैं, जो खंडहर को गिराते नहीं वरन् उसी के ऊपर महल रचते हैं।"

आज एक ही स्वभाव, संस्कार और सुरुचि के लोगों की भेंट दुर्लभ हो गई है। आप से जो भी कह सका, शायद कहीं यह सोच कर कि आप शब्द और संस्कार के प्रति किसी रुप में 'कमिटेड' हैं। आप जैसा निष्ठावान शब्द-सेवक यश का भागी हो, यह कामना है।

– पं. रमानाथ अवस्थी

"डॉ. सुरेश गौतम का यह अध्ययन सतही या किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं है। वह प्रामाणिक और रचनात्मक दृष्टि से सम्पन्न है...।"

– श्री विष्णु प्रभाकर

"..... गीत पर आप जो धनुर्धर की टेक से साधना कर रहे हैं वह स्पृहनीय है...। आप साहित्य जगत के एक कोने को सुधामयी चन्द्रकिरण की शीतलता से मधुरव आलोकित कर रहे हैं। संक्षेप में कहना चाहूंगा कि आप गीत की आत्मा की तलाश में कोलम्बस की तरह यात्रा पर निकल पड़े जान पड़ते हैं। धन्य है, आप अपनी साधना में सफल हों।"

– प्रो. रामेश्वर लाल खण्डेलवाल 'तरुण'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"..... आप की तटस्थता-निष्पक्षता और ईमानदार लेखन का क़ायल हूँ....।"

– प्रो. महेन्द्र भटनागर

"..... आप बहुत गंभीरता से गीत को ले रहे हैं, स्तुत्य है, कोई तो हुआ जो इस देश की मिट्टी से जुड़ा...।"

– भारत भूषण

"..... गीत के लिए आप की सेवा ऐतिहासिक सिद्ध होगी....।"

– प्रो. उपेन्द्र

"..... समर्पित गीत मर्मज्ञ....।"

– श्री रामबहादुर सिंह भदौरिया

"गीत यात्रा के पड़ाव और पदचिन्हों को चीन्हते हुए डॉ. सुरेश गौतम ने गीत के पक्ष में बोलने से हिचकने वाले रुग्ण मानसिक वातावरण में जिस गीत को पुनः प्रतिष्ठापित किया है वह समुद्र तल से पृथ्वी को उद्धारने वाला 'वराही प्रयास' है। समयालोचन की अष्टावक्री गति के साथ सांस लेते गीत ने जिन अनुभूतियों को सहेजा उन्हें अभिव्यक्ति देने के लिये डॉ. गौतम ने भाषा में नये प्रयोग किये हैं जो पर्युषित समालोचनी भाषा से सर्वथा पृथक् है। उन्होंने पौराणिक पात्रों के चारित्रिक व्यक्तित्व को वर्त्तमान गीत में समाहित कर एक नया भाषायी स्पर्श दिया है। उन्होंने नयी कविता के भावात्मक सौन्दर्य को सुरक्षित रखा है परन्तु अगीत को सलाम नहीं बजाया। गीत के प्रति समर्पित होते हुए भी उदरम्भरि गीतकारों को नहीं बक्शा। आज आलोचना निष्पक्ष नहीं रह गई। सत्यालोचन के अभाव में गीत का सामर्थ्य उपेक्षित रह गया। गीत के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ये विराट् ग्रन्थ पंथ पर प्रकाश दीप सिद्ध होगें। गीत के प्रति उदासीन गीत को सिंहासनासीन करने के लिये विवश नहीं, उत्सुक हो उठेगें।"

– पं. मधुर शास्त्री

"आपकी गीत–समीक्षा पर क्या प्रतिक्रिया दूँ। अभिभूत हूँ। गीत की आत्मा को आपने समग्रता से जिया है। आप में गीत–समीक्षा की वह पैनी दृष्टि सुविकसित है जिससे न भाव भंगिमा की सही पहचान बची है न शिल्प कौशल की। गहरे पैठ कर आपने अनमोल मोती संजोये हैं।

आपकी लेखनी में शब्द का नव बोध है, साथ ही अनुभूति की अभिव्यक्ति का रसास्वादी माधुर्य भी।

आपका श्रम आपके सुयश की अमरता का सिद्ध प्रमाण है। मैं मुक्त कण्ठ से आपकी श्रमनिष्ठा की प्रशंसा करते हुए आप का स्वागत करता हूं।"

*– **डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'** (राष्ट्रीय अध्यक्ष, अखिल भारतीय साहित्य परिषद; भू.पू. अध्यक्ष, राजस्थान साहित्य अकादमी)*

"आप गीत पर अप्रतिम काम कर रहे हैं। मैं आप का आत्मिक अभिनन्दन करता हूँ। आप के समीक्षक में गीतपरक दृष्टि है। आप की समालोचना में गीत जैसी भंगिमा मुखर हुई है। आप जैसी गीतात्मक समीक्षा मैंने पहले कभी नहीं पढ़ी। छायावादोत्तर गीत पर यों तो बहुत कुछ लिखा ही नहीं गया है और जब लिखा गया है, तो गीत पर समालोचक ने अपने रूझान को थोपने की चेष्टा की है। अमृत दे रहे हैं आप, गीत और गीतकारों को। गीत पर किया जा रहा आप का कार्य रंग लायेगा - आप अमरत्व प्राप्त करेंगे, अमृत बांट कर।"

– प्रो. रामस्वरुप सिन्दूर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहली प्रति -
'भोर' का ज्योति द्वार
आलोक पर्व
'प्राची'
को...
दूसरी प्रति --
'तथागत' रूप, त्रिपुर ऋत
वरणीय
'वरुण'
को...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्व क्षण.... आज तक

अत्याधुनिकता की सुरा ने हमारे वैचारिक दर्शन को मननच्युत कर दिया है। साहित्य की दृष्टि अनावृत्त नहीं होती। वह समाज को आदर्श दृष्टि से आवृत्त करती है। प्रत्येक विचार को वैषम्य ही जन्म देता है। चेहरे विहीन समाज (Face Less Society) की ओर बढ़ते हुए इस समय हम बीसवीं सदी के अन्तिम छोर पर खड़े हैं। भूमंडलीकरण (ग्लोबलाइज़ेशन) की थ्योरी के कारण मनुष्य के सभी सम्बन्ध बाज़ारवाद पर केन्द्रित होते जा रहे हैं। मनुष्य के अन्दर की पाशविक वृत्तियां जाग रही है। आगे आने वाले समय में हमारे सामने स्मृति विहीन मनुष्य खड़ा होगा। नवउपनिवेशवादी युग जन्म ले रहा है। कम्प्यूटरीकृत संस्कृति के कारण भविष्यगत आतंक और आशंका के बीच सभी काव्यशास्त्रीय धारणाएं समाप्त हो गयी हैं। आलोचना के लिए केवल Text पाठ प्रक्रिया बची है। पाठ प्रक्रिया का अर्थ है कि जितनी भी काव्य विधाएं हैं वे सब प्रभावमूलक (Impective side) दिशा ग्रहण कर लेंगी।

प्रसिद्ध समाजशास्त्री ल्योतोर ने अपनी पुस्तक Post Modern Condition में भविष्य की कविता के विषय में टिप्पणी करते हुए लिखा है कि वह सांस्कृतिक आधारों से छिन्न भिन्न हो जाएगी। 21वीं सदी में हम इस प्रकार की जटिलताओं से सामना करने वाले हैं, लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कविता तो मनुष्य के साथ-साथ चलती है। मनुष्य भाव की रक्षा केवल कविता ही कर सकती है। इसलिए जैसे-जैसे जीवन और समाज में जटिलताएं बढ़ेंगीं, एकाकीपन बढ़ेगा वैसे-वैसे कविता की जरूरत पड़ेगी। अतः भविष्यगत कविता को ले कर हताशा-निराशा की जरुरत नहीं है।

आइये 21वीं सदी में प्रवेश से पहले कविता की बीत चुकी अर्द्धशती पर नज़र डालें। इस दौरान छंदबद्ध गीत कविता की संस्कारशील गतिशीलता को नकार कर उसे बाधित करने के अनेक प्रयत्न हुए। छंदबद्धता में बंधे रचनाकार बेचारे और दूसरी पंक्ति के सिद्ध किए गए लेकिन नकार दृष्टि सम्पन्न ऐसे तथाकथित उलूक अतिबौद्धिकों की पूरी की पूरी जमात प्रतिष्ठित होने के चक्कर में दुनिया भर के साहित्यिक षड्यन्त्रों के बाद भी कविता की इस आन्तरिक विशुद्ध गूंज को दबा नहीं पाई।

'काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती' चार खण्डों में विभक्त आलोचना ग्रंथ है। पहले दो खण्डों में बिना किसी लाग लपेट और पूर्वाग्रह के हिन्दी गीत की विशिष्ट पहचान को रेखांकित किया गया है। इस दृष्टि से यह आलोचन कर्म पूर्ण है। खण्ड तीन में कविता और खण्ड चार में हिन्दी ग़ज़ल के विभिन्न मोड़ों को चिह्नित करते हुए उसका बेबाकी से विश्लेषण एवं पुनर्मूल्यांकन है। अतः गत पांच दशक के काव्य परिदृश्य का संपूर्ण लेखा-जोखा इस वृहत आलोचना ग्रंथ का मूल थीसिस है। ये ग्रंथ समीक्षा के बदलते प्रतिमानों की कसौटी पर पांच दशक की गीत/कविता की पूर्ण बुनावट और संप्रेषण की जटिल प्रक्रिया को सामने लाते हैं। पुनर्मूल्यांकन के कालदंड पर पूरी तरह तान कर, उसका गुणा-भाग कर, उसके ग्राफ को पारदर्शी कर तलबोध तक पहुंचते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड-एक नवगीत की बीजभूमि है। काव्य क्षेत्र में फैली अनेक भ्रान्तियों को यहां सिलसिलेवार उद्घाटित किया गया है। मानक दृष्टि से अर्कमुखी आलोचन/विश्लेषण का प्रयास इस खण्ड की विशिष्टता है। शिविर मुक्त धारा के इन जीवनमुखी कवियों ने साहित्य को एक घनत्व और गत्यात्मक धारा दी है। काल नर्त्तन की भ्रू भंगिमाओं को साध कर इन्होंने मधुमक्खी की तरह बिंदु बिंदु ऋत इकट्ठा किया है। जहां एक ओर इन्होंने जीवन-समाज की फिसलनभरी भौतिक वीथिकाओं पर अंकुश लगाया है वहीं थकी आत्मा की लास्यमयी गुनगुनाहट को जीवन सत्व बना कर आधुनिक कुतर्कों को जीते वर्त्तमान की द्रवणशील भूमिका निर्मित की है। परम्परा और अत्याधुनिकता की आंच ले कर इन्होंने सूर्य सेज पर चांदनी से अभिसार किया है। इन्होंने जीवन को सेतुधर्मी बना कर उसे न तो कबीर की उलटबासी बनने दिया, न ही सूर के दृष्टिकूट पद और न ही लयविहीन अकविता के गद्यात्मक गर्भ से निकला नीरस युयुत्सावादी दर्शन। इन्होंने गीत मंत्रों को साधे रखा और नवगीत की हंसपीठिका निर्मित कर जीवन के कुरुक्षेत्र में अग्नि उत्सव मनाते संघर्ष यज्ञों को नर्तित मुद्राएं दी, मंत्रगंधी आप्त प्रवाह से आधुनिक बोध को जोड़ा, जिसमें संदल आंच भी है और अरबेरी फांस भी। खण्डित जीवन, दुःखिया त्यौहार, गूंगे वनवासी सम्बन्ध, ठहरी-ठिठकी स्मृति पुतलियों के बीच जीवन को शंख ध्वनित किया और जनसामान्य की सांसों में चलते बारूद को आक्रोश के नये रचनात्मक तेवर दे कर संवाद के धरातल दिए।

खण्ड-दो नवगीत की पुनर्मूल्यांकित अस्मिता है। नागफलकी झूमर प्रवेग में उलझी वैचारिक गिद्धता और मनुष्यत्व को नवगीतकारों ने अपनी छांदसिक तरल भंगिमाओं से अभिमंत्रित किया है। दैहिक मरोड़ों को आर-पार कर हृदय-वीचियों ने यहां बुद्धि को अर्द्धांगिनी बना लिया है। इन के अनुभव चौपाल में वर्त्तमान की त्रासदी गाती आग के साथ महाकाव्य सी उलझी शैली से उलझे जीवन को पूरी कसावट के साथ कालदंड बना देती है। आंसू का भाष्य रचते इन रचनाकारों में हंस मुक्तिबोध भी है और उत्तर आधुनिकता के बावजूद मन का चेतनागंधी आसव और सौन्दर्य बोधक व्याकरण भी। जीवन का त्रिपुर अर्क कई कोणी हो कर यहां वर्त्तमान जीवन के त्रासदिक काल विष को सोमधार बनाने की क्षमता लिए हुए है। जीवन और समाज के कटुक्त यथार्थ और बोधिसत्व को समेटते, आत्ममंथित भोजपत्र पर लिखे नवगीत अग्निरसी लावण्य के साथ मनुष्य के पूरे वजूद को क़हीं क्रूड निर्ममता से ख़ुरचते हैं और कहीं नीम मेंहदी रचते उसे मुकुरीय अक्स करते हैं। पुनरान्वेषण और जीवन के इस काल शोध में वर्त्तमान मुद्राओं का भाष्य जीवन से सप्तपदी कर हृदय के अनुष्ठान से बुद्धि आधुनिका को अपने विवेक-छाज में छानता है। इसी लिए हृदय-वीथियों में खनन करता गीत/नवगीत बुद्धि की रचनात्मक शक्ति पा कर सिद्धार्थ से गौतम की महायात्रा हो जाता है।

सृष्टि-कोख के सूर्यबीज गीत की इस प्रसव पीड़ा में मनुष्य का पुनः पुनः पुनर्जन्म है। मनुष्य-मन का उछाह और तेज़ाबी मरोढ़ जब विद्युत तरंग सी कंठाग्नि में अटक जाती है तब समूची निचुड़ी कोख की सृजनभूमि रक्तरंजित चांदनी का नया अध्याय रचती है, इसी का नाम 'गीत' है। इन सृजन क्षणों में तन त्रिवेणी मन भूमा होकर फैली स्याह दूरियों को पाट कर किरणों की कतार होता चला जाता है। यथार्थ की दाहकता और अभिभूत करने वाली सौन्दर्य चेतना की घुलनशीलता जीवन के अग्निचक्रों का गुनन है। यही मनुष्य जीवन की अग्निम तरलता है। छलक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और तपन का यही लावण्य गीत का सार्थक सौन्दर्य है। उमंगों के ब्रह्म कमल पर नृत्य करती नागवर्णी वेदनाएं जब मनुष्य आंखों की जलहीन डबडबाहटों का वर्त्तमान रचती है तब जीवन के दरकते अदृश्य अध्याय विवशताबोध के कारण नीलरंगी होकर जीने को मजबूर हो जाते हैं।

गीत की प्रकृति ही कुछ ऐसी है, क्योंकि गीत जीवन है, गीत के बिना तो मृत्यु भी सार्थक नहीं। महाचिति के इस नर्त्तन में पूर्ण आस्था और विश्वास के साथ गीत की अन्तरतम तरल अभिव्यक्ति पारे की तरह शब्द शरीर से फूटती है। इसीलिए गीत की रोशनी दूर तक अंधेरे का पीछा करती है।

गीत ने न कभी तुतला कर बोलना सीखा और न ही किसी की उंगली थाम कर चलना। यह तो द्रौपदी की तरह दिव्यजन्मा है, इसीलिए तो आदि ग्रन्थ रामायण गीत भी है और काव्य भी, गेय भी है और पाठ्य भी। इसीलिए वह आत्मा की पवित्र गुंजन कृति है। इसे केवल देह के सछिद्र कागज पर नहीं लिखा जा सकता। इसके लिए शुद्ध भावना का भोजपत्र चाहिए। जहां गीत हैं वहां सभ्यता झूमती है।

छिन्न मस्तक समाज के मस्तक पर साहित्यिक गीत ही मुकुट रखते हैं। गीत का कोणस्थ होना किसी भी राष्ट्र के मस्तक का शून्य भाल है। राजनीति चाहे कितनी ही निकटता स्थापित कर ले परन्तु मानसिक शान्ति और जीवन का कर्म सौन्दर्य साहित्यिक गीतों से ही अनुभूति के क्षेत्र में प्रवेश करता है। साहित्यिक गीत समाज से व्यक्ति और व्यक्ति से समाज को जोड़ता है। कठिनाई यह है कि **अन्य विधाओं की तुलना में साहित्यिक गीत की क्षमता को आंका नहीं गया। इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए। स्थितियां और समय इस का गवाह है। शोधकर्त्ताओं, अनुसन्धितसुओं, समालोचकों, विद्वानों का ध्यान अन्य विधाओं के अनुपात में गीत के मूल्यांकन की ओर क्यों नहीं गया, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है।**

साहित्यिक षड्यन्त्रों का आखेट होने के बावजूद इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं होना चाहिए कि जिस प्रकार शिव नृत्य का प्रारम्भ और विस्तार है उसी प्रकार गीत जीवन का प्रारम्भ और विस्तार है। शंभू के 108 नामों में से एक नाम महागीत भी है। नयी कविता के बीच गीत शिवलिंग की तरह प्रतिष्ठित है क्योंकि गीत मानव की मुक्तिगाथा का प्रथम प्रणव है।

एक समय था जब सारा भारतवर्ष साहित्य के सृजन को मूल्यांकित करता था। कश्मीर के कल्हण हों, दक्षिण के मम्मट, भट्टोजी दीक्षित, उत्तर के पंडित राज जगन्नाथ, चारों ओर साहित्य की दीपशिखा अपना धवल प्रकाश फैलाती थी। साहित्य-सृजन साधना का क्षेत्र माना जाता था। दर्शन के क्षेत्र में जिस प्रकार 'नेति' ने सब कुछ अस्वीकृत कर दिया आज साहित्य के क्षेत्र में भी अस्वीकृति की मानसिकता है।

हृदय + बुद्धि की अर्द्धनारीश्वरी दृष्टि ही सृष्टि-रचना का दर्शन है, यही गीत की घुलनशीलता का अन्तरंग कक्ष है, जहां स्त्री + पुरुष का अर्द्धांग एक दूसरे का पूरक बन कर 'तथागत' हो जाता है। पुरुरवा-उर्वशी द्वार पर दस्तक देता गीत यहां स्वयं अपने अखण्डत्व की रक्षा करता है। इस समाधिस्थ चेतना-अभिव्यक्ति ने ही व्यक्ति-जीवन के तमाम छिद्रों को कीलित कर काल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की धधकती भट्टी में तपा कर जीवन की चुनरिया/चदरिया को ज्यों की त्यों धर दीनी है। यदि आत्मा अमर है तो काव्य उसकी पारदर्शी अभिव्यक्ति है। इसीलिए काव्य परिदृश्य की वेला में आंखें खोज रही हैं उस अग्निभोगी प्रकाश रचना को जो समय की तपोमय दुष्ट दृष्टि को अर्वाचीन उज्ज्वल दर्शन दे सके। जो कवि कर्म कृत्स्न (कठिन) कहा गया वह आज की ज़िन्दगी की तरह सस्ता हो गया है। जो कविता मनुष्य को शिवेतर क्षति की ओर प्रेरित करती है उसका शं-कर स्वभाव ही नष्ट हो गया। सभ्य समाज कविता तथा अन्य कलात्मक प्रवृत्तियों के कारण अपनी सांस्कृतिकता सुरक्षित रखता था वह प्रवृत्ति ही लुप्त हो रही है और हो गई है। अतिबौद्धिकता ने मनुष्य के सार्द्र संकल्प को ही सोख लिया है। राजनीति, समाज, साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं के सन्दली शरीर को भौतिक आग्रह के कराल व्याल ने जकड़ लिया है और उस का विष आत्मा तक पहुंच गया है।

इक्कसवीं सदी का आतंक-अनुमान काव्य समाधि के अखण्डत्व पर लगातार नुकीले प्रश्न शर साध रहा है लेकिन मैं आशावादी, आस्थावादी हूं। नैराश्यबोध कई बार विचलित तो करता है लेकिन जिज़ीविषा और जीवट को छान कर अर्क भी बनाता है। इस पुण्य श्लोक गीत/काव्य का कभी अन्त नहीं हुआ। काव्य मनुष्य की बुनियादी जरुरत है। इसके बिना मनुष्य भाव की रक्षा नहीं की जा सकती। भविष्यगत आशंकाओं/संकल्पनाओं/अनास्थाओं के बावजूद गीत/कविता जीवित रहेगी और अपनी तरल-कठोर भंगिमाओं में कालमुद्राओं का इतिहास सदा की तरह रचती/बांचती रहेगी।

काव्य परिदृश्य एक स्पष्ट दर्शन और अकलंकित आलोचन-दृष्टि का पिपासु है। इतिहास के रेगिस्तान की प्यास बुझाने के लिए काव्य-रसधार की आवश्यकता है मरघटी आग की नहीं।

एक बात यहां मुझे विशेष रूप से कहनी है, महादेवी के बाद महिला रचयित्रियों के काव्यात्मक प्रदेय को रेखांकित करने में भी आलोचक ख़ेमों, शिविरों में बंटे रहे। उन की उपेक्षा न केवल दुर्भाग्यपूर्ण है अपितु अन्यायपूर्ण भी है। मैंने इस स्थिति का बहुत निकट से अनुभव किया। अतः महादेवी के बाद जितनी भी गीत कवयित्रियां हैं उन के योगदान को विशेष रूप से आलेखित करने के लिए मैंने 'काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती' ग्रंथ से अलग उन्हें 'महादेवी के बाद...' शीर्षक ग्रंथ में समेट दिया है। इसका प्रमुख उद्देश्य उन के विषय में विस्तारपूर्वक और विशिष्ट जानकारी देना है जिससे उन के साहित्यिक महत्त्व एवं योगदान का न्यायपूर्ण सम्मान किया जा सके। अतः इस ग्रंथ में महादेवी के बाद की किसी गीत रचयित्री की चर्चा नहीं है। जहां तक मेरी जानकारी है मेरे देखने में आज तक कोई ऐसा ग्रंथ नहीं आया जिसमें विशुद्ध रूप से गीत कवयित्रियों को केन्द्र में रख कर उनके साहित्यिक अवदान को गहरी आलोचनात्मक निगाहों से देखा-परखा गया हो। इस दृष्टि से 'महादेवी के बाद...' शीर्षक ग्रंथ आलोचनात्मक पहल है।

ये मेरे लिए 'पर्व क्षण' है क्योंकि मेरी दृष्टि में मेरे आलोचन कर्म और साहित्यिक यात्रा की ये ग्रंथ महान उपलब्धि है। इन ग्रंथों के साथ मेरा संकल्प-यज्ञ पूर्ण हुआ और श्री भवानी प्रसाद मिश्र को दिया हुआ वचन भी कि गीत के अद्यतन रूप को मैं सामने लाऊंगा। वैदिक युग से 'आज तक' (1996) की संपूर्ण गीत-यात्रा को आलोचन-दृष्टि से देखने-परखने का मेरा यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रयास कितना सफल या असफल है – ये आप जाने। सुधी साहित्य रसिकों/पाठकों के हाथों में ये ग्रंथ सौंपते हुए मैं मुक्ति का अनुभव कर रहा हूँ कि 'भवानी दा' को दिया हुआ वचन मैंने पूरा किया।

अन्त में, मैं कृतज्ञ हूं उन सभी का जो किसी न किसी रूप में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मेरे इस आलोचन-कर्म के साक्षी/सहयात्री रहे। नामोल्लेख कर मैं उन के महत्त्व को कम या अधिक नहीं करना चाहता। आभार...

इत्यलम्।

'सौभाग्यश्री'
737, डॉ. मुखर्जी नगर,
दिल्ली-110009
संवाद - 7218679, 7455843

डॉ. सुरेश गौतम
एम.ए., पी.एच.डी., डी.लिट्.
वरिष्ठ रीडर, सत्यवती कॉलेज
अशोक विहार-III, दिल्ली-52
(दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूक्त-कलश

- पुनर्चिंतन 1
- परिधि : नेतृत्व का कुरूक्षेत्र 5
- सतह का सच 11
- अन्तर्भूमि का सच 16

  कलश-नीड़, गीत बांसुरी उर्दू राग, ग़ज़ल-गीत : अन्तर-रेख, गीत का अन्तर्नाद : मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद, कला-लालित्य, गीत, व्यक्ति, व्यक्तित्व, नवगीत का शुक्ल पक्ष : कल्पना, सूक्ष्म प्रतिभा का कला चिह्न : दोहा, मार्क्सीय जूठन : जनगीत।

प्रतिनिधि हस्ताक्षर

- कवित्व, आलोकत्व और चिन्तकत्व : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह 43

  काव्य चरण, नींव : भूमिका से प्रस्थान-बिन्दु, घर : खुली बयार भरी सड़क, समाधि कक्ष : प्रीतगंधी जनबोध, शैल्पिक चितवन, अन्तर्दृष्टि : नवगीत की प्रथम पंक्ति।

- गीत शिखर से उतरा नवगीतारोही : डॉ. शंभूनाथ सिंह 59

  यात्रा-ग्राफ, नखदंती लावा जुगनु मन, शृंगार : आत्म विस्मरण, जमीनी गंध : लोकोन्मुख संस्कार, शैल्पिक आंगन, अन्तर्दृष्टि : शिविरधर्मी गुटीय आचरण।

- गीत गंधर्व : पं. वीरेन्द्र मिश्र 80

  मनोभूमि : मिट्टी और बीज, मूक माटी का सच : चाक-चक्र, सृजन : अलाव-अग्नि, पक गयी धूप : नीड़ की ओर, 'ढाई आखर' का सफ़र, तर्कीली बैरिन प्रकृति, परिणय पल : वेदना, गत्यात्मक सूत्रात्मकता : जिज़ीविषा एवं जीवट, जलधारी मेघ : राष्ट्रीयता, कोण-किरचें : चन्द्रकौंसी परिक्रमा, शिल्प-कलश : रचनादर्शी रंग, अन्तर्दृष्टि : गीतधर्मिता का छायानट।

- समुद्र-कलश का मंथन-संधान : डॉ. रवीन्द्र भ्रमर 117

  सोन-ताल की कलश-सतह, तल की ओर..., चक्र मंथन : भाव सम्पृक्ति, सेतु रंग : प्रकृति, अग्नि-लय : द्रवीय चिन्तन-संघर्ष, तत्व बोध : अर्क घुलावट कलात्मक चारूत्व : शैल्पिक देह, अन्तर्दृष्टि : काल-मुद्राओं के शंखीय बांसुरी छिद्र।

- रश्मिरथी चन्द्र : चन्द्रसेन विराट 133

  सहज एवं मौलिक कवि, अक्षत आदि तत्व, साधित मन की प्रणयी छुअनें, शीशे की धार : नीम बोधी लोकीय संवेदना, शैल्पिक बंध, शब्द-संयोजन : सूक्त्यात्मक दृष्टि, तिर्यक रेखाएं, व्यथा-पुत्र : गीत, जीवन की द्रवीय गंधक : ग़ज़ल, काल-मुद्राओं के आर-पार, बीज-भूमि : रस आखेटक दृष्टि, अंकुर-पल्लव, शाख-विटप, फल-पुष्प, अन्तर्दृष्टि : लोहे की सितार पर विराट गीत स्मिति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

❑ **नवगीत-मन्दिर की स्वरमयी आरती : कुंअर बेचैन** 166

अधर-अंगार, द्वार : संज्ञा सर्वनाम से संधि समास, घर : तिनका तिनका नीड़, भोर : धूप की उंगलियां, उर्वशी कक्ष : प्रणय मल्हार, आंगन : शैल्पिक रंग, मध्याह्न : उठान : ग़ज़लीय धूप-रोशनी, अन्तर्दृष्टि : जुगनु गीत आत्मीय कताई।

❑ **त्रिवेणी में गुंथा मलयज का झौंका : उमाकान्त मालवीय** 200

त्रिवेणी-सच, त्रिमुखी भाष्य : सुबह, दोपहर, शाम, ऋतु राजीय मादक सुधियां : प्रकृति, शिल्पीय चारूत्व सम्प्रेषण, अन्तर्दृष्टि : रीत गया त्रिवेणी जल।

❑ **जनबोधी शंख का वाणी संस्कार : रमेश रंजक** 216

ईख-सरसों की नमक-मिठास, आंसू के शिलालेख : पीर कथा की अग्नि साधना, धूप-कथानक : रचनात्मक गतिशीलता के भाव बिम्ब, सृष्टि रचना की व्यास पीठ : कलम, मार्क्सीय दुराग्रह : भ्रमित चिन्तन, प्रणय, दर्द, प्रकृति, शैल्पिक-पथ, छान्दसिक संगीतीय लय, लोकोक्त मुहावरें, शब्द, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार, अन्तर्दृष्टि : पैनी तो पत्थर में भी पैनी......।

❑ आलोकपर्वी परम्परा का पुरोधा : **शलभ श्रीराम सिंह** 243

❑ नीम-छतनार : **नईम** 255

❑ लोकगंधी चेतना का रस मंथन : **ठाकुर प्रसाद सिंह** 262

❑ दूब-नीड़ की गीत ज्वाला : **दिनेश शुक्ल** 268

❑ नवगीत का मुख धोती यामुनी लहर : **सोम ठाकुर** 279

❑ धूप सुर्खी सकार संघर्ष : **हरीश भादानी** 286

❑ कांवर भर धूप : **नारायण लाल परमार** 290

❑ नवगीत का सजग प्रहरी : **ओम् प्रभाकर** 295

❑ नवगीत का मेघधारी सुरभित झरोखा : **कुमार रवीन्द्र** 302

❑ मध्यवर्गीय कालकूट का साक्षी हस्ताक्षर : **माहेश्वर तिवारी** 308

❑ कड़ी धूप में जलता शहर : **उमा शंकर तिवारी** 319

❑ सन्नाटे की झील : **कृष्ण तिवारी** 324

❑ निखरती पीर : **राम बहादुर सिंह भदौरिया** 327

❑ शिवत्वमुखी गौरी शंकर : **शतदल** 334

❑ डूबते चंदन वन का शापित यक्ष : **किशन सरोज** 337

❑ गाती हुई आग में दहकता स्वर्ण गीत : **विजय किशोर मानव** 341

❑ नवगीत धर्मा ग़ज़ल प्रतीतियां : **ज़हीर कुरेशी** 344

❑ एक बार फिर जाल फैंक रे मछेरे! **बुद्धिनाथ मिश्र** 346

❑ बिवाईयों सी चटकी पीर-दरकनें : **उद्‌भ्रान्त** 349

❑ व्यक्ति और समाज की पारदर्शी छवियां : **वीरेन्द्र आस्तिक** 353

❑ सूक्ष्म दृष्टि का अर्क चिन्तन : **असीम शुक्ल** 360

❑ देहरी पर चीखता सन्नाटा और गांव की चिट्ठी : **राधेश्याम शुक्ल** 365

❑ सामाजिक यथार्थ की शंख-प्रत्यंचा : **कृष्ण बक्षी** 367

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

❑ नपुंसकत्व नकार मुद्राओं का दुराग्रह : **नचिकेता** 370
❑ सुबह होने तक... **युगल श्रीवास्तव** 374
❑ जलधारी चौपाल : **बद्री विप्लव** 376

❑ **प्रमुख नवगीतकार** 378

योगेन्द्र दत्त शर्मा, शिव बहादुर सिंह भदौरिया, गुलाब सिंह, अनूप अशेष, अखिलेश कुमार सिंह, अमरनाथ श्रीवास्तव, कैलाश गौतम, श्रीराम सेंगर, मयंक श्रीवास्तव, श्याम सुन्दर घोष, रामावतार चेतन, दिनकर सोनवलकर, शेर जंग गर्ग, दिनेश सिंह, विनोद निगम, डॉ. सुरेश श्रीवास्तव, घनश्याम अस्थाना, हरीश निगम, श्याम सुन्दर दूबे, इसाक़ अश्क, कुमार शिव।

❑ **नवगीत रथ के अन्य सधे सारथि** 423

चन्द्रदेव सिंह, अमरेन्द्र, देवेन्द्र शर्मा इन्द्र, देवेन्द्र कुमार, भगवान स्वरूप, राम चन्द्र चन्द्रभूषण, सुधांशु उपाध्याय, छविनाथ मिश्र, इन्द्र सेंगर, आत्मप्रकाश शुक्ल, डॉ. उर्मिलेश, यश मालवीय, ब्रजेश भट्ट, श्याम निर्मम, विनोद श्रीवास्तव, सुरंजन, बाबूराम शुक्ल, राधेश्याम बंधु, मधुसूदन साहा, मधुर कमल, संतोष श्रीवास्तव, आनन्द वल्लभ, पुष्प कुमार, जानकी प्रसाद विवश, हरस्वरूप भंवर।

❑ **गीत के राजमार्ग पर बढ़ते कुछ और चरण** 452

भूपेन्द्र कुमार स्नेही, दिनेश सक्सेना दिनेशायन, अश्वघोष, धनंजय सिंह, विद्यानन्द राजीव, ज्योति प्रकाश सक्सेना, जगत प्रकाश चतुर्वेदी, राजेन्द्र गौतम, महेन्द्र शंकर, कैलाश सेंगर, शैलेश भागवत, गिरिधर गोपाल, अतुल शर्मा, सूर्य प्रताप सिंह, प्रेम शंकर रघुवंशी, रघुनाथ प्रसाद, अमरनाथ मोहन, रामसेवक श्रीवास्तव, कंवल सक्सेना, डॉ. निष्काम, देवी प्रसाद वर्मा, श्याम नारायण मिश्र, डॉ. वंशीधर, केदारनाथ लाभ, महेश उपाध्याय, राजकिशोर, आनन्द भटनागर, नीलम सिंह, महेन्द्र कुमार मेहता, दीनानाथ तिवारी, गोपाल चतुर्वेदी, सुभाष वशिष्ठ, ब्रजराज तिवारी, महेन्द्र कुमार मिश्र, मंजुल मयंक, सरस्वती कुमार दीपक, शंकर माहेश्वरी, डॉ. एन सिंह, घमण्डी लाल अग्रवाल, नन्नो चित्रे आदि।

❑ **लीक के आस-पास** 465

दुष्यन्त कुमार, पुरूषोत्तम प्रतीक, सूर्यभानु गुप्त, विजय कुमार सिंघल, राम कुमार कृषक, ज्ञान प्रकाश विवेक, शिव ओम् अम्बर, श्रवण राही, विज्ञान व्रत, माधव मधुकर, बल्ली सिंह चीमा, प्रियदर्शी ठाकुर ख्याल, नरेन्द्र कुमार आदि।

❑ **इत्यलम् - - अथ** 482

परिशिष्ट / पूर्व सन्ध्या

❑ **गीत का एक और द्वार : फ़िल्म और गीत की साहित्यिकता** 511

रेशमी भोजपत्र और हृदय की लेखनी, लोक गीत और चलचित्रीय मानसिकता।

■■■

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्य परिदृश्य : अर्द्धशती
पुनर्मूल्यांकन
खण्ड-2

अपने पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ 'नवगीत : इतिहास और उपलब्धि' में मैं नवगीत के उद्‌भव और विकास पर विस्तार पूर्वक अपनी बात कह चुका हूं। उसे यहां दोहराना अनावश्यक है। जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया था उस समय नवगीत के मान-मूल्य अन्तिम रूप से स्थापित नहीं हो पाये थे। विवाद तो अभी भी है लेकिन उस के उद्‌भव, इतिहास, प्रवृत्तियां और शैल्पिक रचाव को लेकर धुंध कुछ छंट चुकी थी। गीत के पुनः प्रतिष्ठापना संघर्ष के दौरान लिखे गये इस ग्रन्थ में बहुत कुछ छूट गया था और बहुत कुछ ऐंसा जुड़ भी गया था जो आज नवगीत की तस्वीर के अनुकूल नहीं है। इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे गीतकार भी संकलित हैं जो आज के सन्दर्भ में नवगीतकार नहीं हैं लेकिन नवगीत की पृष्ठभूमि निर्मित करने में इन गीतकारों का अन्यतम महत्त्व एवं योग है। अतः जो कुछ छूट गया था और जो कुछ विगत दो दशकों में नया प्राप्त हुआ है उसकी रोशनी में पुनः नवगीतं का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। नवगीत की विस्तृत चर्चा, पुनर्मूल्यांकन का प्रयास इसी दिशा में है।

नवगीत : पुनर्चिंतन

समय के पांव कभी नहीं रूकते। आज जिस रफ़्तार से जीवन का रूप बदल रहा है उसमें प्रगतिहीन अस्थिरता का भाव ज़्यादा है। मज़बूती से आप जहां खड़े रहना चाहें वह धरती ही सरकने लगती है। इस सरकन में तेज़ी से संक्रमित मूल्यों की दुष्ट कसकन है जो व्यक्ति के वैचारिक चिन्तन बोध को क्षण क्षण चुनौती देती है। इस चुनौती-चटकन में शाश्वत मूल्यों का संरक्षण तर्क की धुरी से उतर कर कुतर्क की अति बुद्धिवादी भूमि पर डिस्को कर रहा है और भारतीयता विषम स्थितियों के विष से नीली पड़ी ताण्डव-मुद्रा में बूंद बूंद वैचारिकता की धूप-छांह में तीसरा नेत्र खुलने की प्रतीक्षा में है। यही कारण है कि आज जो सिद्धान्त सत्य प्रतीत होता है वही कल अनुपयोगी और असत्य सिद्ध हो जाता है। भारत ही क्या सारा संसार अति वैज्ञानिकता के कारण अत्याधुनिक हो रहा है। इस 'अति' ने मनुष्य को अतिचारी बना दिया है। इस अतिचार की रेलमपेल में मानव-मूल्यों का ह्रास हो गया है। अति वैज्ञानिकता राजनीति, समाज, साहित्य सभी को ग्रसती जा रही है। जो प्रबुद्ध हैं वे तो इस अव्यवस्था को अत्यधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकटता से महसूस कर रहे हैं मगर जो थोड़ा कम जानते हैं, जिन्हें हम शिक्षित नहीं कहते वे भी इस अमर्यादित जीवन-व्यापार से क्षुब्ध दिखाई देते हैं। इस उथल-पुथल, मानवीय संत्रास, घुटन, हत्या, अधिकार-हनन, अन्याय आदि से आज मनुष्य जीवन का रस नहीं ले पा रहा, उसके जीवन में निराशा व्याप गई है। चारों ओर निराशा का वातावरण है। इस निराशा में कुछ लोग आशावादी भाव प्रकट करते हैं। यह एक अच्छी आदत हो सकती है परन्तु जीवन जो कुछ हमें दिखा रहा है उसमें निराशा इसलिए है क्योंकि दिन पर दिन मनुष्य ऐसी प्रवृत्तियों का शिकार होता जा रहा है जिनसे शान्ति और सुखमय जीवन तो स्वप्न जैसा हो गया है। राजनीतिक दुष्चक्र मस्तिष्क पर हावी हो गया है और हृदय सद्भावना शून्य।

शैलीगत हो या विचारगत प्रत्येक परिवर्त्तन एक नये रूप रंग के साथ आता है। गीत ने भी अनुभूति और अभिव्यक्ति के स्तर पर एक जीवन्त इतिहास जिया है। उसने खुसरो से लेकर आज तक का परिवर्तित रूप भोगा है। छायावाद ने गीत को शिल्प और भावों की गहनता के साथ भाषा के सौन्दर्य से मंडित किया। साहित्यिक स्वरूप की दृष्टि से छायावादी गीत शैली सबसे अधिक समृद्ध कही जा सकती है। उस भावना को व्यक्ति के स्तर पर उस की अनुभूतिमय अभिव्यक्ति की सरलता ने विस्तार दिया और लोकप्रियता भी। इसी के साथ यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया है कि भावना और अनुभूति सदा ही अभिव्यक्त होने के लिए नवीनता की छटपटाहट लिए रहते हैं। नवगीत उस छटपटाहट की उपज है। नयी कविता की तर्ज़ पर ही नवगीत की प्रवृत्ति को जन्म मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस तथाकथित नवगीत में एक नयी चमक अवश्य थी। इसकी ओर नवगीतधारा का आसक्त होना भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। गीत की घटा ने चारों ओर से हृदय के आकाश को ढक लिया। उस गीत घन से ही एक नयी दीप्ति लिए विद्युत की तरह नवगीत की आभा ने आकर्षित किया परन्तु विद्युत के समान ही वह छिप गयी। छिपना इस अर्थ में कि नवगीत आज स्वयं को दुहरा रहा है। उस की वह चमक नहीं है जो व्यक्ति को अकस्मात् आकृष्ट करें। कभी कभी कहीं चकाचौंध सी लगती है वह भी आनन्द और स्फूर्तिदायक नहीं लगती क्योंकि उसमें विकास का आभास नहीं मिलता।

शैली ओर अनुभूति की दृष्टि से नवगीत आज नया नहीं है। नवगीत को लेकर कवियों और विचारकों ने अपने मत स्पष्ट किए हैं परन्तु नवगीत को आलोचना का वह स्वर सामर्थ्य नहीं प्राप्त हुआ है जिससे शैली में चिर स्थायित्व आता है। नवगीत निश्चय ही अनुभूति और भाषा के स्तर पर एक दीप्तिमुखी शैली लेकर प्रकट हुआ। नवगीत ने सर्वप्रथम भाषा के अधर चूमे। अब आप ध्यान से देखें तो लगता है नवगीतकार भाषा के प्रति अत्यधिक सजग है। वह खोज खोज कर ऐसे शब्द गढ़ता है जिसमें अप्रचलन का स्पर्श हो। वह श्रोता और पाठक के अभ्यस्त स्वभावजन्य शब्दाभिव्यक्ति को अपने नये प्रयोग से चौंका देता है। वह इस के लिए आंचलिक शब्दों का भी आश्रय लेता है। आप यदि खड़ी बोली के किसी शब्द को आंचलिकता में ढाल दें तो उस की मिठास बढ़ जाती है। जैसे ही इस विचार की पुष्टि का समय आयेगा तो सिद्ध किया जा सकता है कि क्रिया पदों के कुछ विकृत रूप नवीन प्रयोग अर्थात् नव के प्रसंग में स्वीकृत कर लिए गए हैं। नवगीत की यह विशिष्ट शैली अप्रचलित होते हुए भी असभ्य नहीं है। नयी कविता में जीवन की नग्नता जिस प्रकार अभिव्यंजित हुई है वह उल्लेखनीय कदापि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं है। हमें साहित्य के 'स- हित' का ध्यान रखना ही होगा क्योंकि आज समाज इतना असंस्कृत हो गया है कि वह साहित्य को समझता ही नहीं। नवगीत की दीप्ति तो अभिनंदनीय है परन्तु गीत की सामाजिक सम्प्रेषणीयता भी उतनी ही अभिप्रेत है क्योंकि हम भारतीय हैं और हमारा साहित्य 'शिवेतर क्षतये' रचा गया है। साहित्य में भी गीत का महत्त्व सर्वाधिक है। इस स्तर पर सोचते समय ऐसा प्रतीत होता है कि नवगीत भाषा की दृष्टि से छायावादी भाषा के आस-पास है। अस्पष्टता उस भाषा में भी थी और शब्द का बोझ नवगीत की भाषा भी ढो रही है।

नवगीत प्रकृति को हंसती दृष्टि से देखता है। मनुष्य के समीप प्रकृति है। नवगीतकार की अनुभूति प्रकृति के माध्यम से बहुत-सी अंगड़ाइयां लेते हुए तथाकथित नवगीतों में अभिव्यक्त हुई हैं। प्रारम्भ में तो यक्ष प्रिया को ही बुलाता रहा। इस में अस्वाभाविकता नहीं है। प्रेमिल स्पर्श के बिना गीत की उपज नहीं है। जीवन गीत है और गीत में जीवन है। किसी भी दृष्टि से उसका अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। जीवन के मूल की तरह गीत की मौलिकता में यही प्रणय-तत्व अपनी विशेष गंध देता है। यही गंध जब सीमा लांघ कर हवा की देह लिए बहती है तो एक विराट् जीवन के दर्शन होते हैं। यही गीत विस्तार आज नवगीत में विस्तार पा रहा है। नवगीत की अपनी मौलिकता है। नवगीत की बौद्धिक प्रवृत्ति असंदिग्ध है। मौलिकता उसकी बुनावट में है। नवगीत की विचार शैली तथाकथित बौद्धिकता से ओत-प्रोत है। इस प्रकार नवगीत छायावादी और नयी कविता का एक कलात्मक अमूर्त्त संयोग है।

वृत्त विधान की दृष्टि से भी गीत-घन में एक दीप्ति दात्री विद्युत के समान क्षण भर स्फुलिंग सा चमत्कृत कर नवगीत छोटा हो गया है। इस गीत शैली ने आकर्षित तो किया ही साथ ही एक विचारवान अनुभूति क्षेत्र को विस्तार भी दिया। साहित्य जीवन के स्पर्श से वंचित नहीं रह सकता। नवगीत जीवन का ही गीत है। नवगीत की विशेषता यह है कि उसने छन्द को त्यागा नहीं अपितु छन्द में ही नये प्रयोग किये। नवगीत में छन्द टूटा मगर एक नयी भंगिमा के साथ छन्द प्रयोगधर्मा न रह कर प्रयोगाधीन हो गया। गीत की गेयता को हानि नहीं पहुंची। नवगीत का छन्द वृहन्मात्रा गणना संकुलता के मोह से मुक्त होकर लघुकाय हो गया। बड़ी से बड़ी बात को छोटे से छोटे शब्दों में कहना इस शैली का लक्ष्य रहा। छन्द तो छायावादी हाथों में भी खेला था परन्तु उन गीतों में गीत की काया लगभग तीन पदों में सिमटी मिलती है। इसे कोई नियम तो नहीं कहा जा सकता फिर भी अधिकांश रचनाएं तीन या चार पदों में ही मिलती हैं। नवगीत में गीत की काया लघुतर होती गई। अनेक नवगीत दो पदों में सिमट गए।

बच्चन ने तीन से अधिक पदवाले गीत लिखे। वे मंच से जुड़े थे। मंच पर जो अधिक समय तक अपना गीत, कविता पढ़ता है वही अधिक प्रसिद्धि प्राप्त करता है। प्रसिद्ध होते ही बच्चन ने अपने दाम बढ़ा दिए। उसके बाद दाम चढ़ते ही चले गए। आज दाम आसमान छू रहे हैं और गीत-कविता की धरती गायब है। इस आपाधापी के युग में यदि किसी को इतना वक़्त मिल जाए कि वह लम्बा गीत सुन ले तो इसे निश्चय ही सफलता कहना चाहिए। नवगीत वृत्त विधान में चार-पांच मात्रा के शब्दों से प्रारम्भ होकर बीस-पच्चीस मात्रा तक अधिक लिखे गए। संक्षिप्तता नवगीत का विशिष्ट गुण है। वह जिस विचार को जितने में कह सकता है उसे कह कर विराम लेता है। उस विराम तक उस की प्रभावान्विति में अन्तर नहीं आना चाहिए। नवगीत के अनेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे उदाहरण हैं जहां नवगीत के लघु शरीर में एक महान् आत्मा भीतर से प्रकाश पुंज की तरह जगमगा रही है। वृत्त का अलंकरण काव्य के प्रति सावधानी का लक्षण है। गीत कोई बनिये का बही खाता नहीं है। वह संसार दूसरा है और सत्य की प्रतीति वहां एक दूसरी ही शैली में होती है। जहां वृत्त का इच्छानुसार विधान हुआ है वहां एक सौन्दर्य झलकता है। सौन्दर्य के पिपासु प्राणों के लिए झलक होनी चाहिए। नवगीत के प्रसंग में अनेक ऐसे उदाहरण हैं जहां वृत्त बहुत संक्षिप्त और विचारपूर्ण है। इस प्रकार आकार की दृष्टि से नवगीत सूक्ष्म अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख होता हुआ सूत्र दृष्टि की ओर बहता प्रतीत होता है।

गीत के घटाटोप में नवगीत की दीप्ति चौंका देने वाली नहीं है, उसमें तरलता है। इस तरलता ने ही उसे संगीतमय बनाया है। नवगीत के लयात्मक तत्व को भी एक नयी गति मिली है। नवगीतकार अनेक सुरीले कंठ के सुहाग सिन्दूर हैं जो अपने संगीतमय नवगीत से श्रोतामंडल को हतप्रभ कर देते हैं। लोकधुनों को आधुनिकता में ढाल कर प्रस्तुत करने से प्रभावशीलता में वृद्धि हो जाती है। सौभाग्य से अनेक नवगीतकार मंच के प्रसिद्ध नवगीत गायक हैं। इस प्रकार नवगीत में संगीतात्मकता का अंश भी प्रबल है। अब यह रिवाज़ और भी बढ़ रहा है। नवगीत के मुकाबले में ग़ज़ल आ गई है और दोहों की तरफ रूझान बढ़ रहा है। हिन्दी के गीतकार अब ग़ज़ल गायक हो गए हैं। ग़ज़ल को अधिकाधिक प्रभावग्राही बनाने के लिए कंठ का भरपूर प्रयोग किया जाता है। कभी कभी तो लगता है कि ये संगीत के छात्र होते तो सफल गायक हो सकते थे। कुल मिला कर नवगीत की दीप्ति कलात्मक और संगीतमय है।

गीतघन की यह दीप्ति सीमित नहीं है। इस का प्रकाश चतुर्दिक है। नवगीत में जीवन की पीड़ा, त्रास, घुटन, अभाव, विषमता, अमानवीयता के प्रति आकुलता का स्वर है। राजनीतिग्रस्त समाज अपनी सांस्कृतिकता को भुला कर सर्वथा अर्थोन्मुखी हो गया है। इस आर्थिक विषमता के चित्र और निर्धनता की वेदना नवगीत में मिलती है। नवगीत का रूझान आज आम आदमी की ओर है। वह समीप से मनुष्यता की ऊष्मा को महसूस कर रहा है। जीवन का आज जो रूप दिखाई दे रहा है उसमें नये प्रतीक और नये प्रयोगों के साथ विकास की स्पष्ट संभावनाएं दिखाई दे रही हैं। यदि उसके गीतत्व को क्षति पहुंचती है तो इस दीप्ति को बुझने के लिए विवश करना है। नवता के प्रलोभन में सहजता न लुप्त हो जाए। जहां गीत में मशीनीकरण हो जाता है वह मन को छूने में उतना सामर्थ्य नहीं रख पाता। कई पुष्प आखों को बहुत सुहाते हैं परन्तु सुगन्ध के नाम पर शून्य हैं। वे मानसिक शान्ति नहीं दे पाते। नवगीत को इस प्रदर्शन-प्रियता से बचना है। सत्य, शिव और सुन्दर से विश्व जीवन को आनंदित करना कला का आदर्श उद्देश्य है। नवगीत अपनी नवता को खो रहा है। नवता का आग्रह तो स्पृहणीय है परन्तु नवता के नाम पर शब्द और अर्थ में विकार उत्पन्न करना ठीक नहीं।

नवगीत को हम प्रयोग गीत कह सकते हैं। नवगीत में प्रयोग की प्रधानता है या भाषा की बंकिम चितवन अधिक आकर्षक है - यह प्रश्न हो सकता है, परन्तु कभी कभी प्रयोग की नवीनता भाषा की चूनर ओढ़ लेती है। नवगीत में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा है। भाषा में आंचलिक शब्दों के प्रयोग ने उसे नया तेवर दिया। आंचलिक भाषा की ओर झुकाव होने के कारण नवगीत में प्रकृति की ऐंठन भी मिलती है। भाषा में आंचलिकता भावनात्मक रस सृष्टि करती है लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक नवगीतकारों ने शब्दों की स्वाभाविक और सुन्दर रूप-देह को आड़ी-तिरछी लकीरों से गोद दिया। आंखों में काजल ही सुन्दर लग सकता है, सिन्दूरी रेख तो क्रोध की अभिव्यक्ति ही देगी। मानवीय संवेदनाओं के साथ प्रकृति के रंगों को इस भाषा ने नई अभिव्यक्ति दी। भाषा के साथ लोकधुन का स्पर्श नवगीतों की एक विशेषता है। साधारण जीवन के मुहावरे को गीत में उतार कर एक नयी सौन्दर्यानुभूति का वातावरण इन नवगीतों ने दिया। वस्तुतः नवगीत नयी भाषा के साथ नये प्रतीकों का खोजी है। भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए दैनिक जीवन में व्यवहृत शब्द, वस्तुएं, वैज्ञानिक संयत्र और प्राकृतिक स्थितियां नवगीत में झलकती हैं। इन से गीत को जीवन के यथार्थ से अधिक नैकट्य मिला। रोटी, पानी, घर, आजीविका, पुराने संस्कार, वैज्ञानिक उपलब्धियां, अति वैज्ञानिकता से उत्पन्न संकीर्ण मानसिकता और मनुष्य की छटपटाहट सभी कुछ नवगीत में है।

ऐसा नहीं है कि नवगीत आरोपमुक्त है। भाषा की क्लिष्टता, भावों की अस्पष्टता, शैली और प्रतीक, प्रयोग की पुनरावृत्ति, पदों का समान गठन, समान शब्द-प्रयोग आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे नवगीत जन-समुदाय में उतना प्रचारित और प्रतिष्ठित नहीं हो पाया। नयी कविता की तरह नवगीत बासी और बेस्वाद महसूस होने लगा है। जहां नवगीत प्रकृति को और मनुष्य की आन्तरिकता को व्यक्त करने के लिए व्याकुल है वहां उस की साहित्यिकता रेखांकित हो रही है। आज चारों ओर उच्छृंखलता की घटाएं घिर रही हैं। इन घटाओं के बीच नयी दीप्ति, नया आभा मंडल और नयी चमक लेकर नवगीत दिखाई दे रहा है। गीत की अनुशासनमयी मादकता में नवगीत किसी साधक का स्वर ऊंचा करे- यह आशा की जा सकती है। आवश्यकता है बुद्धि और हृदय में संतुलन की। अतिबौद्धिकता जीवन का रस सोख रही है। नवगीत यदि अतिबौद्धिकता का आग्रह स्वीकार करता गया तो वह अपनी पहचान खो बैठेगा। जीवन के साथ उसकी गति में गति मिलाते हुए भी उसे सामाजिक संस्कार देने का दायित्व निभाना होगा। हमारे यहां मसीहाई आसन की लालसा अधिक बढ़ गई है। नवगीत का प्रवर्त्तक कौन है? इस का निर्णय करने के लिए एक अलग साहित्यिक न्यायालय में जाना होगा।

परिधि : नेतृत्व का कुरूक्षेत्र

जब साहित्यिक क्षेत्र में राजनीतिक मस्तिष्क क्रियाशील हो जाते हैं तो साहित्य का स्वाभाविक विकास विक्षत हो जाता है। यदि नवगीत को विकास की धारा से जोड़ना है तो उस का विस्तार करना होगा। नवगीत एक नई अंगड़ाई लेकर उठा तो कुछ ऐसे लोग आगे आए जो उस का श्रृंगार करने के बजाय उस के अंग नोचनें लगे। राजनीति में नेतृत्व की भूख सारे राष्ट्र का भोजन कर जाती है उसी प्रकार साहित्य के क्षेत्र में भी मसीहाई लालसा उस के सौन्दर्य को नष्ट कर देती है।

नेतृत्व के इस साहित्यिक कुरूक्षेत्र की शुरूआत 'गीतांगिनी' से हुई जो डा. राजेन्द्र प्रसाद सिंह के सम्पादन में सन् 1958 में प्रकाशित हुआ। उस समय सहयोग के स्तर पर अनेक कविता संग्रह तथा अन्य विधाओं के संग्रह प्रकाशित हो रहे थे। स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी गीतिकाव्य का यह संक्रमण काल था। अजीब हांच पांच का वातावरण था। नयी कविता, प्रयोगवादी कविता, पूंजीवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यवस्था के विरूद्ध प्रगतिशील कविता, उस समय कुछ ऐसे गीतकार भी थे जो आजादी के विरूद्ध गा रहे थे - 'यह आजादी का स्वर्ग घिनौना/इससे नरक भला है/इससे तो पतझर अच्छा है/ ऐसा मधुमास बदल दो/सौगन्ध हिमालय की तुम को/युग का इतिहास बदल दो' (त्यागी)। इसी प्रकार और भी गीतकार थे, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, पं. मधुर शास्त्री, रंग, सिन्दूर, भारत भूषण, सरोज आदि अनेक नाम गिनाए जा सकते हैं। गीत, प्रगीत, शोकगीत ऐसे और भी अनेक विशेषण गीत के साथ लगा कर नेतृत्व की होड़ में हड़कंप मचाए हुए थे। इन्हीं दिनों नयी कविता के साथ नवगीत प्रचलित हुआ। अवसरवादी इस प्रकार के वातावरण की बाट जोहते हैं। साहित्य के क्षेत्र में नयी कविता, नई कहानी, नयी आलोचना का झंडा ऊंचा किया जा रहा था। स्वतन्त्रता के बाद न जाने क्या हुआ कि सभी नेतागिरी के महाप्रसाद को पाने के लिए लालायित हो उठे। वर्षों के बुभुक्षितों के सम्मुख जैसे व्यंजन भरा थाल आ गया। थाल पर झपटने का जो नतीजा होता है वही हिन्दी साहित्य में भी हुआ। इसी वैचारिक धरा पर 'गीतांगिनी' का अंकुर फूटा।

'गीतांगिनी' को पांच वर्गों में बांटा गया। ये पांच वर्ग - 'जीवन-दर्शन', 'व्यक्तित्व बोध', 'आत्मनिष्ठा', 'प्रीतितत्व' और 'परिसंचय' हैं। संकलन कर्त्ता ने इसे उस दशक के हिन्दी गीतिकाव्य का प्रतिनिधि संकलन कहा। साथ ही भूमिका में नवगीत का स्वरूप निर्णय करते हुए नयी अनुभूतियों की प्रक्रिया में संचयित मार्मिक समग्रता का आत्मीयपूर्ण स्वीकार माना। इस स्वीकृति को सिद्ध करने के लिए नयी कविता के पूरक नवगीत के पांच विकासशील तत्व बताए। अनभूति और अभिव्यक्ति यही साहित्य के देह-प्राण तत्व हैं। नवगीत को छान कर देखा जाय तो अनुभूति का क्षेत्र समान है, अभिव्यक्ति के लिए नये साधनों की खोज है। इस खोज में साधना की गंध नहीं, सायास प्रयास और काव्य के 'यश से' पत्र की प्रबलता दिखाई देती है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह, शंभूनाथ सिंह, वीरेन्द्र मिश्र और भी दो चार इस चक्कर में हैं कि लूट का माल उन्हें मिले। यह षड्यंत्री आचरण साहित्य के मर्म को लील गया। नये प्रयोग निराला ने किये थे और छन्द से मुक्त होने के लिए अपमान भी सहा परन्तु श्रेय अज्ञेय को मिला। अज्ञेय के व्यक्तितत्व का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू प्रदर्शन है। स्वयं को अभिजात वर्ग में स्थापित करते हुए वर्त्तमान से स्वयं को समुन्नत प्रदर्शित कराने के लिए आयोजित की उपेक्षा कर नये समायोजन का प्रपंच जिसमें अधिक होगा वह बाज़ी मार ले जाएगा। प्रत्येक समय की अपनी विशेषता होती है, उस समय ऐसी ही हलचल मच रही थी। निराला का मस्त स्वभाव उसे कवि बने रहने के लिए बाध्य करता था। निराला ने इस तरह का कोई आन्दोलन घोषित नहीं किया। नेतृत्व प्राप्ति का लालच नवगीत के विकास का पथ रोक गया। किसी एक प्रान्त से विकास नहीं होता। 'गीतांगिनी' में बिहार के गीतकार प्रमुख हैं। कमोबेश यह संग्रह बिहार के हिन्दी गीतकारों का संकलन है। जिन पांच विकासशील तत्वों को गिनाया गया है, क्या इनके अभाव में किसी भी साहित्य का अस्तित्व संभव है?

जीवन-दर्शन में ग्यारह गीतकार हैं। दस गीतकारों के बीच एक कवयित्री है कु. मधु। अब यह सोचा जा सकता है कि कु. मधु के समकालीन गीतकारों में जीवन-दर्शन नहीं था। रामावतार त्यागी, बलवीर सिंह रंग, श्रीपाल सिंह क्षेम, सिन्दूर, पं. मधुर शास्त्री, भारत भूषण, कु. मधु की सहगायिका श्रीमती स्नेहलता स्नेह, शंभूनाथ शेष के समकालीन उदयशंकर भट्ट और भी उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समय के प्रसिद्ध और जाने-माने गीतकार अपने गीतों से श्रोता और पाठक वर्ग को गुंजायमान कर रहे थे। इनके गुंजन में जीवन-दर्शन अनुभव नहीं किया गया। इनके संग्रह प्रमाण हैं कि इनमें जीवन-दर्शन था। आज नवगीत का जीवन-दर्शन उन गीतकारों के जीवन-दर्शन से भिन्न नहीं है। भिन्नता अभिव्यक्ति की साधन-प्रवृत्तियों में है। यह साधना भाषागत, भावगत, अर्थगत, प्रतीक़ात्मक, बिम्बात्मक (और भी शब्द गढ़े जा सकते हैं) अनेक क्षेत्रों में विस्तृत है। भारतीय जीवन-दर्शन से अधिक व्यापक दर्शन संसार में नहीं है। भटकन का कोई निर्णय नहीं होता। जीवन-दर्शन के क्षेत्र का जहां तक सम्बन्ध है यह प्रमाण है भारतीय संस्कृति से आप्लावित जीवन-दर्शन ही सम्मानित हुआ है। इसलिए जीवन-दर्शन सब का है। निराला से लेकर राजेन्द्र प्रसाद सिंह तक ही जीवन-दर्शन है – यह सर्वथा भ्रम है। इस वर्ग में जिन कवितानुमा गीतों को संकलित किया गया है उससे भी जीवन-दर्शन का कोई स्वरूप नये रूप में उभर कर सामने नहीं आता।

प्रत्येक वर्ग में ऐसे गीतकार भी हैं जिन्हें नवगीत के क्षेत्र में कोई प्रतिष्ठित नहीं कह सकता। केवल बिहार में प्रतिष्ठित होने से वह प्रतिनिधि गीतकार सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार अन्य वर्गों में जो विभाजन है वह अतर्क्य है। नवगीत की जो भूमिका मंच पर पहचानी गई और विधा के रजिस्टर्ड होने तक निरन्तर चलती रही वह बांकपन 'गीतांगिनी' के गीतों में कहीं कहीं नज़र आता है। आर्थिक दृष्टि से भी लोगों ने सहायता की है। हो सकता है ऐसे फैशन परस्त नवगीतकार रहे हो जो प्रकाशित नाम से संतुष्ट हो जाते हैं। ऐसी ही चौपाल डॉ. शंभूनाथ सिंह ने 'नवगीत दशक' एवं 'अर्द्धशती' में सजाई थी। अच्छा हुआ प्रयाग से कोई ऐसा संकलन नहीं निकला। वहां तो गली गली में नवगीतकार हैं। इसी प्रकार बम्बई, हैदराबाद आदि नगरों में शायद नवगीत पहुंचा ही नहीं। इसीलिए 'गीतांगिनी' को नवगीत का प्रथम संकलन मानना तो नासमझी है ही इसे गीतों का अर्थात् समग्र हिन्दी गीतिकाव्य का प्रतिनिधि संकलन भी नहीं कहा जा सकता। सोचना यह है कि जहां पक्षपात है वहां सत्य उपेक्षित है। साहित्य में सत् ही चिरन्तनता देता है।

छन्द को तोड़ कर नये प्रयोगों से प्रयोगवाद को जन्म देने वाले महाप्राण विषपायी निराला तो मौन रहे लेकिन नवगीत का भाग्य देखिए कि उस का नेतृत्व प्राप्त करने के लिए बाकायदा लिखा जा रहा है - "उन्होंने नवगीत के नाम पर जिन रचनाओं को जोड़ा बटोरा है उनमें नवगीत तो दूर, गीत भी बहुत कम हैं। इस तरह नवगीत संज्ञा के प्रथम प्रयोक्ता होने का उनका दावा सारहीन है।" (*नवगीत अर्द्धशती : पृ. 16*) "मैं आपको एक नवगीत सुनाने जा रहा हूं। इस तरह बिना किसी विचार-विमर्श और प्रस्ताव घोषणा के नयी कविता के मंच पर ही पहले पहल नवगीत शब्द का प्रयोग सहज रूप से प्रारम्भ हो गया।" (*पृ. 15*) इन वक्तव्यों से नेतृत्व का आकर्षण स्पष्ट हो रहा है। नेतृत्व के गुण की पहचान यह है कि नवगीत सप्तक में वीरेन्द्र मिश्र, रवीन्द्र भ्रमर, सोम ठाकुर, चन्द्रसेन विराट, माहेश्वर, कुंअर बेचैन का नाम नहीं, नवगीत दशक (1) में भी अनेक चर्चित नाम नहीं, नवगीत दशक (2) में भी कोई उल्लेखनीय उल्लिखित नहीं हुआ। यह एक प्रकार की शिविरीय मानसिकता है जिसने साहित्य में अराजकता उत्पन्न की। नवगीत और गीत को सुधी समीक्षक नहीं मिले क्योंकि अपने मुंह मिया मिट्ठू बने रहने का स्वभाव आड़े आ गया। स्वयं स्वर्गीय शंभूनाथ सिंह गीत का पवित्र आंगन छोड़ कर नयी कविता के कंटक जाल में फंसे। वहां के नुकीले कांटों ने जब अंग नहीं लगाया तो पुनः नवगीत का झंडा लेकर चल पड़े।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीड़ बढ़ जाने के कारण लोगों ने शिविर बना लिये। स्वयंभू नवगीत के नेताओं ने अपने अपने मन्त्रिमण्डल की घोषणी की। नवगीत दशक निकले तो लगा कि नवगीत का कोई निर्णायक तत्व स्थिर हुआ परन्तु ख़ेमेबाज़ी की प्रवृत्ति ने यहां भी छल लिया। जो ईमानदारी से नवगीत के पोषण में दत्त जीवन थे उन के नाम दूर दूर तक ग़ायब मिले। ऐसी स्थिति में सुधी पाठक को संकलनकर्त्ता की बुद्धि, संकुचित हृदय, अनैतिक नीति और स्वयं की स्थापना वृत्ति पर संदेह हो जाये तो आश्चर्य नहीं है। गीता कहती है - 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' अपना धर्म गुण रहित भी हो तो भी कल्याणकर के रूप में स्वीकृत करते ही रहना चाहिए। एक नवगीतकार दूसरे को हेय दृष्टि से देखे, उसके गीत का मूल्यांकन न होने दे, उसके नवगीतीय कलात्मक चातुर्य की उपेक्षा करे तो वह बेईमान है। ऐसी बेईमानी नवगीत के पोषक, नवगीतधर्मा, दशक का प्रतिनिधित्व करने वाले संदर्भ-ग्रन्थों में मिलती है तो नवगीत का भविष्य एक विचित्र प्रकार के कुहरे में भटका प्रतीत होता है।

साहित्य के क्षेत्र में इस व्यक्तिवादी प्रयत्नशीलता ने बहुत हानि पहुंचाई। नवगीत की सक्षमता ने जिन्हें प्रतिष्ठित किया और जो नवगीत की स्थापना के लिए सारा जीवन संघर्ष करते रहे उनमें इन व्यक्तिवादियों को नवगीतात्मकता नहीं मिली। वीरेन्द्र मिश्र के सम्बन्ध में - "वीरेन्द्र मिश्र (मंचीय गीतकार) ऐसे शब्द शिल्पी हैं जिनके गीतों में छायावादी अवशेष वर्त्तमान है। नवगीत की दिशा में प्रयाण करके भी वे नवगीत की पूर्णता तक नहीं पहुंच सके।" (*पृ. 32-34*) सच्चाई यह भी है कि स्व. शम्भूनाथ सिंह शरीर से असमर्थ होते हुए भी अंत समय तक मंच के मोह को नहीं त्याग सके। श्री मिश्र नवगीत के स्वयं दावेदार हैं और उन के प्रति ये विचार हैं। इसी प्रकार नवगीत के चर्चित कवि डा. रवीन्द्र भ्रमर के सम्बन्ध में यह कहना - "उन के गीतों में स्वर साधना ही प्रमुख है; यथार्थ जीवन की अनुभूतियों को व्यक्त करने में सक्षम नहीं हो सके।" (*पृ. 32-34*) यह पूछा जा सकता है कि कौन सा ऐसा नवगीतकार है जिसमें स्वर साधना नहीं है? 'पिया तुम कहां?' में यथार्थ जीवन की कौन सी अनुभूति व्यक्त हुई है? राजेन्द्र प्रसाद सिंह की नेतृत्व भावना को दुत्कारते हुए डा. सिंह कहते हैं - नवगीत के नाम पर जो रचनाएं दी हैं उनका नवगीत से अधिक सरोकार दिखाई नहीं देता। (*पृ. 32- 34*) शलभश्री रामसिंह, रमेश रंजक "के गीत नवगीत कसौटी पर खरे नहीं उतरते।" (*पृ. 32-34*) शान्ति सुमन के विषय में "उनकी समझ ही नवगीत की नहीं है,......कवयित्री को नवगीत से अधिक सरोकार नहीं है।" (*पृ. 32-34*) इसी प्रकार कुंवर बेचैन, सूर्यभानु गुप्त में "नवगीत की सहजता और स्वाभाविकता नहीं मिलती।" (*पृ. 32-34*)

किसी भी दृष्टि से डॉ. शंभूनाथ सिंह के तर्कों की रक्षा की जाए, तथाकथित टूटे खिलौनों से अवैध अनुचरों द्वारा इन्हें नवगीत का जबरदस्ती का बाप मान लेने के बाद भी नवगीत दशक 1, 2, 3 एवं नवगीत अर्द्धशती नवगीत के प्रामाणिक ग्रन्थ कतई नहीं माने जा सकते। इनमें नवगीत के अनेक प्रमुख कवियों की तो उपेक्षा है ही साथ ही इन ग्रन्थों में अनेक ऐसे कवियों का संचयन कर लिया गया है जिन्हें आज की तिथि तक नवगीतकार के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिली। नवगीतकार के रूप में जिन्हें आज तक किसी ने नहीं जाना। हिन्दी में ऐसे अनेक संकलन प्रकाशित हुए हैं जिनमें पैसे ले कर उनकी रचनाएं छापने का रिवाज़ रहा है। यदि ग्रन्थ की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रामाणिकता केवल संख्या बढ़ाने से है तो निश्चय ही इन गीतकारों से गीत को सांख्यिक समृद्धि मिली है। किसी पत्र-पत्रिका में एकाध गीत के छप जाने से वह संग्रहणीय नहीं हो सकता। तार सप्तक के सामने नवगीत दशक एवं नवगीत सप्तक बड़े छोटे कद का नवगीत पुरुष सिद्ध हो रहा है। जिन लोगों ने प्रयोगवादी या नयी कविता के क्षेत्र में स्थान बना लिया उन्हें नवगीत में घसीटने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। यदि वे लोग जीवित होते तो भी वे इस प्रकार 'परिगणित' नहीं होना चाहते। कोई भी शोधार्थी नवगीत के परिप्रेक्ष्य में यदि इन ग्रन्थों को प्रामाणिक मान कर चलेगा तो उस का शोध सतही, अपूर्ण एवं दिशाहीन होगा, क्योंकि इन ग्रन्थों में न जाने ऐसे कितने नाम हैं जो केवल इसी ग्रन्थ को अपनी उपस्थिति दे रहे हैं। नवगीत के किसी समीक्षक ने उनकी किसी पंक्ति को कहीं उद्धृत नहीं किया। नवगीतकार की जिन प्रवृत्तियों को आलोचित किया गया वे स्वयं सम्पादक में पाई गईं। स्वयं को विख्यात और ऐतिहासिक बनाने के चक्कर में इन्होंने जो चाहा सो लिख दिया। संपादक की संचयन प्रवृत्ति में विशुद्ध गुटबाजी की गंध है। बनारस, इलाहाबाद और लखनऊ जहां तक शंभूनाथ की दृष्टि जा सकी मात्र वहीं तक नवगीत लिखा गया, इसके अतिरिक्त कहीं नवगीत लिखा ही नहीं गया - इन संचयन-संकलनों के आधार पर तो यही लगता है।

डॉ. शंभूनाथ सिंह स्वयं को नवगीत का नेता मनवाने के लिए आजीवन प्रयत्नशील रहे। सही मायनों में इन संकलनों में विशुद्ध रूप से कुछ ही गीतकार हैं लेकिन शंभूनाथ सिंह ने साहित्यिक प्रतिष्ठापना के चक्कर में अपने इन नवगीत दशकों में उन्हीं तिलचिट्टों को एकत्र कर लिया जो उन के बिस्तर के आस-पास थे और जो अतीव प्रिय थे वे 'नवगीत सप्तक' में स्थान पा गए। जैसे वे नाम हैं वैसा ही उनका नवगीत का नेतृत्व वाला आकांक्षी असत्यपरक प्रयत्न।

नेतृत्व के तीसरे दावेदार वीरेन्द्र मिश्र का उदय एक गलेबाज़ गीतकार के रूप में हुआ। गीत में मुकरियां देना इन के गीत का वैशिष्ट्य था। धीरे-धीरे कवि-सम्मेलन के मंच का मोह व्याप्त हुआ। सेठों के विवाह और जन्म दिन पर गीत पाठ करने में भी वीरेन्द्र नहीं सकुचाये। राष्ट्रीय धारा को इन्होंने बखूबी अपनाया। गीत की प्रवृत्ति में जब नये प्रयोग होने लगे तो वीरेन्द्र मिश्र ने भी गीतों को नये प्रयोगों से भरना प्रारम्भ कर दिया। प्रयोग से बोझिल गीत दुरुह हो गया। गीत की उस सुन्दर पंक्ति को छोड़ नवगीत का मसीहा बनने के लिए वे इतने व्याकुल थे कि उसके लिए वह सब कुछ किया जा सकता है जो नहीं करना चाहिए।

मिश्र जी की प्रकृति और कृतियों में अन्तर होने के कारण ही उनका सही मूल्यांकन नहीं हो पाया। इस में कोई शक नहीं कि मिश्र जी का गीत और नवगीत पक्ष दोनों ही प्रबल हैं। जिस कवि की साहित्यिक प्रतिष्ठा में मंच ने निर्णायक भूमिका निभाई हो वही व्यक्ति जब मंच और मंचीय कवियों को नकारने लगता है तो इसे उस का दंभ ही कहा जाएगा। मंचीय पंक्ति से इस प्रकार छिटकना असाहित्यिक आचरण है क्योंकि मंच ने वीरेन्द्र को बहुत कुछ दिया है। इसलिए इस तरह तलाक़ नहीं दिया जा सकता। जीवन की विषमताओं एवं विवशताओं को वीरेन्द्र ने अत्यन्त कलात्मक शैली में गाया है। खुरदरी बनाई गई नवगीत की भाषा भी मिश्र जी के संगीतमय कंठ से फूट कर आकर्षक लगती है। स्थितियों की नज़ाकत भांप कर मिश्र जी भी जमात से पहले पहुंच नेतृत्व का श्रेय भोगना चाहते थे। गीत के प्रति मिश्र जी की चिन्ता सर्वविदित है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत की रक्षा के लिए उन्होंने अनेक आयोजन किए। 'सांध्य मित्रा' जैसी पत्रिका प्रकाशित की। आज मंच को गीत की दृष्टि से दूषित करने का श्रेय भी मिश्र जी जैसे गीतकारों को जाता है। मिश्र जी ने स्वयं को चर्चित -प्रतिष्ठित करने का तो सतत उपक्रम किया परन्तु नवगीत को विकास की दिशा में प्रेरित नहीं किया। नेतृत्व उस का होता है जो अपने सह रचनाकारों की रचनाओं में कहीं झांकता हो। मिश्र जी की गीत पद्धति अनुकृत नहीं रही। नीरज की तर्ज पर लोगों ने बहुत गाया परन्तु मिश्र जी ने अपना वह वर्ग नहीं बनाया या प्रेरित नहीं किया जो नवगीत की विकास सोपान-परम्परा में एक नया मानदंड नाप जाते। अपने समकालीनों में वीरेन्द्र अग्रगण्य हैं लेकिन जो स्थान वे जिस ढंग से चाहते हैं वह एक गीतकार के कोमल चरित्र को कठोर करता है। अपने समकालीनों के बीच बैठना आजकल वीरेन्द्र मिश्र को पसन्द नहीं है। मंच पर जो उन के समकालीन रहे उनके पास वैचारिक स्तर से नहीं बैठना चाहते। हर रचनाकार की अपनी शैली होती है लेकिन दूसरों को हीन बता कर या देख कर स्वयम् को महान नहीं बनाया जा सकता। गुणि गुण गणना के आरम्भ में वीरेन्द्र मिश्र का नाम आदर पूर्वक लिया जायेगा।

मिश्र जी आज मंच के योग्य नहीं हैं क्योंकि मिश्र जी के अधिकांश नवगीतों को समझने के लिए जिस मानसिकता की आवश्यकता है वह आज दुर्लभ हो गया है। इनके गीतों में सांस्कृतिक पक्षधरता का पक्ष सदा प्रबल रहा है। वे अपनी मिट्टी और अपनी प्राचीन सभ्यता के प्रति हृदयेन नत हैं। उन के गीतों में जहां राष्ट्रीयता उभरी है वहां उन्होंने देश के भव्य रूप को शब्दित किया है। वीरेन्द्र मिश्र सिंह बंधुओं के बीच मिश्रित है। नवगीत का नेतृत्व किसके हाथ बागडोर सौंपे- यह समय बतायेगा।

वीरेन्द्र मिश्र का मूल्यांकन होना अभी शेष है। बहुत कुछ लिखा होने पर भी अभी और पारखी क़लम उन्हें समय-दर्पण में उतारेगी। परछाइयों के बड़े होने से क़द बड़ा नहीं होता। क्षुद्र ईर्ष्या-द्वेष के जाल में गीत को नहीं फंसना चाहिए। आज गीत साधकों का अभाव है। शब्द भी अपनी केंचुली बदलते हैं। अर्थ की भंगिमा किसी बंधन को नहीं स्वीकारती। इसलिए शब्द के पुजारी इस असंख्य भारती समुदाय में ईमानदारी की आवाज को पहचान लेंगे। आवाज की पहचान बनाने के लिए अच्छा है खट्टे, तीखे, चरपरे पदार्थ ग्रहण न करें। व्यवहार में गीत की चिन्ता सतत बनी रहे। स्वार्थ को गीत-अर्थ के लिए बलिदान करना होगा। मिश्र जी जैसे व्यक्ति मंच को सुसंस्कृत कर सकते हैं परन्तु स्वयं को प्रतिष्ठित करने की ललक त्यागनी होगी। प्रकृति से कृतियों की पहचान हो। कृतियों के आधार पर गढ़ा चरित्र ओढ़ा हुआ होता है। मिश्र जी को प्रकृत स्थिति में प्रदर्शन प्रिय नहीं होना चाहिए। मिश्र जी का कलाकारोचित व्यक्तित्व उनके सुन्दर होने की झलक देता है। सौम्दर्य की सावधान दृष्टि मिश्र जी के गीतों में चाहे कम हो लेकिन नवगीतों में सर्वथा प्रत्यक्ष है। वीरेन्द्र शब्दों के खिलौनों से खेलने वाले गीत कवि हैं। अर्थ की सम्प्रेषणीयता एक समस्या हो सकती है परन्तु थोड़ा ध्यान देकर सुनने पढ़ने से वे समझ में आ जाते हैं। जब समझ में आ जाता है तो रस बरसता है परन्तु तब तक समय बीत जाता है।

नवगीत का नायक होने के लिए जो होड़ हो रही है उसमें डा. भारती सूरज के सांतवें घोड़े पर बैठ कर स्वयं को नवगीत का उन्नायक मान बैठे हैं। निश्चय ही भारती ने प्रारम्भ में अच्छे प्रयोगात्मक गीत लिखे जो छायावादी शैली से प्रभावित रुग्ण मानसिकता के अंकुर लिए हुए थे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वे गीत गेय थे। नयी पीढ़ी कुछ नया सोचने की आदी होती है। भारती ने भी गीत में कुछ नये प्रयोग किए परन्तु उन में नवगीत का कोई रूप-आकार नहीं था। इसीलिए प्रयोगवादी नयी कविता के शिविर में प्रवेश कर गये। द्वार पर खड़े थे अज्ञेय जिन्हें ऐसे युवाओं की आवश्यकता थी।

इधर डॉ. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' नवीन नेता जन्मे हैं। बार बार दिगम्बर होने के बाद भी इन की मठीय दृष्टि किसी गीतकार को अपनी कसौटी पर खरा नहीं उतरने देती। जिन पर इनकी कृपा दृष्टि है वे नवगीतीय समुद्र को पार कर अज्ञेय हो गए हैं वैसे सभी को अपना शिष्य मानना इन की जड़ीभूत मानसिकता है। नवगीत के शिविर-मरू की नेतृत्व-होड़ में अपनी दाल न गलती देख अब इन्होंने 'दोहों' का नया नारा दिया है। तार सप्तक, दशक, अर्द्धशती, सप्तक की तर्ज़ पर 'सप्तपदी' का सम्पादन कर अब वे दोहों की वकालत में मशगूल हैं। नवगीतकार के रूप में प्रतिष्ठापना न सही दोहों के पुनर्संस्कारी आन्दोलक-नायक के रूप में शायद हिन्दी साहित्य में उनका स्थान सुरक्षित हो जाए। पता नहीं क्यों अपनी सीमाओं से बाहर जा कर आकर्षक नारों की शक्ल में इस प्रकार लोग साहित्यिक जगत में प्रतिष्ठित होने का भ्रम पाल लेते हैं। इस शार्ट कट बैकडोर एवं आत्मरतिग्रस्त स्थिति से जितनी जल्दी बाहर निकल कर अपने रचनाकार रूप को निखारा जाए उतना अच्छा है क्योंकि 'सप्तपदी' के प्रकाशन से बहुत पहले चौरासी वर्षीय श्री कृष्ण राय हृदयेश (सुप्रसिद्ध स्वतन्त्रता सेनानी गांधी, नेहरू, सुभाष आदि के सहयोगी) एवं युवा सारस्वत मोहन मनीषी सरीखे वरिष्ठ और नयी पीढ़ी के रचनाकार दोहों की मंजाई कर रहे हैं, जिस की विस्तार पूर्वक चर्चा मैंने शिविर विहीन गीतिधारा के अन्तर्गत की है। अतः यह कोई नया करिश्मा नहीं है। इन्द्र के कैम्प से बाहर ऐसे अनेक वरिष्ठ और युवा रचनाकार हैं जो अपने दोहों के माध्यम से जीवन और वर्त्तमान काल मुद्राओं की बारीक कताई कर रहे हैं लेकिन इन दोहाकारों पर इन्द्र की नज़र नहीं टिक सकती क्योंकि ये साहित्यिक मठ विरोधी शिविर मुक्त साहित्यिकता में विश्वास रखते हैं। अफसोस है कि गुब्बारा फूलने से पहले ही हवा निकल गयी। अतः नेतृत्व की भूख इनकी प्यास को ही बढ़ाएगी। नायक की ताजपोशी और साहित्यिक प्रतिष्ठा के लिए इन्हें अब कोई और शार्ट कट ढूंढना पड़ेगा क्योंकि यहां ये अज्ञेय की तरह यश नहीं लूट सकते। साहित्य की आड़ में इस प्रकार की असाहित्यिक राजनीति नवगीत के स्वयंभू गाड फादर शंभूनाथ से अलग नहीं है। आचरण की यह विद्रूपता और अन्तर्विरोधी व्यवहार रेत पर नींव टिकाने जैसा है।

सतह का सच

नवगीत के क्षेत्र में महिलाओं का योगदान नगण्य रह गया। शान्ति सुमन जैसी सक्षम कवयित्री जनवादी खेमे में सिमट गई। जनवादी मोर्चा भी इस प्रकार के असंयत आचरण और पक्षपाती स्वभाव के विरुद्ध वैचारिक आन्दोलन है। अच्छा होता जनवादी प्रवृत्ति को नवगीत के विशाल हृदय में स्थान मिलता। यथार्थ जीवन की अनुभूति जनवादी कविताओं का मूल स्रोत है। ऐसे अनेक नवगीतकारों को इसलिए छोड़ दिया गया क्योंकि उनमें यथार्थ जीवन की अनुभूति नहीं थी। जहां यह अनुभूति है उन्हें आदर मिलना ही चाहिए। यदि नवगीत परम्परा को स्वस्थ देखना चाहते हैं तो उन्हें इस ओर ध्यान देना होगा। आज गीत की प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि नवगीत को किसी परिधि में न बांधा जाय। जो गीत परम्परा से जुड़ा है उनमें भी नवीनता देखी जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऐसे अनेक नवगीतकार हैं जिन पर फिल्मी संगीत का प्रभाव है। इन्होंने फिल्मों में प्रवेश का प्रयत्न भी किया है और दो चार नवगीतकारों के दो चार गीत वहां पहुंच भी गए हैं। कवि-सम्मेलन के मंच पर गले बाज़ी की शिकायत आम है। संगीत का स्पर्श तो सुखदायक है परन्तु गले का श्रम इनमें साफ़ नज़र आता है। ऐसे में जहां-तहां गीत की साहित्यिकता को धक्का पहुंचता है। वीरेन्द्र मिश्र, सोम ठाकुर, कुंवर बेचैन आदि नवगीतकारों में यह रुझान देखा जा सकता है परन्तु अनेक ऐसे गीतकार भी हैं जो अपनी स्वाभाविक लयबद्धता के साथ गीत प्रस्तुत करते हैं। उन की अनुभूतियां भी नए उपमानों और प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती हैं। इनमें नवगीत और गीत का सम्मिश्रित व्यक्तित्व सम्मिलित रूप में जीवित है। जो गीतकार आज लिख रहा है वह इतना मूर्ख नहीं है कि वह चांद के हिंडोले में झूले। उसे धरती के दर्द का ज्ञान है। मंच पर गीत प्रस्तुत कर देने भर से कोई गीतकार असाहित्यिक नहीं हो सकता। यह सूर्य सत्य है। असाहित्यिकता की अपनी पहचान है जो सुधी समीक्षक की दृष्टि में धूल नहीं झोंक सकती। जो साहित्यिक गीत लिख रहे हैं, जिन्हें समझ है, जो छन्द का सही निर्वाह कर रहे हैं, लयात्मकता और अनुभूति की आंच में तप रहे हैं उन्हें हाशिये पर खड़ा करना उन के प्रति, साहित्य के प्रति और गीत के विकासमान भविष्य के प्रति घोर अन्याय है। स्वातन्त्र्योत्तर गीत रचना के प्रसंग में पुनरावलोकन, गहरी छानबीन और सक्षम प्रतिभा की पकड़ आवश्यक है। जो आत्म प्रचार में कुशल नहीं है, जो अपने प्रसार में शक्ति का अपव्यय नहीं कर रहे उनका समाकलन नीर क्षीर प्रवृत्ति के आधार पर होना चाहिए।

नवगीत और गीत के सम्बन्ध में विचार करते समय मन पुनः बेकल होता है क्योंकि गीत और नवगीत के बीच दीवार खींच कर वर्ग-विभाजन की प्रक्रिया को अपनाया गया है। स्वातन्त्र्योत्तर गीत की मानसिकता में भावुकता को स्थान नहीं था। सभी अपने-अपने ढंग से प्रयोग कर रहे थे। डा. शंभूनाथ सिंह ने जिन कवियों को नवगीतकारों के रूप में संकलित किया या चर्चित करने का प्रयत्न किया गया उसी प्रकार तथाकथित गीतकारों के गीतों में भी वही भाव, वही व्याकुलता, वही प्रयोगधर्मा संचेतन, वही शैली मिलती है। भाषा को विकृत कर देने भर से नवगीत नहीं हो जाता। भाषा के विकृत रूप को पूर्व प्रकाशित नवगीत सम्बन्धी विचारों में अनेकशः संकेतित किया गया है। डा. शंभूनाथ सिंह को रंजक का 'गीत विहग उतरा' तक खटक गया फिर ऐसी स्थिति में 'निठुर देवता की अमर आरती पर चढ़ाया गया हूं, उतारा नहीं हूं' (रंग), 'चाहे हवन का हो, चाहे क़फ़न का हो, धुंए का रंग एक है' (रमानाथ अवस्थी), 'और हम बिखरे कि जैसे हाथ में पत्ते रमी के, ये सभी कारण कमी के' (मधुर शास्त्री) 'दिलों के चैक पर मज़े से हस्ताक्षर करना' (रामावतार त्यागी) तथा अन्य अनेक कवियों को इन नवगीतीय समीक्षकों ने किस आधार पर वर्गीकृत किया? जहां तक यथार्थ अनुभूति का प्रश्न है और सामाजिक पीड़ा की अभिव्यक्ति का सम्बन्ध है - मंच के सभी प्रतिष्ठित गीतकारों में मिलती है। केवल स्वयं को स्थापित, चर्चित और ख्याति के नाम पर वाह वाही लूटने की लालसा ने यह अन्याय कराया है। ऐसे असाहित्यिक गुटपरस्तों ने ही साहित्य को प्रान्तीय और जातीय सांचों में ढाल दिया है। नवगीत दशक, सप्तक, के अतिरिक्त (जो डा. शंभूनाथ सिंह की नज़र में कालीदासीय प्रतिभा लेकर जन्मे) उन अनेक गीतकारों के प्रयोगात्मक माधुर्य को इन्होंने पहचानने की आवश्यकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही नहीं समझी। इन लोगों ने संकलनों में अपनी पार्टी के लोगों की गीत पंक्तियां उद्धृत कर उन्हें प्रसिद्धि दिलाने का षड्यन्त्र रचा। नवगीत का गीत के प्रति शीत युद्ध चल रहा है। जितनी गहराई में उतरते हैं उतनी आंखें खुलती जाती हैं। जिन्हें मंचीय कह कर असाहित्यिक घोषित किया गया उसी मंच के प्रति इन परिगणित गीतकारों में अतिशय ललक मिलती है। अनेक नवगीतकार मंच से ही रोजी रोटी कमा रहे हैं। जो भी नवगीत और गीत से जुड़ा है वह मंच से भी चिपटा हुआ है। निराला को मंच ने आदर दिया। निराला का क्या कहना। एक ओर उन्हें प्रयोगवादी कवि के प्राथमिक होने का आदर दिया जा रहा है दूसरी ओर नवगीत का जन्मदाता भी कहा जा रहा है। नवगीतकार इस प्रतिभा के कवि नहीं हैं। यही कारण है कि नवगीत की समीक्षा (?) समग्र दृष्टि से नहीं हो पाई।

नवगीत की शल्य क्रिया करते समय जिन जिन अंगों को काटा गया उन्हें नवगीत की विशेषता बता दिया गया। समय की शिला पर मधुर चित्र बनाने और मिटाने वाले, पत्थर के हृदय को गाने वाले गीतकारों को नहीं पचा पाये। किसी भी दशक में बलवीर सिंह रंग का नाम नहीं, रवीन्द्र भ्रमर, चन्द्रसेन विराट, कुंअर बेचैन आदि नहीं। इनके अतिरिक्त श्रीपाल सिंह क्षेम, रमानाथ अवस्थी, त्यागी, पं. मधुर शास्त्री, राही, खण्डेलवाल तरूण, सारस्वत मोहन मनीषी, महेन्द्र भटनागर, रामदरश मिश्र, बलवीर सिंह करुण, गोविन्द नीराजन, पुरुषोत्तम सत्य प्रेमी, मयंक श्रीवास्तव, जानकी प्रसाद विवश, भीखी प्रसाद वीरेन्द्र, शान्ति सुमन, डॉ. रमासिंह (जोधपुर), प्रभा सिन्धु, ज्योति प्रकाश सक्सेना, किशन सरोज, राही, सिन्दूर, वीरेन्द्र आस्तिक, विज्ञान व्रत आदि और भी प्रसिद्ध गीतकार हैं जिनमें नवगीत के जीवाणु विद्यमान हैं। ये गीतकार दशकों, सप्तकों, आदि में संकलित तथाकथिक गीतकारों की तरह नहीं हैं अपितु ये ऐसे गीतकार हैं जिनके संग्रह प्रकाशित हुए हैं। यह बात दूसरी है कि इनके संग्रहों को पूर्वाग्रह या अन्य विकृत मानसिकता के कारण चर्चा में ही नहीं लाया गया। कुछ शराब के साथी, कुछ शबाब के आग्रही, कुछ आर्थिक आनन्द और कुछ गुरूडम का आनन्द लूटने वाले अपना अपना कैमरा फिट कर बैठे। त्यागी की पंक्ति है 'जब मरूंगा, देवता बन कर पुजूंगा' वाली बात सत्य होने जा रही है। आज गीत की ओर विचार-दृष्टि प्रफुल्लित है। गीत और नवगीत की आत्मा का साक्षात्कार करने के लिए अनेक अन्वेषण और अनुसन्धान की गुफाएं गह्यवर होती जा रही हैं। शोध-दृष्टि को विस्तार देने की आवश्यकता है। गीत की संपूर्ण प्रतिष्ठा के लिए संकीर्ण दृष्टिकोण त्यागना होगा। जिनके संग्रह प्रकाशित हुए हैं उन पर दृष्टि डालनी चाहिए। जो सर्वथा उपेक्षणीय हैं वे समय द्वारा स्वयं उपेक्षित हैं। 'नवगीत दशक', 'सप्तक', 'अर्द्धशती' (डॉ. शंभूनाथ सिंह) एवं 'नवगीत सप्तदशक' (सम्पा. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह) के कितने ही नवगीतकार आज सर्वथा अपरिचित हैं। स्थानीय आयोजना को कराने से ये गीतकार उल्लेखनीय नहीं हो जाते। साहित्य में हित की भावना है। भावना का आदर करना होगा। गीत को समेटे बिना नवगीत चिरायु नहीं हो सकता। जिन गीतकारों को छोड़ दिया गया है उनसे ऐसी आशा नहीं है कि वे आज़ के जीवन की विषमता, अभाव, घुटन, संत्रास, हिंसा और पतन से परिचन न हों। आज की पत्र-पत्रिकाओं में नवगीत साग्रह प्रकाशित हो रहा है। रचना की ताजगी ही उसे नवीनता की ओर ले जाती है। आज हम जिस वातावरण में हैं उससे त्रस्त होकर जीवन की नागरिक सुन्दरता के प्रति प्यासा मन विवश होकर सोच बैठता है - 'फूलों की नगरी में रह कर, शूल नागरिक कब हो पाये?'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जरा रुक कर सोचें कि आज का जीवन नागरिकता के आदर्श से कोसों दूर है। इस नागरिकता में सांस्कृतिक पवित्रता नहीं है। सारा भारत सुनागरिक हो जाये तो फिर यह हिंसा, घुटन और विवशता नहीं मिलेगी। आचरण बता रहे हैं कि निकट भविष्य में उत्थान की संभावनाएं कम होती जा रही हैं। कोई भी सद्वाक्य प्रभावशाली नहीं है। सदाचारी तो जैसे पारिभाषिक शब्द्कोश में ही रह गया है। इस वातावरण में गीत और नवगीत ही संयुक्त हो कर मधुर स्वर में उसे सम्बोधित कर सकता है। आज यह मेला जैसा हो गया है। प्रत्येक सत्यान्वेषी के हृदय में आज की मेला-संस्कृति चुभन उत्पन्न कर रही है। गीत की नवता देखिये कि इस ऊब को किस खूबी से प्रकट करता है - 'देख चुका हूं मेला, अकेला अब रहने दो' (रमानाथ अवस्थी)।

जब जब भी गीत-मंच गुटपरस्ती से किसी न किसी रूप में प्रभावित रहा तब तब गोपाल सिंह नेपाली, रंग, त्यागी, क्षेम, मधुर शास्त्री, विराट, रवीन्द्र भ्रमर, कुंअर बेचैन, डॉ. सुभद्रा खुराना, इन्दिरा मोहन, सारस्वत, मोहन मनीषी, श्री कृष्ण राय हृदयेश जैसे गीत/ नवगीतकार किसी न किसी रूप में उपेक्षित हुए। गुटबाज़ी के कारण अधिकांश गीतकारों को मंचीय मान लिया गया। बच्चन जी इस अर्थ में चतुर निकले। मधुशाला से मंचार्जन करते हुए भी उनकी दृष्टि पाठकों पर रही। पाठकों द्वारा ही साहित्य को प्रतिष्ठा मिलती है। गीतकारों के संग्रह तो प्रकाशित हुए हैं लेकिन उन की समीक्षात्मक चर्चा नहीं हुई। इस के पीछे अनेक कारण हो सकते हैं परन्तु यह सत्य है कि गीतकार सही रूप में समीक्षित नहीं हुए। बच्चनोत्तर गीतकारों में नवगीतात्मकता के शुभ लक्षण हैं लेकिन आगे चल कर नवगीत ने शाब्दिक और आंचलिक वस्त्र धारण किए उससे उसका चेहरा ही बदल गया, जिस शाब्दिक विकृति को डा. सिंह ने उल्लिखित किया है आज वही उस की पहचान बन गयी है, दूसरे शब्दों में वह शृंगार बन गई।

नवगीत से अभिप्राय भावनात्मक नव्यता और शैलीगत भव्यता से होना चाहिए। इस प्रकार अनेक गीतकार नवगीत के विस्तृत आंगन में खड़े हो सकेंगे। नयी कविता की होड़ में नवगीत को खड़ा नहीं होना है। यद्यपि नवगीत शब्द संज्ञा के रूप में आया, नयी कविता की स्पर्धा स्वरूप, तथापि नवगीत का अपना एक अलग व्यक्तित्व स्थापित होना ही चाहिए।

संक्षेप में, यह नहीं भूलना चाहिए कि गीत का शब्द-पुत्र है नवगीत। गीत का सौन्दर्य उपेक्षित कर नवगीत का अस्तित्व संदिग्ध है। छायावाद की तुलना में नवगीत कहीं नहीं ठहरता। छायावाद जिस दार्शनिक मंथन की उपज थी उस साधना का यहां नितान्त अभाव है। काव्य की मोहक कलात्मकता का परिपाक छायावाद में था नवगीत तो कला की अपेक्षा चित्रकारी की ओर अधिक प्रवृत्त हो गया। छायावाद की तरह प्रयोगवादी कविता जिस प्रकार विशिष्ट और संभ्रान्त व्यक्तियों की शैल्फ़ सजाती रही उसी प्रकार नवगीत भी प्रायः बौद्धिक व्यक्तियों तक सीमित होते जा रहे हैं। आजकल यदि चन्द्रमा को हिमखंड कह दिया, अशरीरी सूर्य बता दिया, झरने को स्तन से झरता दूध कह दिया तो नवगीत की गंध आने लगती है। पश्चिम की विचार चेतना मन में लिये भारतीय शाल ओढ़ कर नयी कविता आई। उसी प्रकार नवगीत अनुभूति को अभिव्यक्ति देने के लिये उन अप्रचलित शब्दों, असामान्य मुहावरों अथवा स्वानुकूल संत्रोटित शब्द-समूहों का संवाहक बन गया। नवगीत के क्षेत्र में ईमानदारी का सम्मोहन कम है। नयी कविता में जैसे भीड़ बढ़ी और वह अपने वैशिष्ट्य से पतित हो कर सामान्य हो गई। असामान्य जब सामान्य हो जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है तो वह सामान्य की दृष्टि में ही उपेक्षित होता जाता है। आज यही स्थिति नवगीत के कार्यकाल में उपस्थित हो रही है। पत्र-पत्रिका तथा नये नवगीत संग्रहों की भीड़ में नवगीत का जो मधुर-सा झुरझुरीदार नया शीतल स्पर्श था वह गर्मा गया है। मन भूखा था गुनगुनेपन का, होठों पर आग रखने से जलन होगी जो असह्य होती है।

बनारसी ठग की तरह नवगीत को भी कुछ गीत-ठगों ने ठग लिया है और यदि नवगीत जैसी विधा को इसी प्रकार ठगा जाता रहेगा तो नवगीत भी अपनी पहचान खो बैठेगा। गीत को सार्थक बनाने में नवगीत की भूमिका को सराहते हुए ईमानदारी के साथ नवगीतकारों का नवगीतात्मक योगदान मूल्यांकित होना चाहिए। जैसे प्रयोगवादी कविता में भड़ैती हुई वैसे ही यदि नवगीत में हो तो आश्चर्य नहीं है परन्तु आवश्यकता यह है कि गंभीरतापूर्वक नवगीत के ऐतिहासिक गठन, स्वरूप, सौन्दर्य, जीवन्तता, गति और चिन्तन-पक्ष पर विचार किया जाय और उसके विकास में जिस का यत्किंचित योगदान हो उसका उल्लेख होना चाहिए।

साहित्य के नाम पर सब कुछ सहन करना औदार्य नहीं, नपुंसकता है। आज पहले की अपेक्षा प्रचार-प्रसार के साधन अधिक हैं। इन साधनों का सदुपयोग तब ही हो सकता है जब हम ईमानदार के साथ जिम्मेदार भी हों। ईमानदार और जिम्मेदार व्यक्ति ही वफ़ादार हो सकता है। आज साहित्य को वफ़ादार की अनिवार्य आवश्यकता है। केवल अपनी पार्टी को ही महत्त्व देकर दूसरे की समस्त श्रम-कृति को अनुपादेय सिद्ध करना बेईमानी है। खेद है साहित्य में यह स्वभाव अमर-बेल की तरह विकासान्मुखी है।

यह बात भी सही है कि यदि नवगीतकार गीत के विशिष्ट व्यक्तित्व की अवहेलना करेंगे तो वे गीत की अवैध संतान की तरह दया के पात्र रह जायेंगे। गीत नवगीत का जन्मदाता है। माता-पिता की तरह पूज्य गीत की उपेक्षा उसे नाज़ायज औलाद की तरह व्यवहृत होने पर विवश कर देगी। नवगीत अनाथ हो जाएगा। अनाथ की स्थिति समाज में आदरणीय नहीं होती। नयी कविता में भी जिन लोगों ने आश्रयदाता का विरोध किया वे दाता के दरबार से निकाल दिए गए। निकलने पर वे अनाथ हो गए। उन्हें कोई स्वीकृति नहीं मिली, कोई पुरस्कार नहीं मिला। यह नवगीतकारों को सोचना चाहिए कि गीत की रक्षा में नवगीत सुरक्षित है। गीत को विकास देने से ही नवगीतकार की सनाथता सिद्ध हो सकती है तथा नवगीत भी अपने परम्परा सूत्रों को थामे हुए जब नयी ज़मीन तलाशेगा वहीं से उस की प्रगति का महत्त्वपूर्ण अध्याय महाकाव्यात्मक रूप लेगा। इस महाकाव्यात्मक गीत-कलश को व्याख्यायित करना होगा। इस की कलश-छलकन ही जीवन को द्रवीय मूल्यों से जोड़ेगी। जुड़ाव बंधी आलोक प्रतीतियां ही जीवन के सुगन्ध द्वार से होकर मंथन-सूत्रों का आईना होंगी। भाव सिंचित विचार भूमि पर बीजित नवगीत बीज अंकुर से पल्लव, पल्लव से शाख, शाख से वट बने इस का प्रयास करना होगा। कलशीय गीतों के बीजमंत्र आदमकद होकर महाकाव्यात्मक जीवन हो जाए उस के सर्ग-अध्यायों का तल स्पर्श करना होगा। सूत्र-सूक्तियों के इस चिन्तन-कलश से जो गीत-वृत्त उभरे या काल-छलनी में छन कर जो निखरे उसे नवगीतीय वैश्विक चेतना बनाना होगा। यात्रा के इस पड़ाव पर गंभीर होकर आइये एक बार पुनः नवगीत/गीत की पहचान करे। सम्भव है कुछ ऐसे सूत्र हाथ लगें जो नवगीत के मानक स्वरूप को उभारे। यह दावा नहीं अपितु विनम्र आलोचन-कर्म है। इससे सभी सहमत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों यह कतई आवश्यक नहीं। कुछ नए झरोखे खुले यही उपलब्धि होगी, तो फिर आइये तटस्थ भाव से इस चिन्तन-कलश को नापे।

अन्तर्भूमि का सच

कलश-नीड़

1940 के पश्चात विकसित मानवोन्मुखी गीत-धारा की गीत-रचनाओं में भी पारिस्थितिक कुण्ठा जन्म लेने लगी थी। पत्र-पत्रिकाओं के प्रमुख संस्थानों पर अमेरिकी हितों से प्रभावित संस्थान-स्वामियों ने नयी नियुक्तियां कीं। उन पत्र-स्वामियों का आर्थिक और सामाजिक हित पाश्चात्य 'उपभोक्ता-संस्कृति' की हवा बहाने के पक्ष में ही निहित था। उन पर 'नयी कविता' और 'प्रयोगवाद' से प्रभावित कवि, कहानीकार एवं कथा-साहित्य लेखक बैठने में सफल होते गये। वे प्रचार और विज्ञापन की पाश्चात्य प्राविधिकी में दीक्षित हुए। उन्हें मार्क्सवाद-साम्यवाद के झंडों का भी भय था। पाश्चात्य जगत में बासी और निरर्थक सिद्ध होकर पिट गये काव्यान्दोलनों के आयातों की आड़ उन्हें निरापद और रक्षा-कवच सिद्ध हुई। साहित्य जगत में शिविरबद्ध गुटीय गोष्ठियों, पत्र-विशेषों द्वारा उनके प्रच्छादक विज्ञापनों की बाढ़ फिर 'आकाशवाणी' और 'दूरदर्शन' (संचार-साधनों) पर भी उनकी स्रोतस्वी आक्रान्तियों ने गीत की धड़कनों में तेज़ाब डालना प्रारम्भ कर दिया। सहज मानवीय जीवन-बोधों, प्रकृतिपरक संसक्तियों, लोकमाधुरी के संस्पर्शों और जन के भीतर सहज जीवनावस्था मूलक भाव रागों को 'लिज़लिज़ा रोमांस' नाम दिया जाने लगा। सहज गीति प्रतिभा के विश्वासी गीतकारों ने 'नयी कविता' के लौटे सवारों को उदारतापूर्वक अपना लिया, जो कई अर्थों में रचनाधर्मिता के विपरीत नहीं था - और गीत-विधा की नूतन सम्भावनाओं का द्वार फिर खुल गया। 'बौद्धिक अमूर्त्तन, विखण्डित व्यक्तित्व और आत्म-निर्वासित अज़नबीपन' के स्थान पर नवगीतकार जीवन की सहजोर्ज़ा, लोक-संसक्तियों, भारतीय मिट्टी की अस्मिता जीवनास्था तथा राष्ट्रीयता-बोध के नये उपादानों के साथ, कविता-नवगीतों के माध्यम से सहज अन्तः प्रज्ञा, अन्तर्मन से उभरे बिम्ब-विधानों और आधुनिकता सम्पृक्त प्रतीकों की ओर लौटी। 'प्रयोग' और 'नयी कविता' से आगे 'साठोत्तरी' काव्य-वैविध्य ने जिस छान्दसिक भाषा-लय को पूरी प्रतिक्रिया के साथ, बहिर्गत कर दिया था, उसे सामान्य आधुनिक जीवन के तद्भव रूप-शब्दों, संज्ञा से बनाये गये नये क्रिया-रूपों, लोक-धरती की गंध से गंधित सोंधे शब्दों तथा प्रयास और चयन के फलस्वरूप अनेक पारम्परिक तुकान्तों के स्थान पर सरल आग्रहणों से मंडित नवगीत को एक प्रभावी आन्दोलन का रूप प्रदान कर दिया।

वर्त्तमान संकुल जीवन को लय देने के लिए परम्परा विकसित गीतों का आयतन, अपेक्षाकृत विकसित होना चाहिए। भाषा की तत्सम् प्रधान प्रवृत्ति और लालित्य-सौकुमार्य के भाव-भाषा-बोध में विस्तार को स्थान मिला। लोकोक्तियों, सामान्य जीवन वार्त्ता में प्रयुक्त होने वाले पद-साहचर्यों से भाषा जीवन की सामान्य भूमि पर उतरने लगी। गीतों में भी तथाकथित सुकुमार और मधुर जीवन-बोध के समानान्तर, आज के समाज के संचारी-भावों का आगमन हुआ। खड़ी बोली के आकार में, लोक सहज शब्दों और उनसे बने संज्ञा-क्रिया-विशेषणों को सार्थक प्रसंग देने वाले 'जन गीत' जैसे गीत-प्रकार भी काव्योचित प्रतीत होने लगे। भाषा का तथाकथित 'टकसालीपन' टूटा और जन-जीवन के नैसर्गिक मूल-स्रोतों में भी गीत बह उठे। इस प्रकार गीत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विधा की मूल धारणाओं के बावजूद गीत फिर सहृदय की खोज की ओर उन्मुख हुआ। हर दशक के बाद गीत की मुखाकृति और गुणात्मकता में समयानुकूल परिवर्त्तन हुआ। गीत को जन तक ले जाने और 'गीत को उसके विशिष्ट सहृदय तक सार्थक रखने' के दो ध्रुवीय छोरों के बीच आज की गीत-विधा दोलायमान अवश्य है, पर दोनों के बीच, उसे वह मध्यम मान तो ढूंढना ही है, जहां से वह दोनों से दूर या एकदम एकांगी बन कर न रह जाय। गीत की लयात्मकता (गेयता) उसकी हृदय-केन्द्रिकता तथा क्षिप्र और संक्षिप्त प्रभाव-तीव्रता ही उसे कविता के अन्य रूपों से अलग अस्मिता दे पाती है, इसे गीतकार को अविस्मृत ही रखना होगा।

गीत की सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से आज की गीत-विधा में नया क्या कुछ योजनीय हो सकता है, इस पर भी विचार आवश्यक है। गीत की सफलता का मर्म तो यही हो सकता है कि वह अपनी लयात्मक और तीव्र प्रभावशीलता में अपने कथ्य को संक्षिप्ति का वह कसा हुआ रूप दे सके जिससे गीत की संवेदना और लक्षित भाव-बोध पाठक अथवा श्रोता-वर्ग को अपने साथ बहा ले जाए। सद्यः तीव्र-प्रभावकता के बिना गीत सहृदय का साथी नहीं बन सकता। उसके बिम्ब-प्रतीक कविता के अन्य रूपों की भांति यदि अत्यन्त जटिल, अति संगुम्फित एवं मौलिक नवीनता की होड़ में दुर्बोध और बुद्धि-शोध्य ही बने रहेंगे तो वे पहेली बन कर ही रह जायेंगे। कविता के अन्य रूप मंच और अपरोक्ष जन-साक्षात्कार से कुछ दूर बैठ कर अपनी उपयोगिता को तुल्यतः सुरक्षित रख सकते हैं, पर गीत यदि सहृदय के अपरोक्ष साक्षात्कार से पलायन करेगा तो वह सार्थक विधा की श्रेणी से विदा हो जायेगा। श्रोता पाठक-साक्षात्कार की अगर किसी काव्य रूप को सर्वाधिक अनिवार्यता है तो वह गीत-विधा ही है। वह गाया जाय, जन-मन में रचे - बसे - तो उसे कौन गायेगा - सहृदय ही तो गायेगा? यदि गीतकार से छीन कर उसे शुद्ध गायक भी वाद्य-सहयोग से गाये तो उसे कौन सुनेगा और क्यों सुनेगा? सुनेगा और गायेगा कोई तब जब वह सम्प्रेषण की आंख-मिचौनी और आत्मगोपनी चमत्कार घात की राह न अपना कर अधिकाधिक सार्वभौम प्रभाव की शक्ति में विश्वास कर, 'स्व' और 'पर' के अन्तराल को भर लेने में समर्थ होगा। छायावादी गीत रचनाधर्मिता तक रचनाकारों की पृष्ठभूमि में संस्कृत साहित्य का गहन अध्ययन और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति गहरी आस्था मिलती है। भारतीयता का गंध-स्पर्श उन रचनाओं में सात्विकता का अनायास आभास दे जाता है, जैसे कि साहित्य-सृजन तापसी अनुष्ठान हो। इस गीत-सूर्य की संध्या आते ही विदेशी रेशमी अंधेरा एक नयी शीतल अनुभूति सी देने लगता है। आज कौन साहित्यकार है जिसकी पृष्ठभूमि में संस्कृत-साहित्य और संस्कृति का आदर्श झिलमिला रहा हो।

गीत में आत्म-गोपन नहीं, आत्माभिव्यक्ति का लक्ष्य-प्रमुख होता है। आधुनिक तांत्रिकी, वैज्ञानिकी अथवा औद्योगिकी के प्रतीकों से बोझिल गीत विस्तृत जन-हृदय तक सुग्राह्य नहीं हो सकते। हम तंत्रों की जीवन-व्यवस्था में जी तो रहे हैं पर सारी तांत्रिकी को जन-सामान्य की प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय समझ कर उनका गीतों में प्रयोग करना, कभी और किसी भी समाज में सहज और उपादेय नहीं हो सकता। गीत-विधा में रागानुभूति पर अथवा 'सामान्य-लोक-भाव' के साधारणीकरण की बात, कदाचित् इसीलिए शास्त्र-स्वीकृत हुई कि मानव-जीवन में कुछ न्यूनाधिक्य के बावजूद, रागानुभूति का सामान्य लोक-हृदय में मूलभूत स्थान है। आज यदि गीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को मूल जीवन-रागों की मधुर, सुकोमल और सुकुमार भाव-वृत्तियों तक ही नहीं रहना है और उसे सहवर्ती जीवन का सम्बल बनना है तो गीत में कटु-कषाय अथवा तिक्त-तीक्ष्ण जन अनुभूतियों को उपमानित किया जाय, वह मध्यमानीय स्तर पर, कहीं हृदय-संवेद्य अथवा मर्मस्पर्शी अवश्य हो। भाषा की कृत्रिम जटिलता और अनहोनी को कर दिखाने जैसा आग्रह गीत और गीतकार के साथ नहीं चल सकता। हमारे नगरीय, महानगरीय, कस्बाई अथवा ग्राम-परिवेशी गीत-बोध में इतनी शक्ति अनिवार्यतः अपेक्षित है कि वह उस भाव-संवेदन से, उस परिवेश-विशेष से दूरस्थ व्यक्ति को भी भीतर से छू कर उस विशिष्ट संवेदना से परितृप्त और संसिक्त-संसक्त कर सके। नवगीत अभी भी सामान्य जन-संवेदना से अपनी दूरी घटाने में पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं। अन्य नव्य काव्य-रूपों की भांति, नवगीत का कवि भी अपने ऊपर केवल लेखन का दायित्व ही लेना चाहता है, शेष सब श्रोता-पाठक का दायित्व मान लिया जाता है, जो सम्यक् और साधु नहीं कहा जा सकता। साहित्य मात्र और काव्य में तो विशेष रूप से कवि-श्रोताओं, रचनाकार-पाठक और सम्प्रेषण-सम्प्रेषितव्य का परस्पर सहयोग अनिवार्य तथ्य है। यदि गीतकार अपने को रहस्यमय और चमत्कारी रूप में सहृदय से छिपाना चाहेगा तो सहृदय उन्हें अपने एकांगी प्रयास से कहां तक ढूंढ निकालेगा। गीत अनगढ़ हो, पर कृत्रिम नहीं, नवीन टटका हो और सीधा हो किन्तु जो हो सहज, सुथरा और लयात्मक हो।

शब्द, बिम्ब अथवा प्रतीक की प्रदर्शिनी गीत नहीं बन सकती। गीत एक सहगायन है जो गीतकार और शेष समाज के बीच ही साकार और सार्थक हो सकता है। गीत किसी बात को हृदय में उतार देने की समर्थतम विधा है, शर्त्त यह है कि वह गीतकार उतारने के लिए अपने को दायित्वशील समझे और वह सहृदय-मानस में उतार सके। 'नवगीत' से आशा की जा सकती है कि वह हिन्दी की समस्त गीतिमा को सकारे और संवारें जबकि आन्दोलनी नवगीतकार और उसके नायक-अधिनायक गीत-विधा में भी पार्थक्य उत्पन्न करने में ही, अपनी सफलता, स्वीकृति और अनन्यता समझते जा रहे हैं। गीत मस्तिष्क नहीं, हृदय का गायन-स्वर है, जिसे मस्तिष्क रागमय अनुशासन देता है। वह भाषा की टकसाल-गृह नहीं, वरन वाणी का रसायन है। अब रस चाहे गन्ने का हो अथवा गुड़ या चीनी का-अंगूर का भी हो, पर वह रस तो हो। रस की समग्र अवधारणा को नकार कर एक विपरीत अथवा अभूतपूर्व प्रतिपादन - शायद मानव के मूल प्रकृति-सार को बदलना होगा, जबकि ऐसा सम्भव नहीं है, और यदि सम्भाव्य भी हो तो अपेक्षित या वांछनीय नहीं कहा जा सकता।

व्यक्ति और कृति का सामञ्जस्य ही आदर्श साहित्य-सृजन में साधक है - इस सूत्र को भी आज खोल कर समझने की आवश्यकता है। व्यक्ति तो व्यष्टि रूप में जीवन की एक इकाई है और 'कृति' व्यक्ति विशेष द्वारा रचित-निर्मित एक रचना-वस्तु है। कृति का जन्म व्यक्ति के भीतर अर्जित- संचित मानसिक -आत्मिक ऊर्जा में और ऊर्जा से होता है। कृति के उपादन व्यक्ति के आन्तर उपादान (सामग्री) होते हैं। जिस प्रकार से जैसी भूमि और 'भूम्यूर्जा' होगी, उसी के अनुसार भाव-विचारों के बीज उसमें विकसित अथवा फलित होंगे, उसी प्रकार रचनाकार व्यक्ति का जैसा मानस होगा, उसी की सधर्मी और समगुणी रचना भी होगी। तात्पर्य यह है कि रचनाकार ही रचनाकृति में एक प्रकार से मानसिक पुनर्जन्म लेता रहता है। जो आस्था-निष्ठा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अथवा भाव-विचार कृति में अवतरित होते हैं, यदि वे उधार के आयातित या आधे-अधूरे चिन्तन से जन्म लेंगे, वह उसी अनुपात में अपरिपक्व, अप्रभावी और तादात्म्य-बाधक होंगे। आज भी रीति-बद्धता, परम्परा-पालन एवं केवल युग-धर्म के नाते जो कुछ कृति में अभिव्यक्त हो रहा है, वह चाहे जितना भी सहसा-आघातकारी, चामत्कारिक और बड़बोला लगे, आदर्श और गम्भीर कृति का रूप नहीं ले सकता। कृति व्यक्ति की समरूपता में कृति है, निरूपता अथवा विषमरूपता में नहीं। कृति अन्ततः व्यक्ति और कृति का सामंजस्य ही है। आज के साहित्य का निष्प्रभावी होना यही सिद्ध करता है। प्राचीन मान्यताओं को निर्मम होकर अविवेक से ठुकरा देना आधुनिकता नहीं है। हमारे यहां शब्द ब्रह्म है। शब्द की उपासना ब्रह्म चिन्तन का गुण है। यही कारण है प्राचीन साहित्यकारों ने सृजन को तपो रूप माना और कहा। (*'स्वर्गे लोके च कामधुक्' 'एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः, शास्त्रान्वितः, सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुक् भवति' - पातंजल महाभाष्य। एक शब्द जिसे भली प्रकार जान लिया गया, व्याकरण से शुद्ध और जिस का सही प्रयोग हुआ हो वह शब्द स्वर्ग तथा इस संसार में मनुष्य की इच्छाओं को पूर्ण करता है।*)

गीत से जीवन के कटाव और इसी से वर्त्तमान में उसके विकासाभाव की बात भी की जाती रही है। स्वाभाविक और युक्ति संगत भी है कि जब 'नयेपन' और युग-सम्मति की मुद्रा त्याग कर कोई नव महत्त्वाकांक्षी समूह अपने से पहले की प्रचलित विधाओं को काट कर स्वयं युग-स्थापना का घोषक बन कर सामने आता है तो वह बड़ी चतुराई से उन्हें नकारता है। वह उन्हें बासी, कालातीत और असमर्थ विधा के रूप में प्रतिपादित करने में प्रत्येक हथकंडे का चतुर प्रयोग करता है। सन् 1940 के पश्चात् विकसित हुई, मानवमुखी हिन्दी-गीतिधारा जो मंचों पर अथवा सामान्य श्रोता वृन्द के बीच, एकमात्र संवाद का माध्यम रह गयी थी, को केवल रोमानी, कल्पना-प्रधान और लिज़लिज़ी कह कर सरलता के साथ श्रोता और पाठक की वितृष्णा-जुगुप्सा का पात्र बताया जा सकता था, यह 'प्रगति' और 'प्रयोग' के पक्ष से पूरे वेग के साथ हुआ। उस समय की सभी तथाकथित आधुनिकता और आधुनिकतर प्रचार-माध्यमों पर उस आधुनिकतावादी अल्पसंख्यकों का प्रभुत्व भी स्थापित हो गया था। वे अंग्रेजी और पाश्चात्य की आड़ में देश के सामान्य जन-मानस पर शासन करने के इच्छुक नेतृ-वर्ग तक अपने आधुनिकता के नारे के साथ सरलता से पहुंच सकते थे। शासन की नीति भी दोमुहीं थी। निम्न मध्यवर्ग और 'जन' को तो उसने अपने समाजवाद से आकृष्ट किया और शिक्षित मध्यम वर्ग तथा उच्चस्थवर्ग को अपनी अमेरिकी एवं अंग्रेज़ी आधुनिकता की आड़ में तुष्ट करने में लग गया। फलतः बड़े-बड़े पूंजी-कुलों द्वारा संचालित मुद्रण-माध्यमों, सज-धज के विज्ञापनों से चकाचौंध करने वाली साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्र-पत्रिकाओं के साथ सार्वजनिक राजकीय प्रचार-माध्यमों (आकाशवाणी और दूरदर्शन) पर भी हावी हो गया। बहु-विज्ञापित अभिजात संगोष्ठियां होने लगीं। तथोक्त नवलेखन अपने अगीत और छन्दोमुक्त प्रारूप में 'गम्भीर कविता' प्रतिमान मानी जाने लगी। नयी कविता की संवेदना-भूमियों को दर्जनों भिन्न नामात्मक शिविरों में 'अकविता' एवं गद्यवत् सपाटबयानी की कविताओं में अपने-अपने ढंग की अभिव्यक्तियां मिलीं। कविता के क्षेत्र में नवीनता और स्वरूपता के चलते, एक अराजकता-सी व्याप्त हो गयी। परम्परा-निर्धारित कविता अपरिभाषित-सी हो उठी। 'त्रिपदी', 'हाईकू' आदि विदेशी काव्य-प्रकारों को आधुनिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अद्यतन होने का अघोषित प्रमाण-पत्र मिल गया। सत्तर-अस्सी के दशकों से रूप-रंग बदलती हिन्दी के नव-लेखन की कविता के बीच 'नवगीत' की नव-विधा ने भी परम्परा विकसित मानव-भाव-बोधी गीत-लेखन को अस्वीकार ही नहीं, जुगुप्सित करना अपनी स्थापना के लिए आवश्यक समझा। इस बीच यह अनुभव कराया गया कि गीत वर्त्तमान जीवन से कट गये। घोषणाएं हुईं कि वर्त्तमान औद्योगिक एवं प्राविधिकयुग में, गीत की उपयोगिता समाप्त हो चुकी है तथा जो हिन्दी-गीत और मंच माध्यमों से जनता के बीच आने वाले गीतकार, अभिव्यक्त कर रहे हैं, वह सब जीवन के यथार्थ से दूर जले-बैठों की भावुकता की छिछली- रोमानी अभिव्यक्ति है। गीत एक ऐसी विरल विधा है जो अन्य साहित्य-प्रकारों ही नहीं, स्वयं गीतेतर कविता की तुलना में भी, तत्कालागत नवीन तथा दैनन्दिन वस्तु-परिवर्त्तन को अपेक्षाकृत कुछ विलम्ब से ही रूपायित कर पाती है। गीत में एक स्तर पर रागात्मक जुड़ाव एवं आन्तरिक सौन्दर्य बोध की अनिवार्यता होती है। आधुनिक संकुल जीवन की यान्त्रिकता, विवशता, संत्रास, संशय, सन्देह और मूल्य-ह्रास जैसी वास्तविकताएं, तभी गीतायित होने के योग्य बनती हैं, जब वे जीवन की स्थायी स्पृहा और जिज़ीविषा-बोध से समंजित हो उठें। गीत की इस प्रकृति पर पुष्टि की मुद्रा लगाने वाला यह तथ्य भी यहां स्मरणीय है कि 'नवगीत' का उद्भव-आविर्भाव लगभग दो दशकों के पश्चात् ही अपनी कुछ पहचान पा सका। गीत-विधा में ही जीवन से कटाव और विकासाभाव के तत्व सन्निहित हैं - यह कहने की अपेक्षा सत्य यह है कि गीत-विधा के विकास और नवायन के लिए भीतर का रागात्मक संयोजन आवश्यक होता है। जिस शीघ्रता और तीव्रता से विज्ञान और तकनीकी के माध्यम से विश्व-मानव-समाज का बाह्य जीवन प्रभावित हुआ है, वह गीतायन की अन्तः प्रक्रिया और रचनाधर्मिता के लिए स्वाभाविक नहीं होता। जन में लोकप्रिय रहने वाले गीत विशिष्ट मतवादी मानसिकता के पाश्चात्य मनस्क लोगों से मान्य नहीं होते तो यह एक आपातकालीन स्थिति ही कही जानी चाहिए। यदि मंच न होते तो संचार-माध्यम भी लोकरुचि की उदासीनता (यदि रही होती तो) के कारण गीतों को स्थान न दे पाते - और तब गीत-विधा का साहित्य से लोप भी (चाहे कुछ समयनान्तराल के लिए ही हो) हो सकता था। गीत लिखे जाते रहे और सामान्य काव्य-प्रेमी श्रोताओं में आस्वाद्य भी सिद्ध हुए। अपनी विधा-विशेषों से पूर्ण प्रतिबद्ध रहते हुए भी, यदि ये गीत-विरोधी, गीतों के प्रति अनायास कुत्सा और जुगुप्सा का अम्बार न लगाते तो गीत-विधा अपने प्रक्रिया-पथ पर अधिक युगानुकूल, वर्चस्वी और प्रभावक रूप में और विकसित हुई होती। गीत-विधा के प्रति सबसे बड़ा अन्याय तो उसके प्रति उभारा गया वह प्रणबद्ध कुप्रचार है जो निहित स्वार्थ वर्गों द्वारा, अपनी स्थापना के हित में सुनियोजित किया गया। गीतेतर काव्यान्दोलनों में, गीतों के सहज लोकाकर्षण से, ईर्ष्या-मिश्रित एक भय भी था क्योंकि 'छायावाद' की तथोक्त 'शव-परीक्षा' तो हो ही चुकी थी, अब उसके अगले विकास-सूत्र से ही लड़ना शेष था जो छायावादोत्तर जीवनमुखी गीतिधारा के रूप में, नाना विरोधों के बावजूद अब भी जन-मानस पर अपना प्रभाव बनाए हुए था। ये गीत-विरोधी आन्दोलन, आपस में तो शिविरीय नोंक-झोंक करते थे, पर गीत-विधा के विरोध में, वे सब इस खुली लड़ाई में, पूरी मुखरता सहित, एक साथ थे। इस चौमुखी गीत-वितृष्णा ने गीतकारों को जितनी उपेक्षा और अवमानना के गर्त्त में ढकेला हो, उसकी मात्रा, अंश-चिह्न एवं प्रतिभागिता पर मतभेद हो सकता है पर सब का मूल ध्येय एक ही था। गीत मानव-जीवन के जिज़ीविषु रस-मूल से उतने अविच्छेद्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

R 377.2

हैं कि मानवता के किसी भी मानवीयता-शेष युग में वे परिहार्य या अवांछित नहीं हो सकते।

सच तो यह है कि गीत का सम्बन्ध कहीं-कहीं किसी आस्था के सकार से है। यहां 'सकार' का अर्थ इकहरे सकार से नहीं है। एक के प्रति सकार कहीं से इतर का नकार भी हो सकता है, पर वह समग्र का नकार अथवा एकान्त अनास्था, सन्देह और मात्र अस्वीकृति नहीं हो सकता। अपनी व्यक्तितता का एकान्त मोह और अप्रतिबद्ध अहन्ता भी गीतोत्पत्ति की भूमि नहीं हो सकती। 'छायावादोत्तर युग' में मानवोन्मुखी रागात्मक कविताधारा के अतिरिक्त जितने भी काव्यान्दोलन चलाये गये, उनमें कहीं न कहीं से अत्यधिक नकार, अस्वीकृति, असन्तुलित व्यक्तिवादिता और अप्रतिबद्ध अहन्ता, मर्यादाबाह्य होकर कविता में अपने को प्रतिपादित करने के लिए सचेष्ट रही है। इसीलिए उन धारणाओं में गीतात्मकता का अभाव रहा है। 'नवगीत' भी गीतात्मकता की स्वीकृति की ओर लौटा तो विसंगति-बोध के भीतर भी संगति की एक अभीप्सा लेकर। दूसरे शब्दों में गीतात्मकता के पीछे कहीं-न-कहीं, व्यवस्था की कामना होती है-व्यवस्था, जहां किसी नये जुड़ाव, नये सामञ्जस्य और नये सकारी जीवन-मूल्यों की आकांक्षा जीवित होती है। गीतेतर काव्यान्दोलनों के भीतर तो गीतात्मकता की असंभावना ही स्वाभाविक थी। पाश्चात्य प्रकार की स्वाधीनता और मूर्त्तिभंजक प्रवेगशीलता से गीत का राग कहां बनता था? गीत तो विद्रोही कबीर और विद्रोहिणी मीरा ने भी लिखे। जीवन को नश्वर और जगत को अस्थायी समझने वाले सन्तों एवं भक्तों में भी गीत उभरे और पनपे हैं, पर उनका भी आधार कोई दृढ़ आस्था ही थी, भले ही वह परमात्मिक या पारलौकिक ही क्यों न रही हो। जो गीत के साथ थे, उनके प्रति उपेक्षित और अछूत का-सा व्यवहार उचित समझा गया। गीत को हर प्रकार से हतोत्साहित ही किया गया। जन-मन का मानवपन न होता तो गीत समाप्त ही हो गये होते - कम से कम दस-दस साल की कालावधि के युगान्तरकारियों ने तो यही निर्णय कर रखा था। जिस जाति या समाज तथा काव्य-परिकल्पना में गीत की उद्भावना के लिए कोई स्थान न हो, क्या उसे भी काव्य की कोई पूर्ण और समग्र दृष्टि कहा जा सकेगा? गीत कोई छायावादोत्तर गीतकारों के अकेले दायित्व की वस्तु नहीं थे। यदि सभी उपधाराओं में एक से गीत न होते (और वे कदाचित् सम्भव भी नहीं थे) तो उनके अपने प्रकार के ही गीत तो होते? क्या किसी गीत-विहीन मानवता और समाज की कल्पना की जा सकती है? आश्चर्य की बात है कि हमारे नव-पुरोधाओं ने गीत-विधा को ही निष्कासित कर देने का एक जुट निर्णय लिया और उनमें डॉ. शंभूनाथ सिंह (कभी), गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती, डॉ. जगदीश गुप्त और विजय देव नारायण साही जैसे समर्थ गीतकार भी अनुदीक्षित हो गये। वस्तुतः ये गीतकार गीत के सामर्थ्य से अपरिचित नहीं थे परन्तु पाश्चात्य साहित्यिक संस्कार की अतिबौद्धिकता अभिजात वर्ग की असंस्कृत सभा में प्रतिष्ठित होने का सहज साधन सिद्ध हो रही थी। डॉ. शंभूनाथ सिंह जो स्वयं को नवगीत का पुरोधा होने की लालसा जीवन भर पालते रहे वे भी कुछ दिन गीत का सुपथ छोड़ कर नयी कविता के शिविर में पायदान से आगे न बढ़ सके। उन्हें लौट कर घर की ओर आना पड़ा। धर्मवार भारती भी अपने गद्य और मौलिक नाट्यशैली के लिए अधिक पहचाने गये। नयी कविता ने उनकी प्रतिभा को आदर दिया, आसन नहीं।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय पुस्तकालय 102435

आलोचक को यह प्रश्न ही असमीचीन लगता है कि गीत का भविष्य क्या है? प्रतिप्रश्न है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि क्या अतीत-जीवन गीत विहीन कभी था या क्या कभी मानवता गीत विहीन भी हो सकती है? गीत न कभी मरा था और न ही कभी मर सकता है। सभ्य समाज की पहचान ही गीतों से होती है। गीत अधरों की थिरकन बन कर हृदय की धरोहर बन जाते हैं। गीत ही हृदयाकाश के विस्तार से परिचित कराता है। जब साहित्यिक गीत नहीं थे तो वह लोक-हृदय, जन-मानस और लोक-मनीषा में या जब से वह साहित्य में भी प्रविष्ट हुआ, किसी न किसी रूप में अस्तित्ववान् ही रहा है। किसी भी अन्य विधा की भांति, गीत का उत्कर्ष-अनुत्कर्ष भी उस के रचनाधर्मी गीतकारों पर निर्भर होता है। सामाजिक उद्वेग, विद्रुपता और उत्क्रान्ति-वालों में उसका साहित्य-रूप न्यूनाधिक और क्षीण या सवेग भी हो सकता है पर उसके लिए सामान्य मानव-हृदय की भूख कभी समाप्त न होगी। गीत की बाह्य रूप रेखा में अन्तर आ सकता है, पर उसकी सगुणता या अन्तरात्मा में कोई अन्तर स्थायी नहीं हो सकता। अन्तरात्म-प्रवेश, रागात्मक-बोध और लयात्मक द्रवणशीलता उसके लिए सदैव एक शर्त्त होगी और इस शर्त्त की प्रतिपूर्त्ति के लिए स्वयं मानवीय स्वभाव ही दायित्वशील होगा।

गीत का पक्ष आशाजनक इसलिए है कि स्वयं मानव-स्वभाव मूलतः आस्थाप्रिय है। गीत-विकास के संदर्भ में आशाजनक अथवा निराशाजनक की बात का तात्विक अर्थ कदाचित यही है कि व्यक्ति, समाज अथवा मानवता की कुछ परिस्थितियां, मनःस्थितियां गीत के लिए अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल हो सकती है और कुछ अधिक प्रतिकूल। व्यक्ति की आस्थाशीलता, समाज की सकारात्मक व्यवस्था और मानवता की सामंजस्य कामना जब क्षीण या मुमूर्षु होगी तब गीत के लिए ऊर्वर जलवायु का टोटा होने लगता है, जब व्यक्ति में निष्ठा, समाज में सहअस्तित्व या मानवता में अविक्षोभ की प्रधानता होगी, गीतों की प्राण वायु विकसित और वेगशील होती है। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में निश्चित रूप से मध्य-पीढ़ी में मोह भंग और नयी पीढ़ी में कुण्ठा का उदय हुआ है। कुंठित व्यक्तित्व किसी भी मर्यादा के प्रति अमर्यादित और आस्था के प्रति अनास्थावान् हो सकता है। वह कुंठा के प्रति सकारण न होकर साधन परम्परा के प्रति आक्रान्त हो उठता है। पाश्चात्य और पौर्वात्य संस्कारों के समुद्रमंथन में फंस कर वह 'परप्रत्ययनेय बुद्धि' हो गया। निर्णय की क्षमता से वंचित वह सहज सुलभता की खोज में व्यस्त हो गया।

एकता की जगह पृथक्ता ने पांव बढ़ाये हैं। पाश्चात्य प्रौद्योगिकी के साथ उनकी पश्चिमी मानसिकताओं का भी आयात हुआ। पुरातन और नवीन के बीच ('पुराण-नव' का) कोई सार्थक और सर्जक सामंजस्य नहीं हो पाया और न उसके लिए सार्थक प्रयास ही हुए। एकांगी दृष्टियों के बीच युगानुकूल ताल-मेल प्रायोजित नहीं हुआ। मूल्य-संक्रमण की ऐसी निष्क्रिय और निरुद्देश्य बेला में, सुराजकता और सह जीवन की निष्ठा साकार नहीं हो पायी। आनुभूतिक तिक्तता, सांवेदनिक कटुता और वैचारिक वैषम्य के चलते, ईर्ष्या, द्वेष, असूया, भौतिक प्रतियोगिता तथा संकीर्ण अस्मिताओं के घात-प्रतिघातों में, वह जीवन-निष्ठा और सामाजिक सद्भाव अनिर्मित ही रह गया, जिसमें मधुमक्खी की भांति, अपने मानसी और आत्मिक मधु-चक्रों का समाहित होकर मधुपान किया जा सकता। जब साहित्य ही समवेत रसास्वादन और सर्वात्मक आदान-प्रदान का एकात्म माध्यम नहीं रह गया तो गीत का अन्तर्नाद कैसे सुविध हो सकेगा। जब गीतास्थाएं ही खण्डित और एकान्तिक हो रहेंगी तो गीत को अपने जन्म के लिए भी संकट ही झेलना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह संकट हिन्दी गीत सन पचास-साठ के बाद और वर्त्तमान में विशेष रूप से झेल रहा है।

गीत का भविष्य तभी आशामय और समृद्ध होगा, जब गेयता को उसका सम्मान-पूर्ण स्थान सुलभ होगा, लयात्मकता जब जीवन के लिए तात्विक आवश्यकता के रूप में मान्य होगी। गीत का कार्य है, मानव की मनोरागिनियों, जीवन की रागात्मक अवस्थितियों में सहज और प्रभावी प्रवेश। गीत को शाब्दिक घटाटोप, आर्थिक उलझाव और बौद्धिक आक्रोशों से मुक्त होकर समाज के मानवीय मनो-निर्माण और भाव-संवेदनात्मक परिष्कार में सहज प्रतिभागिता करनी होगी। गद्यात्मकता, सपाट बयानी, अति-अमूर्त्त प्रतीक-विधान तथा असहज बिम्ब-विन्यासना से भी अपने को मुक्त करना होगा। गीत किसी भी भाव-बोध की अभिव्यक्ति के लिए वर्जित नहीं है, पर उस भाव-बोध को सहज तरलतम होकर ही गीतिमय होना होगा। गीत श्रोता-पाठक में ऊर्जा का वह सद्यः सम्प्रेषण है जो 'गृहीता' में भीतर उतर कर मिल जाय। प्रत्येक दशा में गीतात्मकता, कहीं से और किसी बिन्दु पर, चित्त की तरल, द्रवित और समंजस (रचनात्मक) स्थिति होती है। चाहे परम्परा-विकसित गीतकार हो अथवा 'नवगीतकार' या किसी उप-विधा का गीत-सर्मपित रचनाकार, गीतात्मकता के प्रति उस का समर्पण मूल रूप से आवश्यक होगा। लेखक का तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि गीत के लिए प्रथमतः समाज या सत्ता को कोई बनी-बनायी व्यवस्था प्रदान करनी होगी, तब वह विकसित होगा। मन्तव्य यह है कि यह दायित्व स्वयं गीतकार का ही होगा और वह भी अपने ही मनोलोक एवं रचनाधर्म के प्रति। गीत विखण्डन नहीं, समंजन के मूलभूत उद्देश्य में जन्म लेता है - प्रत्यक्षतः प्रतीयमान विरोध भी किसी वृहत्तर और दूरतर अविरोध पर ही लक्ष्यनिष्ठ होता है। गीत-विधा किसी भी अन्य काव्य-विधा की न तो विरोधी है और न शत्रुता की वस्तु। अभिव्यक्ति की उसकी अपनी सहज और समर्पित शैली है जो स्वयं गीतकार के अन्तःकरण पर निर्भर होती है। विद्रोह की जगह अ-द्रोह ही उसकी अन्तः प्रकृति है। गीत को अगर कोई संकट रहा है तो वह काव्य की अन्य उपविधाओं के नव-लेखकों के प्रहारों और सबको सुलभ होने वाली सार्वजनिक संचार-माध्यमों से प्राप्त समान सुविधा के अभाव का। वह 'गीत', 'नवगीत' और 'जनगीत' आदि रूपों में अभिव्यक्त होता रहा है और होता रहेगा। वह पराश्रयी नहीं, एक विशुद्ध स्वाश्रयी विधा है - इसमें किसी को भ्रम नहीं होना चाहिए। वह नियोजन नहीं, आत्म-समायोजन की विशिष्ट विधा है। जो लोग यह समझते हैं कि गीत युग की समग्र समस्याओं और काव्य की सभी उपविधाओं का एकाधिकारी प्रतिनिधि बन कर ही, सशक्त और सार्थक होगा, वे गीत की प्रकृति को विस्मृत करते हुए, ऐसी महत्त्वाकांक्षाओं के मोह से ही आक्रान्त माने जायेंगे। गीत सहृदय-मात्र का है किन्तु जीवन की अशेष समग्रता का एकमेव पूरक नहीं। उसका नर्त्तन-व्यवहार, भाषिक रचाव, रूप-शिल्प और कथ्य का स्वरूप अपने में विशेष प्रकार का ही रहा है और आगे भी रहेगा।

गीति-काव्य और अन्य काव्य-विधाओं का अन्तर और विशिष्ट शिल्प-दृष्टि की अवधारणा भी, उपर्युक्त बोध-भूमि पर ही समाधृत होगी। गीत बाहर के परिप्रेक्ष्य में भीतर का बहाव है। वह तत्काल इन्द्रिय-गृहीत संवेदनाओं अथवा तत्क्षण बहिःसामग्री की सीधी अभिव्यञ्जक विधा नहीं है। गीतकार बाहर को लेकर अपने भीतर उतरता है और एक सजग-असगज अन्तर्मन्थन की प्रक्रिया के माध्यम से वह रागावेश की मनः स्थिति में ही अंकुरित और प्रस्फुटित होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसकी शब्द-संरचना नितान्त निजी और अनुभूतियां निर्केवल आत्म-केन्द्रित नहीं होंगी। उसके ऊपर यह पूर्ण दायित्व है कि वह अपनी अन्तः रागात्मकता से सहृदय को पूर्ण विश्वास में लेने के लिए सक्षम हो। उसमें वैचारिक व्याख्या और बुद्धि-नीत तर्क-वृत्ति के लिए अधिक स्थान नहीं होता। वह एक अन्तःस्फूर्त्त विधा है। सम्प्रेषण का दायित्व गीतकार का प्राथमिक दायित्व होगा। वह अपनी नवीनता, मौलिकता अथवा अन्यों से अपनी अलग-थलग वैचित्र्य-गत अस्मिता की झोंक में, आत्म-सम्प्रेषण के प्रथम दायित्व से मुक्त नहीं हो सकता। गीत की परिकल्पना एक सर्व-स्वावलम्बी और सर्व-निरपेक्ष सहृदय समुदाय पर भी पूर्ण नहीं मानी जा सकती। उसे परिवर्तित अथवा परिवर्त्यमाण समाज में जो कुछ कहना होगा, अपनी निश्छल रागात्मक आस्था की वाणी में ही कहना होगा। यदि समाज के राग-बोध और सौन्दर्य-चेतस को ही उसे बदलना है तो अपने बदलाव के प्रति उसका स्वयं का रागात्मक समर्पण भी प्रथम शर्त्त होगी। जिसे उसके रचनाकार मन ने रागात्मक आस्था के स्तर पर स्वायत्त नहीं किया है, वह अभिव्यक्ति गीत की प्रकृति के अनुकूल नहीं होती। यही कारण है कि आधुनिकता के स्पृहाशील नवलेखन को गीत बहुत अनुकूल नहीं प्रतीत होता। नवलेखन अपनी अभिव्यंक्ति मात्र को प्रामाणिक मान कर, उसके अभिप्रशंसन का भार, पाठक पर छोड़ कर, मुक्त हो जाना चाहता है और उसका आत्म-निर्णय होता है कि सहृदय उसमें स्वयं रसे-बसे। सर्वथा नये प्रतीकों की कच्ची धातु भी रचनाकार और सहृदय के बीच संवाद स्थापित करने में, कभी-कभी बाधक प्रतीत होती है। प्राविधिकी और विज्ञान के आविष्कारों एवं सम्बद्ध यंत्र संयंत्रों द्वारा प्रदत्त सुविधाएं, भले ही समाज के सामान्य जन तक, न्यूनाधिक पहुंची हों पर उससे यह आशा करना कि वह उनकी पूरी यान्त्रिक प्रक्रिया और कल-पुर्जों की गतिविधियों से भी पूरी तरह परिचित हो बहुत प्रत्याशित नहीं प्रतीत होता। ये यांत्रिक और औद्योगिक प्रक्रियाएं, इस क्षेत्र में कार्यरत विभागीय जनों और महानगरीय भद्र लोगों तक भले सुपरिचित हों, पर सामान्य देशी नागरिक उससे यथेष्ट रूप से परिचित नहीं होता। ऐसे प्रतीक और बिम्ब, रचनाकार के ज्ञान-क्षेत्र का पाठक पर चाहे जितना सम्भ्रम आरोपित कर दें, पर उससे रागात्मक जुड़ावन होने से, वह एक बौद्धिक परिचक्र में पड़ जाता है तथा गीत की मूल संवेदना उसके हाथ से फिसल जाती है।

कुल ले - देकर ऐसे गीत-प्रयास अभिजात वर्ग और आधुनिकता भद्र समाज को जितना भी छू लें, उस परिवेश-विशेष से असम्पृक्त समाज-वर्ग उन परिपाटियों के प्रति एक कुतूहल से, स्तर से और अधिक गहराई में नहीं उतर पाता। इस दृष्टि से महानगरीय, नगरीय, कस्बाई बोध तक सीमित गीत, आंचलिक लोक-भाषा गीतों की भांति, एक विभाजित गीत-बोध से ऊपर उठ कर, सर्वस्पर्शी नहीं हो सकते। लेखक के अपने विशिष्ट वर्ग-परिवेश गीत में न आवें, ऐसी वर्जना तो उचित नहीं कही जायगी, पर गीतात्मकता का सही प्रयास उन्हें अतिक्रमित कर अधिकाधिक व्यापक समुदाय तक पहुंचने की अनिवार्य लक्ष्यता में ही वांछनीय होगा। गीतिम प्रतिभा की ललक इसी वृहत्तरता की ओर उसकी उन्मुखतता में ही निहित होनी चाहिए। गीत की सफलता और अभाषिता के लिए गीत में संरचित बिम्बों की सहज पारदर्शिता सदैव अपेक्षित होगी। बिम्ब-विधान की तीव्र संवेद्यता, सहृदय के प्रथमाकर्षण के लिए अवश्य सहायक होगी, किन्तु वह संवेदना स्वयं अपने में ही सम्पूर्ण नहीं होगी, जब तक वह किसी गहरे भाव बोध पर केन्द्रित कर देने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में समर्थ न हो। संवेदना अनुभव-प्रभा का एक प्रमाण तो है परन्तु केवल संवेदना की प्रामाणिकता ही पर्याप्त न होगी, किसी उद्दिष्ट भाव-संश्लिष्ट तक उसका योगवाही बनना भी आवश्यक है। संवेदना यदि 'प्रभा' की 'प्रामिति' का प्रमाण है तो भाव-बोध स्वयं रचनाकार की आत्म-सम्पृक्तता का प्रमाण होता है। संवेदना यदि वस्तु-अनुभव की प्रमाणिका है तो भाव बोध रचनाकार के अन्तःकरण का 'प्रमेय' होता है। गीत केवल संवेदना नहीं, संवेदना से परिस्नात एक संसिक्त भाव बोध होता है। इसी प्रकार 'सपाट बयानी' की विचार सूचनात्मक भाषा भी, गीत का उपयुक्त माध्यम नहीं बन सकती। संत्रास गीत का सफल कथ्य तभी बनेगा जबकि वह व्यक्ति के निजी संत्रास से फैल कर, पाठक-मात्र के साधारणीकृत संत्रास-भाव के उद्‌बोधन में भी समर्थ होगा। गीत-विधा में आत्म-भुक्ति का पर-भुक्ति और पर-भुक्ति का आत्म भुक्ति में परिणत होना, अन्य काव्य विधाओं की अपेक्षा अधिक अनिवार्य है।

गीत बांसुरी उर्दू राग

'गीत का चिन्तन उर्दू-शैली से प्रभावित होता जा रहा है? छायावादी गीतों की अपनी भावानुभूति को व्यक्त करने का एक ढंग रहा है। उस पर लाक्षणिकता के नाते प्रथम प्रभाव अंग्रेजी अभिव्यक्ति शैली का न्यूनाधिक रूप में मानना होगा। 'नादार्थ-व्यञ्जना' (आंजोमोटोपोइया), 'मानवीकरण' (परसोनीफ़िकेशन), विरोधाभास और व्यक्तिरेक-परकता (आपज़ी मोरज) आदि अभिव्यञ्जनाओं से इसे उदाहृत भी किया जा सकता है, पर छायावादी गीत-चिन्तन पर 'उर्दूदानी' का कोई सीधा प्रभाव बहुत स्पष्ट नहीं होता, यद्यपि उर्दू की चमत्कार-मूलक अभिव्यञ्जना-वृत्तियों और अंग्रेज़ी की लाक्षणिकता में भी, अविनाभाव की दृष्टि से बहुत वैजात्य नहीं सिद्ध किया जा सकता। छायावादी कवियों में 'प्रसाद' और 'निराला' भी उर्दू-ग़ज़ल विधा से अपरिचित नहीं थे। 'प्रसाद' के आरम्भिक संग्रहों में 'ग़ज़ल' का छन्दोविधान और तुकान्त-पद्धति भी ढूंढ़ी जा सकती है। 'निराला' ने तो स्पष्ट शीर्षक से ग़ज़लें भी कही हैं; फिर भी छायावाद का गीत-रूप उर्दू से विलग और उक्ति वैचित्र्य तथा चमत्कारवाद की प्रवृत्तियों की अपेक्षा, हिन्दी गीति-धारा की भाव-प्रगाढ़ी-प्रवणता पर आधृत रहा है। छायावादी गीत भावाभिव्यक्ति-केन्द्रित रहे हैं।

छायावादोत्तर हिन्दी गीतों की जीवनमुखी धारा के कुछ गीतकारों की कुछ प्रवृत्तियों के अपवाद के साथ उसकी मूल प्रवृत्ति भावाभिव्यञ्जना ही रही है। छायावादोत्तर गीतकारों में बालस्वरूप राही और नीरज को छोड़ कर, डॉ. शम्भूनाथ सिंह, डॉ. क्षेम, वीरेन्द्र मिश्र, भारत भूषण, मधुर शास्त्री आदि की गीत धारा भारतीय परिवेश के भारतीय मूल्यों वाले गीत इसके उदाहरण हैं। छायावाद के उत्तर-चरण में आये कविवर 'बच्चन' के गीतों पर उर्दू-चिन्तन का प्रभाव, तुलनात्मक दृष्टि से अधिक स्पष्ट है। नरेन्द्र शर्मा का चिन्तन भी हिन्दी-चिन्तन परम्परा पर खड़ा हुआ है। 'नेपाली' के गीतों में भी, उर्दू-चिन्तन की छाया क्रमशः उगती और डूबती रही है। नेपाली के प्रेम-गीतों में, उनके जागरणपरक गीतों की अपेक्षा उर्दू की कुछ चाशनी अवश्य ही चटखारे देती रही है। यदि नेपाली की समस्त गीत-सृष्टि पर सरसरी नज़र डाली जाय तो लगता है कि नेपाली के प्रारम्भिक गीतों में एक प्रकार की साहित्यिक ललक है परन्तु उसके बाद नेपाली के गीत जन-मानस की श्रवणीयता के पोषक से प्रतीत होते हैं। मंच की साहित्यिकता शुद्ध साहित्यिकता नहीं होती क्योंकि उसमें श्रवण-सुख के प्रति रचनाकार की मानसिकता का प्रतिशत होता है -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसी में कम, किसी में अधिक। छायावादी अथवा उससे पूर्व की साधना वृत्ति का रूप तो शतप्रतिशत कहीं नहीं है। नेपाली के गीतों की सहजता संप्रेषणीयता के आकर्षण से अधिक बंधती चली गई। नीरज की रोमानी गीत-प्रकृति से उर्दू के चिन्तन का ताल-मेल अवश्य अधिक बनता रहा है और उनकी गीत-रचनाओं में उर्दू-चिन्तन की छौंक स्पष्ट है। बिहार के गीतकार श्री जानकी वल्लभ शास्त्री, रामावतार पोद्दार 'अरूण', पूर्ववर्त्ती आरसी प्रसाद सिंह और परवर्त्ती डॉ. 'श्यामनन्दन किशोर' का गीत-चिन्तन उर्दू-मानसकिता से विलग ही रहा। श्रीमती सुमित्रा कुमारी सिन्हा, चन्द्रमुखी ओझा 'सुधा' और श्रीमती स्नेहलता स्नेह के गीत उर्दू-चिन्तन से सर्वथा मुक्त हैं। उनमें प्रेम की हिन्दी भावना अथवा भक्ति के आध्यात्मिक भाव, स्पष्टतः उर्दू चिन्तन से असम्पृक्त रहे हैं।

हिन्दी गीतों के उर्दू चिन्तन से प्रभावित होने की बात, कदाचित 'बच्चन' जी को लेकर अधिक उठायी गयी है। यों, इस प्रभाव का स्पर्श स्व. भगवतीचरण वर्मा की प्रेमोन्मादपरक गीतिपरक (शुद्ध गीत नहीं) रचनाओं पर भी कुछ महकता मिलेगा। कविवर रामेश्वर शुक्ल अंचल की प्रेम-तरंग और सौन्दर्य-भोग सम्बन्धी रचनाएं जो शुद्ध गीत विधा में नहीं आती, उर्दू-चिन्तन के आवेगों से प्रभावित हुई हैं। दूसरे शब्दों में, उर्दू-चिन्तन का प्रवेग, हिन्दी गीतों में कविवर बच्चन के माध्यम से प्रविष्ट हुआ। उनकी 'मधुशाला' तथा 'मधुवादी' अन्य गीत-संग्रह-उर्दू के नश्वरतावादी भोगवाद से प्रेरित रहे हैं। 'नीरज' पर भी बच्चन की दिशा का प्रभाव पड़ा है। उर्दू चिन्तन के इस प्रभाव की भी एक पृष्ठभूमि है। इसके पीछे दो कारक (हेतु) सक्रिय रहे हैं। एक तो वह मानसिकता जिसने उर्दू-चिन्तन को न केवल काव्य में प्रयुक्त किया अपितु उसके व्यक्तिगत जीवन-मूल्य-परिवेश अथवा मूल जीवन-बोध से ही इसका आन्तर सामंजस्य रहा है; दूसरे यह कि तब तक हिन्दी कवि-सम्मेलन का मंच राजसभाओं, राज काव्य-गोष्ठियों एवं रसिक-मण्डलों से निकल कर, खुले जन-समाज में आने लगा था। उन दिनों उर्दू मुशायरों की भी धूम थी जिनमें मधुवादी और शमा-परवाने वाले प्रतीक पर्याप्त लोकप्रिय हो चुके थे। हिन्दी के प्रति स्वदेशी-शासन की उपेक्षा की आड़ में 'उर्दू-तगज्ज़ुल', सामन्ती मानसिकता को प्रियतर लगने लगा था। 'ग़ज़ल' (प्रियतमा से संलाप) तत्कालीन उर्दू-फारसी प्रभावित जन-वर्ग में न केवल 'ज़बान' अपितु शिष्टता का भी चिह्न बन गयी थी। 'बच्चन' मूलतः उर्दू-दॉ तो नहीं थे पर ऐसे परिवार-परिवेश से अवश्य उठे थे जहां उर्दू की कद्र थी और 'मधु' सभ्य होने का प्रतीक। हिन्दी काव्य-मंच पर जब बच्चन उतरे तो हिन्दी में 'छायावादी' काव्य का विकास हो चुका था। एक प्रकार से बच्चन के काव्य का अवतरण जब हुआ तब तक छायावाद अपने विकसित यौवन के उन्माद का रस भोग कर प्रौढ़ावस्था की ओर कदाचित् वानप्रस्थ की ओर प्रस्थान कर रहा था। वीरेन्द्र मिश्र के गीतानुसार 'दूर होती जा रही कल्पना' और 'पास आती जा रही ज़िन्दगी' थी। यह नयी काव्यधारा उस समय अशास्त्रीय, आङ्ल प्रभावित और विदेशी प्रभाव की प्रसूति समझी जा रही थी। उसकी वह लोकतान्त्रिक चेतना-भंगिमा जो अपेक्षतया व्यक्तिवाद, प्रकृतिवाद तथा स्वाधीन निर्णय की निजी रुचि-अरुचियों के रूप में लक्षित की जाती थी, अपनी रहस्यवादी दुर्बोधता की छौंक के कारण भी, सामान्य श्रोता-वर्ग में बहुत सम्प्रेषणीय नहीं मानी जाती थी। बच्चन की उर्दू-प्रभावित मधुवादी यौवनोचित नोंक-झोंक संस्कृत के तत्सम् शब्दों की अपेक्षा हिन्दी के तद्भव और उर्दू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रचलित शब्दों के मिश्रण से बनी थी, जो अपने सोंधेपन से श्रोता-वर्ग को रिझाने में अधिक सफल हुई। मधु-विरोधियों, आर्यसमाजी अथवा वैष्णव संस्कारों से कुछ रुक्ष प्रतीत होने वाले आचारवादियों तथा विशुद्धतामुखी वृत्तियों वाले लोगों को काटी गयी ये कुछ चुहल-भरी चिकौटियां जनसामान्य को पसन्द आने लगीं। ग़ज़लों की भावात्मक प्रेरणाएं ऐसे हाथों में गीतायित होने लगीं।

आगे चल कर उर्दू की ग़ज़लों, रुबाइयों, क़तात, मर्सियों आदि के हिन्दी रूपान्तर भी सामने आने लगे। कुछ लोगों ने इन्हें काव्य-रूपों और छन्दोविधान के रूप में ही अपनाया और कुछ ने सुविधा के लिए, सामाजिक मेल-जोल के आधार पर अरबी-फारसी के शब्दों को भी सीधे अपनाना आरम्भ कर दिया। यह अवश्य है कि एक भाषिक परिवेश से जब छन्द रूप दूसरी भाषा में अपनाये जाते हैं तो उसमें आनुषंगिक रूप से उस अपनायी गयी विधा के भाषा-संस्कार और जीवन-दर्शन भी रोके नहीं जा सकते। जब गीतों के साथ गीतकार ग़ज़लें भी कहने लगे तो ग़ज़लों की काव्य-धर्मिता अपने मानसिक चिन्तन के साथ बचाने की वस्तु नहीं रह गयी। हां, ग़ज़लों के देखते, हिन्दी-कविता और गीत की भाषा में भी पूरे क्रिया-रूप को व्यक्त करने और 'तुकान्त' के साथ अपेक्षाकृत लम्बे समान्त (काफ़िये के साथ लम्बी रदीफ़ें) पद भी, गीत-विधा में अपनाये जाने लगे, अर्थात् हिन्दी गीतों की भाषिक संरचना को उर्दू-ख़राद से ख़रादने और तराशने की प्रवृत्ति भी स्वायत्त की जाने लगी। पहले तो हिन्दी-मात्रिक छन्दों के मात्रिक अनुशासन को निभाने की भी दृष्टि प्रधान रही पर बाद में ग़ज़लों की 'बहों' भी अपनायी गयीं, जो कभी हिन्दी की छान्दसिक मात्रिकता के अनुशासन में रहीं और बाद में प्रवाह-सौकर्य के चलते मात्राओं की दीर्घता भी ह्रस्वता में ग्रहण की जाने लगीं। 'ग़ज़ल' के लिए 'मुक्त गीत', 'गीतिका', 'अनुगीत' तथा 'तेवरी' जैसे हिन्दी नाम भी खोजे गये पर अब 'ग़ज़ल' के नाम को अपरोक्षतः प्रयोग करने में निःसंकोचता अपना ली गयी। मानव को रस के साथ चमत्कार भी प्रिय लगता है। ग़ज़ल विधा ने हिन्दी के उस अन्तराल को भरने में सहायकता की भूमिका वहन की। गीत में साद्यन्त एक भावान्विति का दायित्व निभाना पड़ता है, क्योंकि ग़ज़ल-विधा में, गीत जितनी लम्बी ग़ज़ल के द्वारा दो-दो स्वतन्त्र कथ्यों वाली पंक्तियों में एक क्रम में कहना भाव-विचारों की सुविधा होती है। दोहों की छूट गयी सुकरता के अभाव को भी ग़ज़लों के द्वारा भरे जाने का लगे हाथ एक नया अवसर भी सुलभ हो गया।

अब यदि यह कहा जाय कि हिन्दी-गीत, सम्पूर्णता में उर्दू-चिन्तन से प्रभावित हो गये तो यह अत्युक्ति अनेक अंशों और अर्थों में अतिरंजित ही कही जायगी। छायावादी गीतों पर तो यह बात लागू नहीं होती। 'प्रसाद', 'निराला', 'महादेवी' और 'रामकुमार वर्मा' के गीतों का चिन्तन उर्दू का कदापि नहीं कहा जा सकता। निराला जैसे महाकवियों ने ग़ज़ल कही भी तो वह अपना भाषा ज्ञान तथा उस भाषा की भावात्मक गहनता के प्रति अपनी गहरी पैठ प्रदर्शित करने के लिए ही उन के प्रयत्न रहे। जहां उन का हिन्दी गीत है वहां हिन्दी संस्कार पूर्ण प्रतिष्ठित है। नीरज का हिन्दी गीत हिन्दी संस्कार की गंध इस रूप में नहीं देता।

कुछ एक गीतकारों के अतिक्रमण-संक्रमणों को लक्षित कर यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी गीत बाद में, उर्दू-चिन्तन से प्रभावित हो गये। कहना ही हो तो हिन्दी-गीतों के लिए, अंग्रेजी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'लिरिक' की चिन्तना को अन्वय और व्यतिरेक के परिप्रेक्ष्य में टटोला जा सकता है। छायावादी और छायावादोत्तर गीत-विधा, हिन्दी की मध्यकालीन 'पद'-शैली से अवश्य बहुत कुछ भिन्न है, पर वह उर्दू-चिन्तन से प्रभावित हो गयी कहना बहुत उचित नहीं होगा। विश्व-मानवता में भौतिकवाद की आंधी से भोगवाद, सुखवाद, और नश्वरवाद की भावनाएं, इतिहास-प्रभाव के रूप में प्रच्छायित हुई हैं। विज्ञान और प्राविधिकी के साथ मार्क्सवादी जीवन-दृष्टि ने भी आध्यात्मिकता को शिथिल किया है। इसके लिए उर्दू-चिन्तन को प्राधान्य देना सत्य-सम्मत नहीं होगा। ग़ज़ल, रुबाई, क़ता, मरसिया (शोकगीत) के छन्द-रूपों एवं उर्दू-शब्दों के निःसंकोच प्रयोग के आधार पर, उर्दू-चिन्तन के प्रभाव को इतनी गहराई से रेखांकित करना उचित नहीं होगा।

उर्दू-चिन्तन (यदि 'चिन्तन' शब्द का इस सन्दर्भ में प्रयोग करना वैज्ञानिक समझा ही जाय) में पुनर्जन्म-वाद, आत्मा के शरीरान्तरण, देव-वाद, मूर्त्ति-पूजास्था आदि के सैद्धान्तिक और धार्मिक विरोध में ही कुछ स्पष्ट किया जा सकता है। यदि इन आस्था-बिन्दुओं के प्रत्याग का कुछ अस्तित्व अनुभव ही किया जाय तो उसे पाश्चात्य भौतिक और औद्योगिक संस्कृति का ही प्रमुख प्रभाव कहा जाना चाहिए। मुस्लिम चिन्तन अथवा उसके सांस्कृतिक मानस का (मैं यहां ग्राह्यता-अग्राह्यता की दृष्टि से कुछ नहीं कह रहा हूं) विचारतः कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है और न ही उससे हिन्दी गीतों में कोई भटकाव ही आया है।

ग़ज़ल-गीत : अन्तर रेख

गीत और 'ग़ज़ल' के रचनात्मक व्यक्तित्व और उनकी अस्मिताओं में भी मूल अन्तर है। गीत आदि से अन्त तक, अपनी इकाई की समग्रता में, एक मूल मनोभाव अथवा मनः स्थिति पर खड़ी विधा है, जबकि ग़ज़ल कई भाव-इकाइयों या विचार-घटकों का एक समूह होती है जिसमें अलग-अलग बन्दों (चरणों) में विभिन्न सन्दर्भों, वस्तुओं, भावों, विचारों अथवा संवेदनों को माला की तरह गूंथ दिया जाता है। ग़ज़ल अपने अंगों में भी स्वतंत्र होती है, और गीत की समग्र काया में एक ही मूल भावानुभूति या तो नीचे से ऊपर चढ़ती जाती है या एक क्षितिज विस्तार में ही तरंग-प्रति-तरंग विकासमान होती है। ग़ज़ल के लिए एक सीमा तक विस्तार की पूरी छूट है, पर गीत का आकार उसकी तुलना में उतना विस्तार-शील नहीं। ग़ज़ल की सहज़ प्रवणता विस्तारकामी है और गीत की सहज़ प्रवणता भाव-सघनता और संवेदन-प्रगाढ़ता की आकांक्षी होती है - यदि एक का मापदण्ड विस्तार है तो दूसरे का गाम्भीर्य और सघनत्व। ग़ज़ल चमत्कारवादी विधा है तो गीत अन्तर्भाववादी। वस्तुपरक गीतों में भी छोटी या बड़ी, संकीर्ण या प्रशस्त कोई एकान्विति अनिवार्य होती है और वह कुछ नहीं तो विषय का एकत्व तो एक कठोर अनुशासन है ही, जबकि ग़ज़ल ऐसे किसी भी अनुशासन से आबद्ध नहीं होती। ग़ज़ल भाषिक जड़ाव, यौक्तिक चातुर्य और वैचित्र्य-मुखी विधा है, जबकि गीत भावानुकूल, नादार्थ-व्यञ्जक अथवा समरस अनुभावन का संक्षिप्त काव्य-रूप है। ग़ज़ल विरोधाभास, वास्तविक विरोध, आघात और आक्रामकता की रचनाशीलता है जबकि गीत प्रहार, व्यंग और विद्रूप की अपेक्षा सामञ्जस्य एवं सम स्वभावता की मानसकिता है। गीत का संगीत उसकी भाव-कल्पना और भाषा की आन्तर लयात्मकता है। ग़ज़ल का संगीत, उसकी अभिव्यक्ति अथवा प्रस्तुति का एक मुखर वैशिष्ट्य होता है अर्थात् संगीत की लयात्मकता गीत की आत्मा है तो ग़ज़ल का संगीत उसका बाह्योपकरण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहा जा सकता है। ग़ज़ल वार्तालाप अथवा संलाप से लक्ष्यबद्ध होती है, जबकि गीत एकालाप की मूल प्रकृति पर समाधृत होता है। ग़ज़लकार अनुप्रास और यमक जैसे अलंकारों की ओर रुचिशील नहीं जबकि गीत इन अलंकारों के प्रयोग से अपनी संवेदना में समृद्धि का संभावक होता है। हिन्दी गीतों की परम्परा भक्ति के भावों से उत्थित हुई है जबकि ग़ज़ल 'महबूबा से बातचीत' और 'हुस्नो-मुहब्बत' के लौकिक सन्दर्भों से अपनी यात्रारम्भ करती है। ग़ज़ल में बातचीत के लहज़े और बोलचाल के टुकड़ों की भंगिमा को प्राथमिकता दी जाती है तो गीत, अपने लक्ष्य के प्रति एकान्त समर्पण को आदर्श मान कर चलता है। गीत सहजोक्तियों में हृदयस्पर्शी बनता है तो ग़ज़ल वक्रोक्ति और उपालम्भ में चरमता का अनुभव करती दीखती है। गीत शीलानुयायी है तो ग़ज़ल 'अदापसन्द'। 'ग़ज़ल' चुहल से संवरती है तो गीत उससे प्रभाव-संकट का अनुभव करता है। ग़ज़ल क्रमशः उठी अनुभूतियों का एक समूह है तो गीत एक ही प्रस्फूर्ति का प्रतिफल है। समय-समय पर एक ही बहर और क़ाफ़िया-रदीफ़ में लिखे गये बन्द एक ग़ज़ल मन्जूषा के विभिन्न नग होते हैं। गीत समयान्तराल में अधूरे और शिथिल हो जा सकते हैं। गीत एक द्युति और मुक्ति का प्रवाह हैं जबकि ग़ज़ल सावधानी और परिशोधन की प्रक्रिया में उत्पादित वैचारिक मंथन के समाहार का अन्तिम परिणाम होती है। ग़ज़ल में गिरह लगायी जाती है, वह एक प्रकार से समस्या-पूर्त्ति की प्रक्रिया में तैयार हो जाती है जबकि गीत एक बार भाव-प्रवाह टूट जाने (समाधि के शिथिल हो जाने पर) पर, अपने अखण्डत्व से वंचित हो जाता है।

गीत का अन्तर्नाद : मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद

गीत-सृजन एक तरह से भाव यज्ञ है जिसमें ज्ञान की आहुति दी जाती है। केवल ज्ञान या केवल भाव इस सृजन को मूर्त्त नहीं कर सकता। अतिबौद्धिकता के प्रच्छन्न वकालती तथाकथित आधुनिकतावादी लेखक कहते सुने जाते हैं कि कविता हृदय से नहीं, बुद्धि से लिखी जाती है। इस कथन के पीछे प्रदर्शन की कुंठित मनोवृत्ति और एक विशेष प्रकार की साम्प्रदायिकता के प्रति मात्र प्रतिबद्धता है। ज्ञान और बुद्धि का अन्तर यहीं स्पष्ट हो जाता है। बुद्धि का क्षेत्र सीमित होता है यदि वह ज्ञान की गोद में नहीं पलती। ज्ञान में सौम्य और संभावनागत सौन्दर्य होता है। ज्ञान किसी संभावना को दूषित नहीं करता जबकि बुद्धि उस संभावना के प्रति अवरुद्ध आस्था रखने लगती है। साम्यवादी विचारधारा को दूषित करने वाली इसी प्रकार की प्रतिबद्ध बुद्धि है। इसलिए मात्र बुद्धि गीत को सरसता और सहजता देने में असमर्थ है। विचार बुद्धि का सात्विक गुण है जो गीत को मंडित करता है। केवल बुद्धि ऐसा नग्न शरीर है जिसे कोई सुधी सौन्दर्य-दृष्टि नहीं देगा।

ज्ञान और भाव, मानव-जीवन अथवा मानव-अस्तित्व की दो बोधात्मक स्थितियां हैं। मानव-चेतना, ज्ञानात्मक अथवा विचारात्मक तथा भावात्मक किंवा अनुभूत्यात्मक दशाओं में सदैव अभिव्यक्त होती रहती है। इन्हें चेतना की दो दशाएँ या दो आयाम कहने का कदापि यह अर्थ नहीं है कि ये दो चेतना-पक्ष एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न अथवा अमिश्र हैं। इनका अन्तर केवल एक की अपेक्षा दूसरे की प्रबलतरता है - एक-दूसरे में सर्वथा निषेध मानव के मानव रहते, कभी संभव ही नहीं हो सकता। इसीलिए शैवाद्वैत एवं प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में शायद तीनों की परस्पर एकात्मकता या (ज्ञान, भाव और कर्म की त्रयी का) उनके सामञ्जस्य और समरसता की बात

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कही गई है। 'त्रिपुरदाह' का प्रतीक, तीनों के आत्मचेतना से सर्वथा निरभन या समापन (दाह) के अर्थ में, जिस चैतन्यानुभूतिमात्र का संकेत करता है, वह मानव-सत्ता की सहज सामान्यावस्था नहीं है। चेतना जब, अपने अस्तित्व-मात्र की दृष्टा या उपभोक्ता हो जायेगी तो वह ज्ञान-भाव-कर्मातीत अवस्था होगी-जहाँ मानव अस्तित्व अतीत-व्यतीत हो जाता है। मानव अस्तित्व की परिधि में ज्ञान, भाव और कर्म - तीनों का सकारात्मक सामंजस्य ही संभव है - निषेधात्मक या नकारात्मक तिरोभाव नहीं। वह तिरोधान-मूलक शुद्ध चैतन्य-मात्र की अनुभूति (और यदि वह अनुभूति है) साधक द्वारा अनुभूयमान होती है तो वह भी ज्ञान भाव अथवा कर्म के भीतर की कोई स्थिति होगी, मानवत्व की अनुभूति नहीं होगी। तात्पर्य यह कि मानव-चेतना ज्ञान, भाव और कर्म (या ज्ञान, इच्छा और कर्म) का सर्वथा पार्थक्य नहीं, प्रत्युत् उनका परस्पर समन्वय, सामञ्जस्य, समञ्जन, सह भाव, सन्तुलन, एकीकरण अथवा सम्मिश्रण ही है।

ज्ञान का क्रिया-परक होने के लिए, उसका भाव या अनुभूतिपरक इच्छा से संयोग या सामरस्य अनिवार्य है। कविता भाव-प्रधान प्रक्रिया (व्यापार) है। कथ्य जब तक निष्कर्ष रूप में प्राप्त विचार या ज्ञान-बोध से उतर कर या उठ कर, भाव स्तर पर प्रमाता अथवा अनुभोक्ता कवि (रचनाकार) को संस्पर्श नहीं करेगा, कवि कर्म संभव ही नहीं होगा। काव्य-रचना किसी भी रचना की भांति (यदि उसे रचना होनी है तो) ज्ञान और विचार के अनुभूत्यात्मक अथवा भावात्मक होने पर ही, कवि-कर्म (कृति) में परिणमनीय होगी। काव्य की अस्मिता ही भावात्मक है। विचार के भाव प्रभाव बनने पर ही, उसकी काव्यात्मक नियति-परिणति सम्भावित है। कोई युग अपने जीवन-व्यवहार और कर्म-व्यापार में चाहे जितना भी बुद्धिवादी या विचार-तर्क-प्रधान हो जाय, उसे भावात्मक अनुभूति से निर्मुक्ति नहीं मिल सकती। भाव-योग उसकी चेतना का एक अविच्छेद्य धर्म है। वह चाह कर भी भाव-व्यापार से सर्वथा विरहित नहीं हो सकता। कविता मुख्यतः भाव-व्यापार है, वह विचारों की भी भाव-मुखीन अभिव्यक्ति है। सम्वेदना पूर्णतः भाव न हो, हर अनुभूति पूर्णतः भाव दशा न भी हो, पर संवेदना या अनुभूति में विचार या ज्ञान-बोध, निश्चित रूप से कहीं-न-कहीं भावोन्मुख तो होती ही है। इसे आप कविता के सन्दर्भ में मनोवैज्ञानिक अद्वैतवाद की संज्ञा दे सकते हैं। बड़े से बड़ा ज्ञानी या कर्मवीर, कहीं न कहीं, भावशील या भावुक तो होता ही है। भाव दशा का आवेश ही ज्ञान या कर्म के नैरन्तर्य का, परोक्ष-अपरोक्ष रूप से संवाहक होता है। यदि कविता का उद्देश्य पर-प्रभाव और सहितता है तो अन्यों तक प्रभाव- संसृष्टि अथवा तद्वत संवेदन या सम्प्रेषण के लिए, भाव का माध्यम अनिवार्य है। एक प्रकार के विचार सब में समान रूप से संभव नहीं हैं पर हमारे स्थायी-भावों के मानस-संस्थान सब में झंकृत होने के लिए सदैव विद्यमान होंगे। युग की रुचि-अरुचि के वैशिष्ट्य से, भाव के आधार आश्रय और आलम्बन बदल सकते हैं पर भाव शक्ति का सर्वथा तिरोभाव संभव नहीं है। यदि ऐसा संभव हो जाएगा तो वह जीवन्त मानव नहीं, यंत्र-मानव ही होगा।

तात्पर्य यह कि युग के गद्यात्मक और मशीनी होने से अथवा विचारशीलता की प्राथमिकता-वरीयता के प्रचलित अधिमान बदल देने से, भावशीलता की समाप्ति संभव नहीं। घर-बाहर, देश-विदेश या अन्तर और बाह्य में मानव की तुष्टि-तृप्ति के लिए भाव तत्व अपरिहार्य है। बाह्य-जगत में भाव तृप्ति न होने पर मानव की भावानुभूति की पिपासा अपना भाग-भोग लेगी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही। आज यंत्र-युगीन और अतिभौतिक मानव में, विज्ञान और तांत्रिकी के इस उत्तरोतर विस्तार-प्रसार के सोपान पर भी, जो आन्तरिक अशान्ति जन्म ले रही है, उसके प्रति विद्रोह आज नाना रूपों में उन्हीं देशों और सभ्यताओं में विस्फोट कर रहे हैं जहां मानव-समाज ने भाव-दशा को नकार दिया है।

गद्य विचार-प्रधान और तर्क-वितर्क की अभिव्यक्ति की विधा है, पद्य (कविता जिसका चरम रूप है) भाव-प्रधान और आनुभूतिक ताप के अभिव्यञ्जन का भाषिक माध्यम है। बाहर की गद्यात्मकता, भीतर के लिए भी तोषप्रद आदर्श हो जाए, ऐसी कोई तार्किक नियति भी स्वयं सिद्ध नहीं कही जा सकती। यदि द्वन्द्वात्मकता सत्य है तो अन्तः बहिर्द्वन्द्व गति और क्रियाशीलता के लिए अनिवार्य बन जाती है। द्वन्द्व की शमनावस्था (साम्यावस्था) शायद चेतना की भी मृत्यु होगी। अभाव स्वयं मानव में भाव के लिये लालायित होता रहता है। भाव-अभाव की यह अन्तर्बहि द्वन्द्वात्मकता ही मानवत्व, और इतिहास की गति का मूल मंत्र है। युग यदि अपेक्षाकृत गद्यात्मक हो जाय तो मानव स्वभाव और उसका अन्तरचेतना लोक भी, बलपूर्वक गद्यात्मक बना दिया या बना लिया जाय, यह तर्क इसलिए भी अमान्य है कि ऐसा उचित नहीं और तदधिक ऐसा संभव और शक्य भी नहीं है। कविता मानव-चेतना का निरन्तर संगीत और मानवात्मा का अनहद नाद है, जिसके गूंजते ही मानव और मानवता की अपनी अस्मिता भी अक्षुण्ण और सुरक्षित है। बाहर की गद्यात्मकता और व्यवहार जगत की कवित्वहीनता, मानव-चेतना और उसके मूल स्वभाव की जिज़ीविषा-तृषा को निरस्त नहीं कर सकती, उलटे उसकी विकलता को और द्विगुणित कर सकती है। भाव, कल्पना, सौन्दर्य-पिपासा और कलात्मकता के चेतना-तत्व कविता के तत्व हैं, अतः उन्हीं की भांति कविता भी मानव-मन में रसी-बसी एक तत्व और स्वत्व की अविराम तृषा है। युग जितना ही गद्यमय होगा, उसके प्रतिवाद-स्वरूप पद्य की उत्कृष्टा कविता उतनी ही और अधिक आवश्यक और अनिवार्य होगी। कविता की मृत्यु की जितनी भी और जितनी ही भविष्यवाणियाँ की गईं, वे पथ के शिला-चिह्न की भांति, जहाँ की तहाँ खड़ी रह गयी और पद्य-रूपा कविता आगे बढ़ती आयी हैं, स्यात् बढ़ती ही जायगी। मानव-मन के स्वभाव के साथ, स्यात्-कदाचित् कविता भी अमर है - अपनी समूची काल-यात्रा के साथ।

गीत कविता की अन्तस्तम विधा है। वह कविता की बहिर्जागतिक यात्रा का अन्तिम अन्तर छोर है, जहां कविता ललिततम और सूक्ष्मतम होकर गा उठती है। वह ज्यों-ज्यों बहिर्मन से अन्तर्मन की ओर जाती है, मधुरतर मृदुलतर, सुकुमारतर और तरल-सजलतर रूप लेती जाती है और तब 'ग्राव' (पत्थर) से 'द्राव' (पिघलाव) बन कर अन्तरात्मा के प्रियतम के अभिसार-योग्य बन पाती है। उसकी वीणा में वज्र का गर्ज़न भीतरी कसक का रूप ले लेता है। बहिर्जगत की दुर्धुर्ष पीड़ा करुणा की दामिनी बन कर सहदय-मात्र को थरथराने लगती है। जो शब्द नहीं कह पाते, वह एक बिन्दु आंसू कह देता है, जिस अन्तर्पीड़ा को लम्बा प्रबन्ध नहीं उजागर कर पाता, उसे एक समर्थ गीत मन में उकेर देता है। गीत गीतकार का अपना आत्म-संलाप ही नहीं, वह (एक सफल गीत के माध्यम से) अपने भीतर लौट सकने में समर्थ जन-जन काआत्म-संलाप भी होता है। गीत बहिर्यात्रा से थके-मांदे भीतर-लौटे मनः पथिक का वह अन्तर्बोध है, जिसे वह बार-बार सहेजता, खोलता और फिर अन्धेरे में दीपक की भाँति, अपने अन्तर्लोक में लेस लेता है। करुणा,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहभाव, मैत्री, शौर्य, साहस, सहिष्णुता, त्याग, संयोग, वियोग, हंसी, आंसू, प्रतिशोध, मान-अपमान, परुषता, पौरुष, कोमलता, आशंका, भय, जुगुप्सा, विस्मय, हर्ष, विषाद आदि यहाँ सभी गेय बन जाते हैं।

गीत-प्रियता और गीत-तृषा मानव की निरी समय-सापेक्ष वृत्ति नहीं वरन् वह मानव स्वभाव की अनिवार्य तृषा है - अपने या परिवेश के सुख-दुख में आत्म-रमण और दूसरों को रमण कराने वाली एक मूलभूत अथच शाश्वत पिपासा जो मानवात्मा (चेतन) और विराट् विश्व के बीच निरन्तर क्रियमान एक लयात्मक भूख है- जिसे मानव अन्तर्भावना की सांगीतिकता में निरन्तर खोजता रहता है। यथार्थों से मुक्ति गीत में आकर ही चेतना से एक तान और एक लय हो पाती है। भारत जैसी भूमि में यह लक्षणीय ही है कि वीरता भी गेय बन कर 'आल्हा', 'पंवारा' और 'चनैनी' (चन्द्रायणी) जैसी लोक गाथाओं में मुखर हो उठती है। यहां तो रति और विरति दोनों ही पदों में गेयता का आकार ले लेती है। गीत-विधा के लिए देश-काल की बाधा नहीं होती। वह तो बाहर को भीतर गाने और भीतर को बाहर आकर गायन की अकेली काव्य-विधा है। लेखक की दृष्टि में यह प्रश्न अप्रासंगिक ही है कि कोई गीतकार आज की गद्यात्मकता में भी कैसे गा लेता है। आज तो 'प्रयोग', 'नई कविता' और 'अ-कविता' की बहिर्सामग्री भी 'नवगीत' में गेय ही मानी जा रही है। हँसना, रोना और गाना मानव का स्वभाव है, वह मानव से किसी भी देश-काल में नहीं छूट सकता। काव्य-विधा के रूप में गीत न केवल मन को भार-रहित बनाता है अपितु वह कथ्य के मर्म को भी गृहीता तक सम्प्रेषित-संवेदित करने का सफलतम काव्य-रूप है। गीत की उपादेयता इस प्रकार असंदिग्ध है। यह विधा लोक-जीवन, लोक-काव्य और लोक-संस्कृति में तो सार्वभौम रूप से है ही, प्रत्येक जाति और समाज के शिष्ट-परिनिष्ठित साहित्य में भी इसे सम्मान प्राप्त है। एक में ही विस्तार और वैविध्य के आधार पर प्रबन्ध को भारतीय काव्य-शास्त्र के अन्तर्गत स्फुट अथवा मुक्तक काव्य में गिना गया है, पर स्वयं संस्कृत-साहित्य एवं परवर्त्ती भाषा-काव्यों में भी गीत ने अपनी अस्मिता स्थापित कर ली है। जयदेव का 'गीत-गोविन्दम्' स्वयं में प्रमाण-शलाका ही कहा जाएगा।

जो गीत-विधा का मर्म-वेत्ता होगा, उसका समीक्षक व्यक्तित्व अधिक मुक्त, पूर्वाग्रह-हीन और सर्वदर्शी हो सकता है। आचार्य शुक्ल जैसे विराट् एवं विधायक समीक्षक की समीक्षा-दृष्टि में यदि कहीं कोई संकोच अनुभव होता है तो वहीं जहाँ उन्होंने खड़ी बोली के गीतिकाव्य के प्रति अनुदारता वरण कर ली; पर मध्ययुगीन गीतिकाव्य के प्रति उनकी अधिक खुली दृष्टि ने, अन्यत्र उन्हें सर्वदर्शी और मर्मस्पर्शी समीक्षक सिद्ध कर दिया है। गीत का सफल आस्वादन समीक्षक की समीक्षा-शक्ति और आलोचक-दृष्टि को पखारने में अधिक सहायक सिद्ध होता है।

कला-लालित्य

'कला कला के लिए' के सिद्धान्त में यदि कुछ बल है तो यही कि कला में भाव लालित्य और सौन्दर्य पक्ष अनिवार्य होता है। कलात्मकता काव्य या साहित्य की प्रथम शर्त्त है, पर एकमात्र शर्त्त नहीं। बिना कलात्मकता के कोई कृति अन्य दृष्टियों से जितनी भी ऐतिहासिक, महान् विचार-मय और उपयोगी हो, पर कला की श्रेणी में आने के लिए उसे काव्यात्मक भी होना पड़ेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला के काव्यात्मक होने का गुण यह है कि कला मात्र सौन्दर्य साधन नहीं है अपितु उसमें सौन्दर्य की विशिष्ट उपयोगिता का भाव भी व्याप्त है। कोई फल मीठा है और सुन्दर है तो यह उसका कलात्मक गुण हो सकता है परन्तु उसका आस्वाद्य होना उस की कलात्मकता को उपयोगिता का विस्तार देता है। भारतीय मनीषा इसलिए ही 'कान्ता सम्मितो पदेश युजे' को काव्य की चरम परिणति के रूप में स्वीकार करती है। उपदेश का अभिधार्थ लेकर अनेक लोगों ने भारतीय चिन्तन की विराट् दृष्टि को काना किया है। काव्य का उपदेश जीवन की भाव-प्रक्रिया को रसमय अवगुंठन देता है, शल्य क्रिया की कठोरता नहीं। इस प्रकार कला की उपयोगिता ही उस का लालित्य है। उपयोगिताहीन कला एक सुन्दर नपुंसक की तरह है। यह 'वाद' रक्षात्मक (defensive) और प्रतिक्रिया जन्यता के रूप में तो एक महत्त्वपूर्ण पक्ष की ओर संकेत करता है, पर एक सर्व-निरपेक्ष और स्वयंपूर्ण कथन के रूप में यह अतिरेकी और एकांगी हो जाता है। किसी समाज की मानवीय कला, मानव-सापेक्ष होती है तब समाज, संस्कृति और देशकाल की अपेक्षाओं तथा आर्थिक ढांचे से पड़े प्रभाव को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है। कलाकार या रचनाकार निश्चित ही कहीं-न-कहीं से प्रतिबद्ध होता है। कलात्मक रुचि का निर्माण और विकास भी समाज के परिवेश में ही रूपायित होता है। कला और साहित्य अनिवार्य रूप से एक सामाजिकता की ही देन है। वह घनात्मक अथवा भावात्मक रूप से एक परम्परा की सचेतना में ही कुछ सकारता और कुछ नकारता है। कला का कोई सर्वतंत्र-स्वतंत्र रूपकल्पित नहीं किया जा सकता। स्वयं कला की कल्पना, भावना और सर्जना किसी स्वीकार पर ही, अतः किसी प्रतिबद्धता पर ही खड़ी होती है। यह अन्य बात है कि स्वेच्छाचार और निर्बन्ध स्वैरिता में कोई आग्रहशील कलाकार कला की प्रतिबद्धता से छल कर सकता है, उस प्रकार निहित स्वार्थी समाज भी किसी सन्निष्ठ कला के साथ छल अपना लेता है। रस, आनन्द या सौन्दर्य के प्रतिमानों के उपादान भी किन्हीं मानव-मूल्यों के औचित्य-अनौचित्य, वांछनीयता-अवांछनीयता से गहराई में जाकर प्रतिबद्धता स्थापित करते हैं। सौन्दर्य या औचित्य की दृष्टि यों भी किसी असुन्दर अथवा अनुचित की प्रतिक्रिया में जन्म लेती है। सौन्दर्य का पक्षधर रचनाकार भी समाज की मान्यताओं में असुन्दर को उजागर कर भीतर से परिवर्त्तन या विद्रोहात्मक असहमति को ही प्रेरित करता है। जब कोई गीतों से तनाव-मुक्त होता है तो क्या वह तनाव के कारणों-स्रोतों से केवल समझौता करके ही रह जाता है या उन्हें सर्वथा गौण कर विस्मृत कर देता है। शायद वह भी कहीं से नयी शक्ति बटोरता है। इसलिए सामाजिक कुण्ठाओं, विसंगतियों और विकृतियों के मर्म-बोध पर खड़े तथाकथित 'नवगीत' या सही ऊर्जा-बोध पर प्रस्फुटित 'नयी कविता' की अनेक रचनाएं इसलिए सर्वथा अप्रिय या अरुचिकर नहीं है कि उनका रूपांकन गीत-विधा में नहीं है। डॉ. शम्भूनाथ सिंह आदि की नवगीत की स्वकल्पित और स्वयं में अन्तर्विरोधी परिभाषाओं को छोड़ कर, अनेक नवगीतों ने इस आयाम पर 'नयी कविता' को मुंह-तोड़ जबाब दिया है कि गीत केवल आत्मनिष्ठ, अन्तर्वर्त्ती, व्यक्तिपरक, केवल सुकुमार और मधुर-मृदुल के व्यंजक होने के कारण एक संकीर्ण, अधूरी और आज के आधुनिक बोध के उज्जागरण और उत्प्रेरण में, एक पिछड़ी विधा है, जिसका स्वीकार आधुनिकता के अस्वीकार का पर्याय बन जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत, व्यक्ति, व्यक्तित्व

विषय वस्तु और विचारपरक कविताएं यदि वैयक्तिक अतिरेकों के जाल में उलझ जाती हैं तो यह कविता का महत्तम दुर्भाग्य है। गीत भी सम्प्रेषण और संवेदन से कट कर शक्तिहीन ही होता है। दुर्बोधता और कृत्रिम या बौद्धिक जाटिल्य किसी कविता का दोष ही है, किन्तु गीत-विधा में लयात्मकता और गेयता का प्राधान्य होने से , कविता की अन्य विधाओं की अपेक्षा, फिर भी न्यूनाधिक कुछ मनः संचरण दे भी जाता है, पर अन्य काव्य-विधाएं छूंछी और उबाऊ भार से श्रोता/पाठक को विकर्षित ही करती है। गीतों की श्रव्यता या आस्वाद्यता, अपने में अन्यों की अपेक्षा अधिक ग्राह्य होती है। दर्शन बोझिल गीत अधिक भारमय होते हैं। आयातित संबोध भी, गीत की हृदय स्पर्शिता को कम कर देते हैं। अपने समाज-भूमि की आधुनिक परिणतियां, आयातित की अपेक्षा अधिक प्रभावकारी और सम्वेदक होती हैं। 'नवगीत' अपने सहज आधुनिकता बोध में प्रभावी हैं; पर जिनमें अतिप्राविधिक, अतिप्रौद्योगिक पाश्चात्य समाज के बोध, मौलिकता और नवीनता के आग्रह या चौंकाने के लिए लाये गये हैं, उनका साधारणीकरण असम्भव हो जाता है। नये से नये प्रतीकों और अप्रस्तुतों में प्रभावकता तभी होती है जब वे सामान्य अनुभव की वस्तु बन गये हों और उनका समावेश सौन्दर्यात्मक दृष्टि (भाव-सर्जक दृष्टि) से किया गया होगा। विवेक दृष्टि से नवीनता और आधुनिकता दोनों में थोड़ा अन्तर प्रतीत होता है। नवीनता प्रकृति का स्वभाव होती है आधुनिकता आरोपित। नवीनता और आधुनिकता जहां अत्याग्रह और ऐकान्तिक हो गयी है, वहां उनका प्रभाव-तत्व भी ठंडा होता देखा गया है - कुछ सम्प्रदायवादी या शिविरबद्ध लोग उनको चाहे जितना महत्त्व दें, सामान्य सहृदय को वे सम्वेदित नहीं कर पाते। गीत और इसीलिए 'नवगीत' भी एक वैचित्र्य-व्यंजक या सर्वथा वैलक्षण्य-निरूपक होकर सार्थक और सफल नहीं हो सकते। अनेक नवगीत और नवगीतकार केवल नव-प्रतीकों और अमूर्त्तन-शिल्प में सहजता खो बैठते हैं। गीत-नवगीत या कविता ही, न केवल प्रतीक-विधान है और न अमूर्त्तन का अतिरेक या हिन्दी उर्दू अंग्रेजी के शब्दों का असामंजस्यपूर्ण संकलन। जब तक प्रयुक्त शब्दों और उद्दिष्ट अर्थों में कुन्तक के शब्दों में 'परस्पर प्रतिस्पर्धिता' न होगी, कोई काव्य-रचना प्रीतिकर और सुस्वाद्य नहीं हो सकती। सहज विकसित गीत-परम्परा से अपने को झटकार 'नयी कविता' के प्रति अनावश्यक ईर्ष्यालुता और आन्दोलनात्मक रूप से प्रचारित 'नव-गीत-वाद' के दुराग्रहों से नव-गीत कुछ खोयेगा ही, कुछ अलभ्य की प्राप्ति में सफल नहीं हो सकता। तब एक और अत्याग्रह जन्म लेने लगता है कि नवगीत सबसे अधिक लोक सम्पृक्त भी है, देश की धरती से सर्वाधिक जुड़ा भी है, सबसे अधिक आधुनिक भी है, सब से अधिक रोमान-मुक्त अतः सर्वाधिक रूप से विशुद्ध काव्य भी है अर्थात् क्या-क्या नहीं है - उसमें सब कुछ है और वह सर्वोत्तम है। यही कारण है कि नवगीत का हर शिविर अपनी अलग-अलग परिभाषाएं दे रहा है और हर की प्रदत्त परिभाषा में ही स्वयं अन्तर्विरोध है। नवगीत का पुरोधा कौन है और नवगीत बहुत समय से पनपता आ रहा है-वह आयातित नहीं है-फिर व्यक्ति-विशेष ही प्रयोगवाद के विधाता अज्ञेय की भांति नवगीत का विधाता भी है - आदि आदि परस्पर विरोधी स्थापनाएं नवगीत के सहज विकास या हिन्दी गीतिधारा के सहज विकास को धूमिल करने लगी है। इन आग्रहों-दुराग्रहों से नवगीत भी जन-सामान्य से दूर होता जायगा। सन् 1940 के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जीवनमुखी गीति-धारा चाहे जन-सामान्य तक पूरी न पहुंच पायी हो, पर उसका प्रयास जन सामान्य से जुड़ने का था। आज के नवगीतकार का आन्दोलनी रूप जन-सामान्य से अलग-थलग रहने में ही अपनी अस्मिता मानता है - सबसे बड़ा दुर्योग तो यही हो उठा है। 'नवगीत दशकों' में दी गई परिभाषाएं या लक्षण, कुछ दूर चल कर अपनी स्थापना के विरोध में खड़े होते जाते हैं। अच्छे गीत, नवगीत लिखे गये और लिखे जा रहे हैं, इस पर कोई सन्देह न किया जाय, पर उन परिभाषाओं लक्षणों की समंजस-सार भूमि पर कितने खड़े हो पाते हैं, यह प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण है। कुछ प्रतीकों रूढ़िवत प्रचलित शब्दों, परस्पर सामान्य बन गये बिम्ब-प्रतीकों और रीतिबद्ध (मैनरिस्टिक) बन गये अप्रस्तुतों-विशेषणों के कारण ही नहीं, कुछ कथ्यों के इतिवृत्तात्मक प्रयोगों से भी 'नवगीत' भुगतने लगा है।

नवगीतों में समाज की आधुनिकतर स्थितियों और विसंगतिबोधों का आगमन, उसे परम्परा-विकसित गीतों से अलग अस्तित्व देता दिखलायी पड़ रहा है, पर 'नयी कविता' के अति-विद्रोह-शीलता, अनास्था, कुण्ठा, आशंका और थकन-टूटन के अवसाद से वह अलग नहीं हो सका है। प्रायः 'नयी कविता' के भाव-सम्वेदन-बोध, छान्दसिक रूप व लय और प्रतीक गीतात्मक शिल्प में उतारे जा रहे हैं क्योंकि वे ही आधुनिकता-बोध के लक्षण या अनिवार्य तत्व के रूप में गृहीत किये गये हैं। फलतः अनेक नवगीत एक प्रकार से 'नयी कविता' के भाव-बोध के गीतायन (गीतायित रूप) हो गये हैं। यह निर्धारित करना बड़ा कठिन है कि 'नयी कविता' और 'नवगीत' के आधुनिक-बोध में क्या अन्तर है। केवल गीत-रूपता और अ-गीत-रूपता का ही अन्तर है या तत्वतः और कुछ - नवगीत के पुरोधा स्पष्ट नहीं कर पा रहे हैं। आज उनमें भी स्पष्टतः दो तीन शिविर बन रहे हैं। कोई भी एक-दूसरे को नवगीतकार मानने को तैयार नहीं दीखता। नवगीत का लोक-बोध रोमान से कितना भिन्न है, कहा नहीं जा सकता। नवगीत का शुभ-शुक्ल पक्ष भी इसी में निहित है कि वह भारतीय संस्कृति और उसकी मूलभूत धारणाओं में, समयानुसार तथा युगीन अपेक्षाओं के कारण, नवीन स्थितियों में मानव मूल्यों और मानवीय रागात्मकता को, आत्म-निष्ठापूर्वक उभार कर, हृदय-स्पर्शी बनाने में सफल हों - आधुनिकता को पुरानी, विकृत रुचियों से मुक्त कर रचनात्मक, ग्राह्य, मानवीय और मंगलकारी बनाने में लक्ष्य-बद्ध हो। उसे सर्वथा मौलिक होने और नवीनतम होने के व्यामोह से मुक्त होकर, जीवन संग्रह, मानवीय सद्भाव और आधुनिक परिवेश की विकृतियों से सुरक्षित रह कर, जीवन के स्वस्थ रागों को संजीवित करने में समर्थ होना होगा। नवगीत को सर्वथा-नव-भूत कहलाने के दुर्मोह की अपेक्षा, हिन्दी गीत-परम्परा की युगानुकूल विकसित कड़ी के रूप को संवारना चाहिए - तभी वह जन-सामान्य और अपनी भूमि में सहज ग्राह्य बन सकेगा।

नवगीत का शुक्ल पक्ष : कल्पना

आधुनिक काव्य लोचन कल्पना को नकार कर अपनी नवीनता की दुंदुभी बजा रहा है। यथार्थ के नाम पर तथाकथित नयी कविता में जो छीछालेदार हुई है उससे यथार्थ भी लज्जित होने लगा है। कल्पना के साथ जन यथार्थ गुंजित होता था तो वह अधिक प्रभावी होता था। कबीर ने यथार्थ को यथार्थ के रूप में चित्रित नहीं किया उसे कल्पना से कलित कर प्रभावी बनाया। एक ओर कल्पना के प्रति अरुचि और दूसरी ओर कल्पना प्रधान जीवन के प्रति रुचि - कैसी विसंगति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसलिए कल्पना को यथार्थ के विपरीत रूप में नहीं अपितु सम्प्रेषणीयता के गुण के साथ देखने में ही हार्दिक लाभ है।

कल्पना मानव-जीव-सापेक्ष और जीवन के सूक्ष्म-अदृश्य पक्ष को उजागर करते हुए ही गीत-कविता में सार्थक होती है। कल्पना स्वयं में निरपेक्ष होकर काव्य के मूल्य को घटाती है। कल्पना-व्यापार से अलग होकर काव्य या गीत अपना स्वरूप खो देंगे, पर काव्य-गीत-गत कल्पना सापेक्ष और जीवन-पूरक होनी चाहिए - मिथ में चकाचौंध करने वाली नहीं। जीवन की भांति ही कविता गीत में भी कल्पना अनिवार्य साधक/उपादान होने के कारण एक प्रकार का यथार्थ या यथार्थ की सम-स्थानीय ही है - कोई विजातीय तत्व नहीं। वह सम्मूर्त्तन से लेकर प्रभाव-सम्प्रेषण तक कार्य-रत रहती है।

कविता की रागात्मक लयात्मकता गीतात्मकता ही है। सामान्य कविता से गीत-विधा में गीतात्मकता केवल प्रगाढ़तर हो जाती है। गीतात्मकता वस्तुतः और तत्वतः कविता मात्र के भावात्मक - रागात्मक-बोध, लयात्मकता, लालित्य, सहज-बिम्बात्मकता और व्यंजकता के एकात्म रूप का नाम है। शायद यही तत्व कविता को गद्य या अकाव्यात्मकता से अलग अस्मिता प्रदान करता है। यों गीत कविता की ही एक विशिष्ट विधा है और हर कविता गीत न हो पर हर गीत कविता अवश्यमेव है। गीत दृष्टि से निराला, महादेवी, नरेन्द्र शर्मा, बच्चन, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र, भारतभूषण, सोम ठाकुर, किशन सरोज, स्नेहलता स्नेह, पं. मधुर शास्त्री, कुंअर बेचैन, माहेश्वरी तिवारी, रमेश रंजक, चन्द्रसेन विराट, रवीन्द्र भ्रमर, नईम, उमाकान्त मालवीय, शिव बहादुर सिंह भदौरिया, हरीश भादानी, योगेन्द्र दत्त शर्मा, बुद्धिनाथ मिश्र आदि सफल गीतकार हैं।

अनुभूति के साथ विचार या समस्या का कोई मौलिक विरोध नहीं है। गीत का आधुनिक बोध से भी तत्वतः विरोध नहीं है। सभी गेय होकर गीत-गत हो सकते हैं। उन्हें भाव, अनुभूति कल्पना और कला के साथ समरस होकर आना होगा - इतिवृत्तात्मक रूप में नहीं। गीतायित हो कर सभी गीतोपकारक हो जाते हैं। उनमें भाव-भाषा सी अनुकूल लयात्मकता आवश्यक है। एक रासायनिक परिवर्त्तन-सा समंजस रूप अपेक्षित है।

सूक्ष्म प्रतिभा का कला चिह्न : दोहा

नवगीत पर विचार करते हुए आज के नवगीतकारों की उस प्रवृत्ति पर भी ध्यान जा रहा है जो दोहों की ओर मुड़ रही है। हिन्दी छन्दों में दोहे का वही महत्त्वपूर्ण स्थान है जो संस्कृत छन्दों में अनुष्टुप वृत्त का है। संस्कृत साहित्य में जितना अनुष्टुप को स्नेह और आत्मीयता मिली उतना आदर हिन्दी ने नहीं दिया। संस्कृत पुराणों, उपनिषदों, महाकाव्यों में अनुष्टुप का वृहत्तर प्रयोग हुआ है। हिन्दी में वीर गाथाकाल, भक्तिकाल, रीतिकाल तक दोहे का प्रयोग होता रहा परन्तु सहसा दोहे के 'देखन में छोटे लगें' समझ कर गंभीर घाव के लिए पद शैली का प्रचलन हो गया। दोहे के साहित्यात्मक रूप को प्रतिष्ठित करने वालों में कबीर, तुलसी, बिहारी और वृन्द का अतिशय योगदान है।

दोहा कवि की सूक्ष्म प्रतिभा का कला-चिह्न है। छोटे शरीर में महान् आत्मा के निवास की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तरह कम शब्दों में विराट अर्थ का संयोजन दोहे का साफल्य है। 'लघुता में ' महत्ता का भाव कलात्मक कसौटी का नमूना रहा है। रीतिकाल तक की पदशैली में वृहत्तर शब्द योजना का भाव मिलता है। कवित्त, सवैया, घनाक्षरी, कुंडलियां आदि में भी भावपक्ष की अपेक्षा कलापक्ष की सजगता मिलती है। इस यत्किंचित् वृहत्ता को छायावादी पदशैली में लघुता मिली। लघुता का भाव (शारीरिक) अधिकांश गीतों में मिलता है।

नवगीत इस गीत परम्परा के वृहत्तर कायिक कलापक्ष को संकुचित कर प्रविष्ट हुआ। प्रायः गीतों में तीन या चार पद अनिवार्य से हो गए थे। प्रसाद, पंत, निराला आदि के गीतों में अधिकतर तीन पद प्राप्त होते हैं। छायावादोत्तर गीतों में भी तीन पदों का क्रम चलता रहा। नवगीत ने अपना शरीर और लघुतर कर लिया। नवगीत के अनेक संकलन देखने में आये जहां दो पदों में काम चला लिया गया। छोटे में चाहे बड़ा भाव न आया हो परन्तु एक चमत्कारोन्मुखी प्रवृत्ति का नूतन रुझान अवश्य मिला। जो कहना है दो पदों में कहा जा सकता है तो फिर तीन पदों की कोई आवश्यकता नहीं।

तीव्र गति से चलने वाले जीवन में इतना भी अवकाश नहीं है कि दो पदों पर ध्यान दिया जाय। गीत का एक पद ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि गीतकार का मूड नहीं रहा, गीत लिखते समय कोई बाधा पड़ गई या कल्पना शक्ति जबाब दे बैठी। अतः एक पद का नवगीत देखने में नहीं आया। नवगीतकार अब 'नव' विशेषण को सार्थक करना चाहता है। इस नवता के मोह में दोहे का आश्रय लिया जान पड़ता है। यह बुरा नहीं है अपितु अच्छा है। दोहे के कलात्मक स्वरूप को व्यापकता मिले। नवगीतकारों में नवगीत रचना की अपेक्षा मसीहाई मनोवृत्ति अधिक काम कर रही है। दोहे के पुनस्संस्थापकों में नेतृत्व मिले इसलिए इसे चर्चित करने के लिए संकलन प्रकाशित हो रहे हैं। श्री कृष्ण राय हृदयेश का 'इन्द्रधनुष क्षितिज कोई' (720 दोहे), सारस्वत मोहन मनीषी का 'मनीषी सतसई' (700 दोहे) इस दिशा में पहल कर चुके हैं। इन दिनों एक नवगीतकार के सम्पादकत्व में 'सप्तपदी-1' भी प्रकाशित हुई है जिन में सात कवियों के 707 दोहे संकलित हैं। इन दोहों में आज की राजनीति, भ्रष्टाचार और मानवतावादी नारे हैं। 'तार सप्तक' के सामने 'सप्तपदी' अपनी स्त्रीलिङ्ग वृत्ति को ही उजागर करती है। सप्तपदी के सम्पादक ने स्वयं घोषित किया है कि उन्होंने तीन हज़ार से अधिक दोहे लिखे हैं। दोहा जितना छोटा है उस की संख्या इतनी अधिक - यह तो कोई महान आलोचक ही देखे। इस का अभिप्राय यह नहीं है कि दोहे लिखना छोटा काम है अपितु बड़े बड़े गीत लिखने की अपेक्षा दोहा लिखना कठिन है। दो पंक्तियों में चमत्कार उत्पन्न करना कलाकार का ही कार्य है। 'सप्दपदी' के कुछ दोहे ऐसे हैं जिनमें चमत्कार है। ये दोहे इन लेखकों की प्रतिभा का परिचय देते हैं।

मार्क्सीय जूठन : जनगीत

वर्त्तमान जीवनधारा विचित्र और विविध तटानुभूतियों को समेटे बह रही है। उसका कारण यह है कि व्यक्ति समाज, राष्ट्र और समग्र मानव दृष्टि अपने अपने घेरे में बन्दी हो गए हैं। व्यक्ति किसी विचार विशेष को लेकर स्वयं को प्रतिष्ठित करना चाहता है। इस प्रतिष्ठा के लोभ में वह कभी कभी विपरीत स्थिति का समर्थन करता है। स्पष्ट है यदि कोई दिन में रात्रि का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव करा देगा तो लोग उसमें कुछ नयापन खोजने लगेंगे ही। इसी प्रकार अपने अस्तित्व को सार्थकता न देकर अस्मिता के संकट से ग्रस्त कुछ लोगों ने नया नारा दिया - जनवादी गीत।

पहले भी कई बार जीवन के द्वैतभाव को व्याख्यायित किया जा चुका है। इसी द्वैत में धनी-निर्धन, शोषक-शोषित, शासक-शासित जैसे विरोधी युगल का निवास है। जीवन का स्वरूप जब जैसा रहा साहित्य में प्रतिध्वनित होता रहा। हिन्दी साहित्य (उत्तर आधुनिक काल) स्वयं उठ खड़ा होने में उतना समर्थ नहीं रहा जितना कि प्राचीन साहित्य। यह मानने में संकोच नहीं करना चाहिए कि विदेशी साहित्य से यह अधिक प्रेरित रहा। फ़ारसी हो या अंग्रेज़ी अथवा कोई अन्य-किसी न किसी विदेशी साहित्य की प्रेरणा मूल में रही। यही कारण है कि हिन्दी साहित्य स्वयम् में अपना अलग व्यक्तित्व स्थापित नहीं कर सका। अमीर खुसरो से लेकर आज तक ऐसा ही हो रहा है। छायावादी कल्पनाशीलता के विरुद्ध जो आवाज़ उठी वह भी हिन्दी की अपनी नहीं थी। साम्यवादी दौर आया। यह दौर था सत्य और यथार्थपरक। आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद के नारे तो बहुत लगे परन्तु यथार्थ के सम्मुख आदर्श ठहर नहीं पाया।

जीवन का प्रत्येक क्षण परिवर्त्तनशील और प्रगतिशील है। मनुष्य का विचार क्षेत्र विस्तृत और अनुभव सम्पन्न होता है। विचार को शब्द देना उस की प्रकृति है। इसीलिए एक विशेष विचार-क्षण को 'जनवादी' शाब्दिक विशेषण देकर काल विशेष में उसे विस्तार दिया गया। अभिधार्थ में प्रगति सर्वत्र है परन्तु हमारे देश की विचारधारा विदेश की वैचारिक चमत्कृति से शीघ्र चकित हो जाती है। पूर्व भी इस बात के पर्याप्त संकेत दिए जा चुके हैं कि मार्क्सवाद के साहित्यिक संस्करण के रूप में प्रगतिशील साहित्य अभिहित और चर्चित हुआ। छायावाद की मायावी धूप-छांह से आन्दोलित मनुष्य का मन उस यथार्थ को अनुभव करने लगा जो जीवन के अत्यधिक निकट रहते हुए भी अपरिचित रहा। परतन्त्रता की अंधगुफा से निकल कर सन् 1995 तक का आज़ाद रास्ता तय करते हुए भी सब से अधिक शोषण किसान मज़दूर का हुआ। इन पर ही अत्याचार के वज्र गिरे। मानसिक परतन्त्रता से मुक्त होने की चिन्ता में इस यथार्थ स्वर की आवश्यकता लगातार महसूस की जाती रही। किसी भी आन्दोलन के लिए सत्ता से प्रताड़ित किसान, मज़दूर, शोषित और दलित वर्ग का साहचर्य सर्वाधिक उल्लेखनीय एवं आवश्यक है। आज़ादी के 49 वर्ष बाद भी किसान मज़दूर का शोषण कमोबेश उसी प्रकार हो रहा है जैसे आज़ादी से पूर्व होता था। उनके तरीके और शैली में फर्क हो सकता है लेकिन उन के शोषण की अबाध गति उसी क्रूरता से चल रही है। समय की सुई ने उन की (शोषितों की) सोच, विरोध, आक्रोश के ढंग में संगठन स्तर पर जरूर परिवर्त्तन किया है लेकिन शोषण का यह नियतिचक्र आज भी उसी निष्ठुर गति से चल रहा है और किसान मज़दूर की दलित चेतना अपने वजूद की लड़ाई में उसी प्रकार संघर्षरत है।

छाया और रहस्य के धुंधलके में यह यथार्थ परोक्षित हो गया था। राजनीति की गर्म लपट के यथार्थ में प्रगतिशील रचना की आढ़ लेकर रचनाकार ने अपनी पूरी सक्रियता दिखाई। गीत और अगीत दोनों शैलियों में पीड़ित और दलित की वेदना और उसके नरकमय जीवन को प्रभावशाली रीति से चित्रित किया गया। प्रगतिशीलता का मौलिक चिन्तन कबीर के आध्यात्मिक स्वर में पहले-पहल अपने स्फुलिंग छोड़ता दिखाई पड़ता है। धर्म, मत, सम्प्रदाय आदि के क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में फैली विषमताओं के विरुद्ध आवाज़ बुलन्द करने वाला वह प्रगतिशील कवि था। उस समय न मार्क्स था न लेनिन। कबीर-समय से शुरू यह जनवादी प्रगति-स्वर अतीत-इतिहास के रूप में परिवर्त्तनचक्र पर घिसता-मंजता 21वीं सदी तक आ पहुंचा। इस प्रकार की रचनाओं में एक प्रकार की आक्रोश भरी भावनात्मक आंधी और जीवन की यथार्थ-प्रतीतियां थीं। रचना और विचार के क्षेत्र में एक मानसिक क्रान्ति का उद्वेग था, सतर्क और उपयोगिता का अनिवार्य सन्दर्भ। उपयोगी वर्ग का विपन्न जीवन उपभोक्ता को सम्पन्न नहीं बना सकता। धरती के शोषित धूलि-कण को आकाश में देखने के लिए जनवादी कविता आतुर हो उठी। इस प्रवाह की ऐतिहासिकता पर अभी प्रश्नचिह्न है। आधुनिक काल में निराला, पन्त, रामकुमार वर्मा, अंचल, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर आदि कवि अपनी वैचारिक ऊर्जा इस प्रगतिशील जनवादी स्वरों में ढालते रहे। प्रगतिशीलता की यह गर्माहट बच्चनोत्तर गीतकारों में भी पर्याप्त थी –

"ओ विप्लव के थके साथियों,
विजय मिली विश्राम न लेना।" (बलवीर सिंह रंग)
"मैं विद्रोही हूं, विद्रोह भरे स्वर में गीत सुनाने आया हूं।" (नीरज)
"महानाश का शंख बजेगा, युद्ध छिड़ेगा, रक्त बहेगा।
शोणित के सागर में तुम को मिलेगा कहीं किनारा।" (वीरेन्द्र मिश्र)
"नयी भूमिका लिख रहा हूं, नए विश्व इतिहास की।" (मधुर शास्त्री)
"कहीं पर महल हैं, कहीं झोंपड़ी है,
कहीं जामें साक़ी, कहीं भुखमरी है,
अगर चाहते हो, मिटे भेद सारे,
महल ये पुराने गिराने पड़ेंगे।" (मधुर शास्त्री)
"ये भूखे कंकाल सिकुड़ते, सड़कों पर रातों में।" (रामावतार त्यागी)

इस पंक्ति में अनेक नाम हैं। यहां यह कह देना आवश्यक है कि इन गीत-कविताओं के स्वर मंचीय प्रलोभनों के प्रति अधिक आकर्षित होने के कारण साहित्यिक स्वभाव के वातावरण से विच्छिन्न हो गये। इनमें से कुछ ऐसे गीतकार अवश्य थे जो मंच को एक सीमा तक स्वीकारते हुए अपनी साहित्यिक प्रकृति का पोषण करते रहे। वीरेन्द्र मिश्र और मधुर शास्त्री की प्रारम्भिक रचनाएं उस आवेग की प्रतिनिधि हैं जिन में साहित्यिक गंध का आस्वाद है। इस विषय पर भिन्न शैली में और दूसरे सन्दर्भ में चर्चा की जा चुकी है।

जिस प्रकार गीत के स्वरूप में नयापन लाने के इच्छुक रचनाकारों ने उस में 'नव' विशेषण जोड़ दिया उसी प्रकार नवगीत से अलग लीक खींचने के चक्कर में और स्वयं को प्रतिष्ठित-आलेखित करने की साहित्यिक राजनीतिक उठा-पटक के लिए 'जनवाद', 'जनवादी कविता', 'जनवादी गीत' एक नारा, साहित्य में ज़मने-ज़माने की चाल के अतिरिक्त कुछ नहीं। इस के पीछे कोई सुचिन्तित दर्शन, गंभीर मूल्यों का सन्धान, मनुष्य के लिए नया रचना शास्त्र, संघर्ष का युगानुकूल व्याकरण नहीं है, ध्यान आकर्षित करने के लिए यह साहित्यिक परिवेश के पर्यावरण को गरमाने की एक नाकाम कोशिश थी जो समय-समुद्र के वक्ष पर चूहे सी कुटर-कुटर करती बिलबिला कर फूट गयी। वैसे प्रकृति परिवर्त्तन का आग्रह करती है। नवगीत इसी परिवर्त्तन का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम है। यह दूसरी बात है कि मठाधीश घोषित होने की द्वन्द्वमयी लालसा ने नवगीत और जनवाद के अनेक प्रतिभाशाली स्वरों को उपेक्षित किया है। इतना तो निश्चित है कि नवगीत की अपनी अलग अदायगी है।

नवगीत की तरह जनवादी गीत भी उसी मानसिकता के धरातल पर सुगबुगाने लगा। प्रगतिशील विचारधारा की भांति इन तथाकथित जनवादियों के पास न तो अपना कोई दर्शन है न कोई सौन्दर्यशास्त्र। ये एक तरह से मार्क्सीय चिन्तन को प्रगतिशील दृष्टि के रूप में व्याख्यायित करने वाली वरिष्ठ पीढ़ी नागार्जुन, केदार, त्रिलोचन, रामविलास, रांगेय राघव, सुमन आदि की छाया की छाया की जूठन है। वैसे इन तथाकथित जनवादियों की मनः स्थिति लगभग उसी विद्रोही अन्तः संघर्ष की घुटन से पीड़ित है। नाम पुराने पड़ जाते हैं तो नया नाम देकर सन्तोष मिलता है। जनवाद उसी प्रगतिशील विचार का नया नामकरण संस्कार है। प्रेमचन्द की किसान पीड़ा आज भी चर्चित है परन्तु अब वह नाम नहीं है। यथार्थ और आदर्श के रूप बदले, परिभाषाएं बदलीं और उनकी समयानुकूल उपयोगिता के स्तर बदल गए।

जनवादी गीत-कविता उसी जन की पीड़ा को उद्घोषित करती है जो खानों में खुदाई करता असमय काल का ग्रास बन जाता है और परिवार को अनाथ कर जाता है। वह पेट भर खाना नहीं खा पाता। संसार के ऐश-आराम उसके लिए नहीं होते। सारा दिन मज़दूरी करता है परन्तु परिवार का पालन स्वच्छन्दता से नहीं कर पाता। अपनी मेहनत से अन्न उगाने वाला किसान दरिद्रता का जीवन जीता है। इस प्रकार की विषमताओं और विसंगतियों को चित्रित करने वाली ये जनवादी गीत-कविताएं प्रच्छन्न रूप से बौद्धिक क्षेत्र में साम्यवादी अनुशासन पद्धति से प्रभावित हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि ये गीत-कविताएं यथार्थ का उद्घाटन करती हैं परन्तु सत्य का माधुर्य इन में बहुत कम है। इनमें एक प्रकार की नारेबाज़ी है अनुभूति की तरलता नहीं है। यही कारण है कि जनता में यह साहित्य स्वीकृत नहीं हो पाया।

आज का जन समूह ईमानदार बेईमानी से अत्यधिक तंग आ चुका है, उसे क्रान्ति के स्वर में ग्राह्य आत्मीयता की अनुभूति नहीं हो पाती। इसलिए प्रत्येक अभिव्यक्ति के प्रति वह संदिग्ध रहता है। इस आपाधापी में ईमानदार, वफ़ादार और जिम्मेदार स्वर भी उपेक्षित हो जाता है। जनवादी आन्दोलन के पीछे संगठित वैचारिक आयोजन नहीं है। सभी अपनी अपनी ढपली अपना अपना राग गर्दभ स्वरों में अलाप रहे हैं। दिशा निर्देश के अभाव में इन का प्रकाशित साहित्य भी अनालोचित और अचर्चित रह गया है। जनवादी स्वर लोक गीतों का आश्रय लेकर आगे बढ़ा है परन्तु मात्र धुनों के आधार पर साहित्यिक प्रतिष्ठा नहीं मिलती। साथ ही राजनीति के विषमय स्पर्श से भी हानि होती है। जनवादी आन्दोलन को राजनीतिक विषमता से विरक्त होना होगा।

जब हम जनवादी गीत-कविता की मानसिकता के अभ्यन्तर में प्रवेश करते हैं तो प्रगतिशील काव्य की तरह इस काव्य में भी असात्विक आचरण की गन्ध आती है। साहित्य में अपने देश की संस्कृति का आत्मरूप गुंजित न हो अथवा विकृत रूप में हो तो दोनों ही स्थितियां चिन्ताजनक हो जाती हैं। यथार्थवाद के नाम पर सारे आदर्शों को नहीं झुठलाया जा सकता। यदि तथ्य की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर दृष्टि डालें तो लगेगा कि प्रत्येक यथार्थ का भी अपना एक आदर्श अवश्य होता है। यही आदर्श उस यथार्थ को परिनिष्ठित और प्रतिष्ठित करता है। सब से बड़ा अनुत्तरदायित्व यह है कि जब तक काव्य संस्कृति के सौन्दर्य को अपने में नहीं समो लेता उसकी आत्मीयता घट जाती है। जनवादी गीत में मनुष्य की पीड़ा सत्य का अनुभव नहीं देती। उस का विद्रोह निस्वार्थ नहीं है। जनता की भावना को जिस प्रकार और तत्व भुना रहे हैं उसी प्रकार जनवादी गीत काव्य भी जनता को किसी स्वार्थ की ओर प्रेरित करता लगता है। पारिस्थितिक विभ्रम में पड़े मनुष्य के लिए ये जनवादी स्वर उसके आस-पास जरूर हैं लेकिन उनका वैचारिक और भावनात्मक बिखराव उसे न तो जोड़ पाया और न ही उसके संघर्ष में किसी प्रकार की जानदार भूमिका निभा सका क्योंकि इन रचनाओं में आन्तरिक ऊर्जा नहीं है, सतही टटकापन और अखबार नवीसी ज्यादा है, झण्डा उठा कर ज़िन्दाबाद-मुर्दाबाद का सैद्धान्तिक आग्रह अधिक है। जिस प्रकार किसी विज्ञापन का आकर्षक प्रचार कुछ समय के लिए उपभोक्ता को प्रभावित-मुतास्सिर कर लेता है उसी प्रकार इन जनवादी गीत-तेवरों ने सतही तौर पर निचली श्रेणी के लोगों पर एक अस्थायी ग्रिप जरूर बना ली किन्तु कोई स्थायी पकड़ नहीं बना सके। आरोपित जनवादिता होने के कारण हृदय की पीड़ा को जो वाणी मिलती है उस का स्थायित्व इन में नहीं है। इसीलिए पास आती ज़िन्दगी उस तथाकथित जनवादिता को अधिक समय तक जीवित नहीं रख सकी। भोगे हुए यथार्थ की बात कहने वालों की पीड़ा कल्पना प्रसूत है। आज के काव्य में भी जनवादी तत्व भरपूर है, सीधे-सीधे जन से संवाद है लेकिन हमें जनवादिता को रूढ़ि से मुक्त करना होगा।

अतः साम्यवादी विचारसरणियों-सिद्धान्तों में गोते खाता, मार्क्सीय चिन्तन की जूठन बटोरता, दोगले नारे लगाता आठवें दशक में एक बार पुनः जनवादी गीत के रूप में प्रगति-प्रतिबद्ध काव्य उभरा। प्रगतिशील गीतिधारा में मार्क्सीय चिन्तन को ढालने का ईमानदार प्रयास था लेकिन मार्क्सीय सिद्धान्तों की छाया की छाया इस जनवादी उथली गीतिधारा को उसकी नकल भी नहीं कहा जा सकता। प्रगतिशीलता की आढ़ में जनवादी काव्य के रूप में तथाकथित यह दूसरा गीत दौर छद्म और विशुद्ध साहित्यिक राजनीति का उग्रवाद है। इसमें न अनुभूति-प्रतीतियों का संस्कृत संस्कार है और न ही इनके अधिकांश रचनाकारों में जनसंघर्ष को पैना करने की ताकत। इनके शब्दों की जोड़-तोड़ और एक नपुंसक रिरियाहट विक्षुब्ध मानस को निराशा की ओर ढकेलने वाली है, मनुष्य सरोकारों को फोकस करने वाली नहीं। इसमें खुज़लाहट की बदबू-मवाद ज़्यादा है जन उभार का प्रभावशाली प्रकटीकरण कम। जनवादी गीत के नाम पर ये तथाकथित रचनाकार साहित्यिक पंक्ति में शामिल होने के लिए जोड़-तोड़ का बीअरर चैक तुरन्त कैश़ करा लेना चाहते हैं, इन की बेचैनी में भारी फुसफुसाहट है। इन्हें आशा है शायद कभी स्थितियों के इतिहास-ढेर से उठा कर इन्हें भी साहित्य पंक्ति में कहीं जड़ दिया जाएगा। ये विद्रूप जन-छवियों के बल पर बहुत दूर तक नहीं जा सकते। समय का प्रहरी चौकस और पूरी तरह मुस्तैद है। वह इन्हें इनके दर्शन और मसौदों के साथ खत्ते के बीचों-बीच गंदगी की उन कूढ़ गुह्यों में धकेल देगा जहां इन की जगह है। साहित्यिक दृष्टि से इन का उल्लेख करना उन कड़ियों को जोड़ना है जो साहित्य के इतिहास की रिक्तियों को भर सकें। अन्यथा इस धारा के अधिकांश कवि/गीतकार उस प्रगतिशीलता के आस-पास भी नहीं है जिसके वारिस नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामविलास शर्मा, शिवमंगल सिंह सुमन आदि हैं। ये इनका उच्छिष्ट रूप है जो इन के कद का फायदा उठा कर इस परम्परा से अपने को जोड़ लेना चाहते हैं। अपवाद स्वरूप रमेश रंजक शान्ति सुमन जैसे गीतकारों को छोड़ कर इस वर्ग में अनेक ऐसे नाम हैं जो जनवाद का झण्डा उठाए तेज तर्रार तेवरों में स्वयं को कबीर और निराला की मानस सन्तान घोषित करने में किसी प्रकार की शर्म नहीं महसूस करते। आठवें दशक के ये तथाकथित जनवादी प्रतिनिधि राहुल सांस्कृतायन की रचनात्मक-तुर्शी और रांगेय राघव की सर्वहारी सकारात्मक संवेदन शक्ति को अपने में साकार पाते हैं। इनमें मुक्तिबोध की आत्मा तड़पती है और प्रेमचन्द की ग्रामीण संस्कृति। हरीशंकर परसाई की व्यंग्य-अग्नि इन की तिर्यक् दृष्टि है। इनके जनवादी गीत-स्वरों के समानान्तर भारत भूषण अग्रवाल, शमशेर, सर्वेश्वर, कुंवर नारायण, साही, अशोक वाजपेयी और उससे आगे राजेश जोशी, मंगलेश उबराल, प्रयाग शुक्ल, अरुण कमल आदि प्रगतिशील कवियों की कविता तूती की तरह भाड़ झौंकने के समान है, चिन्तन अधकचरा है। इन जनवादी ठेकेदारों की गीत रचनाएं ही जनसंघर्ष की असली पहचान-पड़ताल और समय के अश्व-रथ की सारथि हैं। वर्त्तमान-वैषम्य के प्रति विद्रोही भाव इन जनवादियों में भरपूर है। उत्तर आधुनिककाल में यह विद्रोह उस, राजनीतिक वातावरण में जागा जहां आज़ाद हिन्दुस्तान में समता की गुहार है, दूसरी ओर समाज आर्थिक विषमताओं, क्षेत्रीयता, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, धार्मिक उन्मादी कट्टरता आदि के कारण टूट की ओर बढ़ रहा है। राष्ट्रीय-एकता पर खतरा मंड़रा रहा है, विश्व में हो रही उथल-पुथल बेचैन किए है, अनिश्चित भविष्य असुरक्षित सीमाएं....घोर स्वार्थों की कुहेलिका में हर एक उलझा है। सत्ता के आस-पास मंडराता घिस्सु साहित्यिक बुद्धिजीवी लोमड़ी खाल ओढ़े हुए है फिर बिल्ली के गले में घण्टी कौन बांधे।

बहरहाल आज जनवादी काव्य प्रवाह में नहीं है। एक विचार का विशेष भाव वहां दृढ़ है। यह दृढ़ता काव्य को जड़ बना देती है। जब गीत-कविता जन के पास पहुंचेगी स्वयं ही वह जनवादी हो जाएगी। जनवादी होने की घोषणा करना साहित्यिक आतंकवाद के अतिरिक्त कुछ नहीं। जनवादी नेता कहाने का मोह-संघर्ष यहां भी है। इसलिए जन विवादों के घेरे में जनवादी काव्य का प्रभाव कहीं उभरता दिखाई नहीं दे रहा। वैचारिक मंथन उसे कोई निर्णायक स्वर दे सके तो संभव है इस तथाकथित जनवादी गीत का ऐतिहासिक महत्त्व भी निश्चित हो।

लेखक की दृष्टि में जनवादी विशेषण एक नारे की तरह है वस्तुतः किसी भी गीत या नवगीत की समग्रता जनवादी विचारधारा में सन्निहित होती है। जिस जन को जनवादी गीतकार सुखी देखना चाहता है उसे कौन कवि या गीतकार दुखी देखना चाहता है? दृष्टि तो है ही, समस्त रचना संसार के जाल में जन बुना हुआ है। वासुदेव शरण अग्रवाल ने ठीक ही कहा था कि जन के बिना किसी राष्ट्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती। जन ही लक्ष्य है, जन ही कारण है, जन ही कार्य है और जनहित ही व्यापक उद्देश्य। जन का उद्देश्य पेट भरना है - वह भोजन से या रोटी से - मात्र शब्द या विशेषण - लोभ है। इसलिए नवगीत हो या जनवादी गीत उसमें गीत ही प्रमुख भूमिका निभाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिनिधि हस्ताक्षर

कवित्व, आलोकत्व और चिन्तकत्व : डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह

प्रतिभा की पुलकित पाण्डुलिपि को जब अहम् की आंखे पढ़ती हैं तो वह उस के तदर्थ को प्रतिभासित होने में विलम्ब को आमंत्रित करती हैं। नयी कविता का प्रारम्भ एक ज्वार की तरह हुआ। ज्वार का आकार भयावह और स्थूल होता है और साथ ही अचिरजीवी भी। नयी कविता का प्रारम्भिक रूप शब्द-बोझिल, गुप्तार्थ-वलयी और दूरागत यात्री की थकान की तरह अव्यवस्थित सा था। नयी कविता के इसी रूप-रंगी ऐन्द्रजालिक क्षणों में राजेन्द्र प्रसाद सिंह की प्रतिभा उदित हुई। जिस लेखक की प्रतिभा तेरह वर्ष की आयु में (जन्म, 1930) कवि की कविताओं का संकलन 'भूमिका' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। निराला, पंत और दिनकर को इस कवि में कवित्व, आलोकत्व और चिन्तकत्व (मामूली दर्जे का नहीं) की संभावनाएं दिखाई पड़े तो आश्चर्य नहीं होना चाहिए। प्रारम्भ के संग्रहों की कविताएं, शैली, शब्द-संयोजन और अर्थ की नवीनता की दृष्टि से तार सप्तक के अनेक कवियों को पीछे छोड़ने वाली हैं। अनेक विदेशी लेखकों, कवियों को समर्पित ये कविताएं पश्चिमी बोझ का अहसास भी दिलाती हैं। तार सप्तक की गरिमा को सुरक्षित रखने में सक्षम ये कविताएं प्रायः अचर्चित रहीं - यह भी विचारणीय है। शायद इस का उत्तर कवि ने 'स्वजन संवाद' में दिया है - "क्योंकि मैं ऐसी प्रतियोगिता में कभी रहा नहीं।" बड़ा कवि होने की प्रतियोगिता को रेखांकित करने से उसकी खीझ स्पष्ट हो जाती है। इस प्रकार राजेन्द्र प्रसाद सिंह नयी कविता के रचनाकार का सुयश पा सकने में उतने सफल नहीं हो पाये। यह उन्होंने ठीक ही कहा "अच्छे लोगों के बीच/ खोयी हुई आंखों का - हंगामे से अलग एक अर्थ होता है।" नयी कविता भी धीरे-धीरे हंगामे का रूप रखती चली गयी। विदेशी रंग की चमक अधिक समय रह भी नहीं सकती थी। हमारे देश का साहित्यिक भाग्य दुर्ग्रह ग्रस्त रहा है। अध्ययन का प्रभाव आस्था और अस्मिता के लिए घातक सिद्ध हुआ। आधुनिकता की सार्थकता - 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः' के विरुद्ध आचरण में चरितार्थ होने लगी। इलियट, एज़रा पाउण्ड और गिन्सबर्ग साहित्य के देवता के रूप में संपूजित होने लगे। जिन में इन देवताओं के प्रति पूजाभाव नहीं था, मात्र आदरभाव था- उन्हें आऊट आफ डेट माना जाने लगा। राजेन्द्र प्रसाद सिंह की नयी कविता इस का अपवाद नहीं। विद्रोह और विरोध का अन्तर बताने वाले स्वयं उसकी गिरफ्त में आये। भारतीयता को दूषित समझने वाली प्रवृत्ति जितनी निर्लज्ज रही वह उतनी ही चर्चित हुई। राजेन्द्र प्रसाद सिंह शायद उतने निर्लज्ज नहीं हो सके। चिन्तन के क्षेत्र में भी इतने अन्तः समाधिस्थ रहे कि नयी कविता नये पाठक के गले नहीं उतरी, मस्तिष्क उनका बोझ नहीं सह सका।

प्रतियोगिता में शामिल न होने की खीझ और बड़ा कवि होने की महत्त्वाकांक्षा ही राजेन्द्र प्रसाद सिंह को नवगीत की ओर खींच लाई। सभी नवगीतकार जानते हैं कि नवगीत का मसीहा बनने की ललक में तीन प्रतिभाओं ने बलिदान किया। डॉ. शंभूनाथ सिंह एक अच्छे प्रतिष्ठित गीतकार थे। उन्हें नयी कविता का दौरा आया और थैला भर कर नयी कविता के अस्पताल में पहुंचे। वहां उन्हें किसी ने अहमियत नहीं दी। डॉ. शंभूनाथ सिंह नयी कविता के नशे में गीत की आलोचना और निन्दात्मक स्वर में भर्त्सना करते नहीं थकते थे। वहीं सिंह साहब नयी कविता के शिविर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रवेश न पाने पर उसकी आलोचना और निन्दा करने लगे। नेता बनने का लालच बहुत बुरा होता है। यह एक बार मुंह लग जाये तो यह नशा छूटता नहीं। यही नेतृत्व का नशा राजेन्द्र प्रसाद सिंह पर चढ़ा। उन्होंने नयी कविता के प्रवेश की निराशा को नवगीत की चांदनी में धोने का प्रयास किया। डॉ. शंभूनाथ सिंह और राजेन्द्र प्रसाद सिंह दोनों ही नवगीत के नेता के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए जुगाड़ जुड़ाते रहे। इधर वीरेन्द्र मिश्र भी इस पंक्ति में शामिल होने के लिए छटपटा रहे थे।

डॉ. शंभूनाथ सिंह 'पिया तुम कहाँ' इस गीत को लेकर नवगीत का नेतृत्व चाहते थे। राजेन्द्र प्रसाद सिंह नवगीत के नाम को लेकर नेतृत्व हड़पने को तैयार बैठे थे। नवगीत को उभरना था। नये गीतकार नयी प्रतीक योजना लेकर लिख ही रहे थे। यह बड़े असमंजस की बात है कि किसे पुरोधा माना जाये। इस दृष्टि से राजेन्द्र प्रसाद सिंह कहीं नहीं ठहरते। उनका प्रारम्भिक काव्य शैशव नयी कविता से उद्‌भासित हुआ। नये गीत के सम्बन्ध में उनका प्रवचन उत्तरकालीन है। अतः राजेन्द्र प्रसाद सिंह को हम नवगीत की श्रृंखला में मान सकते हैं परन्तु पुरोधा के रूप में उनकी स्वीकृति को मन नहीं मानता। डॉ. सिंह भी इस रूप में षड्‌यन्त्रकारी महसूस होते हैं। नवगीत के प्रति निष्ठावान के रूप में कोई एक कवि हमारी दृष्टि में नहीं आता। यह तो एक धारा है, एक प्रवाह है, युग की मांग है कि लोग नयी भावनाएं, उद्‌भावनाएं लेकर लिखें। कौन सा ऐसा गीत कवि है जो नये के प्रति आकर्षित नहीं होना चाहता। नेतृत्व का गुण हरेक में नहीं होता। छायावादी शैली में प्रसाद को यह श्रेय प्राप्त हुआ। नवगीत में यह श्रेय किसी एक को नहीं दिया जा सकता। उस समय के सभी गीतकार कुछ नया गीत गुनगुनाना चाहते थे।

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह द्वारा सम्पादित 'नवगीत सप्तदशक' डॉ. शंभूनाथ सिंह द्वारा सम्पादित नवगीत दशकों, नवगीत सप्तक एवं अर्द्धशती की तर्ज़ पर ही चर्चा के केन्द्र में रहने का दूसरा कोण है। यह पूर्वार्द्ध खण्ड है जिसमें लगभग पैंतीस प्रसिद्ध गीत कवियों को समेटा गया है। नवगीत के स्वयंभू गॉडफादर शम्भूनाथ सिंह द्वारा सम्पादित नवगीत दशक, अर्द्धशती और नवगीत सप्तक शिविर का कोई गीत कवि इसमें शामिल नहीं है। डॉ. सिंह की तरह इस सप्तदशक में भी कुछ नाम ऐसे हैं जिनका परिचय केवल इस संग्रह तक है। रामदरश मिश्र सर्वव्यापी साहित्यकार हैं। वे नई कविता से लेकर नवगीत, गीत, प्रगीत, अगीत, विचार कविता ग़ज़ल और जितने भी प्रकार हो सकते हैं, सब में है। सबमें होना बुरा नहीं है परन्तु सभी में पायेदार, प्रतिष्ठित- प्रामाणिक होना दूसरी बात है। इसमें कोई शक नहीं कि उन्होंने गीत में गांव की संस्कृति और भोलापन लाकर नवगीत को एक विशिष्टता दी है –

"किसे बुलाते/ चुप हो जाते/ हाय न जाने कौन बेदरद/ इन पगलों को लूट गया है।" (*नवगीत सप्तदशक : पृ. 20*)। संग्रह में वीरेन्द्र मिश्र, छविनाथ मिश्र, रामनरेश पाठक, नारायणलाल परमार, हरीश भादानी, जगदीश सलिल, मधु भारतीय, रवीन्द्र भ्रमर, राजीव, सोम अधीर, रमेश रंजक, शान्ति सुमन आदि कवि-कवयित्रियों की रचनाएं संगृहीत हैं लेकिन रमानाथ अवस्थी, मधुर शास्त्री, त्यागी, राही, सोम ठाकुर आदि अनेक प्रसिद्ध गीत-कवियों की रचनाएं इसमें न पाकर आश्चर्य होता है। अभिप्राय यह कि नवगीत का क्षेत्र भी स्वयंभू मसीहाओं से ग्रस्त है। निष्पक्ष, निश्छल, सर्मपित भाव से कोई सामने नहीं आता है, वे चाहे शम्भूनाथ सिंह हो या राजेन्द्र प्रसाद सिंह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभी अपनी-अपनी ढपली अपना-अपना राग बजा कर शिविरबद्ध मानसिकता से प्रतिबद्ध एवं ऐंठे हुए हैं।

काव्य-चरण

'भूमिका', 'मादिनी', 'दिग्वधू', 'संजीवनी कहाँ', 'उजली कसौटी', 'डायरी के जन्मदिन', 'शब्द-यात्रा', 'प्रस्थान बिन्दु' इनकी काव्य कृतियाँ हैं। 'आओ खुली बयार', 'भरी सड़क पर', 'रात आँख मूंद कर जगी' एवं 'गजर आधी रात का' इन के नवगीत संग्रह। सम्पादित संकलनों में सर्व-प्रथम 'गीतांगिनी', 'अपरम्परा', 'प्रक्रिया', 'जनवादी कविता : रचना और पहचान' इन के साहित्यिक सोपान हैं। 'सवेरा', 'अभिमंच' और 'आइना' सम्पादित पत्र-पत्रिकाएं हैं। इन के अतिरिक्त दो उपन्यास 'अमावस और जुगनू', 'जुगनू और चांदनी' एक गद्य-संकलन 'का वार्त्ता?' और दो अनूदित काव्य कृतियाँ हैं। अंग्रेजी में स्वानूदित अपनी ही कविताओं का संकलन, शीर्षक है 'सो हीयर आई स्टैण्ड' और 'द्वीप-युद्ध' नाम से अंग्रेजी से चीन की युद्ध कविताएं हैं। इस प्रकार गद्य और पद्य दोनों क्षेत्रों में राजेन्द्र प्रसाद सिंह का दख़ल है।

नींव : भूमिका से प्रस्थान-बिन्दु

'भूमिका' और 'मादिनी' राजेन्द्र प्रसाद सिंह की प्रारम्भिक रचनाएं हैं। 'भूमिका' के प्रेम और श्रृंगार सम्बन्धी गीतों पर छायावाद का प्रभाव बखूबी देखा जा सकता है –

"चांद है नभ में मगर
तुम तो धरा पर चांदनी हो।" (*भूमिका*)

छायावाद की कथ्य भंगिमाओं, गहराव एवं रचनादर्शी आलोक से ये रचनाएं वंचित हैं लेकिन अदृश्य सत्ता के प्रति जिज्ञासा का भाव यहां प्रबल है।

प्रणय और श्रृंगार का अगला चरण है 'मादिनी'। यौवन का शिखर निखार 'मादिनी' के गीतों में हृदय बन कर धड़कता है। व्यक्तिगत प्रणय की मीठी कसक, नमकीन चुभन, देहगंधी छवियां यहां कस्तूरी रात की गीत-सीपियों में ढल कर आभदार मौक्तिक मालाएं बन गई हैं। इन्द्रधनुषी धानी चूनर से झांकते रूप-बिम्बों में चांदनी देह बन कर प्रिया रूप हो गयी है। फूलों की तरह हल्की छुअन अंग मरोड़ कर दोहरी हो जाती है। पुनरुक्ति, अनुप्रास की संगीत-वीचियों में लहराती रूपदेह मानवीकृत होकर साधारणीकरण झरोखे से मानस में चू पड़ती है। तत्सम युक्त शब्दावली की सुन्दर व्यंजना कौशेय तन्तुओं की महक बन कर गीत हो जाती है –

"तू इन्द्रधनुष से खेल रही धरती की एक परी।
अम्बर की ले चांदनी और सुमनों का पिंग पराग।
किस शिल्पी के कर से निखरा यह अंग-अंग का राग!
विस्मित लोचन, सस्मित आनन, लज्जित यह निरूपम रूप।
चंचल-चंचल गति में पल-पल अलसाया-सा अनुराग।
नव प्राणमयी रसवती ऊषा ने आतुर सांस भरी,
तू इन्द्रधनुष से खेल रही धरती की एक परी।" (*मादिनी*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस कृति में कवि एक कदम आगे बढ़ा है। प्रणय के साथ संघर्ष और द्वन्द्व की बुनावट में जीवन को पहचानने की कोशिश है। इन गीतों में एक ओर एकान्तिक प्रणयानुभूतियां हैं तो दूसरी ओर समसामयिक परिस्थितियों में नए जीवन दर्शन की तलाश। उद्बोधनपरक शैली में 'युग-युग के राही' का आह्वान है –

"ओ राही! ओ युग-युग के राही
उठ चल, चल-चल अन्धकार में,
उर से कैद नहीं तू अपने सपनों के इस नीड़ में
तन से भी बन्दी न अमा के अनजाने प्राचीर में।" (*मादिनी*)

'मादिनी' के कुछ गीत 'जीवन-दर्शन' के थे और कुछ 'व्यक्तित्व-बोध' के। 'मधुमुखी' गीत में औद्योगिक वातावरण में नयी मानवीय संवेदना का रेखांकन है –

"उसी विभा में घुलने को सिन्दूर क्षीर बन जाता
कच्चा लोहा पिघल-पिघल कर तरल आग बन जाता।" (*मादिनी*)

* * *

"बिम्बित करने को उस छवि का हास ही
सागर बन लहराता है इतिहास ही।" (*मादिनी*)

'मर्म की राह' गीत रोमांस-प्रेम से विरक्त सामाजिक दायित्व की रंगस्थली की पहचान है। यहां तक आते-आते संघर्ष की मनोभूमि सार्थक सकार तलाशने लगती है। व्यक्तिगत अनुभूतियों को कवि संयत करता है। उद्दीपन कारक प्रकृति से अंगों को रसी न बनाने की प्रार्थना करता है और सामाजिक जिम्मेदारी के अहसास कवि-चेतना को खुरदरी स्थितियों से परिचित कराते हैं। तुकबन्दी, पंक्ति के अन्त में 'रे' का प्रयोग आदि गीत के कथ्य को तेजी से घुमाते हैं –

"मुझे न छेड़ो पवन हठीले! अपनी चपल हिलोर से,
ओ सागर मत मुझे चिढ़ाओ! जल तरंग के शोर से।
चांद किसी का दर्पण बन कर मुझे सता मत हाय रे,
रो मत बुलबुल मुझे देखकर, मैं कितना निरुपाय रे।
कलियों! यह मुस्कान अभी तो चुभती-सी मधुमास में,
लौटा लो यह फिर दे देना पतझर के उच्छ्वास में।
भर-भर प्याले ओ मधुबाले! छोड़ न ऐसे तीर तू,
अधरों में भर मूक निवेदन मत कर और अधीर तू।" (*मादिनी*)

'दिग्वधू' आत्मनिष्ठा की भाव-प्रतीतियों का कलन है, जिसे कवि ने 'प्रक्रियात्मक संकलन' (*दिग्वधू : मुख पृष्ठ*) कहा है। "उनकी दृष्टि में प्रक्रिया का तात्विक-बोध तत्वदर्शन से सम्बद्ध अनुभव जगाता है किन्तु प्रक्रिया का रचनात्मक बोध इतिहास, सभ्यता और संस्कृति से सम्बद्ध अनुभवों का उत्स है। रचनात्मक प्रक्रिया की सम्पूर्णता के लिए तात्विक प्रक्रिया का आयामिक, विकासात्मक, संघटनात्मक, समग्रात्मक, सर्वांगीण और व्यापक रचनात्मक बोध एक आन्तरिक यात्रारम्भ है। (*राजेन्द्र प्रसाद सिंह : प्रक्रिया, पटना-1972 : पृ. 14*) इन प्रक्रियात्मक रचनाओं में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानवता-विकास की ऐतिहासिक संघर्ष-गाथा है। इन गीतों की परिधि में समूची सृष्टि समा जाती है। साहित्यिक मान इन रचनाओं में निखरने लगते हैं। उद्देश्य समुद्र की ओर बढ़ने के संकेत देते हैं। सकार दृष्टि रसवन्ती होकर कवि-मानस के आशयों को स्पष्ट से स्पष्टतर करती जाती है। कवि की संवेदना-भूमि विधर्मी कुचक्रों के व्यूहभेदन में मानव के साथ खड़ी हो जाती है। कठिनाइयों के कुरूक्षेत्र को वह अर्जुन-माधव बन कर मथ डालने का संकल्प व्यक्त करता है। भू की छाती पर फैले अमानवीय शोषण के अन्धकार को वह विषपायी बन कर पी जाना चाहता है। कर्म-युद्ध का आह्वान कवि के व्यापक हो रहे दृष्टिबोध का संकेत देता है। पारिस्थितिक नियति-चक्र में भंवर बना सामान्यजन बहुत जल्दी समर्पण कर देता है। असमानता और शोषण व्यक्ति-मन में जगी आस्थाओं की हत्या कर देता है। त्रस्त, आहत, शोषित किस कोण से अपनी रक्षा करें। यही द्वन्द्व-संघर्ष उसकी अस्मिता पर भार बन जाते हैं। ऐसे में चाह कर भी वे विद्रोह का स्वर नहीं मुखरित कर पाते –

"बल उठी एक लौ, दूर अमा के सिन्धु बीच
बोझिल-बोझिल-सी छिपी-छिपी आंखें न खुलीं
मन के पंकिल अम्बर में भरने को उड़ान
स्वर के पंछी जग पड़े, मगर पांखे न तुली!
तरु शीतपात-कम्पित थर-थर/ सिहरा सिकुड़ा-सिकुड़ा मर्मर।
यह सजग नीड़ हो उठा मुखर/ पर उठ न सके हैं आहत पर।" *(दिग्वधू)*

'शब्द-यात्रा' की रचनाएं इस संघर्ष-वाणी को मुखरित करती हैं। कवि की दृष्टि इन रचनाओं में मिट्टी की वास्तविकताओं को भेद कर उसके भीतर से मनुष्यत्व की किरण का नवीन आलोक खोजने में समर्थ हुई हैं *('शब्द-यात्रा' के फ्लैप से)*। प्रगति प्रतिबद्ध मार्क्सीय चिन्तन की कुक्षि में दम तोड़ती अस्ताचलगामी प्रगतिवादी काव्यधारा को यहां जनवादी कविता का नया नारा देकर थामने की कोशिश है। जीवन-यथार्थ के मरु-बंजर में शब्दों की इस यात्रा ने एक ज्वार का बोध दिया है। मानव के वैचारिक बोध का आकाश यहां खुलता जाता है। जीवन में आने वाले ज्वारभाटों पर यह शब्द-यात्रा अंकुश का काम करती है। मानवीय मूल्यों की संरक्षक यह यात्रा वैषम्यमूलक स्थितियों और जीवन के गतिशील तत्वों में बाधक अवरोधों के लिए विध्वंसकारी है। 'तो प्रस्तुत हूं यहाँ', 'घूमता घण्टाघर' और 'अधुनादिम' खण्डों में विभक्त आत्मलोचन की इन कविताओं में बंजरीली भूमि की यथार्थमुखी नागफनियां हैं। इसी वजह से यहां राजेन्द्र का काव्यत्व खुरदरा होकर निखरा है।

'प्रस्थान-बिन्दु' में राजेन्द्र प्रसाद सिंह की आठवें दशक के उत्तरार्ध में रचित कविताएं हैं। 'आत्मस्वीकार', 'पीढ़ियों की आवाज', 'खुला जबाब' शीर्षक खण्डों में विभाजित इन कविताओं का समकालीन बोध मनुष्य जीवन के हादसों की अन्तर्कथा कहता है। ये कविताएं समार्थिक नहीं, व्यापक अभिप्राय के घेरे में जनमानसिक हैं। जैसे-जैसे इन कविताओं के भीतर पाठक प्रवेश करता है वैसे वैसे 'क्रमिक तौर पर बोध और संवेदना के साथ परिस्थिति-प्रक्षेप का तापमान बढ़ता महसूस होता है'। कवि का यह कहना बिल्कुल सही लगता है कि एक स्थिति विशेष में पहुंच जाने के बाद 'व्यक्तितत्व और जनत्व के बीच अन्तराल नहीं रहता और जनत्व और कवित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के बीच की दूरी' भी समाप्त हो जाती है। सांस्कृतिक भटकाव पर सतर्क व्यंग्य-प्रहार में तत्पर इस संकलन की कविताएं प्रस्थान-बिन्दु की पहचान कर निर्णायक संकल्प-मुद्रा में संघर्षशील जनता की सहयात्रा में शामिल हो जाती हैं।

घर : खुली बयार : भरी सड़क

'आओ खुली बयार' गीत जिसे बाद में राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने अपने गीत संकलन का शीर्षक दिया 'अलका' (मासिक, 1956) में 'गीतांगिनी' के सम्पादकत्व से पूर्व प्रकाशित हो चुका था। परिस्थितियां हमारे विचार और भावनाओं की जन्मदात्री और पालक होती हैं। स्वतन्त्र भारत की पहली नौजवान पीढ़ी विभाजन के संत्रास को देख चुकी थी। गांव की सहजता, नैसर्गिकता, संस्कारों की धरोहर के बल पर वे नगरों-महानगरों तक अपने कदम बढ़ा चुके थे। इनके हृदय में स्वार्थगत संकीर्णतायें कम राष्ट्रव्यापी मानवता की भावनायें अधिक थीं। स्वतन्त्र भारत की समृद्धि और खुशहाली की महत्त्वाकांक्षा लिये जन-मानस संघर्ष-पथ की धूप-धूल फांकता गन्तव्यपथी था। स्थान, परिवेश, आचार-व्यवहार, भेष-भूषा में परिवर्त्तन युग सापेक्ष था। यह जीवन-मूल्यों और विचारों का टकराव नहीं था। ग्रामीण संस्कृति से बिछुड़ने का गम तो था लेकिन राष्ट्र के विकास का स्वप्न अधिक महत्त्वपूर्ण था। प्रत्येक नौजवान जान हथेली पर रख आगे बढ़ने का पक्षधर था। इस माहौल में कवि ने तत्कालीन पीढ़ी की मनोवैज्ञानिक स्थितियों के गति-बिम्ब उभारते हुए ग्रामीण संस्कृति से कट नगरीय परिवेश में खपने-रचने का वातावरण निर्मित किया –

"इस पथ पर उड़ती धूल नहीं
खिलते-मुरझाते
किन्तु कभी तोड़े जाते ये फूल नहीं।" (*आओ खुली बयार : पृ. 44*)

'आओ खुली बयार' तत्कालीन साहित्यिक परिवेश में सचमुच अभिनव कृति थी। 'आज' वाराणसी ने टिप्पणी करते हुए इस कृति के नवगीतों की प्रशंसा की। 'आओ खुली बयार' के गीत कलात्मक मार्मिकता, आधुनिक प्रासंगिकता की दृष्टि से बेजोड़, आलंकारिक, व्यंजनात्मक, भाषा-सौष्ठव एवं गहन अनुभूतियों की मौलिकता के कारण अक्षय आकर्षण के केन्द्र हैं। 'आदर्श' कलकत्ता ने भी लिखा कि – इस कृति के गीत नवीन युग की रुचि के अनुरूप है एवं सभी वर्गों व विचारधाराओं के पाठकों के लिए उपयोगी है। इसी तर्ज़ को 'भारत' इलाहाबाद ने भी गुनगुनाया कि 'नवकल्पना, सुन्दर अभिव्यक्ति, ओज और प्रसादपूर्ण भाषा तथा मार्मिक भावनाओं के दर्शन होते हैं। रचनाओं में ताजगी है, एक ऐसी प्रफुल्लता है, जो बरबस हृदय को अपने रंग में रंग लेती है।' 'आओ खुली बयार' के नवगीत वस्तुतः सृजन-बीज है जो आज छतनार हो रहे हैं।

खुली बयार ग्रामीण संस्कृति, श्रम के गूढ़ अर्थ को जानती है। जेठमासी तपन में भी कंधे पर रखा हल, खेतों में बीजते पसीने के छन्द दरकी धरती की जलन को अनुभूत करते हैं। जलधार पाने के लिए तो धरती की छाती को रौंदना ही होगा। श्रम-कठोरता के इन्हीं शब्द-चित्रों को कवि मन्त्र बनाता है – "जीवन मरू में ऐसा कोई शीतल सुषमा का मूल नहीं।" (*पृ. 44*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी श्रम-दर्शन को सींचती स्वेद-धमनियाँ रक्त की लाली बन कर प्राणों को संपोषित करती है। कर्म, श्रम और शक्ति का यह आलोक दर्शन खुली बयार का संदेश है –

"इस नये गाछ के तुनुक तने से पीठ सटा
अपने बाजू पर अपनी गर्दन मोड़ो तो
मुट्ठी में बांधे हो जिस दिल की चिड़िया को
उसको छन भर इस खुली हवा में छोड़ो तो
फिर देखो कैसे बन जाती है कौन दिशा अनुकूल नहीं।" (*पृ. 45*)

यह गीत-संग्रह नवगीत-यात्रा का प्रथम चरण कहा जाता है परन्तु इन गीतों में पारम्परिक गीत की प्रकृति अधिक मिलती है। भाषा और शैली की बुनावट उसी उजास को प्रकट करती है जिसमें बच्चन और उत्तरवर्त्ती गीतकारों के कतिपय गीत लिए जा सकते हैं –

"तुम जहां भी रहो, ये कर्पूरी दिये/ आरती में सभी ठांव जलते रहे।" (*पृ. 49*)

यह शैली उसी की पगडण्डी पर चलते कदम का रूप है। कुछ गीतों में नये शब्द भर देने से नवगीत नहीं हो जाता।

इन गीतों में अस्पष्टता और बिखराव भी कम नहीं है –

"जो अन्नमय गंध/ वह प्राणमय बन्ध/ वह भी मनोमय/ सुविज्ञानबंध/
यति का सुरुचि-सोम/ गति को पिलाओ।" (*पृ. 96*)

इन पंक्तियों का अर्थ समझने के लिए द्रविड़ प्राणायाम करना पड़ता है। डॉ. सिंह के गीतों में छायावादी भाषा का उत्तरभाव ही जैसे व्यक्त हुआ हो। इन गीतों में प्रणय-भाव चिन्तन की मुद्रा में है। आत्मद्रव का अभाव गीत को सहज नहीं रहने देता। गीत का भाव-शरीर सुगठित और सुन्दर है इससे कवि की प्रतिभा का परिचय मिलता है। जहां सहजता है वहां भावाकर्षण है -

"कौन गाये अब, सुनाने को किसे, जबकि अन्तर भी रहा अपना नहीं।" (*पृ. 59*)

इस तरह के गीत हृदय के आर्द्र भाव को जगाते हैं। इनमें हिन्दी गीत की सुगन्ध है। प्रेम-पीड़ा की कसक काव्य की चिरपरिचित प्रक्रिया है। यौवन की मादकता और प्रेम की ललक के गीत समस्त विश्व काव्य को तरलता प्रदान करते रहे हैं। इस संग्रह में अनेक मधुर गीत हैं। अनेक शीर्षक देकर गीतकार ने गीतों को विभाजित किया है। कुछ गीत अपनी शैली के कारण भी आकर्षक हैं। कुछ कविताएं ऐसी हैं जिनमें छन्द न होते हुए भी लयात्मकता है। 'बार-बार' (*पृ. 72*) गीत प्रभावित करता है। 'आओ, खुली बयार' (*पृ. 21*), गीत का नाद-सौन्दर्य रेखांकित करने योग्य है। इन गीतों में अनुभूति की द्रवता है। अभिव्यक्ति की विविधता पाठक को ऊबने नहीं देती।

कवि श्रमदर्शन, कर्म शक्ति के भरोसे पसीने के छन्द तो रचता है लेकिन परिस्थितियां कई बार मनुष्य को नियतिवादी बना देती हैं। निराशा का ताप व्यवस्था के अंगारों से धधक उठता है। कवि की रचनाधर्मिता जीवन के व्यापक सन्दर्भों की वीडियो रील खींचती चलती है। यथार्थ के इस अग्निपथ की झुलसन भावनाओं को ऊपर से नीचे तक फूंक देती है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आग पसीने की थी/ कहां-कहां छिपी
दिपी-दिपी तुलसी चौरे में/ देहरी बंधी
सूनी आँखे काका की/ जिनका काजल काका के लहु से धुला
अंगनई झुकी/ टहकी मांग वह बहू की
सिन्दूर रंग जलते खलिहान में खुला।" (*आइना : 19/20*)

औद्योगिकीकरण, महानगरीय सभ्यता, नगर संस्कृतिजन्य कुंठा, अनास्था और जीवन के अन्य विरोधों में व्यक्तित्व विघटन को रचनाकारों ने बड़े करीब से देखा है। अवरोध-विरोधों की इस अनचाही दुनिया में पिसते हुए यदि प्रेम का पावित्र्य अपने छींटे देता है तो सफर आसान हो जाता है। दो पाटों में पिसता जीवन और समाज कोई ऐसा ठिकाना चाहता है जहां वह लंगर डाल सके। नवगीतकार को घर और गृहस्थ ही वह उपयुक्त स्थान लगा जहां मनुष्य का कलुष मिटता है, कुण्ठाएं समाप्त होती हैं। नवगीतकार ने पहली बार प्रिय-प्रिया के अतिरिक्त माता-पिता, भाई-बहन के सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को महसूस कर उन्हें पुनर्संस्कारित किया –

"लाख जतन जान कर किये/ पांवों के रुख पलटें कैसे?
इतने दिन साथ हम जिये/ लाख जतन.........
रंग-गांठ कसी रही/ शोणित की लय में
गन्ध-गांठ खुल आई/ पूरक....विनिमय में
फल गई सचाई अभिनय में/ लाख जतन जान कर किये
पत्थर कह झुठलाएं कैसे? रतनों के मोल जो लिये!
बादल ये फट जाएं कैसे? आंचल के साथ जो सिये।" (*रात आँख मूँद कर जगी : पृ. 35*)

'खुली बयार' से 'भरी सड़क पर' तक के सफ़र ने गीतकार को अनुभव बिम्बों की जटिल प्रक्रियाओं से रूबरू करवाया। इस दूसरी कृति के 'नवगीत नगरीय और ग्रामीण क्षेत्रों के श्रमजीवी मध्यवर्ग के उन संवेद्य मनः स्थितियों के वाहक हैं, जिनकी पृष्ठभूमि में सतत परिस्थितियों का यथार्थ सक्रिय है।'

नवगीत कोरी भावुक और सुनहरी रंगीनियों का आधार नहीं है। नए बिम्ब-प्रतीकों ने ही नवगीत को सहज सजीवता दी है। शहरी यन्त्रणा का एक सजीव बिम्ब देखिए –

"ढंकी गीत-दोपहर/ अकड़ती तनी रीढ़ झुक आयी
तड़के करते शोर उठे थे/ यन्त्र निगलते ईंधन-पारी
धुआं बिखेर जुटे थे/ ढोते रहे बोझ अन्दाज़ के
चुपचाप ढालने थे/ सिक्के आवाज़ के।" (*भरी सड़क पर : पृ. 3*)

समाज में व्याप्त शोषण, अव्यवस्था, भ्रष्टाचार, महानगरीय यन्त्रणाएं, वर्ग वैषम्य, मूल्य-विघटन का जन-चेतना बोध बारीक कताई-बुनाई चाहता है। डॉ. सिंह ने जुलाहे की तरह इन्हें तार-तार धूप ताप रंगी बनाया है –

"चटकल की चिमनी ने आज तरेरी आँखें,
मिट्टी की भट्टी आग-लहू का भेद मिटाती!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करखनिया मज़दूर/ इकट्ठे हिम्मत से भरपूर
नशे में चूर-कबीरा गाते.................।" (*पृ. 7*)

लोकगंधीय बोध राजेन्द्र प्रसाद के गीतों की सम्प्रेषय शक्ति को 'खुली बयार' बना देता है। 'ऋतुरानी', 'री', 'ओ स्नेही' जैसे शब्दों से लोक-रस टपकता है। 'यों युग बीते' (*पृ. 10*), 'ना साधू ना चोर' (*पृ. 7*) आदि तो जैसे लोकगीतों की ही टेक-पंक्तियां हैं। 'दिखा दिखी कुक्कर-बौरे में' 'खांजरी-गीत' है जो भूस्वामियों के लठैतों द्वारा मारे गए किसी मजूर के काका की मौत का बदला लेने वाले कुनबे द्वारा गाया जाता है।

समाधि कक्ष : प्रीत गंधी जनबोध

'रात आंख मूंद कर जगी' राजेन्द्र प्रसाद का प्रीत-परक नवगीत संग्रह है। इसमें प्रीतितत्व प्रधान है। प्रेम का अनुभूति आलोक अन्तस को गुलाब पंखुरियां बना कर सुगन्धमुखी कर देता है। संपूर्ण सृष्टि, प्रकृति, प्रेम-अनुभूति से बिंध कर रोम-रोम खुशबू हो जाती है। मलयानिल 'इत्र में डूबी हुई' प्रतीत होती है। प्रेम-रस में आकण्ठ विभोर प्रिय के साथ ही साथ बहती बयार सन्धि वेला में भुजबंध बंधन को ढीलती नहीं कसती जाती है। इन प्रीति-प्रतीतियों में गीतों की छान्दसिक लय मीठे शब्द-उपमानों को द्रव बना कर बर्फ की तरह पिघला देती है। संक्षिप्तति, ऋदम में गठी ताल चुम्बकीय नादात्मकता में भौंरे की तरह गुनगुन करने लगती है –

"साथ मेरे चल रही है इत्र में डूबी हवा.....
तो अकेला मैं नहीं हूं।
आज कितने बाद जूड़े-सा बंधा मन,
एक अंजुरी फूल-सा हल्का हुआ तन,
धमनियों में बज उठी है शरद पूनों की विभा
तो अकेला मैं नहीं हूं।" (*रात आंख मूंद कर जगी : पृ. 13*)

'आओ खुली बयार' 'भरी सड़क पर' से 'रात आंख मूंद कर जगी' की शैली और शिल्प में थोड़ा अन्तर है। 'रात आंख मूंद कर जगी' (*पृ. 5*), 'खुश मिज़ाज मौसम' (*पृ. 7*), 'फूल केवड़े का' (*पृ. 10*), 'लगन जगाये' (*पृ. 15*), 'अनझिप आंखों में' (*पृ. 19*) जैसी और भी रचनाएं हैं जो शिल्पगत एक अलग छटा बिखराती हैं। ये गीत भावप्रवण क्षणों के हैं। हृदय की प्रेमिल अनुभूतियां और पिपासा इन गीतों से छलक रही है –

"मैं जो बोलूं बात कान में/ तू मत दुहरा/ क्यों न कहूं मैं पोर-पोर में यौवन सिहरा।" (*पृ. 37*)

इसी तरह –

"ले जा रहे हैं यों बेसहारे/ मुझको कहीं दूर किसके इशारे!" (*पृ. 20*)

भावना की आर्द्रता जितनी गहरी होती जाती है गीत उतना ही भीगता जाता है परन्तु सिंह के गीत प्रेम की तरलता गाते हुए भी भिगो नहीं पाते। ऐसा लगता है जैसे ये गीत लिखने के लिए लिखे गए हैं। जहां अनुभूति की तीव्रता सघन हो गई है वहां गीतों में आकर्षण बना रहा है। आज के जीवन की घुटन गहराई के साथ एक पंक्ति में खुल कर सामने आ गयी है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"दूधिया शीशे की दीवार/ चारों ओर है/ कैसे जायेगा उस पार/ फोकस अन्दर से?
कैद सन्नाटे का आकार/ बाहर शोर है?" (*पृ. 43*)

गीतों में किए गए नव्य प्रयोग भाते हैं परन्तु वे थोपे हुए नहीं लगने चाहिए। कई गीत ऐसे भी हैं जिनका प्रारम्भ तो बहुत बांधता है परन्तु आगे चल कर बहक से जाते हैं –

"दोनों हथेलियों से मुखड़ा/ फैलता-सिकुड़ता मुखड़ा/ढांप लिया है।" (*पृ. 40*)

यह पंक्ति जिस रस के स्पर्श से 'मन' को चंचल करती है वही आगे बिखर जाती है। यह सच है आज मनुष्य अभावों में इस प्रकार घिर गया है कि उसे प्यार के लिए भी क्षण नहीं मिलते, परन्तु इस विवशता के लिए गीत करुणा नहीं उभारता केवल विवशता की गंध फैला देता है, जो मस्तिष्क को झकझोरता है, हृदय को अपनी पूरी व्यथा से आप्लावित नहीं करता। गीत का कथ्य मार्दव माधुर्य लिए है लेकिन उसका निर्वाह उसी नैरन्तर्य में नहीं हो पाता।

नवगीत ने रंगों को बड़ी तत्परता से अपनाया है। डॉ. सिंह ने ऐसी सूझ दी कि अनेक नवगीतकार रंगों के मिश्रण से नया घोल तैयार कर चुके हैं –

"बैंजनी सांझ ने/ पांव छुए चन्दा ने/ छूती सूरज के/ चरण उषा नारंगी।" (*पृ. 31*)

सांझ और उषा का रंग बैंजनी और नारंगी प्रयोग की दृष्टि से अच्छा है परन्तु सन्ध्या उषा के रंगों में भिन्नता नहीं होती। सूर्य का महत्त्व इसी में है कि वह उदय-अस्त दोनों क्षणों में समान रहता है। इस प्रकार और भी ऐसे प्रयोग हैं। डॉ. सिंह नवगीत की रचना में कुशल हैं – इसमें सन्देह नहीं।

'गजर आधी रात का' 'जनबोधी नवगीत-संग्रह' है। जनबोध को कवि समय के हस्ताक्षर मानता है "जनबोधी नवगीत की पृष्ठभूमि पर रचे जाने वाले जनसांस्कृतिक नवगीतों की दो खूबियां हैं। प्रथम सांस्कृतिक क्रान्ति की वैज्ञानिक समझ में संघर्षशील जिज़ीविषा की पहचान तथा दूसरी श्रेणी की मनः स्थिति का संकेत" (*सान्ध्य मित्रा-1977*)। यथार्थ-दबाबों को महसूसते हुए सामाजिक-नैतिक मूल्य-विघटन की सूली पर चढ़े अनादर्शी स्वप्नों की मौत का मातम मनाता जीवन, नगरबोधी सर्पकुण्डलीय स्मितियों के पीछे झांकती रिक्तता, प्रकृति की कोख में बैठ कर दुलार पाने की इच्छा, ग्रामीण संस्कारों की मीमांसा करता गीत-बोध यहां खेत-खलिहानों से होता हुआ जन-चेतना की बुलन्दियों को पकड़ने की कोशिश करता है। परिवार से दूर गांव-घर छूटने की पीड़ा नसों में तनाव पैदा कर मुख उघाड़ देती है। अन्तर्चेतना के स्तर से उठी इन दहकनों को कवि के रचनाकार ने जनप्रवाह की ओर मोड़ दिया है –

"समय का समुन्दर खारा/ रचे आँसुओं से मोती
यहां पसीने की नदियां/ किश्तियां रतन की ढोती
जल डाकू लूट लेते/ घेर कर गिरोह में/ मांझी भी लौट न पाये।"

(*गजर आधी रात का : पृ. 35*)

शोषण की नींव पर ही जमींदार का महल खड़ा है। एक के पास पैसा है तो दूसरे के पास हुनर, एक पैसा बहाता है तो दूसरा पसीना। शोषण की इस त्रासद कथा को कवि पशु-बिम्ब के माध्यम से व्यक्त करता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"ढूंढे जो दुश्मन की मांद और छाप
सांप अंधेरे घर का घर-भर यों सांप
रौंद-रौंद गई उड़न घोड़ों की टाप।" (*उत्तरा : पृ. 15*)

शील तथा नागार्जुन को समर्पित इस संग्रह के कई गीत कवि ने प्रतिक्रिया में लिखे हैं जिसे गीतकार स्वीकारता है। धर्मवीर भारती के उपन्यास 'गुनाहों का देवता' की नायिका को स्मरण कर 'इतिहास-मुद्रा' (*भरी सड़क पर : पृ. 10*)। रमेश रंजक के 'इतिहास दुबारा लिखो' गीत और संग्रह-शीर्षक की प्रतिक्रिया में लिखे गए गीतों को इस सन्दर्भ में उद्धृत किया जा सकता है -

"इतिहास गीत में लिखें और सौ बार लिखें,
पर बात एक ही कैसे बारम्बार लिखे?
यह भूख हमेशा से पहचान गरीबों की
धनिकों की चाल, सिखाना वही टुकड़खोरी
अधपेट खटे, ले कर्ज़ जिये, बे दवा मरे
रख लोक लाज को गिरवी सह ले बरज़ोरी
सदियों से मलती हाथ भूख जो झेल रही
बेबसी पुरानी वह क्यों नये लिलार लिखें?" (*गजर आधी रात का : 7*)

आन्तरिक सांगीतिक लय-बोध का तर्पण करते राजेन्द्र के गीत उमग कर डग भरते हैं –

"हाथ उठते रहे/ पांव बढ़ते रहे/ पी गयी आग अपने धुआं को!....
दोपहर के कबल/ आंधियों की पहल/ खींच लाईं उमड़ती घटाएं...
धूप ढलने लगी/ रुत बदलने लगी/ शाम बिखरा गई रंग-रोली।
शब्द घिसते रहे/ घाव रिसते रहे/ बस जलाती रही खून होली।" (*उत्तरा : पृ. 18*)

वस्तुतः देखा जाये तो ये गीत गांव की धूल मिट्टी से जीवन की पट्टी पर लिखे गए हैं। वधावा, संझा, सोहर, मुंडन, दीवाली, कीर्त्तन, वट गंवनी, खंजरी आदि ऐसे गीत हैं जो इस आंचलिकता की मर्मस्पर्शी संवेदनाएं पाठक तक पहुंचाते हैं। इन गीतों को जनवादी कहने की अपेक्षा आंचलिक कहना अधिक अच्छा और तर्कसंगत है। यह सही है वैचारिक कविता में जब-जब जन-संस्कृति, ग्रामीण जीवन यथार्थ, मेहनतकश गरीब तबकों की समझ, किसान, मजदूरों और स्वकर्मी श्रम-जीवियों के जीवनानुभव, शूद्र, अछूत और वंचित शोषितों की समस्याएं उभर कर आईं तब तब गीतों में भी उनके प्रभाव प्रकट हुए। 'गजर आधी रात का' के गीतों में वही वैचारिकता एक नये शब्द-बोध के साथ व्यक्त हुई है। श्रम का गीत श्रमिक की युगागत स्थिति को प्रभावशाली शैली में व्यक्त करता है –

"लो सड़क बनाने वाले हाथ जुड़े, हाथ जुड़े....हाथ जुड़े!
बांहें झुर्रीदार, उठातीं टोकरियां/ पुट्ठे मछलीदार बोल्डर सरकाते,
कसी मुट्ठियों गैते चलते/ छिटक रहीं फुलझरियां।" (*गजर आधी रात का : पृ. 42*)

इसी प्रकार के गीत ग्रामाञ्चल का एक सघन वातावरण देते हैं –

'फुसला कर भंगी की जमीन ले ली/ भोजराज घण्टेभर का गंगू तेली।' (*पृ. 40*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसानों-मजदूरों पर हुए अत्याचार का खुलासा-सा है। अभाव और शोषण से त्रस्त जीवन कहीं शरण नहीं पाता –

"ज़िन्दगी, अब तक सुलगती तराई/ पंख फड़का गए मेघ जानें कहां से कहां?" (*पृ. 47*)

स्वाधीनता भी इस जीवन को निश्चिन्त नहीं कर पाई। अपना ग्राम प्रधान देश ग्राम की पीड़ा से आज तक नहीं उबरा।

इन गीतों के लिए डॉ. सिंह ने गांव के धोबी, जुलाहे आदि के गीतों की धुनें ली हैं। धुनें लेने से गीत का सौन्दर्य तो आकर्षित करता है परन्तु जिनकी धुनें ली गई हैं, वे इनसे लाभ नहीं उठा सकते। भाषा और शैली में नवीनता लाने के लिए जो प्रक्रिया अपनाई गई है वह आर्द्र नहीं करती, वह मात्र पठनीय रह जाती है –

"दुहरी हो रही बहंगिया/ झुकती रीढ़ की धनुहिया/ बदला रास्ता नहीं!" (*पृ. 50*)

तथा –

"अब निकले बच्चों के तलबों से/ तंबियाये पत्ते।" (*पृ. 51*)

इस प्रकार की शब्दावली अर्थ बोध में बाधा डालती है जहां सहजता है वहां गीत लुभाते हैं। इन गीतों में नयापन है – यह सत्य है।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने भी गीत का जन्म वेदना और पीड़ा से माना है। गीत चाहे आदिकाल का हो या भक्तिकाल का, रीतिकाल का हो अथवा आधुनिक युग में छायावाद, प्रगतिवाद या प्रयोगवाद का और चाहे 'नवगीत' - गीत के मूल में दुःख का ही भाव है –

"किसी के करुण आंसुओं से बने हैं
तरल वेदना के सजल गीत मेरे।" (*भूमिका*)

शैल्पिक चितवन

नवगीतों का तात्विक विवेचन कर गीतकार ने उन्हें वर्ण्य विषय के आधार पर वर्गीकृत किया है। उन्हें नव्य विशेषणों से नवाज़ा भी है। जनवादी गीतों पर धुनों के नाम देकर उनकी लोक संचेतना को और निखारा है। 'धुन : नटकही' (*उत्तरा : वर्ष 4 अंक - 10 : पृ. 15*), 'धुन-बट गंवनी' (*पृ. 16*) आदि गीत इस दृष्टि से विशिष्ट हैं।

सूक्तियाँ गीतों को सारगर्भित बनाती हैं –

'प्रीति एक अन्तर्धारा है।' (*दिग्वधू: पृ. 16*)
'धर्म से ही मानव जगत चलता है।' (*प्रस्थान : पृ. 18*)
'नदी संगम से सागर संगम तक
निर्बाध मार्ग का ही अन्वेषक है।' (*शब्द-यात्रा : पृ. 44*)

मुहावरे गीत-कथ्य को तीव्रता एवं प्रभावशाली व्यंजना देते हैं –

'नाक की सीध में' (*पृ. 44*)
'काल के सर्प का' (*पृ. 49*)
'गूंगे के हाथ जो गुड़ की भेली लगी' (*पृ. 16*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'अन्धे की लाठी' (*पृ. 16*)

'गुलाम रहे भी तो भारतीयता पश्चिम का पानी भरे' (*पृ. 17*)

इनकी रचनाओं में भाषा ने सदा अनुकूल रुख अपनाया है। अंचलीय लोक तत्त्व का निखार इन की भाव सम्पदा को ज़मीन की सच्चाई से जोड़ता है। जनबोधी विचारणा के प्रति अतिरिक्त सावधानी के कारण अनेक रचनाओं में भाषा और शब्द सतह से नहीं उठ पाते। इस का कारण जनबोध शब्द संज्ञा के कवच में मार्क्सीय चिन्तन की वकालत करना है। कवि जब शब्दों के प्रति सावधान हो जाता है और एक विशिष्ट सांचे में अपने को कैद कर किसी ख़ास विचार के प्रति प्रतिबद्धता निभाना चाहता है तब ऐसी स्थिति आती है। जनपथ से जुड़ना और उसकी तल्ख़ियों-समस्याओं में रम कर बुलन्दी के लिए छटपटाना साहित्यकार का गंभीर दायित्व है लेकिन पाश्चात्य छाया लेकर चिन्तन को दूषित करना अच्छा नहीं। राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने जहां भी मुक्त होकर अपने को अभिव्यक्त किया है वहां उन की भाषा भावानुकूल रंग स्तर लेकर कवि के सकार आशयों को संतुलित और लय में बांधती चली है जहां कहीं वह किसी ख़ास मानसिकता में सावधान हुआ है वहां शैल्पिक कसाव में कृत्रिमता उभर आई है। कवि अपने आशयों और प्रतिबद्धताओं के प्रति ईमानदार है, यह महत्त्वपूर्ण है।

अन्तर्दृष्टि : नवगीत की प्रथम पंक्ति

महत्त्वाकांक्षा की आलोचना थोड़ा विद्रूप होकर की जाती है पर कई बार महत्त्वाकांक्षा कोई महत्त्व का कार्य करा जाती है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने नवगीत के प्रचार-प्रसार में सब से महत्त्वपूर्ण कार्य यह किया कि समाज एवं सहृदय को नवगीत के प्रति आकर्षित किया। स्वयं भी अच्छा लिखा। 1958 में देवप्रकाश गुप्त नामक महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति जो कभी अंगार नाम से कविता लिखता था ने एक योजना के तहत 'गीतांगिनी' का सम्पादन-प्रकाशन किया। उसमें वरिष्ठ कवियों निराला, पंत से लेकर राजेन्द्र प्रसाद सिंह सभी हैं। नवगीत के तथाकथित प्रमाणित संग्रह कहां तक प्रामाणिक हैं - यह तो समय ही बतायेगा। 'गीतांगिनी' को भी प्रामाणिक मानना संदेहास्पद इसलिए है क्योंकि उस समय के जिन लोगों को नवगीत के समर्थक, सम्बद्ध या प्रेरक कहा गया उन के अतिरिक्त और भी समकालीन समर्थ गीतकार थे जिन्हें इस संकलन में स्थान नहीं दिया गया। बहुत से प्रसिद्ध नामी ग्रामी गीतकार हैं, जो स्वयं को प्रचारित करने के लिए लालायित नहीं रहे। सज्जन का संकोच कभी दुर्गुण हो जाता है। इसलिए 'गीतांगिनी' एक गीत संकलन है उसे नवगीत का प्रतिनिधि संकलन नहीं कहा जा सकता।

श्री सिंह का नवगीत गीत के धरातल पर जन्मा है। अभिप्राय यह है कि सिंह का लेखन उसी पारम्परिक गीत से प्रारम्भ हुआ है जिसमें भावाकुलता किसी प्रतीक या बिम्ब की चूनर पहन कर नहीं इठलाती। वहां उद्रेक है जीवन की घुटन का, पीड़ा का। मनुष्य परिस्थितियों में पिसे और सच्चा कलाकार प्रेम के आंगन में रंग-रेलियां मनाता रहे यह संभव नहीं। सिंह का कवि मन इसे सहजता से संग्रहण करता हुआ चुनौती स्वीकार करता है और स्वयं को विष पीने के लिए तैयार करता है। वह कहता है –

"मैं अरुण-नील अम्बर की सुधा अगर पी लूं,
तो गरल हवा का, लपट धरा की कौन पिये?" (*गीतांगिनी : पृ. 16*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वस्तुतः यह सच्चाई है। जब रचनाकार सुविधाजीवी हो जाता है तो उसमें विषपान की शक्ति घर कर जाती है और अमृत की लालसा में उस की कला अपना अस्तित्व खो बैठती है। सिंह इस आधुनिक छलना से परिचित हैं जो नागिन बन कर सारे समाज को डस रही है। वह पहचान गया है कि आज प्यार का वह रूप नहीं है, वह तो प्यार के नाम पर वंचना है। सभ्यता के दंशन से आज जागृति आ गई है। पर समाज अभी तृष्णा का अनुकरण कर रहा है, आज वर्त्तमान असंयम के ताप से तप रहा है। व्यक्ति स्वयं में केन्द्रित हो गया है, अपनी अपनी अभिलाषाओं के मोहजाल में फंसा हुआ मनुष्य अपने आप में विवश हो गया है। इन विषम परिस्थितियों में आदमी का सावधान होना आवश्यक है। वह अपना कवि-कर्म निभाने के लिए ही स्पष्ट करता है –

"मैं भी लूं मुखड़ा ढांक घुटन की चादर से,
तो तार-तार आंचल जनता का कौन सिये?" (*पृ. 16*)

यह सत्य प्रतीति है। कवि समाज का मात्र दर्शक या परिस्थितियों का व्याख्याता नहीं है, वह मनुष्य को सही दिशा भी प्रदान करता है।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह नवगीत के मोड़ में सहायक सिद्ध हुए। उस का प्रवर्त्तन स्वाभाविक रूप से हुआ, यह प्राकृतिक वैषम्य अवश्यम्भावी था। डॉ. सिंह ने नवगीत को भावुकता के आंगन से निकाल कर जन-सामान्य से जोड़ा। उसका आन्दोलित मन बोला –

"न साथ देंगे जो पैर आंख वाले, कटे रहेंगे जो हाथ पांख वाले,
कौन उन से जुड़ा रूका रहे... ... !" (*भरी सड़क पर : पृ. 2*)

नवगीत की यह यथार्थ पहुंच राजेन्द्र प्रसाद सिंह में झलकी। इस में कोई शक नहीं कि राजेन्द्र प्रसाद सिंह नये प्रयोगों के अतिरथी हैं। आज का जीवन नवगीतों में न झांके तो उसकी सामयिकता पर संदेह होने लगेगा। नवगीत जब नयी कविता की तरह रूखेपन पर आ जाता है तो वह यूं कहता है –

"अखबारी सुर्ख़ी से आंख खुली, टिफ़िन-बॉक्स बुझा रहा फ़ाइल की भूख;
हर बच्चे को टॉफी मिल जाए, इसी गणित में मुंह की थूक गयी सूख!" (*पृ. 28*)

यही त्रासदी है। इस में नवगीत का स्पर्श जरूर है लेकिन नयी कविता की गोद में खेल रहा है।

आज का कोई भी साहित्यकार महानगर की यात्रा किए बिना अपनी साधना अधूरी समझता है। गांव सूने हो रहे हैं और महानगरों की जनसंख्या बढ़ रही है। डॉ. सिंह ने प्रणय की गंधवती पृथ्वी पर जो स्नेह पुष्प खिलाए हैं उस का अपना रंग है। 'बरसों विलोये सपने, मेरे नवगीत, तेरी हंसी में ढले', जैसे प्रतीक आत्मीयता के उन क्षणों के निकट-अनुभव को तरल कर देते हैं। नयी कविता का शिल्प जैसे परिष्कृत हो कर लय में ढल गया - 'तीखा नशा रहा ज़हराव का, कुछ अजब टॉक्सिन था, सांसों के घाव का' - यह तेवर नयी कविता का है। डॉ. सिंह दोनों का संतुलन बनाये रखने में माहिर हैं। महानगर के व्यक्तितत्व के लिए डॉ. सिंह ने जो चित्र बिम्बित किया वह चुभता-रेंगता है। महानगरीय गगन के नीचे एक तारे के रूप में डॉ. सिंह ने व्यक्ति का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"वह आस की क्षत किरण, वह चाल-भूला हिरण,
वह ओस-फुहियों-बीच, बस एक आंसू विमन!
- लुढ़क फूटे पात्र में है, बूंद भर मदिरा;
रेत के कण में झलकता सिन्धु सारा!
...........एक तारा!" (*पृ. 5*)

इन पंक्तियों में नगरों की प्रदर्शन प्रवृत्ति, पाश्चात्य प्रभाव, अभाव और यातना से पीड़ित मदमत्त जीवन का चित्र एक आकार छोड़ जाता है। यह आकृति नवगीत में पहले नहीं थी। डॉ. शंभूनाथ सिंह तो 'पिया तुम कहां' को पहला नवगीत कहते थे। कम से कम यह तो स्वीकार्य है कि नवगीत में जीवन का यह रूप नयी ऐंठन के साथ उभरा। आज का मनुष्य भीतर से टूट रहा है और टूटन का फल भी भोग रहा है और ऊपर से उसने प्रदर्शन का ऐसा काला पर्दा डाल रखा है कि भीतर का कुछ भी नहीं दिखाई देता।

द्विवेदी जी ने कहा था - 'है अपना हिन्दुस्तान कहां? यह बसा हमारे गांवों में', परन्तु आज हिन्दुस्तान महानगरों, नगरों, उपनगरों में बसी झुग्गियों में दिखाई देता है। इसलिए गीतकार झुग्गीवालों के व्यक्तित्व को लोकसंगीत की धुन में गाते हैं -

"ओ भैया, - ना साधु - ना चोर, हम मुंह जोर - झुग्गीवाले!" (*पृ. 7*)

कुछ दिन तांगे वालों का गीतों में बहुत इस्तेमाल हुआ। इसी तर्ज़ पर डॉ. सिंह ने झुग्गीवालों का जनगीत के लिए अच्छा इस्तेमाल किया। धोबियों के लोकगीत पर आधारित गीत भी इसी पंक्ति में है –

"छियो राम छिया राम छियो..।
जियो राम जियो राम जियो।"

वस्तुतः नवगीत के कुछ तथाकथित नामवरों द्वारा ज़मने जमाने के लिए जो एक नया नारा दिया गया था 'जनवादी गीत' यह उसी का असर है। यह उस प्रच्छन्न जनवादिता की गीत-छाप है। ऐसे गीतों में एक यथार्थ उभर कर सामने आता है। हम जिस साधु संस्कृति को भूलते जा रहे हैं उसके लिए ऐसे लोकधुनी गीत अधिक सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

नवगीत के क्षेत्र में डॉ. सिंह का क़दम कारगर साबित हुआ। अनेक नवगीतकारों ने अपने गीतों में आम आदमी का दर्द गाया। नेतृत्व के मोह ने नवगीत के इस यथार्थवादी दृष्टिकोण को समर्थ नहीं रहने दिया और उसे जनवादी आन्दोलन से जोड़ दिया। गीत कभी आन्दोलन नहीं करता, वह आन्दोलित करता है। शक्ति के अपव्यय होने से दुर्बल होना अच्छा। नवगीत की अपनी शक्ति है। उसका विकास होना चाहिए। प्रतिभा का अपव्यय न कर डॉ. सिंह ने नवगीत के इस जनपक्ष को यथार्थ स्वर दिया। उसे चारों ओर चिंगारियां फूटती दिखाई देती हैं। आज मनुष्य दिग्भ्रमित, दिशाहीन है, उसे कहीं भी शान्ति नहीं –

"इधर एक पोखर है, उधर एक नदी
और बीच में सड़क हुई खत्म, ए जी! किधर जाएं हम?" (*पृ. 25*)

प्रत्येक मानस में ऐसा ही प्रश्नों का मानसरोवर है। मनुष्य का जीवन ही ऐसा हो गया है। दैनन्दिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन की विवशताएं अब अभ्यास में आ गई हैं। इस प्रकार डॉ. सिंह का नवगीत वर्त्तमान जीवन के उत्पीड़न का संगीतमय लय-स्वर है। इन के गीतों में भावुकता नहीं है, प्राणों का कसैलापन है। इसीलिए तो 'सुबह गीत की खुली, किनारे आंखों के कड़ुआये!' (*पृ. 3*) यह कड़ुवापन ही आज मानव की नियति बन गई है। गीतकार ने इन सच्चे जीवन-तथ्यों को निर्ममता से काता बुना और गाया है। यह गायन निर्भय और निरपेक्ष है। प्राणों में उसे जो धड़कन महसूस हुई उस के लिए उस ने किसी कृत्रिम साधन की खोज नहीं की।

नवगीत में नारी के सौन्दर्य के साथ उस की पवित्रता को भी अंकित किया गया। 'इतिहास मुद्रा' में नारी शीर्षक से जो नारी का व्यक्तित्व आंका है वह ऐसा बांका है कि भारतीय नारी के रूप में सारे विश्व की नारी का प्रत्यक्षीकरण हो जाता है –

"…..तर्क के गुणी सचमुच वणिक हुए, तब भी मैं रसवन्ती थी,
तब भी तुम छलनामय थे!" (*पृ. 9*)

उस की साधना का नैरन्तर्य देखिए –

"….तुम जीत हार में लगे रहे, मैं मिलन विरह में ठगी रही;
यों युग बीते!" (*पृ. 10*)

आज भी नारी की यही स्थिति है। प्रकृति और पुरुष का यह उदार गार्हस्थ्य भारतीय संस्कृति का आदर्श है। डा. सिंह नयी सभ्यता के दुर्बल पक्ष को भी निर्मम स्वर में व्यक्त करते हैं -

"मैं नयी सभ्यता की देही, तुम क्या हो?
अधिकारों के हर तेवर का जो चलता रहा तमाशा,
मैं ढलती रही उसी में, मैं आधुनिका हूं संदेही,
तुम क्या हो?" (*पृ. 11*)

इस प्रकार के स्थिति मानस बिम्ब विद्रूप के पहचान चिह्न हैं।

निश्चित रूप से डा. सिंह नये प्रयोगों के प्रति सचेष्ट रहे हैं। नवगीत में उन्होंने एक ओर जीवन के खुरदरे और रूखेपन को गाया है तो दूसरी ओर उन्होंने नवगीत बैले 'बिजली की वॉयलिन' शीर्षक से लिख कर अपनी प्रयोगवृत्ति का परिचय दिया। इस बैले में भी नवगीतों की तरह कवि की यथार्थ वाणी ही अभिव्यक्त हुई है –

"बुला रहीं घंटियां जिधर, उस ओर यातना-गृह अनगिन फैले हैं।
रुपये जिधर खड़कते हैं, उस ओर डकैतों के असंख्य अड्डे…….।" (*पृ. 33*)

मनुष्य सोचता है कि वह विगत और अनागत को पास-पास कैसे बिठलाये? यह अच्छा संकेत है कि कवि आशावादी है। उसे विश्वास है –

"समूह तुम्हें धकियाता और गिराकर कुचल बढ़ेगा - उसी राह पर/जो उस मंजिल तक ले जाए..।" (*पृ. 44*)

यह मंजिल मनुष्य के निश्चिन्त जीवन की होगी। कवि का यह क्रान्तिकारी शान्ति-स्वर उसके नयेपन के बोध को स्वीकृति देता है और भविष्य के इस आश्वस्त रूप से उसे स्थायित्व मिल पाने की संभावनाएं बढ़ जाती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें दो मत नहीं कि राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने नवगीत को नयी ज़मीन पर खड़ा किया, उसे संवारा, दुलारा, धूप-चांदनी से उसे नहलाया। युग बोध के हस्ताक्षर लेकर परिवर्त्तन पदचापों को प्रतीतिद्वार के वेणु स्वरों में ढाला। जीवन की आग और पानी को संयोजित कर उनका लयीकरण किया। 'भरी सड़क पर' के फ्लैप पर दी गई टिप्पणी खरी लगती है कि राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने सन् 1958 से अब तक नवगीत के प्रासंगिक अभियान में निबन्ध, टिप्पणियां, वार्ताएं, आलेख, समीक्षाएं, स्थापनाएं और व्याख्याएं प्रतिपन्न कर अगली मंजिलों की समझ दी है।' हालांकि आज जिन तत्वों, प्रवृत्तियों, मान-मूल्यों को लेकर नवगीत की पहचान कायम की गई है उसके कुनकुने बीज हमें श्रीपाल सिंह क्षेम, अंचल, महेन्द्र भटनागर, रामदरश मिश्र, केदारनाथ अग्रवाल आदि में मिल जाते हैं। नवगीत के विवादास्पद नेतृत्व, संस्थापना, प्रतिस्थापना की बहस को छोड़ दिया जाए तो यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि राजेन्द्र प्रसाद सिंह नवगीत की प्रथम पंक्ति हैं। इनमें प्रतिभा भी है और अभिव्यक्ति का सापेक्ष गुण भी।

गीत शिखर से उतरा नवगीतारोही : शंभूनाथ सिंह

गीत से नवगीत की यात्रा तक श्री सिंह ने प्रत्येक विधा को कृतार्थ किया है। डा. सिंह के विपुल प्रथित कृतित्व को नकारा नहीं जा सकता। उन्होंने पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण रचनाएं कीं। कविता की दृष्टि से इनके दस संग्रह हैं जिन में गीत, नयी कविताएं और नवगीत हैं। 'रूप रश्मि', 'छाया लोक' (पारम्परिक गीत), 'उदयाचल' (प्रगतिवादी गीत एवं लम्बी कविताएं), 'मन्वन्तर' (मुक्त छन्द की लम्बी कविताएं), 'दिवालोक' (संक्रान्तिधर्मी गीत), 'माध्यम मैं' (नयी कविताएं और नये गीत), 'खण्डित सेतु' (नयी कविताएं), 'समय की शिला पर' (प्रतिनिधि गीत), 'जहां दर्द नीला है', 'वक्त की मीनार पर' (नवगीत) इन की काव्य-यात्रा का ग्राफ है।

डॉ. शंभूनाथ सिंह का काव्य संसार मूलतः गीत की गंध देता है। बच्चन के समकालीन गीतकारों में श्री सिंह ने अपने गीतों से पर्याप्त यश अर्जित किया। वे मंच के ललित गीतकार थे। गीत की भावुकता और कठोरता दोनों को डॉ. सिंह ने जिया। वे कुछ समय नयी कविता के जंगल में भटक गए परन्तु लौट कर आये तो नवगीत का चमन कुछ कलियां लेकर मुसकरा रहा था। डा. सिंह ने कलियां खिलाईं ओर आंख बचा कर माली के पद के लिए महत्त्वाकांक्षी हो उठे। उनमें सृजन का गर्व होना स्वाभाविक था परन्तु गर्व जब दर्प या दंभ के रूप में परिणत हो जाता है तो उसकी प्रतिक्रिया भयावह हो उठती है। इसी भयावहता का परिणाम है कि उन्होंने नवगीतों के संकलनों में और नवगीतकारों की स्वीकृति में पक्षपातपूर्ण रवैया अपनाया। स्वयं को प्रचारित और प्रतिष्ठित करने के लिए इस प्रकार योजनाबद्ध कार्यक्रम करना श्री सिंह के मस्तिष्क की उपज है।

जहां तक गीत का प्रश्न है श्री सिंह और उनके प्रदेय को नहीं भुलाया जा सकता। रमानाथ अवस्थी, नीरज, वीरेन्द्र मिश्र आदि उन से प्रभावित रहे हैं। बच्चन और शंभूनाथ का मिश्रित रूप रमानाथ अवस्थी हैं। इसलिए डॉ. शंभूनाथ का भावनगर विस्तृत और सुन्दर है। गीत और नवगीत के बीच फ़ासला पहचानना कठिन हो जाता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मिट गये अब सभी हाशिये/ हाशियों से घिरे दायरे,
जल गये हैं सभी चौखटे/ गोल चौकोर रंगों भरे।" (*नवगीत दशक - 1 : पृ. 131*)

आज के सांस्कृतिक अवमूल्यन की तड़प इन के गीतों में अत्यन्त सहजता से हुई है। जिसे पारम्परिक गीत कहा जाता है उसकी लयात्मकता श्री सिंह में पूर्ण व्याप्त है। उन के नवगीतों में आज भी वही चिरपरिचित लय है चाहे वे इससे कितना ही इन्कार करें। गीत को छिछली भावुकता से जकड़ दिया गया इसलिए इन में नवीनता दिखाई पड़ती है। आज के तथाकथित पारम्परिक गीत की आत्मा में उसी आदमी का दर्द है, जो दर्द नवगीत के नाम से गाया जा रहा है –

"हम रबर के खिलौने बिकते हैं सुबहो शाम,
लिख गयी अपनी किस्मत शाहजादों के नाम।" (*वक्त की मीनार पर : पृ. 69*)

यह जीवन की अभिव्यक्ति है जिसे आम आदमी महसूस कर रहा है। श्री सिंह का स्वर स्वाभाविक और जीवनोन्मुखी स्वर है। अपनी कविता के विषय में स्पष्टीकरण देते हुए गीतकार का कहना है कि "छायावादोत्तर गीत-कविता तथा वर्त्तमान कालीन मुक्त छन्द वाली नयी कविता, दोनों ही क्षेत्रों में मैं अनुभूतिहीनता, छिछली भावुकता, क्षणिक आवेश एवं स्थूल तथ्य-कथन से प्रारम्भ से ही बचने का प्रयास करता रहा हूं" (*समय की शिला पर : पृ. 7-8*)।

सन् 1940 से 1950 के बीच किशोरावस्था पार कर के युवावस्था में चरण रखने के समय मेरे भीतर मांसल सौन्दर्य और प्रेम की जो अनुभूतियां उपलब्ध हुई मैंने उन को अधिकतर गीत विधा के माध्यम से अभिव्यक्त किया। उन में जिन निजी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हुई है वे तटस्थ मन की अनुभूतियां भले न हों पर प्रामाणिक अवश्य हैं। ईमानदारी से व्यक्त की गई ये अनुभूतियां वैयक्तिक होती हुई भी सम्भवतः सार्वज़नीन थी।" इसमें कोई शक नहीं कि गीत-शिखर से उतरे इस नवगीतारोही शंभूनाथ सिंह ने छायावादी अनुभूति कुहासे को चीर कर मुक्त दृष्टि से जीवन और मानव को देखने-परखने का नवीन प्रयास किया है। डा. सिंह के गीतों में रूप एवं प्रेम सुख के लिए उत्तर छायावादी व्यक्तिपरक धारा के सर्वमान्य कवि बच्चन की सी मरणकामी दुर्दान्त प्यास की ज्वालाओं का अतुष्ट हाहाकार, नैराश्य का कुहान्धकार और भोगेच्छा की एकान्तिक ललक की चटकार नहीं दिखाई देती। बच्चन का विद्रोहक भाव जड़ हो गई चट्टानों पर सर पटकती हुई भोगोतृषित जवानी का विद्रोह है, इसलिए उसमें धूम धुंध की मार्ग-रोधी कुज्झटिका भी स्पष्ट है लेकिन डा. सिंह के गीतों में रूप के प्रति ललक, सुखोभोग की तृषा एवं प्रेम की पुकार है किन्तु यह तृष्णा और पुकार कल्पना-शक्ति के हृदयस्पर्शी चित्र-बिम्बों, प्रकृति के अनुभूति प्रवण रूपों आसक्ति-अनासक्ति के बीच सेतु-निर्माण करती जीवनवाही प्रवृत्तियों की प्रेरणाओं से सम्पोषित होकर जहां एक ओर पाठकों को छायावाद के अस्पष्ट अनुभूति-लोक से उतार कर जानी पहचानी भाव-भूमि पर खड़ा कर देती है, वहीं अत्यन्त सुपरिचित जीवन-संघर्षों एवं समाज-सम्बन्धों को भी भाव-कल्पना की आन्तरिक फुहारों से रंगीन एवं रसमय बना देती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यात्रा-ग्राफ

'रूप-रश्मि' और 'छायालोक' कवि की आरम्भिक रचनाएं हैं। उपरोक्त कृतियों के प्रणय और प्रकृति-चित्रों में जहां छायावादी स्वप्निल जगत् का विचरण तथा भावुकता के अयथार्थवादी क्षणों की घनीभूत छाया का बाहुल्य है वहीं वेदना और नैराश्य से उत्पन्न भावाभिव्यक्ति तथा यौवन के सहज आत्मिक पलों की अनुभूति का व्यापक फलक भी है –

"अपनी पीड़ा पर मुस्काऊं, सुख को मैं प्रतिफल ठुकराऊं
जो ऊपर ही उठता जाए, दे दो वह जीवन-ज्वार मुझे
दो तम का पारावार मुझे।" (*उदयाचल : पृ. 43*)
"बिछ गया आज मैं जग-पथ पर बन दुःख की कहानी।" (*पृ. 34*)

"कवि का वैयक्तिक मोह प्रणय की कविताओं में कभी निष्ठा और कभी स्थूल वासनाजन्य उद्गारों में है। रचनाओं में कवि कभी अपने आन्तरिक जगत में झांकता है, तो कभी उसमें महादेवी की शैली झलकती है। प्रेम-पिपासु होकर जब वह बाह्य जगत में भटकता है तो बच्चन के 'एकान्त-संगीत' की स्मृति हो जाती है।" (*डॉ. कमला प्रसाद पाण्डेय : छायावादोत्तर काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ. 394*) 'रूप-रश्मि' में कवि प्रणय संयोग का नहीं, प्रत्युत् वियोग का सूचक बन कर अपना परिचय दे सका है। यही कारण है कि गीतों में विरहजन्य अनुभूतियों का प्राधान्य है, संयोग सुख यदा-कदा 'स्मृति' बन कर ही प्रकट हुआ है। वस्तुतः इन गीतों में विरह की साधना ही है जो महादेवी से कम, पर 'बच्चन' के 'एकान्त संगीत' से अपनी पूर्ण सादृश्यता प्रकट करती है। 'एकान्त संगीत' में प्रणय के अभाव में 'बच्चन' ने अपनी अनुभूतियों में पूर्ण डूब कर जिस व्यापक और प्रगाढ़ निराशा, व्यथा-वेदना तथा अपने एकाकी भूखे तन और भूखे मन वाले, नियति तथा असफलताओं भरे जीवन के जो चित्र दिए थे, लगभग वैसे ही चित्र यहां भी उपस्थित हैं और उनमें अनुभूतियों की अकृत्रिम, मार्मिक, निश्छल और सजीव अभिव्यक्ति भी बहुत कुछ वैसी ही। महादेवी का प्रभाव है तो इतना ही कि कवि भी उन्हीं की भांति अपनी वेदना तथा पीड़ा को प्यार करने लगता है, शनैः शनैः अंतर्मुखी होता हुआ अन्ततः प्रेम-पीर की अमरता घोषित कर जाता है। 'छायालोक' में भी भावनाओं का उपर्युक्त क्रम ही चला है, अन्तर केवल इतना है कि इसमें व्यथा, वेदना और अभाव आदि के इतने प्रगाढ़ चित्र नहीं हैं। संयोग-सुख के लिए आकुल कवि के हृदय की विरह जनित अनुभूतियां यहां भी बड़ी ही स्पष्टता से अभिव्यक्त हुई हैं तथा अपने प्रणय के प्रति कवि की गहन निष्ठा का भी उतना ही तीव्र निदर्शन हुआ है। वस्तुतः 'रूप-रश्मि' और 'छायालोक' दोनों का निर्माण समान अनुभूतियों के ही तानों- बानों से हुआ है (*दृष्टव्य : डा. शिवकुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य, पृ. 312, 313*)।

कवि की प्रेम और प्रकृति-सम्बन्धी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति का मौलिक उदय 'उदयाचल' में देखने को मिलता है। यहां कवि पुरातन भावों की कैंचुली छोड़ कर जीवन के कर्मक्षेत्र में नवीन विश्वास और आत्मिक आस्था के दृढ़ स्वरों को लेकर उतरा है –

"गायक भू पर उतर स्वर्ण किरन कोई
मुखरित कर मधुगान मेरे मन कोई।" (*उदयाचल, पृ. 26*)
"दाह के गायक तुम्हें आह से क्या काम
जीवन जागरण का नाम।" (*पृ. 36*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह जीवन के कर्मक्षेत्र से यहां पलायन नहीं करता बल्कि वास्तविकता एवं यथार्थ का सामना करते हुए संघर्षों के तमान्धकार को चीरने की तीव्र भावना से लालायित कुछ कर गुजरने के संकल्पों को बुनता दिखाई देता है। जीवन के प्रति उसकी यथार्थ संकल्पात्मक दृष्टि स्वस्थ स्वाभाविक सौन्दर्य बोध को जन्म देती है। अस्वस्थ, वीतराग मन की पलायनवादी वृत्तियों का विकृत संगीत इन गीतों की मूल चेतना से कोसों दूर है। सामाजिक वैषम्य से उत्पन्न अव्यवस्था का घोर अभिशाप कवि मूक होकर नहीं देखता बल्कि इस अभिशप्त सामाजिक कैंसर से ग्रस्त जीवन के विभिन्न पक्षों से निर्भीकता के साथ मलमल का रेशमी कफ़न उठाता है –

"मृत मानवता की मिट्टी से, उगने को है नव अंकुर दल।" (*पृ. 14, 51, 42*)

'उदयाचल' की गीत-सृष्टि में कवि की सामाजिक दृष्टि आत्मपरक सत्यों का अन्वेषण कर मुखरित हुई है। अनेकाधिक गीत कलात्मकता का भाव प्रवण सौन्दर्यवरण ओढ़े हुए हैं, फिर भी इस संग्रह की बहुत सी रचनाओं को उद्‌बोधनात्मक स्वर ने गहरा आघात लगाया है।

जिस कवि ने 'उदयाचल' में अपनी वाद हीनता का अत्यधिक तीव्रता से प्रकाशन किया था तथा उसे ही अपना साध्य घोषित किया था, अनायास 'मन्वन्तर' की मुक्त छन्द लम्बी कविताओं में एकवादी प्रचारक बन कर उतरा है। चूंकि वह इस संग्रह में प्रचारक है और प्रचारक तथा कवि में बहुत अन्तर होता है यही कारण है कि उसकी अधिकांश कविताएं भी अनुभूति शून्य, नीरस प्राणहीन बन गई हैं (*दृष्टव्य : डॉ. शिव कुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य : पृ. 314-15*) 'मन्वन्तर' को पढ़ कर ऐसा अनुभव होता है कि कवि सैद्धान्तिक आग्रहों की कुहेलिका में जान बूझ कर घिरा है। गीतकार की सहजता से कवि यहां स्वयं ही पीछा छुड़ाता प्रतीत होता है। गीतकार की अपेक्षा कवि प्रचारक अधिक है, कविता में अनुभूति पक्ष की गौणता यही सिद्ध करती है। संवेदना की आंच यहां मधुर नहीं लगती, मानवीय तत्वों का पूर्वाग्रह कवि की प्रभावोत्पादक गीत क्षमता को संकुल बनाये है।

'दिवालोक' कवि की प्रौढ़ काव्य-कृति है। इन रचनाओं में कवि 'उदयाचल' से आई हुई भावनाओं और आरम्भिक वैयक्तिक प्रणय की अनुभूतियों के बीच निर्णय की भूमिका खोज रहा है। यहां कवि वस्तु और शिल्प में परिवर्त्तन के साथ नयी कविता की प्रतियोगिता में गीतों को सामर्थ्य देने की चिन्ता में है, कदाचित यहां से शम्भूनाथ सिंह का कवि 'नवगीतों का सर्जक' हो रहा है। 'मधु ऋतु' कविता द्रष्टव्य है –

"आई नर्त्तन करती कविता की किन्नरियां
मधु से पागल खुल गई हृदय की पंखुरियां
मलयज छन्दों में कवि उर की रस-धार ढली
केसर के गीतों में पतझर की प्यास खिली।" (*दिवालोक (पूर्व कथन) पृ. 61*)

इसी प्रकार 'सुधि के सावन' रचना है। इन में आंचलिक और गुप्त सांस्कृतिक चेतना को गीतकार प्रकाश में लाना चाहता है।

कुछ अच्छे सॉनेट भी शंभूनाथ सिंह ने लिखे जो नवगीतीय गंध देने वाले हैं। 'हिमालय', 'विश्व' जैसे सॉनेट प्रयोग शंभूनाथ सिंह की नवगीत चेतना को व्यापक सन्दर्भों में उठाते हैं। 'आज' का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सॉनेट बिम्ब धूप-छांह सा झिलमिलाता है –

"हाल बीच सन्नाटे में ज्यों गूंज उठे आवाज
आप की दुनिया में वैसे झमक उठे तुम आज
भीड़ भरे मन्दिर में जैसे
उठे अगरू की गंध
धूप-छांह की झिलमिल में त्यों गमक उठी तुम आज।" (*पृ. 45*)

गीत को जब पिछड़ी विधा घोषित किया जा रहा था तब शंभूनाथ सिंह भी गीत साधना से विरक्त होकर नयी कविता के खेमे में शामिल होने के लिए पर्याप्त समय तक हाथ-पैर पटकते रहे लेकिन वहां इन्हें इच्छानुरूप कद नहीं मिला। द्वन्द्व और अनिर्णय की सन्धि ने नयी कविता के साथ नये गीतों से शंभूनाथ सिंह को जोड़े रखा जो 'माध्यम मैं' के रूप में सामने आया। लेकिन 'खण्डित सेतु' की विशुद्ध नयी कविताओं में खोकर कुछ समय के लिए तो शंभूनाथ ने गीत को एक ओर धकेल नये प्रयोगों द्वारा नयी कविता के शिविर में हड़कम्प मचाने की कोशिश की। इस हड़कम्प में साधना कम साहित्यिक राजनीति ज्यादा थी। परिणामतः नयी कविता वादियों ने इन्हें किसी भी रूप में वहां नहीं जमने दिया। हांलाकि 'माध्यम मैं' की नयी कविताओं को यदि छोड़ दिया जाए तो उसमें संकलित नये गीतों में ग्रामीण बोध जनरुचि का उभार था क्योंकि इन गीतों में जीवन से जुड़े यथार्थ एवं मनोवैज्ञानिक अनुभव बिम्बों का लयीकरण था –

"मन का आकाश उड़ा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो।
बीती बातों पर सर टेक कर
हेर रहा मन भूली नींद को!
धूप छांह की गंगा-यमुना में
डुबो रहा हंस-हंस उम्मीद को!
अपना विश्वास घटा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो।" (*माध्यम मैं : पृ. 62*)

अपने साहित्यिक आचरण-व्यवहार से शंभूनाथ सिंह हर समय संदेह के घेरे में रहे। दो नावों पर सवार होकर सफल अश्वारोही की भूमिका में वे अपने को नायक सिद्ध करना चाहते थे। दो नावों पर पैर रखने वाले दो घोड़ों पर एक साथ सवारी करने वाले कभी विश्वसनीय नहीं होते। इस आचरण से शंभूनाथ सिंह ने अपनी विश्वसनीयता को असाहित्यिक बना दिया। जब नयी कविता वालों ने इन्हें धकिया दिया तभी इन में गीत नवगीत के प्रति पुनः समर्पण भाव जागा। अन्यथा ये लगातार एक तरफ तो नयी कविता के खेमे में प्रतिष्ठित आसन के लिए मौके की तलाश में रहे और दूसरी ओर गीत की वकालत कर स्वयंभू मसीहा बनने का अवसर तलाशते रहे। दूध पीने वाले मजनू ऐसे ही होते हैं। जहां मलाई मिले उसी ओर रूझान हो जाता है। मीठा मीठा गप्प कड़वा कड़वा थू। नयी कविता से धकियाये जाने के बाद नवगीत के नेतृत्व का घमासान किसी से छुपा नहीं है। इन की नयी नयी कविताओं में जीवन की कटान तीखी नहीं है और न उन में लयात्मक छान्दसिकता का स्पर्श है। कुछ कविताओं को ये जबरदस्ती नवगीत के आस-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पास घोषित करते हैं –

"घने अंधियारे के नीचे/ घहराता हुआ तन्हा विक्षुब्ध एक सागर है/ और तुम हो/
तुम तो नहीं गए/ चला गया वह/ जिस को जाना था/ लेकिन तुम हो..........।"

(*खण्डित सेतु : पृ. 14*)

'माध्यम मैं' की नयी कविताओं और नवगीतीय प्रभाव का दावा करने वाली कविताओं को यदि छोड़ दिया जाए तो इसमें संदेह नहीं कि कवि का मनोलोक इस मिश्र संग्रह (नयी कविताएं + नये गीत) 'माध्यम मैं' से ही नवगीत परम्परा के अधिक निकट आया है। युगानुभूति (नवगीतों में) के प्रति कवि की जागरूकता और सजगता बढ़ गई है। मानव की कोमलतम भावनाओं का संस्पर्श, आंचलिक जीवन का समग्र बोध और देश की करुण कहानी इस संग्रह के गीतों में कवि को विशिष्ट स्थान देती है।

'खण्डित सेतु' वस्तुतः नयी कविता की गहन गुफाओं में भटके कवि मन का हाहाकार है। आस्थाएं यहां टूटी खण्डित है। गर्भनाल सम्बन्धों की मानवीय त्रासदी इन कविताओं में मुंह ढाप कर रो रही है। रूक्ष जीवन ट्रेजडी हो गया है। जीवन की गीतात्मकता इन रचनाओं में पूरी तरह गायब है। कवि का रचनाशील मन यहां घड़ी के पैण्डुलम की तरह झूलता है। अनिश्चय और दिग्भ्रम के घटाटोप से घिरी मानसिकता, आस्था, विश्वास के खण्डित सेतुओं को जोड़ने के उपक्रम में युगनद्ध होती है। युग की समूची कड़वाहट दस्त-उल्टी की तरह व्यक्ति-मन को निचोढ़ लेती है। युगजीवन के व्यापक सन्दर्भ सुई नोंक से चुभ कर व्यक्ति को चूसा हुआ आम बना देते हैं। वेदना-पीड़ा की खारी हवाएं सांस-सांस का हिसाब लिखती हैं।

'जहां दर्द नीला है' में अतिबौद्धिकता से पीड़ित तथाकथित आधुनिकता के नमक-बिम्ब है। सभ्यता, आचरण के आधुनिक तेवरों से जूझता नगर बोध हमारे पूरे वजूद को काष्ठ-कीट की तरह कुतर-कुतर खा रहा है। मनुष्य-अस्मिता पर लगा मूल्यहीनता का ठप्पा प्रौद्योगिकी एवं मशीनीयन यान्त्रिकता की खौफ़नाक वकालत है। आधुनिक बुनावट में जीवन के ये टटके बिम्ब संस्कारहीन सभ्यता की ओर बढ़ रहे हैं। जोड़ो के बीच भर गया रिक्तिबोध हृदय की द्रवीय प्रतीतियों का निषेध है। निषेधात्मक अस्वीकार के पर्यावरण की कचोट मनुष्य-अस्मिता पर बिच्छू की तरह रेंग रही है। उसे एकदम दंशित नहीं करती अपितु धीरे धीरे विष कन्या बना रही है। वर्त्तमान जीवनं की बेबसी का स्थिति बिम्ब देखिए –

"कानों में डाल कर उंगलियां, सुनता हूं दूर के धड़ाके
आंख बंद कर सकता हूं, बेतों के बेरहम सड़ाके
भाग कर कहां जा सकता हूं, हवा में जकड़ दिया गया हूं।" (*जहां दर्द नीला है : पृ. 9*)

इस विष कन्यायी परिवेश और जटिल जीवन असंगतियों को बेधने की शंभूनाथीय नवगीत दृष्टि बिम्बवर्णी है। आक्रमण भी करती है, पुचकारती भी है। पुचकार के इस दंश दर्शन में यथार्थ की नमकीन बौछार जीवन के उन सूत्रों को पकड़ने की कोशिश करती है जो मनुष्य की दिनचर्या बन चुके हैं। यथार्थ आधुनिकता की इस ग्रीष्म ऋतु को कुछ नवगीत छतनार छाया देते हैं, पावस की आशा में भीगने का निमन्त्रण भी। इस दृष्टि से 'स्नेह', 'हंसते-हंसते हैं लोग', 'जन्म कैद', 'कीलों से जड़ दिया गया हूं' आदि रचनाएं मनुष्य जिजीविषा की रोशनी लकीरें हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'जहां दर्द नीला है' के नवगीत 'खण्डित सेतु' की भूमि से जुड़े हैं। व्यक्ति मन की बुनावट यहां लय पा जाती है। दर्द जुड़ाव के सेतु सूत्रों को क्रम देता है। इसी क्रम में धूप-छांह, स्मिति-आंसू, घुटन-उछाह, प्रीत-विछोह, संत्रास-द्रोह, टूटन-आसक्ति की मूल्य चटकनें नील दर्द को कसकाती हैं। कसकन की इस पीर में जीवन कीचड़ में खिले पारिजात की भांति सिर उठाता है। भाव, भाषा, शिल्प, कथ्य के स्तर पर इन नवगीतों में बदलाव लकीर खींचता चलता है। समय मुकुर बन कर इन रचनाओं में झांकता है। इन नवगीत चितवनों में बांकपन भी है और नव्यता के प्रति आग्रहशीलता भी। परिवर्त्तन-वांछा भी है और समय के डैनों से जुझारू होने की संकल्प-भावना भी।

'वक्त की मीनार', 'जहां दर्द नीला है' की अन्तर्भूमि से उठी है। वैज्ञानिक भौतिकवाद, प्रौद्योगिकी, यान्त्रिक जड़ता, शहरी संस्कारों की मरोड़दार जटिल बुनावट, द्वन्द्व पीड़ित तीखे अन्तर्संघर्ष, संशय-नकार ओढ़े मानस, कुतर्की सभ्यता, जमीन से सटा जीवन-निष्कर्ष, पूंजीवादी अर्थतान्त्रिक व्यवस्था का आतंक, वैज्ञानिक ऊंचाई पर टंगे मानवीय मूल्य, जीवन को सहजता से पाने के लिए ग्रामीण संस्कृति एवं नैतिक मूल्यों का संरक्षण, खुले खेत-खलिहानों में चहकती प्रकृति के प्रति आकर्षण का बुनियादी परिवेश 'वक्त की मीनार' का पर्यावरण है। परम्परा और संस्कृति के बीच गीत की रागात्मिका वृत्ति लोक मानस की विविध छवियों को आकलित कर उस जड़ता के प्रति जेहाद है जो मनुष्य को मुखौटेवादी संवेदनहीन आदिम संस्कृति का प्यादा बनाती जा रही है। कवि की रचनात्मकता इस परिवेश को काट कर मनुष्य मन को जिज़ीविषा जीवट की उस सहज लोकभूमि से जोड़ने का उपक्रम करती है जो अन्तर्नादीय टंकार कर ब्रह्म रन्ध्र को जगा दे, लोक मानस को तमस से ज्योति की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर ले जाए। कवि की रचनाशीलता नवगीतों को हथियार की तरह इस्तेमाल करती है। 'वक्त की मीनार' पर पहुंच कर कवि जीवन को धरती के सच से जोड़ता है। मीनार और धरती के बीच के फ़ासलों को पाटने के लिए ही वह कटिबद्ध होता है। वह सूत्र देता है - "उस वातावरण और इस मीनार के बीच का फ़ासला हमें मिटाना ही होगा।....मेरे गीतों के स्वर अन्तरिक्ष की दरारों में छिपे साम-संगीत के स्वरों, सैफों के प्रेम गीतों की धूनों और बाइबिल के गीतों (साम्स) की प्रतिध्वनियों को अनुगुंजित करते हैं और मीनार की सीढ़ियां संगीत से भर उठती हैं।....सावधान गीत वापस आ रहा है।" क्योंकि "अन्तरिक्ष में कोई कब तक रह सकता है, जहां आक्सीजन (प्राणवायु) नहीं, गुरुत्व नहीं, आकर्षण शक्ति नहीं। यहां तो केवल त्रिशंकु बन कर रहा जा सकता है। आखिर धरती पर तो उतरना ही होगा जहां वह सब कुछ है जो यहां नहीं है और जिस के बिना जीना-न-जीना दोनों बराबर हैं। पृथ्वी पर रह कर जीना ही वास्तविक जीना है।" (*वक्त की मीनार पर : पूर्व कथ्य*)....यहां इस मीनार के आस-पास तो अगाध शून्य है, चारों ओर फैला हुआ प्राणहीन शून्य जिसे कई कई नाम दिये गये हैं - जैसे मूल्यहीनता, व्यर्थता, संत्रास, ऊब, अजनबीपन, अस्तित्व बोध, वगैरह-वगैरह" (*वक्त की मीनार पर : पूर्व कथ्य*)। इस रिक्ति को भरने-गाने के लिए ही शंभूनाथ सिंह के रचनाशील मन ने नवगीतों की मूल भूमि से इन्हें जोड़ा है। वक्त की मीनार (*वक्त की मीनार पर : पृ. 9*) से उठे ये नवगीत स्वर 'नदी' (*पृ. 15*), 'बादल' (*पृ. 17*), 'पेड़' (*पृ. 19*) बन कर 'गिलहरी' (*पृ. 25*) से चिचियाते 'चिड़िया' (*पृ. 23*) से फुदकते हैं। 'अभिशप्त' (*पृ. 11*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थितियों के संत्रास को झेलते हुए 'बेला की तरह सारी रात महकते हैं (*पृ. 28*)। दूसरे खण्ड 'देश है हम' (*पृ. 33*) से शुरू 'लम्बा सफ़र' (*पृ. 35*), 'कोणार्क में नये वर्ष के प्रथम दिन (*पृ. 41*) से 'सन्दर्भहीन' (*पृ. 49*), 'ज़िन्दगी की त्रासदी' (*पृ. 51*) के इतिहास बोध का 'उत्खनन' (*पृ. 43*) करता है। 'सब कुछ हो' कर भी 'बाढ़ की नदी' (*पृ. 47*) बनी मनुष्य-नियति 'अपने घर' (*पृ. 37*), की दीवारों को पहचानने से इन्कार कर देती है। आधुनिक सभ्यता-संस्कृति की इस नगर लीला में भटका जीवन 'नदी के किनारे' (*पृ. 53*) भी प्यासा रहता है।

'आग की घाटियों' (*पृ. 39*) में भटकते आज 'जहां हम खड़े हैं' (*पृ. 67*) वहां के पथरीले शोर में 'दहशत जंदा' (*पृ. 57*) 'थरथरी हवाओं' (*पृ. 75*) ने ज़िन्दगी को 'अरण्य काण्ड' (*पृ. 77*) बना दिया है। 'मानसर छोड़ने' (*पृ. 59*) का पश्चात्ताप, 'अजनबी शहर' (*पृ. 61*) की घुटन ने 'आदमकद आदमी' (*पृ. 65*) के कद को नाटा जोकर बना दिया है। अपने आप हंसते 'रबड़ के खिलौने' (*पृ. 73*) हम 'हकलाते समय की' (*पृ. 69*) लगाम को थामने के लिए जीवटधर्मी सन्दर्भों से जुड़ रहे है। त्रासदी के 'युगान्त' की (*पृ. 71*) घोषणा के इन्तज़ार में निर्णायक भूमिका मनुष्य के जीवट जिज़ीविषा और कर्म की ही होगी। जीवन का सच यही है।

'पर्त्त-दर-पर्त्त ज़िन्दगी' (*पृ. 63*) का सच आधुनिक असंग परिवेश की नुकीली चुभनों को पिन बना कर 'आदमी को ज़हर' (*पृ. 81*) में तब्दील कर देता है। 'ज़िन्दगी के अनेकमुखी आयामों में' (*पृ. 90*) 'स्वप्न भंगी' (*पृ. 85*), 'इन्द्रधनुष' (*पृ. 89*) 'ताउम्र' (*पृ. 83*) 'उपलब्धि' (*पृ. 88*) के नाम पर 'तारों की तरह टूटते-जुड़ते' (*पृ. 86*) 'हर जगह मौत' (*पृ. 98*) का पाहुन बन कर 'उम्र और ज़िन्दगी' (*पृ. 92*) के तार जोड़ता रहता है। ऐसे में उसे 'सौ की उमर भी छोटी' (*पृ. 94*) लगती है। यथार्थ और सत्य के बीच झूलती ज़िन्दगी की लय गीत बन पाए यही बुनियादी सरोकार 'वक्त की मीनार' से बांग देते हैं।

'वक्त की मीनार पर' के गीत शंभूनाथ सिंह की उत्तरवर्ती काव्य-यात्रा के प्रमाण पत्र है। चार भागों में विभाजित इस संग्रह के नवगीत व्यक्ति और युग संचेतना को हर कोण से परखने की कोशिश करते हैं। चतुर्भुजी मीनार के पहले कोण में ग्यारह गीत हैं, दूसरे कोण 'देश है हम' में बारह और तीसरे 'जहां हम खड़े हैं' में भी पहले कोण की तरह ग्यारह नवगीत हैं। चतुर्भुज को पूर्ण करने वाले 'पर्त्त-दर-पर्त्त ज़िन्दगी' खण्ड में भी ग्यारह नवगीत ही समकालीन ज़िन्दगी की पर्त्तों को छील रहे हैं।

पहले ही गीत में समय का भाष्य है जिसमें 'तथागत गीत' गाने का दावा करते हुए कवि वक्त की मीनार पर खड़ा है। शंभूनाथ सिंह की काव्य-यात्रा का यह प्रौढ़तम सोपान है। संकलन में कवि की प्रायोगिक दृष्टि काव्य और शिल्प की नव्यता में युग की घुलावट कर जीवन का इन्द्रधनुष रचती है।

नवगीतों को पैना करने के लिए उन्हें विस्तार देना बहुत जरूरी है। मात्र शैल्पिक प्रयोग करना साहित्य की सार्थकता नहीं। कवि का रचनाकार जीवन की चतुष्कोणी व्याख्या के लिए छटपटाता है। वह एक ओर यदि प्रकृति की खूबसूरत वादियों में जीवन को खोजता हुआ उसे उससे जोड़ कर देखता है तो दूसरी ओर मिट्टी की रचाव लीला के सत्य से विमुख नहीं होता। धरती की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कस्तूरी गंध मन को रसी बोल देकर दर्द-चटकनों से बचाती है। महानगरीय यान्त्रिकता के बीच मशीनी सोच को उभारने के लिए कवि इतिहास के पन्ने पलटता है तो व्यक्तिगत अनुभूतियों को पंख-रंग भी देता है। समकालीन यथार्थ का असंगति नर्त्तन बिना आंख खोले ही व्यक्ति मानस को जला कर याचक बना देता है –

"घूमते चक्र के मंच पर ज़िन्दगी
फिर शुरू हो गई त्रासदी की तरह।
हैं दिशायें गरजने लगीं सिन्धु-सी
फिर समय रो उठा आदमी की तरह...।" (*पृ. 51-52*)

जटिलताओं के व्यूह में घिरी पूरी की पूरी सभ्यता कच्छप गति से रेंग रही है। रेंगन और जुड़न की परिवेश प्रतीतियां ही 'वक्त की मीनार पर' मुकुर बन कर टंगी है।

'समय की शिला पर' में शंभूनाथ सिंह के चुने हुए सौ प्रतिनिधि गीत हैं जिनमें छायावादी संस्कारों से लेकर नये युग की पहचान के स्मृति चिह्न अंकित हैं। लोकरुचि की अछूती शक्ति को कवि ने इन गीतों में सहानुभूति के साथ ग्रहण किया है। इन रचनाओं के माध्यम से शंभूनाथ ने स्वयं नवगीत की पृष्ठभूमि तैयार की है। सभी रचनाओं का पूर्वराग और गति चिह्न समय की इस शिला पर अंकित है।

नये-नये रूप रंग में अपने व्यक्तित्व को सुरक्षित बचा कर शंभूनाथ सिंह नवगीत तक ले आये थे। यहां तक का सफ़र तय करते हुए उनका आचरण विशुद्ध रूप से साहित्यिक नहीं रहा। साहित्यिक प्रतिष्ठा के लिए उन्होंने गीत को गाली देने में भी परहेज़ नहीं किया और उसी की बदौलत पुजना चाहते थे। यद्यपि अपनी तीव्र सामाजिक चेतना की अनुभूति के कारण शंभूनाथ सिंह छायावादी प्रभाव को लांघ कर प्रगतिवादी धारा की ओर उन्मुख हुए। इन के गीतों में छायावादी भाव एवं शिल्प का आग्रह परिलक्षित अवश्य होता है लेकिन विकास क्रम की दृष्टि से वे अपनी भाव भूमि को युगानुकूल लचक देते रहे हैं।

नखदंती लावा जुगनु मन

समय की सुनिश्चित धारा साहित्यकार पर अपना एक निश्चित प्रभाव अवश्य डालती है, आज का गीतकार भी इससे अछूता नहीं है, वह मुख्यतः भावना के स्तर पर वैयक्तिक एवं कल्पना-जगत् में विचरण करते हुए भी मानसिक स्तर पर सुषुप्त नहीं है। वह आस-पास बिखरे सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कुचक्रों में न जाने अपने जैसे कितने निरीह प्राणियों को फंसे देखता है, परिणामस्वरूप उसकी चेतना पर तीव्र कुठाराघात होता है। उसकी परिणति क्षोभ और घृणा का रूप ले लेती है। व्यवस्था की पूंजीवादी मानसिकता चूहे-बिल्ली का खेल खेलने की आदी है –

"खोल उद्योग यो मोतियों का नया/ माल कृत्रिम बना धन उपार्जन किया,
नीर औ' क्षीर दोनों मिला एक में/ पेय नूतन बना मूल्य सर्जन किया।"

आधुनिक मगरमच्छी आचरण ने ज़िन्दगी में अन्तर्विरोधी फासले पैदा कर दिए हैं। रोशनी की लहरों में भी आज आदमी का ज़हर घुल गया है। वर्त्तमान असंगत परिवेश की नंगई ने मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नाखूनों को मांस खरोंचना सिखा दिया है। समूचा निचोढ़ लेने की शोषण वृत्ति ने अंधी सुरंगों के आर-पार भौतिक ऐश्वर्य के लिए उसे आदिम, हिंसक मुखौटे में सभ्यता का नकाब दे दिया है। आधुनिकता का यही ज़हर साधन सम्पन्न वर्ग को समतावादी मुहावरों से नहीं जुड़ने देता। उसी का घिनौना परिणाम है कि इस मूल्यरोधी वातावरण में –

"एक जलता शहर हो गयी ज़िन्दगी,
आग का गुलमुहर हो गयी ज़िन्दगी!
हर तरफ है अंधेरी सुरंगें यहां
हैं भटकती हुई सिर्फ रूहें जहां।' (*वक्त की मीनार पर : पृ. 90-91*)

कवि अपनी आंखों से देख-परख कर अनुभव करता है कि जो इस समाज के वास्तविक निर्माणकर्त्ता हैं – उन्हें उसे भोगने का अधिकार प्राप्त नहीं है –

"निर्मित करते जो भाव नगर, भू पर भवनों के लिख अक्षर
झोपड़ियों में वे जाते मर......................................।" (*उदयाचल : पृ. 36*)

कवि मानवता के शाश्वत मूल्यों का समर्थक है और उसके चिन्तन की प्रक्रिया मानव होने के नाते उनसे मानवीय व्यवहार की अपेक्षा करती है –

"अपने युग-युग की परवशता में भूल गए जो हास रुदन
उन का भी है मानव का मन.......................।" (*पृ. 36*)

इस प्रशस्त पथ पर चलते हुए एक समय ऐसा आता है जब संघर्ष ही उस का एकमात्र लक्ष्य बन जाता है और उसमें विजयी होने के लिए वह अपने मन को शक्तिशाली बनाने के लिए सन्नद्ध हो उठता है। शनैः शनैः अर्जित शक्ति का घनत्व बढ़ता है और अन्ततः इतना सघन हो जाता है कि शोषित और पीड़ित मानवता, जीवन और समाज में व्याप्त विषमता का विरोध करते हुए विजय और नयी मानवता के गीत गा उठती है –

"समय की पीठ पर चढ़ कर, दिशाएं मोड़ने वाली
युगों की राह की बूढ़ी, शिलाएं तोड़ने वाली
लपट में जल नहीं सकती कि हिम में गल नहीं सकती
लहर पर सिन्धु की, पदचिह्न अपने छोड़ने वाली।"

इस मानवीय व्यवहार को मूर्त्त करने के लिए कवि अपनी ओर से श्रेणी-साम्य अर्थात् साम्यवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है –

"करने को वर्ग श्रेणि समतल, होने को है विस्फोट प्रबल
जिससे जग भीत, त्रस्त, चंचल.......................।" (*पृ. 42*)

श्रेणी-साम्य के सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने के लिए एक भीषण क्रान्ति आवश्यक है और कवि इसी भीषण क्रान्ति का उन्मुक्त प्रचारक है –

"अब अधिक न चल सकता मानव, मानव के लिए सिर पर पद रख कर
सुनना होगा जीवन का स्वर.........।" (*पृ. 41*)

भीषण क्रान्ति का प्रबल इच्छुक होते हुए भी कवि जब साधनों का मूल्यांकन करने लगता है तब उसे निराशा ही हाथ लगती है। चूंकि क्रान्ति के आकांक्षी वर्ग के पास साधनों का एकांतिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभाव तो है ही, कोई दिशा देने वाला शक्तिशाली सहायक भी नहीं है। यदि उनके पास है तो केवल मात्र जीवट तथा कुछ प्राप्त कर लेने का संकल्प –

"न पास स्वर्ण की तरी/ न पास पर्ण की तरी
न आस-पास दीखती/ कहीं समुद्र की परी
अधर सामने/ मगर न हार मानना
असीम शक्ति बाहु में/ अनन्त स्वप्न के व्रती।" (*पृ. 20*)

इसी जीवट और दृढ़ संकल्प के बल पर कवि उस भीषण क्रान्ति का स्वप्न संजोता है –

"जिन की छाया में मरण आज के क्षण भी पावन पर्व बने
मां एक होंगे वे ही सपने.......।" (*पृ. 46*)

कवि ऐसी क्रान्ति नहीं चाहता जिसमें लोक-कल्याण की पावन भावनाएं विस्मृत कर दी जाएं, वह ऐसी क्रान्ति का आकांक्षी है जिसमें शक्ति के साथ-साथ लोक-कल्याण की भावना भी निहित हो –

"क्रान्ति को सतत पुकारता/ शान्ति को मगर दुलारता
स्वप्न सत्य को संवारता......
शक्ति भर जीवन संभाले/ भार पर्वत सा उठा ले
और दुनिया को बचा ले........।" (*पृ. 57*)

प्रकृति और जमीन से अपनी काव्यानुभूतियों के रेशे बुनते हुए डॉ. सिंह बड़ी खूबी से अतीत और इतिहास के घेरे में उतरते हैं और एक मोहाविष्ट कवि की तरह वे भी इतिहास की छायाओं को गीत में उतारने का मोह संवरण नहीं कर पाते। 'कोणार्क में नए वर्ष का प्रथम दिन' तथा 'उत्खनन' में उन्होंने ऐसी ही काव्यानुभूतियों को सहेजा है –

"नमक की हवाएं टकराती हैं
अब भी कोणार्क से
गुमसुम सातों घोड़े ताक रहे,
सूरज की ओर धंसी आंखों से।" (*वक्त की मीनार पर : पृ. 41*)

कोणार्क के सिन्धु तट पर ही रची गई कविता 'समुद्र की सांसें' में गिरजा कुमार माथुर ने समुद्र में प्रेयसियों के सीनों के डूबने की परिकल्पना की है तथा लहरों में हंसती पुकारों के झीने झाग का दर्शन किया है। परंतु दृश्य बंध की दृष्टि से शंभूनाथ सिंह का गीत माथुर की कविता से अलग और नए किस्म का आस्वाद देता है। इसी गीत में 'तट पर दुपहरिया के फूल' (*पृ. 41*), 'सूरज के सातों घोड़ों की धंसी आंखों' (*पृ. 41*) तथा 'रेती पर खुले जाल से मछुओं के गान' (*पृ. 41*) जैसे बिम्ब कविता की दृष्टि से मूल्यवान तथा अछूते हैं।

पर ऐसा नहीं है कि इन पंक्तियों-सा कसाव हर गीत में मिले। यहां कई गीत ऐसे भी हैं जिनमें वे महज ब्यौरेवार चीजें गिनाते हैं जो आधुनिकता के सामानों की फेहरिश्त-सी लगती हैं - सार्थक काव्यानुभूतियों की बुनावट नहीं।

डॉ. शंभूनाथ के गीत आज की वैज्ञानिक तथा तज्जन्य शहरी सभ्यता एवं सांस्कृतिक प्रदूषण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के खतरे से बराबर आगाह करते हैं - 'अंत होना चाहिए' (*पृ. 63*) गीत में यातना के शिविर में तब्दील होते शहर तथा आयातित मशीनरी से पैदा हुई यांत्रिकता की भयावहता को वे न केवल रेखांकित करते हैं बल्कि दृढ़ता से खारिज करते हैं। उनके कतिपय गीतों में विज्ञानजन्य विकृतियों की आलोचना लक्षित की जा सकती है। महानगर कभी उन्हें जंगल से दिखते हैं, कभी जलते हुए, कभी अजनबी से, जहां मिले हैं, चिमनियां हैं, रेलें हैं, ओवरब्रिज हैं, गैस के भभूके हैं, चिड़ियों की जगह जहां हवा की हंसी है - दहशत है - सभ्यता जहां वहशीपन है और आदमी सबसे अलग-थलग पत्थरों में जड़ा-सा है। गरज यह कि जिंदगी एक जलते हुए शहर में तब्दील हो गई है। पर, विसंगति यह कि कवि ने सारी उम्र शहर की उम्रकैद में ही काटी है। न खोने, न पाने की निस्संगता उसमें अशेष है। उसके समक्ष "लिखने के लिए कितनी ही चुनौतियां हैं/ कहने के लिए कितनी ही कहानियां हैं - कितनी सदियां अभी गुजरनी हैं, मुझको बातें हजार करनी हैं।" (*पृ. 72*)

चुनौतियों के इस स्वीकार में रेशा रेशा गाता है लेकिन कसैली जीवन स्थितियां तो घड़ी की सुइयां बनी हुई हैं। वही बेस्वाद जीवन कैलेण्डर की तारीख सा। टेबल पर रखे धूल से पेपर वेट सा, खुद ही अपने आप को इधर से उधर, उधर से इधर ज़िन्दगी के जंग लगे पृष्ठों पर भार सा लद जाता है। आधुनिक प्रौद्योगिकी के दबाबों ने मानव को पूरी तरह चटखा दिया है। खालीपन के प्रहरी हम अपनी रक्षा के लिए जूझ रहे हैं जो रक्षणीय नहीं है। जीवन की इन ऊबीली थकान, अविश्वास, असुरक्षा के बावजूद हमारा मशीनीपन आचार-व्यवहार लाचार ज़िन्दगी ढोता बिना इलाज के झटक झटक सिसकियां लेता चलता रहता है। संत्रास के इस 'अभिशप्त अरण्यकांड' की आक्रोशमुखी आक्रामक हरकतों को कवि आधुनिक संस्कृति से जोड़ कर गुर्राते जीवन की छीना-झपटी को आकार देता है –

"यह अरण्य काण्ड नये युग की रामायण का,
सभ्यता जहां वहशीपन है... ...
भाग दौड़ में केवल मरने की फुरसत है... ...।" (*पृ. 59*)

इस जंगल मानसिकता के बावजूद कवि के रचना संस्कार हरी दूब को आस्था-विश्वास से जोड़ते हैं। उसके गंवई संस्कार, जनपदीय अनुभव विश्वास आदमी को मरने नहीं देते। रबड़ के खिलौनों की तरह खेलती ज़िन्दगी की त्रासदियों के बीच कवि वहां खड़ा है 'जहां उसे खड़ा' होना चाहिए। यही उसकी 'उपलब्धि' है। पर्त्त-दर-पर्त्त ज़िन्दगी के आधुनिक बोध को स्वीकारते हुए वह अपना विश्वास दोहराता है। सदियों से एक सूत्र में बंधी हमारी राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकता तमाम बदलावों, बिखरावों के बावजूद युगबोध के मस्तक पर हस्ताक्षर कर इतिहास रचती रही है –

"देश हैं हम महज राजधानी नहीं।
हम नगर थे कभी खण्डहर हो गये,
जनपदों में बिखर गांव घर हो गये,
हम जमीं पर लिखे आसमां के तले
एक इतिहास जीवित, कहानी नहीं।" (*पृ. 33*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसके लिए वह नवजागरण गान गाने को तैयार है। उस की दुर्बल काया में गज़ब का लचीलापन है। बड़े से बड़े तूफानों की मचलन में भी वह कचनार की तरह लहक जाता है। संकल्प-ओट में उस का राग दीप सिंह क्रीड़ा में विश्वास रखता है जो शोषितों के लिए नख दंती लावा और अंधकार के लिए जुगनु-मन हैं –

"जीवन की चिता पर अग्नि
ज्वाला जब बने परिधान
तब भी गा सकूं मैं गान....।" (*उदयाचल : पृ. 20, 23*)

शृंगार : आत्म विस्मरण

शम्भूनाथ सिंह के गीतों का प्रमुख विषय शृंगार ही रहा है। शृंगार के संयोग एवं वियोग पक्षों के अन्तर्गत कवि ने अपने वैयक्तिक प्रणय की भावाभिव्यक्ति कल्पना के इन्द्रधनुषी रंगों को बिखेर कर रची है। प्रणय-प्रेम के अनुभूतिजन्य शब्द-चित्र अंकित करते हुए कवि ने संयोग-सम्मिलन की तुलना में विरह के मार्मिक शब्द-चित्र खींचने को अधिक महत्त्व दिया है। जहां संयोग-सम्मिलन के चित्र उजागर हुए हैं वे मात्र अतीत स्मृति के रूप में उभर कर आए हैं अन्यथा कवि का प्यार भरी छलना से भरपूर वेदना से इतना अधिक प्रेम है कि वह उस वेदना और पीड़ा का ही सान्निध्य चाहता है। उस पीड़ा और मधुर वेदना पर कवि इतना आसक्त है कि उसे अंगीकार कर मुस्कुराते हुए सुख के प्रतिक्षण ठुकरा कर वह तम के पारावार से टकरा जाना चाहता है –

"अपनी पीड़ा पर मुस्काऊं, सुख को प्रतिपल मैं ठुकराऊं
जो उपर ही उठता जाय, दे दो जीवन-ज्वार मुझे
दो तम का पारावार मुझे।" (*रूपरश्मि, पृ. 43*)

क्रान्ति-गायक कवि सामाजिक कर्त्तव्य के मध्य अपनी व्यक्तिगत आवश्यकताओं को तिलांजलि नहीं देता वरन् उनके मध्य एक सेतु का निर्माण कर वह अपनी आत्मा और मन की पुकार को जगत् की अनिंद्य स्वप्न सुन्दरी प्रेयसी तक पहुंचाना नहीं भूलता –

"मैं तुम्हें बुलाता जाग-जाग ओ सपनों की रानी
दिशि-दिशि से मुझ को घेर घुमड़ आए तम के घन
झर-झर बेसुध करते मुझको सुधि से सुरभित जल-कण
चांदनी तड़पती होगी तुम लपटों की शैया पर.....
पर पहुंच न पाएगा तुम तक इन नयनों का पानी
मैं तुम्हें बुलाता जाग-जाग ओ सपनों की रानी।" (*दिवालोक, पृ. 9*)

कवि परम्परागत प्रेमियों की भांति अपनी प्रेयसी के मादक प्रेम की अनुभूति में मदहोश रहता है। स्वप्न के क्षण हों अथवा जागरण के पल वह निःसंकोच अपनी आत्म-विस्मरण की स्थिति स्वीकारता है –

"प्रात बन कर मुस्कुराती जा रही हो
स्वप्न मेरे सच बनाती जा रही हो।" (*पृ. 29*)·

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि के प्रेम की अपनी एक विशिष्ट अर्थवत्ता है वह जानकी वल्लभ शास्त्री के प्रेम की भांति ऋणात्मक नहीं है और न ही वह कवि की अदम्य शक्ति के वेग को अवरुद्ध करता है। चूंकि यही पावन-प्रेम कवि को वास्तविक जीवन जीने की कला सिखाता है –

"गति से भर जाते शिथिल चरण
* * *
खोई दुनिया मिल जाती है
जब तुम्हें देख लेता हूं।" (*पृ. 14*)

प्रेम की यही प्रेरणा कवि के प्रेम को मानवीय धरातल से ऊपर उठा देती हैं और वह अपने प्रेम का उन्नयन कर उसे दैवी धरातल पर प्रतिष्ठित कर देता है। यहां आकर कवि क़ी रूपसी-प्रेयसी मांसल जगत् की सीमाओं का अतिक्रमण कर उसकी 'प्रिया' न रहकर 'आराध्या' हो जाती है (*पृ. 17*)। इस के बावजूद कवि में शृंगार के मांसल संसर्ग की भावाभिव्यक्ति का उछाह बराबर बना रहता है। बाह्याचार की इस शारीरिक अभिव्यक्ति में मधुर प्रेम-तत्व की अवहेलना हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अधरों का स्पर्शजन्य अनुभूतिमय चुम्बन निरन्तर अपनी झंकार देता है (*पृ. 36, 38*)। प्रेम में वेदना के दंश से कवि सर्वथा मुक्त नहीं है जहां प्रेम होगा वहां स्वभावतः पीड़ा भी कभी-न-कभी होगी। प्रेम की इस पीड़ा में कवि को भी अश्रुओं की आरती सजा कर नीरव दीपक की भांति जलना-गलना पड़ा है –

"प्रेम का था देवता बनने चला मैं
पर गया संसार से कितना छला मैं
आरती अपनी संजो निज अश्रु से ही
एक जड़ पाषाण प्रतिभा-सा गला मैं।" (*पृ. 29*)

प्रेम के इस वेदनामय विषाद ने उसके एकाकीपन को और अधिक मुखर कर दिया है। प्रेम पन्थ पर चलते हुए लक्ष्य की ओर निरन्तर कदम बढ़ाता कवि-मन संसार के लोक-कल्याण को विस्मृत नहीं करता। यही इस प्रेम की विशिष्टता है, वह निरन्तर गहरा होता जाता है –

"काल के पंथ पर संभलता चल रहा मैं....मिट रहा पर दे रहा हूं ज्योति जग को
किन्तु है मिटता नहीं मेरा अंधेरा।" (*पृ. 6*)

जमीनी गंध : लोकोन्मुख संस्कार

शंभूनाथ सिंह ने प्रकृति को सहज भाव से ग्रहण किया है। प्रकृति के प्रति अतिरिक्त दुलार इनके गीतों में नहीं है। विशुद्ध मानवीय भावों से आरोपित प्रकृति-चित्रण के कतिपय सामान्य चित्र इनके गीतों में उपलब्ध हो जाते हैं। नयी कल्पनाओं से रंजित प्रकृति-सौन्दर्य के सहज चित्र भी इनके गीतों में परिलक्षित किए जा सकते हैं –

"भर गया सजल घन से नभ का सूना आंगन
सूने नयनों में उमड़ पड़े दो भरे नयन।" (*पृ. 3*)

आलम्बन रूप में शुद्ध प्रकृति-चित्रण इन्होंने प्रसन्न मुद्रा में अंकित किया है। इनके इस शुद्ध प्रकृति-चित्रण पर शृंगार की छाया है (*पृ. 62*)। प्रकृति का उद्दीपन रूप मधुर स्मृतियों को उद्दीप्त कर भावातुर मन को रूपसी-प्रेयसी के समीप ले जाता है जहां कवि को रसीली प्रिया के दो बड़े-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े नयनों का स्मरण हो आता है (*पृ. 3*)। एक ओर यदि प्रेयसी के काले-काले मादक दृग युगल उसकी भावना को विस्तार देते हैं तो दूसरी ओर क्षिति और गगन को आलिंगन पाश में बंधा देख कर कवि-मन के अभाव नुकीली चुभन बन जाते हैं –

"धुले आकाश में यह चांदनी छाई
किसी को स्वप्न में जैसे हंसी आई
वहां आकाश धरती मिल रहे हंस-हंस
यहां मैं और मेरी मौन परछाई।" (*पृ. 5*)

प्रकृति-परिवेश से जुड़ी तथा कवि की स्मृति में हमेशा जीवंत रहने वाली जमीन की गंध को गीतों में महसूस करते हुए हम पाते हैं कि प्रकृति से, लोक परिवेश से उन की अतरंगता का कारण महज कविता को जनोन्मुख बनाना नहीं है बल्कि रचना को हर इकाई तक सम्प्रेष्य बनाना. है। यात्रा के उत्तरार्ध में आकर कवि प्रकृति को पूरे आवेग/तन्मयता से पकड़ना चाहता है। क्योंकि प्रकृति उसकी काव्यानुभूति का माध्यम है, जिसके सहारे वह अभिव्यक्ति की कलात्मक भित्ति निर्मित करता है। परिवेश के चाक्षुष अनुभवों/स्मृति छायाओं को कवि ने कविता में उतार कर जैसे कागज पर 'लैंडस्केप सा' खींच दिया है।

'गिलहरी' शीर्षक गीत भी जाड़े के मौसम का एक दुर्लभ एवं जीवंत चित्र उपस्थित करता है। गिलहरी की हर गतिविधि दर्ज करते हुए प्रस्तुत यह चित्र योजना हमें वस्तु-जगत के करीब ले जाती है। इर्द-गिर्द की प्रकृति को ही रचनाकार बना कर वन कन्या की विछोह व्यथा को डॉ. सिंह 'देखेगा कौन' में तन्मयता से उठाते हैं।

लोकोन्मुखता की प्रकृति का यह संस्कार 'अभिशप्त' शीर्षक गीत में भी है जहां कवि आदिवासी जीवन की प्रफुल्लता देख कर न केवल आकृष्ट होता है बल्कि अपने जीवन में उसके अभाव को रेखांकित करता है। उसे लगता है अपने सीमित संसाधनों के बावजूद जो सुख इन्हें हासिल है वह कवि की मध्यवर्गीय जिंदगी में गैर हाजिर है। उसे लगता है, बकौल कवि, "कितना अभिशप्त मिला जीवन/ पायल न हुआ, झूमर न हुआ/कजरी न हुआ/ भीतर जो था, बाहर न हुआ" (*वक्त की मीनार पर : पृ. 11-12*) कितना सच है कि बड़े सुख-बड़ी महत्त्वाकांक्षाओं के लिए संघर्षरत व्यक्ति आज छोटे-छोटे सुखों से वंचित है (*हिन्दुस्तान : 6 मई 1990 (ओम निश्छल)*)।

शैल्पिक आंगन

शैल्पिक दृष्टि से शम्भूनाथ सिंह की प्रारम्भिक गीत-सृष्टि छायावादी मधुरता, सरसता एवं संगीतात्मकता से प्रभावित है। गीत-रचना के परवर्त्तीकाल में कवि प्रगतिवाद की ओर उन्मुख हुआ है, इस कारण उनकी उत्तरकालीन गीत-रचनाओं में स्पष्टतः शिल्प-विषयक साज-सज्जा का अभाव देखा जा सकता है।

कतिपय स्थानों को छोड़ कर इनका अप्रस्तुत-विधान प्रायः रूढ़ और परम्परानुमोदित है लेकिन कहीं-कहीं परम्परागत क्षेत्र में भी कवि ने सुन्दर प्रयोग किये हैं। ऐसे स्थानों पर विशेष कर कवि के परम्परित रूपक-चित्रों का मूल्यांकन किया जा सकता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मुस्काऊं नयन कमल/ खुल जाएं उर के दल
लहराए जीवन, हट/ जाएं तम के बादल।" (*उदयाचल : पृ. 2*)

नैसर्गिक क्षेत्र से आलोच्य गीतकार ने कहीं-कहीं सुन्दर उपमानों का चयन किया है (*पृ. 29*)। 'मेघदूत' के विरह विमर्दित यक्ष का उपमान स्वरूप प्रयोग उत्कृष्ट है –

"दूर तुम से हुआ यक्ष मैं हूं, मुझे
शापमय, याद्र, वरदानमय विस्मरण
स्वप्न की रात है, सत्य के प्रात क्षण।" (*दिवालोक : पृ. 2*)

आधुनिक नागर जीवन से भी उन्होंने कुछ सटीक उपमानों को ग्रहण किया है –

"हाल बीच में सन्नाटे में ज्यों गूंज उठे आवाज़
झपकी दुनिया में वैसी भभक उठी तुम आज।" (*पृ. 45*)

एकाधिक स्थानों पर विरोधी विशेषणों को प्रयुक्त कर भाषा में चमत्कार वक्रता उत्पन्न करने का प्रयास सराहनीय है जो निश्चय ही छायावादी कला (*पृ. 3*) के उत्कृष्ट उदाहरण कहे जा सकते हैं।

डॉ. शंभूनाथ सिंह के अनुसार - "नवगीत पूर्णतः बिम्बधर्मी काव्य है। उस की बुनावट बिम्बों के ताने-बाने से हुई है किन्तु उसके बिम्ब पूर्ववर्ती कविता के समान अलंकृत, रूढ़ अथवा काल्पनिक नहीं हैं। उसमें या तो ऐसे अप्रतिभ बिम्बों का प्रयोग हुआ है जो पश्यन्ती, वाक् के स्वर पर अभिव्यक्त होने के कारण सर्वथा नवीन, अछूते और अकल्पनीय हैं या उसमें अधिकतर यथार्थ जगत के अनुद्घाटित आयामों के अप्रयुक्त बिम्ब प्रयुक्त हुए हैं जैसे वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र के जीवंत बिम्ब, महानगरों के त्रासद और नाटकीय बिम्ब, उपचेतन के अंधकार में निहित वासनाओं के छद्म रूपों के खंडित एवं प्रतीकात्मक बिम्ब तथा राजनीतिक-सामाजिक असंगतियों और विडम्बनाओं के सांकेतिक और ध्वन्यात्मक बिम्ब। इन बिम्बों की पहचान ही नवगीत की सही पहचान है।"

लोकगीतों की धुनें मुखर हैं। लोक-संगीत में बंधी सार्थक धुनों में मन को आकर्षित करने की अद्भुत सामर्थ्य है –

"टेर रही प्रिया तुम कहां
किस की यह छांह और किसके ये गीत रे
बरगद की छांह और चेता के गीत रे
सिहर रहा जिया तुम कहां?" (*नयी कविता : अंक- 1, पृ. 54*)

छायावादी प्रभावों ने शंभूनाथ की भाषा को जहां मधुरता, सरसता तथा संगीतात्मकता प्रदान की है वहां नये युग की मांग ने उसे सहज बोधगम्य भी बने रहने दिया है। अपवादों को छोड़ दिया जाए तो उनकी भाषा, उनका शब्द-चयन इस क्षेत्र में उनकी दक्षता और सफलता ही सूचित करता है। छायावादी प्रभावों के अतिरिक्त कवि ने अपनी अभिव्यंजना को यदा-कदा उर्दू कविता के सांचे में ढालने का प्रयत्न किया है और उर्दू ग़ज़लों तथा शेरों की सी उक्ति की खूबी भी लाया है किन्तु यह प्रक्रिया उसकी मूल अभिव्यंजना-पद्धति से मेल नहीं खाती है। कतिपय गीतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लोकभाषा का पुट दिया गया है और उन्हें लोक-संगीत की लयों में बांधने की चेष्टा की गई है जो आकर्षक प्रतीत्त होती है। कवि के शब्द-शिल्प तथा बिम्ब-विधान में भी छायावादी प्रभावों का स्पष्ट योग है। गीतों के अतिरिक्त कवि ने मुक्त छंद और प्रगीत तथा लम्बी कविताओं पर भी लेखनी चलाई है पर इन क्षेत्रों में आलोच्य कवि को गीतों की-सी सफलता नहीं प्राप्त हो सकी। अपनी भाव-प्रवणता, अनुभूतिमयता तथा सहज कल्पना के कारण उसके कुछ गीत तो नव्यतर गीत-कविता को उसकी महत्त्वपूर्ण देन माने जा सकते हैं। 'समय की शिला पर', 'सुधि का सावन' जैसे गीत इसी प्रकार के हैं (*दृष्टव्य : डॉ. शिव कुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य : पृ. 316*)

बाद के गीतों की भाषिक संपन्नता पर गौर करने के पूर्व यह कहना जरूरी होगा कि कवि लोकोन्मुख संस्कृति एवं विचारों में भारतीयता का समर्थक है तथा सौभाग्य से ऐसे तत्वों की उपस्थिति रचनाओं में लक्षित की जा सकती है।

शब्दों के चयन पर गौर करें तो पाएंगे कि शंभूनाथ सिंह ने गीतों में न केवल अपने चिर-परिचित शब्दों से काम लिया है बल्कि कतिपय पूर्व प्रतीकों/बिम्बों को भी पुनः रचनाधार बनाया है/अथवा ज्यों का त्यों उठा लिया है। डॉ. सिंह की काव्यभाषा को देख कर यह कहना प्रासंगिक लगता है कि वे दुहराई गई संज्ञाओं के बार-बार प्रयोग का मोह छोड़ नहीं पाए हैं जो अब लगभग उनके लिए एक काव्य-रूढ़ि-सी बन चुकी है। यह रूढ़ि कविता के स्थापत्य की दृष्टि से घातक है जिसे न केवल शंभूनाथ सिंह को बल्कि उनके अन्य समकालीनों को भी तोड़ना होगा।

बावजूद इसके डॉ. सिंह ने अपनी सीमित शब्दावली से गीतों में असरदार क्षमता पैदा की है, इसमें संदेह नहीं। कई गीतों में उन्होंने सर्वथा नए और अछूते प्रतीक भी दिए हैं, साथ ही नए शब्द भी जो कम से कम उनके गीतों के लिए तथा काव्य निर्मिति की दृष्टि से नए हैं। हां, अधिकांश रचनाओं का पैटर्न प्रकृत रूप से गीतात्मक ही है, यह और बात है कि उन्हें नवगीत कह कर पेश किया गया है। हालांकि यह बात तत्वतः मायने नहीं रखती कि कौन रचना कितना-नवगीत है, कितना गीत, यह बात तो खसरा-खतौनी रखने का दावा करने वाले ही बता सकेंगे। (चूंकि नवगीत के प्रतिमान अभी तक निर्धारित नहीं हो पाए हैं और यह शब्द भी अब अपनी अर्थवत्ता खोकर मात्र आंदोलन का पर्याय बन चुका है) - मूल्यवान होता है उसका कथ्य - और इस दृष्टि से सादगी के साथ प्रस्तुत डॉ. सिंह के गीतों को न केवल सराहना मिलेगी बल्कि उन्हें वे सभी चुनौतियां भी झेलनी होंगी जो आज की कविता के समक्ष मौजूद हैं। यह आकस्मिक नहीं कि वे स्वयं चुनौतियों के मुकाबले के लिए प्रतिश्रुत दिखते हैं (*दृष्टव्य : दैनिक हिन्दुस्तान : 6 मई 1990* (ओम निश्छल)।

गेयता, संक्षिप्तता, तीव्र भावों का संवेग और गहरी आत्मीयता इनके गीतों में हर जगह मिलती है। आज के जीवन में जहां व्यक्ति स्वभाव से ही युग के संघर्षों से थका हुआ क्षीण दिखाई देता है, बहुत थोड़े से ऐसे कवि हैं जो हमारे मन में जीवन के प्रति आस्था और विश्वास के भाव पैदा करते हैं "शंभूनाथ सिंह की सुख-दुःखात्मक अनुभूतियों में जीवन के प्रति स्वस्थ आस्था और विश्वासपूर्ण प्रेम की भावना है। यथार्थ का चित्रण करते हुए भी कवि हमें जीवन के संघर्षों से विरक्त नहीं करता" (*डॉ. रमाकान्त शर्मा : छायावादोत्तर हिन्दी कविता : पृ. 402-403*)। उनके गीतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में अटूट आस्था का स्वर विद्यमान है। वे मात्र गीतों को ही काव्य-विधा मानने वालों में नहीं हैं। वे ध्वनियों और लयों के निरन्तर खोजी और सफल उपयोक्ता हैं। इन्होंने गीत, लम्बी कविताओं और मुक्त रचनाओं सभी में अपने प्राण उड़ेले हैं। प्रणय के भाव मधुर गीतों के धरातल से उठ कर सुधार की पथरीली, ऊबड़-खाबड़ भूमि की ओर बढ़ रहे हैं।

अन्तर्दृष्टि : शिविरधर्मी गुटीय आचरण

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'रूप-रश्मि' की विरह-साधना से प्रारम्भ शम्भूनाथ सिंह का कवि-जीवन मंजिल-दर-मंजिल अपने नए विकास की सूचना देता रहा है। उनके काव्य में यदि एक ओर प्रणय-जनित व्यथा का विह्वल रोदन है तो दूसरी ओर आशा, उल्लास, रूप तथा यौवन के प्रति एक तीव्र और आकुल आकर्षण भी। यदि उनका कवि नितान्त वैयक्तिक होकर 'रूप-रश्मि' का सृजन करता है, नितान्त कल्पनाशील होकर 'छायालोक' की छायाओं के पीछे घूमता है तो 'उदयाचल' के रूप में मानव और मानवता के प्रति उतना ही तीव्र आकर्षण व्यक्त कर वैयक्तिकता की सीमाओं से छूट निकलने की सूचना भी प्रसारित करता है और 'मन्वन्तर' में प्रचारक बनने तथा 'दिवालोक' में प्रणय बनाम सामाजिकता के द्वन्द्व से ग्रस्त होने के बावजूद भी मानव-जीवन तथा मानवता के प्रति अपनी निष्ठा नहीं छोड़ता, वह अन्त तक उसके साथ रहती है (*दृष्टव्य : डॉ. शिवकुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य, पृ. 316*)।

यात्रा के इस क्रम में 'माध्यम मैं' की नयी कविताएं और नये गीत, 'खंडित सेतु' की नयी कविताओं को दरारतें यथार्थ से जा कर टकराते हैं। द्वन्द्व, टकराहट को इसी बुनावट पर तद्युगीन समय के नियति-चित्र अपने पूरे आकार में साकार होकर व्यक्ति जीवन के कथा सूत्रों को समेटते चलते हैं। 'समय की शिला पर' अंकित प्रतिनिधि गीत 'जहां दर्द नीला है' की वेदनामुखी प्रतीतियों का स्वर संधान करते हुए क्षण क्षण नियति को भोगते संग-संकल्प भाव से समय के हस्ताक्षर लेकर 'वक्त की मीनार पर' पहुंच कर ही दम लेते हैं।

डॉ. सिंह ने बच्चन काव्य में आए मानववाद को अधिक स्वस्थ, प्रकृतिस्थ एवं कलात्मक रूप में ग्रहण किया है। बच्चन का मानव भूखा, प्यासा है जिसे समाज से घोर असन्तोष है, क्योंकि समाज के वृद्धजनों को उसकी जवानी अखरती है, उसका स्पष्टवाद और सहज ग्रहण चुभता है जबकि डॉ. सिंह के मानव के सामने वैसी प्रतिरोधी दीवालें नहीं हैं अथवा उन दीवालों के प्रति उतने तीखे रूप में प्रतिक्रियामाण नहीं है। इसी से उन्होंने समाज पर व्यंग्य नहीं किये वरन् अपने प्रीति-प्रणय- भाव को सुव्यवस्थित एवं परस्पर सुनियोजित करने के प्रति वे अधिक सजग दिखाई पड़ते हैं (*दृष्टव्य : डॉ. त्रिभुवन सिंह : आधुनिक हिन्दी कविता की स्वच्छन्द धारा, पृ. 182*)। बच्चन का प्राणी सशंक, निराशावादी अतः एक त्राण-कुन्ज के निरन्तर शोध में संलग्न दिखाई पड़ता है, पर शम्भूनाथ सिंह का प्रेमी प्राप्त को ही अधिक प्राप्य और सुन्दरतर बनाने को समुत्सुक है, कदाचित् इसीलिए उनका प्रेमी प्यास को मधुरतर बनाता और भूख को परिशोधित करता दिखलाई पड़ता है।

गीतेतर रचनाओं में गीतों की सी सफलता न मिलने पर भी शंभूनाथ सिंह एक कुशल गीत-शिल्पी हैं। इनके गीतों में हृदय की भावुकता का निर्बाध स्रोत सोता है। समृद्ध बहुरंगी कल्पना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के योग से गीत और अधिक आकर्षक बन गए हैं। उनकी सामाजिक-चेतना समन्वित अनुभूति युगानुकूल लचक के साथ ऐसे विषयों को समाहित करती चली है जिसकी मांग तत्कालीन परिस्थितियां कर रही थीं। वह एक भाव प्रवण, सशक्त एवं जागरूक कवि हैं, विषय वस्तु एवं रचना शैली की दृष्टि से वे अपने युग की सभी धाराओं, छायावाद, प्रगतिवाद, प्रयोगवाद, नवगीत से संगति बैठा सकते हैं। उनकी विशेषता यह है कि वे अपनी अपेक्षा समाज के प्रति, कवि की अपेक्षा पाठक के प्रति, उच्छृंखलता की अपेक्षा मर्यादा के प्रति अधिक जागरूक, ईमानदार एवं आस्थामान हैं जबकि अनेक प्रगतिवादी और प्रयोगवादी साथी इसी दोष के कारण उन्हें भली-भांति अपना नहीं पाते। कहना न होगा कि भाव-प्रवणता, अनुभूतिमयता एवं कल्पना की सहज रंगीनी ने उन्हें हिन्दी के महत्त्वपूर्ण गीतकारों की पंक्ति में प्रतिष्ठित किया है।

शंभूनाथ सिंह के व्यक्तित्व का एक दूसरा पक्ष-पहलू भी है जो लेखन के दौरान सामने आया। उनके असाहित्यिक आचरण और असहयोगी रुख को देख कर मैंने उन के एक पत्र के उत्तर में उन्हें एक खुला पत्र लिखा था जो लगभग हर गीतकार के पास भेजा गया। उस पत्र के जबाब में मुझे बहुत तल्ख़ प्रतिक्रियाएं प्राप्त हुईं जो उन के समकालीन वरिष्ठ एवं नयी पौध के गीतकारों की थी। सर्वश्री नीरज ने लिखा "श्री शंभूनाथ सिंह के नाम आप का खुला पत्र पढ़ कर अच्छा लगा। यह व्यक्ति अत्यन्त कुंठाग्रस्त, अर्थलोलुप और षड्यन्त्रकारी हैं......।" (*2 जुलाई 1987 का पत्र*)। पं. मधुर शास्त्री ने लिखा "डॉ. शंभूनाथ सिंह सिद्धान्तहीन व्यक्ति हैं। मैं उन्हें पिछले तीस वर्ष से जानता हूं.....।" (*31 मई 1986*)। श्री चक्रधर नलिन की प्रतिक्रिया थी - "डॉ. शंभूनाथ सिंह गीतकार नहीं गीतों के व्यापारी हैं। गीत उनकी रोटी, साधना या समर्पण नहीं....।" (*28 सितम्बर 1987*)। सबसे तल्ख़ प्रतिक्रिया श्री रमेश रंजक की थी - "शंभूनाथ सिंह है क्या? वे गीत के स्वयंभू गाड फादर तो दूर स्वयंभू लूजर फादर इनलॉ भी नहीं हो सकते। उन्होंने गीत को कुछ दिया है क्या?...।" (*23 जून 1986*) इसी तरह की असंख्य प्रतिक्रियाएं मुझे प्राप्त हुईं। सभी प्रतिक्रियाओं को देना यहां संभव नहीं है। इस से इतना तो निश्चित है कि शंभूनाथ सिंह का रचना व्यक्तित्व अन्तर्विरोधी असाहित्यिक आचरण का दास था। मार्च 1991 के 'मधुमती' में डॉ. सिंह का एक साक्षात्कार प्रकाशित हुआ था जिस की सहज प्रतिक्रियाएं भी बड़ी तल्ख़ थीं। इस साक्षात्कार में इन्होंने कवि-सम्मेलनीय गीतकारों को नगण्य कहा लेकिन उसी कवि-सम्मेलन के लिए डॉ. सिंह सदा प्रयत्नशील रहे। स्वयं को प्रस्थापक और नवगीत का रामचन्द्र शुक्ल समझने वालों की आज अच्छी खासी भीड़ है। इस साक्षात्कार में डा. सिंह ने बच्चन को व्यक्ति, परिवार और योनि के यथार्थ से जोड़ दिया जबकि स्वयं शंभूनाथ जी ने उस समय ऐसे ही प्रेम गीत पढ़ कर मंच पर प्रसिद्धि पाई। गीत की रसध्वनि की उपेक्षा करते हुए नरेन्द्र शर्मा को अश्लील गीतकार बताते हुए डॉ. सिंह हिचके नहीं, आश्चर्य है? इस दृष्टि से कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी, जयदेव आदि अनेक गीत कवि अश्लील सिद्ध कर दिए। डॉ. सिंह के अनुसार डॉ. राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने गीत ही नहीं लिखा। इस प्रकार वे नवगीत के पुरोधा या प्रणेता नहीं हो सकते। इसे कुतर्क कहते हैं जिसके द्वारा एक असत्य से स्वयं को सत्य सिद्ध करने की चेष्टा की जाती है।

डॉ. सिंह को अज्ञेय में कलाकार नहीं दिखाई दिया। उस व्यक्ति की बुद्धि को क्या कहा जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति कुछ लोगों को मूर्ख बना सकता है परन्तु इतना यशोविस्तार प्रभावी व्यक्ति एक अच्छे ख़ासे पढ़े लिखे बुद्धि-जीवियों में जो प्रशस्त हो उसमें कलाकार नहीं हैं - इस वाक्य पर विश्वास करने वाला स्वयं को कला के आस-पास मानने में हिचकेगा, संकोच करेगा। हां, कला की परिभाषा ही बदल दो। जैसे भाषा के नाम पर एक तथाकथित चर्चित उपन्यास में मां को बाप की लुगाई कहा गया और इसे भाषागत यथार्थ से नवाजा गया। केशव और बिहारी के महत्त्व को नकारने वाला व्यक्ति कला की जिस परिभाषा में जीवित है, वह भी क्षणजीवी है।

इस 'अभारतीयता' शब्द ने भी शंभूनाथ जी को ऐसा जकड़ लिया था कि उन्हें बस स्वयम् में ही भारतीयता दिखाई देती थी। शैलीगत वैभिन्न्य होने पर भी व्यक्ति को ईमानदारी के साथ अपनी अभिव्यक्ति देनी चाहिए। कोटि कोई भी हो परन्तु कला के स्तर पर अज्ञेय की उपेक्षा खंभा नौंचना है। प्रभावित होना अनुकरण नहीं होता। गुप्त जी से प्रभावित असंख्य कवियों ने उन विषयों का स्पर्श नहीं किया। स्वयं को नवगीत का प्रवर्त्तक मनवाने के लिए आकाश-पाताली प्रयत्न है और दूसरी ओर अज्ञेय के प्रयोगवाद का नकार है। यहां उन्हें निराला याद नहीं आए। शंभूनाथ की यादाश्त बहुत कमजोर थी, वे यह भूल गए कि अज्ञेय से पूर्व 'तार सप्तक' जैसा प्रयास किसी ने नहीं किया था। यहीं पर इनका अन्तर्विरोधी साहित्यिक आचरण संदेह के घेरे में आ जाता है। नवगीत दशक महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक है 'तार सप्तक' नगण्य। बहरहाल इस प्रकार के साक्षात्कार मन की कुंठा, त्रास, हीन भावना या विश्वास साधना और वैचारिक उज्ज्वलता आलोकित करते हैं (*साक्षात्कार पर प्रेषित प्रतिक्रिया : डा. सुरेश गौतम, 'मधुमती' 4 अप्रैल 1991*)। आलोचक की दृष्टि में एक प्रसिद्ध साहित्यकार होने से पहले ईमानदार आदमी होना निहायत जरूरी है। बेईमान साहित्यिकता चिरजीवी नहीं होती। साहित्यिक स्वार्थ भी भ्रष्टाचरण का ही प्रच्छन्न रूप है। जो लोग अच्छा लिखते हैं उन के नाम गिनाने में भी कृपणता है, या कुंठा हो सकती है, कुछ अनुभवी इसे हीन भावानुभूति भी कह सकते हैं। आप किसी को भी उपेक्षित कर अपमानित करें और दूसरा आप पर सत्योपेक्षी पक्षपात का आरोप भी न लगाए - यह न्याय नहीं है। योग्य की विनम्रता अनादरणीय नहीं होती।

इन प्रतिक्रियाओं, मतभेदों, वैचारिक धारणाओं के बावजूद निष्पक्ष दृष्टि से बच्चनोत्तर गीत को एक नया सहज लावण्य प्रदान कर उसे गीत संस्कृति से जोड़ने वालों में शंभूनाथ सिंह को बिठाना होगा। डॉ. सिंह ने एक ओर अपना अकादमिक जीवन संयोजित किया दूसरी ओर गीत को तराशा। साहित्यिक सहजता के प्रांजल रूप को आकृति शंभूनाथ सिंह के गीतों में मिली। यद्यपि बलवीर सिंह 'रंग' और शंभूनाथ सिंह सर्वथा समजीवी रहे। मंच पर दोनों का अपना वर्चस्व था। रंग में गांव का भोलापन और डा. सिंह में चतुर नागरिकता दोनों की महक है। डॉ. सिंह ने गीत को संभाला-संवारा है। मनुष्य की प्रकृत अनुभूतियों को उन्होंने नयी पाठ शैली द्वारा नयी अभिव्यक्ति दी। वह गीतयुग था। गीत में कला के शिवत्व और सौन्दर्य के साथ दायित्व का बोध भी था। अनुभूतियों की तरलता व्यापक होती जा रही थी इसलिए अभव्यक्तियों में विस्तार की गुंजाइश होती गई। डॉ. सिंह ने छन्द और भाषा दोनों ही दृष्टियों से अनेक नये प्रयोग किए। गीतों में लोकगीत की परिमार्जित धुनों को सुसंस्कृत शैली में शब्दायित कर डॉ. सिंह ने एक नया द्वार खोला। 'ओ पिया' की टेर पर उस समय गीत लिखने का साहस डॉ. सिंह ने ही किया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस गीत को उन्होंने जब गाया तो प्रशंसा में नवगीत उच्चारित हुआ, हांलाकि इसमें दृष्टि सम्पन्नता नहीं थी। यह बात दूसरी है कि डॉ. सिंह जीवन-पर्यन्त इसी प्रयत्न में रहे कि उन्हें नवगीत का प्रवर्त्तक माना जाये।

डॉ. सिंह का दुर्भाग्य यह रहा कि जब वे गीत-शिखर परअपने गीत गुंजा रहे थे तभी न जाने उन्हें क्या सूझा बराबर की छोटी चोटी चोट कर गई। इस चोटी के आकर्षण में डॉ. सिंह शुभ्र शीतल, शुभ भारतीय गीत-शिखर का आदर ठुकरा कर नयी कविता की चोटी पर चढ़ने को लालायित हो उठे। नयी कविता की चोटी खुरदरी और संकीर्ण थी। पांव घायल हो गए और चोटी वालों ने इन्हें अपनाने के बजाय धकिया दिया। लौट कर वापिस आए और नवगीत के क्षेत्र में काम किया। इसमें कोई सन्देह नहीं डॉ. सिंह ने गीत को गरिमा और नवगीत को पांडित्य दिया। नवगीत की शास्त्रीय प्रतिष्ठा में डॉ. सिंह का योगदान महत्त्वपूर्ण है। डॉ. सिंह बुद्धिमान गीतकार थे। वे छन्द के क्षेत्र में भी प्रयोगधर्मी रहे। स्वर माधुर्य, छन्द की नूतन लयासक्ति, कंठगत संगीत की सहजता और सम्प्रेषणीयता ने डॉ. सिंह को एक सुपठित, सुमधुर, सुदर्शन और साहित्यिक गीतकार के रूप में बहुत शीघ्र लोकप्रिय कर दिया। पुराने गीतकार आज भी डॉ. सिंह के गीत-तत्व से प्रभावित पाये जाते हैं। उन की प्रतिष्ठा का मूल स्रोत वही गीत है 'समय की शिला पर मधुर चित्र कितने, किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये।'

डॉ. सिंह में मानवीय दुर्बलताएं भी थीं। हम इन दुर्बलताओं को मानवीय कह कर उपेक्षित कर देते हैं या दुर्बलता को प्यार करने लग जाते हैं। ऐसे अनेक गीतकार हैं जो देवत्व से भागते हैं। महान् मनुष्य होना देवता होना है। आज का मनुष्य महान् नहीं होना चाहता, कितना दुःखद आश्चर्य है। इस दुर्बलता के कारण साहित्य में अराजकता और निर्णयशून्यता का वातावरण बन जाता है। डॉ. सिंह ने स्वयं को प्रवर्त्तक सिद्ध कराने के लिए ऐसे चापलूस अनामधन्य लोगों को नवगीतकार कह कर अपने ग्रन्थों में सम्मिलित किया जिन में से अनेक आज भी नहीं जाने जाते और अनेक ईमानदार नवगीत साधकों को गुटपरस्ती के कारण छोड़ दिया। इस असाहित्यिक दृष्टि को लेकर लेखक का डॉ. सिंह से सीधा और मुखर विरोध रहा। उनके एक पत्र के उत्तर में मैंने एक खुला पत्र उन्हें लिखा था जो लगभग सभी गीतकारों को भेजा गया था। गुटबाजी और शिविरधर्मी आचरण में डॉ. सिंह प्रथम पंक्ति में रहे। साहित्यिक राजनीति की चौसर बिछाना वे खूब जानते थे। नवगीत को लेकर उन्होंने जी भर कर उठा-पटक की। जिस को जहां चाहा गोट की तरह उठाया-बिठाया और जिसको चाहा नवगीत की बिरादरी से बाहर फैंक दिया। इस स्वयंभू मसीहाई अंदाज ने उन्हें अहम्वादी बना दिया। यह व्यक्तिगत आक्षेप नहीं है क्योंकि इस सृजनशीलता के पवित्र कर्म में दुर्बलता को सबलता से धो डालना चाहिए था। तथाकथित नवगीत दशकों में अनेक नवगीतकार इसीलिए उपेक्षित है। डॉ. कुंवर बेचैन, डा. रवीन्द्र भ्रमर, चन्द्रसेन विराट् आदि के बिना क्या नवगीत दशक की सार्थकता की बात की जा सकती है? इन दिनों ऐसी क्षेत्रीय शिविर बद्धताएं, गुटपरस्ती ज़्यादा रंग दे रही हैं जो अपने क्षेत्र को ही प्रतिनिधि मान बैठती है। वह चाहे सृजन का क्षेत्र हो अथवा समालोचना का। आज आलोचक भी व्यक्तिगत होने लगे हैं। समकालीन साहित्य को लेकर ऐसी अनेक भ्रान्तियां प्रकाश में आ रही हैं। नवगीत के रूप में डॉ. सिंह की रचनाधर्मिता अभिनंदनीय है। वे काफी समय तक गीत की सेवा में रहे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसे प्रत्येक रूप में स्नेह देते रहे। गीत की शिला पर उन्होंने जो भाव-चित्र खींचा है उसे समय के हाथ नहीं मिटा सकते।

गीत गंधर्व : वीरेन्द्र मिश्र

कला और साहित्य के सम्बन्ध में आज जो कुछ सोचा जाता है उसमें पश्चिम का सोच तीन हिस्से से अधिक है। फ़ैशन यह हो गया है कि पश्चिम जिस ओर उंगली उठा देता है हमारा भारतीय विचारक ललचाई दृष्टि से उधर देखने लगता है। भारतीय सोच और दर्शन को अपनाने पर लोग पुरातनतावादी कहलाने लगते हैं, यह धारणा बलवती है। इस सारी प्रक्रिया के होते हुए भी जो गीतकार स्वयं को भारतीयता से जोड़े रहे हैं उनमें वीरेन्द्र मिश्र का नाम आदर से लिया जाना चाहिए।

मनोभूमि : मिट्टी और बीज

वीरेन्द्र मिश्र मंच के माध्यम से साहित्य तक पहुंचे हैं। उन की गीत यात्रा बच्चन के गीत-यौवन के साथ प्रारम्भ हुई। उन के प्रारम्भिक गीतों में प्रेम-प्रणय का स्वर उभरा है। हृदय की कोमल और रसिक भावनाओं को बड़े मिठास के साथ मिश्र ने गाया –

"मिल गए हो मददगार हम उम्र तुम
और क्या चाहिए था सहारा मुझे,
प्यार इतना मिला है तुम्हारा मुझे
जन्म लेना पड़ेगा दुबारा मुझे।"

इस तरह के गीतों में प्रणयाभिव्यक्ति अपनी सात्विकता को समेटे हुए है।

धीरे-धीरे यह प्रणय समय से आंख मिलाने लगा। देश में चारों ओर क्रान्ति का वातावरण बन गया था। गीत पर उसका प्रभाव होना स्वाभाविक था। यह क्रान्ति जहां राजनीति में थी वहां साहित्य और समाज में प्रगतिवादी विचारधारा का रूप लेकर एक नया स्वर गुंजित कर रही थी। छायावादी कल्पना के प्रति उपेक्षा और यथार्थ का जीवन इन गीतों में अभिव्यक्ति पा रहा था। मिश्र का प्रगति स्वर साहित्यिकता से मंडित रहा। स्वातन्त्र्योत्तर जो गीतकार मंच से अधिक सुने जा रहे थे उन में वीरेन्द्र मिश्र भी थे। इन की यह विशेषता रही कि वे सदा से प्रयोगोन्मुख रहे। उन का कंठ माधुर्यमय संगीत का लयधाम है। उन्होंने अपनी विशेष स्वर लहरी से गीत-देह का श्रृंगार किया। छोटे से छोटे और बड़े से बड़े मात्रिक छन्दों में उन्होंने अपनी विशिष्ट गायन शैली का परिचय दिया। शब्द संयोजन के साथ स्वर-संयोजन करते हुए वीरेन्द्र अपने गीत-शरीर को मंच पर प्रस्तुत करने में अत्यधिक कुशल हैं। यह भी सचाई है कि राजनीति, समाज या धर्म कोई भी क्षेत्र हो - किसी भी यथार्थ से इन्होंने मुख नहीं मोड़ा। चीन, पाकिस्तान युद्ध हो, अकाल हो, विदेश की कोई दुर्घटना हो, मंडेला हो या लूथर किंग - सभी की पीड़ा इस गीतकार में बोलती है नवगीत की मसीहाई लड़ाई में उनकी रुचि देख कर आश्चर्य होता है। गीत की देह को उन्होंने नवीनता दी इसमें दो राय नहीं। देह की नवीनता स्वीकृत होते हुए भी आज गीत की आत्मा के उत्थान की आवश्यकता है। वीरेन्द्र मिश्र साहित्यिक प्रयोगों में अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय रहे। इस कारण स्वयं को अभिव्यक्त करने में वीरेन्द्र सहज नहीं हैं। वीरेन्द्र में गीत के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्थान के लिए ललक है और गीतकारों के असहयोगी व्यवहार के प्रति चिन्ता भी। कठिनाई यह है कि ये सब दैहिक प्रयत्न हैं। देह की गूंज हलचल तो पैदा करती है लेकिन उसमें प्रगतिशील चिरन्तनता नहीं भरती। आज गीत की दशा के लिए स्वयं गीतकार भी अनेक अर्थों में उत्तरदायी हैं। अब तो पुरस्कार, राज्यसभा सदस्यता आदि ही इस आधुनिक साहित्य-साधना के चरम लक्ष्य हो गए हैं। प्राप्ति तिरस्कृत नहीं है, तिरस्कृत है वह प्रणाली जिस के कारण वह सही मनुष्य के लिए प्राप्ति सिद्ध नहीं हो पाती।

वीरेन्द्र मिश्र के गीत चरण हैं - 'गीतम', 'लेखनी बेला', 'अविराम चल मधुवंती', 'झुलसा है छायानट धूप में', 'धरती गीताम्बरा', 'शांति-गंधर्व', 'कांपती बांसुरी', 'गीत पंचम', 'उत्सव-गीतों की लाश पर', 'मुखरित संवेदन', 'वाणी के कलाकार', 'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' (सभी गीत-संग्रह), इसके अतिरिक्त गद्य एवं साहित्य चर्चा के अन्तर्गत 'पंख और पांखुरी', 'वीरेन्द्र मिश्र का गद्य लेखन (दो खण्ड), संगीत-रूपक (दो खण्ड), रूपक-संग्रह (तीन खण्ड), नाटक-संग्रह (तीन खण्ड), बाल-साहित्य की दृष्टि से दो खण्डों में गीत-संग्रह, दो खण्डों में काव्य-रूपक और एक प्रहसन प्रकाशित हो चुके हैं। दस गीत संग्रह - 'चार हंस ऽ ध्वनि दिशाएं' : 'सिन्धु भैरवी' (समुद्र), 'मेघ-मूर्च्छना' (वर्षा), 'स्मृति-गांधारी' (शोकांतिका), 'राग-यात्रा' (यात्रा), 'मंदिर-मंदिर झांझ वसन्ती' (ब्रज), 'अंतरा और अंतराल', 'मिश्र-जोगिया', 'अपनी धुन में', 'गा', 'ब्रह्म कमल का भ्रमरगीत', 'प्रेमालाप' आदि प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं।

मूक माटी का सच : चाक-चक्र

वीरेन्द्र मिश्र के गीत वस्तुतः आधुनिक गीत-पद्धति में संगीत के संस्कारों के साथ लिखे गये हैं। बौद्धिक व्यञ्जनाएं और निष्पत्तियां तो गीतों में हैं पर वे कवि की अनुभूति से प्रच्छन्न होकर आयी हैं। सतही बौद्धिकता से कवि बार-बार बचा है। इसीलिए इनके गीतों में एक साथ युग की कटुता, सन्त्रास और भोगे हुए यथार्थ का सुलझा हुआ आसव प्राप्त होता है। व्यंग्य वीरेन्द्र के गीतों को अनजाने ही प्रभावोत्पादक बनाता है। 'गीतम' के गीतों में भावनाओं की गंभीरता और सरल व्यञ्जना है। संगीत की सुबोध शैली का मिश्रण अनुभूति के स्तर को ताज़गी देता है। इस प्रवेश कृति में समकालीन संदर्भ-संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व समय की जिज़ीविषा को गीतात्मक वाणी देते हैं, भविष्यगत संभावनाओं को उकेरते हैं।

सामाजिक भावना से भरा हुआ कवि प्रत्येक चरण में मानवता को संवेदना की शक्ति से पहचानता है। कवि युद्ध का विरोध करता है और शान्ति का समर्थन। स्थान-स्थान पर देश के प्रति निष्ठा, पूंजीवाद का विरोध, विश्व-बंधुत्व की कल्पना और अमानवीय तत्वों का विरोध टपकता है। युद्ध के प्रति कवि की आवाज तीखी है –

"युद्ध का खेमा सजाते ही न रहना
एशिया की आन का भी ध्यान रखना।" (*गीतम, पृ. 126*)

कहीं कहीं पीड़ा और व्यथा की आकुलता को अकृत्रिम रूप से व्यक्त किया गया है। वहां भी थकान और ऊब को कवि राग-रागिनी के घोल में मिला देता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मेरी पीड़ा की गहराई मत पूछो तुम
इसमें दुनिया भर के सागर भर जायेंगे।" (*पृ. 106*)

'गीतम' ने गीतों की परम्परागतता को सुरक्षित रख कर भविष्यगत सम्भावनाओं को इंगित किया है।

'लेखनी बेला' में कवि ने नये क्षितिजों का संस्पर्श किया है। उस के स्वयं के शब्दों में विगत संग्रह की भांति इस संकलन में भी मृत्यु, निराशा तथा रीतिकालीन श्रृंगार-गंध से मुक्त गीतों द्वारा नये वातावरण का प्रभाव निवेदित हुआ है (*लेखनी बेला : भूमिका, पृ. 41*)। सामाजिक जागरूकता को नवीन अभिव्यक्ति से उजागर कर मानवतावादी गीतों के अमूल्य स्वर इस संग्रह की अतिरिक्त विशिष्टता है। इस संग्रह की 'मसूरी' और 'देश' रचनाएं काफी प्रसिद्ध हैं। 'मसूरी' में कवि की सहज अभिव्यक्ति दृश्य-प्रभाव क्षमता को रेखांकित करती है। 'मसूरी' एक ऐसी ही ध्वनि रचना है, जिसे मैंने रंगावलोकन तथा दृश्य-प्रभाव की एक ही कलम से उक्त प्रकृति-केन्द्र घूमते समय ज्यों का त्यों रेखांकित कर लिया था (*अविराम चल मधुवंती : 'यह सृजन', भूमिका, पृ. 3*)। इस रचना में प्रकृति के प्रति कवि का आन्तरिक अनुराग निर्व्याज रूप से फूटा है। प्रतीक और उपमानों का नवीन प्रयोग आकर्षक है – "ठंडक की अंगड़ाइयां/ गर्मी मेरी सांस में जैसे पत्ता एक ही/ कोई खेले ताश में।" (*पृ. 98*) 'देश' प्रस्तुत संग्रह की अन्य श्रेष्ठ रचना है। देश की सांस्कृतिक शान्तिप्रियता की पृष्ठभूमि में कवि ने अभी तक उपेक्षित अन्तर्राष्ट्रीय तत्वों को इस गीत में सशक्त वाणी प्रदान की है। इतिहास, भूगोल और राजनीति के स्तुत्य स्मारकों का स्पर्श कर आंचलिक सन्दर्भों का कुशल प्रयोग राष्ट्रीय संस्कृति का उज्ज्वल पक्ष प्रस्तुत करता है। पुनरावृत्ति आलोच्य कृति का बहुत बड़ा दोष है। प्रयोग के सम्बन्ध में भी गहरा स्वीकार ध्वनित नहीं होता।

'अविराम चल मधुवंती' में कवि की जूझने, टूटने और निर्मित होकर महकने की कला अनुभूति के स्तर पर एक ही बिन्दु पर कली से पुष्प बनी है। आलोच्य संग्रह की भूमि को कवि ने स्वयं ही स्पष्ट किया है – 'विगत दशक जहां एक ओर जीवन की व्यवस्था-अव्यवस्था' पर एक के बाद एक, धूल और रोगीली परतें छोड़ता रहा है और अहं पर चोट करता गया है, वहीं दूसरी ओर हिन्दी कविता तथा गीत के धरातल पर भी अनेक शुभ-अशुभ मूल्य बिखरा गया है। इस सन्दर्भ में निरन्तर टूटने की प्रक्रिया के बहुरंगी क्षण इस संकलनान्तर्गत आकलित हैं" (*पृ. 7*)। कवि के जीवन की अभावग्रस्तता और उससे उद्भूत प्रक्रिया का प्रभावशाली निरूपण इस संकलन की उपलब्धि है।

'अविराम चल मधुवंती' में कवि सामाजिक जीवन की निर्माणपरक और विघटनकारी, सृजनात्मक और विध्वंसात्मक अनुभूति को वैयक्तिक आग्रह के सांचों में ढाल कर नहीं परखता वरन् उनका समन्वय करने में प्रयत्नरत है।

'अविराम चल मधुवंती' एक ऐसा शीर्षक है जो कवि की अन्तरंग और विशिष्ट आस्थाओं को सहज ही रेखांकित करता है। इस कृति के गीत आधुनिक गेयता का संगीत-संस्कार सम्पन्न करते हैं - गेयता भी ऐसी जो न सतही है और न अति बौद्धिक। सांध्य राग मधुवंती की रागात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुगूंज हो अथवा भोगे हुए यथार्थ की गीतात्मक व्यंग्य-अभिव्यक्ति, महानगर के संत्रास, असन्तोष और विद्रोह का विस्फोट हो, या देहान्तरण करुणा से भीग-भीग जाना हो - इस संग्रह की रचनाएं गीत के धरातल पर एक संगठित बिखराव बन कर महकती, जूझती और टूटती हैं। इन गीतों में निस्संग जीवन्तता है। ये गीत नवगीत हैं, नयी कविता हैं या विद्रोह के पूर्वाभास मधुवंत - इनसे अलग बड़ी बात यह है कि ये आत्मपरकता में बंधे नहीं हैं, अहं के अनेकानेक आयाम इन्हें घेरे दिखाई देते हैं (*पृ. 8*)। निस्सन्देह जिसकी रागिनी में कई-कई दिशाओं की अनुभूति-ध्वनियां समवेत होकर गूंज रही हैं।

सृजन : अलाव-अग्नि

'झुलसा है छायानट धूप में' में गीतकार की दृष्टि जीवन्त यथार्थ पर टिकी है। धूप-झुलसा छायानट जीवन के ताप को अनेककोणी व्यंजनाओं के साथ उभारता है। छायानट को व्याख्यायित करते हुए कवि की रचना-दृष्टि जीवन के नैरन्तर्य को रोशनी देती है "जैसे छाया नाट्य (शेडोप्ले) में होता है, यहां भी मंच की तेज़ रोशनी और धूप में एक छायानट भावाभिव्यक्ति कर रहा है पर उसके पीछे कोई और है। रात से निकल कर दिन में यात्रा की ज्वलंत अनुभूति राग छायानट की चरम परिणति है पर यह एक विवशता है" (*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 7*)। छायानट का झुलसना कवि के लिए असह्य है क्योंकि असंग-परिवेश की नुकीली वैषम्यमूलकता ने मूल्यों के गतिशील तत्व को पूर्णतः बाधित कर दिया है। अवरोध और नकार का अन्तर्ग्रथित सम्मोहन विघटन की इस पीड़ा को और बढ़ा देता है। कुंठाएं अस्वीकृति की परिणीता होकर मधुवर्णी हो जाती हैं। मधुवर्णी इसी अराजकता के कारण झुलसे छायानट की पीड़ा स्वरसंधित रचनात्मकता से वंचित हो जाती है। पैरों तले की ज़मीन कस कर पकड़ने के प्रयास में हाथों से आकाश भी छूट जाता है। छिद्रित जीवन का महानगरीय बोध, अलगाव, विरक्ति, अनिश्चितता, असुरक्षा के कारण आचरण-व्यवहार को दूषित और हिंसक बना देता है। हर स्तर पर व्याप्त हिंसा वैचारिक भावनात्मकता के छायानट पर तेज़ाब डाल देती है। जीवन का नव्यकोणी व्यंग्य उभरता है। गीतकार भी समय के अनुरूप अपनी भंगिमा बदल कर व्यंग्य बिम्बी बन जाता है। रचनाकार के इन व्यंग्य-तेवरों में अतिबौद्धिक आचरण व्यवहार को मानव के नज़दीक लाकर उस जड़ता को तोड़ना है जिन स्थितियों ने मनुष्य को भाव और वैचारिक दरिद्रता से सुदामा बना दिया है। हृदय और बुद्धि का संकल्प-सेतु निर्मित कर गतिशीलता कवि का उद्देश्य है जिससे असंग-परिवेश को हृदयरंगी बना कर झुलसते छायानट को बचाया जा सके। पूंजीवादी व्यवस्था का क्रूड नर्त्तन 'कत्थक' बने यह रचनाशील मन का रचनात्मक दृष्टिबोध है। इसलिए वह व्यंग्य को कोड़ा बनाता है। मन के रागात्मक-बोध की तरल छाया नहीं झुलसन देखिए –

"मन के सन्नाटे से ऊब कर/ छायानट सड़कों पर झूमता/ महानगर हंसता
झूठे सम्बन्धों की भीड़ में.....................जाति और रिश्तों की लाश में
आग लगाता ध्रुपद चला/ रूढ़ियां चिटखतीं
कुर्सी के सर्कस के सामने/ मालकौंस धूल फांकता मिला.....
डामर-सा अंधियारा पंथ पर/ सूख गया है पनघट धूप में।" (*पृ. 77-78*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतों में प्रयुक्त बहुकोणीय सूर्य प्रतीक अनेककोणी अर्थ ध्वनियों की झंकार उत्पन्न करते हैं। कहीं वह अग्नि का प्रतीक है जो अन्याय, अत्याचार, अन्धकार को अगस्त्य ऋषि की तरह पी लेता है, कहीं वह ज्योति-प्रपात की अग्निशिखा है जो जीवन के आन्तरिक सौन्दर्यबोध का द्रवधारी अनुचिन्तन है और कहीं वह जीवट जिज़ीविषा का प्रतीकित अभिव्यक्ति-गुंजन जो मेघ-समूहों की कुहास-कालिमा को चीरता चला जाता है। इसके बावजूद सूर्य वी. आई. पी. की तरह अतिविशिष्ट जीवी नहीं है। अपनी असाधारण विशिष्टता को छोड़ कर वह अर्कधारी जीवन का जनभोक्ता है, वह भी दुनिया की भीड़ का एक हिस्सा है –

"हां, मैं भी भीड़ हूं, मैं भी कोलाहल हूं
जैसे हैं, ये या वे दंशित दायित्वों से
फेंक दिया गया हूं समय जल में, मिट्टी के -
ढेले-सा घुलता है मेरा भी नाम/ मैं कोई सूर्य नहीं।" (*पृ. 12*)

सूर्य को अति विशिष्ट मान-मानक से उतार कर जनधारी भुक्तभोगी के रूप में परिकल्पित करना कवि की रचनाशील युगनद्धीय प्रतीति का मुक्त द्वार है। कवि की अनुभूति चेतना रूढ़ हो गई परम्पराओं की बेदखली के पक्ष में है। युग-मानस पर छायी सनसनी, हृदयों में चीखता सन्नाटा, व्यक्ति-समाज की रग-रग में रेंगते रिक्तिबोध को गीत-मन का छायानटी राग जब नहीं बांध पाता तब कवि की अन्तश्चेतना पर वातावरण की दरिद्रता का क्रूर अट्टहास जीवन को नवप्रसूता की तरह निचोड़ देता है –

"कैसा वातावरण विसंगत है/ स्वर जिसको बांध नहीं पाता है
थोड़ी-सी भूमि गुनगुनाता हूं/ ज्यादा आकाश छूट जाता है।" (*पृ. 15*)

दो मुँही-विसंगति की नागिन (*पृ. 20*) का 'पशु-बिम्ब' मनुष्य की नगरीकरण की मानसिकता और कथनी-करनी के मुखौटे मुखी दंत-दंश को साकार करता है। ओहदेदार ऊँचे राजनीतिज्ञों, मगरमच्छ बगुला वृत्तियों की रिरियाती नपुंसक असहज ज़िन्दगी पर व्यंग्य सर्प-कैंचुल उतारने के समान है –

"जीवन है एक मगर दो तरह जियो उसको/ जीती हैं बड़ी-बड़ी हस्तियां
पदयात्री! घूमो तुम मीना बाजारों में/ छानो मत तुम गंदी बस्तियां
हर कुर्सी आकुल सिंहासन बनने को/ सिंहासन ढूंढ रहा है नये खज़ाने।" (*पृ. 53*)

गलत समझौते जीवन को कभी सही दिशा नहीं देते। वह चाहे जीवन हो या साहित्य। भाव हो या विचार। विस्फोट शब्द का हो या आर.डी.एक्स. का, परिणाम घातक ही होता है। कवि-कथन है कि उसके "गीत मंच या कविता की हर दशक में बदलती खेमेबंदियों में बंध कर नहीं चले हैं। प्रभाव ग्रहण है तो जीवंत यथार्थ का। पर जीवंत यथार्थ का अर्थ काव्य संदर्भ में राजनीतिक मंत्र दृष्टाओं और उनके अंधविश्वासी प्रचारकों का अंधसमर्थन नहीं होता" (*पृ. 8*)। राजनीतिक प्रदूषण से आज कोई नहीं बच सकता। यदि रचनाकार में 'स-हित' का भाव और साहित्यिक संस्कार है तो वैचारिक गुलामी उसे नहीं हांक सकती। मंत्र दृष्टा या चिंतक राजनीति से आयात नहीं किये जा सकते। उनकी सार्थकता सराही जा सकती है। यद्यपि वीरेन्द्र मिश्र के गीतकार ने कम समझौते नहीं किए फिर भी अपने साहित्यिक मन और संस्कार के कारण वे किसी हद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तक बचे रहे हैं। नवगीत की स्थापना, नेतृत्व को लेकर वे आत्ममुग्ध अधिक हैं यथार्थदर्शी चिन्तक कम। बहरहाल उनकी उद्घोषणा है –

"प्यार मिला तो ठहर गए/ रास न आए समझौते
लीकों पर चल नहीं सके/ पांव फकीरों के जो थे।" (*पृ. 63*)

इस संग्रह की पीठिका पर पर्यावरण-परिवेश की झुलसन के छायानटी राग व्यक्ति-समाज के अन्तर्वर्त्ती राग-द्वेष की ज़ुबान बन कर सीधे सम्वाद की स्थिति में है। यही इस संग्रह के यथार्थ-कोणी लैन्स-अक्स हैं।

'धरती गीताम्बरा' कवि की राष्ट्रीयता का मनोमुखी दर्पण है। इस संग्रह में कवि की सभी पूर्व प्रकाशित, लोकप्रिय तथा श्रेष्ठ राष्ट्रीय रचनायें संकलित हैं, जिसकी चिन्तन-पीठिका पर राष्ट्रीय और समाजवादी समता स्वप्नों का खौल चढ़ा है। 'मेरा देश है ये' (*पृ. 14*) गीत में भारतीय संस्कृति का जीवन्त इतिहास प्राकृतिक, आध्यात्मिक, सांस्कृतिक पौराणिक बिम्ब-प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत हुआ है। शीर्षक गीत 'धरती गीताम्बरा' में मातृभूमि के प्रति संपूर्ण समर्पण का भाव है। तत्सम शब्दावली में गुन-गुन करती प्राण लय, पुनरुक्ति और अनुप्रास संगीत के साथ तालबद्ध होकर हृदय का राग बन गई है। सौर मंडलों की सुन्दरतम अप्सरा की ध्रुवपंक्ति है 'नभगंगा' चन्द्रलोक जिसका अंतरा है। देशभक्ति के इन रसीय गीतों में राष्ट्रीय समस्याओं, विदेशी आक्रमणों, सांस्कृतिक उत्सवों, तीज-त्यौहारों, सांस्कृतिक परम्पराओं की सुन्दर व्याख्या है –

"संसृतियों के देश मेरे!
संस्मृतियों के देश मेरे!
ज्योति दो! ज्ञान दो!
तम जहां हो! छान दो।" (*पृ. 6*)

देश भक्ति के इस प्रकार के गीत विशुद्ध भावात्मकता की हृदयभूमि होते हैं। अतिभावुकता गीत-ऋदम को प्रभावशाली नहीं बनाती अपितु, उसमें बिछलन पैदा कर देती है। वीरेन्द्र मिश्र के साथ भी यही हुआ है। एक खास भावनात्मक रौ में बह कर कवि गीत की सीमाओं को भूल जाता है। गीत संक्षिप्तति की बुनियादी परिधि को लांघ कर दीर्घ आकारी हो जाते हैं, परिणाम स्वरूप लय और ताल में गतिरोध पैदा हो जाता है। 'सिपाही देश के हिमालय छीन ले' (*पृ. 37*), 'कश्मीर', (*पृ. 30*), 'मेरा देश है ये' (*पृ. 9*), 'उसी माटी को आज' (*पृ. 20*), आदि गीत दीर्घ आकारी तो हैं ही, इनके अन्तरे भी बहुत लम्बे हैं, इसलिए गत्यात्मकता खण्डित हो जाती है।

'शान्ति-गन्धर्व' की गीत-माटी पर वीरेन्द्र मिश्र ने प्रगतिवादी चेतना के स्वर बीजों को बीजित किया है। युगनद्ध प्रतीतियों से कवि चेतना कभी विमुख नहीं हुई। समय को अपनी गीत छलनी में उसने स्थितियों के अनुकूल छाना है। इसकी छनाई-कताई में गीतकार पूर्णतः सावधान रहा है। समय की भंगिमाओं को अपने तेवरों के अनुकूल कवि ने अक्स किया है। काल की वंचक-मुद्राओं को कवि के गीत-मन ने परछाइयों की तरह पकड़ा है। उसकी छाया-प्रतिच्छाया की पूरी नाप-जोख कर एक प्रहरी की भांति अपने शब्द-सिपाहियों से उसे बन्दी किया है। जीवन की त्रासदी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वह उसकी संपूर्णता में पकड़ने का हामी है। इसीलिए वह व्यक्ति-मन की सूक्ष्म तरंगों की हरारत को गीत के थर्मामीटर से सेतु कर जीवन के लघुतम क्षणों से यात्रा शुरू कर महत्त्वपूर्ण क्षणों की रचनात्मकता तक पहुंचता है। दुर्धर्ष क्षणों की पीड़ा और संघर्ष-राग के ताप में घुली जीवन की तरलता को वह पंचम स्वर में मीड़ बना कर गाता है। मानव विरोधी जितने भी आचरण हैं वह चाहे युद्ध की भयावही आतंक मानसिकता हो या संसृति विनाश की विध्वंसात्मक षड्यन्त्र घिनौनी राजनीतिक अहंग्रस्त वेश्यायी चालें - इन सभी और ऐसी स्थितियों के बीच कवि खड़ा है। उन्हें सूक्ष्म स्तर पर पूरी शिद्दत से विश्लेषित करता है, उसके दुष्परिणामों की ओर इंगित कर पंचशील की आड़ में निश्चिन्त होकर नहीं बैठता। अतीत से सबक लेकर जनमानस को जागरूक करता है –

"कन्धे पर धरे हुए/ खूनी यूरेनियम/ हंसता है तम
युद्धों के मलबे से/ उठते हैं प्रश्न और/ गिरते हैं हम।" (*शांति-गन्धर्व : पृ. 68*)

युद्ध-ताण्डव का तीसरा नेत्र नरमेध की मुण्डमाला से तर्पण करता है। काल के इस यम नर्त्तन का वीभत्स, कूबड़मुखी, गलीच, शवमुखी परिणाम आगे की कई पीढ़ियां भोगती हैं। प्रगति चक्र अंधकारगर्भी भ्रूण बन जाता है। अनैतिकता का यह वैचारिक व्यभिचार गलित अंग वेश्या से भी अधिक अभिशप्त और रुग्ण सांसों का मांस लुब्ध व्यवसायीकरण है। मांस लोथड़े की तरह इधर से उधर और उधर से इधर लुढ़कता रहता है। इस लुढ़कन में कुंठित अहं की प्रतिपक्षी राजनीति की शिकारी मनोवृत्तियां अंधकारवृत्त होकर मानस-मंचीय हो जाती हैं और हृदयपक्षी आचरण घायल होकर शोक मुद्रा अपना लेता है।

इन शोक मुद्राओं की ताप-तप्त विभीषिका शान्ति-नेह के कस्तूरी चन्दन से ही आलोकमुखी होगी। अन्यथा तीसरे महासमर का छाया-दैत्य समूची मानव वृत्तियों को निगल कर जबड़ों के बीच फंसा लेगा और तब तक जुगाली करेगा जब तक प्रलयी ध्वंस न हो जाय। इसीलिए यहां कवि के गीत-कपोत शान्ति मुद्रा में हैं। इन गंधर्वी अभिव्यक्तियों में शान्ति कलश की छलकन और भारतीय संस्कृति का ऋषि-चिन्तन है। वैचारिक बोध का रूपातंरण स्थिति और समय सापेक्ष है। मूल चिन्तन में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता –

"फिर युद्ध खींच कर लाता कोई और आंगन में.....
मैं तो हूं शांति-कपोत समय का प्रेम-पत्र-दाता
मीठे शब्दों, प्यासे गीतों पर वज्र टूटता क्यों
आदिम युग में फिर से मनुष्य क्यों......।"

'तीसरा विश्व युद्ध' गीत में पौराणिक, वैज्ञानिक संकेतों के नाद-बिम्बों एवं सादृश्यमूलक उपमानों के ज़रिये गीतकार ने इसी जड़ता की स्थितप्रज्ञता को बिम्बमुखी बनाया है –

"महानाश का शंख बजेगा, युद्ध छिड़ेगा, रक्त बहेगा
शोणित के सागर में तुमको नहीं मिलेगा कहीं किनारा।" (*पृ. 51*)

शांति-सागर के तल में इन नकार हिंस्र अहम् की युद्ध मनोवृत्तियों को डुबोना ही होगा। इसकी शव-परीक्षा कर उपयोगी सहेजना होगा और शव का अन्तिम संस्कार कर अग्निमुख बनाना होगा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं तो हम निश्चित विनाश के कगार पर खड़े हैं। कवि इस उद्देश्य को कर्म बनाने के लिए यौगिक विचारों को भावों की गतिशीलता देकर प्रयाणगीत शैली में सबको पुकारता है –

"बढ़े चलो ले शांति-पताका, सूख न जाये जीवन-धारा।" (*पृ. 53*)

युद्ध और शान्ति एक घाट पर पानी नहीं पी सकते। या तो युद्ध होगा या शान्ति रहेगी। एक तरह का आतंक, उग्रवाद, वैमनस्य, अस्वस्थ राजनीतिक आचरण के कवच में एक तरह का शीतयुद्ध है। स्वार्थों के घने जंगल में कोई ऊपर उठने को तैयार नहीं। परिणाम स्वरूप स्वप्नदर्शी सतरंगी जुगनू जन-मानसिकता हर समय मुजरिम बन कर युद्ध-वृत्तियों के कटघरे में खड़ी रहती हैं। उनका पक्षकार स्थितियों और अहं के कुठित काल-न्यायाधीश के सामने विवश, बौना और आम आदमी बन जाता है जो आज अप्रासंगिक एवं व्यवस्था की बिसात के आज्ञा चक्र से कीलित विवश प्यादा है जो राजा को बनाने के लिए कटता-मरता है –

"वर्त्तमान ने ऐसा पाठ कुछ पढ़ाया
कोई सन्दर्भ ग्रन्थ काम नहीं आया।" (*पृ. 56*)

लेकिन मगरमच्छों, व्हेलों से भरे समुद्र में क्या हलचल नहीं होती? होती है, तूफानी लहरें कितना ही सिर धुनें उसे बांधने वाले भी हैं। जीवन कभी नहीं रुकता, गत्यात्मकता जिस दिन हार मान लेगी उस दिन संसृति नष्ट हो जाएगी। प्रलय लहरों पर ही नई सृजन-वीचियों का जन्म होता है। यही सृजन-वीचियां जीवन की प्रतीकित अभिव्यक्ति है। परिस्थितियों की क्रूरता के समक्ष समर्पण, गलत समझौते जीवन का सत्य नहीं है। सत्य है गत्यात्मकता, त्वरा, गति। जीवन का सौन्दर्य यही है। जीवन में जितनी चुनौतियां होंगी जीवन उतना ही गहरा और तत्वतः अर्कमुखी होगा। आज हमारा जीवन चुनौतियों के बीच पल-पुस रहा है। जब चुनौतियों से आंख-मिचौनी करनी ही है तब हंस कर झूमती लहरों की तरह क्यों न करें। समुद्र फेन की तरह टूट कर यदि बिखर भी जाएं तो लहरों की तरह पुनः जुड़ें और जुड़ कर जीवन के क्रम को, गत्यात्मकता को बनाए रखें। हताशा, अवसाद, विषाद का काज़ल-दर्शन मन पर पर्त्त बन कर नहीं बिछना चाहिए। इस जुगनू अंदाज में कितनी ताकत है जरा तत्व-चिन्तन में उतरिये –

"अवसरवादी अंधियारे से कह दो
चाहे सूरज हो, डूब गया लेकिन
माटी का दीपक भी जल सकता है।" (*धरती गीताम्बरा : पृ. 117*)

साधनहीनता, सामुद्रिक रात का निस्तब्ध गहन गंभीर तामसिक अंधेरा, अवरोधक मनोवृत्तियों से दंशित पीठदर्शी अराजक नकार, अस्वृत्तिमूलक परिवेश – तू फिर भी टंकार कर –

"कितना कम तीर्थ जल मधुवंती!
फिर भी अविराम चल मधुवंती!" (*अविराम चल मधुवंती : पृ. 104*)

इसी प्रकार 'एक सवेरा और चाहिये' (*धरती गीताम्बरा : पृ. 93*), 'गीतों की गागर में भर निर्माण रे..।' (*पृ. 96*), 'नींद नहीं जागरण बिखेरो' (*पृ. 99*) आदि 'धरती गीताम्बरा' से संधित होकर गीतों का यह कारवां 'शांति-गन्धर्व' से घना होता चला है। आगे के गीतों में घनत्व का यह स्वर-पाट जितना गहरा हुआ है उतना चौड़ा भी –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"देख समय को, देख प्रलय को, देख धरा की धूल को
सदा-सदा को दफना दे तू विध्वंसों के शूल को।" (*शांति-गन्धर्व : पृ. 121*)

इसमें दो मत नहीं कि वीरेन्द्र मिश्र भारतीय संस्कृति के मूलमन्त्र 'कर्म' को प्रधानता देते हैं, फल को नहीं। इसलिए हमें सही दिशा में प्रयत्न करना चाहिए, प्रयत्न करते रहना चाहिए, परिणाम उसका कुछ भी हो। शोषितों के स्वरों को धरा-अम्बर तक गुंजाने के लिए कवि पपीहे को सर्वश्रेष्ठ मानता है, क्योंकि उस पर प्रतिबन्ध नहीं है –

"मगर भोले पपीहे! शोषितों के स्वर
तुझे उड़ कर गुंजाना हैं धरा-अम्बर
कहीं चुपचाप होकर झुक न जाना तू
दमन में भी प्रलय के गीत गाना तू
वही है तू कि जो पी-पी बुलाता है
तुझे ही देखर मधुमास आता है
तुझे है लूटना कंचन नहीं कोई
पपीहे गा! तुझे बंधन नहीं कोई।" (*पृ. 136*)

कम्प्यूटर संस्कृति पर व्यंग्य बहुत तीखा है। रिमोट कन्ट्रोल, स्विच बटन, यंत्रवत् स्वचालित, रेडियम, प्रदूषण आदि आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली को उपादान बना कर गीतकार ने कम्प्यूटर संस्कृति का पोस्टमार्टम किया है –

"कम्पयूटर में भर दो गीत औं तरन्नुम
युग आने वाला है यंत्र-गीतकारों का......
...पिघले-पिघले शरीर अस्थि-पंजरों में
क्या मन-मस्तिष्क और आत्मा रहेंगे
एक हवन कुण्ड बनेगा यह पृथ्वी ग्रह
देवता न कोई परमात्मा रहेंगे
तब किन्हीं मशीनों या लौह-यंत्र से ही
सुन लेना कोरस में दादरा सितारों का।" (*पृ. 145-146*)

सूत्र रूप में जीवन की बुनियादी टकराहटें संग्रह के वक्ष-पीठ का कवच बन कर मूल्य-रूप में अंकित हैं। संघर्षण और तरलता ने जीवन की डोर थाम रखी है। यही उपलब्धि है।

पक गयी धूप : नीड़ की ओर

'कांपती बांसुरी' बांसुरी की तरह केवल मधुर नहीं है, उसमें एक से अधिक स्वर हैं। "षडज से लेकर निषाद तक कांपती, कॉखती, थरथराती एक पूरी ज़िन्दगी है। शोर-शराबे डिस्को के बीच भी। कितनी ही भाव-भंगिमाओं तथा मुद्राओं की अनुगामिका यह बांसुरी आणविक अहसासों के बीच कांप-कांप जाती है' (*कांपती बांसुरी : पृ. षडज से निषाद तक*)। संगीत-वाद्यों की ध्वनियां हमारे कानों में गूंजे न गूंजे किन्तु बांसुरी का नाम आते ही कृष्ण-मुरलिया की मधुर-बंकिम गूंज आकाशव्यापी होकर मानस भूमि पर पर्व बन जाती है। आज उसी बांसुरी की धुन महानगरीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संत्रास से कांपती थरथराती मनुष्य-नियति को आलेखित कर रही है। विभिन्न मनःस्थितियों की थरथराहटों के बीच 'कांपती बांसुरी' व्यक्ति और समाज के अनुभव बिम्बों की व्यापक तराश है। इस तराश में जीवन की मधुर-तिक्त अनुभूतियां सामाजिक मन को षडज से निषाद तक ले गयी हैं।

वीरेन्द्र मिश्र के इस संग्रह की एक भी रचना नयी नहीं है। सभी गीत पूर्वरचित हैं जो सन् 1954 से 1964 तक लगभग एक दशक के दौरान विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं अवंतिका, मध्यप्रदेश सन्देश, भव्यभारत, प्रतिभा, दक्षिण भारती, नई दुनिया, पाटल, भारती, ज्ञानोदय, युग-चेतना, नया समाज, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, राग रंग, शृंगार, हिमप्रस्थ, धर्मयुग, परम्परा, नवभारत, मनोरंजन, साक्षी, समाज-कल्याण, उत्तरा आदि में प्रकाशित हो चुके हैं। विभिन्न स्थितियों में रचित ये गीत गीतकार का अगला चरण न होकर अतीत की पृष्ठभूमि है। जीवन के धूप-छांही बिम्ब यहां आशा-निराशा के आगोश में पल कर जवान हुए हैं। कवि में प्यास और ललक की रंगदर्शी घुलावट है। इस घुलावट में नगरीकरण का त्रास और जीवन के प्रति खोजी दृष्टि के कांपते स्वर हैं। कवि यहां बहुत ऊंची छलांग लगा कर किसी आदर्श की प्रतिस्थापना को कटिबद्ध नहीं है। वह धरती के सच और अपनी सीमाओं को जानता है। 'कांपती बांसुरी' के स्वर की अनेक तालों में अपनी विशिष्ट ताल को वह संयमित होकर रागबद्ध करता है। उसकी संकल्प-जिज़ीविषा मनुष्य जीवट को दुःख की तरह मांजती रहती है –

"चन्द्रमा मैं बनूं न बनूं
किन्तु ध्रुव-सा सितारा रहूं
इस गगन के तले।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 53*)

निराशा और उदासी के विपन्न क्षणों में आंधी विश्वास की लौ को अपहत करने तुरन्त आ जाती है जैसे दरिद्रता में यौवन और रूप ज्यादा और जल्दी खिलता है। ऐसे में तिनके का सहारा बहुत होता है, मरुभूमि में एक बूंद जल जीवन के लिए कल्पतरु की छाया से कम नहीं है। निराशा और अन्धकार का मान-मर्दन करने के लिए किरन-कनी की छुअन ही चेतना के सभी स्तरों को फोड़ देती है। कवि में मानव के इन्हीं उदास और विपन्न क्षणों में दोस्त बनने की अकुलाहट है। इस अकुलाहट की विस्फोट-भंगिमा देखिए –

"तू क्यों इतना उदास
मैं हूं मधुमास
मुझे जीकर तो देख।" (*पृ. 59*)

मधुमासी अरुणाई के इस वंशी-स्वर में कंपकंपाहट नहीं प्रत्युत् स्थित प्रज्ञता का साधित निष्कर्ष है –

"अरूणाएं अधरों को ; अनथाही प्यास दे
कंठ में समाऊं मैं स्वर का विश्वास दे
जिसका मद है अटूट
मैं हूं वह घूंट
मुझे पीकर तो देख।" (*पृ. 59*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कांपती बांसुरी' के इस साधित निष्कर्ष के साथ स्वप्न के माथे पर पड़ी शिकनें थकन (*पृ. 21*) को भी परिभाषित करती हैं। इसलिए कवि अश्रु के द्वार पर भी वंदनवारे बांधता है। इस बांसुरी संसार में कांपती गंध भी है, शूल-छिदा गांव भी, भीख मांगता गीत भी है, तिलमिलाहट भी (*पृ. 19*), इसीलिए –

"सुलगे हुए सब छन्द हैं
सरगम-सभाएं बन्द हैं
खुशबू मुझे मिलती नहीं
इस कागजी मधुमास में।" (*पृ. 58*)

कवि का आत्मविश्वास इसके बावजूद नहीं डिगता। यही कारण है कि 'नीर में पीर की गंध' (*पृ. 15*) लिए ये गीत कांपते भी हैं, थरथराते भी हैं, मधुमास बन कर बरसते भी हैं।

यही बरसन 'गीत-पंचम' में रूप बदल कर जीवन के नज़दीक आती है और दूसरे ऐंगल से 'उत्सव गीतों की लाश पर' में तेवर बदल कर व्यक्ति और समाज के अन्दरूनी असंग परिवेश की काई को फाड़ती जाती है। सामाजिक जटिलताएं अन्तर्विरोधी करारों के तहत यहां जीवन के रेशमी भोज-पत्रों की स्याही को ब्लोटिंग पेपर की तरह सोख लेती है और जीवन के छोटे-छोटे लम्हे उत्सवपर्वी माहौल में औपचारिक जड़ सम्बन्धों का शव-तर्पण करने लगते हैं –

"ज़हर भर गया जब सांसों में
बदहवास जब हुआ शहर
तुम नीरो की तरह दूर से
हंसते रहे सलीबों पर
रुके न फिर भी काव्य-महोत्सव
गला-कटा संवेदन का
बोटी-बोटी हजम़ कर गए
किया सभी अपने मन का
रक्त कुम्भ प्रायोजित कर लो तुम हर अगली प्यास पर
गिद्ध छद्मश्री हंसो-हंसो...............................।" (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 81*)

'मुखरित संवेदन' में कवि जीवन की इन्हीं विविधमुखी जटिलताओं को फोकस करता है। निराश और हताश मनः स्थितियां यहां भी हैं। कवि का आस्था-स्वर ज़मीन तोड़ कर अपनी उपस्थिति दर्ज़ करता है। जीवन की असंगत स्थितियों से कवि यहां भी आंखें मिलाता है। निराशा को तरल करता है, अवसाद के पंचमसुर को साध कर आस्थाहन्त पर्यावरण को बाधित करता है। आस्था-अनास्था के इन रंगदर्शी प्रतीक-बिम्बों को कवि पूरी शिद्दत से साहित्यिक मान-मानक की 'स-हित' भावना से जोड़ कर देखता है। कवि-मानसिकता के इन झरोखों से छन कर आती रोशनी से व्यक्ति-मन की घुटन कम हुई है और रचनाशील मन के सामाजिक सरोकार अनुपातन स्पष्ट।

'वाणी के कलाकार' की कविताएं बिखराव की कविताएं हैं। इसकी प्रस्तुति-पीठिका और शैली में नव्य रचनात्मकता का बोध है। कवि ने स्वीकारा भी है कि "निश्चित निर्धारित शैली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कवि की छवि आंकने की जो परिपाटी है उसे अपनी शैली बहुलता से मैं स्वयं तोड़ देता हूं। विगत चार दशकों से भी अधिक समय से रचनारत होते हुए मैंने जीवन और रचना में जो बिखराव जिया है, उसमें कितनी मेरी विवशता थी और कितनी आंतरिकता, कहना मुश्किल है। एक विचित्र प्रकार की गडमड्डता, शोरगुल और भागमभाग में उठती-गिरती मानसिकता के बीच मेरी रचनाधर्मिता विकसित हुई है फिर भी मेरे मूल चिन्तन और लक्ष्य में न कोई ऊहापोह है, न अनिश्चितता" (*वाणी के कलाकार : बिखराव की कविताएं*)। यथार्थ के विस्तीर्ण फलक पर गीतकार ने अपने इस संग्रह को छः भागों में विभाजित किया है। पहले खण्ड में 'झोंपड़ियों के वंशज' में 'पांच रचनाएं', दूसरे खण्ड 'सड़क और नक्षत्र' में तेरह, तीसरे खण्ड 'पूर्व-दीप्ति' में आठ व चतुर्थ खण्ड 'बादल तुम यहां कहां आ गए' में सत्रह, पंचम खण्ड 'रोशनदान' में नौ और अन्तिम यानि छठे खण्ड में 'वाणी के कलाकार हम' में बारह गीतात्मक रचनाएं संकलित हैं जो सभी इधर-उधर प्रकाशित हैं।

कमोबेश इन सभी रचनाओं का गीत-पर्यावरण खण्डित है। समाधि-बिन्दु तक आते-आते इन गीतात्मक कविताओं की लय-ताल अंसुलित हो जाती है। इसका सबसे बड़ा कारण तो इनका दीर्घाकार होना है। ये छंदबद्ध भी हैं छंदमुक्त भी। कवि के सामाजिक सरोकार इन गीतात्मक रचनाओं में भी पूरी तरह तने हुए हैं लेकिन उनकी बुनावट में छंदबद्ध गीतात्मक ऋदम का अभाव है। इन गीत बोधी कविताओं में सामाजिक दंश की थरथराहट मौजूद है लेकिन अनेक रचनाएं ऐसी भी हैं जिन्हें गीत नहीं कहा जा सकता। इस संग्रह की रचनाओं को पूर्व प्रकाशित दो संग्रहों 'शांति-गंधर्व' और 'धरती गीताम्बरा' की कथ्यवस्तु का तीसरा यथार्थवादी भावात्मक कोण भी कहा जा सकता है।

त्रिधारी रचनाबोध की सभी कड़ियां यदि एक तरफ कुहरिल जीवन के यथार्थ का नमक-पानी तोलती हैं तो दूसरी तरफ अपनी बुनावट में नव्यबोधी युग मानसिकता के अनुरूप शैली और चिन्तन में अनुरूप बदलाव भी करती है। जीवन की खण्डित लय की कठोर ताल पर नृत्य करती निर्धन-दरिद्रता का अट्टहास देखिए –

"ये भूखों का पूजाघर है, जीवित ईश्वर यहां न कोई
'ताज' 'अशोका' दूर, यहां तो एक वक्त भी कठिन रसोई।" (*वाणी के कलाकार : पृ. 2*)

आक्रोशमुखी इस प्रगतिशीलता का दूसरा वैचारिक कोण महानगरीय जीवन के असंगति-बोध को उभारता है जहां सब अपनी अपनी सीपी में बंद शंख बनते जा रहे हैं। उसके परिणाम से परिचित होकर भी लम्बी दौड़ लगाकर वहीं के वहीं टटके बने हैं। शंख नाम जीवन की अन्तिम प्रक्रिया का नियति विधान है। ऐसे में यदि यह कहा जाए कि सभी अपने-अपने घोघों में बंद स्वयं ही बंधुआ 'होरी' बने हुए हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। मृत्यु-गंध के सन्नाटे में ऊंघती चरागाह में चीखती जीवन-चीख के इस सत्य को सभी ने ओढ़ रखा है। इस सन्नाटे की लुहार चोटी आवाज सुनिये –

"महानगर की भीड़ भाड़ में, हम जो हैं अपने में बंद
जो यथार्थ हैं, ग्रहण नहीं कर पाते हैं, उसकी भी गंध
आग गांव में धधक रही है..........................।" (*पृ. 5*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक असमानता, सर्वहारा वर्ग का शोषण, शहरी-मानसिकता के नेगेटिव पोज़िटिव जो भी हैं वह स्वस्थ नहीं हैं। कवि के गीत-बिम्बों ने इसी मानसिकता को शब्दायित किया है। हालांकि आज शहर और गांव की समस्याएं कमोबेश एक जैसी ही हैं –

"एक पीली रोशनी है रात, है गम हैं
दोस्तों! अपना शहर किस बात में कम है...
वह सियासत का ज़हर है, खूब मौसम है
इस शहर की त्रासदी किस बात में कम है।" (*पृ. 106*)

द्वन्द्व की महीन बुनावट का अन्तर्संघर्ष बाह्य-परिवेश की त्रासद शोक-व्यथा के अनेक कोण उभारता है। एक ओर गीतकार यदि अपनी रचनाओं की 'त्रिमुखी पीड़ा' (*पृ. 114*) को उभारता है तो दूसरी ओर –

"उठो, देखो, धूप निकली
अश्रु पोंछो, इस तरह रोते नहीं हैं।" (*पृ. 115*)

कह कर 'नई कोंपल' देखकर सहसा 'शिशु के ठहाके' (*पृ. 115*) को गीत-आश्वस्ति की तपन और आंसू में कैद कर देता है। ऐसे अनेक गीत हैं जिनमें इसी प्रकार की रचनात्मक ताप-मधुरता है। इसीलिए वाणी के सच्चे कलाकारों के कदम अपनी डगमगाहट को भी गन्तव्य तक ले जाते हैं।

'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' सांगीतिक बिम्बों की मेघ-मूर्च्छना है। यथार्थ घर्षण की कचोट विविध शैली प्रयोग के समावेशी गुंजन से लक्ष्मण-स्वभाव बन गई है। मरोड़मुखी इन प्रतीतियों को रचनाकार ने पांच सांगीतिक खण्डों में मुकुर किया है। इन मुकुर गूंजों को विशिष्ट अर्थफलक पर ले जाकर कवि का रचनाबोध बिम्बों-प्रतीकों को घुलनशील संगीत बना देता है। इस घुलनशील द्वार का प्रवेश द्वार है 'हंस मंजरी' जिसमें बारह नवगीत सुर हैं। प्रवेश द्वार से निकल कर आंगन में 'रूपकताल' है जिसकी ग्यारह सीढ़ियां हैं। आगंन को पार कर बीच में स्थित 'नट विहाग रोया' की कला-वीथि में हृदय राग से बुद्धि तक पहुंचने के लिए ग्यारह गीत-बिम्ब 'सुर की संगत' में 'बाहर की आग' से खेलते हुए 'सूर्य को नमन' करते हैं। इसका एक-एक गीत 'यात्रा' का मानस प्रतीक है। दाएं है संगीत का साधना-कक्ष - 'स्वर समष्टि' जिसके बारह गीत-पृष्ठ मनुष्य की अन्तर्चेतना को कोंच कर 'रोज अपनी सलीब' पर चढ़ते हैं। इन 'घायल राग स्वरों' में दुःख बिखरा हुआ है और इसके बाएं हैं समाधि-कक्ष जिसमें 'आरक्त ध्रुवपद' की गूंज है। इसकी पन्द्रह गीत प्रतीतियों में 'दुःख का महानद' समाया है। 'ऊब' और 'गुलामी' की थकान 'त्रिमुखी पीड़ा' बन कर पृथ्वी के गोलार्द्ध की नपाई करती है। इनमें सागर होने की चाह है। इस कृति में आत्म साक्षात्कार की द्वन्द्वमुखी प्रतीतियां नई भावभूमि पर प्रसार पाकर काव्य के सांगीतिक सन्दर्भों का पुनरान्वेषण करती है। इस संग्रह के गीत/नवगीत कवि के पूर्व प्रकाशित संग्रहों 'मुखरित संवेदन', 'वाणी के कलाकार', 'धरती-गीताम्बरा', 'शांति गंधर्व' और 'उत्सव गीतों की लाश पर' में से संकलित है जो विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत पुनः प्रकाशित हैं।

कवि के रचना-संसार के इस प्रौढ़ि चरण पर पहुंचने में संगीत और कंठ का निर्विवाद योग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसे कवि ने स्वीकारा भी है। लगता है शास्त्रीय सांगीतिक शीर्षकों में बंटे इस संग्रह के खण्ड काव्यधारा की रचनात्मक सांगीतिकता के महत्त्व को रेखांकित करना चाहते हैं। संगीत धर्मिता वीरेन्द्र मिश्र का वैसे ही एक खास मिज़ाज है जैसे शैल्पिक प्रयोगधर्मिता। शैल्पिक चातुर्य की नफीस भंगिमाओं की तरह कवि का रचनात्मक मन संगीत को मात्र शाब्दिक सत्ता नहीं स्वीकारता अपितु अनुभूति और प्रतीति के स्तर पर उसे पूरी तन्मयता से जीता है जैसे 'कनु प्रिया' की राधा। अतः यह सांगीतिक गीत-आयोजन 'एक उदास शाम' से शुरू होकर अन्ततः 'सागर' में निलय होने की संकल्प-भावना से बंधा है। 'हंस मंजरी', 'रूपक ताल', 'नट विहाग रोया', 'स्वर समष्टि' और 'आरक्त ध्रुपद' शीर्षकों को व्यक्ति से समष्टि यात्रा के सेतु सम्बन्धों का पड़ाव माना जा सकता है अथवा ये सांगीतिक पदचापें मनुष्य प्रतीतियों के विस्तार फलक की वे सूर्यम्पश्यी दिशाएं हैं जो मनुष्य के द्वन्द्व संघर्ष और चिन्तन को हृदय और बुद्धि का अर्क देकर मुक्ति का भोजपत्र लिखती हैं। रूप, रंग, गंध के राग भरे जाल पर झूमती हंस मंजरी 'भीतरी हिलोर के उछाह' को 'पंख और पांखुरी' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 11*) बना देते हैं। इसमें 'अश्रु जल तरंग की हर नयी उछाल' अन्तर्चेतना का सांगीतिक प्रकाश वृत्त है जिसमें उदास, हताश, जीवन पर्व-उत्सव बनने को मचलने लगता है। इसलिए हंस मंजरी के गान धाराओं के गान हैं। गीत हंसिनी की उड़ान गंतव्य की ओर इंगित करती है –

"सतहों तक चल कर मुश्किल है धाराओं तक बह बह जाना
दर्पण भले बाद में बनना, पहले प्रेम नदी तो हो ले।" (*पृ. 15*)

'नये गीत के काफिले' (*पृ. 16*), कभी धूप बन कर चढ़े और कभी छांव बन कर ढलते हुए 'रूपक ताल' पर 'फूल-हंसी' (*पृ. 17*) लेकर आए। 'गीत-बांसुरी' (*पृ. 30*) चहक कर रूपक ताल को परिभाषित करने लगी –

"गुनगुनाया प्यार से जब
'भैरवी' में 'जोगिया'
कहा मालिन ने कि पगले
हाय रे, ये क्या किया!
प्रेम-वन के ताल की हैं
हर लहर 'महकी'।" (*पृ. 29*)

लेकिन 'निषाद-मन' (*पृ. 34*), 'दुष्चक्रावात' (*पृ. 35*) से घिरा रहा (*पृ. 30*)। गीत-सफ़र की रचनात्मकता शिखर-रोही वाचालता जगाती है। कभी गीत कवि को कातता है तो कभी कवि गीत को मीड़ देता है, इसलिए 'नट विहाग रोया' तक पहुंचने से पूर्व कवि अपनी स्थिति स्पष्ट करता है –

"हम लिखित संगीत हैं लघु पत्रिका के... ...
धूप को पीते हुए ताज़ा हवा में
धूल के नवगीत हैं, भाषण नहीं।" (*पृ. 42*)

'आदमी के दुःख' (*पृ. 46*) को गाता और वस्तु स्थिति (*पृ. 47*) को आंकता 'नट विहाग' (*पृ. 45*) अपनी रुलाई नहीं रोक पाता। वह अन्दर तक फूट पड़ता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"आंसू की दीर्घा/ बैठी करुणा/ जब-जब आकंठ डबडबाई
कांप-कांप उठी/ एक बांसुरी/ पांखुरी उदास थरथराई
भीतर खुशबू/ बाहर फूलबाग रोया।" (*पृ. 45*)

अन्दर की 'दावाग्नि' (*पृ. 52*) को फूंक कर कवि 'बादल मन' (*पृ. 55*) हो जाता है। एक-एक गीत यात्रा का स्मृति-चिह्न लेकर 'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' की भावना को आकारित करने का संघर्ष करता है। मन का संगीत-ताप यहां पिघल कर विश्वास बन जाता है –

"चन्द्रकौंस हूं मैं संगीत निशा का
भोर की सभाओं में सूर्यमुखी होना है।" (*पृ. 49*)

'सूर्य-नमन' (*पृ. 51*),'स्वर-समष्टि' (*पृ. 59*) की आराधना है। आराधना का पहला छंद 'रागों में दुःख बिखरा स्वर-समष्टि हो' (*पृ. 59*) की कामना आलोक के हस्ताक्षर हैं लेकिन कवि जानता है 'बहुत कठिन है सघन वृक्ष बन पाना' (*पृ. 64*), इसलिए 'वृक्ष गीत' (*पृ. 64*), की छाया में नेपथ्य गीत (*पृ. 65*) का भावार्थ असफलता (*पृ. 69*) की रेड लाईन खींच देता है, दूसरी ओर 'आरक्त ध्रुवपद' की 'अग्निशिखा' बनने के लिए रचना मन मृदंग बन जाता है –

"केवल झूमो, सुन-सुन
ताक-धिना-धिन
धिन-धिन" (*पृ. 64*)

आरक्त ध्रुवपद को कवि 'बंदूक-उवाच' (*पृ. 76*) शैली में शब्द देता है लेकिन तरल। दुःख की परत पर चढ़ी परत विवशता और चेतना विस्फोट के सभी द्वारों पर 'आरक्त ध्रुवपद' का बोर्ड टांग देती है। कवि अत्यन्त सहजता से व्यक्ति-मानस से सामाजिक सांस्कृतिक, राजनैतिक सरोकारों के अपने दबे ज्वालामुखी की ओर संकेत कर देता है। क्रान्ति की रचनात्मक विध्वंसात्मकता का यह रचनाशील रूप षडज से परहेज कर बांसुरी सुर में गाता है। हांलाकि शब्द-विस्फोट में गंधक नहीं है विवशता और आन्तरिक दुःख की अन्तर्ध्वनि संगीत की गूंज बन कर 'आरक्त ध्रुवपद' की शक्ल ले लेती है। 'आरक्त' शब्द की महीन अन्तर्मुखता 'सांगीतिक ध्रुवपद' के परिणय में बर्फ खण्ड की तरह पिघल गयी है। इस पिघलन के परिणय-उत्सव में विषाद-अवसाद की लय पूरी तरह आरक्त होकर क्रान्ति नहीं बन पाती, बह कर एक दूसरे में समा जाती है। 'आरक्त' और 'ध्रुवपद' का यह संयोग सृजनात्मक प्रसव की भूमिका है। इसमें कृष्ण का कर्मयोगी रूप है, लीलाधारी नहीं। बांसुरी में शंख की ध्वनि का यह प्रयोग सचमुच कवि चेतना की अन्तर्भूमि का द्वन्द्व है जो गीत की कोमलता का स्पर्श पाकर क्रान्तिदर्शी नहीं रहा।'आरक्त' और 'ध्रुवपद' के परिणय-उत्सव के पर्व-गर्भ का स्वागत होगा, यह तय है। नवगीत की भीड़ में इस 'आरक्त ध्रुवपद' को सुनिये और गुनगुनाइये –

"दुःख का महानद है जहां
आरक्त ध्रुवपद है वहां
है प्रार्थना यह नहीं, यह समवेत संचित शेष का
यह गीत है ज्वालामुखी-विस्फोट, अक्षय कोष का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पथभ्रष्ट संसद है जहां
आरक्त ध्रुवपद है वहां
हर झोंपड़ी की यातना, पीड़ा, क्षुधा, कुण्ठा थकन
यह प्यास की अंतरकथा, बंजर जमीनों की तपन
संस्कृति निरापद है जहां
आरक्त ध्रुवपद है वहां
जलते करोड़ों पंख हैं, चिन्गारियों की भीड़ में
चल कर षड़ज से टीप तक, यह गूंजता हर मीड़ में
हंसता सभासद है जहां
आरक्त ध्रुवपद है वहां
यह नहीं छायागीत का रंगीन कोई सिलसिला
यह चिलचिलाती धूप पीते हुओं का ठर्रा नशा
सुर का हुआ वध है जहां
आरक्त ध्रुवपद है वहां।" (*पृ. 75*)

'आरक्त ध्रुवपद' की छाया लेकर ही कवि 'पैबंद लगी कुर्सियां' (*पृ. 80*) और 'छद्म-व्यवस्था' (*पृ. 83*) के बदलाव की ज़मीन पोली करता है। इसीलिए इसकी गीत-परिधि में 'नेल्सन मंडेला' (*पृ. 93*) भी हैं और चोखेलाल नाई भी। फूल रौंदते पांवों को (*पृ. 85*) काटने के लिए अदला-बदली की जगह व्यवस्था के दीमक लगे काठमहल को धराशायी करना होगा तभी 'मिश्रजोगिया' का शिखर गीत गुनगुनाया जा सकेगा –

"सागर में मिल जा हिमनद-सा
मिश्र जोगिया!
श्रुति हो जा
वंशी पर छिड़ता पीलू हो
सारंगी पर मालकौंस हो
तट पर बैठ पहाड़ी धुन में
मत संतूर छेड़ अपना
गाना हो तो काव्य-गीत गा
जल तरंग पर सुरमण्डल पर
सान्ध्य किन्नरी है हिलोर में
ज्वार उठा, हिल्लोल हुआ
छिड़ती है मन की मृदंग तो
दुहराती पुरिया घनाश्री
थल के स्वर में, जल भी गाए
हो तो, ऐसी हो सन्ध्या।" (*पृ. 95*)

'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' के सांगीतिक गीत-बिम्बों के माध्यम से वस्तुतः हम 'मुखरित संवेदन',

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वाणी के कलाकार', 'धरती गीताम्बरा', 'शांति गंधर्व', 'उत्सव-गीतों की लाश पर' का संधन कर लेते हैं। आत्म-चिन्तन के स्फीत पाट पर फैली इन रचनाओं को हृदय-बोध की सुरभि ने सुगंधित कर 'धूप-गंधित' होना सिखाया है। इसलिए ये गीतात्मक अभिव्यक्तियां अतिबौद्धिकता का सूत नहीं काततीं, समय को कातती हैं, उसे रागरंजित कर प्रयोगोन्मुखी मालकौंस बन जाती हैं। इस समावेशी चिन्तन-बोध की रागात्मकता किसी न किसी रूप में व्यक्ति-मन की भीतरी-बाहरी लयात्मकता से जुड़ी है।

'ढाई आखर' का सफ़र

वीरेन्द्र मिश्र की गीत-सृष्टि का प्रारम्भिक चरण रूप-यौवन की सौन्दर्य जनित सीढ़ी पर ही पड़ा है। रोमाण्टिक कल्पनात्मकता और रहस्यमयी भावनात्मकता की धूप-छांही सुन्दरता उनके गीतों को अलसाई सन्ध्या का सुहाग़ देती है। इनके गीतों की उदास, मधुर शाम भीगते पंख को जूड़े में खोंस कर, बरखा की माधुरी फुहार की सितार पर सिर रख कर सोयी तरुणी की कच्ची तरुणाई सी मोहक है जो रांगे की धूप और तांबे की शाम के अजीब रंग वाला फूलों से महका परिधान धारे है (*अविराम चल मधुवंती : पृ. 73*)। खुले नभ में गुलाब-जल से भरे बादल की नील-गागर से छलक कर, जब-जब गीत, कवि के कण्ठ से वाणी का प्रसाद पा निकले हैं तभी श्रोता नन्दन निकुंज से आते फूलों के गंध भरे झोंके के समान मस्ती से झूम उठे हैं (*पृ. 74*)। वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में अनुभूति की गहराई, विचारों की गम्भीरता एवं शैली की सहजता व कोमलता का अनूठा सम्मिश्रण परिलक्षित होता है (*द्रष्टव्य : डॉ. मंजु गुप्ता : आधुनिक गीतिकाव्य का शिल्प विधान : पृ. 238-239*)। गीतकार की सौन्दर्य चेतना जीवन के उदयकाल में स्वर्गिक रूप के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से तृप्त नहीं होती। वीरेन्द्र मिश्र ने भी रूपसी-प्रेयसी के झिलमिलाते अछूते सौन्दर्य के जब प्रथम बार दर्शन किए तो रूपाकर्षण के मादक क्षणों में कवि का अपरिचित गीतों की सृष्टि से प्रथम बार परिचय हो गया –

"पहली पहली बार मिले तुम पहली-पहली बार
देख रहे हो, आज अपरिचित गीतों का संसार।" (*गीतम : पृ. 39*)

परिणाम-स्वरूप कवि यौवन की आवेशमय डगर पर कुछ कदम नापने के पश्चात् ही प्रेम के भावमय गीत गाना सीख गया। सम्भवतः इसका एक प्रमुख कारण रूपसी यौवना का रूपाकर्षण है जो प्रेम के माध्यम से ही उत्पन्न हो सकता है –

"पास आ कर मुस्कुराओ, गीत गाओ, झूम जाओ
रूप यौवन की डगर पर, आज मैं भी और तुम भी।" (*पृ. 49*)

इन प्रारम्भिक गीतों में कवि ने अपनी प्रणय-भावनाओं की अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष न कर प्राकृतिक उपकरणों के माध्यम से प्रतीकात्मक शैली में की है। प्रेयसी तथा प्रिय के स्थान पर कवि ने भ्रमर, सुमन, पवन आदि प्रकृति के क्षेत्र से विभिन्न प्रतीकों का सुन्दर चयन कर प्रणयाभिव्यक्ति की है। इन्हें देख कर प्रकृति-गीत होने की भ्रान्ति किसी रूप में नहीं होनी चाहिए क्योंकि अपनी परवर्ती गीत-सृष्टि में कवि ने स्पष्ट रूप से प्रकृति के प्रतीकों को त्याग कर उत्तम पुरुष अर्थात् 'मैं' द्वारा प्रणयाभिव्यक्ति की है। यहां तक आते-आते गीतों में प्रेम का स्वरूप परिवर्तित होकर उदात्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धरातल पर प्रतिष्ठित हो गया है। अब प्रेम भोग परक न रह कर प्रेरणा के भास्वर-स्वर में परिवर्तित हो गया है। यह कुंदन अग्नि निराशान्धकार के इस्पाती प्रस्तरों में छिद्र करने की असीम शक्ति देती है –

"आओ निकट, मत डरो आग से
है प्रलयकाल फिर भी बढ़ाओ चरण।" (*लेखनी बेला : पृ. 50*)

इन गीतों में जहां एक ओर कवि के सौन्दर्य प्रेमी प्रणयी हृदय के स्वच्छ दर्शन होते हैं वहां दूसरी ओर उस के हृदय की सारी कसमसाहट, व्यथा और पीड़ा भी छलक कर बाहर आ जाती है और यह सब इतने सहज स्वाभाविक और अकृत्रिम रूप में होता है कि कवि का कुंठाहीन व्यक्तित्व भी पूरी तरह झलक उठता है, वस्तुतः यह कवि की व्यापक दृष्टि है जो उसके प्रणय को विकृत नहीं बनाती, प्रत्युत उसकी भावनाओं में इच्छित प्रसार के भी दर्शन देती है। यद्यपि कवि आशावादी और घोर आशावादी है फिर भी यदा-कदा जीवन के पथ पर चलते हुए उसे गहरी निराशा से भी साक्षात्कार करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में उसके स्वरों में विषाद और पराजय, थकान और ऊब की नाना रागनियां भी घुल जाती हैं परन्तु शीघ्र ही कवि की सजग-दृष्टि उसकी सामाजिकता उसे इन स्वरों का सन्धान करने को प्रेरित करती है और कवि इस प्रकार उन नए स्वरों को गाने लगता है जैसे इन पिछले क्षणिक स्वरों से उसका कभी कोई सम्बन्ध न रहा हो। (*दृष्टव्य : डॉ. शिव कुमार मिश्र : नया हिन्दी काव्य : पृ. 318-319*)

प्रिय-पात्र के साथ अमावस्या की घोर रात्रि भी उसके लिए स्वर्ण-विहान का वरण करेगी। प्रिय से कैसी हार और कैसी जीत? सच्चा प्रेम ज़िन्दगी संवारता है उसे प्राप्त करने के लिए मानव को सबसे पहले अपने अंह को त्यागना होगा, हार को गले लगाना होगा –

"है अमावस घिर रहा है मेघ काला
किन्तु सारा तम ख़तम है, साथ तेरे साथ, रानी
काट देंगे हम अंधेरी जिन्दगी की रात, रानी।" (*गीतम : पृ. 64*)

* * *

"आज मुझसे कहा गीत ने
मन किसी रूप का जीत ले
मौज से हार जा।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 21*)

'हंस-मंजरी' यूं तो एक राग है किन्तु कवि ने प्रतीकार्थ रूप में इसकी अभिव्यञ्जना की है ..

"दूर पर छिड़ी कहीं महीन बांसुरी
आ गए समीप पंख और पांखुरी
प्यार के पहाड़ के
हर पलाश ढाल पर
छेड़ हंस मंजरी।" (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 11*)

प्रणय के अभाव में मन तो भटकता ही है, व्यक्तित्व भी अपूर्ण और अधूरा रहता है। प्रेमी-मन ही बात को सहजता से समझ सकता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जो निरख सके सपन, वे नयन मिले नहीं
जो समझ सकें थकन, वे चरण मिले नहीं
मन भटक-भटक गया/ जिस पलाश के लिए
काश उसे मिल सके/ रूप और माधुरी।" (*पृ. 30*)

गीत का उत्स वीरेन्द्र मिश्र प्रेम से ही मानते हैं, इसीलिए जीवन में प्रेम का महत्त्व सर्वाधिक है

"मन का जमुना तीर जहां है आया गीत वहां से है
अपनी टक्कर अपने से है या फिर शाहजहां से है
सागर तट पर खुद गढ़ देंगे ज्यादा प्यारा ताज़महल।" (*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 62*)

'ढाई आखर' की इस यात्रा में ही समूची सृष्टि का अक्षत-चिन्तन गोलार्द्ध की पूरी नपाई कर लेता है –

"ढाई आखर पहने शब्दों का हमसफर
चीर रहे काला जल पतवारों से।" (*पृ. 65*)

मरूस्थल के बीच जल कमल-सी खिलती 'ढाई आखर' की इस यात्रा का पथ शूलबद्ध चट्टानों की तरह सीधा खड़ा और तना है। बीच में गहरी घाटियां हैं, अन्धी सुरंगें झूल रही हैं। इसीलिए कवि अपनी रूपसी-प्रेयसी को पहले ही सचेत करता हुआ तब आगे चरण रखता है कि गीत सुख-सुविधाओं की जनसामान्य प्रदर्शिनी नहीं है। इन प्रेम-पूर्ण मन की सांसों का व्यापार करने के लिए कण्टकित पथ पर चल कर विपत्तियों तथा आपदाओं के कठोर आतप में अपने गोरांग को तपाना होगा। यदि इन कष्टों के चट्टानी शैलों को लांघने का साहस हो तो इस प्रेम-पन्थ के दुष्कर मग में उसका साथ स्वीकार करे –

"गीत नुमाइश नहीं, कड़कती यह जीवन की धूप
इसकी छाया बनो, निखारो अपना शीतल रूप
समय काटना हो तो ढूंढो कोई अच्छा द्वार
गीत हाट में तो है मन की सांसों का व्यापार।" (*गीतम : पृ. 40*)

इस प्रकार मात्र साथ ही स्वीकार न करें जीवन के कण्टकित मग की शुष्क, नीरस, तप्त मरुभूमि को नूतनाभूतियों से उन्मादक प्रेरणामयी दिशाएं दे सके तो वह उसे प्रेम करे (*दृष्टव्य : पृ. 41*) और उसके नवीन सूत्रों की प्राण-चेतना का व्यवस्थित गन्तव्य बन जाए –

"मुझ को चलने देना है तो प्यार करो मंजिल बन जाओ।" (*लेखनी बेला : पृ. 30*)

तर्कीली बैरिन प्रकृति

यद्यपि वीरेन्द्र मिश्र की प्रारम्भिक प्रेमाभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से ही हुई है जिनमें प्रकृति का आलम्बन रूप प्रमुख रूप से उभर कर आया है लेकिन जब उनके गीतों में मानव प्रधान हुआ तब प्रकृति का आलम्बन रूप परिवर्तित होकर उद्दीपन रूप प्रमुख हो गया –

"घटा उठे तो मेरा मन भी हो गाने को हंसने को
बादल चुप बैठा है उससे भी तो कहो बरसने को।" (*पृ. 34*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के माध्यम से कवि युगीन यथार्थ की तीखी व्यञ्जना करता है –

"तपती है धूप नदी/ नहा रहे हम
तैरना नहीं आता/ उतरे क्यों जल में
धूप नदी का पानी/ ले आए नल में
युग का गीला यथार्थ/ भोगा है पल में।" (*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 76*)

जीवन की असंगतियां यथार्थ की कठोर भट्टी में तप कर ही बैरिन हुई हैं –

"चूनर सी ओढ़ोगी कब तक यह चांदनी
देखो तो नीचे कितनी ज़मीन काली है।" (*पृ. 38*)

ऊपरी तौर पर हम इक्कीसवीं सदी के द्वार पर दस्तक दे रहे हैं। प्रगति चक्र के पुर्ज़े बने हम इस बौद्धिक समाज की नुमाइन्दगी कर रहे हैं लेकिन हमारी मानसिकता अन्तर्विरोधी आचरणों, कूटनीतिक व्यवस्था, अमानवीय आचार संहिताओं, शराबी की तरह रोज़ तोड़ी जाने वाली शपथों, घुटन कुंठी विघटनों से काली हैं। चेहरे गुलाब पंखुरी हैं लेकिन आंखों में अमलताश की नकाबधारी चुभन-चमक है। सिमटते दायरों में फैलते हम यथार्थ-वृत्त में जुआरी मानसिकता से पीड़ित हैं। खुद से अपिरिचित हम दफा मानवीय मूल्यों के उल्लंघन के जुर्म में एक बटा दो कैद काट रहे हैं। बुद्धि हमारी जेलर है जिसने आज की इस संवेदनहीन मुखौटा कल्चर को जन्म दिया है। इसीलिए हृदय-मन अपराधी है तार्किकता न्यायाधीश –

"ओ मौसम, प्यारे मौसम!
तुम आए हो कुछ ऐसे
सपना आता हो जैसे।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 57*)

'कश्मीर' (*धरती गीताम्बरा : पृ. 30*), 'शिखर-शिखर से सागर-सागर' (*पृ. 35*) आदि गीतों में कमोबेश इन्हीं भाववृत्तियों की सागरीय गागर मानवीकृत होकर घूंघटमुखी हुई है। 'शेरपा' के वीरगति प्राप्त होने पर हिमालयी सन्ध्या का आंसू प्रवाहित करना, चट्टानों का सिसकना आदि चित्र सूक्ष्मदर्शी एवं मर्मस्पर्शी है –

"आंसू भरी हिमालय संध्या, चट्टानों पर सिसक रही है
खेत रहा है वीर शेरपा
कफन नहीं है, बर्फ पड़ी है।" (*पृ. 53*)

मनुष्य अपने जीवन में प्रकृति को चाहे कितना ही महत्त्वपूर्ण स्थान दे, उस पर मानवीय भावनाओं का आरोपण कर अपने मन के हर्ष, शोक, आवेग आदि कितने ही भावों की तीव्राभिव्यक्ति करे किन्तु प्रकृति और मानव में निश्चित मौलिक अन्तर है। कवि-चेतना यहां तर्कशील है। प्रकृति दुःख के प्रति अचेत है और मानव सचेत। इसीलिए मानव के दुःख, वेदना, पीड़ा की साझीदार (*गीतम : पृ. 42*) प्रकृति कैसे हो सकती है –

"मुझ में तुम में इतनी समानता है केवल
मैं भी तेरी ही तरह सुमन कहलाता हूं
तू मधुवन में पाटल बन कर मुस्काता है
मैं दृग-जल में बन नील-कमल लहराता हूं।" (*पृ. 42*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणय पल : वेदना

'गीत' और 'वेदना' का रिश्ता हिम-सागर, नर-नारी सा है। 'लय' इनका परिणय-क्षण है। 'लय' की सुहाग-वेला गीत को एकत्व की डोर में बांध देती है। गीत, वेदना और लय की सांयोगिक रचनात्मकता जब फूट कर शब्द रूप लेती है तब पलक-सेज पर बिछी प्रिय चितवनें आंसू लिबास पहन कर चंदनगंधी हो जाती है। फूल से हल्के रचना क्षण द्रवित प्यास बन जाते हैं –

"जिस समय से रचा गीत है/ वह नयन का नया मीत है ... ..
कुछ अजब-सी उठी एक प्यास/ है गज़ब आसुओं का लिबास
जिस निमिष से खिला-फूल है/ आंख में सज रही धूल है।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 20*)

वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में वेदना तीन रूपों में अभिव्यक्त हुई है – वैयक्तिक वेदना, (*गीतम: पृ. 63*), प्रियजनों की वेदना और सामाजिक वेदना। वैयक्तिक वेदना दो रूपों में है। प्रथम प्रेम की हताशा (*पृ. 43*) से उत्पन्न विषाद के क्षण जब कवि की भावना शून्य में भटकने लगती है और प्रिय-सम्मिलन की मधुर स्मृतियां विरह की आग्नेय तपन में कवि-भावना की मधुरता को तपा कर एक हलचल का निर्माण कर देती है, ऐसे घोर नैराश्य क्षणों में रूपसी-प्रेयसी की जीती-जागती तस्वीर उभर आती है और कवि विचलित होकर विश्व को धिक्कारता है। प्रेम की चरम हताशा प्रिय के अभाव को बोझ बना देती है। असहनीय वेदना के क्षण तो वे हैं जब प्रिय-पात्र अश्रुओं की सार्थकता नहीं समझता –

"तुम न समझे हार को/ अर्पित नयन उपहार को/ दुःख है यही।" (*पृ. 76*)

सामाजिक असफलताओं से ग्रसित वेदना का दूसरा रूप भी वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में मुखर है। प्रियजनों की परिस्थितिजन्य दूरी से उत्पन्न वेदना के साथ ही सामाजिक विषमताएं भी कवि की पीड़ा को द्विगुणित कर बेचैन बनाए रखती हैं –

"चूल्हा जलता रहे ज़िन्दगी का सदा
इसलिए अनमोल गीत/ मैं तुझे दे रहा माटी मोल।" (*लेखनी बेला : पृ. 122*)

आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक सभी क्षेत्र तन-मन की इकाई को तोड़ने में संलग्न रहते हैं। आर्थिक सामाजिक वैषम्य की जर्जरता ने मनुष्य इकाई को पूर्णतः तोड़ घुटन में परिवर्तित कर दिया है। इस घुटन के विष धुएं को पी कर कवि का विवश नियतिबोध हंसता, मुस्कुराता है –

"आंसू नहीं निकलते मेरी आंख से
इसीलिए हंसता हूं सबके सामने।" (*गीतम : पृ. 97*)
"ज़िन्दगी है असम्मान की/ बाग में रो रही जानकी
है न अब भी दशानन सही/ देख मन्दोदरी कह रही।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 9*)
"पी डालो आंखों के दुःखदायी आंसू/ चिपका लो अधरों पर झूठी मुस्कानें
मेरे मन, दुःख मत दो रेशमी निशा को/ जल जाने दो अपने सुर्ख शामियाने।"
(*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 52*)

कवि की संकल्प-कामना का यह चितिरूप शिवदर्शी नेत्रों का आलोक बोध है क्योंकि वह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर्वत-दर्द की अपेक्षा राई सुख की रचनात्मक पक्षधरता की वकालत करता है –

"नींद टूट जाएगी रस-विभोर लोगों की
छेड़ो मत दर्द-भरी बांसुरी
निष्कण्टक चलने दो मीठे व्यापारों को
प्याले में घुलने दो माधुरी
पर्वत-सा दर्द नहीं, राई से सुख को
तुम्हें अमर करना है, गीत के बहाने।" (*पृ. 52*)

'छायानटी-जीवन' झुलस गया और 'दुःख के महानद में' 'आरक्त ध्रुवपद' बेसुरा हो गया। गीतों में भले ही दुःख बिखरा हो किन्तु स्वर समष्टिपरक ही होना चाहिए (*पृ. 59*)। संसद पथभ्रष्ट है, चिन्गारियों की भीड़ में करोड़ों पंख जल रहे हैं, गीत-संगीत में षडज से टीप तक दुःख और वेदना ही व्याप्त है (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस :पृ. 75*)।

गत्यात्मक सूत्रात्मकता : जिज़ीविषा एवं जीवट

गीत-रचना के द्वितीय-चरण में वीरेन्द्र मिश्र काल्पनिक जगत में विचरणा छोड़ कर यथार्थ की कटु धरती पर उतर आए –

"स्वप्न से मेरा कभी सम्बन्ध था/ बात वह बीती कि जब मैं मन्द था
आज मैं गतिमय मुझे कटु सत्य के/ पास लगती जा रही है ज़िन्दगी।" (*गीतम : पृ. 82*)

यहां आ कर उन्होंने सायास, साग्रह जीवन की वास्तविकताओं को निकट से देखने का प्रयत्न किया –

"ज़िन्दगानी गा रहा हूं मन नहीं बहला रहा हूं।" (*पृ. 127*)

जीवन के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण ने कवि को 'दर्द' से परिचित करा तड़फड़ाते उद्विग्न मानव जन से सहानुभूति का मानवीय पाठ पढ़ाया है –

"चलो उसी भीगे नयन तक ले चलूं/ चांद को जाते चरण तक ले चलूं।"
(*लेखनी बेला : पृ. 15*)

इस दृष्टिकोण ने कवि जीवन को नए आयाम दिए, परिणामस्वरूप आत्मविश्वास पाक आस्था सुदृढ़ हुई। इसी विश्वास के बल पर कवि ने जीवन की रणभूमि में वेदना विषमताओं से जूझना सीखा है क्योंकि अनवरत चलते जीवन ने उसे 'शक्ति ही सच्ची ज़िन्दगी है' की अमूल्य परिभाषा दी है –

"मैंने सीखी यह परिभाषा जीवन से
जो उगता है, उसको सूरज कहते हैं
ढलने पर सूरज कब सूरज रहता है
मुंदने पर पंकज क्या पंकज रहते हैं।" (*पृ. 33*)

"लुटे मंजिलों के तले/ समय के कई काफ़िले
न रुक तू पथिक के नगर/ पकड़ सूरजों की डगर
रुके जो नहीं।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 23*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म और जीवट साध-साधना और त्याग है। भागीरथी पर्वतों का तिमिर चीर कर धरती का तरल हृदय बनी है फिर कर्म-कर्मठता जीवी मनुष्य गहन गूढ़ अंधेरे को क्यों नहीं चीर सकता। कवि भावना को चिन्तन तुर्श आह्वान बनाता है –

"साहसी बन जुड़ो ज्वार से
तीर छोड़ो तरी, प्यार से
कुछ बहो तो सही।" (*पृ. 24*)

'गीतम' से लेकर 'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' तक गाहे-बगाहे इसी जिज़ीविषा ताप को कवि ने चेतनाधर्मी गीत-बिम्बों से तल्ख़ और द्रवधारी बनाया है। राष्ट्रीय गीतों के सुर-संगीत का आधार भी यही भाव बोध है। राष्ट्रीय भाव वीणा का यह चन्द्रकौंसी स्वर 'धरती गीताम्बरा' की देह को थरथराता हृदय तक सेतु बन कर प्रवाहित होता है क्योंकि इसमें सूर्यमुखी आचरण की गतिशीलता है, निशाप्रेमी चन्द्रकौंसी नींद लहर नहीं –

"नींद नहीं जागरण बिखेरो/ ढेर-ढेर फूल मत बिखेरो
कागज के फूल मत बिखेरो/ देश के सवेरो।" (*धरती गीताम्बरा : पृ. 99*)

आत्मविश्वास की परिपक्वावस्था वैचारिक अनुभव प्रौढ़ि की छाया में भावनाओं को सेतु-संतुलन बनाना सीख गई है। यही कारण है कि वह सुविधाजनक समझौतों के खिलाफ है। स्वार्थों के चिड़ियाघर में सिमटता जा रहा दोपाया आदमखोर इंसान राजनीतिक सत्ता के शो विण्डोस में बिकाऊ डुगडुगी बन कर लटका है। इन स्थितियों के तक्षक मोड़ों पर कवि-चेतना से टकराहट जरूरी है, गैर जरूरी केवल पिछले दरवाज़ों से किए गए आत्मघाती समझौते हैं। कवि के साथ क्या हम भी यह नहीं महसूस करते कि आज का युग प्रदर्शन विज्ञापन और प्रचार का है, उस शो-रूम में हम एक वस्तु बन कर रह गए हैं; जिनका भविष्य टेबल पर, दृष्टि कुर्सी पर और हाथ किसी के कंधों पर है। लेकिन क्या इस प्रकार के समझौते व्यक्ति, समाज को कभी रास आये हैं। इसीलिए जीवन के प्रति ईमानदार रहते हुए 'चरेवैति-चरेवैति' का उपनिष्दीय सिद्धान्त जीवन की कर्म-चेतना की गत्यात्मक सूत्रात्मकता है। कवि-चेतना इसी सूत्रात्मकता पर संकल्प-सूर्य होकर अमल करने की पक्षधर है। चरेवैति के इस गति-दर्शन में कर्त्तव्य का बंधन भी है, संघर्ष-चुनौतियां भी –

"स्वप्न के मेले सजाते ही न रहना, सत्य के ईमान का भी ध्यान रखना।"
(*गीतम : पृ. 122*)

"कि जब तूफान आया है
हिलोरों ने बुलाया है
तुम्हारी नाव क्या तट से बंधी रह जाएगी।" (*पृ. 84*)

कर्म-सौन्दर्य से मिल कर इन संघर्ष चुनौतियों ने ही कवि को साध्यमुखी बनाया है –

"अमृत-शर छोड़ेंगे, नील-गरल में हम भी
एक दिवस पहुंचेंगे, शीश-महल में हम भी
ये हैं वे हाथ, जिन्हें पत्थर भी जानते
ये हैं वे पांव, जिन्हें मंजिल से बल मिला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सारे निर्माणों के पीछे हैं हम ही तो
हमसे ही जन्मा सब खुशियों का सिलसिला।" (*शान्ति गंधर्व : पृ. 103*)

आ तुझे खिलती किरण तक ले चलूं
गीता के रूपम गगन तक ले चलूं।" (*लेखनी बेला : पृ. 13*)

जीवन कर्म-सौन्दर्य के उच्चतम शिखर पर पहुंचने के लिए अब उसके पास विकट संघर्ष एवं विश्वास का प्रवृत्तिमार्गी स्वस्थ जीवन-दर्शन है, अतः असफल होने की आशंका नहीं –

"मंजिल तक विश्वास स्वयं ले आएगा
अब मुझ को अपनी गति में भ्रम नहीं रहा।" (*गीतम : पृ. 85, 89*)

उसका प्रबल आत्मविश्वास आग-पानी के दुर्गम-पथ से अब स्वयं ही उसे नए स्वर्णिम आलोक-जगत् में ले जाएगा।

प्रवृत्तिमार्गी स्वस्थ जीवन-दर्शन सामाजिक सामूहिकता को अपने साथ लेकर चलता है। इसीलिए कवि वैयक्तिक भावना की आत्म-भर्त्सना करते हुए सामूहिकता के सत्य को प्रकाशित करने का उद्बोधन करता है –

"अपने लिए जिऊं तो मृत हूं, मैं हूं अश्रु सभी आंखों का।" (*लेखनी बेला : पृ. 56*)
"गीत की डोर को तोड़ना है नहीं साथियों, साथ अपना हुआ है नहीं साथियों।"
(*गीतम : पृ. 90*)

सामूहिकता को आत्मसात् कर, लोक-भावना से प्रेरित हो वीरेन्द्र मिश्र ने लोक-जीवन के अनेक सुन्दर बिम्ब खींचे (*दृष्टव्य : लेखनी बेला : पृ. 139, 24, 89*) हैं तथा उपर्युक्त जीवन से दूर पृथक् जीवन जीने का विरोध करते हुए इस विकृत प्रवृत्ति (*पृ. 139, 24, 89*) का निषेध किया है।

सामूहिकता के मूल में कवि का राजनीतिक साम्यवादी दृष्टकोण निहित है। वे एशिया निवासियों को शोषण और गुलामी से सावधान करते हैं –

"शोषित जानेगा शोषित की पीर, लेकिन
वह कैसे जानेगा जो अभिशप्त है।" (*गीतम : पृ. 97*)

"नये एशिया के इंसानों! नज़र उठाओ
शोषण और गुलामी को अवकाश न दो।" (*शांति गंधर्व : पृ. 46*)

साम्यवाद की सफलता में कवि की दृढ़ आस्था है। उसकी इस अडिग आस्था में व्यवधान उपस्थित कर यदि कोई असफलता की बात करता है तो कवि उसका उपहास करता है (*दृष्टव्य : गीतम : पृ. 93*)। इस बिन्दु पर आकर राजनीति वैयक्तिक प्रेमादि समस्याओं से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो गई है –

"मिलन तुम्हारा मुझे लुभाता, विरह तुम्हारा मुझे दुःखाता
मगर समय की थपेड़ खाता, हुआ मनुज भी मुझे बुलाता।" (*लेखनी बेला : पृ. 75*)

'नया एशिया' (*शांति गंधर्व : पृ. 115*), 'जलने दो दीप' (*पृ. 111*), 'युवा-कोरस' (*पृ. 117*) आदि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतों में कवि ने व्यक्ति और समाज को एक रंग घुलनशीलता दी है। 'पैसा' (*पृ. 123*) में जीने मरने की दास्तान है। इस महिमा-गीत में पैसा ही भगवान, ईमान, नैतिक मूल्य, पारिवारिक सम्बन्ध आदि का मानक दृष्टिबोध है। इसी में वैदिक, मंत्रोच्चार की गूंज है और यही सीढ़ी अधिकार को अग्निलीक बना कर हमदर्दों की भीड़ में बदल जाती है। इसकी परिधि में चन्द्रमा-सूर्य भी रोटी की शक्ल ले लेते हैं। पूंजीवादी व्यवस्था, सत्ता पर साम्यवादी प्रतिबद्धताओं का लेबल लगाना ही यहां कवि-सरोकार है। इसीलिए पैसे की ताकत को वह युग-सत्य की शोषक मुनादी मानता है। व्यंग्यधारी इन व्याल-फुंकारों के ज़रिये कवि गीत के अन्त में ताकीद करता है कि पैसे की गंगा को यदि महलों की चारदीवारी में ही कैद रखा तो आग-फाग शोषितों का क्रान्ति-पर्व होगा-

"रावण-दुर्योधन-कंसों के अधिकारों में
जब तक होता पैसे का अनुचित मूल्यांकन
तब तक जीवन में न्याय सचाई या सुख पर
अन्याय, झूठ, शोषण-षड्यन्त्रों का बंधन।" (*पृ. 130*)

कवि यथार्थ की कठोरता में गहरे तक पैठा है फिर भी उस के गीतकार मन ने उसकी कोमलता का त्याग नहीं किया। अतः उसकी क्रान्ति भी नीरज की भांति कोमल और रक्तपात रहित है। चूंकि कहीं भी कवि ज्वाला और रक्तपात का गीतकार नहीं बन पाया –

"तू जलता है, पर आग नहीं गा सकता हूं
कुछ सपने कुछ आंसू बिखेरता चलता हूं।" (*गीतम : पृ. 111*)

कवि अपनी इस दुर्बल मनः स्थिति से पूर्णतः भिज्ञ है। उसके गीत उदास हैं, तप पर भोर सजाने में असमर्थ। कालान्तर में कवि ने अपनी इस प्रवृत्ति को बदलने का संघर्ष जरूर किया है, लेकिन अन्ततः वह पिन चुभते ही फूले गुब्बारे का झुरझुरा, सरसरी विस्फोट साबित होता है –

"वह लिखता है खिलने वाली भोर को
तेरे मन में होने वाले शोर को
प्यार कहीं भी हो, दिख जायेगा उसे
दर्द कहीं भी हो, मिल जायेगा उसे
तलवारों के पथ में वह ललकार है
शांति अगर है वीणा, वह झंकार है
लेखक तो करता है उसकी आरती
जो पूजा करता है उसकी भारती।' (*शांति गंधर्व : पृ. 134*)

इनके इस प्रकार के क्रान्ति गीतों पर एक लचीली परत और कोमल ध्वनियों का मुलम्मा चढ़ा रहा है जो बुलबुलों की तरह फेनधारी झाग बन जाता है। इस प्रकार के गीत खरोंच तो देते हैं अग्नि लीक की ज्वलनशीलता नहीं बन पाते।

जलधारी मेघ : राष्ट्रीयता

समाज के राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक नवजागरण ने कवि को जहां जनसामान्य के समीप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लाकर प्रेम करना सिखाया है वहीं जन्मभूमि की माटी-खुशबू ने उसकी आत्मा को महकाया भी है। जिस धरती पर उसका शैशव खेला, यौवन खिला उसकी धूल धूसरित शक्ति से उसने अपना कद नापा है। इसीलिए कवि ने सच्चे मन से भारत-भूमि की सौंधी माटी का गुणगान करते हुए उसका जयजयकार किया है –

"सांझ सकारे चंदा सूरज करते जिसकी आरती
उस मिट्टी में मन का सोना ढाल दो
ग्रह-नक्षत्रों भारती की जय बोल दो।" (*लेखनी बेला, पृ. 172*)

देश की अनोखी संस्कृति कवि के रोम-रोम में रची-बसी है। भारतीय संस्कृति के प्रति कवि-मन की ललक-आस्था उसकी रचनाशीलता को ऐतिहासिक, पौराणिक गाथाओं से जोड़ती है। इसी सेतुपथ से होकर राष्ट्रीयता एवं राष्ट्रीय-संस्कृति से कवि ने अपने गीतों को फूल माधुर्य दिया है–

"संस्कृतियों के देश मेरे/ संसृतियों के देश मेरे/ संस्मृतियों के देश मेरे
ज्योति दो/ ज्ञान दो/ तम जहां हो/ छान दो।" (*पृ. 157*)

कहना न होगा कि सामाजिक चेत्तना और मानवतावादी दृष्टि कवि की पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे नये युग के सजग कवि का गौरव प्रदान करती है और उसका सम्बन्ध युग की प्रगतिशील शक्तियों के साथ जोड़े रखती है। उनकी इस सामाजिक चेतना और मानवतावादी दृष्टि ने जिस दिशा का स्पर्श किया चाहे वह युद्धों के विरोध (*शांति गंधर्व : पृ. 55*) और शक्ति के समर्थन से समर्थित हो या राष्ट्रीय गौरव अथवा कवि की देशभक्ति हो (*लेखनी बेला, पृ.142*) अथवा साम्राज्यवाद पूंजीवाद आदि के घृणित स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए अन्याय, शोषण और विषमता का प्रतिकार हो। कवि चेतना समता की समावेशी गूंज से विश्व बन्धुत्व के स्वप्नदर्शी कामना-स्वप्न से जुड़ी है। इसीलिए सभी दिशाओं को कोणमुखी होकर उसके गीतों ने निनादित किया है। यह निनाद जलधारी मेघों का है, मीठा, फसल पकाने वाला। इस रचना-पकाव में अलाव-धधकन भी है और अनाज सेंकने की ताप तप्त तंदूरी लपट भी। इन लपटों का आचरण सावधान है नहीं तो चूल्हा चूल्हा कुरुक्षेत्र हो जाए।

कोण-किरचें : चन्द्रकौंसी परिक्रमा

वैज्ञानिक आविष्कारों को भी कवि ने गीतधर्मी बनाया है। दूरदर्शनीय संस्कृति का हर तार आज कम्प्यूटर से जुड़ा है। संचार-माध्यमों, भौतिक लालसाओं की प्रतिच्छवि को इलैक्ट्रोस्टेट करने के लिए जीवन के हर क्षेत्र में आज कम्प्यूटर का दख़ल है। यंत्रीकृत जीवन-देहरी पर फिसलती जा रही कम्प्यूटरी कामनाएं रोबोट कर्म आचरण की मुरीद होती जा रही हैं। मशीनीकरण के इस धुंधवृत्त में मानव कम्प्यूटरी शून्य बन गया है। जीवन गणित में इसी शून्य का सबसे अधिक महत्त्व है। शून्य लगते ही दसगुना सौगुना हो जाता है। यन्त्रीकरण के इस विभीषक वरदान को हमें ओढ़ना ही है। कदम कदम पर रेंगती अनाथ बंधुआ इच्छाएं कम्प्यूटर के ज़रिए आज आकाश के तारों को भी गिन लेती हैं। वेदना-स्मिति के इसी ताप को कवि ने 'यंत्र गीतकार' (*शांति गंधर्व : पृ. 145*) में साधारणीकृत किया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वृक्ष-गीत' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 64*) में पर्यावरण-चिन्ता है। प्रदूषित जीवन का एक और मुखौटा। वृक्ष हमारे लिए प्राण वायु का स्रोत तो हैं ही, छाया, फल, फलों से हमें पोषित भी करते हैं। वृक्षारोपण अभियान को प्रतीकित करने वाले इस गीत में पर्यावरण पवित्रता का पर्व-बोध हैं।

'कुर्सी' (*धरती गीताम्बरा : पृ. 134*) आज चिड़िया की वह आंख है जिसको भेदना उतना ही सरल है जितना महाभारत काल में मुश्किल था। अर्जुन-प्रत्यंचा की भ्रू-भंगिमा धारे आज कुर्सी की आंख खुद नेताओं को काजल राग सिखाती है। पार्थीय व्याकरण को अपने-अपने हिस्से की धूप समझ कर आज हर कलानिधि नेता तिजोरी में बंद कर लेना चाहता है। कला-मर्मज्ञ इन अभिनेताओं के नेतायी करिश्में इन्क्लाब का कागजी आचरण ओढ़ कर पिस्सु की तरह जन त्वचा में गढ़ कर उसे जोंक की तरह चूसते हैं। रक्त फूले पेटों की चर्बी पर्वतीय भू-स्खलन का गीत समझने लगी है क्योंकि सत्ता-राग पर नृत्य करते-करते एक ही सुर के ठोक-पीट से पैबन्द दरारें बनते जा रहे हैं। कीलित जंग-दरारें लयविहीन होकर देहगामी हो गई हैं। जन-हृदय कोने में सिसक रहा है, अभिजात्य बौद्धिकता क्रूरभंगी मुद्रा में तरल हंसी हंस रही है। इसीलिए भस्मासुरी नेताओं का यह काफिला सत्ता गलियारे की ओर जाने वाले जनपथों को बंद कर राजपथ के निर्माण में व्यस्त हैं। उसी का परिणाम है कि –

"चरमरा रही है/ पैबंद लगी कुर्सी
एक भीड़ ने इसको माना सिंहासन
एक भीड़ ने इसको माना दु:शासन
झूठ के मुखौटों की, काली भीड़ों में
असुरों की शक्लें भी
दिखती हैं सुर-सी।" (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 82*)

'उत्सव-गीतों की लाश पर' (*पृ. 80*) में उत्सव-संस्कृति का नृत्यबोध है। साहसी नाविकों के सम्बन्ध में प्रकाशित समाचार से प्रेरित, 'संकल्प-निष्ठ नाविकों' (*कांपती बांसुरी : पृ. 62*) के गीत में उन नाविकों की प्रशंसा है जिन्होंने सागर पर गिरवी रखी धरती की साख' को अपने प्राण-कर्म के ओजस से बचाया है। 'पर्वत-संकल्पों के मुट्ठी भर लोगों में रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'एकला चालो रे' सिद्धान्त की प्रतिच्छवि है –

"दूर महासागर की लम्बी गहराई तक
चला गया उन का वह एकला जहाज।" (*पृ. 62*)

'बन्दूक उवाच' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 76*) में बन्दूक का मानवीकरण है। इस बंदूक को किसी से डर, भय नहीं क्योंकि यह स्वतन्त्र है और इसे धारण करने वाला इसका गुलाम। जब-जब आतंक की उग्र प्रवृत्तियां बीज से अंकुर, अंकुर से विटप और विटप से वृक्ष बनती हैं तब-तब उसकी शाखाओं-प्रशाखाओं में रक्त-नीड़ सुरक्षित होकर अपनी राजनीतिक इच्छाओं को रंग देने के लिए हिंसक काल का कवच पहन लेता है। काल की इस हिंसक नृत्य लीला में मणिपुरी, कुचीपुड़ी, कत्थक, भंगड़ा, गिद्धा, गरबा आदि सभी एक शैली में अंगड़ाई लेते हैं और उसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निशाना होता है शरीर। मांस-लोथ के इस व्यवसायीकरण की आंधी जहां भी चलती है उसे युरेनियम, मिथाइल बना देती है। बन्दूक के तेज़ाब गंधी शब्द सुनिये –

"मेरा है धर्म सिर्फ सर्वनाश ही
मुझको क्या, उजड़ गया किस का घर है।" (*पृ. 76*)

प्रशस्तिपरक गीतों में नेहरू (*शांति गंधर्व : पृ. 87*), गांधी (*पृ. 95*), शास्त्री (*पृ. 71*), बुद्ध-स्मरण (*पृ. 97*), लेनिन (*पृ. 99*), स्टालिन (*पृ. 72*) आदि महान् आत्माओं का नेहद्रवी करुणादर्शन है। गांधी के प्रति गीत रचनाकार की सृजन-कसक है। अधिकार, कर्त्तव्य, विद्रोह आदि में कवि इन्हीं की पवित्र अनुछाया पाता है –

"कर्त्तव्यों में, अधिकारों में
चिन्गारी में, अंगारों में
तुम ही तुम हो
तुम ही तुम हो।" (*पृ. 77*)

'रक्षा बन्धन' गीत की प्रतीकात्मक व्यंजना हृदय-बुद्धि का सन्धिपत्र है। जैसे बहनें मंगल कामना करते हुए भाइयों को रक्षा-शपथ में बांध लेती हैं वैसे ही रमणीक प्राकृतिक-परिवेश राष्ट्र को रक्षा के बन्धन में बांध रहा है –

"नई सुबह गा रही प्रभाती, पवन झकोरों के सरगम पर
मिट्टी तीरथ नहा रही है, अनगिन सांसों के संगम पर।" (*पृ. 48*)

'दहेज' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. १०*), 'नेल्सन मंडेला' (*पृ. 91*) जैसे गीत गीतकार की सामाजिक ज्वलनशीलता को अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर प्रतिष्ठित करते हैं। कवि के सामाजिक सरोकारों का हर पक्ष राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, गलियारों से होकर मनुष्य अस्मिता को उन आशयों तक ले जाता है जहां गीतीय ध्रुवपद आरक्त होकर सूर्यमुखी चन्द्रकौंस हो जाता है। 'गीतम' से 'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' की परिक्रमा का मूल थीसिस इसी भावना से जुड़ा है।

शिल्प-कलश : रचनादर्शी रंग

वीरेन्द्र मिश्र शिल्प के प्रति पर्याप्त जागरूक हैं। उनके गीतों में संगीत का सजग एवं सचेत उपयोग है, अतः स्वतः ही लय-वैविध्य के कारण छन्द-बाहुल्य की गरिमा इनके गीतों की अतिरिक्त विशिष्टता बन कर आई है। प्राचीन छन्दों में किंचित् परिवर्त्तन इन्होंने नूतन छन्दों तथा लयों का निर्माण कर अपनी प्रातिभ शक्ति सम्पन्नता का परिचय दिया है। अपनी परिष्कृत रुचि के अनुसार कवि ने पर्याप्त भावानुकूल, मन्थर, द्रुत तथा आरोह-अवरोह युक्त संगीत लहरियों में छन्द के नवीन और सफल प्रयोग किए हैं (*दृष्टव्य : लेखनी-बेला : पृ. 50*)।

इनके गीतों में मात्र बाह्य-संगीत की स्वर-लहरियां ही तरंगित नहीं होतीं वरन् आन्तरिक संगीत-सौन्दर्य का मादक आकर्षण भी विद्यमान है। शब्द जड़ न होकर सजीव भावों को वहन करते हैं, इसीलिए भाव की गतिशीलता स्वयं ही शब्दों को भी गतिशीलता प्रदान करती है (*गीतम : पृ. 93*)। शब्दों की पुर्न-पुर्न आवृत्ति द्वारा भी कवि ने मधुर-संगीत-झंकार उत्पन्न की है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"स्याह-स्याह रात ने कहा मुझे/ लाल लाल प्रात अभी दूर है।" (*पृ. 93*)

"हंसों के चेहरे हैं जिनके, वे हंस नहीं हैं/ कंसों के चेहरें हैं, जिन के वे कंस नहीं हैं..।"

(*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 66*)

संगीत के इस कारवां में बाह्य एवं शास्त्रीय संगीत के साथ लोक-संगीत को सम्मिलित करते हुए वीरेन्द्र ने अपनी अपूर्व संगीतात्मक सुरुचि का परिचय दिया है। लोक-संगीत (*लेखनी बेला: पृ. 141*) की सजीव भाव-श्रृंखला इनके बोलों के भावोनुसार ही बोलती है। गीतों के बंद कसे हुए और सहज संगीतात्मक हैं। संगीत एवं गीतितत्व अनेक सहयात्रियों की अपेक्षा इनमें अधिक मुखर हैं।

गीत के कलात्मक स्वरूप को निखारने में वीरेन्द्र का सर्वाधिक योगदान है। वीरेन्द्र का मुरकीमय कंठ गीत को संगीत की अंगड़ाई लेती लहरों में तैराता है। संगीत की सरगम का आधार लेकर सर्वाधिक विविधता वीरेन्द्रीय गीतों की विशेषता है। गीत-प्रस्तुति की गीतकार की अपनी शैली है। इस शैली में मौलिकता और मिठास है परन्तु जब संगीतात्मकता गेय की मौलिकता को घेर लेती है तो गेयता केवल कानों को सुख दे पाती है, वह हृदय को प्रभावित नहीं कर पाती। स्वर की कोमलता संगीत से सघन होकर गीत तत्व की अर्थाशयता को संपूर्ण अभिव्यक्ति देने में असमर्थ हो जाती है। यही कारण है कि वीरेन्द्र मिश्र के गीत सुनने में जितने मीठे लगते हैं, पढ़ने में उनके अर्थ में उतना मिठास नहीं मिलता। वीरेन्द्र में कवित्व का समर्थ अभिव्यंजन है परन्तु कभी कभी अतिबौद्धिकता का भूत उनके सिर पर सवार हो जाता है, उससे गीत की कोमलता भावात्मक- ऋजुता की प्यास ले कर तड़पती रहती है। वीरेन्द्र के प्रारम्भिक गीतों में कवित्व की प्रतिभा में तरल अनुभूत अभिव्यक्ति क्षण हैं जिन्होंने श्रोता और पाठक को एक साथ मुग्ध किया है। उस तरलता की मांग को पिछड़ेपन की संज्ञा दी जा रही है। नयेपन में जब केवल लालच रह जाता है और मौलिकता का रस चुक जाता है तो वह खीझ कर अतीत को गाली देता है और स्वयम् को दुहराने लगता है। नयी कविता की खीझ ऐसी ही है। वीरेन्द्र ने नयेपन को विविध शैलियों में व्यक्त करने का प्रयत्न किया है।

गहन सांगीतिक ज्ञान कवि की विशिष्ट गीतीय उपलब्धि है। कवि ने अपने सांगीतिक शब्द-भण्डार को कथ्य में बखूबी साधा है। कथ्य के अनुरूप उनका शब्द-संगीत रागबद्ध होता जाता है। युगनद्ध इस रागबद्ध शब्द-संगीत में प्रतीक-बिम्बों की घुलावट इनके दृष्टिबोध को विस्तारित करती है। छायानट एक कोमल संवेदनशील राग है जो आधुनिक जीवन की विसंगतियों से झुलस गया है। 'झुलसा है छायानट धूप में' शीर्षक को सार्थक करने के लिए कवि ने बैठक, संगत राग की, पंचम की बंदिश, जुगलबन्दी, द्रुतलय, आसावरी, ध्रुपद, मालकौंस, गुणकली आदि राग एवं सांगीतिक पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग कर मानवीय संवेदनाओं की झुलसन को तीखा और गहरा बना दिया है। हृदय की परिधि को तोड़ कर छायानट का धूपीला राग बुद्धि की ओर संक्रमण करता है।

संक्रमण के इस ताप में भाव-वट के पल्लवों का प्राची रंग झुलस कर पीतवर्णी कठोरता की गोद में खेलने लगता है। ऐसा लगता है छायानटी मानसरोवर पर सत्ता का गिद्ध नर्त्तन प्रतिपक्षी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका निभाने लगा और सहज कोमल संवेदनाओं को जगाने वाला मालकौंस धूल फांकता समय की बंकिम चाल देखता रहा और 'गुणकली राग' के हंस-मानस मोती चुगना भूल विभ्रमधर्मी स्थितियों में बिलखने लगे। इसी प्रकार 'रूपक ताल', 'मिश्र जोगिया' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 95*) का राग संयचन बहुत सुन्दर है। 'रूपक ताल' की बानगी देखिए –

"एक रूपक ताल पर/ हर रागिनी चहकी
कण्ठ को/ पर लग गए जब/ नयी लयकारी हुई
द्रुत विलम्बित 'गुणकली' के साथ/ 'गांधारी' हुई
'वैजयन्ती' नई धुन के/ नशे में बहकी
गुनगुनाया प्यार से जब 'भैरवी में जोगिया'
कहा मालिन ने कि 'पगले हाय रे, ये क्या किया!
प्रेम-वन के ताल की है/ हर लहर महक़ी।" (*पृ. 29*)

गन्धर्व राग शान्ति-राग है। शान्ति-सन्देश के गीतीय राग की अन्तर्ध्वनि का यह साकारीकरण है। इसी प्रकार राग आसावरी, राग दरबारी, बांसुरी, पीलू, श्री, केदार, विहाग, सारंग, यमज, विलावल, कजरी, सरगम, भैरवी जोगिया, मालिन आदि रागों में इनकी गीत श्री संगीत थिरकन की स्मिति लेकर मनुष्य-मन के अनुकूल आचरण करती है। कवि के सांगीतिक मन की गूंज व्यक्ति की अन्तर्ग्रथित चेतना को मुक्त नादात्मकता से जोड़ती है। गीतकार के लिए रागों और संगीत का गहरा ज्ञान विष को भी अमृत बना देता है। इस ज्ञान के बल पर ही गीतकार की अन्तर्चेतना व्यक्ति तम को संस्कारित कर गीत बना सकती है –

"पक्के गानों के रागों को/ सहसा भंग हुई तालों को
सुर का ज्ञान नहीं है जिसको/ वह पहचान नहीं पाता है।" (*पृ. 37*)

इनके शब्दों, तुकों में भी संगीतात्मक घुलनशीलता है। पंख और पांखुरी, गीत और बांसुरी शूल और कांकरी जैसे शब्द-तुक व्यक्ति -मन को एक ख़ास तरह की ऋदम से बांधते हैं। यह ऋदमी नादात्मकता हृदय का रस-तपर्ण है। उसका विस्तार कर गहन, व्यापकीय चेतना संदर्भों को रसवंती बोध से जोड़ती है। इसी प्रकार रसवन्ती, मधुवन्ती, वासन्ती, यशवन्ती, शैवन्ती, वैजयन्ती, मधुवन्ती आदि शब्द चेतना क़ो मधुमती भूमिका की मिठास देते हैं। व्यक्ति के आचरण व्यवहार को साधते हैं। इस प्रकार के शब्द मनस्ताप पर चंदन-पात बिछाते हैं। अनुभूतियां रसद्रवी होकर बिछावन-सेज की अंगारती प्रतीतियों को कलशमुखी बना देती हैं। अनुप्रास संगीत की जुगलबन्दी सुनिये –

"बांसुरी लुभायेगी, मेरे संग झूमेगी, रोयेगी, गायेगी।" (*अविराम चल मधुवंती : पृ. 52*)

पुनरुक्ति-संगीत की थाप जुगलबन्दी का दूसरा चरण है जो 'मिश्र जोगिया' होकर समावेशी चिन्तन को हृदय-बुद्धि की नादात्मक गूंज बना देता है –

"पंछी का शोर और भोर अभी दूर है
जलने दो दीप द्वीप-द्वीप दीप जलने दो......
चलने दो गीत मीत-मीत गीत चलने दो....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खिलने दो फूल शूल-शूल फूल खिलने दो
मिलने दो पांव गांव-गांव पांव मिलने दो।" (*धरती गीताम्बरा : पृ. 28-29*)

इस प्रकार संगीत के हिन्द सागर पर तिरती वीरेन्द्र की गीत-नाव व्यक्ति को पारदर्शी बना कर जोखिमों से जूझना सिखाती है। उत्ताल लहरों पर डोलती सागरीय चुनौतियों को खंगालती संगीत की अनेकमुखी राग लहरें मनुष्य अन्तरतम को शब्द-ब्रह्म की तरह गुंजाती हैं। उसे मानवत्व के रागबोध से जोड़ कर अनेकमुखी अर्थों से रचनायित कर जीवन का व्याकरण शास्त्र बन जाती है। यही वीरेन्द्र का 'गीतधर्म' है जो 'संगीत' से 'सहोदर' (*पंख और पांखुरी : पृ. 43*) होकर मानकी-करण की सार्थक पदचाप प्रतीति है। सूर्यम्पश्या इस संगीतबोधी राग-मन की हंसमेधा मानवीय मूल्यों को चुग कर 'हर की पौढ़ी' से 'मानसर' हो गयी है।

कवि का अप्रस्तुत-विधान किसी महत्त्वपूर्ण उपलब्धि की ओर इंगित नहीं करता, सामान्यतः सुन्दर हैं। पुनः पुनः प्रयुक्त होने वाले कतिपय रात, प्रात, शलभ, दीप आदि के प्रतीक गीतों में एकरसता उत्पन्न कर देते हैं। इनके उपमान-चयन को हम तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं – प्रकृति, इतिहास - पुराण तथा विविध।

वीरेन्द्र मिश्र की प्रारम्भिक गीत-सृष्टि ने प्रकृति के उन्मुक्त प्रांगण में विचरण किया है। स्वाभाविक था प्रकृति-प्रधान, होने के कारण उपमान-चयन का एकमात्र क्षेत्र प्रकृति ही रहा। इस क्षेत्र से उद्यान, पुष्प, भ्रमर, सरिता, फूल, तट, पवन इत्यादि इनके प्रिय उपमान रहे हैं –

"गगन से धरा पर सुबह छन रही है
किरण डोर खींचे बिना तन रही है
दिए बुझ गए हैं नयन जल गए हैं
सपन उठ गए हैं, नयन मिल गए हैं
हवा देख कर ही सुनाना तराना
सुमन ने कहा पर भ्रमर ने न माना।" (*गीतम, पृ. 49*)

पौराणिक गाथाओं एवं ऐतिहासिक तथ्यों को कवि ने उपमान श्रृंखला में कला-चितेरे की भांति अंगीकृत किया है, सम्भवतः इसका प्रमुख और एकमात्र कारण पौराणिक गाथाओं की कल्पना-गीत-आत्मा की समीपतर वस्तु है – रहा है –

"धूल किसी रावण रथ पर, रोती सीता-सी अम्बर में।" (*लेखनी बेला : पृ. 12*)
"सांसों की राधाएं, धड़कन के मन मोहन।" (*पृ. 40*)
"शिव को नीलकंठ होना था।" (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 85*)

'चूनर सी ओढ़ोगी' गीत में धृतराष्ट्र की राज्यसभा में केशों द्वारा खींच कर लाई गई अपमानित द्रौपदी के प्रतिकार, शान्ति-समझौते की बात आने पर खुले केशों का सेना के रूप में हवाला आदि प्रसंग बिना नाम लिए इस गीत में शब्द-सौन्दर्य के माध्यम से व्यथा को तीव्रता से संकेतित करते हैं –

"संस्कृति की एकरंग निशिगंधा! एक बवण्डर अंधा
गुजर रहा है पागल जैसा हर देश से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डरते हैं सब यायावर से दरवेश से
बंधी हुई बैठी तुम अपने ही केश से।" (*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 41*)

इसी प्रकार 'उत्सव गीतों की लाश पर' में 'रक्त-कुम्भ' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 81*) का प्रयोग है। भारतीय संस्कृति में कुम्भ स्नान का महत्त्व है। यह बारह वर्ष बाद आता है लेकिन एक बार की अराजकीय अव्यवस्था 'कुम्भ-स्नान' को 'रक्त-कुम्भी' बना देती है।

'लक्ष्मण-रेखा' मर्यादा पुरूषोत्तम श्रीराम के अनुज लक्ष्मण द्वारा सीता की जंगली जानवरों से रक्षा करने हेतु खींची गई लकीर है जो वर्त्तमान संदर्भ में मात्र इसी ओर संकेत नहीं करती अपितु व्यापक संदर्भों को कीलती मर्यादा की यह रेखा आधुनीकि अर्थ घनत्व सम्प्रेषित करती है। कवि ने इसका उपयोग अनेक गीतों में अलग अलग ढंग से अलग-अलग सन्दर्भों में किया है –

"मैंने खींची लक्ष्मण-रेखा कोई पांव बढ़ाए ना।" (*धरती गीताम्बरा : पृ. 14*)
"ऊपर नीचे दायें-बायें चांदी की लक्ष्मण रेखाएं।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 42*)

इसके अतिरिक्त प्रसंग-गर्भत्च के अनेक सटीक और सुन्दर उदाहरण वीरेन्द्र ने प्रस्तुत किए हैं, जिनके विस्तृत क्षेत्र में पौराणिक युग से मंगल काल तक के प्रसंग तो समाहित ही हैं –

"नहीं छोड़ता कवि कभी गीत आधा
अधूरी समर्पित हुई थी न राधा।" (*गीतम : पृ. 44*)
"किसी हर्षवर्धन की तपसी साधों की
क्या तुम हमको याद दिलाने आए थे।" (*लेखनी बेला : पृ. 32, 19*)
"किसी महाभारत के आधुनिक पुजारी ! होंगे तुम द्रोण, मठाधीश धनुर्धारी/ अर्जुन की एकलव्य से बनी नहीं है।" (*कांपती बांसुरी : पृ. 54*)
"गिद्ध-राज्य श्री........।" (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 80*)

विदेशी-पौराणिक गाथाओं का भी यौगिक समन्वय है –

"आंसुओं से भरा कर्बला टेरता है तुम्हें।" (*गीतम : पृ. 91*)
"जिस दिन प्रणय के विहग कर्बला जायेंगे।" (*लेखनी बेला : पृ. 45*)

विविध क्षेत्रों के अन्तर्गत कतिपय उपमान रत्न-नगों तथा अमूल्य पत्थरों के क्षेत्र से –

"मैंने कोहेनूर सा प्यार किया जो चमका अम्बर में
मैंने सोचा शायद मुकुट परख का इसको मिल जाए।" (*पृ. 120*)

तथा कुछ उपमानों का चयन नवीन प्रगतिवादी क्रान्ति-भावना से अंगीकार किए है –

"पगडण्डी से जाने वाली कृषक वधू के वेश में
नई धूप का चीर उड़ाती आती युग की भोर है।" (*पृ. 111*)

इसके अतिरिक्त कवि ने नवीन उपमानों का सुन्दर निर्माण किया है जो उनके गीतों के प्रभाव क्षेत्र का निश्चित विस्तार हैं –

"गीत जहां पालकी बना हुआ
ज़िन्दगी बनी हुई कहार है।" (*गीतम : पृ 142*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"घूम कन्हैया की पलकों में झूम रही है राधा रानी
चली पालकी में शरमाती, दूर देश की साध सयानी।" (*शांति-गन्धर्व : पृ. 48*)

वीरेन्द्र मिश्र की भाषा खड़ी बोली का परिष्कृत, गरिमापूर्ण मधुर एवं गत्यात्मक रूप हमारे सामने उभारती है। वस्तु के साथ-साथ कवि कला-पक्ष के क्षेत्र में भी पर्याप्त सक्रिय रहा है। उसकी भाषा सरल, व्यावहारिक सभी प्रकार के लोक-प्रचलित शब्दों से यथावसर युक्त है। व्यंजना की पर्याप्त सक्षमता तो उनमें है ही, अनेक नवीन संयोजनाओं ने शब्दों को नूतन अर्थवत्ता दे कर वैविध्य-चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।

'मरघटी सांझ', 'सर्पीली बदली', 'अखबारी नावें' (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 76*), 'स्याह कड़ुवा धुआं, 'राजनीति की वेश्या चंचल पातुर सी', 'रूढ़ियां घोसलें', 'अमलतास की नकाब', 'कोमल गान्धार', 'ज्योति की फसल', 'सर्पीले बुद्धजीवी', 'नीले शामियाने', 'सुर्ख शामियाने', 'मृत्यु महोत्सव' (*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 79, 82, 84, 39, 47, 49, 48, 51, 52, 75*) आदि सशक्त चित्रात्मक शब्द, अनेकाधिक विशेषणों एवं वर्ण-प्रतीकों की उत्पत्ति से कवि के गीतों को नए भावात्मक आयाम प्राप्त हुए हैं।'

'नरगिसी नयन', 'चुम्बन की लाश' आदि प्रभृति उपमान जो उन्होंने फारसी परम्परा से अंगीकार किए हैं, निश्चय ही उनके कतिपय गीतों को तीव्रता और सहजता प्रदान करते हैं लेकिन 'लाश' जैसा शब्द उनकी गीत-सृष्टि के प्रतिकूल है। अंग्रेज़ी शब्द 'कोरस' का प्रयोग भी एकाधिक स्थानों पर वीरेन्द्र ने सहज स्वाभाविक शैली में अपनाया है।

मुहावरे और लोकोक्तियों के सुन्दर समन्वय ने उनकी भाषा को नई गरिमा दी है –

"कागज की नाव', 'एक हाथ पानी से ऊपर', 'लीकों पर चल नहीं सके/ पांव फकीरों के'
(*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 65, 65, 63*)

"मिट्टी तक सिर धुनती है... ... मकड़ी जाला बुनती है।" (*धरती गीताम्बरा : पृ. 119*)

"नमक डालिये हरे-हरे पांवों पर।" (*सूर्यमुखी चन्द्रकौंस : पृ. 46*)

"लग गई उसको सुबह की हाय।" (*लेखनी बेला : पृ. 130*)

"जंगल में मंगल सी रजनीगंधा हो।" (*पृ. 33*)

"पर उसकी हरियाली रोकोगे कैसे
जो सब कुछ हो पर सावन का अंधा हो।" (*पृ. 33*)

"आ गया परदेस से हूं है सनीचर पांव में।" (*गीतम : पृ. 33*)

व्याकरण एवं औचित्य दृष्टि से यदि उनके गीतों का मूल्यांकन करें तो यत्र-तत्र वैयाकरणिक अशुद्धियां खोजी जा सकती हैं –

"उड़ते बादल के केश संवारे तुम,
मुड़ते ही मेरी ओर निहारो तुम।" (*पृ. 49*)

"तुम को कुर्बानी देना है रात में।" (*पृ. 86*)

मात्राओं के कारण वर्त्तनी में कतिपय अशुद्धियां उनकी भाषा का अन्य दोष है जहां वे 'नरक' को 'नर्क' 'स्रष्टा' को 'सृष्टा' (*पृ. 110, 87*) आदि लिखते हैं। सच पूछा जाए तो कवि का कलापक्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अभी और मंजाई चाहता है जिससे वस्तु पक्ष के समानान्तर ही वह समान समृद्धि की सूचना दे सके। फिर भी वीरेन्द्र मिश्र की भाषा पर्याप्त सक्षम एवं खड़ी बोली का परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप है।

कवि को 'सांप' शब्द से बहुत प्यार है। सांप, नागफनी, सर्पदंशी तक्षक, डसना, सर्पवंशी आदि शब्दों का गाहे-बगाहे प्रयोग उनके इस शब्द प्यार को प्रमाणित करता है। 'विषकन्या में खोया' (*धरती गीताम्बरा : पृ. 119*), 'काले घन का सर्पदंश' (*पृ. 118*), 'समय हमें डसता है, नीले पड़ जाते हम' (*झुलसा है छायानट धूप में : पृ. 211*), 'नागों की प्रभात फेरी' (*शांति गंधर्व : पृ. 30*), 'तक्षकवंशी विष' (*पृ. 31*), 'शेषनाग औ मलयाचल' (*पृ. 43*), 'डसने के बाद सर्प खिसका है' (*अविराम चल मधुवंती : पृ. 104*) आदि गीतात्मक मुखड़े अनेक अर्थव्यञ्जनाओं के साथ वर्त्तमान आधुनिक परिवेश की खुरदरी मानसिकता को व्यक्त करते हैं। वर्त्तमानीय क्रूड नियति के हास-अट्टहास को इस प्रकार के शब्द जनपक्षीय खरोंच देते हैं। गीतकार का प्रगतिशील रचनाबोध सामाजिक सरोकारों से जुड़ कर व्यक्ति के अस्मिता-अर्थ और उस स्वभाव को सामने लाता है जहां स्वार्थों के कंकरीट जंगल के मीठे कुएं भी सागर की तरह खारे हो गये हैं। हर व्यक्ति एक दूसरे को डसने को तैयार है, दूसरे को क्यों एक हिस्सा अपने ही दूसरे हिस्से को भयंकर नागमुद्राओं से आतंकित रखता है। द्वन्द्व और भाव की अन्तर्विरोधी स्थितियों के अन्तर्दर्शन की भूमिका यहीं से बनती है और हम अनिर्णय के बिन्दु पर खड़े कछुअधर्मी आचरण ओढ़ लेते हैं। इन तल्ख, आचरणों और बगुलायी संस्कृति की कबूतरी गुटरगूं को व्यक्त करने के लिए ही कवि इस प्रकार के शब्दों को रंगगर्भी अर्थों की व्यंजना देता है। शब्दों की इन अर्थ व्यंजनाओं से हमारे जीवन के न जाने कितने अध्याय खुद ब खुद नंगे हो जाते हैं। अतः इन शब्द-प्रयोगों की सार्थकता कवि के आशयों को स्पष्ट और नुकीला बना देती है।

02495

अन्तर्दृष्टि : गीतधर्मिता का छायानट

बच्चनोत्तरी गीत परम्परा में वीरेन्द्र मिश्र एक गंभीर चिन्तक कवि हैं। आज ख्यातिलब्ध वीरेन्द्र मिश्र नवगीत के कमल पर स्वाति बिन्दु के समान अपनी चमक दिखा रहे हैं। उन्होंने गीत, नवगीत, संगीत रूपक, रूपक एवं नाटक तथा लेख आदि क्षेत्र में विपुल साहित्य की रचना की है। अनेक पुरस्कार अर्जित किए हैं और अनेक देशों की यात्रा कर चुके हैं। साधारण उपलब्धियों से कवित्व नहीं आंका जा सकता। वीरेन्द्र मिश्र स्वयं को प्रचारित और विज्ञापित करने के लिए जितने प्रयत्नशील रहते हैं उतने ही गीत के प्रति निष्पक्ष, सजग, गंभीर और संकल्पित रहें तो निश्चय ही गीत-साहित्य में इनका योगदान अक्षय कीर्ति का प्रबल प्रहरी बन सकता है। जिस कार्य के लिए वे दूसरे की आलोचना करते हैं उसे स्वयम् भी न करें। यह निषेध-सौन्दर्य सभी गीतकारों पर लागू होता है जो गीतकार के रूप में प्रतिष्ठित हैं। जिनकी प्रतिष्ठा इस गीत के आदर्श-स्वरूप को प्रतिष्ठित करने में सर्वाधिक सधन्य हो सकती है।

वीरेन्द्र मिश्र ने अपने गीतों में छायावादी प्रकृति प्रेम एवं भावुकता का समन्वय कर कठोर यथार्थ के प्रभंजनों को सह कर स्वस्थ और समर्थ जीवन-दर्शन उपस्थित किया है। शिल्प की दृष्टि से उनका योगदान अपूर्व एवं बेजोड़ है। वीरेन्द्र मिश्र कविता और अन्य साहित्यिक विधाओं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दूरी को कम करने के लिए प्रयत्नशील हैं, इसी कारण वैयक्तिक प्रतिक्रिया, असम्पृक्ति और असंतुलित मूल्यों को वे अपने व्यक्तित्व में नहीं आने देते। उन्हें राजनीतिक आग्रहों से शिकायत है कि वे साहित्य में हस्तक्षेप करते हैं। कवि ने मुक्त छन्द के रूप-विधान में शब्द-स्वरों को एक साथ बांधा है। भाव एवं वस्तु पक्ष की तन्मयता उसके कलापक्ष से बाधित नहीं हुई है। 'गीतम' से 'सूर्यमुखी चन्द्रकौंस' तक कवि सक्रम रहा है। व्यक्तित्व की विपर्ययस्तता उसमें नहीं आ पायी। यात्रागत संस्मरणों में रचनाकार का विश्वबोध और ग्रहण क्षमता उदग्र है। ऐसी रचनाओं में दृश्य के विविध रंगों और छवियों को उभारने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है (*दृष्टव्य : डॉ. कमला प्रसाद पाण्डेय : छायावादोत्तर काव्य की सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : पृ. 399-400*)। नयी कविता के अनुकरण पर नवगीत लिखने वाले रचनाकार की चर्चा महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती लेकिन जब वीरेन्द्र मिश्र जैसे प्रतिष्ठित और मौलिक गीतकार भी प्रयोगवादी प्रयोगों से प्रभावित होकर उपमानों और नयी कविता - संवेदना के चक्कर में अटपटे गीतों की रचना करने लगते हैं तब निस्सन्देह एक परिष्कृत गीत-सृष्टि को आघात लगता है। इस तथाकथित नवगीत को परखें –

"बैंजनी हवाएं हम जेब में न भर सके
रंगों का/ श्रीनिवास रथ आया/ चला गया/ ठगती थी जब हमें/ झूठी सम्भावना......
सर्जन का एक मूड एक निमिष/ झुंझलाया अनगाया/ चला गया
व्योम की हवाएं हम जेब में न भर सके
रसगर्वी/ श्रीनिवास रथ आया/चला गया।" (*धर्मयुग : 2 अक्टूबर, 1966*)

नयी कविता के पंक से ही नवगीत का कमल खिला है। वीरेन्द्र ने पारम्परिक गीत से नवगीत की ओर सफल प्रस्थान किया है। इन्होंने नवगीत की प्रत्यंचा पर निश्चय ही अनेक सफल नवगीत बाण साधे हैं। यह उसी का परिणाम है कि आज नवगीत के मसीहाई आन्दोलन में वीरेन्द्र मिश्र भी सक्रिय भूमिका अदा कर रहे हैं। यह आकांक्षा का व्यक्तिपक्ष है परन्तु यह पक्ष सर्वथा नज़र-अन्दाज़ नहीं किया जा सकता। व्यक्ति का एक पक्ष ऐसा भी होता है जो उसकी रचना प्रक्रिया को भावात्मक स्तर पर प्रभावित करता है। नवगीत शृंखला के अपरिहार्य मणिरूप होते हुई भी वीरेन्द्र में चमत्कृत शैली का कृत्रिम अनुकरण है। इस प्रकार की रचनाओं में भीतर के प्रकाश की चमक शायद अन्तर्धान हो गई या लुप्त हो गई लगती है।

कवि की दृष्टि मूलतः मानवतावादी है, गीत परिदृश्य व्यापक - राष्ट्रीय प्रगति, प्रयोगशील सभी प्रकार के गीत इनके रचनाशील सक्रिय व्यक्तित्व की हृदयदर्शी शिखर यात्रा है। वीरेन्द्र की गीत-चेतना व्यापक सन्दर्भीय आलोक को समेट कर नर्त्तित-क्रोधित होती है। क्रोधन-नर्त्तन के इस जीवन्त भाव-बोध में मानवत्व का अभिषेक-स्वीकार है, नकार नहीं; इसलिए शेष सब निःशेष हो जाता है। इन्होंने विविधवर्णी अपनी कविता सीमाओं में जीवन के सुख-दुःख और समाज-देश तथा विश्व को एक साथ जीने का दुःसाहस किया है (*पंख और पांखुरी : पृ. 25*)। उत्कर्षमुखी समाज संवेदनाएं इनके गीतों में स-हित बन कर घुल जाती हैं। इसीलिए इनकी वक्र दृष्टि में भी संस्कृति की प्रेरणाओं तथा लोकसंस्कृति के रंगों एवं ध्वनियों का छायानट अविराम मधुवंती भूमिका में रहता है। यही वजह है कि 'गीतधर्मिता का छायानट आम आदमी के अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकट है, यद्यपि उसकी अभिव्यक्ति कठिन है। इस कठिन अभिव्यक्ति को ग्रहण करने के लिए बिखरे हुए सही श्रोता और सही पाठक जब एकात्म हो जाते हैं, गीत की कलात्मक शक्ति स्पष्ट हो जाती है।' (*पृ. 44*)

रोमानी प्रवृत्ति के साथ इनमें प्रगति-प्रयोग की ललक ज़ोर मारती रही है, सक्रियशीलता के दूसरे छोर पर इनका लेखन-व्यक्तित्व नयी कविता के प्रभाव से प्रभावित होकर नवीन अप्रस्तुत-विधान और प्रयोगों के आधुनिकीकरण के मोह जाल में उलझ कर काव्य-तत्व से दूर छिटक खण्डित भी हुआ है।

इनके गीतों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व छन्द-वैविध्य और संगीतात्मक गेयता है।

वीरेन्द्र ने राष्ट्र के वर्चस्व और तेजस् को लेकर अनेक प्रसिद्ध गीतों की रचना की है। विविध रंगों वाली राष्ट्रीय संस्कृति के सुसंस्कृत गीत वीरेन्द्र मिश्र की अतिरिक्त उपलब्धि है। गीतों में भाषा और स्वर की तराश स्पष्ट महसूस होती है। राष्ट्र पर जब भी कोई संकट आया वीरेन्द्र का गीत गूंजा। वीरेन्द्र ने संसार की राजनीति से प्रभावित जीवन को भरपूर गाया। राजनीतिक जीवन के बीच घटी कोई भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय घटना उनके गीत में विषय बन कर गेयता में ढली। इससे गीतकार की सजगता, सावधानता, सक्रियता और गीत के प्रति चिन्ता व्यक्त होती है। वीरेन्द्र ने गीत के पक्ष को समर्थन देने के लिए लेख लिखे और संगोष्ठियों में निर्भयतापूर्वक गीत को प्रतिष्ठित किया। वीरेन्द्र मिश्र ने कोरी लफ्फ़ाजी नहीं की, रचनाधर्मिता के प्रति इनमें समर्पण भाव भी है।

प्रवेश कृति 'गीतम' में उपस्थित संघर्ष और अन्तर्द्वन्द्व की गीतात्मक जिज़ीविषा 'लेखनी बेला' के छंद-सौष्ठव में लेखनी-गुंजन की बेला अन्तर्ध्वनि से प्रस्थान कर मधुवंती भूमिका में अविराम चल कर नवगीत की प्रथम यथार्थपरक दृष्टि को बोध देती प्रतीत होती है। गुंजन-अन्तर्ध्वनि की 'गीतम लेखनी-बेला' आधुनिक गीत को 'अविराम चल मधुवंती' के समकालीन यथार्थ से जोड़ती है। संघर्ष की नयी अभिव्यक्ति-खरोचों को समेटता-झुलसता छायानट तेज धूप में भी एक आकार लेता है। 'झुलसा है छायानट धूप में' का छायानटी छायापुरुष तेज धूप में झुलसते जीवन के रात्रि-राग को तालबद्ध नहीं कर पाता और व्यक्ति नियति के गीत-खरगोश स्थितियों के काले राग सागर में डूब जाते हैं। यथार्थ के ये दंशधर्मी छायाराग मनुष्य के छिले हुए मन पर नमक बन कर बिछ जाते हैं। लम्बी होती जाती ये छायानटी छायाएं जहां मनुष्य को अग्नि बनाती हैं वहां संघर्ष भूमिका की रचनायित कटुताओं को खरगोशमुखी बना कर उसकी निरीहता और विवशता का बोध भी कराती हैं। 'धरती गीताम्बरा' के छंद-प्रयोग कवि की सांस्कृतिक मानसिकता को राष्ट्रीय सन्दर्भों के मानक-मूल्यों पर तौलते हैं। व्यवस्था-विरोध की सहज चेतना कवि-सरोकारों से मिल कर राष्ट्रीय अन्तर्सम्बन्धों में घुल जाती है। यह घुलनशीलता 'शांति-गन्धर्व' में एक दूसरे कोण से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को रंग कर कवि की प्रगतिशील चेतना के जनवादी स्वरों को उभारती है। इन विश्व युद्ध विरोधी कविताओं में युद्ध-निषेध की वैश्विक स्फीति है। 'कांपती बांसुरी' के गीत-लाघव में विशिष्ट छंदों की एकता एवं कथ्य-वैविध्य 'वाणी के कलाकार हम' में आकर विद्रोह के नये तेवर दिखाने लगते हैं। छंद एवं मुक्त छंदी इन रचनाओं में वीरेन्द्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सामाजिक जागरूकता की कला-नफीसी युगीन स्थितियों और समस्याओं के बीच मनुष्य-मन की अन्तर्ध्वनियों का लयीकरण कर देती हैं। 'गीत-पंचम' की सेतु-संगीतात्मकता 'शांति गांधार' के विद्रोही तेवरों को 'श्रव्य न होना' के दुःख से मांज कर 'नाचो गीत की स्वर लहरी नाचो' के बीच बुलन्द करती है। 'उत्सव-गीतों' की लाशों का 'मुखरित संवेदन' 'जल रही है चारुकेशी के नये संघर्ष आयाम' 'चार हंस ध्वनि दिशाओं' की गूंज बन जाते हैं। वर्षा भीगा संघर्षित-मन 'मेघ-मूर्च्छना' (वर्षा गीत) सिन्धु - भैरवी (सिन्धुगीत) तक आते आते मन-समुद्र को मथ डालता है और 'स्मृति गांधारी' करुण रागिनी में 'मंदिर मंदिर झांझ बसंती' का ब्रजीय लोक तत्व रस लेकर 'सूर्यमूखी चन्द्रकौंस' का आरक्त ध्रुवपद गाने लगती है। सांस्कृतिक व्यक्तित्व एवं यथार्थवादी जीवन दर्शन के इस गीत-शिल्पी ने कलात्मक अभिरुचि, रसवंत कंठ, सांगीतिक चेतना, छंदसिक प्रयोग-वैविध्य आदि से हिन्दी गीत के विस्तार-वैभव में अपनी पहचान कायम की है। गीत से नवगीत यात्रा तक अपनी ज्योत्सना से इन्होंने एक चमक दी है। इनका गीत और नवगीत दोनों ही पक्ष प्रबल हैं। विवशताओं को इन्होंने अत्यन्त कलात्मक शैली में गाया है। यही कारण है कि खुरदरी बनाई गई गीत-नवगीत की भाषा भी रसवंती कंठ से फूट कर आकर्षक लगती है। इनके गीतों में सांस्कृतिक पक्षधरता का पक्ष सदा प्रबल रहा है। वे अपनी मिट्टी और अपनी प्राचीन सभ्यता के प्रति हृदयेन नत हैं। इनके गीतों में जहां राष्ट्रीयता उभरी है वहां इन्होंने देश के भव्य रूप को भी शब्दित किया है।

गीत का जो धुंधला भविष्य है उस ओर दृष्टि नहीं जा पाती। अकेले मिश्र जी के चर्चित हो जाने से ही नवगीत की सुरक्षा नहीं है। सुरक्षा तब संभव है जब नवगीत स्वाभाविक रूप से गले की गद्दी पर विराजेगा। इन्द्रवज्रा और सवैया एक-दूसरे के पूरक बनें, घातक शत्रु नहीं। नवगीतकार गीत के पक्ष में वक्तव्य नहीं देते। गीतकारों के नाम लेने में शर्म महसूस करते हैं। नाम लेते भी हैं तो ऐसे जैसे 'अर्द्धशती' में 184 नवगीतकार एकत्र कर लिए। इन नामों को छाप देने से क्या लाभ हुआ? जिन नामों को उनमें नहीं लिया गया वे आज भी लिख रहे हैं। वीरेन्द्र मिश्र ऐसे नवगीतकार हैं जिनका रचना-विधान सातत्य का अनुरागी है। मिश्र जी के गीत नये से नये सुने जा सकते हैं। अविराम चल लेखनी का भी अपना सौन्दर्य है।

अब तो नवगीत पर शोध-दृष्टियां केन्द्रित हैं। प्रखर दृष्टियां इस ओर लग रही हैं। नवगीत का समालोचना पक्ष दुर्बल है। इसी दुर्बलता का शिकार श्री वीरेन्द्र मिश्र हैं। मिश्र जी की गीत-यात्रा अनेक युगानुभव जुटाए हुए हैं। उसी का दिव्य आलोक उन के काव्य में भी है। इतना सब कुछ होते हुए भी ऐसा कुछ है जो वीरेन्द्र मिश्र को सर्वात्मीय नहीं बना पा रहा। वीरेन्द्र मिश्र की साहित्यिक स्वीकृति सर्वांशतः समर्थित नहीं है। जैसाकि प्रकृति का नियम है - सत्य तो उस अग्नि के समान है जिस पर समय धूल डालता है और स्वयम् धूल उड़ाता है।

गीत के प्रति मिश्रजी की चिन्ता सर्वविदित है। गीत की रक्षा के लिए इन्होंने अनेक आयोजन किए। 'सांध्यमित्रा' जैसी पत्रिका का प्रकाशन-सम्पादन किया लेकिन आज मंच को गीत की दृष्टि से दूषित करने का श्रेय भी मिश्रजी को जाता है। मिश्रजी ने स्वयं को चर्चित-प्रतिष्ठित करने का तो सतत् उपक्रम किया लेकिन नवगीत को विकास की दिशा में प्रेरित नहीं किया। नेतृत्व उसका होता है जो अपने सह रचनाकारों की रचनाओं में कहीं झांकता हो। मिश्रजी की गीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पद्धति अनुकृत नहीं रही। नीरज की तर्ज़ पर लोगों ने बहुत गाया परन्तु मिश्रजी ने अपना वह वर्ग नहीं बनाया, या प्रेरित नहीं किया जो नवगीत की विकास-सोपान-परम्परा में एक नया मानदंड नाप जाते। राजेन्द्र प्रसाद सिंह और शम्भूनाथ सिंह के बीच मिश्रजी मिश्रित हैं। नवगीत का नेतृत्व किसके हाथ बागडोर सौंपे - यह समय बतायेगा।

समुद्र-कलश का मंथन-संधान : रवीन्द्र भ्रमर

नवगीत की यात्रा रोमांचक है। इस यात्रा में जिन गीत-कवियों ने अपने नवस्वर से नवगीत को उत्साहित किया है उनमें डॉ. रवीन्द्र भ्रमर भी हैं। भाषा, कल्पना, बिम्ब, प्रतीक, प्रणय, पीड़ा, प्रकृति और वर्त्तमान जीवन की विसंगति सभी कुछ भ्रमर के नवगीत काव्य में हैं। नवगीत के साथ काव्य इसलिए लगाया है क्योंकि गीत में जो भोलापन अकृत्रिम और सहज अभिव्यक्ति होती है उसकी अपेक्षा काव्य में बौद्धिकता अर्थात् विचार-विवेक का सांमजस्य भी रहता है। डॉ. भ्रमर व्यवसाय से प्राध्यापक हैं, उनका अध्ययन और विचार मात्र भावुकता पर आधारित नहीं है। शब्द का प्रयोग और अर्थ की व्यापकता को ध्यान में रख कर ये नवगीत गढ़े गए हैं। जहां गीत ने स्वाभाविकता से अनुभूतियों को वाणी दी है वहां वह आकर्षक और नवीन स्फूर्त्ति देते है।

सोन-ताल की कलश-सतह

भ्रमर नवगीत के प्रतिष्ठापक कवियों में हैं। ज्ञानमय सुदीर्घ चिन्तन उनके गीतों में प्रतिफलित है। भ्रमर की शब्द-भंगिमा अर्थ को सम्प्रेषणीयता के स्तर पर अत्यन्त सहजता से ले जाने वाली है। भाव-प्रवणता की दृष्टि से भी भ्रमर के गीत उतने सस्ते नहीं हैं जैसा कि अन्य गीतों पर सस्ती भावुकता का आरोप लगाया जाता है। कवि की भावुकता शिक्षित संस्कार सम्पन्न हृदय की भावुकता है इसलिए उसमें विवेक है। भ्रमर का कोई गीत हो उसमें जीवन की धड़कन शील और सौन्दर्य के साथ पाठक को रिझाती है।

भ्रमर के गीत शास्त्रीय संगीत की सरगम से अनुप्राणित हैं। कवि की स्वयं की प्रस्तुति में उसके स्वर गूंजते अनुभव किए जा सकते हैं। भ्रमर स्वयं अच्छे गायक हैं, स्वर पर अधिकार और लय का संयम उनमें है। यही कारण है कि भ्रमर के गीत जब सुनते हैं तो उनमें संगीत की स्वर-लहरी अपना आनन्द देती है। भाव के अनुसार स्वरों का संगम कवि की विशेषता है। यह विशेषता मंच की शोभा है, श्रोता की हार्दिक तृप्ति का सत्प्रयास है। मंच से उनका गीत-गायन प्रभावशाली रीति से होता है। इस गायन में आंचलिकता का अपनत्व एक अलग भाव और अनुभूति के जगत् को जगमग करता है। इस का सुखद परिणाम यह है कि गीत जितना सुनने पर आनन्द देते हैं उतना ही पढ़ने पर। हमारे अनेक गीत कवि ऐसे हैं जो मंच से सुनने पर जितने प्रभावित करते हैं, पढ़ने पर उतने ही हल्के और सस्ते प्रतीत होते हैं। कुछ गीतकार ऐसे हैं जो भाषा की सरलता का स्वांग रचा कर ऐसे सादे गीत गाते हैं जो तात्कालिक प्रभाव तो देते हैं लेकिन उनमें स्थायित्व नहीं होता। भ्रमर के गीत सादगी से सम्पन्न होते हुए भी साहित्य की गंभीर परिधि के अन्तर्गत हैं। इन गीतों में शास्त्रीयता ओढ़ी हुई नहीं है।

भ्रमर वास्तव में नवगीत के प्रतिनिधि गीत कवि हैं। उन्होंने नवगीत को अमर्यादित नहीं होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। उन की 'सोन मछरी मन बसी' मात्र बहक नहीं है उसमें स्वर्ण सौन्दर्य है और मन में बसने योग्य मादक योग्यता भी। भ्रमर के नवगीतों में प्रकृति खुल कर खेलती है। चाहे आम के बौर हों, कोयल की कूक, सावन में पड़े झूले, पोखर, ताल तलैया, जुगनू, चांदनी, नहर, कुंआ, खेत-खलिहान, जौ, बाजरा, मक्का, गेहूं की बाली आदि सभी कुछ जीवन की मार्मिकता से जुड़े हैं और सांसों में रचे-पचे हैं। कवि ने अपने गीतों में इस प्रकार के प्राकृतिक वातावरण का पूरा उपयोग किया है।

एडगर एलेन पो ने कला के सम्बन्ध में एक स्थान पर कहा था - "कला का चरम उद्देश्य सौन्दर्य का विधान है, भावनाओं का जागरण है, आनन्द की उत्तेजना है। कला इस कार्य को टेरर के द्वारा करती है, ट्रेजडी (विडम्बना, दुःखान्त, शोक, संवेदनशीलता आदि) के ज़रिये करती है। कभी सनक और पागलपन के ज़रिये भी करती है किन्तु सत्य के द्वारा कभी नहीं करती।" इस उक्ति में जिस सत्य की ओर संकेत किया गया है वह जीवन का यथार्थ है जिसमें कटुता है। भ्रमर के गीत इस कटुता से सदा बचे हैं। उन्होंने जीवन के यथार्थ को नज़दीक से गाया है लेकिन उसमें कटुता नहीं आने दी। कोरी भावुकता के आवेश में यदि गीत कहीं कटुता व्यक्त करने लग जाता है तो उस का स्वाभाविक मिठास अपेक्षित प्रभाव नहीं छोड़ता, पाठक और श्रोता की संवेदनशीलता उसकी यथार्थ स्थिति से अभिभूत होकर स्वयं की परिस्थिति में डूबने लग जाती है। भ्रमर के गीत हृदय की आन्तरिक अनुभूति का मर्मस्पर्श करते हैं। उनमें नारेबाज़ी नहीं हैं, वर्त्तमान विसंगति के प्रति असन्तोष है, विद्रोह नहीं है, आस्था है अविश्वास नहीं है।

भ्रमर के समूचे गीत-साहित्य का अध्ययन करने के पश्चात् भीतर से स्वतः ही यह लगने लगता है कि इस गीत-कवि को साहित्यिक चिन्ता ने भी घेर रखा है। वास्तव में गीत पर असाहित्यिकता का आरोप इसलिए लगा क्योंकि वह जीवन के यथार्थ से कट कर मात्र मीठे स्वर और मीठी धुनों में खो गया। भ्रमर ने ऐसा नहीं होने दिया, उन्होंने स्वर माधुर्य के साथ विचार गांभीर्य को भी उतना ही महत्त्व दिया। प्रणय की अठखेलियों में भी उन्होंने इस अनुशासन का पालन किया है। वस्तुतः भ्रमर कोमल भावनाओं और सार्द्र अनुभूतियों के रसमय गीत कवि हैं। नवगीत के शतदल पर वे गुंजन करते भ्रमर हैं जिसकी गूंज इन नवगीतों के रोम-रोम में व्याप्त है। भ्रमर की निराशा में भी उल्लास है और उल्लास में वाणी की वक्रता है। जीवन की घास से जीवनदायिनी जड़ी-बूटी खोजने की तरह भ्रमर के नवगीतों में अनुभूति के यहीं छींटे हैं। कवि की नवगीत शैली में यदि कहीं मांसलता है तो कहीं आध्यात्मिक स्पर्श भी है। नयी से नयी बात कहने को कवि का आतुर मन सर्वत्र छटपटाता दिखाई देता है। आत्म-विश्वास और गीत के प्रति समर्पण भाव इन की विशेषता है। साहित्यिक अनुष्ठानों के प्रति इनकी सक्रिय भागीदारी, इन की उदारता गीत के विस्तार के प्रति दायित्व भावना को प्रकट करती है। इसलिए कवि अपने दृष्टिकोण में स्पष्ट एवं तर्क संगत है।

रवीन्द्र भ्रमर की साहित्यिक सोन-ताल की कलशीय आलोक-परिधि में 'कविता-सविता' (काव्य संग्रह), 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' (गीत संग्रह), 'सहज कविता' (अंकन एवं चयन), 'प्रक्रिया' (संयुक्त काव्य संकलन), 'सोन मछरी मन बसी' (गीत संग्रह), आधा दर्जन आलोचना ग्रन्थ, आधा दर्जन कोशों में सहयोगी लेखन एवं सद्यः प्रकाशित गीत संग्रह 'धूप दिखाए आरसी' हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनके अतिरिक्त 'गीत-रामायण' (राम कथा की गीतात्मक प्रस्तुति), 'बेसबब पुतलियां नम नहीं है' (ग़ज़ल संग्रह), 'लोक साहित्य की रूप रेखा' (आलोचना), 'गीतिकाव्य की रचना-प्रक्रिया' (निजी अनुभूति और विचारणा), 'नारी की आत्मकथा' (ललित निबंधों का संग्रह) प्रकाशन की प्रतीक्षा में है। इनके योगदान एवं साहित्यिक प्रदेय को आकलित एवं मूल्यांकित करने के लिए कई विश्वविद्यालयों से शोध प्रबंध प्रस्तुत होने की प्रक्रिया में है।

तल की ओर

रवीन्द्र भ्रमर के गीत एवं 'सोन मछरी मन बसी' की गीत-भूमि सौन्दर्य और प्रीत है। यह राग कवि का अपना है। भाव-चेतना के सहज स्पन्दन से उसने लय का संधान किया है। इन गीतों में अनुभूति की गंगाजली अभिव्यक्ति की चूनर ओढ़ कर घूंघट मुखी हुई है। ताज़गी एवं मौलिकता इनका पारदर्शी सौन्दर्य बोध है, प्रतीकात्मकता के झरोखों से झांकता नव्य बोध इसकी प्रीतीय रचनात्मक सृजन शक्ति –

"नील कुसुम दो, टहनी एक/ कहनी औ अनकहनी एक
सुबह बांसुरी की पहली कच्ची-सी टेर
गीतों के मेहराब उठी दुपहर की बेर
आंखड़ियों में उगे राग के स्वप्न अनेक
नील कुसुम दो, टहनी एक।" (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 34*)

धरती के रोम छिद्रों में ओटती प्रकृति हो अथवा बाट जोहती प्रिया का सम्मोहन, सम्बन्धों का रिक्तिबोध हो या संघर्ष-ताप का पावक पथ, झरनों की हिरण कुलांचें हों या बांक-चितवन की मूक भाषा, अवसाद-विषाद के झरते पीत-पत्र हो या अटकती-झटकती बावरी प्रीत, बांसुरी छिद्रों पर मचलती रूठती राग देह हो या मन का धुआंरा मेघ, मूर्च्छना-संगीत हो या राग-विहाग-सभी कुछ इनके गीतवृत्त हैं। खरगोशी धवलता लिए लय तुनक कर खग-बोली बोलती है, ताल ऋतुमस्ती में गुटरगूं करती है। गीत भंगिमाओं का लोच कचनार की तरह लचक कर आंधी-पानी को रास्ता देता है लेकिन जीवन को साध कर। कर्मशीलता और संघर्ष का उजाला अपनाव मुद्रा में मुसकाता है और तेवर युगीन शैली में आधुनिक समसामयिक सन्दर्भों की उधेड़बुन में लग जाते हैं। नवगीत के आंचलिक बोध को भी रवीन्द्र के गीत उत्सव-पुरुष की तरह औटाते हैं, इसीलिए इनकी गीत-बुनावट अत्याधुनिक सरोकारों और परिवेश की महीन पिसाई करती जाती है।

'धूप दिखाए आरसी' के गीतों को कवि ने स्वयं तीन खण्डों में बांटा है। 'चन्दन-वन' में प्रेम, सौन्दर्य और ऋतुओं के उदात्त मनभीने गीत-बिम्ब हैं। 'जलते मस्तूल' में सामाजिक यथार्थ और युगीन संघर्षों की तनाव-भूमि है और 'वन्दित चरण' में राष्ट्रीय-सांस्कृतिक भाव बोध के अनेक स्तर हैं। प्रेम-सौन्दर्य की बारीक कताई करते भ्रमर के गीतों में दिव्य आलोक का भीतरी बोध है। छायायी प्रेम रहस्यात्मकता भ्रमर के गीतों में गोपन नहीं रही, सहज होकर कली से फूल बन गयी। प्रणयी मन की आकुल निश्छलता सामाजिक ओट में निखर कर उनके गीतों में ब्रह्मनाद की तरह झंकार उठी। इसीलिए 'अष्टमी का चांद' उदित होते ही प्रिय-पुतलियों में 'हीरे की कनी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रणयी चमक के साथ आकाश-सेज हो जाती है। अनुभूति बिम्ब प्रणय को मानवीकृत कर शब्दों की लचीली चितवनों से झांकने लगता है। अनछुई गहराइयों में गोते खाता बावरा मन तल खंगालने को मचल उठता है। प्रणयानुभूति की इस प्रथम स्पर्श छुअन को शब्द साकार देह देते हैं। अनुभूति के इस कलात्मक उछाह को फूल-पालकी देते शब्द अन्दर ही अन्दर घुल जाते हैं। घुलनशीलता का यह तत्व समकालीन गीतकारों के लिए चुनौती है। इसीलिए रवीन्द्र भ्रमर के गीत रसीय बोल में कुहुकते हैं –

"दीठ मिलते ही सलोने से अजब कौतुक हुआ/ अस्तित्व गूंगा हो गया,
बावरे पंछी सरीखा उड़ गया मन/ अनछुई गहराइयों में खो गया,
हम नहीं है इस घड़ी इस ठांव/ चेतना में बस लजीली चांदनी।"

(*धूप दिखाए आरसी : पृ. 27*)

प्रणय प्रेम विज्ञापित नहीं किया जाता। पूरे गीत में कवि ने प्रेम की सूक्ष्मता को महसूसा है। 'रस- बीजुरी' अर्थात् प्रणय-रस के फूल का बिना मौसम ही खिलना नया आलोक झरना है, अनुराग की घनी शोभा का 'चंदन-चंदोवा' ओढ़ कर 'सरस-त्यौहार' मनाने की संकल्पना नवीन सुन्दर और आह्लादित करने वाली है। इनके गीतों में असामाजिकता का नकार और प्रेम का सहज स्वीकार है –

"बांध लिये/ अंजुरी में/ जूही के फूल
मधुर गन्ध/ मन की हर एक गली महक गयी
सुखद\परस/ रग-रग में चिनगी-सी दहक गयी
रोम-रोम/ उग आये/ साधों के शूल।" (*रवीन्द्र भ्रमर के गीत : पृ. 22*)

प्रेम प्यार के इन अनुभूति-बिम्बों में सलौना-सांवरा नीम नमक है जो बताशे की तरह नसों में घुल जाता है –

"जाने कैसा-कैसा होता जी/ नयी प्रीत के अंकुर फूटे हैं।
नीली लहरों रास रचाये/ अरुन बरन जलजात
नैनों में उसका ही मुखड़ा/ खिला रहे दिन-रात
प्यास न कम हो कभी देखने की/ सागर-मन के धीरज छूटे हैं।"

(*सोन मछरी मन बसी : पृ. 78*)

फुहार भीगती अनुभूतियां देह-दीपक में मन-बाती बन कर ज्योतिर्पथ हो गयी। प्रथम प्रेम के इन अनुभूतिबिम्बों में हृदय-बुद्धि को धकिया कर अपने विस्तार में संपूर्ण लोक को समो लेता है। प्रेम का यह प्रयाण उसी ओर है। ऐसे समय में उड़ती चिड़िया के पंख गिनना भी अच्छा लगता है, 'आंगन के बिरछे' भी अच्छे लगते हैं (*पृ. 78*)। प्रणय की इस अक्षत लीला को शब्द में बांधना कठिन है। आदिम से आधुनिक हो जाने में इसकी भूमिका पारस स्पर्शी है। प्रेम की इन्हीं अनुभूतियों ने मनुष्य को सभ्यता का संस्कार दिया है। भावना के आलोक में एक-दूसरे को पहचानने की क्षमता दी है। प्रीत के इन्हीं अनुभूति बिम्बों ने दुनिया के तमस को आलोकपर्वी बनाया है। टहनी पर गुलाब का खिलना बिल्कुल ऐसा है जैसे कोई डाकिया प्रेम पत्र लाया हो –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"टहनी पर खिल गया गुलाब/ प्रेम-पत्र लाया है डाकिया....
खुशबू के दायरे संवरते हैं/ जैसे चलता जादू बान
बांसुरी बजी है वृन्दावन में/ उठती सम्मोहन की तान...।" (*पृ. 44*)

निष्ठा, श्रद्धा के शिखर मानक पर प्रणयानुभूतियां कुम्हार के अलाव की तरह पकती हैं। रंगदर्शी इस समर्पण में भूमा सुख है। इस त्रिपुरारि दर्शन की त्रिपुर भंगिमाएं गंगा-यमुना-सरस्वती होकर एक रस हो जाती हैं और फिर 'जोग' कुण्डली में मुंह चिढ़ाता शनि-ग्रह भी कलश-कंगन हो जाता है। 'जोग साधना' से प्रेम-साधना उच्चतर है। अतः प्रेम-दर्शन के सम्मुख 'जोग दर्शन' महत्त्वहीन है –

"स्वर्ग है इस भुवन में, यहां प्यार है/ फूल हंसते हैं रंगों की बौछार है
श्लोक बनता है सौरभ का वातावरण/ छोड़ कर यह तपोवन कहां जाओगे?" (*पृ. 28*)

प्रेम में वासना की पंकिल तहबाजारी नहीं होनी चाहिए अन्यथा प्रेम विषकन्या है। विषकन्यायी वासना अघोरियों का देह दर्शन है। देह-कस्तूरी का सूंघना प्रेम नहीं वासना है। देह के बीच पड़े स्वर्ण गह्वरों में उलझा मन वासना का रेशमी पत्र है। इससे आत्मा मैली नैतिकता अहंग्रस्त हो जाती है। इसलिए वासना के देह पत्र पर हस्ताक्षर से सदा बचना चाहिए अन्यथा प्रेम चुनरिया दागी और बदनुमा होकर आत्महत्या की वकालत करने लगेगी। भावना और वासना के अन्तर को पहचानना होगा। कवि का गीत-मन इस अन्तर को स्पष्ट करते हुए मनुष्य की चंचल वृत्तियों को बांधने का प्रयास करता है –

"सोनजूही वासना बड़ी मनभावन/ टहनी-टहनी खिले किन्तु झर जाए
भाव-वल्लरी फूले कल्पलता-सी/ जनम-जनम शीतल सुवास भर जाए।" (*पृ. 51*)

प्रेम की सार्थकता त्याग और एकनिष्ठ समर्पण में है। कवि का गीत बोध प्रेम के इसी निस्वार्थ रूप को शब्द-कवच देता है।

चक्रमंथन : भाव सम्पृक्ति

भ्रमर के सौन्दर्य में कर्म की सहजता है, वह यथार्थ भूमि से व्यक्ति को काटता नहीं है और न ही वह छायावादी भावुकता वायवीय कल्पना के समीप है। इनके सौन्दर्य से कौतूहल का आवरण पूरी तरह हटा हुआ है। जल विहारी सोन मछरी कवि को इसीलिए पसन्द है क्योंकि उसके नीलाभ आवरण में छिपा पारदर्शी सौन्दर्य बिना कौतूहल के मूर्तिमन्त हो जाता है। मत्स्य क्रीड़ा के उछलने पुनः जलचारी होने की क्रिया के बावजूद सौन्दर्य तैर कर सामने आ जाता है। 'रूप, रस, सुवास' (*पृ. 56*) में पारदर्शिता नहीं है, बाह्य आकर्षण के कारण यह सौन्दर्य सतह का स्पर्श करता है, अन्दर तक हिलकोरता नहीं है, इसीलिए निस्सार है। सौन्दर्य तो वह है "जिसने मझधार में घर बनाया, प्रेम की बंसी लगाने का उपक्रम किया, मछली उसकी हुई। सारा संसार एक अथाह समुद्र है। इसकी लहरों के पारदर्शी पर्दे में विभिन्न कोणों और मुद्रा-छवियों में सोन मछरी चमकती है - सौन्दर्य मूर्तिमान होता है।" (*पृ. 7*), इसीलिए कवि अन्तर्चेतना से उस सोन मछरी को चाहता है जो बाह्य की अपेक्षा अन्तर को छूती है। कवि की सौन्दर्य पारखी दृष्टि सागर के बीचों बीच उसी सोन कस्तूरी की तलाश में है जिसके 'श्रद्धास्म' से वह विश्वमुखी हो जाए और उसके गीत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रात्मक होकर उस सौन्दर्य की हीर कनियों को आत्मा के स्पर्श से साधारणीकृत अनुभूति बना दे। इसके लिए सम्पूर्ण विश्व को धता बता कर कवि-चेतना गहरे समुद्र-मंथन को तैयार है–

"बनिज नौकाएं लुटाएं लाख धन/ गीत माझी के करें अनगिन गुहार,
व्यर्थ हैं ये सभी आकर्षण मुझे/ मैं न जाऊं छोड़ कर यह अगमधार,
प्रीत की बंसी इसी जल में लगे/ मूढ़ जग चाहे उड़ाये जो हंसी
मैं बनाऊं घर इसी मझधार में/ अगम जल की सोन मछरी मन बसी।" (*पृ. 17*)

'मछली बोली' (*पृ. 18*), गीत में निर्गुण-निराकार स्वर है। यह संसार अथाह सागर है जिसमें प्रेमजल भरा है। मछली जीव है, मछुआरा 'माया' का प्रतीक है, जीव की सागर से शाश्वत प्रीत है किन्तु मछुआरा कभी 'रुपहला', कभी 'मोह' का तो कभी 'भरम' का जाल डाल कर उसे अपने फन्दे में फांसना चाहता है। मछली की मर्मान्तक पीड़ा अन्तस् को बींध जाती है "मछली बोली : सुन मछुए/ मत फेंक रुपहला जाल।" (*पृ. 18*)

'सोनमछरी' अनुरागजन्य सौन्दर्य का प्रतीक है उसी प्रकार बांसुरी काव्य रचना का। क्योंकि सतछिद्रा बांसुरी गीतों के नए-नए पैटर्न बुनती है। बांसुरी-छिद्रों से 'तालमिश्री' के मीठे बोल मानव-मन को बांध लेते हैं (*पृ. 26*)। इसीलिए कवि मन बार-बार 'पनघट पर बंसी लगी रहे' की गुहार करता है क्योंकि पनघट की महिमा अपरम्पार है। पनघट-जल की गहराई में हजारों कलश डूब सकते हैं। जल-तल में मचलती सोन मछरी का पनघट 'जल से गहरा प्यार है' इसीलिए कवि मन की सुनता है और उसे मछरी गीत बना कर धूनी रमाने को तैयार हो जाता है –

"मन कहता! पनघट पर धूनी रमी रहे
लगी रहे बंसी हां झांकी सजी रहे।" (*पृ. 19*)

वंशी टेर कर राधा को घने कुंजों की मधुवन छांह का निमन्त्रण देती है। बैरिन दो पल का चैन भी नहीं लेने देती। 'वैरिन बांसुरी पुकारे' गीत में प्रेम के तीन रूप चित्रित हैं। सारी रात वंशी-स्वरों में नए-नए छन्द ढलते रहे और प्रभात होते ही सूर्य किरण से चहुं ओर उनके अनुराग की छाया बिखर गई। हृदय-सरोवर में प्रीत-कमल युवा हो गए किन्तु भरी दुपहरी की 'ललचाही टेर' ने प्रिया को उलझन में डाल दिया। सिर पर सूरज, आंगन में चौड़ी धूप, घर-ब्यौहार के सैकड़ों काम, उस पर प्रिय की पुकार-बिना शृंगार, बिना बाजुबंद संवारे कैसे जाए –

"कौन हर पहर करने बैठे सिंगार/ कौन हर घड़ी बाजुबंद संवारे।" (*पृ. 39*)

लेकिन वंशी मोहिनी के वशीकरण स्वर अम्बर पर मेघ आच्छादित कर देते हैं, सागर में ज्वार-भाटा आ जाता है, चंदा गतिहीन होकर थम जाता है, सूरज राह भूल जाता है। मन खिलखिलाता है, तन अभिसारी हो जाता है लेकिन पारिवारिक, सामाजिक मर्यादाएं 'अटपटे प्रेम कगार' तक नहीं जाने देतीं। 'कैसे जाऊं अटपट......' में यही विवशताजन्य बोध है। इस प्रकार यह प्रेम व्यक्तिपरक दायरों को तोड़ कर समष्टि - उन्मुख होता है। प्रिया और समष्टिबोध के एक से एक सुन्दर चित्र भ्रमर-गीतों का शृंगार है। स्मृति-बिम्बों में प्रिया का रूप-सौन्दर्य विशिष्ट मानसिकता की गीत-प्रतीतियां हैं –

"आई तुम्हारी याद/ रात महकी-महकी.....

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंखों में खिंच आया रूप सलोना/ फूल जुन्हैया के फूल
कानों में तिर आए बोल सुरीले/ वंशी बजी अनुकूल
प्राणों भरा उन्माद/ रात बहकी-बहकी...............।" (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 26*)

सेतु रंग : प्रकृति

प्रकृति नवगीतकार के स्वभाव में है। संवेदनशील मन के झरोखों से झांकती प्रकृति ने नवगीतकार को घनी धूप-छाया में लोरी दी है। प्रकृति से जीवन का जुड़ाव स्त्री-पुरुष सम्बन्ध है, इसीलिए प्रतीकों, बिम्बों, उपमानों का चयन करते हुए नवगीतकार ने प्रकृति को प्यार भरी नजरों से हेरा है। भ्रमर ने भी प्रकृति से नज़दीकी सम्बन्ध कायम किया है। मन के उल्लास को प्रतीकित करने के लिए भ्रमर ने प्रकृति को महत्त्वपूर्ण माना है। 'ये हवाएं' में हवा का मानवीकरण इसी दृष्टि से है –

"मांग लाईं नदी से शैवाल के कुछ छन्द,
चुरा लाईं कुन्द कलियों से नया मकरन्द,
रेशमी रूमाल/ इनके हाशिए तो सूंघना
ये हवाएं प्यार का पैगाम लाई हैं।" (*पृ. 20*)

'कोई फूल व्यर्थ न जाए' गीत में कवि फूल की सार्थकता में नेह-प्रेम की उपस्थिति महसूस करता है। फूल में धरती का मन मुस्काता है –

'प्यार के हार में गुंथ कर पिया को भाये/ रीझे और रिझाये' (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 40*) ही फूल की सार्थकता है। फूल मन की कोमल वृत्तियों का प्रतीक रूप है। इसकी सुगन्ध-सुरभि व्यक्ति विशेष अथवा प्रिय-प्रिया तक ही सीमित नहीं रहनी चाहिए। प्रेम का कोई भी रूप इसकी नील-पंखुरियों का सौन्दर्य-विधान है, इसीलिए यह धरती की स्मिति है। किसी भी रूप में फूल-पंखुरियों का उपयोग उसकी सार्थकता को प्रमाणित करता है लेकिन एक भी पंखुरी व्यर्थ नहीं जानी चाहिए। चाहे वह देवी-देवताओं के चरण पखारे अथवा मृत-देह का शान्ति-पाठ बने, प्रिय-प्रिया की कस्तूरी गंध महकाये या शहीद का चंदन तिलक बन कर श्रद्धांजलि में गुंथे - हर स्थिति में उसकी सार्थकता है लेकिन वह सुरभि-सुगन्ध की तरह जन-मन के पर्यावरण को महकाये। 'लो फिर एक फूल' में छायावादी रहस्यात्मक संकेत हैं –

"किसने जादू फूंका/ किसने पढ़ा प्यार का टोना
किलक उठा फिर/ मेरे मन प्रान्तर का कोना-कोना।" (*पृ. 41*)

रवीन्द्र भ्रमर के गीतों में ऋतुयी सौन्दर्य का आनन्द भी है। अनेक गीत ऋतुओं की महक को समेटे हैं। 'कजली' (*पृ. 58*), 'जामुनी घटाएं' (*पृ. 59*) 'अब झर लगी' (*पृ. 60*), 'अर्थ शरद के' (*पृ. 61*), 'कातिक फूले' (*पृ. 62*), 'शरद के पाहुन' (*पृ. 63*), 'होरी काफी' (*पृ. 69*), 'आंखों घुले गुलाल' (*पृ. 71*), फागुन हो' (*पृ. 73*), 'पिहक उठी' (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 36*), 'इस होली में' (*पृ. 37*), 'रंग अपने बलम संग' (*पृ. 38*) आदि गीतों में सावन, शरद, वसन्त ऋतुओं की सम्मोहक मादक अदाएं हैं जो हृदय तल की टीस-उल्लास को व्यक्त करते हैं। ऋतु-गीत लोक-संवेदना की रसीय प्रतीति हैं –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"फागुन की बदरी बरस गई.....
जग होरी-चौताला गाये/ मैं कजरी के गीत
गीली आंखणियों को भाये/ दिन बरखा के मीत
भरम भरी कोयलिया कूके/ हूक हिया को परस गई......।"

(*रवीन्द्र भ्रमर के गीत : पृ. 58*)

अग्नि-लय : द्रवीय चिन्तन-संघर्ष

'जलते मस्तूल खण्ड' में युगीन यथार्थ-संघर्ष के मानक गीत हैं। उग्रवादी प्रतिहिंसा के कारण आतंकित चप्पा-चप्पा, आहत-मन विक्षुब्ध संवेदना ने हृदयों में अलगाववादी भावना के बीज बो दिए हैं। उग्रवादी दहशत ने प्रकृति मां के आंचल को भी दागदार कर दिया है। आतंकित परिवेश में नदी, पर्वत, पेड़ सभी सहमे जड़ हो गए हैं। इन बारूदी अहसासों में कवि की गीत-चेतना भी घुटती है लेकिन वह यथार्थ की इन बंजर अनुभूतियों से मुख तो नहीं मोड़ सकता। इस व्याल-जलन को समय की चुनौती मान कर कवि शब्दायित करता है –

"क्यारियों में बो दिया बारूद किसने,
दरख्तों पर रख दिया ताबूत किसने,
मिटे यह आतंक, पकड़ा जाय यदि वह छली
तो मैं लिखूं आज वसन्त, आली! रचूं आज वसन्त।" (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 53*)

जाने यह कैसा मौसम आया कि चेहरों के रंग उड़ गए, हिंसा की धूप फैल गई, सिक्कों की काई जम रही है, महंगाई अपना असामान्य ग्राफ बढ़ाती जा रही है, नैतिकता छलना के घर मेहमान हो गई है, शोषण नेतायी आचरण से लुभा कर पोर-पोर जोंक बन गया है, श्रम जबरदस्ती वेश्या बनायी गयी नारी की तरह सिर धुन रहा है (*पृ. 71*), अपनी ही छाया जलाने लगी है, दर्पण मुंह चिढ़ाता है, समूचा परिवेश छल-प्रपंच की बिसात पर राक्षसी आचरण का समर्थक हो गया है। घुटन, कुंठा, निराशा के कोढ़मुखी व्रण हृदय की धरती पर पसर गए हैं।

अति बैद्धिकता हृदय को अपमानित कर अत्याधुनिक आचरण की कर्ज़दार हो गई है। सूदखोर स्थितियों ने मानसर हंसों को निकाल कर उस पर कब्ज़ा कर लिया है। इन अपहृत सत्यों के बीच मानव की गलीच स्थिति टूटन की पराकाष्ठा तक आ पहुंची है। समय कलयुगी भार बन कर वंचक नियत से मनुष्य को निष्क्रिय बना रहा है। ऐसे में संवेदनशील कवि के गीत हस्ताक्षर काल-चक्र को बांधने में स्वयं घायल हो जाते हैं –

"मैं जो कुछ भोग रहा/ दुःख वह तुम्हारा!
तुमने मुझे तीक्ष्ण/ संवेदन-शर मारा!!
मेरी चेतना में/ जितने कांटे तैर रहे,
मुझ को कब चुभे/ सब तुम्हारे ही पैर रहे,
चुभने की व्यथा तुम्हें/ अनुभव की व्यथा मुझे,
सहने, चुप रहने का/ एक प्रण हमारा!" (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 89*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब यह दर्द नहीं सहा जाता। चारों ओर सन्नाटा, नागफनी के कांटे नुकीले बन कर देह-छिद्रों के द्वारपाल बन कर ताजी हवा को अन्दर नहीं घुसने देते। नब्ज़-लौ बुझती जा रही है (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 55*)। इस नागफनी वन में मन-मृगछौना तड़प रहा है, दंश प्राणों में धंसा है (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 91*), गांधी जी के तीन बन्दरों के अर्थ बदल गए हैं। अन्धे को उगता सूर्य दिखाई देने लगा है, बहरों के कानों में आकाशीय ऋदम गूंजने लगी है। गूंगा वाक् के आसन पर सत्तानंशी हो गया है (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 70*)। इस नागफनी परिवेश का दर्द अजगर बन कर जनसामान्य को जकड़ता जा रहा है। इसकी आधुनिक शिनाख्त यहीं खत्म नहीं होती, कदम ताल करती हुई इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर रही है। सत्ता से जुड़ी शक्तियां 'झूठ का झांझर कवच पहने झुनझुनों की तरह बज रही हैं' (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 99*)। कवि आश्चर्यचकित होकर समय की नब्ज़ को पकड़ने की कोशिश करता है। उसे समझ नहीं आता कि क्यों, कैसे, कब मनुष्य का भीतरी वन झुलस गया, आस्था-पीत-पत्र की भांति बुढ़ा गयी, विश्वास का वह छतनार सूख कर पतझर हो गया। ऐसा क्यों हुआ –

"अनुबंध सब खंडित हुए/ विश्वास-पुंज उखड़ गया,
पासा समय के चक्र का/ इस तरह उलटा पड़ गया,
निज को लगा कर दांव पर/ क्यों हार बैठे हम जुआ?
यह क्या हुआ, क्योंकर हुआ?" (*पृ. 103*)

इस क्यों को उत्तरित करना होगा, तलाशना होगा, आस्था-विश्वास के जिज़ीविषा बीज़ों को जीवट-खेत में गहरे रोपना होगा। गुलमोहर की सुर्खी शतनील कमल की पंखुरियों से दोस्ती कर कैक्टस-संस्कृति को उखाड़ फेकेंगी। तिमिर का आतंक यद्यपि गहरा है किन्तु कवि अग्निवीणा बजाने को तैयार है (*पृ. 95*)। रोशनी के लिए आत्मा को बाती और देह को मोम-पुतला बनना ही होगा (*पृ. 96*)। अन्धकार की डसती नागिन को प्रकाश-फुनगी पर नचाना ही होगा। लौह की इस्पात कारा को भेद कर फूल संस्कृति का प्रसार करना होगा, तमस के खिलाड़ियों को पराजित करने के लिए शिव-प्रत्यंचा खींचनी ही होगी। अन्धकार के भस्मासुर नागकुलों की तबाही के लिए प्रकाश-शरों का संधान करना ही होगा। नाग पाशी माहौल निश्चित ही टूटेगा क्योंकि कवि का विश्वास-आस्था के सृजनसर्गों के गीतायन को मन से समर्पित है। इस विश्वास ने ही रोशनी की गीत लकीरें खींची हैं जिसकी वजह से अमा-निशा के पंख क्रमशः टूट रहे हैं और जय के स्वर्ण सवेरे में अधिक देर नहीं है (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 63*)। कवि पूरे विश्वास के साथ वसन्त की उद्घोषणा करने को उत्सुक है –

"एक कोंपल उगे/ चटके एक नन्हीं कली
तो मैं लिखूं आज वसन्त, आली! कहूं आज वसन्त।" (*पृ. 53*)

वसन्त ऋतु की घोषणा से पूर्व भ्रमर की रचनाशीलता साधारण जन का आह्वान करती है -

"उठ बांके, समर पंक्ति में सबसे आगे दिख,
कर्म-लेखनी से जय की जीवन-गाथा लिख
पुष्ट भुजाओं में उगें/ दिशाओं के शक्तिमान
प्राणों में तूर्यनाद/ शंखध्वनि हो पल-छिन।" (*पृ. 65*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वह ताकीद भी करती है –

"चरही का ठंडा पानी, ठंडी बरगद की छांव,
उनमें विरम न जाना, बढ़ते जाना बोझिल पांव,
थोड़ा और, भाई ज़ोर लगाओ ज़ोर
थोड़ा और।।" (*पृ. 54*)

गीतकार स्वयंभू मसीहायत का विरोधी है। वह चाहे साहित्यिक क्षेत्र में हो अथवा राजनीतिक मुर्दाघर में। राजनैतिक मंच पर ऐसे बहुत से धुरन्धर हैं जो अपने को क्रान्तिजेता की मानस संतान मान कर स्वयंभू आचरण के मोहताज़ हैं। ऐसे कॉकरोचों की नस्ल भारतीय राजनीति में कुकरमुत्तों की तरह उगती है और बरसाती मेढ़कों की तरह टर्र-टर्र कर विपरीत मौसम में केंचुओं की तरह मिट्टी का कफन ओढ़ कर सो जाती है लेकिन मरती नहीं, अनुकूल मौसम में पुनः टर्र-टर्र करने लगती है। ऐसे क्रान्तिकारी वीर भारतीय राजनीति में मीरज़ाफर अथवा किसी लालसिंह से कम नहीं हैं जिन की करनियों को जन-मानस हर युग में भोग रहा है।

साहित्यिक क्षेत्र में भी ऐसे-ऐसे 'वृहस्पति' हैं जो केवल अनुकरण के बल पर ज्ञानी मनीषी बन गए हैं, जिनके संसर्ग में आने पर शब्द दम तोड़ देते हैं और अर्थ पानी भी नहीं मांगते अथवा अकविता हो जाते हैं, लेकिन उन्हीं के ब्लेजरों पर बड़े-बड़े तमगे होते हैं। साहित्य और राजनीति तो प्रतीकात्मक स्थितियां हैं, ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है जहां ऐसे स्वयंभू कर्मवीर न हो। 'तुम डाल डाल हम पात पात' की कहावत ऐसे धूर्तों के लिए ही है। धूर्तता के इस राजनैतिक स्वार्थान्ध सत्य को व्यंजना देने के लिए भ्रमर ने 'बकुलध्यानी' (*पृ. 99*) शब्द का सार्थक सटीक प्रयोग किया है।

'पेड़ क्यों काट दिया' में प्रदूषित पर्यावरण की चिन्ता है। पशु, पक्षी, धरती, ऋतुओं के मरने की चिन्ता कवि को सताती है। एक अन्तरे में उभरती टीस महसूस कीजिए –

"इसने कितने पतझर देखे कितना हिम और शीत पिया,
कितनी बार वसन्त खिलाया खुशबू से जग जीत लिया,
तुमने इसकी पत्ती छूकर यह तो देख लिया होता
इसे मारने से वसन्त मर जायेगा/ काली छायाएं वन में विचरेंगी
इतना हरा पेड़ तुमने क्यों काट दिया/ इसे उगाने में सदियां गुजरेंगी।" (*पृ. 81*)

'गंगा' (*पृ. 83*), 'गंगोत्री की एक लहर पर' (*पृ. 84*), 'गोमती से प्यार' (*पृ. 85*), 'नदी के साथ चले' (*पृ. 92*) आदि गीतों में नदियों की महिमा और हमारी सांस्कृतिक विरासत ज़िन्दा है –

"सदा सींचती जीवन-तट को,
स्नेह दिया करती आस्था के अक्षयवट को,
घट को अनायास पावन पय से भर देती
इसकी लहरों में उज्ज्वल कर्मों के पुण्य फलें।
चलो नदी के साथ चलें।" (*पृ. 92*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सूरदास के प्रति' (*पृ. 88*) गीत में वातसल्य मूर्त्ति सूर के प्रति भावांजलि देते हुए कवि ने पूछा है कि वे मन्दिर के गायक थे अथवा मन-मन्दिर के साधक।

'नमन' में नारायण के नर रूप के प्रति कवि का समर्पण भाव मुखर हुआ है –

"नर को नारायण के अवतार अपर को
जो ज्योति-पुंज बन उगता उस दिनकर को
जो पुण्य-पयोधर बन कर प्यास बुझाता
मैं नमस्कार करता हूं ऐसे नर को।" (*पृ. 88*)

यह रवीन्द्र की गीत-यात्रा का प्रस्थान-बिन्दु नहीं है। झरने की झंकार आज भी इनकी प्रीत बांसुरी के छन्द स्वरों को हौले-हौले उठाती हैं क्योंकि इनकी सृजन भंगिमाओं में निर्माण की रचाव-गंध है। छन्द टूटने की पीड़ा कवि-मानस में विचलन पैदा करती है।

तत्वबोध : अर्क-घुलावट

भ्रमर की 'गीत-बंसरी' ने अग्नि सुर साधे हैं। तत्वबोधी स्वर ही गीत-पैंजनी से बांसुरी छिद्रों पर रास करने के लिए थिरकन बन कर थिरकते हैं। यह बंसरी अमोल (*रवीन्द्र भ्रमर के गीत : पृ. 28*) है, गाते-गाते 'रन्ध्र-रन्ध्र रिस गई बांसुरी/ पोर-पोर रीत गई' (*पृ. 32*)। इसके बावजूद रचनायित गीत मन अपनी इस वंशी को नये-नये सुरों से नवाजता है क्योंकि युग को साधने के लिए गीतवंशी को साधना निहायत जरूरी है। इसीलिए वह वाणी-वीणा को गीत के बीज-मंत्रों से पवित्र करता है –

"वाणी की वीणा पर/ शाश्वत सरगम लहराये/ नये स्वरों में नए भाव भर
कवि का मन गाये/ फूटे जड़ चट्टानों से/ रस के चेतन निर्झर।
वंशी करो मुखर।" (*पृ. 35*)

वह मानता है कि "संघर्षों के बीच शीशे जैसे संकल्प टूटते होंगे, सोने जैसी आस्थाएं क्षीण होती होंगी और चट्टान जैसे सत्य रेत-रेत होकर बिखर जाते होंगे। लेकिन युग-मानव अथवा युग-संगीत के टूटने में मुझे सन्देह है। इस टूटन को स्थायीभाव मान लेने का अर्थ होगा चरम निराशा और सार्वज़नीन मृत्यु के महाकाव्य की रचना, जिसके लिए मैं तैयार नहीं हूं। मेरा निश्चित मत है कि दुःख, दुर्दिन और दुश्चिन्ताओं के प्रहर में बांसुरी और संगीत का महत्त्व बढ़ जाता है" (*रवीन्द्र भ्रमर : समकालीन हिन्दी कविता : पृ. 107*)। गीत हमारे संस्कारों की विवशता नहीं जीवन-पद्धति है, मंत्र-दर्शन है, कर्म-यज्ञ है। इसीलिए कवि 'पंछी में भी गाने का गुन' स्वीकारता है -

'पंछी में गाने का गुन है
दो तिनके चुन कर/ वह तृप्त जहां होता है
गीतों की कड़ियां/ बोता है!'. (*रवींद्र भ्रमर के गीत : पृ. 19*)

"जहां अहं के विसर्जन, यथार्थ के संवेदनशील साक्षात्कार और नवीन जीवन-स्थितियों के अनुरागपूर्ण आवेदन की मुद्रा होगी, वहां गीत-सृष्टि अनिवार्य है" (*गीत-2, दिल्ली 1967 : पृ. 26*)। गीत हमारे भाव मन का भोजन है। थकी शिथिल नसों को गीत अपने परस से सक्रिय बना देता है, मानसिक थकान को दूर कर नींद जैसा सुख देता है, भूख के बाद का भोजन जैसा आनन्द

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत का अर्क तत्व है। हमारी रागात्मक चेतना का अंश शब्दधारी होकर लय से परिणय कर गीत हो जाता है जिसका हर स्वर अनुभव-वंशी से छन-छन कर आता है।

कलात्मक चारुत्व : शैल्पिक देह

गीतकार की अनुभूतियों, विचारों, कल्पनाओं के सुन्दर सामञ्जस्य का दायित्व भाषा पर होता है। रवीन्द्र ने भाषा और उसकी अर्थवत्ता का ध्यान रखा है। इनके गीतों में यदि एक ओर संस्कृत गर्भा तत्समयुक्त शब्दावली है तो दूसरी ओर वह आंचलिक सौन्दर्य से समावेष्टित है। भाषा की रवानी में उर्दू भाषा के वे प्रचलित शब्द भी हैं जो आज आम आदमी की जुबान बन गये हैं। व्यंजना शक्ति को बढ़ाने के लिए कवि ने मुहावरों-लोकोक्तियों का बखूबी प्रयोग किया है। सांस्कृतिक शब्द बिम्बधर्मी होते हैं। रवीन्द्र ने अपने गीतों में इन शब्दों का सटीक और प्रभावशाली प्रयोग कर बिम्बधर्मी प्रतीतियों को निखारा है। जैसे ही कोई भाव शब्दों की लहर लेकर गीत-रूप होता है त्योंही कवि उसमें बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव भरने के लिए पौराणिक-सांस्कृतिक शब्द-बिम्ब ढूंढ लाता है। 'यह क्या हुआ' (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 103*) गीत में आस्था की खण्डित पीड़ा का स्वर है। किस कोण से गाज़ गिरी कि नन्दन-कानन झुलस गया। अन्तिम दो पंक्तियों में शब्द-बिम्ब का सांस्कृतिक घुलाव देखिए –

"निज को लगा कर दांव पर/ क्यों हार बैठे हम जुआ?" (*पृ. 103*)

इसी प्रकार –'बन के पत्थर अहिल्या पड़ी है' में गौतम ऋषि की पत्नी का पत्थर होना राम की प्रतीक्षा आदि का संपूर्ण बिम्ब रचनाकार की कलात्मक दृष्टि का चारुत्व है। 'मेरा देश' गीत में 'सिय की चोरी दशानन करे बरजोरी' (*पृ. 98*), 'विभीषण ने किया बंटाधार मेरा देश' (*पृ. 98*) आदि गीतों में भी संकेतों के माध्यम से पौराणिक बिम्बों की संयोजना है।

प्रकृति-चित्रों के साथ नाद-बिम्बों को संयुक्त कर कवि ने इनमें लयात्मक प्रवाह भर दिया है –

"खन-खन खनके बिछुआ चले हवा।
हाट-बाट नद पोखर थिरके/ कभी शिथिल गात कामिनी झूले
अमराई की बांहों घिर के/ मंजरियां बरसें, सरसें नव उन्माद
धरती पर छिटक रहा कुछ अनुपम स्वाद/ इन स्वादों में तुम खो जाओ
मन गाओ! यह मधुवन बांसुरी बजाओ, मन गाओ!!" (*पृ. 96*)

आधुनिक परिवेश को हूबहू चित्रित करने की गरज से वस्तु-बिम्बों की यथार्थ कटान तीखी होकर बर्र के छत्ते की तरह भय से मुक्त नहीं होने देती –

"फैल रही हिंसा की धूप, झुलस रहा बस्ती का रूप,
टूट रहे कोमल अनुबन्ध, सब कुछ लगता है विद्रूप,
पलछिन आपाधापी में सारे रिश्ते बिछुड़ गये।
यह कैसा मौसम आया चेहरों के रंग उड़ गये।" (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 71*)

इसी प्रकार 'फोनोग्राम की घिसती सुई/ मुई ज़िन्दगी' (*पृ. 61*) में वर्त्तमान मनुष्य की आधुनिक व्यस्तता का लेखा-जोखा है जो भागते-दौड़ते शाम से सुबह और सुबह से शाम एक ही आलाप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ग्रामोफोन के घिसे रिकार्ड की तरह बज रहा है। फाग-परिवेश के मस्ती चित्रों में भ्रमर का गीत-अनुष्ठान पूर्णाहुति के निकट आ जाता है। 'रंग अपने बलम संग खेलूंगी मैं' में संयोग शृंगार की साकार प्रत्यक्षता भांग पीकर मचलने लगती है –

"रंग अपने बलम संग खेलूंगी मैं!
यह नींबू की डाल न फूले सदा/ दिन चार बहार का आलम है,
रसगंध का जो भी खजाना मिला/ उसे खरचूंगी खूब न कुछ गम है,
तितली से उड़े जाते जो पहर/ उन्हें बांधूगी प्यार की डोरियों में,
दिन के रथ, रात के पालने में/ भर अंक संवरिया को ले लूंगी मैं,
रंग अपने बलम संग खेलूंगी मैं।" (*पृ. 38*)

ऐसे सजीव संश्लिष्ट बिम्बों में अनुभूति की घुलनशीलता साधारणीकरण की शास्त्रीय परिभाषा का मानक रूप पेश करती है। सम्प्रेषण तन-मन आत्मा को एक इकाई पर ले आता है। चित्रधर्मा अनुभूतियां गीत-बिम्बों की ताकत बन कर उभरती हैं। तल में मचलन, चिन्तन में कौंचन पैदा करते इस प्रकार के सहज संवेदन बिम्ब भीतरी पर्यावरण को महका देते हैं। इनके गीतों की बूंद-बूंद चुअन में आधुनिकता का ताप घुल कर द्रवीय हो जाता है। द्रवधारी बिम्बात्मकता में आधुनिक बुनावट चौबीस कैरेट हो जाती है, यह कम उपलब्धि नहीं। यह एक तरह से तांबे को सोना बनाने जैसी है। इनके गीतों में पारम्परिक उपमानों के साथ समसामयिक यथार्थ से जुड़े उपमानों को भी घिस कर चमकाया गया है। इस घिसावट ने आधुनिक जीवन के व्यापक संदर्भों की गहराई मापी है –

"वक्त धानुक है धुन रहा हरदम/ रेशे-रेशे में बिखरी रूई मुई ज़िन्दगी।" (*पृ. 61*)
"तड़प रहा मृग-छौना/ नागफनी के वन में।" (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 91*)
"बहुत धुंध छंट गई –
देश का क्षितिज बहुत उजला लगता है
किन्तु कहीं कुछ धूल शेष है/ अभी सूर्य धुंधला लगता है।" (*पृ. 94*)

परम्परागत उपमानों में यत्र-तत्र नव्य-बोध है - 'आंखों में अलसी-सा अंजन' (*पृ. 67*), 'देह लचे मंजरित डाल-सी' (*पृ. 68*), 'मैं अनुराग अर्गला पर माली-सी जाऊं झूल' (*पृ. 69*), 'सांकरी घटा घिरी जैसे झूमती परी' (*पृ. 58*) आदि नये उपमानों के गढ़ाव में तल्ख़ तुर्शी और रचनात्मक तरलता है। जैसे –

"जैसे खिले सुबह के फूल/ अनायास खिल उठता मैं/ जब तुम होती अनुकूल।"
(*धूप दिखाए आरसी : पृ. 30*)

'बावरे पंछी सरीखा मन उड़ गया।' (*पृ. 27*) आदि।

उत्प्रेक्षा की भीनी खुशबू टूटे हुओं को जोड़ती है लेकिन इसमें सुर्ख दहकन भी है –

"ज्यों खिले डाल पर अग्नि फूल/ दहके-महके वन का दुकूल,
ज्यों आग लगा दे दर्पण में/ उगते दिन की चम्पई धूप।" (*पृ. 86*)

सोन मछरी तथा वंशी के अनुरागजन्य प्रतीकों की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। अनुप्रास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और पुनरुक्ति की संगीत ध्वनियां गीत को अपना हृदय देकर झरने जल-सी छलछलाती हैं -

"निखरता रूप, भरता रंग, झरता जादुई सौरभ।" (*पृ. 32*)

'गगन में घन, नयन में घन, भर भुवन में श्याम घन' (*पृ. 80*)

जैसे गीत संगीतीय पखावज हैं।

ऐसे में पुनरुक्ति का सौन्दर्य बोध मृदंग हो जाता है –

"मह मह मह गंध भरी रातें ये/ डह डह डह रंग रचे दिन/ सांस-सांस में घुलता है केसर।"

(*सोन मछरी मन बसी : पृ. 95*)

रवीन्द्र की उपमान-योजना गीत-सम्पदा का सार्थीकीकरण है। इनमें एक आत्मीय चुहल है जो सहजभाव से अर्थस्तरों को संगीत बना कर द्रवधार सी बहने लगती है। गीतों की अर्थवत्ता कुबेर हो जाती है।

भ्रमर के गीतों में छान्दस प्रयोग प्रीतिकर हैं। इनकी छन्दमुक्तता का अपना अन्दाज़ है। यह सही है कि "आज का गीत-कवि शब्द, लय अथवा छन्दगत संगीत पर उतना बल नहीं देता। काव्यगत संगीत का तात्पर्य कवि-कंठ के ललित गायन अथवा सुरताल गत सांगीतिक विधान से नहीं लेना चाहिए। काव्य का संगीत गायकी के संगीत से नितान्त भिन्न वस्तु है। एक का संगीत अन्तर्मुखी है, दूसरे का बहिर्मुखी। काव्य में प्रयुक्त शब्द अपने अर्थ-संगीत को मौन स्वरों में मुखरित करते हैं। इसके विपरीत संगीत में अर्थ प्रायः मौन रहते हैं और मुखरित स्वरों के संघात एवं संयोजन से राग रागनियों की सृष्टि की जाती है। काव्य अथवा गीतकाव्य का संगीत आन्तरिक, अर्थ-संयुक्त तथा भावगत ही हुआ। नया गीत-कवि अपनी गीत सृष्टि में इसी भावगत संगीत को प्रधानता देता है।" (*रवीन्द्र भ्रमर के गीत : पृ. 9*) भ्रमर का गीत-मन छंद-चयन नहीं करता। सहज स्फूर्त्त गीत की प्रथम पंक्ति स्वयं ही छंद का चयन कर लेती है। यह गीत की आन्तरिक अर्थवत्ता पर निर्भर करता है। बाद में कवि गण, अक्षर, मात्रा, गति, यति आदि का बनाव शृंगार कर लेता है। टेकपंक्ति एवं छन्द-वैविध्य रवीन्द्र के गीतों में भरपूर है –

S I I S I I S S S S S S I

"बांध लिये/ अंजुरी में/ जूही के फूल।"

इस गीत की यही टेक पंक्ति है, जिसे कवि ने तीन पंक्तियों में और इक्कीस मात्राओं में बांधा है। आगे का क्रम देखिए - अन्तरे में एक छोटी पंक्ति –

I I I S I

'मधुर गन्ध' जिसमें छः मात्रायें हैं और दूसरी बड़ी पंक्ति में सत्रह मात्राओं की गिनती बढ़ गई है। एक बासमतीय गीत चावल की और खुशबू लीजिए –

I I S I I I I I S I I I I S

'मन की हर एक गली महक गयी'

S S S S S I I I I I S I I S S S

'जोन्हा का जादू/ जिन पंखुरियों पर था फैला' (*पृ. 22*)

इन गीत-पंक्तियों में पच्चीस मात्रायें हैं। यही कवि की मुक्त छन्दता है। आन्तरिक लयात्मकता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संक्षिप्तति गीत का प्राण है। भ्रमर ने ऐसे भी गीत रचे हैं जिनमें टेक की एक ही पंक्ति है और शेष अन्तरों में एक-सी मात्रायें हैं। अट्ठारह मात्रायें, (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 46*) बीस मात्रायें (*सोन मछरी मन बसी : पृ. 91*), अट्ठाईस मात्रायें (*पृ. 96*), सोलह मात्रायें (*पृ. 60*) और चौबीस मात्राओं (*पृ. 19*) वाले गीत भी हैं जिनमें तुकबन्दी, लयात्मकता, संगीतात्मकता का त्रिवेणी प्रवाह तबलीय संगत में कत्थक थाप की तरह कुचीपुड़ी गूंज देता है। टेक-पंक्ति का छोटा-बड़ा होना, अन्तरों की न्यून संख्या आदि भ्रमर के गीतों की विशेषता है। 'दोहा' छन्द ने भी प्रभावित किया है। नवगीतकारों में ग़ज़ल के बाद यह प्रवृत्ति ज़ोर मार रही है –

"बाबा खड़े बिसूरते, चेला है मक्कार
चिलम चढ़ी, चिमटा बजा, लूट लिया दरबार।" (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 67*)

भ्रमर ने उर्दू छन्द ग़ज़ल की रहनुमाई भी की है। 'ज़िन्दगी जीने का दर्द' जैसी ग़ज़लें ज़िन्दगी का खूबसूरत आईना है। उर्दू शब्दों का हुस्न ग़ज़लों में पारदर्शी होकर बोला है –

"एक प्याला ज़हर का/ जो मौत की रानी के हाथ
बाखुशी हम पी रहे हैं/ गो हमें पीने का दर्द!
उम्र के होठों से लग कर/ ढल रहा यूं जामे वक्त
हम नशे में झूमते हैं/ भूल कर सीने का दर्द।
चश्मे साक़ी की कसम/ जो मैकदे की जान है
पी रहे हैं तो समझ लें/ क्या है नौशीने का दर्द!
ज़िन्दगी जीने का दर्द।" (*रवीन्द्र भ्रमर के गीत : पृ. 81*)

उर्दू शब्दों से अलग भ्रमर की अनेक ग़ज़लों में हिन्दी का संस्कार सीधे सम्वाद करता है। ज़िन्दगी की जितनी चटकनें हैं वे बहुत खूबसूरती से ग़ज़लों में नुमाया है। ग़ज़ल कहने की भ्रमर-अदा कुठार की तरह चीरती चली जाती है। ग़ज़लों में वृत्त बनाती कचोटें आधुनिक पर्यावरण की चौखटों में कैद ज़िन्दगी की टीसों पर सीधे उंगली रखती हैं। ग़ज़लों के हर शेर में अलग भावों की व्यंजना है। गौर फरमाइये –

"शाख पर फल, खेत में दाने लगे हैं
ज़िन्दगी के रंग मुस्काने लगे हैं।"

"भूख का मर्सिया पढ़ते हुए कौवे
प्यार की आसावरी गाने लगे हैं।"

"लो, चली गौरी पिया के गांव सज कर
पालकी के पांव बलखाने लगे हैं।" (*धूप दिखाए आरसी : पृ. 95*)

आसावरी, कजली, होरी, होरी-फाग, वंशी, वसन्त, मर्सिया, स्वर, सरगम, लय, गूंज, ध्रुवपद, गीत, पंचम स्वर, राग-रंग, रास, मुरली आदि संगीतात्मक शब्दावली भ्रमर गीतों से रास रचाती हैं।

गीत चाहे नवगीत, सहजगीत, अतिगीत अथवा गीतिका जो भी हो, प्रेम-सौन्दर्य, यथार्थ संघर्ष अथवा सांस्कृतिक बोध जैसा कुछ भी हो, मुख्य बात यह है कि रचना मन को कहां छूती है -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कैसा प्रभाव उत्पन्न करती है (*पृ. 8*)। क्योंकि सम्प्रेषण और प्रभविष्णुता तो गीत की बुनियाद को मजबूती देती है। गीत यदि तल को कोंचेगा नहीं, चिन्तन में लहर पैदा नहीं करेगा, हृदय को उफान नहीं देगा, परिवेश को गीतायित नहीं करेगा तो वह कुछ भी हो कम से कम गीत विशुद्ध गीत नहीं हो सकता। भ्रमर के अनेक गीतों में लय अप्रत्याशित रूप से फैल गई है जिनमें संगीत टूटा हुआ-सा लगता है। ऐसे गीतों को 'गीत' 'नवगीत' की अपेक्षा 'अतिगीत' कहना अधिक उपयुक्त होगा, यथा –

"पर तुम हिम्मत करके आना, उन्हें तपाना/ उनके मन का कलुष जगाना
जितना कुछ कर पाओ/ उतना पुण्य कर्म निश्चित कर जाना
रश्मिरथी! तुम आना, आना, जल्दी आना।" (*पृ. 91*)

अन्तर्दृष्टि : काल-मुद्राओं के शंखीय बांसुरी छिद्र

कवि के मन्तव्य का समर्थन कर ऐसे गीतों को हम अतिगीत कहें या अन्य किसी संज्ञा से नवाजें कोई फर्क नहीं पड़ता। युगीन चेतना को कातती ऐसी रचनाएं नवगीत की शक्ति सामर्थ्य की विस्तारायामी पदचाप प्रतीतियां हैं। किसी भी कवि की हर रचना मानक नहीं हो सकती। प्रसाद हो या अज्ञेय, विराट हो या बेचैन, मनीषी हो या यश मालवीय, निराला का विराटत्व हो या उत्तर आधुनिकता की लघुयी अणु मानसिकता, कमज़ोर रचनाओं ने भी हर युग को सर्गबद्ध किया है। कवि की रचनात्मक ऊर्जा के स्रोत की तलाश ही असली संधान है। इस संधान से जो कोण किरचें छूटती-बिखरती हैं वही शंख-बांसुरी बन कर साहित्य मानस को रचना सरोकारों से जोड़ती हैं। कवि की मानस-भूमि में रचनायित परिवेश से जो धुंध-धुंआ उठता है उसी का उत्थान-पतन रचनाओं के आशयों को अर्थ देता है। काल-मुद्राओं को छिद्रित करते बांसुरी-शंख युग के अनुरूप अपना छंद बदलते रहते हैं। युग मानस और काल रथ को गति-वाणी मिलनी चाहिए। जीवन समाज से जुड़े संघर्ष ही उसे गति देते हैं। यह 'गति' और 'वाणी' भ्रमर के गीतों में कमान की तरह खिंची है। यह खिंचन ही हमें नये युग-परिवेश से जोड़ती है। रवीन्द्र भ्रमर के गीतों ने इस जुड़न जुड़ाव को गीतायित किया है। यही उनकी उपलब्धि और सार्थकता है।

हृदयगत तार्किकता एवं धूपीला आरसीय दृष्टिकोण ही इन की गीतीय सोन-ताल की कलश सतह है। जीवन-समाज की समूची काई को चीर तालतलीय सतह में उतर कर ही भ्रमर ने गीत के समुद्र-कलश का मंथन-संधान किया है। तलसेतु से उठी भाववीचियों में तैरती पारदर्शी चंदन-अग्नि भ्रमर के महाकाव्यात्मक द्रवीय गीत चिन्तन को मनुष्य मन का अन्तर्मंथन बना देती है। इस समुद्रीय कलश-विस्तार में नवीन लयात्मक अभिनव अर्थवत्ता एवं संवेदन-अनुभूति की मर्मस्पर्शिता के परिणय-प्रसव से सर्जना के कलात्मक आयाम विकसित होते हैं। लोक पारम्परिक छंद शैली मुस्कुराकर 'दिन के रथ, रात के पालने की' की प्रतीक्षा में रसगंधी कुहुक-कचनारें अधर-गुलाब की सेज पर बलम से रंग खेलने के लिए मचल उठती है। इस मचलन में 'घूंघट की पीर' को कोई 'औघट घाट' नसीब नहीं होता और 'चूनर टेसू छापे' हूक बन कर कलेजे के आर-पार हो जाती है। आन्तरिक शैल्पिक संगीत से मिल कर युगीन समकालीनता स्थिति विशेष को ही परिभाषित नहीं करती अपितु अतीत और भविष्य की धरोहर-आशा बन कर मनुष्य की बुनियादी वृत्तियों को सर्गबद्ध कर लेती है। रवीन्द्र के इस सफ़रनामें में मानवमन की सूक्ष्मतम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभूति-प्रतीतियों का शिराजाल बिछा है। जीने की ललक से लेकर संघर्ष पथ पर बिछे शूल, त्रासद शोकांतिकाओं से लेकर जीवट का गीतधर्मी आलोक, बनी बनायी पगडण्डी पर नहीं, नये पथों को संधित कर सिद्धि तक पहुंचा है। इसलिए सोन-ताल की इस गीतीय कलश-छलकन में भ्रमर मन की अनुरागवृत्ति सहज होकर गूंजती है जो भीतर के राग (स्नेह-भाव संवेदन) को द्रवीय बना कर लयात्मक भाषा में साधारणीकृत करती हैं। यही कारण है कि शहर हो अथवा गांव युगनद्धीय धचकनों की 'खुली तिहाड़' में कैद व्यक्ति और समाज के पूरे मानचित्र को यह अंकित करती है। जीवन में रच-पच गयी लोकधुनों का नया संस्कार कर नये छान्दसिक कलेवर में दैनिक जीवन की जन-नियति को उरेहने के लिए भ्रमर की गीत सम्पदा परिवेश से प्रतिबद्ध होकर नव्य अप्रस्तुत-बिम्बों में अपने को समूचा उड़ेल देती है। गीत के प्रति ऐसी निष्ठा और गंभीर समर्पण बहुत कम गीतकारों में है। इसलिए इनके गीतों की सोन ताल की सतह ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर तक एकतार है। बीच में तूफान भी है, अग्नि-जलन भी, जलधारी बरसन भी है और ललकभरी जुझारू वृत्ति भी, जुड़ने का सुख भी है और अनासक्ति का दुख भी, साधना की तपीली प्रतीक्षा भी है और समाधिस्थ होकर अन्ततः लक्ष्य प्राप्ति का आत्मविश्वास भी। इसीलिए सोन ताल की सतह से उठती हर लहर कुछ कहती है, कहना चाहती है। इस कहन और सुनन के बीच हमारा जीवन त्रिशंकुधारी कछुआयी आचरण का प्रतिनिधि हो गया है। उसे संस्कारित कर चंदन बनाना ही रवीन्द्र भ्रमर की सोन ताल की कलश-सतह का गीत-सच है।

रश्मिरथी चन्द्र : चन्द्रसेन विराट

विशेषकर स्वतन्त्रता के बाद परिस्थितियों के बदलते तेवर में गीत का जो पुर्नसंस्कार हुआ है चन्द्रसेन विराट् न केवल उसके अग्रणी हैं बल्कि ग़ज़ल और शेर को गीत विधा में नए तरीके से स्थापित करने वालों में उनका वही सम्मान है जो शमशेर, बलवीर सिंह रंग तथा दुष्यन्त कुमार का।

सहज एवं मौलिक कवि

विराट् सचमुच गीत विधा के बड़े अनूठे, सहज एवं मौलिक कवि हैं। ऐसा प्रायः अपवाद स्तर पर ही होता है कि पेशे से कोई व्यक्ति कार्य-पालन यन्त्री अर्थात् एक्जूकेटिव इंजीनियर और रुचि से गीतकार हो। अहिन्दी भाषी विराट् महाराष्ट्र की देन है। आज तक इनके गीत और ग़ज़लों के उन्नीस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। 'मेंहदी रची हथेली' (*1965*), 'स्वर के सोपान' (*1969*), 'ओ मेरे अनाम' (*गीत-संग्रह 1969*), 'निर्वसना चांदनी' (*ग़ज़ल-संग्रह 1970*), 'किरण के कशीदे' (*गीत-संकलन 1974*), 'मिट्टी मेरे देश की' (*राष्ट्रीय कविताएं 1975*), 'गीत-गंध' (*सम्पादित गीत-संग्रह*), 'पीले चावल द्वार पर' (*गीत संग्रह 1976 माखन लाल चतुर्वेदी पुरस्कार प्राप्त म.प्र. हि.सा. परिषद्, भोपाल*), 'भीतर की नागफनी', 'पलकों में आकाश' (*काव्य संग्रह, 1977, 1978*), दर्द कैसे चुप रहे (*गीत 1976*), मुक्तक संग्रह कुछ पलाश कुछ पाटल' (*1989*), 'बूंद बूंद पारा' (*1979*), 'आस्था के अमलतास', 'कचनार की टहनी', 'धार के विपरीत', 'परिवर्त्तन की आहट', 'लड़ाई लम्बी है', 'न्याय कर मेरे समय' (*सभी ग़ज़ल संग्रह क्रमशः 83, 86, 87, 88, 91*) इन की रचनात्मक पहचान के काव्य ग़ज़लीय प्रमाण पत्र हैं। इसके अतिरिक्त सन् 55 से धर्मयुग, हिन्दुस्तान, कादम्बिनी, माध्यम, वीणा ,आज, गीत-1, गीत-2, गीतकार, समांतर, दैनिक समाचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्रों आदि राष्ट्रीय स्तर की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनाओं का लगातार प्रकाशन हो रहा है।

अक्षत आदि तत्व

'छंद' चन्द्रसेन विराट् की साधनात्मक उपलब्धि कम संस्कारगत विशेषता अधिक है। इन्होंने अपने एक पत्र में लिखा भी है कि "मुझे प्रारम्भ से ही छंद में लिखने की आदत रही है। कोई भाव जो आता है छंद के वस्त्र पहने ही आता है। ऐसी स्थिति में छंद-विहीन मैंने कुछ लिखा नहीं। जो लिखा वह छन्द में लिखा। हर विचार मुझे छंद में ही सूझा। मैंने गीत की वकालत तक छंद में की है।" (*लेखक के नाम विराट् का पत्र : 18 अगस्त 1976*) ऐसे में गीत उनके जीवन की अनिवार्यता बन गई है। विराट् की प्राण संचेतना में प्रवाहित गीत-घुलाव उस के जीने की शर्त्त बन जाता है (*दृष्टव्य : किरणं के कशीदे : पृ. 61-62*)। मनुष्य के स्वाभाविक जीवन की वकालत करते हुए विराट् का कहना है कि "मनुष्य के स्वाभाविक सुख, दुःख, मिलन, विरह, हर्ष, विषाद एवं अन्य अनुभूतियों को गीत पूरी सक्षमता के साथ अभिव्यंजित कर सकता है, यह मेरी मान्यता है। गीत मनुष्य के रागात्मक आवेगों को व्यक्त कर सकता है। जीवन के अधुनातन तनावों को भी शब्द दे सकता है।" (*लड़ाई लम्बी है : वक्तव्य*) अतः जैसे-जैसे समय बदला, हवा बदली, वैसे-वैसे उन के गीतों का आन्तरिक संसार भी करवट लेता रहा। इस दृष्टि से समय के साथ उनका हर गीत नए पन की महक लेकर आया और अपने कालातीत अंश को छोड़ कर आगे बढ़ गया। इस दृष्टि से आलोचक का यह विनम्र निष्कर्ष है कि विराट् की अधिकांश गीत-सम्पदा काल-सापेक्ष होते हुए भी कालातीत है क्योंकि उनमें मानव मन के शाश्वत अनुभवों का अनुगायन हुआ है। महानगर में जीने वाले नागरिक के लिए आज की इस औद्योगिकता में जब मनुष्य रागात्मक कशिश के लिए तड़पते रहने को आकुल है ऐसे में चन्द्रसेन विराट् के गीत-ग़ज़ल अपनी सहज एवं सजग रागात्मकता को लेकर आते हैं और सही सन्दर्भ पर संवेदना का लेप दे कर उसे काफी हद तक सकून देने की कोशिश करते हैं। ऐसा गीत विराट् के लिए गीत के नाम से जाना जाए या नवगीत के नाम से अथवा अगीत के नाम से उससे इस गीतकार को फर्क नहीं पड़ता। बल्कि यह तो शिकायत करता है कि इन नामों से 'लेखन भी फैशन की बतौर चल पड़ा है एवं नये-नये शिविरों की स्थापना हुई है। नारों की बतौर इन अतिरिक्त संज्ञाओं का उपयोग किया गया है एवं मजमा बांधा गया है। जैन्यूइन गीत लेखक के लिए यह न अतीत में आवश्यक था न अब है। प्रतिबद्ध रचनाकार आज भी गीत को गीत के रूप में लिख रहे हैं, जिन्हें अलग से जानने के लिए कोई नवीन तथाकथित संज्ञा आवश्यक नहीं है।' (*लेखक के नाम विराट् का 'कलम के कलाकार' शीर्षकान्तर्गत भेंट वार्त्ता हेतु, प्रश्नोत्तर लेख, पृ. 2*) ऐसे में जहां कहीं भी चन्द्रसेन विराट् ने अपने गीतों में कहीं नवगीत का नाम लिया है तो आने वाले नवगीत से ही उसका प्रयोजन है-

"मथाई हो रही दधि की अभी नवगीत बाकी है
मरण की घोषणा कर दी अभी तो गीत बाकी है।"

(*प्रश्नोत्तर लेख : पृ. 3 दिनांक 18-7-76*)

नयी कविता के इजारेदार पिछले अरसे से अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए गीत के मरण की घोषणा करते आ रहे हैं। छन्द से तो उन्हें बेहद एलर्जी है। चन्द्रसेन विराट् इस षड्यन्त्र को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हज़म कर पाने में असमर्थ से लगते हैं और लिखते हैं –

एक स्वर : वर्त्तमान में गीत के लिए स्वस्थ आबोहवा है ही नहीं।

दूसरा स्वर : जमाना जूही चमेली का रहा ही नहीं/अब तो कैक्टस उगाने के दिन हैं/बांसुरी की जगह विद्युत गिटार के दिन हैं।

तीसरा स्वर : तो चलो गेहूं की जगह बार्ली खायें/मणीपुरी की जगह ट्विस्ट करें।

समवेत स्वर : उठो, गीत को नकारें/उसके विरुद्ध नारा बुलन्द करें/उसे साहित्य से खदेड़ कर दम लें।

और गीत है कि इस वातावरण में भी जिये जा रहा है। उसकी रसधारा सदा नीरा है। स्रोत जो हृदय की अतल गहराइयों एवं भावभरी घाटी में स्थित है, कभी सूखता नहीं।"

(*लेखक के नाम विराट् का 'गीत आदमकद आईने के आगे' शीर्षक लेख : पृ. 18 जुलाई 1976*)

रस-निष्पत्ति का अंकुरण, स्फुरण, पल्लवन गीत से ही होता आया है और होता रहेगा फिर गीत का ध्वज क्यों झुके?

"रस की निष्पत्ति हुई गीत से अब भी होगी
गीत का ध्वज न झुकाओ अभी भी आशा है।" (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 86*)

गीत कोई रचे न रचे लेकिन उसकी आस्था (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 69*) पर प्रश्न नहीं लगना चाहिए। कवि कामना करता है कि 'गीत-मरण' की घोषणा करने वालों के घरों में 'स्वर' जन्मोत्सव हो (*पृ. 73*)।

चन्द्रसेन विराट् की दृष्टि में 'गीत' प्रेरणा एवं स्फुरण है, चांद, चांदनी और सूरज (*पृ. 114*) है जो द्वार-द्वार किरणों के माध्यम से जीवन, कर्म का सन्देश देता जाता है। गीत हृदय का अध्यादेश है, दुःख की पहचान है, (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 12*), व्यक्तित्व को संस्कारित कर गीत अहम् को ओम् बना देता है, कठोर हृदय की अमृत-निर्झरिणी गीत में सत्यं, शिवं, सुन्दरं की मन्त्र-त्रिवेणी प्रवाहित है –

"गीत सौन्दर्य है शाश्वत/ सत्य की आत्मा है वह
वही शिव तत्व रचना का/ सृजन परमात्मा है वह
बुद्धि को भाव में घोलो गीत... ... ।" (*किरण के कशीदे : पृ. 52*)

जीवन के इस अक्षत आदि तत्व की भावगरिमा को शब्दायित करते हुए विराट् का गीत-मन उद्घोषणा करता है –

"सक्षम हो लेखनी तो सब गीत में कहेगी
सिरमौर काव्य में तो यह ही विधा रहेगी।" (*भीतर की नागफनी : पृ. 54*)

गीतकार का यह विश्वास है कि "गीत का चेतन स्वर हमेशा समाज एवं समय के समानान्तर चलता रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति एवं चीनी हमले के संकट काल में भी गीत का स्वर ऊर्ध्वमुखी रहा है" (*'गीत आदमकद आईने के आगे' शीर्षक लेख : 18 जुलाई 1976 पृ. 4*)। गीतकार का यह दावा है कि पूंजीवाद की विकृतियों – व्यक्तिगत कुण्ठा, मांसल विलास, ऊब, घुटन एवं पश्चाताप

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

– को नयी कविता ने भले ही गैर जिम्मेदाराना ढंग से उपस्थित कर पाठक को विमूढ़ता के गर्त्त में धकेला हो लेकिन गीत इस सन्दर्भ में हमेशा अंधेरे की किरण रहा है। "आईने के आगे खड़ा गीत अपने रूपायन पर लक्ष्य कर रहा है। वह पूर्वग्रह ग्रसित रूढ़ विधानों की कैंचुल उतार रहा है। सच्ची भावुकता एवं मांसल रोमांस की चाटुकारिता छोड़ रहा है। युगबोध एवं मनुष्य के आधुनिक तनाव खिंचाव गीत में व्यक्त हो रहे हैं।"

नयी कविता के वज़न पर गीत-विधा को विराट् इसलिए भी वज़नदार मानते हैं कि नयी कविता केवल महानगरीय है जबकि आज के गीत में नागरिक एवम् आंचलिक दोनों धाराओं का मधु-मिलन है। अतः प्रतीक, लक्षणा, अभिधा, बिम्ब और संकेत इसमें सहज और स्वाभाविक हैं। नयी कविता की तरह अमूर्त्त और सांकेतिक बाना पहने हुए बोझिल नहीं। दुरुहता के प्रति उनकी जो ख़ास शिकायत है उसे उन्होंने अपने गीत में भी कहा है –

"शब्द की दस्तकारी नहीं चाहिए
हो सके तो हमें प्राण के बोल दो।
हो रही बुद्धि बोझिल-सी पंक्तियां,
प्राण की बात को अनसुनी कर दिया।
कांच, को स्थान मणि का तुम्हीं ने दिया,
और हीरा तुम्हीं ने कनी कर दिया।
कुंठित चेतना को छुओगी किरण,
जंग खाये हृदय पट ज़रा खोल दो।" (*गीत आदमकद आइने के आगे : पृ. 7*)

आखिर यह प्राण का बोल क्या है – वह शायद यही है कि जीवन केवल प्रेम और सौन्दर्य का नाम ही नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त बहुत कुछ ऐसा कड़वा भी है जिसे सुन्दर बनाया जाना बाकी है। यहीं कवि का कथ्य गीत की तथाकथित परिभाषा को तोड़ता है और अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता का इज़हार करता है। कुंवरपाल सिंह (*दृष्टव्य : नयी पीढ़ी : परम्पराएं और उपलब्धियां : गीत-1, पृ. 12*) अपने एक लेख में उनकी इसी प्रतिबद्धता का संकेत करते हैं –

"सिर्फ तुम्हारा रूप नहीं केवल कथ्य प्रिये
और विषय भी इस जीवन के गाने लायक है।" (*गीत-1, पृ. 12*)

विराट् ने भी अपनी इसी प्रतिबद्धता को व्यंजित किया है। यह विषम-वैविध्य नगर और गांवों में बिखरा पड़ा है जब कवि महानगरीय यन्त्रणा को देखता है तो उसके बदलते तेवर को कैसे भूल सकता है –

"जान पहचान सिर्फ नोटों की/ कि सहानुभूति सिर्फ होठों की
दोस्त यह शहर है या अजायबघर/ भीड़ है अजनबी मुखौटों की।"

(*नयी पीढ़ी : परम्पराएं और उपलब्धियां : गीत-1, पृ. 24*)

यथार्थ का वैषम्य कहीं भी हो गांव में अथवा शहर में उसे भावुकता के वातावरण में हल नहीं किया जा सकता –

"गीत बहुत हैं भाव भरे, पर/ भावुक वातावरण नहीं है
धुंआ-धुआं छाया है जग में/ और हवा में घुटन है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सांस टूटती भावुकता की/ यांत्रिकता का बहुत वज़न है
गिनती के समान असंख्य है/ मानवगत आचरण नहीं है।" (*गीत-1, पृ. 24*)

अतः अपनी रागात्मकता के बावजूद वह हर चीज़ को एक ख़ास विवेकपूर्ण नज़रिये से देखना चाहता है और यही इस गीतकार की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

साधित मन की प्रणयी छुअनें

चन्द्रसेन विराट् के गीतों में वर्णित प्रेम उदात्त और गरिमामय है। सूर्य-किरणों की भांति चहुं ओर आलोक-ज्योति प्रकीर्ण कर उजियारा फैलाने वाला। संकीर्णताओं, तुच्छ स्वार्थों से दूर यह प्रेम मन और तन को उज्ज्वल बनाने वाला है। जड़ता, एकरसता की ज़मीन तोड़ कर त्याग और प्रतिदान रहित प्रेम अनुराग के नए स्रोतों का उद्गम बनता है –

"जीवन का जो उदयाचल है पावन जैसे गंगाजल है
जिससे जड़ता तक डोल रही जिससे मेले में हलचल है
वह प्यार तुम्हें है पाप अगर
तो ज्ञानी धर्मी लोग सुनो
तुम पुण्यवान हो लो जग में मैं पापी का सिरमौर सही।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 11*)

प्रेम की स्पर्श छुअनें बंधनमुखी सीमाओं को काट कर बंधन में बंधती हैं! कारा से मुक्त होकर भी मुक्त नहीं होती। इंसानियत की पहली और अन्तिम सीढ़ी प्रेम ही है। प्रेम में देवत्व का निवास है। जीवन के मरुप्रदेश में उपवन की तरह खिला प्रेम साधित मन का पारदर्शी मोती है (*पृ. 18*)। प्रेम अनुभूति की दिव्य-सत्ता मनुष्य-चेतना का आदि वरदान है। जीवन की पूर्णता के इस अनुभूति राग को विराट् के गीत बखूबी साधे हैं –

"प्यार बिना है रूप अधूरा, प्यार पूर्णता है जीवन में
सत्यं, शिवम्, सौन्दर्य जगत का एकत्रित स्थित प्रेम स्तवन में।" (*ओ मेरे अनाम : पृ. 88*)

प्यार के दायरे में आ कर जड़ भी चेतन हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य का उजियारा सृष्टि को पोषित करने के लिए जरूरी है वैसे ही प्राणों के पोषण के लिए प्रेमगंधी अनुभूति खुशबुओं को अपने में बसाना निहायत जरूरी है, अन्यथा मन का संस्कार अधूरा है। प्रेम हमें परिष्कृत कर सभ्य बनाता है। अतः प्रेम सृष्टि की सभ्यता-संस्कृति का शिखर मानक है। जीवन की इस गत्यात्मकता को विराट के गीत सहज भाव से सामने लाते हैं। प्यार से ही छंद है प्यार से ही गीत है (*दृष्टव्य : दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 104*) –

"छंद गीत को, गंध फूल को, वैसे ही हो तुम मुझको
तुम हो तो संघर्ष पर्व है आंसू ही शबनम मुझको
तुमसे ही सब रूप-कल्पना, तुमसे ही सब प्रणय-भावना
तुम्हें छोड़ कर गीत लिखूं तो लिक्खूं कौन बहार के।" (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 97*)

पंकिल वासना से दूर विराट् का गीत-बोधी मन प्रिया की रूप-राशि के अनेक चित्रात्मक बिम्ब खींचता है। पावन प्रेम की भूमि पर लहराती विराट् की गीत-गंगा अपनी यात्रा में कहीं भी कलुषित नहीं है। प्रणय-दर्शन की गीत-प्रतीतियां रूप-कलियों से बंध कर सुगन्ध की तरह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल्की और वायुरथी हो जाती हैं। प्यार की इस छुअन-प्रतीति का एक गत्यात्मक रूप-बिम्ब देखिए-

"वासना छन्दों में कैसे बांधू मैं
शुभ शब्दों को लज्जित होना होगा।" (*पृ. 50*)

'रूप का पुजारी' (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 103*) होने के बावजूद कवि बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य को पहचानता है। तन की सुन्दरता मन के आकाशीय दर्पण में झिलमिलाती है। देह की अपेक्षा समर्पण की भाव-मुद्राएं ही मन के विश्वास पल हैं। इन विश्वास पलों के प्रतीति-जगत में ही मन की गांठें खुलती हैं, कनक-लता-सी देह मन की विश्वास परक अनुभूतियों के सामने कपूर हो जाती हैं। यही कारण है कि कवि-मानस का रचना-लोक मन की सूक्ष्म तरंगों को पकड़ने में अधिक विश्वास करता है –

"रिझा नहीं पाओगे मुझको केवल तन के सिंगार से।" (*पृ. 103*)

'तुम न जूड़ा खोलना अपना' (*पीले चावल द्वार पर*), 'प्रथम बरसात का पानी', 'मैं जैसे अनुरागी गुलाल', 'जूड़े में पीला गुलाब', 'तुम तो यौवन की देहरी पर', 'ओ मेरी नीलम नयने' (*ओ मेरे अनाम : पृ. 11*), 'धुल गई है आंख मेरी' (*पृ. 21*), 'अभिमान करने लग गई हो' (*पृ. 37*), 'प्रणय-विमुग्धा चांदनी' (*पृ. 41*), 'भीगती चांदनी से तुम्हारे अधर' (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 73*), 'तुम मंगलमयी प्रभाती' (*पृ. 91*), 'घूंघट का मत ग्रहण लगाओ' (*पृ. 93*) आदि गीतों में पौराणिक-सांस्कृतिक उपमान बिम्बों को ज़रिया बना कर कवि ने प्रिया के रूपात्मक-सौन्दर्य को रचनायित किया है। 'नई नई लागत ज्यों ज्यों निहारिये' का घनानन्द-बोध कवि के मानस आलोक की अरूप-रूप छवियों का अर्क निचोढ़ लेता है। जितनी बार गीतकार कल्पना-सिंधु में डुबकियां लगाता है उतनी बार प्रिया-रूप राशि नई भंगिमा से गाती चली जाती है। रूप-सौन्दर्य के रचना-दर्शन को गेयता की घिर्री पर चढ़ाने के बावजूद कवि शब्दों के आलोक में इसे नहीं बांध पाया –

"रूप तुम्हारा इतना गाया बंधा नहीं पर गीत में
ऐसी कुछ अनकही बात है मुंह बोली इस प्रीत में
मेरे मन का मोती तुमने गूंथ दिया गलहार में
यही सजाया देखा तुमको मैंने रूप-सिंगार में।" (*पृ. 106*)

विराट् अनुपम रूप-छवियों में ही नहीं भटका रहा। शृंगार प्रणय की रूप-गंगा में बहते चले जाना उसका उद्देश्य भी नहीं है। जीवन के इतर पक्ष भी हैं –

"एक तुम्हारा रूप नहीं है केवल कथ्य प्रिये
और विषय भी इस जीवन के गाने लायक हैं..
जीवन सिर्फ प्रणय की सेज न है शृंगारमयी
सिर्फ कल्पना के कुंतल ही कब तक मैं सुलझाऊं
कटु यथार्थ को भी तो गले लगाना पड़ता है।" (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 79*)

शीशे की धार : नीम बोधी लोकीय संवेदना

रूप की गंगा से पावन होकर कवि-चेतना व्यक्ति-समाज के यथार्थ अन्तर्दर्शन से आंखें मिलाती हैं। समाज और व्यक्तिगत दायरे सिकुड़ कर जब एक-दूसरे के सामने प्रतिस्पर्धी मुद्रा में आ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं तब अनेक प्रश्न जीवन की जटिलता को बांचते हैं। द्वन्द्व-बुनावट का हर तार शीशे की धार हो जाता है। अन्तर्विरोधी स्थितियों का सत्य, विवश बोध, नियति के घुन लगे चौखटे, बांस-सी खोखली मान्यताएं, नैतिकता की मुंहजोही जुगलबन्दियां कटाव और नकाब की तरह नुकीली हो जाती हैं। यथार्थ जीवन की इन नुकीली कड़ियों को धीरे-धीरे कमज़ोर करना है, छोटे-छोटे सुखों के लिए लड़ाई लम्बी बहुत लम्बी हो जाती है। वास्तविकताओं के इस जन्तर-मन्तर में आदमी खो जाता है। तब उसके सामने सबसे पहले रोज़ी-रोटी जैसे प्रश्न आते हैं –

"रूप तुम्हारा अनुपमेय है प्राण प्रिये तब तक
जब तक साथ न छूटा है इस सुख के मौसम का
जबकि सत्य बन भूख उगेगा जीवन धरती पर
तब तो रोटी बन न सकेगा चंदा पूनम का
एक तुम्हारा साथ नहीं है केवल तथ्य प्रिये
और तथ्य भी तो जीवन कहलाने लायक है।" (*पृ. 80*)

वस्तुवादी सभ्यता में रंग भरने के विदेशी ढंगों से ही काव्य की तस्वीर गंदली नहीं होती अपितु यथार्थ से कटे रहने पर मानव का चरित्र, उसकी मानवता भी धुंधली पड़ जाती है। विराट् के गीत इस मानसिकता को जुबान देते हैं।

'मिट्टी मेरे देश की' में कवि नई भाव मुद्राओं में सामने आता है, एक जागरूक पहरूए चैतन्यशील साहित्यकार के रूप में रूप की उपासना यहां पूरी गंभीरता से अलख जगाने लगती है। उसकी दृष्टि का केन्द्र यहां मात्र राष्ट्र और उससे जुड़ी सम्स्याएं हैं। कवि का रचना-मानस कभी सिपाही बनने की कामना करता है तो कहीं सैनिक न होने के कारण दुःख प्रकट करता है। कहीं वह वीरता को मेरु बनाने के लिए अडिग, अटल लक्ष्य के लिए उद्बोधन स्वर में राष्ट्र को तार-तार नीड़ की तरह बुनता है तो कहीं वह अभियान-गीत रचता है। कहीं खेत-खलिहानों को बजाता- जगाता है तो कहीं रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी जरूरतों को कथ्य धुरी पर पूरी तेजी से घुमाता है। शहीदों को श्रद्धांजलि दिए बिना राष्ट्र की आराधना अधूरी है। पं. नेहरू, गांधी आदि को कवि पूरी तन्मयता से समर्पित होता है। शहीदों का स्मरण उसके गीत-संसार को पावन बनाता है। देश के सांस्कृतिक उत्सवों की झांकियां राष्ट्र के गौरव चिह्न हैं तो कहीं वह देश के प्राकृतिक सौन्दर्य के मनोहारी चित्र उकेरता है। सुन्दर सटीक शब्द-संयोजन इन गीतों की विशिष्टता है। 'कब तक तू सोया रहेगा' उद्बोधन-गीत का तेवर देखिए –

"नैया तट से खोल और सागर में ज्वार उठाता चल
हर दरवाजे दे गुहार हर यौवन आज जगाता चल
ग्राम नगर हर गली-गली उपवन क्यारी अमराई में
जिन राहों से तू गुजरे उन राहों धूम मचाता चल
हर देहरी पर पीले चॉवल दे मेहनत का आमंत्रण
नक्षत्रों की बांह पकड़ कर श्रम के गीत गुंजाता चल।" (*मिट्टी मेरे देश की : पृ. 143*)

बीसवीं सदी ने मानव को चुप्पा करा दिया है। दुःख और सुख का विषम अनुपात, पारिवारिक बिखराव, अनास्था, निराशा, अविश्वास, नशीले पदार्थों का सेवन, मदिरा-स्नान, आतंकवाद,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धार्मिक उन्माद, साम्प्रदायिक वैमनस्य आदि न जाने कितनी जटिल समस्याएं रात की स्याही दिन का उजाला बन गयी हैं 'जाने क्या बात है आजकल : 1, 2' गीतों में वर्त्तमान मानसिकता का दस्तावेज है। मौन, कुण्ठा, द्वन्द्व, सन्देह, अविश्वास आदि ने मनुष्य मन को पतझर का अनुगामी बना दिया है –

"रोग कि जिसकी दवा नहीं है/ आग लगी पर धुआं नहीं है
भीतर-भीतर सुलग रहा है/ यह चंदन सम गात आजकल....।" (*भीतर की नागफनी : पृ. 59*)

'कब होगी' (*पृ. 40-41*) जैसे गीतों में नेताओं के भ्रष्ट आचरणों-आश्वासनों और महंगी होती जा रही न्यायायिक व्यवस्था पर कटु कटाक्ष है।

आध्यात्मिक गीतों में कवि अनाम प्रिया को खोज रहा है –

"सांसों की राधिका प्रतीक्षित/ दिया उमर का बाल रही है
जग की मथुरा में भटकी है/ प्रिय का पंथ उजाल रही है
मथुरा का नृप कृष्ण मिला है/ जो मनके गोकुल का था
वह घनश्याम नहीं मिलता है/ वही अनाम नहीं मिलता है।" (*ओ मेरे अनाम : पृ. 2*)

सांवरे का अनुग्रह, उसकी एक दीठ मुक्ति का ब्रह्म-द्वार है। इस ब्रह्म-द्वार तक पहुंचने के लिए रचना-मन अपने सम्पूर्ण-द्रव को उड़ेल कर प्रार्थना करता है कि ऐसी चुनरिया रंगे जिसका रंग जनम जनम तक न उतरे –

"रंग न जिस पर चढ़े दूसरा/ और न जो फीका हो पाये
उसी प्यार के रंग में रंग दे/ जो दिन दिन दूना गहराये
जिसके रहते ढले न यौवन भार नहीं हो कभी उमरिया।" (*पृ. 17*)

कवि प्रिया है। प्रिय रूप परमात्मा से मधुरतम धुनें छेड़ने का आग्रह कर कर रही है जिससे -

'ब्रह्मनाद में ऐसी डूबूं/ टूट जाएं माटी के बन्धन।' (*पृ. 18*)

आत्म-परमात्म का जन्म-जन्म का परिणय-अनुबंध है। इसलिए यदि वह जग दिखाई की औपचारिकता न भी निभाए तो भी आत्मा के भोजपत्र पर अंकित अनुबंध-पत्र की स्याही फीकी नहीं पड़ सकती। अतः ये हल्दी से पीली चुनरी ओढ़े या न ओढ़े, गृहस्थी के पनघट पर एकरूप होकर गागर भरे न भरे क्या फर्क पड़ता है, क्योंकि दैहिक लोकाचार और कानूनों से दिव्य ईश्वरीय प्रेम न हारा है और न ही कभी हारेगा (*पृ. 46*)। कवि साधक है, उसके मन में कोई संशय नहीं है। वह जानता है कि लौकिक-अलौकिक मिलन विरह की अनुभूतियां एक-सी हैं किन्तु सभी के प्रणय कथानक भिन्न भिन्न हैं –

"देह बदलती नहीं बदलते हैं वसन
चाहे जिस माध्यम से बांधे सत्य हम... ...
काल-पुरुष परदे के पीछे बोलता
पात्र सिर्फ दुहरा देता सम्वाद है
संचालक प्रारब्ध बदलता दृश्य को
जीवन क्या बस अभिनय का उन्माद है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक सिर्फ है सूत्रधार जग मंच का
पर हर कठपुतली के नाटक भिन्न हैं।" (*पृ. 48*)

इस कुंठित मन की ललक-लालसा ब्रह्म-कक्ष तक पहुंचने को बेताब है लेकिन मिलन में अनेकशः अवरोध साधक की हृदय भूमि को दरका देते हैं। हताशा के चरम क्षण साधक की मनोभूमि पर आहट देने लगते हैं –

"यह नहीं जरूरी हर बादल बरसे,
हर बार धरा की प्यास शमन ही हो!
सब पांव नहीं जाते हैं मञ्जिल तक,
सब की सब नावें पार नहीं जातीं।
सब के सब पत्थर मूर्त्ति नहीं बनते,
सब की सब कलियां फूल न बन पातीं।
सम्भव कैसे हर बीज बने अंकुर
बिल्कुल यथार्थ हर एक सपन ही हो!" (*पृ. 51*)

साधक जब साधना में कोई कमी महसूस करता है तभी गीत का अन्तिम चरण गेय-स्वरों की परिधि से बाहर निकल कर युवा बेटे की तरह आंख दिखाने लगता है। ध्यान-भंग का अपराध, आरोह-अवरोह की टूटन, लय की खड़खड़ाहट खरोंच डालती जाती है। प्रिय के गुञ्जन सर्जन सबको पहचानने के बावजूद प्रिय-कमलों की आहट-मृदुलता अनसुनी होकर पथरा जाती है। निशा-आगमन का अर्थ दिवस-आगमन की निश्चित प्रक्रिया है। निशा-पथ से होकर गतिशील भोर के घुंघरू आकाशीय कक्ष में बजते सुनाई पड़ते हैं। साधक आत्मविभोर है –

"अब किरण के जन्म का क्षण है निकट,
पूर्व में बिखरा हुआ सिन्दूर है।
मन्त्र पढ़ते हैं तपस्वी से विहग,
औ' कुहासे का सुलगता धूर है।
यह महूरत ज्योति के आरम्भ का,
बज रही नौबत क्षितिज-आवास में!" (*पृ. 58*)

मिलन-क्षण मृत्यु-क्षण भी है। अतः संयोग-सुख की कल्पना और प्राप्तव्य का अग्निबोध समबिन्दु पर सामुद्रिक विस्तार पाते हैं, इसीलिए सत्य की साधना नष्ट नहीं हो सकती –

"होलिका खुद जल चुकी है झूठ की,
सत्य का प्रहलाद जलता ही नहीं।
पाप के षड्यन्त्र में फंस कर कभी,
सत्य ज्वाला को समर्पित हो गया।
और निखरा रूप वह कञ्चन हुआ,
हार कर झूठ खुद लज्जित हुआ।
सत्य को आशीष है प्रभु का मिला,
पाप का कुछ बस चलता ही नहीं।" (*पृ. 59*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट् गीतों की विविधमुखी छवियां जनसामान्य की इच्छा-आकांक्षाओं, कर्म-संघर्षों के अन्तर्बाह्य से जुड़ी हैं। नारी की सार्थकता संतानवती होने में है। प्रसव-सुख सृजन-शक्ति की आराधना है। नारी इस सृष्टि को बीजने वाली मातृ-शक्ति है। पुत्र कामना के इस गीत में माँ की कामना का विराट-बोध सृजन की मनोभूमि से जुड़ा है –

"चौमुख दीप जलाऊंगी मैं माता तेरे चौक पर
मेरी सूनी गोद भरेगी, जब शिशु की किलकार से।" (*पृ. 9*)

वर्त्तमान मनुष्य का रचना शास्त्र है, जो अन्ततः क्रमशः इतिहास होता जाता है। भूतकाल, इतिहास को रोते रहना, भविष्यगत कल्पनाओं को साकार करने के लिए चिन्तित रहना - इन दो पाटों के बीच सैण्डविच बन कर व्यक्ति अपने वर्त्तमान को खो देता है। वर्त्तमान को जानना उसे भरपूर ज़िन्दगी बनाना ही कर्म की गतिशीलता है। इधर-उधर होकर मध्य को खोना न अक्लमंदी है और न ही सामने खड़े वर्त्तमान का समाधान। वर्त्तमान की इन नीम बोधी समस्याओं को कवि लय देता है –

'सिर्फ भूत का ही गौरव दोहराना क्या?
वर्त्तमान जो प्रस्तुत उसमें प्रथम जियो
सिर्फ शहद का स्वाद याद करते न रहो
किन्तु आज का पहले कड़वा नीम पियो।" (*पृ. 24*)

विदाई गीतों में मर्मछेदक अनुभूतियों का संसार बसता है। विदाई सृजन-रचाव की भूमिका भी है इसलिए इन गीतों के कंठ अवरुद्ध क्षणों में आंखें बोलती हैं, अंग-संचालन गाता है –

"लो, डोली चली दुल्हन की
शहनाई के मधु स्वर हैं/ मंगल गीतों की धुन है
लो छूट चला अब नैहर/ बेला आयी बिछड़न की।' (*पीले चावल द्वार पर :.पृ. 52*)

विराट् के होली गीतों में अजीब मस्ती है। फ़ाग का खुमार भांग बन जाता है जब कसमसाती हुई रूप-देह भीग कर पनघट हो जाती है। सांस्कृतिक विरासत की छाया में सौमनस्य सौहार्द्र की उत्साहपर्वी मस्ती फाग क्षणों को मृदंग बना देती है। एक तरफ टेसु रंगों की रंगीनी दूसरी तरफ ढपली पर थिरकते पांव बिजली राग बन कर कोयल-कुहुक से चहकने लगते हैं। रंगीली चहकनों के इस राग-बोध में पूरा समाज बांसुरी हो जाता है। 'बुरा न मानो होली है' (*पृ. 63*), 'होली में गांव हुआ गोकुल' (*पृ. 65*), 'अब रूठी रहो न फागुन में' (*दर्द चुप कैसे रहे : पृ. 41*) आदि फाग गीतों में शाब्दिक और नाद बिम्बों का सौन्दर्य देखते ही बनता है –

"ढोलक पर जम कर थाप पड़ी सब चंग बजे झांझें झमकीं,
खड़के मृदंग सब ढफ फड़के जब फाग छिड़ा पायल ठुमकी,
गोरी के नूपुर झनक उठे-बज उठी छैल की बांसुरिया।" (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 65*)

"चंगों पर थाप पड़ी गहरी/ सब फड़क उठे ढप् ढप् ढोलक।
खड़के मृदंग झमकी झांझें/ पग थिरक उठे नैना अपलक
लो होड़ लगी देखो-देखो/ घुंघरू पायल की रुनझुन में।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 41*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मैं जैसे अनुरागी गुलाल' में तो कवि ने गुलाल-पिचकारी को प्रिय प्रिया के रूप में मानवीकृत कर दिया है –

"मैं जैसे अनुरागी गुलाल
तुम रंग भरी पिचकारी हो।" (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 39*)

'तेरा राम खिवैया रे' मांझी नौका-गीत है जिसमें 'श्रीराम और गंगा मैया की स्तुति' भी है और भवसागर से पार उतारने की प्रार्थना भी –

"जोर लगा के भैया रे, तेरा राम खिवैया रे
हैया रे हो हैया रे।" (*पलकों में आकाश : पृ. 17*)

लोक गीतात्मक ध्वनि पर आधारित अनेक गीतों में बावरिया, गागरिया, सांवरिया, आंचुरिया आदि लोक प्रचलित शब्दों का सुन्दर प्रयोग कवि को लोक-मानस से जोड़ता है।

भारतीय संस्कृति एवं परम्पराएं हमें जड़ नहीं बनाती अपितु जड़ता को तोड़ कर हमारी शक्ति बनती हैं। व्यक्ति-समाज के अनुकूल विकास के लिए अपनी परम्पराओं को सहेजना और रूढ़ियों को त्यागना बहुत जरूरी है। अन्तर्विरोधी द्वन्द्व और रूढ़ियों के प्रति अतिरिक्त मोह हमारी उन्नति-प्रगति को अवरुद्ध कर देता है। परम्पराएं बहता हुआ नीर हैं जो ताप तप्त भूमि के हृदय को शीतल करता है। कवि परम्पराओं के सांस्कृतिक महत्त्व को नकारता नहीं है। युग के अनुरूप उन्हें सहेजता भी है और तोड़ता भी है। पदार्थवादी इस युग में कवि की रचना-मानसिकता उन परम्पराओं से व्यक्ति और समाज को जोड़ती है जो उसे भव्य और उदात्त गरिमा देकर जीवन के स्वस्थ पक्षों की धरोहर है। जीवन को श्रेयस और मांगलिक अनुष्ठान की अन्तर्धारा से जोड़ना ही हमारी संस्कृति की भव्य गरिमा है। कवि मानवत्व के लिए इन शुभ संकेतों की मांगलिक परम्पराओं को शक्ति के रूप में उभारता है। देहरी बुहारना, पीले चावर द्वार पर डालना, आंगन लीपना, रंगोली मांडना, आम्रपत्रों के वन्दनवार, हल्दी भरी हथेलियों से थापे लगाना, सतिया मांडना, तुलसी को जल चढ़ाना आदि सांस्कृतिक परम्पराएं कवि के गीत-ग़ज़लों का यज्ञ-कर्म है। इन मांगलिक कलशीय प्रतीतियों में संस्कृति के प्रति अनुराग भी है और भारतीय ऋषि चिन्तन का तुंग वैभव भी जो सर्वेभवन्तु सुखिनः का मूल्यदर्शी करुणा-दर्शन है। सांस्कृतिक-पौराणिक प्रतीक इस करुणादर्शन को गहराई और विस्तार देते हैं। इससे एक ओर तो कवि के सांस्कृतिक-पौराणिक ज्ञान के झरोखे खुले हैं तो दूसरी ओर भारतीयता का गौरवशाली वैभव प्रकट हुआ है –

"निज मन का पार्थ अगर चाहे तो साध सुभद्रा का
बिन रचे स्वयंवर ही मधुरिम परिणय हो जायेगा।" (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 16*)
'सत्य का प्रहलाद जलता ही नहीं।' (*पृ. 19*)

शैल्पिक बंध

विराट् के गीतों में अलंकार खग बोली बोलते हैं। लय और ताल जब मिलते हैं तो एक गूंज देते हैं। इसी प्रकार अलंकार खुद-ब-खुद छान्दसिक लय के साथ मिल कर अपनी उपस्थिति दर्ज करते हैं। कवि ने तराश और संवार का कोई ख़ास नज़रिया अपनाया हो ऐसा नहीं लगता, बिल्कुल असावधान हो ऐसा भी नहीं है। साहित्यिक सौन्दर्य की गीत-मुद्राओं में अलंकार बोझ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं बनने चाहिए। भावनाओं और सौन्दर्य बोध को यदि उनसे गति मिलती है तो अलंकरण भी खुशबू की तरह हल्के हो जाते हैं - उपमा व उत्प्रेक्षा का विनियोग देखिए –

"भोर में ज्यों चन्द्रमा फीका पड़ा है
धूप में ज्यों दीप की कीमत नहीं है।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 30*)

"....कि जैसे भोर में कोई कली शबनम न्हाई हो
कि ज्यों नीला कमल कोई खिला हो दूध के सर में
कि ज्यों शेफालिका ही चांदनी जल में तिराई हो।" (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 18*)

रूपक अलंकार की मुस्कान अलग ही है –
"जग भर की करुणा की मिट्टी, जग भर के आंसू में मथ कर
तुमने जो रचना कर डाली और कुछ नहीं कवि का मन है।" (*पृ. 11*)

बादलों में बन्जारों का अभेद्य आरोपन मोहक है –
"बादल के बन्जारे जुड़ते आज गगन के गांव में
बिजली बाला नाच रही है घुंघरू बांधे पांव में।" (*पृ. 47*)

अनुप्रासात्मक एवं आन्तरिक संगीत गीतों को मृदंग एवं कोयल बना देता है –
"शमा जलेगी कली खिलेगी रूप सजा मुसकायेगा
शलभ आयेंगे भ्रमर गायेंगे यौवन रास रचायेगा।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 38*)

"कटे न रैना, पड़े न चैना, पल-पल हुआ पहाड़ है
भरी उमर परदेश गये प्रिय सूना पड़ा सिंगार है।" (*पलकों में आकाश : पृ. 89*)

अनुप्रास के साथ पुनरुक्ति सोने पर सुहागा है –
"पनघट प्यासा, घट भी प्यासा, पनिहारिन प्यासी खड़ी
घुमड़ो रे घनश्याम कि अब तो सीमाओं से प्यास बड़ी।" (*पृ. 99*)

संक्षिप्तति गीतों के लिए वरदान है, प्रभावान्विति उसका संगीत। विराट् के गीत संक्षिप्त भी हैं, विस्तृत भी और अतिविस्तृत भी। दो या तीन अन्तरों के टेक पंक्ति वाले संक्षिप्त गीतों में तो अन्विति-गठन प्रभावशाली है ही, सात-आठ अन्तरे वाले ऐसे अनेक गीत हैं जिनका अन्विति क्रम संक्षिप्त गीतों की तरह ही कसा और तना हुआ है। 'लो डोली चली दुल्हन की' (*पीले चावल द्वार पर : पृ. 52-54*) में बारह अन्तरे हैं, 'ज़िन्दगी एक संकल्प है' (*पलकों में आकाश : पृ. 42- 43*), में सात अन्तरे हैं, 'एक देश जलता है' (*भीतर की नगफनी : पृ. 34-35*), में छः अन्तरे हैं लेकिन इनकी भावान्विति में कहीं टूटन नहीं है, अपितु इन और ऐसे गीतों में भाव ऊर्ध्वमुखी होकर अन्विति में पर्यवसित हो जाते हैं। अन्तरों के आकार में भी अन्तर है। कई अन्तरों की पंक्तियां छोटी और कम हैं। ऐसे गीत सूक्ति गीतों के अन्तर्गत आते हैं। यथा –

"गीत सौन्दर्य है शाश्वत
सत्य की आत्मा है वह
वही शिव-तत्व रचना का
सृजन-परमात्मा है वह
बुद्धि को भाव में घोलो, गीत प्रारम्भ करता हूं।" (*किरण के कशीदे : पृ. 52*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेक गीतों के अन्तरों की पंक्तियां बड़ी और संख्या में भी अधिक हैं। ऐसे गीतों में भावान्विति के बिखरने का सबसे अधिक खतरा होता है। गीत-अनुशासन को विराट् ने महत्त्व दिया है। यही कारण है कि छन्द अनुशासन के कारण इनके गीतों में टूटन और बिखराव कम है। अन्विति-गठन और अनुशासन में अन्तर्विरोध नहीं अपितु वे एक दूसरे के पूरक बन कर विराट् के गीत-संसार को भव्यता देते हैं –

"देवभूमि यह, जन्म दिये हैं इसने ही अवतार को
ज्योतिस्तम्भ बन हरती आयी यह जग के अंधियार को
मुझको है विश्वास कि धरती बांझ नहीं इस देश की
फिर से कोई नया मसीहा देगी यह संसार को
इसकी मिट्टी उड़ कर बैठी सूरज के भी भाल पर
नित उभरी आवाज यहीं से शांति-प्रेम-सन्देश की।" (*गीत गंध : पृ. 59*)

विराट् एक कुशल अश्वारोही की तरह छन्दों की लगाम को अपने हाथों में थामे हुए हैं। इनके छन्दों की कसावट और तराश देखने योग्य है –

"कढ़े हुए मेघों पर/ किरण के कशीदे
यंत्रों की दुनिया में कौन पर खरीदे....
गति के पहियों नीचे/ पिसे हुए लोग
सिर्फ ऊब देते हैं/ घिसे हुए भोग
बुढ़ा गयी असमय ही/ किशोरी उम्मीदें।" (*किरण के कशीदे : पृ. 1-2*)

छन्द-वैविध्य विराट् की विशिष्टता है। मात्रिक छन्द कवि को अधिक प्रिय है। चौपाई मात्रिक छन्द है जिसके चरणान्त में दो गुरु या दो लघु हो सकते हैं किन्तु गुरु-लघु नहीं हो सकता। चन्द्रसेन विराट् ने इस छन्द में गीत की रचना की है –

।। ऽ ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ
इतना मीठा गीत न गाओ – *16*
दुःख का कोई गीत सुनाओ – *16* (*पलकों में आकाश : पृ. 75*)

चरण के अन्त में पूरे गीत में दो गुरु का विधान है। कवित्त वर्णिक छन्द है जिसमें 31 वर्णों का विधान है किन्तु कवि ने इस छन्द में 31 वर्णों के स्थान पर 31 मात्राओं का प्रयोग किया है। कवित्त वीररस के लिए सर्वाधिक उपयुक्त है। विराट् ने इसका प्रयोग उद्‌बोधनपरक गीतों के लिए किया है। इनके उद्‌बोधन में औजस प्रवाह, रवानगी, लयात्मकता और हर आठ पंक्तियों के बाद यति का विधान है। स्वरों का प्रसारण कम होने के बावजूद गीत में जोश है –

। । । । ऽ ऽ ऽ । । ऽ ऽ ।। ऽ ।। ऽ ।। ऽ ऽ । – *31*
"अशुभ न बोलो, खून न ढोलो, अपनी धरती अपना देश
कदम मिलाओ, मिलकर गाओ, जय-जय अपना राज स्वदेश।"

(*मिट्टी मेरे देश की : पृ. 89*)

लयात्मक छान्दसिक प्रयोगों ने नवगीत को नव्यता और विस्तार दिया है। नगण, भगण भगण और रगण के क्रम से द्रुत विलम्बित में बारह वर्ण होते हैं लेकिन विराट् ने अपने गीतों की टेक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंक्ति में बारह वर्ण रखे हैं और उनका क्रम चार सगण का है। 'जीवन अब सूना सूना है' गीत की गति द्रुतविलम्बित जैसी है। अनुसंधन दृष्टि से देखा जाए तो आचार्यों ने इसमें भी सोलह मात्राओं का विधान रखा है। चौपाई भी सोलह मात्राओं की है किन्तु उसमें स्वरों का प्रसारण होता है जबकि द्रुतविलम्बित में स्वरों का संकुचन और गति तीव्र। इस गीत में स्वरों का संकुचन है और गति द्रुत –

।। ऽ। ।ऽ ।। ऽ। ।ऽ

"तुम रूठ गये, सुख लूट गये" – *16* (*पलकों में आकाश : पृ. 71*)

पूरे गीत में गति द्रुत है, मात्रायें उतनी ही हैं, वर्णों में बदलाव है। छब्बीस मात्राओं के 'गीतिका' की बदली मनहरण वेष-भूषा इनकी ग़ज़लों में नुमाया की जा सकती है। गौर फरमाएं –

।ऽ ।।।।ऽ ।ऽ ।। ऽ। ।।ऽ ऽ। ऽ – *26*

"सिर्फ कठपुतली बनो मत और अपने आप को
क्रूर सत्ता के करों का झुनझुना होने न दो।" (*धार के विपरीत : पृ. 33*)

विराट् का छन्द, मात्रा, गण आदि का ज्ञान बहुत गहरा है, इसीलिए शायर कवि ने हिन्दी छन्दों का नया संस्कार कर उसे समृद्धि दी है।

शब्द-संयोजन : सूक्त्यात्मक दृष्टि

जीवन की जटिल खरोचों और असंग तल्खियों को व्यक्त करने के लिए विराट् का शब्द-संयोजन समय को चुनौती देता है। इस चुनौती को सार्थक सरोकारों तक ले जाने के लिए कवि लोक मानस में प्रचलित सामान्य व्यावहारिक शब्दावली, महानगर की सावधान कंटी छंटी शब्दावली, अगंसत भाषा, पौराणिक शब्दावली आदि का कथ्य के अनुरूप सुन्दर प्रयोग करता है। अनेक शब्द गहरा अर्थ ध्वनित करते हैं –

'सत्ता की कपिला का दोहन' (*भीतर की नागफनी : पृ. 45*)
'शकुनि है सामने भेष में/ धर्म आना न आवेश में' (*पलकों में आकाश : पृ. 31*)
'प्यासे गीतों के मृग-छौने।' (*पृ. 44*)

अनेक सार्थक शब्द-समूहों ने सूक्तियों का रूप धारण कर लिया है –

"व्यक्ति, स्थिति, काल सापेक्ष होता नहीं
सत्य तो सत्य है सर्वथा सज्जनो।" (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 109*)
"विश्वासों की नींवों पर/ रखे गये निश्चय के पुल।" (*पृ. 108*)
"मांगे से अधिकार न मिलते,
लेना होगा छीन, सोचिये।" (*पृ. 59*)
'समय की धार से कट कर हमें तट पर नहीं रहना।' (*भीतर की नागफनी : पृ. 44*)
'ज़िन्दगी एक संकल्प है।' (*पलकों में आकाश : पृ. 43*)
'नाश तो सृष्टि का सत्य है।' (*पृ. 44*)

मुहावरे-लोकोक्तियां जीवन का सारतत्व होती हैं। कवि इस सारतत्व को ग्रहण कर गीतों में जीवन बना कर पेश करता है। गीत लोकोक्तियों-मुहावरों से एकरस होकर जीवन निष्कर्षों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की गंभीरता की ओर तो इंगित करते ही हैं, बेसुरे जीवन अध्यायों की पर्दानशी हरकतों और पारदर्शी सौन्दर्य को भी तीव्रता से व्यंजित करते हैं –

'नाक में ज्यों नकेल लगती है।' (*कुछ पलाश कुछ पाटल : पृ. 60*)

'अपने वचनों से फिर गये हैं हम
अपनी नज़रों से गिर गये हैं हम।' (*पृ. 46*)

'न्यायाधीश समय पर ऐसा/ देर करे अंधेर न करता।' (*भीतर की नागफनी : पृ. 20*)

'फोकट बहा पसीना अपना लोहू पानी कौन करे।' (*पृ. 47*)

'एक तो यह बिवाई फटी-सी धरा।' (*पृ. 55*)

'एक चुल्लू जल बहुत है डूबने के हेतु।' (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 47*)

'कब हो खून सफेद न जाने कब हो उठे कृतघ्न नमक' (*पृ. 30*)

'दूध से जो जला था शुरुआत में/ अंत तक वह छाछ से डरा ही रहा।' (*पृ. 110*)

'फूटी आंखों नहीं सुहाया' (*निर्वसना चांदनी : पृ. 78*)

'पाषाण युग से आज भी तिल भर हिला नहीं।' (*धार के विपरीत : पृ. 72*)

'भीतर की नागफनी' संग्रह का आठ अन्तरों वाला यह गीत तो जैसे मुहावरा-कोष है –

"मोटी हुई तिजोरी मोटी
छोटी होती गई लंगोटी
उसने ही बन्दर नचवाया
जिसके हाथों आयी सोटी... ...
लगा सभी का खून-पसीना
बन्दर-बांट हुआ है जीना
कुछ के पल्ले टाट पड़ी है
कुछ के हाथ लगा पसीना... ...।" (*भीतर की नागफनी : पृ. 40*)

तिर्यक रेखाएं

असंगत भाषा ज़िन्दगी की उन तिर्यक रेखाओं को खींचती है जिनसे बच कर हम निकलना चाहते हैं। असंगत परिवेश, असंगत ज़िन्दगी, ऊल-जलूल हरकतें, मुंह में राम बगल में छुरी जैसा सियारी आचरण, सियासी व्यवहार, लोमड़ीय चालाकी, आदमखोर गुर्राहट, स्वार्थी अनीतियां, गोश्तमुखी ज़िन्दाविद्रूप हंसी, बेबसी, वक्र संवादों में छिपा बैठा जयचन्द, आक्रोशधर्मी विद्रोही बुनावटें आदि ने ज़िन्दगी को अंगुलिमाल बना दिया है। इसे व्यक्त करने के लिए असंगत भाषा का इस्तेमाल आज मजबूरी है चूंकि उसके बिना ज़िन्दगी के मुकुर बिम्ब नहीं उभर सकते।

व्यथा-पुत्र : गीत

व्यथा-पुत्र गीत दर्द, पीड़ा, दुःख, वेदना, कसक, अग्नि, धूप, अंधेरों से खेल कर युवा हुआ है। इस युवा की कसक-व्यथा को कवि ने बार-बार नए रूप-रंग में गाया है –

"सीने में सिसकियां दबा कर
गीत अधर पर लाया करता।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 35*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कविता तो माता के मन की पीर है।" (*पृ. 58*)
"प्राण रोते हैं इसी से कंठ मेरा गीत गाता
वेदना के बोल कवि मन अश्रु छंदों में सजाता।" (*पृ. 83*)
"दृग का आंसू गीत बना है।" (*पृ. 14*)
"आंख से जो अश्रु छलका/ वेदना का गीत होगा,
मौन हाहाकार उर का/ प्राण का संगीत होगा।" (*पृ. 9*)
"अश्रु से आंख तो धो लो, गीत प्रारम्भ करता हूं....
दर्द के साथ में हो लो....................
दिया है आरती का वह/ छन्द की गन्ध कर्पूरी,
अश्रु की पाण्डुलिपि में है/ वेदना की कथा पूरी,
प्राण के बोल ही बोलो, गीत प्रारम्भ करता हूं।" (*किरण के कशीदे : पृ. 9*)

"जीवन, अपना गणित सुधारे/ दुःख क्यों ज्यादा, सुख क्यों कम है।" 'जग में सुखों दुखों का यदि सिलसिला न हो/ इस ज़िन्दगी को जीने का कुछ मजा न हो।' 'जो दर्द ने कहा सब वह अश्रु ने सुना है,/ हमने उसी कथन को तो गीत में बुना है/' 'जो भी तनाव जीवन के आधुनिक रहे हैं/ वे गीत ने सफलता पूर्वक कहे हैं' आदि गीत दर्द का कारवां बनाते चले हैं। 'पूजन के पहले' में तो 'दर्द', 'आंसू के छीटों' से पहले मात्र शोर था किन्तु अब वह 'गीत' हो गया है-

"स्वर थे लेकिन दर्द नहीं था
मेरे छन्द सुवासित कब थे
आंसू के छीटों से पहले
जीवन से उद्भासित कब थे...।" (*पृ. 51*)

मठ-शिविरों से दूर रह कर विराट् ने गीत को साधा है। ख़ेमेबाजी और गुटपरस्ती को कवि गीत-साधना का अपमान मानता है। यही कारण है कि धीरे-धीरे इनका गीत-व्यक्तित्व मठवादियों की शिविर मानसिकता को अंगूठा दिखा कर जनसामान्य के बीच व्याप गया। ख़ेमे गुट की वकालत कवि को कभी रास नहीं आयी। इसी वजह से विराट् को कभी किराये के रोने वालों की जरूरत नहीं पड़ी। उसे अपनी गीत-साधना पर विश्वास है। यही उसकी रचनात्मकता के शक्तिचिह्न हैं। वे गीत हों या ग़ज़ल पूरी शिद्दत और गंभीरता से विराट् के कवि ने खुली आंखों से देखा और पूरी संजीदगी से उसे गाया है। आज समय उसकी रचनात्मकता का लोहा लेकर खुद पैरवी कर रहा है। झूठी दलीलें, फतवे किसी को साहित्यकार नहीं बना सकती। कवि ने बहुत धैर्यपूर्वक डॉ. शम्भूनाथ सिंह जैसे स्वयंभू गीत-मसीहाओं के अन्याय सहे-झेले हैं। ऐसे तथाकथित गीत-उद्धारक मौसम की तरह बदलते हैं और विराट् मौसमी नहीं पूरे ऋतु चक्र का दीवाना है। गीत के साहित्यिक मानचित्र पर विराट् का गीत, ग़ज़ल व्यक्तित्व आज किसी का मोहताज़ नहीं है। प्रथम पंक्ति के अग्रणी गीत-ग़ज़ल रचनाकारों में आज विराट् अपनी रचनात्मकता और सामाजिक-साहित्यिक सरोकारों की वजह से सीधे तने खड़े हैं, उन्हें किसी फतवे, वकालत, तथ्यों की जरूरत नहीं कि वे नवगीत दशकों का हिस्सा क्यों नहीं बन पाए। इस प्रकार के साहित्यिक मठीय षड्यन्त्रों की वजह से ही भ्रमर, शलभ, शान्ति सुमन, विराट्, कुंअर बेचैन जैसे न जाने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कितने गीतकारों की जानबूझ कर उपेक्षा की गई। इससे न केवल अच्छे गीत-व्यक्तित्व कुछ समय तक ओट में रह गए अपितु गीत का भी भारी नुकसान हुआ। ऐसे साहित्यिक षड्यन्त्रकारियों से रसिक पाठक और गीतकारों को सावधान रहना चाहिये। समय ने विराट् की नहीं 'सत्य' की पैरवी की है। ऐसे तथाकथित खरीदारों, दुकानदार टुच्चे व्यापारियों को साहित्य की अदालत में निश्चित सजा दी जानी चाहिये। गुटपरस्तों द्वारा यह साहित्य की नहीं मानवत्व की मानहानि है। इस मानहानि और असाहित्यिक आचरण को विराट् के रचनाकार ने व्यंग्यात्मक तुर्शी से नापा है –

"शिविर, मठ, और ख़ेमे सब किये स्थापित उन्होंने ही
हमें पर मानसिक दासत्व यह बिल्कुल नहीं सहना।" (*भीतर की नागफनी : पृ. 44*)

कवि का दावा है कि मठ, ख़ेमा आदि सब व्यर्थ है, जो कुछ फ़कत हमीं है –

"है कंठ तो सुरीला पर आंख में नमी है,
सक्षम हो लेखनी तो सब गीत में कहेगी
सिरमौर काव्य में तो यह विधा ही रहेगी।" (*पृ. 54*)

कवि आश्वस्त है कि समय की धुन ही सबको एक दिन धुनेगी और झूठे प्रमाण पत्र, झूठी गवाहियां, खरीदी हुई पदवियां, खरीदे हुए समीक्षक आदि धरे रह जायेंगे और इतिहास का पहिया तीव्रता से घूमता हुआ दूध का दूध और पानी का पानी करेगा –

"समय का एक दिन निर्णय हमारे पक्ष में होगा
गीत-प्रतिबद्ध हैं हम तो सृजन-दायित्व से पूरित
समय की धार से कट कर हमें तट पर नहीं रहना।" (*पृ. 44*)

स्वानुभूतियों के संसर्ग में आकर समूचा परिवेश ज़िन्दा हो जाता है। व्यक्ति से लेकर समाज और राष्ट्र से लेकर संपूर्ण सृष्टि अर्थात् मानव-मात्र। 'मैं' 'मेरे' 'मुझ' की व्यक्तिवादिता वैयक्तिक होकर भी सब की है। यह कवि के रचनाबोध पर निर्भर करता है कि वह अपने व्यक्ति सुर, स्वर, ध्वनि को ब्रह्म-गूंज कैसे बनाता है। इस ब्रह्म गूंज को विराट् के गीत सहज भाव से व्यक्ति से समूह तक ले गए हैं। समावेशी गुंजन के सुर-स्वर-ध्वनि आत्मा का द्रव होकर संपूर्ण अनुभूति-दृष्टि हो गए हैं –

"फूटे जो भी बोल आत्मा के सहज/ मेरे गीत वही दुहरा गये।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 120*)
"जो ज़िन्दगी में भोगा जो कुछ यहां दिखा है
आपत्ति है तुम्हें पर हमने वही लिखा है।" (*भीतर की नागफनी : पृ. 54*)

'रचना की प्राथमिक शर्त्त है संवेदन अनुभूति भावना' और जो काव्य भावना से ही रिक्त हो वह शब्द नहीं शव होता है क्योंकि अनुभूति-गर्भ से ही काव्य का प्रसव सम्भव है –

"जो रिक्त भावना से वह शब्द नहीं शव है
अनुभूति-गर्भ से ही तो काव्य का प्रसव है
जो शब्द ध्वनि सहित हो वह आप बोलता है
कर अर्थ को उजागर संगीत घोलता है।" (*पृ. 54*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'दर्द कैसे चुप रहे' में भी कवि कहता है –

"बोल आत्मा ने जो बोले
उनका ही अनुवाद किया है।" (*दर्द कैसे चुप रहे : पृ. 14*)

इस प्रकार आधुनिक जीवन की सभी तनाव-बुनावटों को विराट् के गीत एक कसावट में बुनते हैं। उनका गीत-वितान कसा-तना है। शिथिलता जीवन में हो या साहित्य में संवेदनाओं को खुरचती है। इस शैथिल्य के जटिलताबोध को गीत ने हर स्तर पर पूरा काता है। विराट् का गीत बोध जीवन और उससे जुड़े युग सत्यों को पूरी तरह बांधे है। संवेदनाओं की वैचारिक बुनावट में पूरी कसाई है। ज़िन्दगी की बुनाई में कहीं भी शैथिल्य नहीं है। विराट् का कवि पहले हर पक्ष, हर दृष्टि से ज़िन्दगी की बारीक कताई करता है, समय की छलनी में उसे छानता है, छनाई के बाद युग-सन्दर्भों में भावों की घुलावट कर एक कुशल बुनकर की तरह व्यक्ति और समाज से जुड़े सरोकारों को बुनता है, शिल्पी बन उन्हें तराशता-गढ़ता है। इस गढ़न तराश और बुनाव में पूरा युग और उसके व्यापक संदर्भ तार-तार सांस लेते हैं। ज़िन्दगी की खुदराहट और ऋदम को कोंचते इन गीतों का संयोग जब ग़ज़ल से होता है तब वह 'मरुस्थलों में सांस तोड़ते प्यासे हिरन के कंठ की व्याकुल पुकार' बन जाता है।

हालांकि इनके अनेक गीत-ग़ज़ल 'सायास-प्रयास' प्रतीत होते हैं किन्तु उनमें भी सरस सहजता अतिरिक्त गूंज बन कर गूंजती है। विराट् में 'उद्बोधन शैली' का प्रयोग बहुत कम है क्योंकि वे गीतों को उपदेशक या प्रचारक नहीं बनाना चाहते। उनकी दृष्टि में 'श्रीमद् भागवतगीता' का महत्त्व उसके श्रेष्ठ शिल्प के कारण नहीं बल्कि उसके अकूत शास्त्रीय मूल्यों के कारण है।' (*व्यक्तिगत साक्षात्कार*) उदात्त गरिमामय प्रेम, मानव की विराट सत्ता के प्रति आग्रह, आध्यात्मिकता और समसामयिक संवेदनाओं का सूक्ष्म स्तर पर विश्लेषण इनके रचना बोध के बुनियादी सरोकार हैं। गीत इनका संस्कार है जो आत्मा और धमनियों में रक्त-मज्जा के रूप में प्रवाहित है –

"सुन 'विराट्' तू लाख कहे पर/
मुझको है मालूम कि निश्चित/ तुझसे गीत नहीं छूटेगा
सच पूछो तो लिखता कब है/ तुझसे लिखा लिया जाता है
तेरी पलकों के आंसू में/ मुझको डुबा लिया जाता है
लिखने वाला दर्द भीतरी/ उसका तेरे साथ बावरे
साथ चिता के ही टूटेगा/ तुझसे गीत नहीं छूटेगा।" (*किरण के कशीदे : पृ. 61*)

जीवन की द्रवीय गंधक : ग़ज़ल

विराट् ने ग़ज़ल को हिन्दी का संस्कार दिया है। ग़ज़ल का पूर्णतः हिन्दीकरण करते हुए विराट् ने उसके शिल्प एवं कथ्य पर अनुसंधन दृष्टि से विचार किया है। उनकी ग़ज़लों में कालमुद्राओं का सच बजता है। व्यक्ति और समाज के अन्तर्सम्बन्धों की ऐंठनों की जितनी भी गांठे हैं उनको खोलने का प्रयत्न ही विराट् ग़ज़ल का आशय है। मानवीय सरोकारों एवं उसके संघर्षों की बारीक कताई करती विराट् की ग़ज़लें जीवन की गंधक को द्रव बनाती हैं। उसमें लावा भी है बर्फखंडी पिघलन भी। अग्नि नृत्य करता ग़ज़लों का पारदर्शी हुस्न ढपली-मृदंग बन कर जीवन के छिद्रों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को वेणु बना देता है। कथ्य से हट कर ये ग़ज़लें शैल्पिक कचाव से भी मुक्त हैं। इन्होंने ग़ज़ल को 'मुक्तिका' शेर को द्विपदी, मतले को भावोदय, मक्ते को अन्त की संज्ञा दी है। ग़ज़ल को इन्होंने मुगलकालीन संगमरमरी दालानों-गलियारों से निकाल कर जनपथ से जोड़ दिया है।

ग़ज़ल सुनना-सुनाना आज प्रतिष्ठासूचक हो गया है। इससे ग़ज़ल की गंभीरता और गरिमा को आघात लगा है, क्योंकि आज हर कवि ग़ज़ल कह-सुन रहा है। ग़ज़ल अपने आप में एक अनुशासन एवं संस्कार है। बिना व्याकरणीय शास्त्रगत अनुशासन के ग़ज़ल कहना आज फैशन में शुमार है। फैशन के तौर पर अथवा बिना सोचे-समझे ग़ज़ल कहने से हिन्दी ग़ज़ल की बहुत छिछालेदर हुई है। विराट् की ग़ज़लीय प्रतीतियां कैट स्कैनिंग, 'अल्ट्रासाउण्ड' की किरणों से भी अधिक द्रुतगामी हैं। ग़ज़ल पर हुए प्रहार को विराट् का ग़ज़ल-मन नहीं झेल पा रहा –

"आज हर कोई ग़ज़ल की शायरी
दूब आंगन की समझ चरने लगा।" (*लड़ाई लम्बी है : पृ. 20*)

S S SS SS IIS SS IS I S S II S

'रीता घट है'> क्या पाओगे रीता घट है/ सूखी हुई नदी का तट है' (*पृ. 27*)

सोलह मात्राओं की दो पंक्तियों के आठ शेरों की यह ग़ज़ल हिन्दी से संस्कारित-परिधानित है। 'रीता घट'> हिन्दी में साधारण शब्द नहीं हैं। इसे समझने के लिए दर्शन में गहरी पैठ आवश्यक है। घट>कलश है जिसे सामान्य जन जल भरने के लिए प्रयोग में लाता है, किन्तु यहां घट > मानव- मन का व्यंजक है, कबीर-कुम्भ का प्रतीक 'घट' सृष्टि का प्रतीक है। समुद्र-मंथन से भी अमृत-घट प्राप्त हुआ था लेकिन आज यह 'घट' रीत गया है। इस कलश में जीवन का सत्य-सौन्दर्य अमृत, बुनियादी मानव-मूल्य संग्रहीत थे, आज यह उनसे खाली हो गया है। विराट् ने ऐसी अनेक ग़ज़लें कही हैं जिनमें जीवन और दर्शन की तलस्पर्शी गहनता हिन्दी का संस्कार लेकर निखरती गई है। उर्दू-छन्द में गहरे दार्शनिक चिन्तन का स्वर देने वाले हिन्दी शब्दों के प्रयोग ने ग़ज़ल का हिन्दीकरण कर उसे नवीन संस्कार दिया है। ऐसे गिने-चुने ग़ज़लकारों की प्रथम पंक्ति में विराट् का नाम भी आलेखित है। इसी प्रकार 'चौखटे पर सतिया मांडना' हमारी संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। 'सतिया' मांगलिक-प्रतीक है, उल्लास और समृद्धि की कामना के लिए हम अपने घरों की चौखटों पर लिखते हैं। विवाह-उत्सवों पर तो यह होता ही है, श्रावणी पूर्णिमा पर सामान्यतः हर भारतीय अपने-अपने घरों की चौखटों पर अपने इच्छा-यज्ञों की पूर्ति के लिए अवश्य लिखते हैं। ऐसे मांगलिक अनुष्ठानों को विराट् ग़ज़लों में नयी दृष्टि और संस्कार मिले हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक मूल्य-विघटनों की त्रासदी के शोकांत दृष्टि-दर्शन को विराट् की ग़ज़लें तीव्र प्रतीकात्मकता के साथ कहती हैं –

"मांड लिया अपनी चौखट पर
क्यों उल्टा सतिया ज़िन्दगी।" (*धार के विपरीत : पृ. 103*)

इसी प्रकार 'रक्त चन्दन' से 'भाल-चर्चित' करना में सत्य, शिव के एस्थेटिक्स को नफीस तरीके से कहते हुए ग़ज़लगो ने गीत की विशिष्टता ज्ञापित की है। संस्कृत बहुला भाषा इष्ठ, निष्ठ, प्रविष्ठ, क्लिष्ठ, अनिष्ठ, वशिष्ठ और वरिष्ठ जैसे शब्दों के प्रयोग एवं विशिष्ट की तुकान्तता ने ग़ज़ल संवेदना को सूक्ष्मता से उभारा है।" (*कचनार की टहनी : पृ. 31-32*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'कचनार की टहनी' के फ्लैप पर लिखे शब्द विराट् के ग़ज़ल-मन की सही पहचान करने में मदद करते हैं। इसमें कोई शक नहीं कि हिन्दी ग़ज़ल को विराट् ने नई पहचान और भंगिमा दी है। उर्दू ग़ज़ल के छंद-विधान एवं संरचना को स्वीकार करते हुए उन्होंने हिन्दी की सांस्कृतिक पीठिका पर उसे तराशा एवं एक विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया है। हिन्दी ग़ज़ल का शास्त्रीय रूपांकन करके उसे हिन्दी स्वभाव, स्वाद एवं भंगिमा दी है। उसे मयखारों की महफिल से उठा कर देवघर में स्थापित किया है। निर्लज्ज वारांगना के कामुक बोलों के स्थान पर सद्यःस्नाता तुलसी को जल चढ़ाती कुलवधू के कण्ठ का श्लोक बनाया है।

शिव बरुआ चन्द्रसेन विराट् को हिन्दी ग़ज़ल का संस्कारी कवि कहते हुए इन्हें 'मुक्तिका' छन्द का प्रवर्त्तक मानते हैं। उन्होंने स्वयं भी ग़ज़ल को 'मुक्तिका' सम्बोधित किया है –

'मुक्तिका हो.......' (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 92*)

'मुक्तिका में हमीं अन्यथा' (*धार के विपरीत : पृ. 84*)

त्रिलोचन शास्त्री के संग्रह 'गुलाब और बुलबुल' के प्रकाशित होने पर हिन्दी ग़ज़ल को लेकर नए सिरे से बहस शुरू हुई। संकलन के नाम को लेकर कई तरह की संज्ञाएं और सर्वनाम सुनने में आए। ग़ज़ल को किसी ने गीतिका कहा, किसी ने मुक्तिका, किसी ने अनुगीत तो किसी ने तैवरी। ग़ज़ल को 'मुक्तिका' चन्द्रसेन विराट् ने कहा - "मुक्तिका हिन्दी ग़ज़ल लेखन के प्रति मेरी समस्त गीतात्मक आस्था संघर्षरत है... मैंने हिन्दी ग़ज़ल को मुक्तिका की एक स्वतन्त्र संज्ञा दी है।" (*न्याय कर मेरे समय*) 'मुक्तिका' को उन्होंने द्विपदी माना है जिसमें विभिन्न भाव और मनः स्थितियों का चित्रण हो सकता है। 'मुक्तिका' को मात्रिक छंद में कहना ही अधिक अच्छा लगता है –

"बहरों में भी लिखो मुक्तिका
छंद मात्रिक हो तो अच्छा।" (*न्याय कर मेरे समय*)

हिन्दी ग़ज़ल को लेकर विराट् का चिन्तन-सृजन नयी भूमियों को खेत बनाता है। इस दृष्टि से हिन्दी ग़ज़ल मुक्तिका के क्षेत्र में विराट् ने नयी ज़मीन तोड़ी है। दूसरे कवि ग़ज़ल में जहां उर्दू की ही स्पिरिट और शब्दावली का अनुसरण करते रहे वहीं विराट् ने इस धरातल पर अभिनव अल्पनायें उकेरी हैं। हिन्दी की निजी प्रयुक्तियों ने विराट् की ग़ज़लों को नयी छवि अलग पहचान दी है। यों विराट् के कवि-पखेरू ने बड़ी ऊचाइयां छू ली हैं, फिर भी उसके पंख और खुलते जा रहे हैं। (*दृष्टव्य : बूंद बूंद पारा : फ्लैप*)

काल मुद्राओं के आर-पार

चन्द्रसेन विराट् की ग़ज़लें > मुक्तिकाएं 'नावक के तीर की भांति' गंभीर घाव करने वाली हैं। धर्म-संस्कृति की सुरभि समेटे विराट् का ग़ज़ल-संसार नए-नए प्रतीक-बिम्बों से व्यक्ति-समाज की संपूर्णता को खंगालता है। विराट् के रचना सरोकार अग्रणी एवं ठोस हैं। ग़ज़ल की हिन्दी महफिल के विराट् नायक हैं। ग़ज़लगो यद्यपि स्थान-स्थान पर खुद ही अपनी प्रशस्ति गाता है, आत्मविमुग्ध हो हिन्दी ग़ज़ल के क्षेत्र में अपने को महानायक मान कर 'कसीदे' काढ़ता है। इस प्रकार की आत्मश्लाघा एवं तुष्टिकरण असाहित्यिक आचरण तो है ही विराट् के हिन्दीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़ल व्यक्तित्व को छोटा करता है। इसे आत्माभिव्यक्ति नहीं कहा जा सकता, यह दम्भ के आस-पास है। उसके ग़ज़ल प्रदेय से इन्कार नहीं लेकिन स्वयं की प्रतिष्ठापना, मसीहाई अंदाज उसे नवगीत के मठपति डॉ. शम्भूनाथ सिंह के आस-पास ले जाएगा –

"हिन्दी ग़ज़ल तो और भी लिक्खी गई बहुत,
लेकिन, विराट् जैसा तेवर नहीं मिला।" (*कचनार की टहनी : पृ. 26*)

* * *

"हिन्दी ग़ज़ल की बात चली तो तुम्हें विराट्,
उद्धृत करेंगे लोग मिसालों के नाम पर।" (*लड़ाई लम्बी है : पृ. 52*)

* * *

"हिन्दी ग़ज़लों में विराट् की
सब कलमों से अलग कलम है।" (*पृ. 62*)

* * *

"वक्त! हिन्दी ग़ज़ल की महफिल में
जगह निश्चित है हमारी, रखना।" (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 104*)

* * *

"हिन्दी ग़ज़ल विराट् ने लिखी है कामयाब
आलोचकों में एकमत में फैसला हुआ।" (*धार के विपरीत : पृ. 60*)

* * *

'मुक्तिका में हमीं/ अन्यथा कौन है।' (*पृ. 84*)

विराट् ने ग़ज़ल को शब्दायित करते हुए कहा है कि "यह गीति रचना जो उर्दू के छंद, रूपाकार से परहेज न करके अपनी विशिष्ट हिन्दी परम्परा से उद्भूत् आधुनिक मनुष्य की सभी संवेदनाओं को समेटती हुई अपनी मूल हिन्दी प्रकृति, स्वभाव, लाक्षणिकता, स्वाद-पीठिका आदि का मौलिक संस्कारजन्य रचनाधर्मिता युक्त काव्य-लेखन का प्रभावी प्रयोग है।" (*न्याय कर मेरे समय : पृ. आमुख*) ग़ज़ल का क्षेत्र भी हिन्दी की तरह विस्तृत है। जो वैविध्य जीवन में है - वही विविधता हिन्दी की ग़ज़लीय लय है। विषय-चयन की कोई सीमा नहीं। इस छन्द (ग़ज़ल) में किसी भी दृष्टि से ग़ज़लगो जीवन-समाज को बांध सकता है। लेकिन उसके सम्प्रेषण के लिए विराट् की शर्त्त वाजिब है –

"मुक्तिका हो सांस्कृतिक, संप्रेषणायुत, रसमयी
शब्द ध्वनि लय छंद स्वर भी दो विषय के देवता।" (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 92*)

काल मुद्राओं के आर-पार आधुनिक संवेदना की मुख बोध विराट् की ग़ज़लें रोजमर्रा की समस्याओं से जूझते जन साधारण की दुःख गाथाएं हैं। आतंक, भय, हत्या, उग्रवाद, प्रदूषित राजनीति, भाई-भतीजावाद, कामचोरी, रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, स्वार्थान्धता, सत्ता-अव्यवस्था, साम्प्रदायिक-वैमनस्य, विकृत धर्मनिरपेक्षता, अहम्मन्यता, वैज्ञानिक त्रासदियां, विघटित मान-मूल्य, अर्थ-पोषित रिश्ते, सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं का स्खलन आदि अति बौद्धिक परिवेश की जकड़न को ये ग़ज़लें बिम्ब की तरह विस्फोटित करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीज-भूमि : रस आखेटक दृष्टि

'निर्वसना चांदनी' से विराट् ने ग़ज़ल-आंगन में प्रवेश किया। समय का द्वारपाल मनुष्य जीवन को ताश की तरह फैंट रहा था। जटिलताएं चक्रव्यूही परिवेश की प्रहरी थी। परिवेश घुटन और अतिबौद्धिक अराजकता ने हृदय को सुबकने के लिए कोई कोना भी नहीं दिया। इड़ास्म के उपासक हम पाश्चात्य-संस्कृति की टिकटी पर जीवन के त्रिपुर रहस्य को चढ़ाने के लिए तैयार थे। द्वन्द्व, अन्तर्विरोध, अनिर्णय, नकार, निषेध, अस्वीकार, अनास्था की सलीब पर चढ़े हम खुद ही पैरवीकार होकर नपुंसक, कमज़ोर, वीर्यहीन, क्लीव आचरण की ओर बढ़ने लगे। विद्युत् स्थितियों के नंगे हाई पावर तारों के झटके खा-खाकर मनुष्य अस्मिता शंकित, भ्रमित, अनिर्णय की काजर कोठरी को अपना नीड़ समझ बैठी। इस परिवेश की काई को फाड़ना, धुंध, धुएं को छांटना जरूरी था। विराट् की ग़ज़लों ने ग़ज़ल को हुस्न, इश्क, मोहब्बत, ज़ाम, साथी, मयखाना की रोमानियत से निकाल कर बिजली के नंगे तारों से जोड़ा और अनादर्शी ज़िन्दगी को पारा-पारा बिखरने से बचाया। हिन्दी की बुनावट में ग़ज़ल को बुन कर मनुष्य-समाज को जागरूक किया, खुद का पहरेदार बनाया। संघर्ष का पथ दिया, उड़ने को आकाश। राजनैतिक, सामाजिक दुरभिसन्धियों के प्रति क्रूर बनाया और उसे रस-आखेटक दृष्टि दी। हिंसक, क्रूड, गिद्ध स्थितियों के प्रतिकार के लिए बाज की चोंच और आंखें दीं और जीवन के छोटे-छोटे सुखों को द्रव-रस की तरल हृदय-स्पर्शिता। रस और आखेट ने मिल कर जीवन को एक संतुलित पीठिका पर थिर किया। ग़ज़ल के बहाने इस पुनर्संस्कार में वस्तुतः व्यक्ति जीवन का पुनर्संस्कार था। नये जमाने की रोशनी थी। समय की इन लकीरों को विराट् के ग़ज़ल बोध ने हर कोण से जीवनमुखी किया। कथ्य को स्थितियों और युग के अनुरूप तीखा मरोड़दार नुकीला बनाया। समय की परतों को उधेड़ा-खुरचा। इस उधेड़-खुरच में जीवन का समूचा खारापन मनुष्य के सामने आ गया। दर्द को कातने-गाने के लिए ग़ज़लगो को खास तरह का वातावरण चाहिए और वह उसे नहीं मिलता। आज वनेचर (वाल्मीकि) का अन्तःकरण संसार का आठवां आश्चर्य होगा, इसीलिए वह परिवेश की गंधक को अनुभूति के दूसरे छोर से जोड़ कर कहता है। यही युग और समय का विद्रूप सच है जिसमें ग़ज़लकार के मन की पीड़ा घुली हुई है –

"मैं गीत तो सुनाऊं पर वातावरण नहीं
जो दर्द को शरण दे वह अन्तःकरण नहीं।" (*निर्वसना चांदनी : पृ. 99*)

युगबोध की गद्यात्मक चाक पर घूमती विराट् की काव्यात्मक ग़ज़लें जीवन को कदम-कदम बूझती हैं। 'निर्वसना चांदनी' की मुक्तिकाओं के विषय में कवि की स्वीकारोक्ति इसी तथ्य का संकेत है –

"खुद आंसुओं की भीड़ में समीक्षक खो गया
मेरे गीतों में सुख का कोई उद्धरण नहीं।" (*पृ. 100*)

ये ग़ज़ल मुक्तिकाएं वस्तुतः जीवन का भाष्य, आंसुओं का हूबहू गर्दो-गुबारी अनुवाद है -
"मैंने गीत लिखे क्या अपने
आंसू का अनुवाद किया है।" (*पृ. 58*)

'मन दुःख का अभ्यस्त' (*पृ. 2*), 'नयन में अश्रु आने से' (*पृ. 13*), 'अश्रु से आंख' (*पृ. 15*),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पीड़ा से परिचय' (*पृ. 17*), 'दर्द भीतर दफन कर' (*पृ. 37*), 'अश्रु का आचमन' (*पृ. 38*), 'दिल का दर्द' (*पृ. 45*), 'मन है उदास-उदास' (*पृ. 49*), 'मन दुःख से आबाद' (*पृ. 57*), 'दर्द अब मांगता है वचन' (*पृ. 59*), 'आंसुओं की शाम' (*पृ. 65*), 'एक दर्द तीखा-सा' (*पृ. 70*), 'दर्द की मिज़राव' (*पृ. 73*), 'कुछ नये दर्द....दर्द बन श्लोक' (*पृ. 81*), 'दर्द उठा है धीरे-धीरे' (*पृ. 89*), 'दर्द ही दर्द' (*पृ. 106*), 'दर्द दुहरा हो गया' (*पृ. 107*), 'पीड़ा दुहरी हो' (*पृ. 111*), 'पीड़ा से परिचय' (*पृ. 115*), 'प्रारम्भ होकर आंसू' (*पृ. 121*), 'रग सभी की दुःखती' (*पृ. 122*) आदि मुक्तिकाएं जीवन-भाष्य के अनुवादी पृष्ठ हैं। अपनी 'व्याकुलता' को सम्बोधित करता हुआ ग़ज़लकार जीवन का दूसरा पृष्ठ खोलता है –

"व्याकुलता से मुक्त न होना/ मेरे दुःख अभिव्यक्त न होना..
दुनिया भर से दुःखड़ा कह कर/ मेरे हृदय अशक्त न होना।" (*पृ. 85*)

इस दुःख-धारा के मूल में सामाजिक-राजनैतिक परिवेश से उपजी उन विसंगतियों की त्रासद शोकांतिका है जो मानव से मानव का शोषण कराती है –

"खुद आदमी को आदमी का रक्त पच सकता नहीं
बह फूट निकलेगा बदन से शोषकों से क्या कहें
खुद को निरामिष कह रहे उन भेड़ियों से दोस्ती
भोले जरूरत से ज्यादा मृग-शावकों के क्या कहें।" (*पृ. 102*)

जीवन में व्याप्त अनास्था, अविश्वास, भय, सन्देह, मोहभंग आदि को ग़ज़लगो करीब से भोग-परख चुका है, इसीलिए वह 'आस्था के अमलतास' खिलाने को प्रतिबद्ध है। पुरुरवा-उर्वशी के लिए आज देह का दर्शन समझना अनिवार्य नहीं जितना देहात्म-बोध से 'आत्मा' के गोपन-कक्ष तक पहुंचना। 'क्षमादान' सर्वोत्तम दान है। इसीलिए व्यक्ति के दर्द को व्यक्ति का ही रहने दें, भरी सभा में दर्द का विमोचन निषिद्ध है। समय-तन्त्र के क्रूर हाथों में नियति आज कैदी है। मौलिक रचनात्मकता और रचनाएं आज उदास हैं, अनूदित रचनाकार और रचनाएं पुरस्कृत। कर्मशक्ति विश्वासपरक प्रतीतियों का नीड़ है। तिनका-तिनका सच मेरू हो जाता है। आस्था के अमलतास छाया बन कर छतनार होंगे, खुशबू बन कर बहेंगे। ठोकरें मानव को सूर्यंपश्यी दृष्टि से नवाज़ेंगी और बुरा वक्त टल जाएगा। इन काजर क्षणों की राजनीति मूल्यबोधी होकर तपेंगी और तराश पत्थर को हीरा बना देंगी। महायुद्धीय मानसिकता पर मानवत्व की विजय अन्ततः निश्चित है। इसी विश्वास के सहारे 'आस्था के अमलतास' अपनी पूरी रचनात्मकता के साथ रंगगर्भी होंगे –

"लहू से मांजते हैं और धोते हैं पसीने से
भविष्यत् और उजलेगा मुझे विश्वास है मित्रो।" (*आस्था के अमलतास : पृ. 29*)

आश्वस्ति और आस्था-विश्वास के प्रीति-पल मन के कोहरे को छांट देंगे। ऐसे में न मनुष्यरोधी आचरण होगा न खुदकुशी। अस्मिता अपने पूरी आकार में आकारित होगी –

"रहे यदि आस्था जागृत, कभी भी आदमी वाली
अस्मिता डर नहीं सकती, हमें आश्वस्त होने दो।" (*धार के विपरीत : पृ. 13*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस संग्रह की पट-पीठिका पर भी युगीन-सन्दर्भों का काला रक्त है। वही असंगत परिवेश, राजनीति, अर्थतन्त्र शापित नियति-दर्शन, महानगरीय मृग-मरीचिका, परमाणु-आतंक, साम्प्रदायिक वैमनस्य, युद्ध और शान्ति, आस्था-अनास्था आदि के बिखरे अमलतासों को ग़ज़लकार ने समेटने की कोशिश की है। पौराणिक प्रतीक-बिम्ब इस बिखराव को नुकीला और तीखा बना देते हैं। द्रौपदी-दु:शासन (*पृ. 54*), 'अर्जुन-शिखण्डी' (*पृ. 56*), 'जानकी- लक्ष्मणरेख', 'रावण' (*पृ. 118*) आदि ऐतिहासिक पौराणिक प्रतीक राजनैतिक चौपड़ को क्षण में राजा पल में रंक बना देते हैं, यहां प्यादे भी घुड़सवार को शह मात देकर आसन तक पहुंच जाते हैं। देश में पनप रहे भ्रष्टाचार, सामाजिक अराजकता, अव्यवस्था के भंड़ाफोड़ के लिए यही नजरिया है –

"बिना डकारे खा गये वे देश को
क्या ग़ज़ब का हाज़मा है दोस्तो।" (*पृ. ८४*)

अंकुर-पल्लव

'धार के विपरीत' की मुक्तिकाएं जीवन के गतिशील सौन्दर्य का आख्यान है। कथ्य में तेज़ी और गहराई है –

"ज़िन्दगी नाम सतत चलने का
जाम चक्के को चलाते रहिये।" (*पृ. 86*)

ज़िन्दगी की गति का एक पक्ष यह भी है। ग़ज़लगो की सूक्ष्म ग्राहिणी कल्पना शक्ति ने दफ्तर के बाबू का चित्र एक्सरे-विकिरणों की तरह खींचा है। पत्र-सन्दर्भ, फाइल में देखना, पत्र पढ़ना, समझना, उसका उत्तर देना, पत्र को महत्त्वपूर्ण एवं महत्त्वहीन बताना, अम्बार से फाईल खोज लाना, गिनी-चुनी फाइलों में से फाईल का न मिलना आदि हमारी औकात और सीमाओं का बोध कराने के लिए काफी है। करैन्सी की गर्मी हमारी गति को झाड़-पौंछ कर रंग-पुता सियार बना देती है –

"उसकी क्षमता है हरे नोटों के,
पंख फाइल को उगाये बाबू।
लाल फीते में उसके प्राण बसे,
वह न छोड़े न छुड़ाये बाबू।
देश की नाव है कागज़ वाली,
जब तिराये कि डुबाये बाबू।" (*पृ. 70*)

'परिवर्त्तन की आहट' में आम आदमी की छटपटाहट को स्वर मिला है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था का दुरुपयोग हमारी वैचारिकता को कुतर्की बना देता है और हम कायदे कानूनों को अपने पक्ष में स्वार्थसिद्धि की सीढ़ी बना लेते हैं। चढ़ते हुए हम सीढ़ी के दर्द को नहीं महसूस करते कि जनसामान्य के अनुशासित होने के कारण हम अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर रहे हैं। हमारा समय सापेक्ष आचरण 'क्षण क्षण' बदल कर रंगमुखी आकर्षक खाल ओढ़ लेता है। व्यवस्था के जंग लगे पुर्जे हमारी हताशा को घी देकर सुलगा देते हैं और आदमी स्वतन्त्र भारत में भी अपने को कैदी मानसिकता में जीता पाता है। जीवन एक खुली जेल बन कर भार बन जाता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"खड़ा रह गया धूल फांकता/ गये सभी जीपों, कारों में
वे उसकी चिन्ता में दुबले/ पांच सितारा मीनारों में
ऐसा माल बना मण्डी में/ खुद भी खड़ा खरीदारों में
मुक्त मान ले लेकिन वह है/ बन्द, खुले कारागारों में।" (*परिवर्त्तन की आहट : पृ. 38*)

राजनैतिक तौर पर इस आजादी ने मनुष्य को छक्का बना दिया है। श्रम का अपमान, ईमानदारी का निरादर, कर्मठता पर व्यंग्य न जाने कितनी ऐसी स्थितियां हैं जो व्यक्ति-मन का तेज़ाब बन गई हैं। ऊपर से त्रासदी ये कि हमारे तथाकथित राजनैतिक आका हमें बंदर की तरह डुगडुग नचाते हैं –

"कुछ देश कें विषय में उनसे ज्ञात मत करो,
वे क्या जबाब देंगे सवालात मत करो।"
"गति क्या बढ़ेगी? रास्ते में बैठ जाएंगे,
सरकारी अश्व उनपे कशाघात मत करो।
उस खास आदमी के ही निर्देश हैं उन्हें,
हर आम आदमी से मुलाकात मत करो।" (*पृ. 45*)

यह देश हमारा है, हम देश के हैं, शासक भी हमीं शासित भी हमीं, तब दोषी कौन है? 'व्यंग्य वचन कौन कहे' में गुलाब वन के सत्तापाखियों पर ग़ज़लकार की चितवनें टेढ़ी हैं क्योंकि ये ही बबूल संस्कृति के जनक हैं –

"देश का भार क्या गली का भी/ उनसे होता न वहन कौन कहे
दी बबूलों को गुलाबों की जगह/ खूब है उनका चयन कहे न कहे।" (*पृ. 29-30*)

'जीने के सवालों का हल' खोजना ही आज जनसामान्य की थकी नियति का संघर्ष है। परिवर्त्तन की आहट उसे सुनाई दे रही है –

"पायेगा किसी दिन तो सही शक्ल आदमी
टकसाल में समय की उसे ढालते रहे।" (*पृ. 33*)
"जुड़ कर ज़मीन से जिये सामान्य ज़िन्दगी
हमको न गलत फहमियां, मुगालते रहे।" (*पृ. 34*)

प्राकृतिक आपदाओं की मार भी जनसामान्य को ही सहनी पड़ती है। कभी सूखा, कभी वर्षा और कभी तूफान-उसकी जिज़ीविषा-जीवट को निरन्तर चुनौती देते हैं। 'घर न रहा' मुक्तिका आम आदमी की इसी पीड़ा को झेलती है –

"छत बैठी, दीवारें टूटी, कोई खिड़की दर न रहा
अबके ऐसी बारिश आयी अपना कच्चा घर न रहा।" (*पृ. 13*)

बीसवीं शताब्दी की लकीरें आदमी के हाथों पर नहीं माथे पर खिंची हैं। उसके अस्तित्व की न कोई पहचान है न कोई महत्त्व-उपयोगिता। अनाचार, बर्बरता, शोषण, अपराध, घृणा, युद्ध आदि वृत्तियों से वह आतंकग्रस्त है। यही वजह है कि ईश्वर के अस्तित्व के विषय में भी शंका उत्पन्न हो गई है। सम्बन्धों में इतनी दरारें, घर के आंगन और देहरी में ही अन्तराल –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कुछ दरारें पड़ गई हैं आपसी सम्बन्ध में
देख घर की देहरी से दूर आंगन रह गया।" (*पृ. 16*)

'पद का पर्वत' (*पृ. 35*), 'सवालात मत करो' (*पृ. 45*), 'दफ्तर दफ्तर' (*पृ. 53*), 'लोग शिखरों से' (*पृ. 59*) आदि मुक्तिकाओं में सत्ता शोषित आम आदमी की ज़िन्दगी का प्रतिवेदन है। 'मित्रवर' मुक्तिका में बाड़ ही खेत को खा रही है –

"भेड़ों का चौकीदार बना खुद ही भेड़िया
बगुला ही मछलियों का मछेरा है मित्रवर।" (*पृ. 52*)

'बात कच्ची न रहे' मुक्तिका उद्बोधनपरक है। व्यञ्जना-शैली आकर्षित करती है –

"बात कच्ची न रहे पकने दे/ कंठ में देर तलक रूकने दे।
दर्द को पाल बड़ी ममता से/ स्रोत ऊर्जा का नहीं चुकने दे।" (*पृ. 55-56*)

व्यंग्य का तीखापन 'न गाओ तो ठीक है' (*पृ. 69*) मुक्तिका में है। व्यंग्य- वचनों का असर मन में जलन पैदा करने वाला है। घावों को नमक से गांठ बनाने जैसा।

आम आदमी की ज़िन्दगी एक यातना है। वह सड़क पह धूल फांक रहा है और उसके तथाकथित नुमाइन्दे मखमली कालीन पथ से होते हुए दरबार के मालिक एवं मनुष्य रक्त के आदी। इस संवादहीन स्थितियों के बावजूद कवि का आस्थापक्ष परिवर्त्तनों की आहट सुनता है –

"मूक करबद्ध रहेंगे कब तक/ आपके जुल्म सहेंगे कब तक...
लोग आक्रोश की भट्ठी में यहां/ व्यर्थ बुझने को दहेंगे कब तक।" (*पृ. 91-92*)

'खोज है' में व्यक्ति ज़िन्दगी के उन लम्हों की तलाश में है जो कुंठा वर्जनाओं से मुक्त हो, लम्बी बीमार उमर से अच्छे वे कुछ क्षण हैं जिनमें व्यक्ति अपने को पा सके, तनाव रहित होकर दुःखों को प्यार की शक्ति बना सके। प्रश्न मरीचिकाओं से घिरे जीवन का अनुभव बोध सार्थक-क्षणों की तलाश में कर्मशक्ति का इतिहास रचता चलता है। रचनात्मक इतिहास क्षणों की खोज यहां भी है –

"कहते हैं कि हर प्रश्न का अब हल करीब है
कर दे जो स्वप्न सत्य वही पल करीब है
हर बार की तरह न यह मरीचिका समझ
इस बार और दौड़ जरा जल करीब है।"

यही परिवर्त्तन की आहट है।

शाख-विटप

'परिवर्त्तन की आहट' के बाद भी 'लड़ाई बहुत लम्बी है।' पहली मुक्तिका की पहली ही बहर में ग़ज़लकार आम आदमी को ताकीद करता है कि अभी हथियार रखने का, कवच खोलने का समय नहीं आया है, अभी चौकसी, होशियारी, संकल्प-मन की आवश्यकता है। यह लड़ाई निराधार नहीं, अधिकारों की है, शोषण के खिलाफ है, उन तथाकथित नेताओं के विरुद्ध है जो आज जनतंत्र का सामन्त छत्र कब्जाये सत्ता-पदों पर कुण्डली मार कर तक्षक बने हुए हैं। जनतंत्र की विडम्बना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखिए ये नागवंशी कोबरा कुल स्वयं को सूर्य-पुत्र मानते हैं –

"जो तिमिर के वंशधर हैं धूप पहने फिर रहे
सूर्य के जो पुत्र उनके वस्त्र काले हैं विराट्।
सर्वहारा के दुःखों को वे पुनः बहला रहे
कुछ नये नारे उन्होंने फिर उछाले हैं विराट्।" (*लड़ाई लम्बी है : पृ. 15*)

अतिबौद्धिकता ने हृदय को दहशतजंदा कर दिया है। अमावसी चादर ओढ़ने के अतिरिक्त आज कोई चारा नहीं रहा। दुःशासनी वृत्तियां आज पुनः दुर्योधन बन कर फुंकार रही हैं। पांचाली के वस्त्रों पर उसकी कुदृष्टि पुनः बाज हो गई है (*पृ. 20*)। मातादीन चुप है, मौनपथ से होकर शोषण की त्रासदी झेलता प्रजातंत्र में पूंजीवादी रंग देख रहा है। धैर्य, सहनशीलता की पराकाष्ठा तक अभिशप्त जनसामान्य धरती बना कुचला जा रहा है और सत्ता कंस हंसी हंस रही है –

"कुछ न कहा है, कुछ न कहेगा मातादीन
सभी सहा है, सभी सहेगा मातादीन।" (*पृ. 25*)

लेकिन मातादीन के अलावा अनेक ऐसे भी हैं जो अपनी ओर से युद्ध नहीं घोषित करते किन्तु अपने ऊपर होने वाले अन्याय को भी वे चुपचाप नहीं सहते –

"अब ईंट के जबाब में पत्थर संभालिए
रखते नहीं हैं शेष किसी का उधार हम।" (*पृ. 55*)
"तूफान की ज़िद देख कर ही हम को जिद चढ़ी
फिर नाव समंदर में रहे हैं उतार हम।" (*पृ. 56*)

पुरुषार्थ इनके लिए औज़ार है जिसके बल पर ये अपने भाग्य की लकीरों को सुधारने का दम रखते हैं।

शायर कभी पराजय नहीं मानता फिर विराट् क्यों पराजित होगा। युद्ध अनिवार्य हुआ तो होगा ही। उसे कोई नहीं टाल सकता। अब विवाद खत्म होने को है। संग्राम की संभावनाएं निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। युद्ध जारी है उससे जूझना मानव की नियति है। इसीलिए ग़ज़लकार सावधान करता है –

"धूप रहते में जुटा लो रात की कंदील तुम
दोपहर है तो न भूलो शाम की संभावना।" (*पृ. 78*)

हृदय में पराजय के भाव न आये, इसके लिए वह मनोबल ऊंचा उठाये रखता है –

"देख रावण को प्रतिष्ठित तुम न हो चिंतित विराट्
बलवती होने लगी है राम की संभावना।" (*पृ. 78*)

चारों ओर का परिवेश, वायुमंडल में नर्त्तन करती हवायें क़िसी तूफान के आने का संकेत दे रही हैं। कवि अध्यात्म, विज्ञान, सृष्टि के नियमों का हवाला देते हुए मनुष्य को सुनहरे भविष्य के स्वप्न दिखाता है –

"हार थक कर सो न जाना ओ सृजन के देवता
नाश अपने आप में निर्माण का संकेत है।" (*पृ. 81*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घोर अन्धकार को चीर कर आने वाली प्रथम किरण ही दिनमान के उदय होने का सबसे बड़ा संकेत है (*पृ. 82*)। हम सब मुसाफिर हैं। आज आये कल चले जाएंगे किन्तु जो संघर्ष का, लड़ाई का पांचजन्य हमने फूंका है वह अनवरत गूंजता रहेगा –

"अनवरत गति की निरन्तरता यहां अनिवार्य है
हम भले रुक जायें यात्रा हर घड़ी हर पल चले।" (*पृ. 89*)

जब मनुष्य मन में कोई संकल्प धारण कर लेता है तब सांकलें अधिक देर तक नहीं रुकतीं, दरवाजे स्वयंमेव खुल जाते हैं (*पृ. 90*) और फिर मानव-जीवन तो सुख-दुःखों का सिलसिला है। सुख के बिना दुःख और दुःख के बिना सुख निस्सार है।

महानगरीय सांस्कृतिक प्रदूषण अपने पूरे जबड़े खोल कर धीरे-धीरे गांव की ओर बढ़ रहा है। 'मिल की चिमनी का धुआं' शहरी मानसिकता के ग्राफ में ग्रामीण परिवेश को निगलने को तैयार है –

"शहर का वैभव, विलासी सभ्यता, उद्दंड धन
गांव के तारुण्य को हर भांति बहकाने लगा।" (*पृ. 64*)

'कवि से सुन मन' 'जहां न पहुंचे रवि वहां पहुंचे कवि' की उक्ति को आत्मसात् कर कवि को सत्ता, पद, प्रतिष्ठा से ऊपर बताते हुए उससे नीर-क्षीर विवेक की अपेक्षा रखी गई है (*पृ. 85-86*)।

युगों-युगों से लड़ाई चलती आ रही है और चलती रहेगी। इसीलिए वह समय को तुला बना कर उससे गुहार करता है 'न्याय कर मेरे समय।' काल क्रूर, निष्ठुर यम के चरण हैं। अपनी गति से आगे बढ़ते हुए वह इतिहास रचता जाता है। प्रतीक्षा करना उसके स्वभाव में नहीं। उसकी भ्रू-भंगिमाओं में युग के व्यापक संदर्भ हंसते-रोते हैं। आज का युग जेट का युग है। तीव्रता तेज़ी कुछ ज्यादा है, मूल्यों का विघटन-गढ़न समय-तुला पर तुलने से पहले ही हल्का-भारी हो जाता है। काल-रंग भी आज के नियति शापित व्यक्ति की तरह द्रौपदी व्यक्तित्व हो गए हैं। एक खोल में रह कर भी एक-दूसरे से जुदा। एक हिस्सा दूसरे से अपरिचित, एक-दूसरे की टांग खींच कर नीचे गिराने को उत्सुक। इस द्रौपदी माहौल में किससे न्याय की उम्मीद की जाए। इंसाफ की इन गुहार-प्रतीतियों का रंगबोध समय की शिखर बोधी द्रुतगति से जुड़ा है। शोषित लाचारी बेबसी की समय चादर ओढ़ कर किशोरावस्था में ही विधवा हो गई है। अत्याचारों, अन्याय, वैषम्य का प्रतिकार करने के लिए किस दरबार में सिर कलम करवाये क्योंकि अपराधी ही न्यायाधीश बन कर जज की कुर्सी पर मुस्करा रहा है। 'हुक्म' मुक्तिका की बहरों में यही गुहार अरदास के रूप में कही गई है। कुछ आपदाएं प्राकृतिक हैं और कुछ खुद खड़ी की गयीं (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 16-18*)। यहां तक आते-आते विराट् का स्वर तीखा और पैना हो गया है। जीवन के प्रति वही दोहरी शैली, दोहरे मूल्य, दोहरे मानदण्ड, मृतकों की पूजा, जीवितों का अपमान आदि भाव-छवियों का गणित कमोबेश हर बहर, हर शेर में है। 'हमारी बस्ती में' (*पृ. 19-21*), 'राजा, सोना मत' (*पृ. 22-25*), 'दूबेजी' (*पृ. 67-70*), 'जमूरे' (*पृ. 17*) जैसी मुक्तिकाओं के हर शेर-बहर में एक सूत्र है जो युगीन सन्दर्भों को प्रतीकात्मक शैली में कहता गया है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"है आतंक निशंक, उग्रताधूम रही/ ले नंगी शमशीर हमारी बस्ती में।
गर्म हवा ही चलती है, सब भूल-चुके/ शीतल मंद समीर हमारी बस्ती में।"

आतंक और उग्रभावों का मानवीकरण साधारणीकृत शैली में है। 'नंगी शमशीर' हाथ में लेकर जिस प्रकार बनवीर कुमार उदयन को मारने आया था और राजमहल के सभी सुरक्षा सैनिक भयांकित होकर छिप गए थे उसी प्रकार आज आतंकवादी स्थितियों में उग्रवादी मानसिकता कब किसको मार दें क्या पता। 'राजा सोना मत' गीत जागरण-गीत है जिसमें बार-बार ख़तरों से आगाह करते हुए कवि सचेत करता है –

"ख़तरा है चहुं ओर कि राजा सोना मत
जाग रहे हैं चोर.....आंख लगी तो खड़ी फसल चर जायेंगे...
ये आवारा ढोर.....ये हैं नंदी बैल अड़ेंगे पग-पग पर
रखना पूंछ मरोर.....वे शीराजा बिखरा दें उसके पहले
अपनी शक्ति बटोर....कर ले यह रतजगा तपस्या पूरी कर
निकट आ रहा भोर कि राजा सोना मत..........।" (*पृ. 19-21*)

आर्थिक भ्रष्टाचार, दफ्तर, हड़ताल, हड़ताल के दौरान ताश आदि शब्द-चित्र 'दूबेजी' का अंक गणित है –

"दफ्तर की हड़ताल दूबे जी/ लाओ ताश निकाल.....
बोलो दफ्तर में कल कितने/ मुर्गे किए हलाल.....
गड्डी लेकर मौन हो गया/ था अफसर वाचाल....
मिश्रा जी ने बिल्डिंग तानी/ थी पैतृक घुड़साल.....।" (*पृ. 22-23*)

इन मुक्तिकाओं में पंजाबी लोकधुनों का स्पर्श है।

फल-पुष्प

विराट् मुक्तिकाओं की हर बहर तुकान्त है जैसे 'जल का भ्रम' (*लड़ाई लम्बी है : पृ. 61-62*) है के तुकान्त देखिए – जल का भ्रम है, सारा श्रम है, तम ही तम है, विषम है, निर्मम है, नियम है, क्यों कम है, कलम है। इसी प्रकार 'हमें निमन्त्रण नहीं मिला' (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 31*), 'कमाल करते हैं' (*पृ. 99*), 'यह व्यंजना नहीं' (*पृ. 44*), लेकिन 'न्याय कर मेरे समय' की अधिकांश मुक्तिकाओं का अन्तिम शब्द ही उसका शीर्षक है। जैसे 'भैया' (*पृ. 37*) मुक्तिका देखिए - 'करार है भैया गुहार है भैया, दरार है भैया, प्रहार है भैया।' इसी प्रकार 'साधो' (*पृ. 71*), 'डरते हैं' (*पृ. 28*), 'हमें क्या' (*पृ. 82*) आदि। एक तो ऐसी शैली ऊपर से व्यंग्य की तीखी मार और 'जमूरे' मुक्तिका तो सोने पे सुहागा है। हमारे देश में गली-गली, नुक्कड़ नुक्कड़ पर बन्दर, भालू, रीछ का खेल दिखाते हुए मदारी 'जमूरे' का खेल दिखाता है। इस प्रसंग को सड़क से उठा कर विराट् ने अपनी मुक्तिका का आगाज-मुख बना दिया है –

"ये नुक्कड़ बाजार जमूरे/ पीपल छायादार जमूरे
यहीं जमायें अपना मजमा/ चल हो जा तैयार जमूरे......
मुझको बंसी डमरू दे तू/ ढोलक को फटकार जमूरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राम-राम हिन्दू को मुस्लिम/ को सलाम दरकार जमूरे
ईसाई को गुडमार्निंग सिख/ वाहे गुरु, जयकार जमूरे...।" (पृ. 67)

पूरी मुक्तिका में लोगों के चेहरों पर नकाब है, नेता पदलोलुप और गद्दार है। शिक्षक, पत्रकार, पुलिस, कवि, साहित्य-समीक्षक, समाज-सेवक, न्यायाधीश, डाक्टर, धर्म के मठाधीशों आदि को व्यंग्य की तीखी कटार काटती जाती है और मुक्तिका की अन्तिम बहर में देश के लिए चिन्ता कवि के रचनात्मक सकार का निष्पक्ष बयान है –

'ये ही हालत् रही, देश के/ ठीक नहीं आसार जमूरे।' (पृ. 70)

'और सभी कुछ ठीक ठाक है' में भी विराट् ने सीधे सरल शब्दों में आर्थिक विपन्नता को खूबसूरती से चित्रित किया है। घर पर कुर्की का आना, आटे की पंजीरी फांक कर फाका करना, पूजाघर की चांदी वाली ठाकुर जी की बैठक-झांकी बिकना आदि होने पर भी सभी कुछ ठीक ठाक है।" (पृ. 98)

विराट् के अन्दाज़ेबयां में खारापन है। बिना परत चढ़ाये उसने कड़वी से कड़वी बातों को भी सहज होकर 'कबीर' बना दिया है। वक्त की टेढ़ी दुलत्तियों की कोड़ा-मार अभिव्यक्तियां इसीलिए चौबीस कैरेट है। लाक्षणिक वक्रता मुक्तिकाओं की उल्टी चाल को भी सीधा कर देती है। 'जमूरे' मुक्ति की आन्तरिक बुनावट का फैलाव-पट जितना गहरा-चौड़ा है, अभिव्यक्ति उतनी ही सहज और वक्र। अन्तिम बहर (पृ. 70) में उद्‌बोधन, आस्था, अन्तस् का रचनाशील द्वन्द्व और देश के प्रति मूल्य चिन्ता का थीसिस इनके ग़ज़ल व्यक्तितत्व को विशिष्ट बनाता है। ग़ज़लों के अन्तिम शेर पर गौर फरमायें –

"जिसके तल में छेद देश यह/ ऐसा एक जहाज है साधो।" (पृ. 72)

इसी पंक्ति में 'हमारी बस्ती में' (पृ. 18), 'राजा सोना मत' (पृ. 21), 'बड़ी प्रतीक्षा है' (पृ. 97) आदि मुक्तिकाएं हैं जो जीवन के छिद्रों को लीपती हैं, मर्म को कोंचती हैं। प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली होने के कारण सम्प्रेषण में तीव्रता है। अन्दर के पर्यावरण से ही बाह्य पर्यावरण प्रभावित होता है। रचना की प्रासंगिकता को ग़ज़लकार जीवन से जोड़ कर टूटे अर्थों को समावेशी गुंजन देता है –

"मुझसे लय ताल सभी छूट गये जीने के
मुझ को लय ताल सिखाजा, बड़ी प्रतीक्षा है... ...
एक दीपक से कई दीप जला लूंगा पर
एक दीपक तो जला जा, बड़ी....
मौत पैताने खड़ी है जो डराती है मुझे
मौत के डर को मिटा जा, बड़ी.......।" (पृ. 97)

'नर्मदा' मुक्तिकी को 'शिव-स्रोत' शैली में गाया जा सकता है। इसमें अर्द्ध वर्णों, द्वित्व वर्णों, पुरुष वर्णों और 'आ' की मात्रा के साथ-साथ अर्द्ध-विराम चिह्नों के अत्यधिक प्रयोग ने सम्प्रेषण क्षमता को बाधित किया है। प्रयोग दृष्टि से देखने पर इसे नव्य ग़ज़ल बोध कहा जा सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्धरणों पर दृष्टि डालें –

"नित्य नीरा अमृत जल स्रोतस्विनी है नर्मदा,
शिवमयी शिवसुता मेकल-नंदिनी है नर्मदा।
इन्दु के रस-बिंदु से उद्भूत यह सोमोद्भवा,
शांकरी, माहेश्वरी, शिवबोधिनी है नर्मदा।" (*पृ. 78*)

हिन्दुओं की सांस्कृतिक विरासत को विराट् की ग़ज़लों-मुक्तिकाओं ने बड़े मन से सहेजा-संवारा है। पौराणिक सन्दर्भों की छाया इनमें बड़े पैमाने पर है। हिन्दुत्व सुरभि इनके ग़ज़ल-संसार की विशिष्टता है जिसे साक्षी की आवश्यकता नहीं। इन्होंने हिन्दी ग़ज़ल का पल्लवन ही नहीं किया अपितु उसे उर्दू फ्रेम और रंगों से मुक्त कर हिन्दी के रूप-रंग से सराबोर भी किया। इन्होंने गीत को जितनी श्रद्धा से पूजा है उतने ही विश्वास से समकालीन हिन्दी ग़ज़ल की अंगुली पकड़ कर आम आदमी के बीच खड़ा कर दिया है (*दृष्टव्य : शिव बरूआ : हिन्दी ग़ज़ल के संस्कारी कवि : विराट् : साहित्य-सभा द्वारा अभिनन्दन पर विशेष : 19-12-88*)।

प्रेम आस्था की जन्मभूमि है और आस्था उसका संस्कार। प्रेम में हृदय-प्रतीतियां बुद्धि का ताप लेकर तपती हैं। यह वस्तुतः प्रेम का अग्नि-संस्कार है अन्तिम संस्कार नहीं। ताप उसे खरा करता है, 'भूमा' के सुख तक ले जाता है। शब्द मौन, गीत भजन और सांसें कनुप्रिया हो जाती हैं –

"शब्द सारे नमन हो गये/ गीत मेरे भजन हो गये,
सांस मेरी बनी कनुप्रिया/ प्राण मेरे किशन हो गये।... ...
प्रेम-मुक्तक बने स्त्रोत सब/ पाठ मेरे स्तवन हो गये,
प्रेम जब ऊर्ध्वगामी हुआ/ गेरुए सब वसन हो गये।"

'रूप की वर्तिका प्रिया, सृजन की स्मारिका, अमर-आख्यायिका है, कृष्ण-राधिका है'। दुःख-दर्द की विरह-प्रतीतियां ही ग़ज़ल की तीर्थ भूमि है। यही व्यथा-दर्द छन्द का पर्याय है –

"दर्द को छन्द कर लिया मैंने/ अश्रु आनन्द कर लिया मैंने
गीत दूंगा मैं आंसू लेकर/ एक अनुबन्ध कर लिया मैंने..
सांस मेरी सुजान बन बैठी/ मन घनानन्द कर लिया मैंने।" (*आस्था के अमलतास : पृ. 26*)

दर्द-कुंवर प्रेम की चिरता लेकर विराट् के रचना-संसार में व्याप्त है। सुर, लय, ताल के वेणु वनों से होता दर्द का कारवां विराट् की पोर-पोर में काबिज है। दर्द का आकुल सन्नाटा रग-रग को द्रवीय आचमन बना देता है। विराट् के दर्द-यज्ञ का अनुष्ठान समय के हर जर्रे को हृदय की तुलसी देकर बावरा बना देता है। यह एक तरह की अकुंठ प्यास है जो समुद्र के बीच रह कर भी प्यासी रहती है। विराट्-पीड़ा की इस आकुलता को महसूस करें –

"मेरी ग़ज़ल मरुस्थलों में सांस तोड़ते
प्यासे हिरन के कंठ की व्याकुल पुकार है।" (*लड़ाई लम्बी है : पृ. 48*)

यही कारण है कवि ने प्रेम से अधिक प्रेम के दर्द से नाता रखा है।

चन्द्रसेन विराट् ने उर्दू ग़ज़ल की ज़मीन तोड़ कर उसे हिन्दी का रचनाशास्त्र दिया है। उर्दू

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़लों में पांच, सात, नौ, ग्यारह शेरों का प्रावधान होता है और विराट् की ग़ज़लों में आठ, ग्यारह शेरों से भी अधिक शेर हैं, फिर इनकी ग़ज़लों में 'हाफराइमिंग' भी बहुत है जैसे 'प्रहार हम' की तुक 'धारदार हम' (*पृ. 55*) से और 'भाग न दम है' की तुक 'जल का भ्रम' (*पृ. 61*) से मिलाई गई है।

'मुहावरे' चन्द्रसेन विराट् का एक सशक्त शैल्पिक उपकरण है। इनके माध्यम से मुक्तिकाओं की अर्थ-व्यञ्जकता एवं सारगर्भितता बढ़ी है। थोड़े में बहुत कहा गया है –

'अब की आंधी आग रचेगी।' (*परिवर्त्तन की आहट : पृ. 9*)
'मरहम की जगह जख्म में भरता रहा नमक।' (*पृ. 49*)
'मुट्ठी में बांध लेने के यत्नों ने और भी,
पारे-सा ज़िन्दगी को बिखेरा है मित्रवर।' (*पृ. 52*)
'बिल्ली भी है घण्टी भी है कौन गले में बांधे पर।' (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 23*)
'तभी गलेगी दाल......।' (*पृ. 25*)
'अपनी मोटी खाल.....।' (*पृ. 57*)
'भीतरी सांठ गांठ है प्यारे।' (*पृ. 97*)
'खुद की नजरों में गिरा हूं।' (*पृ. 103*)
'हवा विपरीत है' (*कचनार की टहनी : पृ. 83*)
'रीढ़ ही टूट गई है अपनी' (*पृ. 48*)

ग़ज़लों में अनेक शब्द सूक्तियों-मुहावरों का रूप ग्रहण कर गए हैं –

'मरीचिका में तृप्ति खोजती/ व्यर्थ तृषा का सारा श्रम है।' (*लड़ाई लम्बी है : पृ. 61*)
'मृत्यु क्रूर है माना लेकिन/ जीवन भी क्या कम निर्मम है।' (*पृ. 62*)
'नाश अपने आप में निर्माण का संकेत है।' (*पृ. 81*)
'आज पैसा और पद सम्मान का आधार है।' (*न्याय कर मेरे समय : पृ. 87*)
'खून से सींचा गया है उम्र भर/ साधना का पेड़ फलना चाहिए।' (*पृ. 107*)
'विश्वासों की नींवों पर/ रखे गये निश्चय के पुल।' (*पृ. 108*)

हिन्दी की ग़ज़ल-भूमि तैयार करने वालों में चन्द्रसेन विराट् अग्रणी हैं। हालांकि विराट् की ग़ज़लें जटिल शब्दावली से मुक्त नहीं हैं फिर भी हिन्दी ग़ज़ल को प्रतिष्ठापित करने में इन्होंने नवीन रचनात्मक मान गढ़े हैं। ग़ज़ल की छन्द-योजना एवं शिल्प-संरचना को तकनीकी दृष्टि से समझ-बूझ कर आत्मसात करके उसे हिन्दी की पीठिका पर हिन्दी कविता के मूल स्वर एवं स्वाद से संयुक्त रखते हुए विराट् ने नये शिल्पगत, भाषागत एवं अर्थगत प्रयोग किए हैं। उधार के विद्रोह और नकली जनवादी स्वर तात्कालिक वाहवाही भले लूट ले लेकिन इस प्रकार की प्रवृत्ति हिन्दी ग़ज़ल को कालान्तर में मनुष्य के दुःख-दर्दों की जीवन्त-विधा बनने से रोकेगी। विराट् के इस दृष्टि बोध में हिन्दी ग़ज़ल का स्वास्थ्य और विकास निहित है। इसमें दूर तक कोई शक नहीं कि हिन्दी ग़ज़ल को प्रतिष्ठित, विकसित करने वालों में विराट् प्रथम पंक्ति में हैं। कोलाहल शान्त होने पर जब हिन्दी ग़ज़ल का वस्तुपरक इतिहास लिखा जाएगा। तब विराट् का प्रदेय केन्द्र में होगा – इससे इन्कार करना मूर्खता होगी। नवगीत के स्वयंभू प्रतिष्ठापक शम्भूनाथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिंह की शिविरबद्ध असाहित्यिक गुटपरस्ती की तरह यदि हिन्दी ग़ज़ल के सफर को इतिहासबद्ध किया गया तो निश्चित रूप से नवगीत की तरह हिन्दी की ग़ज़ल-साधना का अपमान होगा।

अन्तर्दृष्टि : लोहे की सितार पर विराट् गीत स्मिति

नवगीत एवं हिन्दी ग़ज़ल के संवर्द्धन एवं पोषण में चन्द्रसेन विराट् का विराट् योगदान है। उनके नाम के साथ विराट् विशेषण सार्थक है क्योंकि नवगीतकारों में नवरचना के प्रति इतना साग्रह कोई गीत-कवि नहीं है। विराट् ने जिस विराट् गति से लिखा उतना लिखना हर किसी के लिए कठिन है। विराट् का वैशिष्ट्य यह है कि उनमें धैर्य सर्वाधिक है। वे लम्बे गीत और ग़ज़ल लिखते हैं और पाठक को ऊब नहीं होती। गीत-ग़ज़लों के तुकान्त में विराट् ने मैथिली बाबू को भी पीछे छोड़ दिया है। सटीक और सुन्दर तुकान्तों ने उन की प्रतिभा का चमत्कार प्रदर्शित किया है।

विराट् भावना प्रवण नवगीतकार है। आज मनुष्य जिस मानसिक यातना और त्रासद स्थिति से गुजर रहा है वह मनुष्य ही विराट् के गीत का प्रतिपाद्य है, आम आदमी की समस्याओं का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन कर उसे सात्विक वाणी देना विराट् का प्रातिभ सौन्दर्य है। उनके समस्त नवगीतों में इसी मनुष्य की पीड़ा गूंजी है। उन्होंने ऐसे आदर्शोन्मुखी नवगीतों की रचनाकर साहित्य की सोद्देश्यता के दायित्व की पूर्ति की है। इन्होंने मनुष्य को विराट् फलक पर आंका है। मनुष्य-पूजा का भाव इनके नवगीत एवं ग़ज़लों का प्राण है। इन्होंने मनुष्य को कहीं भी गिरने नहीं दिया। आधुनिक जीवन की विडम्बनाओं और विषमताओं का चित्रण कर इन्होंने अपने कवि कर्म का पवित्रता से पालन किया है। इस में पवित्रता को विशेष रूप से जोड़ा गया है क्योंकि विराट् ने स्वयं को विज्ञापित और प्रतिष्ठित करने के लिए अन्यथा प्रयत्न नहीं किए। जो सहजता पूर्वक मिला उसे स्वीकारा। समाज में रचना की सम्प्रेषणीयता के प्रश्न को लेकर चिन्तित होना स्वाभाविक प्रक्रिया है। नवगीत और हिन्दी ग़ज़ल की प्रतिष्ठा के लिए विराट् को अत्यधिक व्याकुल देखा गया है। अपने संकलनों की भूमिकाओं और रचना-संसार में विराट् ने अत्याधुनिक विभीषिकाओं की ओर संकेत किया है। इन्होंने अपनी ग़ज़लों एवं नवगीतों में इन्हीं व्यथा-प्रतीतियों के शिरा जाल बिछाये हैं।

विराट् का गीत-ग़जलीय व्यक्तित्व दो वर्गों में विभाजित है। इन्होंने जिस विराट् वैचारिक प्रबुद्धता से मानव के वर्त्तमान को चित्रित किया है, उसी प्रतिभा से इन्होंने हृदय के कोमल प्रणय-व्यापार को भी गीत स्वर दिया है। इनमें शृंगार की मादक अभिव्यक्ति है। नवगीत का आकाश विराट् है, उस आकाश में कोमल भावनाओं की रश्मियों के रथ पर यात्रा करने वाला शीतल चन्द्र है चन्द्रसेन विराट्। विराट् ने लोहे के सितार पर धुन छेड़ी है और मशीनी कोलाहल के बीच गाया है। वे नवगीत और ग़ज़ल के अलमस्त गायक हैं। एक कल्पनाशील नवगीतकार के रूप में उनकी प्रतिष्ठा असंदिग्ध है। वे मंच से भी जुड़े हैं, सहज सम्प्रेषणीयता की दृष्टि से उनके गीत-ग़ज़ल जनमानस को प्रभावित करते हैं। उन्होंने गीत, नवगीत, ग़ज़ल और मुक्तक रचना के क्षेत्र में अपनी विशिष्ट पहचान बनायी है। यंत्र में बंधा विराट् का जीवन हृत्तंत्री पर भावुकता के गीत गाता है, गाता चला जाता है, वह गीत की सीमा नहीं देखता। भावना की अतिशय तरलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत-ग़ज़लों को उबाऊ होने से बचाती है। भाव, भाषा का समृद्ध भण्डार है। नवगीत की प्रकृति प्रत्येक पंक्ति से झांकती है। विराट् को अभी तक समालोचकों की विराट् दृष्टि से नहीं देखा गया, जो नवगीत के भाव-विस्तार के लिए नितान्त आवश्यक है।

गीत-परम्परा में विराट् की सर्वोपरि उपलब्धि ग़ज़लों और शेरों को हिन्दी के संस्कारों में ढाल कर एक नया अन्दाज़ देना रहा है। ग़ज़ल की पीठिका में उन्होंने 'मुक्तिकी' की घोषणा की और उसे बंधे-बंधाये कथ्य से हटा कर नए-नए क्षितिजों में बिखेर दिया। अब वह साकी और शराब की चीज़ नहीं रही बल्कि अब वह मयख़ाने से बाहर निकल कर नयी सोहबत में आयी। विराट् ने 'निर्वसना चांदनी' की भूमिका में लिखा है –"युगीन सामाजिक और राजनैतिक पहलु जो मुझ तक अपने सहज अनुभूत रूप में आए मैंने बांधने का प्रयास इस छंद के माध्यम से किया" (*भूमिका, पृ. 6*)। मुक्तिकाओं में कवि का अन्दाज़ इतना सरल, ग्राहक एवं दृष्टि-सम्पन्न है कि अच्छे-से-अच्छा बुद्धिवादी भी गीतों से लाख एलर्ज़ी होने के बावजूद इन्हें पढ़ने के बाद गुनगुनायेगा और इच्छापूर्वक उन्हें अपने आस-पास के परिवेश में भी पहुंचाएगा –

"खुद को आदमी का रक्त पच सकता नहीं
वह फूट निकलेगा बदन से शोषकों से क्या कहें।" (*पृ. 102*)
"खुद को निरामिष कह रहे भेड़ियों से दोस्त
भोले जरूरत से अधिक मृग-शावकों से क्या कहें।" (*पृ. 9*)
"सुख का सूरज अस्त हो गया/ मन दुःख का अभ्यस्त हो गया।" (*पृ. 11*)
"एक सन्नाटा शहर पर जग गया/ जो जहां पर जिस जगह था थम गया।" (*पृ. 12*)
"तोड़ ही डाला दुःखों ने आदमी/ निश्चय गया, हर प्राण गया, संयम गया।"

विराट् के गीत-ग़ज़ल संसार में मनुष्य के आधुनिक जीवन के तनाव, कुंठायें, संशय, अभाव एवं उसके सभी संवेग उनके सही परिवेश में कलागत ताज़गी और सहजता के साथ अभिव्यक्त हुए हैं (*दृष्टव्य : गीत - 1, पृ. 56*)। विराट् के गीत-ग़ज़ल इस बात के गवाह हैं कि हर बार जीवन सम्पूर्णता के साथ उनके गीतों-ग़ज़लों की चौखट में समाया है। विराट् की 'मुक्तिकाएं' पाठक के लिए न केवल गुनगुनाने की विवशता बन जाती है बल्कि वह इन पर सोचने-समझने के लिए एक ज़मीन भी तैयार करने पर विवश हो जाता है। 'मुक्तिकी' के नाम से ग़ज़लों का यह पुनर्संस्कार विस्तृत विश्लेषण की मांग करता है, चूंकि इनमें विशेष कर गीतकार विराट् की पहचान सुरक्षित है। बनी-बनायी लीक को तोड़ना यह अपने आप में जोखिम है और तोड़ कर उसे अपने नज़रिये से स्थापित करना बेहद मुश्किल और इस गीतकार बनाम शायर ने ये दोनों काम बड़ी बुलन्दी से किए हैं। गीत-ग़ज़ल का इतिहास विराट् के नाम के बिना अपूर्ण है।

नवगीत-मन्दिर की स्वरमयी आरती : कुंअर बेचैन

कभी कभी कोई रचना किसी के जीवन को नया मोड़ दे देती है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो उसके भविष्यगत यशोभाव के लिए भूमिका बना देती है। मधुशाला ने बच्चन को शीर्ष लोकप्रियता दी और तदुपरान्त प्रतिष्ठा। प्रायः यशस्वी कवियों के यशोवर्द्धन में कोई रचना कारण सिद्ध हुई। गीत कवि कुंअर बेचैन का गीत-जीवन मंच से प्रारम्भ हुआ। मंच से एक नया स्वर,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नयी धुन, नयी भंगिमा लेकर एक गीतकार ने गाया –

"बिछुआ जितनी दूर कुंआरे पांव से
उतनी दूर पिया तुम मेरे गांव से।"

इस गीत का प्रवाह, कैशोर्य प्रणय की स्निग्धता, प्रतीकगर्भा उपभित्तियां और नये संगीतमय स्वर श्रोता को आकर्षित करने के लिए काफी थे। संग्रह में यह गीत भले ही 81वें पृष्ठ पर हो परन्तु यह सत्य है कि इस दूरी के गीत ने बेचैन को नवगीत के समीप ला दिया। कुंअर के गीतों में जहां प्रणय की विकल रागिनी ने स्वर छेड़ा है वहां अनुभूति का तादात्म्य उसी दूरी के गीत जैसा हुआ।

जीवन के दोनों पक्ष हैं - व्यक्ति भी और समाज भी। व्यक्ति की दृष्टि से कहा जाय तो बेचैन के गीत किसी अपरिचित प्रणयिनी के प्रति समग्र समर्पण के भाव से सिक्त हैं। विशेषता यह है कि इस समर्पण की मानस-वेला में गीतकार ने व्यक्ति में समाज के सुख-दुःख, अभाव, पीड़ा यातना, व्यस्तता आदि वर्त्तमान की सभी संवेद्य मानसिकता को व्याप्त कर उसे स्पृहणीय बना दिया है। बेचैन अपने गीत में अपने लौकिक नाम को सार्थक करते हैं। बेचैनी व्यक्ति की हो या समाज की - इस राष्ट्र की प्रगति में बाधक है। व्यक्ति की पीड़ा ही राष्ट्र की शक्ति को क्षीण करती है। व्यक्ति अपनी पीड़ा जिस अपरिचित से व्यक्त करता है, या अपनी पत्नी से आज के जीवन की अभावग्रस्त बेचैनी को भावना के स्तर पर व्यक्त करता है वही गीत के फलक को विस्तार देता है। व्यष्टि से समष्टि की ओर पीड़ा का विस्तार पाना रंग, पं. रमानाथ अवस्थी, मधुर शास्त्री आदि गीतकारों का सबल गीत पक्ष है। इस पक्ष की मूर्त्त ध्वनि बेचैन में गुंजित है।

कुंअर की रचना-यात्रा के रोशनी-पत्र हैं - 'पिन बहुत सारे', 'भीतर सांकल : बाहर सांकल', 'उर्वशी हो तुम', 'झुलसो मत मोर पंख' (गीत-नवगीत संग्रह), 'शामियाने कांच के', 'महावर इन्तजारों का', 'रस्सियां पानी की', 'पत्थर की बांसुरी', 'दीवारों पर दस्तक' (ग़ज़ल संग्रह)। 'नाव बनता कागज' ग़ज़ल संग्रह प्रकाशन के अन्तिम चरण में है। इन कृतियों के अतिरिक्त 'नदी तुम रुक क्यों गई', 'सूखा रंग हूं मैं' (कविता संग्रह), 'द्रौपदी' (महाकाव्य), ' मरकत द्वीप की नील मणि' (उपन्यास) एक लघु कथा संग्रह, एक एकांकी संग्रह, 'पंक्तियां सब अग्निवीणा हैं', शीर्षक से गीत संग्रह, कुंअर बेचैन की ग़ज़लें, 'कुंअर बेचैन की रुबाइयां और मुक्तक निकट भविष्य में प्रकाशन के लिए तैयार हैं। अनेक सम्मान एवं पुरस्कारों से सम्मानित कुंअर ने 'कोख' और 'कसक' फिल्मों के गीत भी लिखे हैं। कैसेट में कुछ ग़ज़ल-छन्द इन्हीं के स्वर में रिकार्डिड हैं। अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में संकलित कुंअर बेचैन की साहित्य साधना एवं रचनाशीलता में सक्रियता एवं नैरन्तर्य है।

अधर-अंगार

नवगीत-मन्दिर की स्वरमयी आरती कुंअर एक रचनाशील, अतिरिक्त सजग, प्रतिभा सम्पन्न, सरगम गुंथे कंठ के भावना प्रवण, सार्वभौमिक जीवन की गतिविधियों से परिचित, मितभाषी और राष्ट्र की धड़कन के गायक कवि हैं। संसार में जहां भी कोई अमानवीय क्षण आया उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेचैन ने आर्द्र स्वर में गाया। राष्ट्र को जिस भाव की आवश्यकता हुई बेचैन ने अपनी व्यक्तिगत बेचैनी भूल कर उस आवश्यकता की पूर्ति करना अपना कर्त्तव्य समझा। राष्ट्र को भावनात्मक दृष्टि से संपुष्ट करने के लिए कुंअर ने सदा नये प्रतीक और नये स्वर खोजे। नवीनता के प्रति रचनाशीलता का यह सत्य आग्रह उन्हें गीत, नवगीत, और ग़ज़ल के इतिहास-पथ पर द्रुतगति से आगे ले जा रहा है। उनकी सोच और अभिव्यक्ति की शैली दोनों ही श्रोता और पाठक को मुग्ध करते हैं। हिन्दी का गीत जो बहुत दिनों से अलसा रहा था, वह जागता सा लगा। बेचैन ने बहुत कम समय में पुष्कल यशो राशि अर्जित की है। यह प्रसन्नता की बात है कि वे नवगीत की चर्चा में आवश्यक ही नहीं, उल्लेखनीय और अनिवार्य विषय होते जा रहे हैं। नवगीत के सम्बन्ध में उन्होंने अपने चिन्तन का परिचय भी दिया है। नवगीत के वे प्रतिनिधि गीत-कवि हैं। कुंअर में प्रतिभा-प्रदत्त अद्‌भुत सर्जन-क्षमता है। इस सृजन में स्वयं को दुहराने की कलाबाजी नहीं है। शब्दों की बुनावट, भावों की आवेगमयी अभिव्यक्ति, कला के करतब और प्रस्तुति की अभिनव शैली जैसे गुणों ने डॉ. कुंअर बेचैन को अपार लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा दी है, उन्हें पाठकों और श्रोताओं का असीम स्नेह मिला है। गीतकार के रूप में वे जितने मंच के लिए आवश्यक हैं उतने ही साहित्य के लिए भी। आत्मविश्वास और माधुर्य का ममत्व इनके गीतों को श्रोताओं और पाठकों के अधरों का अंगार बना रहा है। उनके विवेचनपरक पांडित्य की छवि भी इधर दृष्टिगत हुई है। हिन्दी में ऐसा सश्रम गीतकार कम देखने में आता है अन्यथा जिन्हें हम गीतकार के रूप में आदर देते हैं उनमें ऐसे गीतकार अधिक हैं जो पिछले तीस साल से अपने पुराने गीतों को सुना कर अपनी जेब भर कर घर लौटने में अपने दायित्व का निर्वाह समझते हैं। ऐसे गीतकार गीत के विकास की चिन्ता नहीं करते। गीत के पक्षधर और पोषक होते हुए भी सर्जना के क्षेत्र में आलस्य और ओढ़े हुए दंभ में अपने गीत जीवन के कारण गीत को दिशा नहीं दे पा रहे। बेचैन नये से नये सोच के साथ गीत को निरन्तर बढ़ावा दे रहे हैं। साहित्यिक गोष्ठियों में सक्रिय भागीदारी से गीत का स्वर मंडित करते हैं। गीत के विकासात्मक कार्यों को प्रोत्साहन देकर परामर्श भी देते हैं। ये सब प्रत्यक्ष व्यवहार और साक्षात्कार के आधार पर कहा जा रहा है। कई गीतकार ऐसे हैं जो केवल पैसे के लिए ही भागीदारी करते हैं अन्यथा वे किसी साहित्यिक कार्यक्रम में नहीं देखे जाते। आज का युग ऐसा है कि यहां जो संचार माध्यमों का सही उपयोग नहीं करेगा उस की कृति लोक-प्रीति तक नहीं पहुंच पाएगी।

कुंअर के संस्कार में उर्दू साहित्य की भनक है। इन्होंने ग़ज़ल के व्याकरण का गंभीरता-पूर्वक अध्ययन किया है। ग़ज़ल के सभी अंग-प्रत्यंगों के सम्बन्ध में उनकी विस्तृत जानकारी है। फ़ारसी के महान् विद्वानों ने ग़ज़ल को जो शख़्सियत दी है आज उस में इजाफ़ा हो गया है। हिन्दी ग़ज़ल ने उसे विकृत किया है। सिनेमा की तर्ज़ ध्यान में रख कर लोग हिन्दी के नाम पर सिनेमाई ग़ज़ल सुना रहे हैं और लूट खसोट रहे हैं। दुष्यन्त ने निश्चय ही ग़ज़ल को नया रुख दिया। उसे आम आदमी के दर्द से जोड़ा। दुष्यन्त से पहले भी ग़ज़ल लिखी और गाई गईं परन्तु दुष्यन्त को एक विशेष शैली के कारण अतिरिक्त ख्याति मिली। आज यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि हिन्दी के गीतकार बहुत अच्छी ग़ज़लें कह चुके हैं। यह बात सही है कि आज ग़ज़ल के साथ भी वही हो रहा है जो गीत के साथ हो रहा है। दोनों पर सिनेमाई गीत-ग़ज़लों का प्रभाव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सिनेमा की धुनें अपना लेना पाप नहीं है परन्तु जब ऐसा लगे कि हिन्दी ग़ज़ल के नाम पर फ़ारसी गा रहा है तो अत्यन्त पातक प्रतीत होता है। न जाने कैसे और क्यों कुंअर बेचैन में पिछले दिनों गले में मुरकीं लाने का लालच बढ़ रहा है। वे गीत से अधिक संगीत को महत्त्व देने लगे हैं। जबकि कुंअर का गीत कुमार नहीं है, वह परिपक्वता की ओर है तो उसे संगीत का छिछोरापन नहीं मिलना चाहिए। संगीत जिनका क्षेत्र है वे उसके माधुर्य को स्वरों में बांधें। गीत प्रस्तुति में सादगी अधिक मोहक होती है। बच्चन और नीरज में यह अत्यन्त मुखर अन्तर है। अनुभूति की चुभन बच्चन के गीतों में है, नीरज में चकाचौंध है, भावों का उद्दीपन है, रसमयता नहीं है। बेचैन यदि गलेबाजी की ओर ध्यान देने लगे तो सर्जना का सौन्दर्य सत्य और शिव से वंचित रह जायेगा।

द्वार : संज्ञा सर्वनाम से संधि समास

किशोर मन की स्वप्निल रंगीनी, प्रकृति के प्रति जिज्ञासामूलक प्रश्न समरस होकर एक अजीब और अलग दुनिया का रचना शास्त्र रचते हैं। जीवन का भाष्य इस रचनायित दुनिया का व्याकरण नहीं होता। मन की सतह पर उतरता मोरपंखी भावनालोक अपनी चुंधियाहट से तन के पोर-पोर को बींध देता है। कोमल तनी हुई नसों में दौड़ता रक्त प्रवाह मन पर झरती ओस से परिणय कर प्रकृति की अनोखी ऋदम को बांधने के लिए लयमुखी हो जाता है। थरथराती कल्पनाएं अल्पना रचाती भाववीथियों में नाव खेने लगती हैं, सब कुछ पाने की ललक आवरणों को फाड़ कर मुकुर हो जाती हैं। धुंधले दर्पण को साफ करने के लिए प्रश्न-मरीचिका मन को कस्तूरी तलाश के लिए भटकाती है। कुंवर बहादुर सक्सेना उर्फ कुंअर बेचैन के रचना-संसार का गीत-बीज किशोर मानसिकता की इसी भावभूमि पर बीजित है जो क्यारी से खेत और खेत से पकती ज़मीन बन गया है। (*दृष्टव्य : उर्वशी हो तुम : पृ. 25*) 'कच्ची आयु के इसरार, जिज्ञासाएं, कल्पना जीवी स्वप्नों की रंगीन-मिज़ाजी, प्रकृति को नज़दीक से जानने की तीव्र वांछा आदि को कालपुरुष समेटता रहा। कालचक्र की पीठ बड़ी कठोर है, मुख पर तैरती स्मिति का दूसरा रुख बिल्कुल उलट है। स्थितियों की झुलसनों ने हृदय-भूमि पर अंकुरित धूपीली हरी दूब को झुलसा दिया, बुद्धि ने ओट देकर उसे मरने तो नहीं दिया लेकिन जीवन से जुड़े असंगत परिवेश ने किशोर मानसिकता के रचना शास्त्र में नये अध्यायों को जोड़ा। जीवन-व्याकरण को व्याख्यायित किया। अब तक जीवन संज्ञा-सर्वनाम विशेषण-भर था अब सन्धि-समास हो गया। शब्द और वाक्य खरोंचदार बुनावट में बदल गए, खुरदरी गद्यात्मकता ने गीत-जीवन पर हमला बोल दिया। जीवन की मुहावरेदानी लोकोक्ति दर्शन के पथ पर चल कर संघर्षदर्शी हो गयी। जीवन लचीला अर्थकोणी हो गया है। व्यक्ति, परिवेश समाज की नुकलाहट घिर्री पर लट्टू सा घूमता जीवन मोहताज़ दिखने लगा। मन के संवाद स्वगत-कथन हो गए। आचरण-व्यवहार एकांकी से पूर्णकालिक नाटक हो गया। जीवन के उर्वशी सूत्र पुरुरवा के हाथों से फिसल गए। समूचे अस्तित्व को दरारती इस अर्थ-व्यंग्य फिसलन ने नस-नस में 'पिन' उतार दिए। 'पिनों' की इसी चुभन ने जीवन को समय के मुताबिक परिभाषित किया। मन एक टूटे मकान के रूप में साक्षात था और उसके सभी कक्षों में अनचाहे पाहुनों का कब्ज़ा हो चुका था। एक में घुटन बैठी है तो दूसरे में आक्रोश तीसरे में व्यंग्य है तो चौथे और पांचवें में क्रमशः 'एकान्त' और 'दिशा'। इसी में दो कक्ष और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हैं जिनमें से एक में बिम्ब अपने पूर्ण विकास पर है तो दूसरी में शृंगार अपने यौवन पर (*पिन बहुत सारे : पृ. 5*)।

घुटन, आक्रोश, व्यंग्य, एकान्त, संघर्ष, यन्त्रणा आदि का जीवन्त दस्तावेज़ यह संग्रह (*पिन बहुत सारे*) वस्तुतः मनुष्य-नियति की तल्ख़ कड़वाहट का एक अध्याय है। सामाजिक धुरी की केन्द्रीय बल्ली घुन खाकर भी दुहरी नहीं होती। मध्यवर्गीय मानसिकता की इसी कशमकश में जीवन-मृत्यु का रहस्य छिपा है। मध्यवित्त मानसिकता के जीवट-जिज़ीविषा का व्याकरण अपना है। 'एक मध्यमवर्ग के परिवार की अल्प मासिक आय सी' आज की ज़िन्दगी अपने अन्दर पिनों की खान छिपाये है, इसीलिए 'दोस्ती' का अर्थ 'चुभना' हो गया है और 'वेतनों का चुकना।' इस चुभन-चुकन के लिए 'हैं ऋण बहुत सारे' (*पृ. 11*)। जीवन की इन तल्ख़ प्रतीतियों में जीवन ऐंठता जाता है। गीत-कुंअर इन्हीं ऐंठनों को बेचैनी से गांठ लगाता है। इन गांठों में हम भी बंधे हैं और तुम भी। समय-सत्य के इन्हीं हस्ताक्षरों में हमारे मन की स्याही है। घनी अमराइयों में कलियों की सुरभित मुस्कान से खेलता अतीत जीवन वर्त्तमान की अंधेरी खाइयों की मरोड़दार पगडण्डियों पर थका-थका-सा सरक रहा है। इस सरकन में दुःखों-अवसादों की गहरी घाटियां कैक्टसमुखी हो जाती हैं। वसन्त की छुअन मन को गीला भी नहीं कर पाती कि बेमौसम पतझर जीवन का अंग बन जाती है। अंगों की चटकन व्यालमुखी होकर प्यासे खेत-सी कट जाती है। बिवाइयों में तिनका-तिनका नीड़ चुनती पीर रोम-रोम पसर जाती है। यह कुबड़ी पसरन यौवन की स्निग्धता को झुर्रीदार बुढ़ापे की भूमिका बना देती है। जीवन कि इस कोढ़मुखी पृष्ठभूमि को कवि का रचनाकार मन नव्य उपमानों से और भी तल्ख़ बना देता है। ज़िन्दगी एक स्वेटर बन कर रह गई है –

"हमारी उम्र है स्वेटर/ जिसे दुःख की/ सलाई ने बुना है
हमारा दर्द है धागा/ जिसे हर प्रीतिबाला ने चुना है
कई शहनाइयों के बीच/ अपनी ज़िन्दगी/ जैसे अभागिन की चिता हो।" (*पृ. 17*)

कवि-मन अभिव्यक्ति का अभिशाप ढोने को विवश है। इस विवश बोध को व्यक्त करने के लिए उपकरण भी पैने और मगरमच्छ के जबड़े से सख्त क्रूड चाहिए। अन्यथा समय और स्थितियों के जबड़ों में फंसी कराहती विवशता नागफनी-सी कैसे चुभेगी। क्योंकि अब परम्परित उपकरण आधुनिक संवेदना को खरा-खरा कहने में असमर्थ और अशक्त हो चुके हैं। वे पुराने चावल नहीं हैं जिनकी महक समय के साथ-साथ दुगुनी महकती है। काल के छाज में फटक कर निकली जीवन संचेतना भरी-भरी आंखों से विवशता को कलुषता की गोद में खेलते देखती है। फटकन-विवशता के इसी कलुषता-बोध को कवि की गीत-भंगिमाएं खूबसूरती से पेश करती है। समस्याओं से रूबरू होने का दर्द संत्रास में बदल जाता है। जीवन-राशन की मिलावटी गेहूं सा बेमज़ा हो जाता है जब देह पर कसी पैबन्द लगी पोशाकें सिर छुपाने को छत मांगने लगती हैं। कंकरीट के जंगलों में भटकता हुआ हृदय का रस नगरीकरण की भेंट चढ़ जाता है। महानगर की सौगात का एक कोण उभर कर चेहरा हो जाता है। देखिए इस चेहरे को, जिसमें से न जाने कितने चेहरे निकल कर स्वप्नदंश हो जाते हैं –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"नयनगेह से निकले आंसू ऐसे डरे डरे
भीड़ भरा चौराहा जैसे कोई पार करे
मन में है एक हजारों जिसमें बैठे हैं तूफ़ान
जैसे एक कक्ष के घर में रुके कई मेहमान।" (*पृ. 13*)

दूसरी ओर भूख-डायन कलेजे को कुटर-कुटर हलाल करने को तैयार हैं –

"माटी के पांव फटे/ तरुवर के वस्त्र
छीन लिए सूखे ने/ फसलों के शस्त्र
हाय भूख-डायन को/ आज कौन जीते।" (*पृ. 14*)

अजीब समय है, गंध कंटीली हो गई है, कांटे आधुनिक सभ्यता की मुस्कान। जन आक्रोश की विभीषिका राजनीतिक अस्थिरता के बीच गुब्बारे की तरह फूल कर कुप्पा हो गयी है, बड़ी से बड़ी चोट सामान्य व्यवहार का तकाज़ा। जीवन के एस्थेटिक बोध सामाजिक व्यूह में उलझे विपरीत गामी पथिक हो गए हैं। परिस्थितियों के उलट-फेर ने मनुष्य जिज़ीविषा को कलंकित कर दिया है। जब चाहे, जहां चाहे, जैसा चाहे कांटे फूलों को बींध देते हैं और सब कुछ समुद्र की सतह की भांति शान्त, मर्यादित दिखाई देता है। समुद्र-गर्भ में कितना विचलन है जानते हुए भी कोई नहीं जानता। मुखौटेधर्मी सभ्यता संस्कृति ने परत पर परत चढ़ा कर पीर के गंधक पर्वत बना दिए हैं। कृत्रिमता, दिखावा, प्रदर्शन, अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा आदि ने आत्मा की पिघलन को इस्पात बना दिया है। जीवन के जितने भी द्रवपूरित पल छिन थे अब पाहुन बन कर आते हैं, स्थायी निवास तो अतिबौद्धिकता की प्रच्छन्न आधुनिक देह में 'इड़ास्म' का है। हृदय के 'तानपुरे' पर कसे तार अब भजन-पद से झंकृत नहीं होते, अश्लील, अमर्यादित कलंकित सुरों से खेलते फिल्मी गीतों की गुनगुनाहट से चमत्कृत होते हैं (*पृ. 25*)। महंगाई की चुड़ैल ने मन को जंगल राग बना दिया है। दैनन्दिन आवश्यकताओं में उलझा मानस-मन तृतीय महासमर की छाया से उतना आतंकित नहीं है जितना महंगाई के विस्फोटक अग्नि पर्वत से। यह बिना अग्नि-ताप के ही सुलग रहा है। कुआं खोद कर प्यास बुझाने की नौबत है। दुर्योधन की तरह आंख निकालती महंगाई दुःशासन बन कर भरे परिवार के बीच तन के साथ मन के वस्त्र तक उतारने को कटिबद्ध है। इस नंगई विभीषिका से रक्षा करने वाला कोई कृष्ण नहीं। आधुनिक जीवन के इस नियति-श्राप को ढोता सामाजिक इस द्रौपदी अपमान को पचा कर अपनी ही नजरों में वनवास काटने को विवश है। आचरण विवश है (*पृ. 27*), व्यवहार विक्षुब्ध। सत्य के कवच में धर्म के नाते अर्द्धसत्यी युधिष्ठिर मौन-मुख है, महाबाहु पार्थ, गदाधर भीम समय के ज़ुल्मों को सहने के लिए न चाहते हुए भी तैयार है, ऐसे में हर आंख अपमानित द्रौपदी और प्रतिशोध गंधक बन जाए तो आश्चर्य क्या? क्योंकि यह बीसवीं सदी है (*पृ. 26*) जिसमें जीवन की मेज से खुशियां फिसलती रहती हैं, झूठ के दहेज से खुशियां ब्याही जाती हैं (*पृ. 28*)। इसीलिए आदमखोर मांस लुब्ध वृत्तियां इस 'जग-होटल' में नर-रक्त को सुरा समझ कर एक-दूसरे को पी जाती हैं और डकार भी नहीं लेती (*पृ. 30*)। शायद बड़ी मछली के छोटी मछली को निगलने का सिद्धान्त इसीलिए है कि हर व्यक्ति अपने आपको आधुनिक व्यवस्था और सामाजिक स्थितियों में आक्रोशधारी होकर भी प्रतिष्ठित कर सके। अपने आप को न्याय पथ का पथिक सिद्ध कर सके।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'हम सब काशी के पंडे' (*पृ. 35*), 'प्राण-लिपिक से' (*पृ. 36*), 'मटमैले मेजपोश' (*पृ. 37*), 'ज़हर उगलते कीड़ों को' (*पृ. 38*) आदि नवगीत हमारी इस मानस वृत्ति के व्यंग्य-द्वीप हैं जिन के चारों ओर का द्रव जल खारा, उथला, मटमैला, तेज़ाबयुक्त हलक फूंकने वाला है। 'झूठे सब गिनतियां पहाड़े' (*पृ. 42*) गीत कबूतर और बाज को लड़ाने वाली नीति से प्रेरित राजनीति का अभिशप्त रोदन है, जो सामाजिक इकाई के केन्द्र में मनुष्यता के मूल्य-मानकों से लोकतान्त्रिक सेज पर जनवधू से राजनीतिज्ञों की कानूनी सुहागरात है। हिप्पी संस्कृति की निरंकुशता, स्वच्छंदता, उच्छृंखलता अतिबौद्धिक आधुनिक आचरण की सभ्य मुद्रा है। बंधनहीनता अराजकता की पाशविक क्रीड़ा है। कायदे, कानून, मर्यादा, अनुशासन से ऊपर उठ कर पशुवत् आचरण ही 'हिप्पी संस्कृति' की कल्चर गर्भ है। इस कीचड़-गर्भ में पलता-पुसता भ्रूण भारतीय मानसिकता को पाश्चात्य उपहार है। इस उपहार की आड़ में आधुनिकता की तथाकथित बंधनहीनता व्यक्तिगत जीवन तक ही सीमित नहीं है, पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक राष्ट्रीय फलक-गर्भ में कुकुर मुत्तों की तरह पुस रही है। इस फलती-फूलती संस्कृति का खुलेआम संभोग-नर्त्तन विनाशकारी है। कवि समय की इस विद्रूप मुद्रा का क्या करें? समय को देख कर कवि का अन्तर्मन आधुनिकता के इस विष-ज्वार को पीने में ही अपनी भलाई देखता है। इसीलिए वह अपने गीत-पुत्र को 'हिप्पी' होकर आधुनिक रंग में लय हो जाने का मशवरा देता है –

"ओ गीत पुत्र मेरे/ तू जा/ हिप्पी हो जा...
आजादी में जन्मा/ संयम की बात न कर
मत मान/ कोई बन्धन/ तू हिप्पी है आखिर
थक जाये तो जाकर/ तू आंख मूंद सो जा।" (*पृ. 39*)

'एकान्त-कक्ष' में भीतर और बाहर की ख़ौफनाक, दहशत फैला देने वाली स्थितियों ने धूप-चांदनी, मित्र-शत्रु, हृदय-बुद्धि आदि की पहचान ही खत्म कर दी है। अब सोने-चांदी की तिजोरियों का वज़न न्यायधारी हो गया है, अहसासों से लबरेज़ मन बंधुआ मजदूर। मनुष्य, उसकी अस्मिता क्या राष्ट्र की सुरक्षा तक अब सिक्कों के तराजू पर हल्की पड़ गई है। गतिशील परम्पराएं भी अब ठहरा हुआ पानी बन गई हैं। 'ओ मेरे द्वारपाल' (*पृ. 54*) में गीत-मन कुंअर ने इसी अन्तर्वेदना को बड़ी बारीकी से व्यक्त किया है। 'छंद-श्रमिक' के साथ गीत में 'छंद' का मानवीकरण है जो मनुष्य की अन्तर्चेतना की मुकुर जिज़ीविषा का अक्षत रचना व्याकरण है और रहेगा –

"ओ मेरे गीतों के श्रम/ पाल न अपने मन में अब तू
व्यर्थ चले जाने का भ्रम.....
शब्द-समाज साथ हैं तेरे/ तेरी साथिन रही कलम।" (*पृ. 64*)

'बिम्ब' कक्ष में 'बीज गणित-सी शाम', (*पृ. 15*), 'वर्षा दिन : एक आफिस' (*पृ. 73*) आदि गीतों में बिम्ब, प्रतीक, उपमा और रूपकों की कुशल-रोचक संयोजना है –

"आज न आई आशुलेखिका/ कोई किरण-परी
विहग-लिपिक ने आज न खोली/ पंखों की छतरी
सी-सी करती पवन/ पिच गई स्यात् कहीं उंगली।" (*पृ. 73*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'श्रृंगार' कक्ष का प्रथम गीत कुंअर बेचैन की मानस-गूंज है। रहस्य-छाया लिए लय, ताल, तुक, पुनरुक्ति, अन्त्यानुप्रास नाद और लोक-संगीत का वन्दन राग इस गीत को जन-हृदय के तानपुरे पर पूरी कसावट के साथ अपने रंग में रंग कर पर्व-पवित्रता देने वाला है। यह गीत कुंअर की गीत-साधना का प्रथम द्वार है जिसने मंच पर उसके कवित्व-गीतत्व को सार्थकता और शिखर दिया –

"जितनी दूर नयन से सपना/ जितनी दूर अधर से हंसना
बिछुए जितनी दूर कुआंरे पांव से/ उतनी दूर पिया तुम मेरे गांव से।" (*पृ. 81*)

'पिन बहुत सारे' के गीत वस्तुतः यथार्थ की पथरीली जमीन को तोड़ने वाली छैनियां हैं जिन्हें शिल्पकार की हृदयगत भट्ठी में तपा कर गढ़ा और संवारा गया है। परम्परागत मुहावरों और शब्द-प्रयोगों के प्रति नव्यबोधी आचरण गीतकार की मानस-भूमि को आधुनिकता के ताप से जोड़ता है। असंगत विद्रूपताओं को तीक्ष्ण व्यंग्य प्रहारों से घिस कर जीवन की बारीक कताई कवि की अन्वेषक दृष्टि को सामने लाती है। कवि अपने इस संकलन से संभावनाओं के खुले आकाश का संकेत देता है। 'पिन बहुत सारे' के रूप में गीत का यह पहला चरण ठोस और संकेतगर्भी है।

घर : तिनका तिनका नीड़

कुंअर बेचैन का गीत निम्न मध्यवर्गीय परिवार की अनुभूतियों व संवेदनाओं से उपजा है। अपने गीत की मूलभूमि को संकेतित करते हुए कुंअर बेचैन तथाकथित आधुनिकता की अन्तर्मुखता को परिभाषित करते हैं - "भौतिक सभ्यता व्यक्ति को जड़ता की पूजा सिखा रही है। चेतन उसके लिए उपेक्षा की वस्तु है। मेरा गीत बदलते हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवेश की भंवरों में भावों और विचारों को गोताखोर बनाता रहता है और इसी बहाने इनके मैल को साफ़ करते हुए उन्हें निखारता रहता है... मेरे गीत को कल्पना से प्यार है....कल्पनाओं की छवि तथा इन सबकी छवि में कोई अन्तर नहीं।" कवि की मूल संवेदना रिसते रिश्तों का दर्द है। "आधुनिकता के पथरीले मौसम में रिश्तों की महक हाथ से छूटती जा रही है, सम्बन्ध पथरा रहे हैं, संवेदनाएं शून्यता के घेरे में बंद होना चाह रही हैं, छलकन रेत में डूब रही हैं, चेहरे सपाट होते जा रहे हैं" (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. VIII*)। पारिवारिक और सामाजिक रिश्तों का बिखराव, टूटन, अवमूल्यन कवि-हृदय को मथते हैं। कवि-चेतना गांव-माटी में रंग रसी हैं। महानगर की खौलमुखी जीवन-शैली उसे रास नहीं आ रही। गांव का मीठापन, सहजता, एक-दूसरे के सुख-दुःखों को बांटने की ललक, खेत, मेढ़, चौपाल पर बतियाती हुक्का गुड़गुड़ाती ज़िन्दगी, घूंघट की ओट से झांकती नेहभरी जिज्ञासाएं, अपने पराये से ऊपर उठ कर एक-दूसरे के हो जाने का नैतिक बंधन महानगर के प्रदूषित पर्यावरण में आकर दम तोड़ देता है। भाव-उछाह वस्त्र उतार कर फैशन हो जाता है। गांव की गलियों में लोकगीतों का-सा सहज आनन्द महानगरीय चकाचौंध से चुंधिया कर वामाचारी हो जाता है। बोलों में आत्मीयता की घुलावट नगरीकरण की आबो हवा से नमी लेकर लोमड़ी की तरह स्वार्थ सिद्धि के मुहाने तलाशने लगती है। गांव की सिंह गर्जना महानगरों की पात-चबाती बकरी समान हो जाती है (*भीतर सांकल बाहर सांकल : पृ. 13*) इसीलिए महानगरीय सभ्यता में सांस लेते सम्बन्ध कवि को व्यापारिक अधिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होते हैं। कवि का आग्रह है कि रिश्तों की आंच महसूस करने वाले सम्बन्ध घर से आत्मा-प्राण की तरह जुड़े होते हैं ऐसे रिश्तों को दुकान नहीं 'घर' दिखलाना चाहिए (*पृ. 19*)। झूठ, प्रदर्शन दिखावे की मनोवृत्ति ने मानवीय रिश्तों की चेतना को झुलसा दिया है। रिश्तों में व्याप गये ठण्डेपन ने सहोदर सेतुओं की नीवों को दरका दिया है। व्यावसायिकता खून में रेंगने लगी है, स्वार्थ वृत्तियों ने अपाहिज बना दिया है। संवेदनाओं को उल्लास बनाते पर्व-त्यौहार पनघट नहाती इच्छाएं, सावन के झूले, राखियों के धागे, रक्षित वचन, भावनाओं का गत्यात्मक सलोनापन, बहनों की दुआएं, आपसी चौरा चौरी, नेह उमंगी बोल, आंगन आंगन झूम घघरे, चिकोटियां काटती परिहास बिखेरती सख्य मण्डलियां, पीहर-ससुराल के संस्मरण, देवरों की चुहल छेड़ें, नन्द-भौजाई के दीठ-शिकवे, सास-ससुर के स्नेह ताने, 'घर' के हर कोने को जानने की जिज्ञासा, साजन की नमक-मिठास, चूल्हे की रोटी का स्वाद-छौंक, रम्भाती गायों की पुकार-पुचकार, फुदकते-बछड़ों से धमा-चौकड़ी, आस-पास की शोख-शरारत, निगाहों की स्मृतियां, लहंगे-चोली के भार से दबी महावर-मेंहदी आदि के रंग बेमौसम हो गए। इस बेमौसम बेमज़ा ज़िन्दगी का पर्यावरण ही वैज्ञानिक भौतिक उन्नति का वाचक हो गया। महानगरीय सभ्यता की चकाचौंध कच्चे घर की कच्ची दीवारों पर वह स्वयं तो क्या दृष्टि टिकाएगा उसकी बेजान जड़ टाई भी टंगने से इन्कार करती है। कच्ची दीवारों वाला कच्चा घर माता-पिता की साधना-भूमि है। वह ईंट-गारे से बना हुआ मकान मात्र नहीं है, उनकी जीवन-यात्रा का सुखद सोपान है वह, किन्तु, भौतिकता का ज्वार, युग की चकाचौंध का कुहरा उसे ज्योति से अन्धकार, चैतन्य से जड़ता की ओर धकेल रहा है। कभी द्वार की सांकल, मां-चूड़ियों की खनक, पिता की खांसी में भी लय थी लेकिन आज जीवन की लय खो गई है। वातानुकूलित बैठकों, शयन-कक्षों ने उस लय-ठनक को गायब कर दिया है। 'भीतर सांकल : बाहर सांकल' के गीत मानव-मन के भीतर की सांस्कृतिक धरोहरों परम्पराओं के साथ होने वाली नाइंसाफी की खीज और घुटन है। 'सतियों' का मिटना, गंगाजली का औंधा पड़ना, शंख की किरचें बिखरना कवि-मन को स्वीकार नहीं। कवि तो लोहे की टंकार में भी 'लय' महसूस करता है किन्तु पता नहीं इस मनुष्य को क्या हुआ जो 'श्रद्धा' के प्रतिकूल 'इड़ा' के संग अपनी मुक्ति देख रहा है। पारिवारिक संवेदना की आंच को सहेजते-खोजते कवि के अनेक गीत इस शहद-संवेदना को पाना चाहते हैं जो बूंद-बूंद फूल-पंखुरी का दान दिया हृदय है। इन समर्पण संवेदनाओं का संस्पर्श आह्लादकारी एवं उत्तेजक है। 'तू मेरे घर में रहने वाली एक नदी' (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 32*), 'और मैं लाचार पति निर्धन' (*पिन बहुत सारे : पृ. 19*), 'रिश्तों को घर दिखलाओ' (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 38*), 'पत्नी से' (*पृ. 32*), 'मध्यवर्गीय पत्नी से' (*पृ. 34*), 'चिट्ठी है किसी दुःखी मन की' (*भीतर सांकल बाहर सांकल : पृ. 31*) जैसे गीतों में पारिवारिक सन्दर्भों और सम्बन्धों की टेसू रंग तलाश है जो तन का मैल नहीं उतारते अपितु मन को भिगोते-रंगते हैं। इन गीतों में भीगे मन का विस्फोट है शहरी तन का काया रंग नहीं, ये गीत मनगंधी है देहगंधी नहीं। इन मनगंधी गीतों के सूत्र आत्मा से जुड़े हैं, अपना फैलाव कर खेत, क्यारी, खलिहान, चूल्हे, पनघट से जुड़ कर जीवन का संघर्ष करना चाहते हैं। तथाकथित महानगरीय सभ्यता संस्कृति को नकार कर चौपाल को ज़िन्दा रखना चाहते हैं। ज़िन्दा रखने के इच्छा-बिम्ब की निम्न-मध्यवर्गीय बेबसी देखिए –

"क्या कहा/ है आज पप्पु का जन्मदिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तुम सुनो, यह बात पप्पु से न कहना
और दिन भर तुम उसी के पास रहना
यदि करे तुमको परेशां मारना मत
और हां, तुम भी कहीं मन हारना मत
कल पराजय के जलधि से मैं निकालूंगा विजय कुछ....।" (*पृ. 28*)

'दर्शकों तुम न रहना भ्रमों में' गीत भी इसी मानसिकता का खूबसूरत इच्छा-बिम्ब है। मानव के जीवन में आज दुःख, संघर्ष, पीड़ा संकट, यन्त्रणा इतनी अधिक समा गई है कि हास्य रस भी संकट में पड़ गया है। औरों को हंसाने के लिए अभिनेता को मंच-नेपथ्य से हंसना है लेकिन उसकी नियति रोती है क्योंकि जीवन के जुए को कन्धे पर रखे-रखे वह हंसना भूल गया है -

"मैं जो नेपथ्य से हंस रहा हूं/ यह हंसी मेरे मन की नहीं है
गुलगुली करके मेरे बदन में/ मुझे जबरन हंसाया गया है।" (*पृ. 50*)

'कन्धों पर हैं गिद्ध दृष्टियां' गीत में कवि ने जीवन को टूटे हारमोनियम की संज्ञा दी है जिसमें मकड़ी का जाला पुरा हुआ है। वर्त्तमान जीवन की असंगतियों और दुविधाओं ने जीवन के अर्थ ही भुला दिए हैं –

"कहीं जीवन बबूल है
आंखों में किरकिरी धूल है।" (*पृ. 38*)

चुनरी के छिद्रों को छुपाने के लिए उस पर कब तक बेल-बूटे काढ़े जायेंगे – कवि को इस तरह के प्रश्न परेशान करते हैं। सौन्दर्य-प्रसाधनों की पर्त्तों के बीच छिपी झुर्रियां चेहरे की शिकनों को कब तक युवा बनाए रखेंगीं। इस मुखौटेधारी ज़िन्दगी की तपन अन्दर तक फूंक देती है। इस फुकन से निजात पाने के लिए ही कवि का रचनाशील मन संकेत गर्भी लय को ताल के साथ बांधता है –

"है जैसा भी स्वर तेरा/ स्वाभाविक सरल
मत पिला उसे तू व्यर्थ/ बनावट का गरल।" (*पृ. 42*)

बेलगाम पारे सा चंचल मन मनुष्य की सारी पोल बेखौफ खोल देता है। अन्दर की छटपटाहट, भीतर के उफान से बचा नहीं जा सकता। चेहरे पर झलकती भाव रेखाएं उसके अन्दर का मुकुर बन जाती हैं। हम अनेक बार अनचाहे उस वृत्त में घिर जाते हैं जिससे बचने का हर सम्भव प्रयत्न करते हैं। बाह्य स्थितियों से तो व्यक्ति बच सकता है लेकिन मन पर लगी चोटों के निशान कैसे छुपाएं? देह-कवच में धड़कते हृदय की माप बहुत गहरी है –

"लेकिन यह डाली जो गुलाब वाली/ इसको शूलों की
'नोंच' मारती है!" (*पृ. 60*)

व्यक्ति-मन की इस तड़पन को 'नावें' गीत में कवि और भी मार्मिक व्यञ्जना देता है –

"नाव का तो धर्म है तिरना/ कब उसे रुकना यहां आता?
रुक गयी तो कांपती है खुद/ चल पड़ी तो नीर थर्राता!
मीन-सी अब छटपटाती है/ जाल-से जल में बंधी नावें!" (*पृ. 75*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तूफान के बाद एक अजीब सी खामोशी चहुं ओर छा जाती है उसी खामोशी को 'पिंजरा डोलता है' (*पृ. 71*) गीत के माध्यम से कवि ने अभिव्यक्त किया है। 'महानगर एक रेखाचित्र' (*पृ. 71*) नीरसता, शुष्कता का जीवन्त चित्र है। हर एक शब्द के बाद पूर्णविराम। आज के 'रैप' म्यूज़िक की भांति यह बिल्कुल नया प्रयोग है। महानगरों की ज़िन्दगी में गीतात्मक लय नहीं रही। वह कैसे गद्यात्मक हो गई 'रेप' म्यूज़िक से सटीक उदाहरण और क्या हो सकता है। कवि महानगरों की प्रौढ़ता, संवेदनहीनता को अलंकार, नाद, तुक से विहीन खुरदरे शब्दों में पिरोता है। आफिस का चित्र हो या सुलगते सपनों की आंच में हाथ तापते हुए सामाजिक की गडड्मडड् छवि हो- सभी एक बिन्दु पर आकर एकरूप हो जाते हैं। इस गीत में युग की समूची संवेदनहीनता को कवि ने पूरी फोर्स से सम्प्रेषित किया है। एक-एक शब्द फौलाद को काटने के लिए पड़े हथौड़े के समान है। मानव >कनकरथी मानव अन्धकार को ज्योतिर्मय करने को संकल्पित है किन्तु सांकल की एक बड़ी फैहरिस्त उसको घेरे हुए है। कवि यद्यपि उसे सावधान करता है - 'पांव चलना होशियारी से' (*पृ. 80*) क्योंकि यदि मानव ने खाइयों के साथ, समय के साथ चलने का अभ्यास नहीं किया तो उसकी अस्मिता खतरे में पड़ सकती है। अपने को सुरक्षित रखने और भविष्यगत संकल्पनाओं को परवान चढ़ाने के लिए हमें समय के दिए हुए मुखौटों को पहनना पड़ेगा नहीं तो हम नंगे हो जाएंगे और समय कोड़े फटकारता हमें पीछे छोड़ कर आगे बढ़ जाएगा। गीतकार का कहना सही है कि उनका गीत 'सामाजिक समझ को अपने व्यक्ति के दृष्टिकोण से आंकता रहता है और कभी व्यक्ति की समझ को सामाजिक के दृष्टिकोण से। यही क्रम बराबर बना रहता है। वह दूसरों की आशा बनता है, व्यक्तिगत सन्दर्भों से उनसे आशा नहीं करता किन्तु सामाजिक सन्दर्भों में तो वह दूसरों से आशा करता ही है' (*पृ. 9*)।

कुंअर बेचैन के गीतों में व्यक्ति ने कम 'परिवार' ने अधिक अभिव्यक्ति पायी है। वह आज जैसा आणविक परिवार भी हो सकता है और आज से पचास वर्ष पूर्व का संयुक्त परिवार भी। परिवार व्यक्ति के निर्माण में एक अहम् भूमिका अदा करता है। शिशु की पहली गुरु मां होती है। उसके व्यक्तित्व के सभी लोकमांगलिक पहलुओं का विकास परिवार की पाठशाला में ही होता है। प्रेम, त्याग, कर्त्तव्यनिष्ठा आदि के संस्कार व्यक्ति पारिवारिक पाठशाला में रह कर ही ग्रहण करता है। प्रेम की विशद् सूक्ष्म व्याख्या का उद्‌गम परिवार ही है (*पृं. 14, 27, 28, आदि*)। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की जन्मस्थली परिवार ही है। मां, पिता, बहन, भ्रातृत्व, प्रिया, पत्नी, बंधु-बांधव अनेक रूपों में व्यक्ति अपना प्रसार करता है। सम्बन्धों का समुद्रवाही यही विस्तार काल और भौगोलिक सीमाओं को लांघ कर करुणा रूप हो जाता है। हमारी संस्कृति का मूलभाव सर्वेभवन्तु सुखिनः.......वसुधैव कुटुम्बकम् का यही वाच्यार्थ है। सबकी अपनी-अपनी जगह है अपना-अपना महत्त्व। कड़ी कड़ी जुड़ कर बूंद बूंद कलश हो जाती है। स्नेह भीगा मां का आंचल, पिता के वात्सल्य में अनुशासन-प्रियता, बहन द्वारा कलाई बंधन, भाई द्वारा शपथ-वचन, संगिनी में अर्द्धनारीश्वर की ध्रुव सत्य परिकल्पना, सख्यभाव का तर्पण, बड़ों के प्रति विनम्रता, नेहभीगा मन (*दृष्टव्य : झुलसो मत मोरपंख : पृ. 34*) आदि सभी प्रेम की अन्तर्लीला के सांवरे रंग है जिनमें हर व्यक्ति रंगा है, खुशी-खुशी बंधा है। कवि का रचनाशील मन व्यक्ति और परिवार के आत्मिक रिश्तों को वैचारिक सुदृढ़ता से जोड़ कर हृदय के महत्त्व को स्थायित्व देता है। काल पुरुष द्वारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्देशित परिस्थितियों की जकड़बंदी में घिरा मानव आज सबसे अधिक इन्हीं रिश्तों को भूल रहा है। कवि के गीत इन रिश्तों की आग को बुझने नहीं देते। व्यक्ति को उसकी कर्म चेतना से जोड़ कर कुंअर के गीत उन सुप्त चिन्गारियों को हवा देने वाले हैं जो बधिक समय ने अपनी राख के नीचे दबा रखी है। रिश्तों का आखेटक समय मनुष्य को इतना अवकाश ही नहीं देता कि वह अपनी आत्मीय भूमि से जुड़ कर अपनी अलग पहचान कायम करे। समय और स्थितियों की क्रूरता के बीच पिस रही संवेदनाएं दम तोड़ देती हैं। इन संवेदनाओं को जिलाए रखना ही कुंअर के इन गीतों का उद्देश्य है।

व्यक्ति और परिवार का संधिस्थल है 'घर'। 'तिनका-तिनका नीड़' की कर्मचेतना सभी पारिवारिक सदस्यों की भागीदारी का सुनिश्चित प्रमाण-पत्र है। घर ईंट, मिट्टी, गारा या चारदीवारी नहीं है, घर की दीवारें हमारी आत्मीयता और भावनाओं के बल पर टिकी होती है। 'घर' (*पृ. 27*) 'बांसुरी के स्वरों' जैसा है जिसके स्वर 'दूर रहकर भी सुनाई देते हैं और बंद आंखों से वह दिखाई देता है। जीवन के कर्मक्षेत्र की व्यस्तता हमें घर से दूर बेशक ले जाए लेकिन इसके 'कक्ष, आंगन द्वार, नन्हीं छत की स्मृतियां हमारे मन-सागर को निरन्तर मथती रहती हैं। घर गृहस्थ-आश्रम की साधना-भूमि है। प्रिया संग गृहस्थ साधना ही व्यक्ति को सन्तति के रूप में अक्षत रखती है। प्रिया स्नेह-सूत्रों को प्रगाड़ता देती है। वह स्वयं में एक नदी है जो अपने आंचल में सन्तति-लहरों को समेटे हुए है –

"तू मेरे घर में रहने वाली एक नदी/ मैं नाव
जिसे रहना हर दिन/ बाहर के रेगिस्तानों में
नन्हीं बेसुध लहरों को तू/ अपने आंचल में पाल रही
उनको तट तक लाने में ही/ तू अपना नीर उछाल रही
तू हर मौसम को सहने वाली एक नदी.......।" (*पृ. 34*)

सहकर्मिणी यदि नदी है तो पुरुष नाव है जिसे घर-बाहर रेगिस्तानों में भी तपना-विचरण करना है। नारी धूप आग को पीकर भी हर मौसम में झरझराने वाली बहती शीतल द्रवधारी अमृतपयस्विनी एक नदी है लेकिन पति एक काष्ठ है जिसे धूप भरे दालानों में सूखना है।

कुंअर बेचैन का कवि पारिवारिक सम्बन्ध सेतुओं को पूरी शिद्दत से जोड़े रखना चाहता है, यद्यपि समय की आधुनिक भंगिमाओं और मुद्राओं से वह बखूबी परिचित हैं। गीतों में एकरस बिम्ब-प्रतीक उन स्थितियों की निमर्मतापूर्वक छिलाई करते हैं जो इन सम्बन्धों को टूटन के कगार पर ले आए हैं। कवि महसूस करता है कि सांस्कृतिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों पर तथाकथित आधुनिकता का मुलम्मा पूरी तरह चढ़ चुका है। दिखावा और प्रदर्शन हमारा स्वभाव बन गया है। सुन्दर चांदी की राखी महत्त्वपूर्ण नहीं है। वह धागा जो कच्चा होने के बावजूद कलाई पर बंधकर इस्पात हो जाता है। आधुनिकता और अतिबौद्धिकता ने इस इस्पात को पिघला कर आज मात्र औपचारिकता बना दिया है –

"मन से न बांध पाई रिश्ते गुलाब जैसे
ये राखियां बंधी हैं केवल कलाइयों पर।" (*भीतर सांकल बाहर सांकल : पृ. 17*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नई तहज़ीब, सभ्यता ने रिश्तों को आज बोझ बना दिया है। चुक गया आदमी आज कानों से देखने और आंखों से सुनने लगा है। पाश्चात्य औद्योगिकी और विज्ञान ने जीवन के मुहावरे पूरी तरह बदल दिए हैं। जीवन के शब्दकोश में अब 'बेटा' 'बैसाखी' नहीं 'कर्त्तव्य विमुख, उत्तराधिकारी मात्र है। ऐसा लगता है जैसे 'बर्फ़ नदी में चंदन सुलग उठा हो' (*पृ. 17*)।

संवेदनहीनता, रिक्तिबोध, सपाट स्याह चेहरे, अवसादयुक्त शून्यता, धन का मानक, सिक्का-खनन, भारी भरकम पद, विशेषणयुक्त नाम, संवादहीनता, अन्तर्विरोधी व्यक्तित्वहीनता, नेतायी आचरण, कर्महीन व्यवहार है। वह भीतरी सांकल है जिसको हम आज सार्थक कर रहे हैं। निरंकुश पारा मन बंधने को तैयार नहीं। कुंअर बेचैन के गीत इन्हीं वृत्तियों से जूझते हैं। अन्दर का पर्यावरण बाहरी परिवेश के अनुकूल है। कवि की रचनाशीलता मानव की उन भीतरी सांकलों को तोड़ना चाहती है जिसने आदिम परिवेश की रचाव स्थितियां निर्मित कर दी हैं। कुंअर की गीत रचनात्मकता उन मानस झरोखों को खोलना चाहती है जिनसे होकर ताज़ी हवा अन्दर प्रवेश कर सके और व्यक्ति हृदय को भूल कर मात्र बुद्धि के प्रति समर्पण कामी न बने। जीवन आज बीजगणितीय पद्धति से बदलता जा रहा है। चारों ओर हिंसा, आतंक, अशान्ति, अनुशासनहीनता, अराजकता का बोलबाला है। साम्प्रदायिक वैमनस्य, जातिगत सत्ता समीकरण, मण्डलवाद, सामाजिक व्यवस्था को पूरी तरह निचोड़ने में लगा है। कवि की यही मूल्य-चिंता है –'धूप के दिन आ गये हैं/ और बादल दूर हैं।' आशा-आस्था सूर्योदय की प्रतीक है। एक ही जगह ठहरना- ठिठकना बुद्धिमानी नहीं है, इसीलिए कवि गीत के अन्त में सूर्योदय का संकेत देता है –

"कैद के वातावरण को/ मुक्ति का अब मोड़ दें
और उचकें, और उचकें/ और सांकल तोड़ दें
क्या हुआ जो हाथ छोटे/ और सांकल दूर है।" (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 71*)

भोर : धूप की उंगलियां

मनुष्य बुद्धि, चिन्तन, हृदय की अगम परम्परा से जुड़ा है। यदि इस परम्परा को आज आधुनिकता ने अपहृत भी कर लिया है तो सीधी-सी बात तो समझ में आनी चाहिए। पक्षियों पर नज़र डालिए, अगर नीड़ के ही तिनके चुभने लगेंगे तो वे बेचारे कहां जायेंगे लेकिन वे उस चुभन को बर्दाश्त कर अपने पर्यावरण को संतुलित रखते हैं –

"पंख घायल थे मगर उड़ना पड़ा
दूर के आकाश से जुड़ना पड़ा।" (*पृ. 73*)

कवि का गीत-मन पक्षियों के ब्याज से बहुत कुछ कह देता है। पर्यावरण-परिवेश को अपने अनुकूल बनाना कठिन नहीं है, यदि संकल्प-चेतना सूर्यमुखी हो –

"टेढ़ी होने लगें/ सरल रेखाएं, तो -
उनसे कोई सुन्दर, अनुपम चित्र बना।
बिखरे रंग अगर/ तो उनको भोर समझ
दुःख को - हृदय-नयन की/ काजल-कोर समझ
अगर नयन-घट/ आंसू ही छलकाएं तो
उनको कोई खुशबू देकर इत्र बना...।" (*पृ. 94*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षरित होते मूल्यों के बीच कवि की गीत-शक्ति इसीलिए 'मोर पंख' को सम्बोधित है। पतनगामी मानव द्वेष, विद्वेष, ईर्ष्या, अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा, हृदय पीड़ित वैचारिक दरिद्रता, विपरीत गामी आचरण व्यवहार, आदि के रास्ते चल कर बेशक जंगल के दूसरे छोर तक चला जाए, कवि मोरपंख को नहीं झुलसने देता। उसका संकल्प चेता मन आशा की डोर को मजबूती से पकड़े है –

'झुलसो मत मोरपंख/ सतरंगे बने रहो!' (*पृ. 23*)
'ओ हरे अन्तिम पात! मत झरना।' (*पृ. 95*)

कवि की अन्तर्चेतना का यह स्वर उन सभी को सम्बोधन है जो जीवन समाज के सकार मूल्यों की रक्षा करने वाले हैं। इस सम्बोधन में आस्था, विश्वास की मूल्य रचनात्मकता का आलोक बोध है जो गीतकार के मूल्य-चिन्तन को साहित्य की 'सहितता' से जोड़ता है –

"लाख हो पतझर/ लेकिन काम ये करना/ डाल से –
ओ हरे अन्तिम पात! मत झरना!... ....
तू हवाओं में/ ठुमकना, झूमना, हिलना
धूप हो या चांदनी/ सबसे गले मिलना
भीगना, पर नयन में बरसात मत भरना/ डाल से –
ओ हरे अन्तिम पात! मत झरना!" (*पृ. 95*)

'मोरपंख' और 'अन्तिम हरा पत्ता' ही वास्तव में वह बीजाक्षर गीत-मंत्र है जिसकी लय संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त है। इस लय को संजोना, पाना और मनुष्य की संवेदन-भूमि पर बीजित करना ही कवि की सकार दृष्टि है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों-विरुपताओं से उपजी पाषाण-जड़ता से कवि-चेतना पूरी तरह परिचित है शायद इसीलिये भोर का सूर्य अपनी उष्णता हमें नहीं प्रदान करता। कवि उसे भी सम्बोधित करता है –

"भोर के सूर्य!
ऐसे न भूलो हमें।
धूप की उंगलियों से ही छूलो हमें।" (*पृ. 62*)

सांस्कृतिक परम्पराएं जो रूढ़ होकर सामाजिक बोझ बन गई हैं वही हमारी भीतरी सांकले हैं। सामाजिक, आर्थिक और आरोपित व्यवस्थाओं की भीतरी सांकलों को खोलने के लिए मन बार-बार प्रयत्न करता है, कभी हाथ पीछे हटाता है, कभी आगे बढ़ाता है। इसी भीतरी द्वन्द्व संघर्ष ने मनुष्य को निर्णयहीन बना दिया है। इन भीतरी सांकलों को तोड़ना तो पड़ेगा क्योंकि इन्हें तोड़े बिना वह रूढ़ियों और दम तोड़ती परम्पराओं से मुक्ति नहीं पा सकता। इसके विपरीत बाहर की सांकल के लिए सचेतन संकल्प के साथ विद्रोह करना होगा, खुद जागरूक होना होगा दूसरों को जागरूक बनाना होगा। यदि हमारे प्रयत्न कारगर हुए तो बाहरी सांकल अवश्य खुलेगी। इस संग्रह में गीतकार का यही अभिप्रेत कथ्य है। मनुष्य की जीवट जिज़ीविषा अदम्य है। भीतरी और बाहरी सांकल मनुष्य का वह विराट् बोध है जो उसकी संकल्प चेतना से बद्धमूल है। इस बद्धमूलता में लय-लास्य का शिवकण्ठी ताण्डव है। गरल-अमृत के इस संघर्ष में मनुष्य सदा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जयी हुआ है क्योंकि –

"तुम्हारे पास ताण्डव भी
तुम्हारे पास नर्त्तन भी!" (*भीतर साँकल बाहर साँकल : पृ. 85*)

कुंअर का गीत परम्परा और रूढ़ि में फर्क करता है। सत्वहीन परम्पराओं के प्रति नकार और अस्मिता को धरोहर की भांति सहेजने वाली परम्पराओं, सांस्कृतिक मूल्यों को गीतकार मानवता एवं समाज की सम्पत्ति मानता है। संग्रह की भूमिका में कवि ने इसे खुले मन से स्वीकार किया है, इसीलिए इनके गीतों में सहज पनघटी मिठास और शब्द-विधान में सरलता है। इनके गीत-द्वार पर रंगोली बनी है और आंगन अल्पना से सजा हुआ है। गांव की मुक्त हंसी में लक्षणा-व्यंजना नहीं, गाली भी लोकगीत-सी लगती है (*पृ. 13*), चल ततइया (*पृ. 84*), मीठा गुड़ (*पृ. 84*), पराजय के जलधि (*पृ. 28*) आदि शब्द उनके गंवई संस्कारों की ओर संकेत करते हैं।

उर्वशी कक्ष : प्रण्य मल्हार

'उर्वशी हो तुम' गीत-संग्रह में कवि के शिशुकाल से लेकर अब (*1987*) तक के और प्रेमपरक गीत संग्रहीत हैं। 'पिन बहुत सारे' 'भीतर सांकल बाहर सांकल' में कवि की रचनात्मक दृष्टि का आधार था - 'जनपक्षधरता', महानगरीय संत्रास, राजनीतिक मुखौटेबाजी आदि किन्तु 'उर्वशी हो तुम' में संसृति की सबसे बड़ी धरोहर 'प्यार' की चर्चा है। यहां गीत प्यार की वकालत करता है, उसे व्याख्यायित कर उसकी अस्मिता स्थापित करता है। गीतकार की दृष्टि में प्यार महाकाव्यात्मक समाधिस्थ प्रतीति ही नहीं वैराट्य कैवल्य बोध है। प्यार ही संसार की सबसे बड़ी धरोहर है। इससे बड़ा कुछ नहीं। प्यार ही प्रस्थान बिन्दु है, प्यार ही मंजिल! संसार का सबसे बड़ा गम है तो प्यार है, सबसे बड़ी खुशी है तो वह भी प्यार ही है। प्यार ही संसार का सबसे बड़ा सौन्दर्य है, सबसे बड़ा सत्य है। प्यार से बड़ा न कोई विचार है, न कोई भाव। प्यार केवल भाव ही नहीं, महाभाव है जहां भेद विलीन हो जाते हैं। दीवारें यदि उठतीं है तो एक ऐसे मन्दिर का निर्माण करती हैं जिसमें बैठ कर साधक महान मानव-मूल्यों की उपासना करता है और तब उनमें से कोई एक अर्थ प्रसन्न होकर उसे किसी शब्द का उपहार देता है। ऐसे शब्द का उपहार जिसे पाकर कविता बड़ी बड़ी हो जाती है। सचमुच बड़ी कविता का हर शब्द वह झील है जिसमें कई दिशाओं में अर्थ की नदियां बहती हैं (*उर्वशी हो तुम : 10*)। प्यार जीवन के लिए अनिवार्य है –

'यह दुनिया सूखी मिट्टी है, तू प्यार के छींटे देता चल।' (*105*)

दो प्रिय-पात्रों के मध्य बहती प्यार की शीतल सलोनी उत्तेजक जलधार अंग-अंग को युवा बना देती है। प्रथम साक्षात्कार ने ही उर्वशी अर्थों के वृत्त में पुरुरवा के प्राण-खग को मानस-कैद कर लिया। देह कलश चांदनी हो गई, आत्मा गंधित आकाश। फूल-पंखुरियों के बीच कैद भौंरा रसलिप्त मदहोश चांदनी किरणों की डोर में बंधता बींधता गया। रग-रग चुभन की फैलती खुशबू ने उर्वशी अर्थ खोले, बंधनमुक्त कैद किरणवर्णी होकर ज्यादा सताने लगी। उर्वशी अर्थों में बंधा पुरुरवा प्यार की अक्षत संसृति हो गया। कुंअर के उर्वशी गीत इसी संसृति-बिम्ब की छाया है। प्रकृति-पुरुष की इस आंख-मिचौनी का कोई कोण अजाना नहीं है। फिर भी सब कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानने की जिज्ञासा बलवती स्पृहा के रूप में विस्फोटक हो जाती है। प्रेम की इन्हीं अरूप छवियों के बीच से कुंअर के गीत रास्ता बनाते चलते हैं। प्रकृति का हर उपकरण प्रिया-अंग का सौन्दर्य-परिधान है। प्रिया और प्रकृति की स्वप्नदर्शी तुलना का साकार बिम्ब देखिए –

"प्रकृति का प्रात सोने का/ तुम्हारा गात सोने का।
प्रकृति की है किरण उजली/ तुम्हारा किन्तु उजला मन,
उषा की किरण-सा ही है/ तुम्हारा यह निरालापन,
अधर का रूप है अरुणिम/ कमल दल-से बिछौने का,
तुम्हारा गात सोने का।" (*27*)

पुरुरवा-उर्वशी का साक्षात्कार क्या हुआ कि 'पतझर के गीत भी मल्हार बन गये।' (*34*), किन्तु कुंअर का बेचैन मन तो पहले ही घोषणा कर चुका था कि 'प्रेम करके प्रेम न पाना, प्रेम न करने की अपेक्षा श्रेष्ठ है' (*11*), लेकिन दूसरी ओर 'जबसे सुना, पीर की हर लहर/ देती है गीतों को जीवन हर प्रहर' (*33*)। उसी दिन से कुछ ऐसा हुआ कि रचनाशील मन को सारे दुःख जीवन के प्यारे हो गये।' (*34*)। जब-जब किसी उर्वशी ने किसी पुरुरवा के लिए प्रीति के गीत गुनगुनाए हैं तब-तब 'पीर' कलश बन कर छलकी है। (*32*)। गीत घायल सपनों के निवासी हो गए हैं (*33*) और पीड़ा संगिनी (*26*)।

प्रिय-पथ को निहारती आंखों से गिरा हर आंसू स्मृतिदंश की 'नेह-ज्वाला' में दहकता 'शतदल' बन गया। देह के रन्ध्र-रन्ध्र से गूंजते स्मृति गीतों ने पोर-पोर को दहकीली बना दिया। विरह-छिद्रित मन-वंशी के 'आह' स्वर नव्यधुनों की सीप में मोती बन ढल गए। भ्रमर गुन-गुन की नादात्मक ध्वनियां धुन की देह से संचरित होकर मन-कक्ष में दस्तक देने लगी। पुरुरवा-उर्वशी के इस गहन गम्भीर हृदयगामी दर्शन की पर्तें मन की आलोक-भूमि से सिंचित पल्लवित हैं। राग की इस अन्तर्यामी धुन-ध्वनि तरंगों को कोई पुरुरवा-उर्वशी ही पकड़ सकती है। अन्तरंग चेतना की इस रागभूमि को कवि की रचनायित रंग दृष्टि पुलकपंखी बना कर पेश करती है-

"तुमने कहा शब्द है आंसू/ सबने कहा आंख का पानी,
सबने कहा पंक्तियां हैं ये/ तुमने कहा हृदय की बानी,
तुमने संज्ञा दी चुभनों को/ जग ने कहा इन्हें कविताएं
सबने सिर्फ़ सुनी, पर तुमने समझी मेरी गीत-कथाएं।" (*78*)

प्रेम में विरह के असंदिग्ध महत्त्व को कवि ने सौ-सौ उपकरण जुटा कर सिद्ध किया है –

"वर्त्तिकाएं अगर/ कंपकंपाती रहीं
आंधियां भी उन्हें तब बुझाती रहीं
टूटने से बचीं/ सिर्फ वे धड़कनें
जो सदा प्यार के गीत गाती रहीं
आह के गाव में जोकि बसता नहीं
ठोकरें खा के होठों पै हंसता नहीं
चाहे बादल ही हो/ वह बरसता नहीं।" (*98*)

* * *

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"माना मिट्टी भी गाती है/ यह नील गगन भी गाता है
ऊंची लपटों के स्वर में यह/ पावक भी गीत सुनाता है
चाहे हो गीत हवाओं का/ या सागर के नीले जल का
हर गीत मगर इन आंसू की/ दो बूंदों से शरमाता है।" (*100*)

जहां-जहां भी यक्ष भावित आंसू टपकते हैं वहां-वहां प्रिया का स्मित-मलिन चेहरा बन जाता है। प्रकृति भावनाओं को उद्दीप्त कर अग्नि-पथ बना देती है। जब-जब कवि प्रकृति के सुन्दर दृश्य देखता है, प्रिय की स्मृतियां खुशबू मकरन्द हो जाती हैं। निराश भावना को रागभूमि से जोड़ कर कवि नदी को मानवीकृत कर 'प्रिया-मन' की सूक्ष्म तरंगों को पकड़ता है –

"नदी बोली समन्दर से/ मैं तेरे पास आई हूं
मुझे भी गा मेरे शायर! मैं तेरी ही रुबाई हूं....
मुझे पत्थर, कभी उन घाटियों के प्यार ने रोका
कभी कलियों, कभी फूलों-भरे त्यौहार ने रोका
मुझे कर्त्तव्य से ज्यादा किसी अधिकार ने रोका
मगर मैं रुक नहीं पाई/ कि तेरे घर चली आई
मैं धड़कन हूं, मैं अंगड़ाई, तेरे दिल में समाई हूं।" (*82*)

इसीलिए कवि प्रिया को सम्बोधित कर नये गीत-छन्द गढ़ने को कहता है –

"जग का भय यदि दीवार बने/ भावों का रिश्ता डरे नहीं
दीवार ढहाना ही सीखें/ मन यूं घुट-घुट कर मरे नहीं
यह दृग अपलक में चिंतन की
यह सबसे नयी दिशा कांपी
जिस पर कुछ देर ठहर कर ही
इस नये गीत ने छंद गढ़े।" (*79*)

सदैव 'आशा के गीत' गाना कवि अपना धर्म मानता है। हो सकता है कोई स्वर प्राण-शिंजिनी से बंध कर लक्ष्य को प्राप्त कर ले। भीगी मिट्टी हो या भावुक मन दोनों को दुःख की धूप चटका देती है। इसी तरह मन की बाती हो या दीपक की-दोनों को 'नेह' समान रूप से जलाता है। कवि का नेह-मन आश्वस्त है कि जैसे दीपशिखा अन्धकार को दूर करती है उसी प्रकार मन-शिखा मनुष्य को निश्चित रूप से कर्मशील, उदार, सहिष्णु उज्ज्वल और विराट् बनाएगी।

डॉ. कुंअर बेचैन के अनेक गीत लोक-शैली की भाव-भूमि से उपजे हैं इसीलिए इनका सम्बन्ध इस धरती से, यहां की मिट्टी से और पूरे परिवेश से होता है। कल्पना की कोरी उड़ान न होकर इन गीतों में यथार्थ का जो पुट होता है वह कुंअर बेचैन की कविताओं को जनमानस के निकट लाकर कभी उनकी आंखों को सजल करता है तो कभी उनके होठों पर हंसी बिखेरता है। उनके गीत मानव-मन की कोमलता और करुणा से भरी भाव-भूमि के आस-पास ही घिरे दिखाई देते हैं। अतः यह स्वाभाविक ही है कि उनका प्रभाव मानव-मन पर बहुत गहरा होता है (*डॉ. नारायण दत्त पालीवाल : इन्द्रप्रस्थ भारती : हिन्दी अकादमी, दिल्ली की पत्रिका*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीतायित मन के रचना-संस्कार कैसे बीज से वट बनते हैं उसकी अक्षर देह को पोस कर कुंअर आत्मा बना देता है। गीत आत्मा की शब्द-झंकृति ही तो हैं। इस झंकृति को सब रचनाकार अपने-अपने ढंग और शैली में पका कर फल बनाते हैं। यह व्यापार नहीं, मन की जुम्बिश है जो बिना मोल के बिकती है, खरीदार का सीना चौड़ा चाहिए। कवि उस जुम्बिश को तराशता है – "समस्त सम्भावनाएं बीज में ही छिपी रहती हैं। अतः जब-जब मैं अपने बीजरूप को पहचानने की कोशिश में लगता हूं तब यही पाता हूं कि दुःख ही मेरी सबसे बड़ी शक्ति है, मेरी ताकत है। यही वह बीज है जिसमें मेरी सम्भावनाएं छिपी हैं। जब मैं दुःख के क्षणों में होता हूं तब ही अधिक गहरा और स्पष्ट होता हूं। मैं हमेशा यही कहता रहा कि जैसे अगरबत्ती....जब धुआं बनती है, तब ही अधिक महकती है....मन को जलाओ नहीं, सुलगाओ उसे......अपने ही हाथ से अपनी नब्ज़ देखने का नाम ही गीत है.....ज़िन्दगी अपने-आप में दुःख का अखण्ड-पाठ है, इसी अखण्ड-पाठ में मेरा नाम सम्पुट की तरह आता है, जहां थोड़ा विश्राम मिलता है।" (*13*)

गीत पीड़ा के संस्कार से पवित्र है, दुःख भाव से आकारित है, दर्द से मंज-तप कर फूटता है। इस फुटाव में आत्मा का द्रव खल-बला कर लयधारी हो जाता है। व्यथा की इन्हीं भावभूमियों पर नृत्य करती दुःख-ऋदम देह-आत्मा के तन्तु-तन्तु को नील-कंठी झंकार बना देती है। जटाजूट में रुकी गीत-गंगा फूटती है तो द्रवीय अनुभूति का समुद्र मन के तटों को ध्वस्त कर तुलसी बिरवा हो जाता है, मन का विचलन दुःखदर्शन का स्तनपान कर अर्द्धनारीश्वरी तपन से तपने लगता है। इसमें कोई शक नहीं कि 'दुःख तो प्रभु है' (*नरेश मेहता : प्रवाद पर्व : पृ. 38*) प्रभु की भांति दुःख के अनेक नाम-रूप हैं। कहीं वह राम है तो कहीं कृष्ण, कहीं करुणा- सागर है तो कहीं दीनबंधु। उसी प्रकार कवि का दुःख एक नहीं है। हृदय-पीर कवि की सबसे अच्छी मित्र है -

"गीत जब भी प्रीति के हैं गुनगुनाये
सब समझते हैं कि अधरों पर हंसी है
कौन जानेगा हृदय की पीर साथी।" (*32*)

कवि के गीत प्यार के नहीं 'घायल सपनों के संसार के हैं' (*33*)। जब कवि ने यह सुना कि –

'पीर की हर लहर/ देती है गीतों को जीवन हर प्रहर'/ (*34*) उस दिन से ही कवि को सारे दुःख जीवन से प्यारे हो गये। फिर 'दर्द' ही टेक है 'दर्द' ही अन्तरा (*भीतर सांकल : बाहर सांकल : पृ. 59*)।

आंगन : शैल्पिक रंग

बेचैन की भाषा में रस और कचोट दोनों हैं। रिश्तों सम्बन्धों की जटिलता को व्यंजित करने की कुंवर शैली में आत्मीय ताप है। इस आत्मीय ताप-बोझ को भाषा सहज होकर उठाती है। कचोटों को भाषा आधुनिक शब्दावली में खरोंचती चलती है। नये बिम्ब-प्रतीक जीवन की समूची उकताहटों, विवशताओं को छीलते जाते हैं। भाषा अनेक जगह कोड़े मारती है। व्यक्ति, परिवार, समाज और समकालीन परिवेश की बिम्बधर्मी अचकनों-मुस्कानों के बीच तिर रही लाचारी, घुटन अपनी ही नज़रों में खुद को अजनबी बना देती है। अजनबीपन की खटास और विरक्तिबोध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को भाषा मनः स्थितियों के अनुरूप सूक्ष्मस्तर पर पकड़ लेती है। जहां कहीं अपनत्व के सम्वाद हैं भाषा तुरन्त अपना तेवर बदल कर रसीय बोल बोलने लगती है। जीवन की इस्पात कटान और रक्त में तिरती प्रणय नाव को खेती बेचैन की भाषा पर्यावरण के अनुकूल पावस-ग्रीष्म हो जाती है। रस आखेटीय काल की तरेर भंगिमाओं के अनुरूप शब्द शब्द में दैनिक आचार-व्यवहार और आधुनिक बौद्धिकता की तस्कर सत्ता भी है और हृदय के स्मिति झरोखे भी।

कुंअर बेचैन की विशिष्टता सुन्दर शब्द-चयन में है। उनकी गीत-दृष्टि में "शब्द वह मठ है जहां किसी अर्थ का साधु निवास करता है....शब्द वह पत्थर नहीं है वरन् वह ज़मीन है जहां अर्थ का वृक्ष पैदा होता है। जो कवि है वह घटनाओं की ज़मीन को खोद कर उनमें से अनुभव की जड़ें निकालता है.....जिन्हें सब पंक्तियां कहते हैं वरन् वे मेरी उंगलियां हैं। उन्हें थामना पड़ता है, थाम कर महसूस करना होता है तब ही अर्थ की तरंगें उन तक पहुंच पाती हैं। शब्द में जब कवि अनुभूति के रंग भरते हैं तो उससे नए अर्थ स्पष्ट होते हैं, उसकी रंगत ही बदल जाती है, उसका प्रभाव ही कुछ और होता है। ये श्यामल शब्द ही अपने में अलग-अलग एक ममतामयी मां जैसी अलग वैचारिक अनुभूतियों के स्तनों के अग्रभाग हैं जिनसे मुंह लगाकर समाज की शिशु चेतना दुग्धपान करती है।" (*उर्वशी हो तुम : 11-12*)।

शब्द-विस्फोट ब्रह्मशक्ति है, इसका सदुपयोग ज्योतिर्लिंग की तरह पवित्र है, दुरुपयोग शंकर का तीसरा नेत्र। शब्द-गठन, संयोजन की दृष्टि से कुंअर ज्योतिर्लिंगी हैं। गीत-मानस शब्द की अर्न्तताकत को समझता है। गीत में प्रयुक्त शब्दों को व्याख्यायित करते हुए वह अपनी सोच चिन्तन का विस्तार करता है। उसकी गहन द्रवीय मनीषी दृष्टि सूक्ष्मवर्तिनी शब्द शक्तियों को पकड़ कर अपने अनुकूल बना लेती है। उसकी द्रवधारी शब्द-तरलता देखिए –

"गीत में जो शब्द होते हैं/ वे छिपा इतिहास रखते हैं
अर्थ के सारे ख़जाने वे/ आंसुओं के पास रखते हैं
शब्द है दृग के कुएं जैसा/ रीत जायेगा भरेगा भी।" (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 67*)

'मछली का यह कथन' गीत नव्य शैल्पिक प्रयोगों की वजह से आकर्षित करता है, जिसकी टेक- पंक्ति का अन्तिम शब्द दूसरी पंक्ति का प्रथम शब्द बन जाता है –

"मछली का यह कथन/ कथन है अपना भी
कसकते कांटे/ कांटों साथ तड़पना भी
भंवर के चांटे/ चांटे के साथ।" (*उर्वशी हो तुम : पृ. 84*)

जैसे 'मधुऋतु में प्रात अरुण' में 'अरुण' शब्द का बार-बार प्रयोग सरसता और गहरी भाव-व्यञ्जना देता है –

"अरुणिम आंचल मृदुगात अरुण जैसे मधुऋतु में प्रात अरुण
यह मान अरुण अरुणिम बेंदी हाथों में रची अरुण मेंहदी।" (*पृ. 51*)

इसी प्रकार 'नीर' शब्द का पुनरुक्ति-सौन्दर्य देखिये –

"सोन मछली री/ अभी तू नीर में ही रह/ नीर ही तेरी प्रकृति/ नीर ही है घर/ नीर ही तेरे अधर की........" (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 56*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'बेटियां' एक सुन्दर भावपूर्ण सुहाग लोकगीत है जिसमें बेटियों को कवि ने शीतल हवाएं, पावन-ऋचाएं और ऐसी घटाएं कहा है जो केवल छलकती हैं नदी बन कर बहती नहीं (*पृ. 30*)।

कवि के गीत-शब्द नए-नए अर्थों की जमीन तलाशते हैं और उसी के अनुरूप पाठक भी नई भाव-भूमियों की खोज करते हैं –

"सुबह-सुबह/ सूरज के पास
बैठी है ज़िन्दगी उदास/ जाने क्यों" (*पिन बहुत सारे : पृ. 12*)

"लगी हुई कब से चुपके-चुपके/ अमिया पर सुअना की चोंच
डाली को कितनी प्यारी लगी/ यह पहले प्यार की खरोंच
काट सभी दुनिया के फंद/ पिया आ जाना
पोर-पोर महका मकरंद/ पिया आ जाना।" (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 45*)

"आ गये फिर से हिमानी दिन/ बाजरे की कलगियां लेकर।" (*पृ. 66*)

'प्रीति' शब्द कवि को बहुत प्रिय है। वह हर बार यों तो शब्द-युग्म के रूप में आता है या संयोजक सम्बन्ध 'का' 'के' 'की' की छवि के साथ कवि-चेतना पर दस्तक देता है। यथा - 'प्रीति-मीरा की कहानी' (*पृ. 29*), 'प्रीति का मकरन्द' (*पृ. 40*), 'प्रीति-गीत' (*पृ. 94*), 'प्रीति-पीर की राजधानी' (*पृ. 88*), 'प्रीति के पल' (*पृ. 28*), 'प्रीति का चंदन' (*पृ. 69*), 'प्रीति-अश्रु' (*पृ. 94*), 'प्रीति की सौगंध' (*पृ. 94*), 'प्रीति के पल' (*पृ. 28*), 'प्रीति के गीत' (*उर्वशी हो तुम : पृ. 32*), 'प्रीति की सौगात' (*पृ. 38*), 'प्रीति-नदी' (*पृ. 48*), 'प्रीति की बुलबुल' (*पृ. 49*), 'प्रीति का आंचल' (*पृ. 26*), 'प्रीति की मीठी कठारी' (*पृ. 85*)। अनेक स्थानों पर यह शब्द वाक्यों में भी पिरोया गया है 'थाम ली प्रीति ने/ याद की बांसुरी' (*पृ. 62*), 'चेहरे से दर्पण की, मन की प्रीति अलग' (*पृ. 71*) 'प्रीति पर विश्वास के सुर में,' 'सीपी ढोता प्रीति में पागल' आदि। कुंअर में गीत-शब्द निःसन्देह 'अंगूर के गुच्छे' (*पृ. 12*) हैं। यद्यपि गीतकार की यह आत्म-प्रशस्ति अहंकार को छूने वाली है किन्तु शब्दों का बार-बार नव्य प्रयोग, नई अर्थ व्यञ्जनाएं कुंअर की शब्द-शक्ति का वैभव-आलोक है।

गीतकार की अलंकरण दृष्टि भी तलबेधक है। आधुनिक असंगत परिवेश की कुहरीली तलछट को कवि बड़ी आसानी से नक्श कर देता है। रूपक की मोहकता जीवन के असंगति बोधों को खोलती चलती है –

"भाव-महल का/ मालिक होकर/ मन था मेरा सन्यासी
चाकर/ अजर सत्य का था जो/ आदर्शों का विश्वासी
आज वही वेश्याओं के घर/ भेज रहा है स्वीकृतियां
सती सांस की/ टाइपिस्ट का/ जब से बांस बना फैशन
स्वच्छ/ आचरण के पन्नों पर/ देता मैले डिक्टेशन
पाप-पुण्य की/ परिभाषाएं/ करती हैं कानाबतियां।" (*पिन बहुत सारे : पृ. 29*)

* * *

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"खिड़कियां सब खुली आंख हैं/ देहरी हो गयी है अधर
गेह सारा प्रतीक्षा हुआ/ तुम न आये, न आये इधर।" (*उर्वशी हो तुम : पृ. 63*)

अलंकारों का प्रयोग सहज हैं सायास नहीं।

कुंअर बेचैन के अधिकांश गीत संक्षिप्त हैं, अनेक गीतों के अन्तरे संक्षिप्त हैं जैसे 'मन लगा ही नहीं' (*पृ. 62*) गीत। अनेक गीतों के अन्तरे लम्बे भी हैं जैसे 'कैसे रखें सुरक्षित अपनी गंध को' गीत (*भीतर सांकल बाहर सांकल : पृ. 65*)।

प्रभावान्विति इनके गीतों की विशिष्टता है जो बहुत कम विश्रृंखलित होती है। चाहे 'मेरे पंथ हजार हैं' (*उर्वशी हो तुम : पृ. 31*), चार अन्तरों वाला गीत हो या मात्र दो अन्तरों वाला 'द्वार घर के बंद रखना जी!' (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 40*) गीत के प्रथम अन्तरे या टेक पंक्ति से जो भाव उठता है उसी की परिणति अन्तिम अन्तरे में हो जाती है। 'प्रीति मीरा की कहानी है' (*पृ. 39*) गीत का शीर्षक और प्रथम पंक्ति 'क्षणभर की प्रीति जन्म-जन्मान्तर तक तृप्ति का अहसास जगाती है' से अन्तिम पंक्ति तक 'प्रीति' का महत्त्व ही प्रतिष्ठित है। सम्प्रेषणीयता, प्रवाहात्मकता के गुण समेटे कुंअर के गीत प्रभावान्विति के सूत्र से पूरी तरह जुड़े हैं। कवि का गीत कहता है –"मैं जितनी ज्यादा ऊंचाइयों को छूता हूं मेरा कद छोटा होता जाता है"(*उर्वशी हो तुम : पृ. 13*)।

कुंअर बेचैन के गीत पूर्ण लयात्मक हैं। कहीं पुनरुक्ति, कहीं अनुप्रास कहीं स्वर-संगीत की आन्तरिक लय से गूंजते कुंअर के गीत पाठकों व श्रोताओं के मन को बांध लेते हैं –

"बहुत धीरे/ बहुत धीरे-से/ दृग नहाये हैं ममीरे से
दृग कि जिनकी आरसी हो तुम/ मन पुरुरवा उर्वशी हो तुम।" (*पृ. 59*)

अन्तरे के अन्त में तुक मिलान, आन्तरिक तुकबन्दी लयात्मकता को प्राणवत्ता देती है –

"तुमने कहा शब्द है आंसू/ सबने कहा आंख का पानी
सबने कहा पंक्तियां हैं ये/ तुमने कहा हृदय की वाणी।" (*पृ. 28*)

"रूप तेरा/ रात तेरी/ प्रीति की सौगात तेरी
आज उतरेगी धरा पर/ चांदनी! बारात तेरी।" (*पृ. 38*)

छन्द अनुशासन कुंअर में अपेक्षाकृत कम है। इन्होंने ग़ज़ल-छन्दों के सम्बन्ध में अपनी बात कही है लेकिन ये छन्द गीत स्वभाव के अनुरूप नहीं हैं। 'अब ये चाहत.....' ग़ज़ल देखिए -

। । S S।। S । S ।। । । S S।। S। S
"अब ये चाहत है कि तू इस दिल को आकर देख ले
एक पल को ही सही पर मुस्करा कर देख ले।" (*रस्सियां पानी की : पृ. 48*)

शायर कवि ने इस ग़ज़ल को 'बिन्दु अंकन छन्द' (परिवर्तित अष्ट-पदीय) कहते हुए इसका सूत्र बताया है –

राजभा गा राजभा गा राजभा गा राजभा अर्थात् S।SSS।SSS।SSS।S सूत्र से छब्बीस मात्राएं जबकि हिन्दी छन्द के अनुसार अट्ठाईस मात्राएं आनी चाहिए। इसी तरह एक अन्य ग़ज़ल (*पृ. 50*) पर इसी छन्द का शीर्षक देकर सूत्र दिया है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजभा गा सलगा गा सलगा गा सलगा अर्थात् ऽ।ऽऽ।।ऽऽ।।ऽऽ।।ऽ सूत्र से तेईस मात्राएं। छन्द वही है सूत्रों में अन्तर। मात्राओं में अन्तर। यह अन्तर वस्तुतः उर्दू छन्दों/ बहरों और उनके अर्कान अर्थात सूत्रों का परिणाम है। इसमें शायर का दृष्टि-बोध नहीं है। कुंअर बेचैन के गीतों में मुक्त छन्द का प्रयोग सर्वाधिक है –

'सन्ध्या के केशों में/ बंध गया/ रिबन/ सूरज की लाली का' (*पिन बहुत सारे : पृ. 70*)

'ओ मेरे द्वारपाल' (*पृ. 54*), 'मेजों पर खोद कर अखाड़े' (*पृ. 42*), 'हाथ नहीं हंगामे' (*भीतर सांकल : बाहर सांकल : पृ. 86*), 'कानखजूरा दिन' (*पृ. 56*), 'मध्यवर्गीय पत्नी से' (*पृ. 28*), आदि गीत मुक्त छन्दीय हैं लेकिन इन गीतों का संस्कार-स्वभाव पूरी तरह लयात्मक है। 'उर्वशी हो तुम', 'झुलसो मत मोरपंख' के गीतों में परम्परागत डेढ़ पंक्ति की टेक है और अन्तरों में तीन गणों के संयोग से बारह वर्ण हैं। मात्राओं में हेर-फेर है। यति-क्रम में भी भिन्नता है। अनेक जगह शायर कवि ने यति-नियम में पंक्तियां बढ़ा दी हैं जैसे –

"बोलती हैं चुप्पियां भी,
सुन!
ओ निनादित बांसुरी की धुन!!" (*झुलसो मत मोरपंख : पृ. 49*)

छन्द दृष्टि से विचारने पर लगता है कुंअर गीत-पथ छोड़ कर पूरी तरह ग़ज़लगो होते जा रहे हैं क्योंकि ग़ज़ल छन्दों के प्रति इनका शायराना मिज़ाज जितना सावधान है उतना कवि होने के नाते गीत-छन्दों के प्रति नहीं। लगता है अब कुंअर गीत की अपेक्षा ग़ज़ल के हो गए हैं। अपनी इस स्थिति को गीताकार ने स्वीकार भी किया है कि - "कई गीतों में मात्रा-दोष है तो हो, भाव की हत्या का दोष अपने सिर नहीं लेगा क्योंकि उसने कलम चलाई है, तलवार नहीं" (*उर्वशी हो तुम : पृ. 17*)।

इसीलिए इनके गीतों में 'छंद-श्रमिक' की भूमिका यह देखना मात्र है कि सम्पूर्ण गीत में मात्रा, वर्ण, लय आदि का तालमेल बना हुआ है या नहीं। वर्णिक या मात्रिक छन्दों का कोई संकेत नहीं दिया है। यूं कवि ने लोकगीत भी रचे हैं और सामयिक संवेदना को वाणी देने वाले मुक्त छन्द भी।

रीतिकालीन कवियों ने छन्द को नया रूप देने का प्रयत्न किया। यदि हिन्दी के गीतकार उन छन्दों की रचना-प्रक्रिया से परिचित हो जायें तो बहुत लाभ हो सकता है। आज गीतकार आधुनिकता के नाम पर मात्रा दोष या शब्द की अनुपयुक्त प्रयुक्ति को महत्त्व नहीं देता। इससे गीत के स्वरूप को विकृति मिली है। कोई अनुशासन नहीं है, छन्द विधान उपेक्षित हो रहा है। गीत या नवगीत दोनों के लिए यह ख़तरे की घंटी है। यह घंटी बड़े ज़ोर से टनटना रही है। गीतकारों का संगठन और पारस्परिक विचार-विनिमय गीत के विकास में सहायक सिद्ध होंगे और जहां गीत के सम्बन्ध में कार्य हो रहा हो वहां अधिक से अधिक जानकारी पहुंचानी गीतकारों का दायित्व होना चाहिए। व्यक्तिगत राग द्वेष से ऊपर उठ कर गीत के सही रूप को व्यवस्थित करना होगा। बेचैन का गीत-कवि सचेष्ट है। बेचैन का प्रत्येक गीत एक विशिष्ट अनुभूति का चारण है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मध्याह्न : उठान

ग़ज़लीय धूप-रोशनी

ग़ज़ल कुंअर की आत्मा का दूसरा छोर है। जब-जब भी जहां-जहां भी कवि ने ग़ज़ल की चर्चा की हर बार उसने ग़ज़ल को नव्य परिधान से श्रृंगार दिया।

'ग़ज़ल रेगिस्तान के......खुशबू का मौन स्पर्श है।' (*महावर इन्तजारों का : पृ. 7*)

'ग़ज़ल एक ओर सौन्दर्य गाथा है तो दूसरी ओर प्रीत का आत्मनिवेदन.....।'

'ग़ज़ल उत्तेजना नहीं वरन् एक सार्थक विचार है.....जागरण-गीत भी।'

(*रविवारी ट्रिब्यून : 14 जून 1987*)

'ग़ज़ल हृदय - अनुभूति की सूक्तिमयी शैली है.....गागर में सागर है।'

(*शामियाने कांच के : पृ. 10*)

'ग़ज़ल फूल की खुशबू की तरह अपनी पंखुरी में रह कर भी अपनी पंखुरियों की सरहद को पार कर जाने का नाम है : ग़ज़ल भाषा के द्वार की गयी मानवता की पहरेदारी है; ग़ज़ल किसी तथ्य को भाव द्वारा समझने का प्रयास है, मनुष्य के अपराजित महात्म्य का अभिषेक है, अनुभव की पगडण्डी और विचारों के चौरास्तों पर की गई शब्द की पदयात्रा है...ग़ज़ल हृदय की भूमि पर लगी वह खरोंच है जिसमें प्रेम का बीज पनपता है....ग़ज़ल हारिल पक्षी की तरह अपने अपने इष्ट को टहनी मान कर उसे कस कर पकड़े रहने का प्रयास ही नहीं वरन् उससे भी आगे पंखों को बांधे हुए एक ही जगह बैठे हुए अनन्त आकाश में उड़ते रहने की कला है......' (*रस्सियां पानी की : पृ. 12*)।

अनेक जगह पाद-टिप्पणियों में ग़ज़ल के पारम्परिक अर्थ को नया अर्थ देने में कवि ने कमाल पैदा किया है – "ग़ज़ल का शाब्दिक अर्थ है प्रेमिका से बातचीत । मगर गहराई में जायें तो ग़ज़ल में जो बातचीत होती है वह परमसत्ता को प्रेमिका मान कर भी की जाती है" (*पृ. 14*)।

ग़ज़ल के शैल्पिक पक्ष की साज-संवार को भी कुंअर ने शब्दायित किया है। वह इसकी कलात्मकता को अद्वितीय मानता है - "बहर (छन्द) बिम्ब-प्रतिबिम्ब, भाव, वाक्य-विन्यास, शब्द-योजना, सादगी, प्रवाह, अर्थ-गाम्भीर्य, उन्नत-कल्पना, प्रभाव, सुस्पष्टता, सम्प्रेषण, भाव और विचारों की अदायगी आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं जिसका ध्यान ग़ज़ल में बहुत रखना होता है।" अतः ग़ज़ल ने परम्परित चौखटों को तोड़ कर नयी परिभाषाएं गढ़ ली हैं, रूढ़िगत चौहद्दियों को विखण्डित कर ग़ज़ल व्यक्तिबोधी से जनबोधी हो गयी है, इसलिए ग़ज़ल अब मात्र प्रेमिका से बातचीत तक सीमित नहीं है। सूत्ररूप में 'ग़ज़ल' दोहे जैसा एक संक्षिप्त-सा छन्द है जो हर स्तर पर आज आधुनिक संवेदना को बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में मुकुरीय शैली में पेश कर रहा है।यह मुकुरीय शैली मानव मनोविज्ञान की संपूर्ण अन्तरचेतना को व्यक्त करने में समर्थ है। यह तीक्ष्ण धार हथियार है जिसके प्रहार कोणदर्शी अनेकमुखी हैं। कभी इसका प्रहार ग़ज़लकार स्वयं झेलता है और कभी श्रोताओं और पाठकों को झेलना पड़ता है। निश्चित रूप से 'गीत' की भांति ग़ज़ल भी एक संस्कार है जो शायर के हृदय की विशुद्ध अनुगूंज है। आज ग़ज़ल अंगार-फूल की सहवर्ती सहभागिनी है। इसकी अचूक सामर्थ्य शक्ति में ज़िन्दगी का हर कोण अक्स है। जहां उंगली

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखो उसे तड़ित वेग से धार की तरह काटती जाती है। ज़िन्दगी की मुखबोध ग़ज़ल अब हिन्दी का संस्कार लेकर गीत से आलिंगनबद्ध है। गीत की तरह ग़ज़ल की पेशेनज़र से भी वैषम्य, उत्पीड़न, अन्याय, अनाचार, असमानता, शोषण, आतंक, संत्रास, साम्प्रदायिकता, जाति-धर्म, नेता, राजनीति, अध्यात्म, सत्ता-व्यवस्था का दलगत उच्छिष्ट, दुःख, पीड़ा, टूटन-विघटन आदि-आदि कुछ नहीं बचा। ग़ज़ल ने व्यक्ति-समाज की हर उस घुटन को रचनायित किया है जो गीत-शरीर में संचरित होकर समाज की आत्मा बनी है। कुंअर का ग़ज़ल - बोध भी गीत की तरह अनेकवर्णी है –

"पढ़िएगा बार-बार हमें, यूं न फेंकिए
इंसान हैं हम, शाम के अखबार नहीं हैं।" (*महावर इंतजारों का : पृ. 60*)

मनुष्य हृदयवादी चिन्तनशील प्राणी है, दुःख-सुख महसूस करने वाला, कर्त्तव्य-अधिकार का प्रहरी लेकिन समाज के तथाकथित गुर्गे ठेकेदार, व्यवस्था के कलपुर्जे न जाने क्यों उसे एक पदार्थ और अपनी सम्पत्ति समझने की भूल करते हैं। वक्त की आंधी ऐसे सोकाल्ड ठेकेदारों की क्रूर नियति की पृष्ठभूमि निर्मित करती है। रचनाकार का ग़ज़ल मन इन स्थितियों, चटकनों, दरारों, शून्य रिक्तियों के प्रति समाज को सावधान करना अपना फर्ज समझता है। ग़ज़लगो के कहन में इस रिक्तिबोध की मुस्कान है –

"हम फर्ज़ हैं, कर्त्तव्य हैं, अधिकार नहीं हैं
ये फैसले जिनके भी हों, स्वीकार नहीं हैं।" (*पृ. 60*)

मैकदों की अंधेरी गलियों में घूमती ग़ज़ल को जनबोधी तेवरों से नवाज़ने के लिए ग़ज़लकार 'शामियाने कांच के' द्वारा एक ठोस कदम रखता है। नये कथ्य नई वस्तु के साथ ग़ज़लकार हिन्दी ग़ज़ल की नई दिशाओं को संकेतित करता है। ज़िन्दगी के मटमैले वर्कों पर पड़ी रोशनी की छींटें व्यक्ति के आस्थाबोध को चिंगारी देती है। सुलगन है लेकिन धुआं गायब है। ज़िन्दगी का हर पृष्ठ दुःखी, हर पैराग्राफ गद्यात्मक, हर मोड़ चूड़ीदार, हर चटखन उदास, हर हंसी रुआंसी, दास्तां का पहला शब्द ही झुर्रीदार, अन्त, अपने से कटने का दर्द लिए हर सांस सजा, जो सरसराती व्याल दंश देने का ढोंग रचती है लेकिन डसती नहीं। विवश-नियति बोध की इस कथा के समापन के अधिकार से हम वंचित हैं –

"कुछ इस तरह के हमको मिले हैं बहेलिये
जो हमको उड़ाते हैं न पर काट रहे हैं।" (*शामियाने कांच के : पृ. 58*)

मध्यवर्ग की स्थिति और भी शोचनीय है। खुशहाल ज़िन्दगी के 'शामियाने' का स्वप्न संजोये वह गांव से शहर आया किन्तु शहर में आते ही घुन की तरह पिस गया –

"पिस रहा है बीच का तबका शहर में
लोग कहते पिस रहा आटा शहर में।" (*पृ. 61*)

शोषण की ताबीर हमारी इबारत है। हर चेहरे पर खूनी लब्ज चसपां हैं। हमारी प्रतिरोधक क्षमता चुक गयी है। चुक गयी अस्मिता ज़िन्दगी की रग-रग में मवाद बन गयी है। इन स्थितियों की ग़ज़ल प्रतीतियां मध्यवर्गीय मानसिकता की अभिशप्त नियति उभारती है –

'नुचने के लिए खुद मांस ही तैयार है।' (*पृ. 63*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़ल में प्यार के काफिये बीमार हो गये, समय का डाकिया अब आशा-उम्मीद की चिट्ठी लेकर नहीं आता (*पृ. 64*)। समुद्र के बीच खड़ा मनुष्य आज प्यासा है। खूंखार मगरमच्छों के जबड़ों में फंसा मनुष्य-राग आदमखोर हो गया है, इसलिए समुद्र भी घड़ियालों की टोली के सामने नतमस्तक है। 'जिसकी लाठी उसी की भैंस' की कहावत समाज की रीढ़ को तोड़ रही है इसीलिए समुद्र की भंवर में छोटी छोटी नावें खो जाती हैं किन्तु बड़े जहाज़ सहजता से पार हो जाते हैं (*पृ. 62*)। हम और तुम 'रामफल' हैं जिसे जब चाहे महाजन गिरवी रख सकता है, ताकत के बल पर फटी कमीज को भी अपने शगल-शोक के लिए रुसवा कर सकता है (*पृ. 50*)। ग़ज़लगो इन तथाकथित समाज के नुमाइन्दों को व्यंग्य लपेटे से कोंचता है –

"कभी सोचा न था तहज़ीब के ऊंचे मदरसे में
हमारी ज़िन्दगी पढ़ कर भी इतनी बेपढ़ी होगी।" (*पृ. 51*)

अन्धकार की छाती पर जूझती जुगनू ज़िन्दगी आशा की लकीरें खींचती है लेकिन अपना ही मुखौटा दगा कर देता है। दगाबाज स्थितियां जब चाहे विश्वास में लेकर छली मुद्रा अपना लेती हैं। ग़ज़लकार इन मानसिक दबाबों के वृत्त उभारता है जो हृदय और बुद्धि के मध्य निरन्तर चक्कर काट कर लोहू को जाम कर देते हैं, किसी निर्णय पर नहीं पहुंचते। अनिर्णय के इन्हीं दबाबों को छांटने के लिए कुंअर की बेचैनी ताकत बन कर उभरने का प्रयत्न करती है। पौराणिक संदर्भों की छुअन अतीत के माध्यम से वर्त्तमान की टूटी तान को जोड़ने का प्रयास करती है लेकिन अतीत और वर्त्तमान मिल कर भी दूसरा रंग नहीं उभारते अपितु एकरंग हो जाते हैं। समर्पण गुरूऋण, निष्ठा के नाम पर एकलव्य का अंगूठा कटवाना (*पृ. 75*) उस व्यवस्था का दोष है जिसके शामियाने कांच के हैं। आज यही प्रश्न है। व्यवस्था इतनी जर्जर और विकृत हो चुकी है कि वह निष्ठा-निष्ठा में फर्क करती है, मनुष्य मनुष्य में अन्तर करती है। मानवरूपी राम आज माया-मृगों के मोह में फंस गए हैं। किसी भी दुर्घटना-सम्भावना के लिए सीताहरण जैसा शब्द रूढ़ हो गया है (*महावर इन्तजारों का : पृ. 14*)। ज़िन्दगी टाट-सी खुरदरी हो गई है फिर भी हमें जीना है। हमारे दालानों में लुटेरों की टोलियां घुसपैठ कर चुकी हैं। इन सब स्थितियों के बावजूद जीवन और आस्था की ललक-प्यास को हमें मरने नहीं देना। इंसान का बुनियादी उसूल यही है। ग़ज़लकार इस मत का समर्थक है, इसीलिए वह व्यक्ति-मन को चेताता है -

'कोई तुम्हारे खून में पानी मिला न दे।' (*पृ. 18*)

शाखाओं पर कांटों का पहरा इसीलिए है कि कहीं माली ही फूलों को न मसल दे (*रस्सियां पानी की : पृ. 18*)। अंगारों की बरसात में घर से बाहर निकलना दुश्वार है क्योंकि छाया देने वाली छतरियां ही लुदगी की बनी हैं (*पृ. 19*)। यह तेज़ाबी माहौल भी मानव को पराजित नहीं कर सका क्योंकि "ज़िन्दगी अपने आप में भी एक जलधारा है यानी पानी की रस्सी है और उसमें आने वाली सैकड़ों घटनाओं की ऐसी भावरें, जिनके-स्पंदन सदैव याद आते रहते हैं, वे गांठें हैं जो खुद ही खुलती बंधती रहती हैं" (*पृ. 10*)। इन गांठों में ही जीवन के अनेककोणी अर्थ बंधे हैं। हर बार नए अर्थ की संकल्पना हो सकती है –

"दूर तक कांटे बिछे थे ज़िन्दगी की राह में
ढूंढने वालों ने उनमें फिर भी कलियां ढूंढ लीं।" (*पृ. 36*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"दिल तो आंगन है प्यार के घर का
कोई दीवार क्यों उठाते हो।" (*पृ. 38*)

आदि शेरों में कुंअर-मन में बैठा गीतीय ग़ज़लकार जीवन को एक निश्चित सकार रुख देता है।

'मेरे अन्दर भी एक खुशबू है/ बात यह भी गुलाब से कह दो' (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 37*) शेर मनुष्य अन्तर की अभिधात्मक अभिव्यक्ति है। खुशबू मात्र गुलाब में ही नहीं होती दिल-आत्मा भी महकती है। गुलाब कहीं सुगन्ध के कारण अहंकारी न हो जाए इसलिए ग़ज़ल-कहन में शायर उसे ताकीद करता है कि गुलाब तुममें सुगन्ध है तो मानव में भी उसकी आत्मा है जिसका प्रकाश, गरिमा, महिमा, सुगन्ध की भांति ही प्रकीर्ण होती है –

'मोहब्बत हो कि जीवन का सफ़र हो/ कहां अब ऐ कुंअर धोखा नहीं है।' (*पृ. 41*)

ग़ज़ल-मुखड़ा इस भौतिक संसार के छल-छद्‍म का प्रमाण-पत्र है –

"चुप रहे, चुप ही रहे, चुप ही लगातार रहे
बुत-तराशों से तो पत्थर ही समझदार रहे।" (*रस्सियां पानी की : पृ. 81*)

तराश का दर्शन मनुष्य को अत्याचार के खिलाफ बोलने के लिए उकसाता है। व्यंग्यार्थ यह है कि बुत-तराशने वालों से तो अधिक समझदार पत्थर ही हैं जो तराशे जाने के बाद सजीव हो उठे हैं। इसी ग़ज़ल के एक अन्य शेर पर गौर फरमाएं –

"कैद में रहके भी आज़ाद रहे हैं वो लोग
बनके खुशबू कि फूलों में गिरफ्तार रहे।" (*पृ. 81*)

सही मानों में ऐसे शेर पानी की रस्सियां ही हैं जिनमें शब्दों की शक्ल में अनगिन घटनाओं की गांठें लगी हैं" (*पृ. 10*)।

ग़ज़ल-मुख का त्रिकोणी आफताब लाजबाब है। मुलाहिज़ा फरमाइये –

'तुम ग़ज़ल भी हो, प्रेम भी हो और प्रेमिका भी।' महबूबा रूपी परमसत्ता ने ही जग को प्रेम की दिव्यता दी। सचमुच तुम प्रस्थान-बिन्दु भी हो, पथ भी और पथ-लक्ष्य भी...... (*पृ. 10-11*)। ग़ज़ल का भीतरी उद्देश्य संसार को उसके सौन्दर्य के प्रति उन्मुख करना और उसे प्रेम की गहराई में उतारना है। इसीलिए ग़ज़ल हुस्न और इश्क की कविता रही है। ग़ज़ल का दूरगामी उद्देश्य संसार को प्रेम के जल में नहलाना है। ग़ज़ल ऐसी विधा है जो प्रेम करना और प्रेम समझना सिखाती है। इसमें प्रेम का संसार और प्रेम के संस्कार दोनों है।" (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 11*) प्रणय-संस्कार की यही साफगोई कुंअर की ग़ज़लों में पारदर्शी हुस्न में ढल कर इश्क हो गई है - 'प्यार पूजा का थाल है लोगों.....प्यार तो एक ढाल है लोगों', 'प्यार अगनी है प्यार पानी भी.....दर्द देता है जान लेता है, प्यार याचक भी है प्यार दानी भी' (*रस्सियां पानी की : पृ. 80*), 'प्यार से कोई भी अच्छा नहीं है सांचा/ मोम बन कर इसी सांचे में पिघलते रहिये', (*पृ. 89*), 'प्यार धूप है दिन मृदंग जो जरा सी प्यार की थपकी से बज उठता है' (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 74*) आदि ग़ज़लों में प्रेम इश्क-हकीकी (समाधि अनुभूति) की ओर प्रयाण करता है लेकिन लौकिक जमीन को नहीं छोड़ता। सारी सृष्टि में 'प्यार की सरगम समाई हुई है, (*पृ. 95*) नदी-कूल से टकराती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जल-तरंगें, प्रकृति में परम सत्ता के बोध-उत्सव की मृदंग ध्वनियां कवि के छाया-रहस्य की ओर बढ़ने का संकेत देती हैं, जब वह एक शेर में कहता है –

"ऐ दिल, तू प्यार के बोलों पै ऐसे संगत दे
कि जैसे ढोल, मंजीरों के संग बजते हैं।" (*पृ. 94*)

इन ग़ज़लों में प्रेम का संसार और संस्कार दोनों हैं ...."और प्रेम ही वह नाजुक, किन्तु साथ ही एक ऐसी मजबूत दस्तक है जो दीवारों में दरवाजे बनाने की शक्ति रखती है....।" (*पृ. 96*) इश्क मिज़ाजी से इश्क हक़ीकी तक यह प्रेम प्राकृतिक उपादानों से इंगित है। कभी यह परम सत्ता को प्रतीकित करता है तो कभी यह प्रेम किसी बहुत बड़े संकट में, संसार की भंवर में, तिनके के समान सहारा देता है। आह, आंसू, कसक, टीस, जलन, धुआं आदि यदि मुहब्बत की नदी के किनारे हैं तो मन, हवा, गीत, सपन, मेघ, समन्दर, फागुन जैसे अनेक नाम भी उसी के हैं। कुंअर के दिल की यही ख्वायिश है कि वह जब तक जिए –

"जब तक जिऊं मैं प्यार की सरगम बनी रहे
फिर चाहे टूट जाए मेरे स्वर की बांसुरी।" (*पृ. 7*)

इश्कमिज़ाजी से इश्कहकीकी तक की यात्रा अन्ततः पर्यवसान है। पर्वतों के हृदय-गर्भ से निकल नदी समन्दर की खोज में उलझती-भटकती चलती चली जाती है और उसमें विलीन होते ही उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है। उसकी पहचान समुद्र में विलय हो जाती है। उसी प्रकार इश्कहकीकी में खोने के बाद साधक की साधना पर भी विराम लग जाता है। इसीलिए नदी बढ़-बढ़ के कहती है अभी सागर नहीं आए क्योंकि 'अगर वो मिल गया तो बाद मिलने के बचेगा क्या?' (*दीवारों पर दस्तक : पृ. 7*) परमसत्ता की भांति यह प्यार भी सर्वव्यापक है। प्रकृति के ओर-छोरों में पुरुष भावनाओं का ही लयीकरण है।

'दीवारों पर दस्तक' की ग़ज़लें-दस्तकें हृदय और मन के अन्धकार को दूर करने वाली हैं। जब चारों ओर निराशा, भय, अनास्था का गहन अन्धकार छाया हो तब शब्दों के काले पहाड़ों के पीछे से ये ग़ज़लें सूरज उगाने की कोशिश हैं। ग़ज़लकार के शायराना अंदाज यहां मुख्तलिफ़ किस्म के हैं। मन की आग को वह यहां ठण्डा नहीं करता, उस ठण्डक से ही धूनि उठाता है। तमाम विरोधों, नकार स्थितियों, बगुला तुर्शी आचरणों, नेतायी आश्वासनों, सामाजिक उत्पीड़नों के बीच वह उन दड़बों कैदखानों की दीवारों में सूराख करता है जिनमें आज़ाद हृदय दम तोड़ रहा है। उसका विश्वास तोलिए –

" दीवारों पर दस्तक देते रहिए
दीवारों में दरवाजे बन जाएंगे।" (*पृ. 13*)

इन सख्त दीवारों में कहीं खिड़कियां, रोशनदान नहीं सीधे खड़े बड़े दरवाजे हैं। शायर उन खारी नमकीन हवाओं का रुख पलट कर उन्हें बन्दी कर लेना चाहता है जो शाखों को काट कर दीवारों को सहारा देती है। एक तरह से ग़ज़लकार चेतावनी देता है –

"चलो मत आरियां बन कर हवाओ
गले मिलती हुई इन डालियों पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आरियों! शाख को यूं न काटो
शाख से पत्तियां निकलती हैं।" (*पृ. 92*)

'पानी की रस्सियों' की गांठें खोलते समय कुंअर का ग़ज़ल मन मुकुर-प्रिय हुआ था "....अपने से बाहर किसी से बंधना प्रेम है और अपने से बंधे रहना स्वार्थ" (*रस्सियां पानी की : पृ. 36*)। इसीलिए शायर यहां अपने से नहीं बंधा रहता बल्कि अपना प्रसार कर सबका हो जाना चाहता है –

"जब तक चांदनी रातें रहेंगी/ प्यार की बातें रहेंगी, (*दीवारों पर दस्तक : पृ. 26*)
खींच दे प्यार की कलम से तू/ खुशबुओं की लकीर पत्थर पर।" (*पृ. 14*)

प्रेम-साधना कबीर-कद की ऊंचाई पर ले जाती है लेकिन अपना घर फूंक कर चलने की कुव्वत कितने लोगों में होती है जिसमें वह कुव्वत होती है वही कबीर, घनानन्द, रसखान का कद पाता है, फर्क सगुण-निर्गुण का हो सकता है तपिश तो वही चाहिए –

"बीते जात कई जन्म उसे पाने में
दिल कोई चीज नहीं है कि उठाई दे दी।" (*पृ. 74*)

इसमें अनेक ग़ज़लें पुरानी ग़ज़लों का भावानुवाद मात्र हैं जो असर नहीं छोड़ती।

शिल्प को अधिक निखारने-संवारने के चक्कर में ग़ज़ल-कथ्य दब-सा गया है। ग़ज़ल-संग्रह के प्रारम्भ में इस विषय में ग़ज़लगो की लम्बी चौड़ी तकरीरें इसी मकसद की फरमानी हैं। 'ग़ज़लः एक पर्यालोचन' शीर्षक निबन्ध में शायद कुंअर बेचैन ने ग़ज़ल की परिभाषा और कथ्य पर मात्र दो पृष्ठ, 'ग़ज़ल : आकारिक विवेचन' पर ढाई, ग़ज़ल : बहरें (छंद) पर चार, 'ग़ज़लः विकास-क्रम' पर पांच, 'ग़ज़लः गीत-शैली' पर दो और 'हिन्दी ग़ज़लः प्रादुर्भाव एवं विकास' पर दस पृष्ठ कहे हैं। इसी तरह 'रस्सियां पानी की' संग्रह में 'ग़ज़ल' पर छः सात पृष्ठ लम्बे निबन्ध के अतिरिक्त 'ग़ज़ल की बहरें, उनके भेद और उनके नये हिन्दी नाम की चर्चा छब्बीस पृष्ठों में की गई है।' 'पत्थर की बांसुरी' संग्रह में भी पन्द्रह पृष्ठों में 'ग़ज़ल पर बातचीत' है। उसकी बहर, बहर के लक्षण और उनका हिन्दी रूपान्तर, छन्द का नाम, छन्दों में मात्राओं का क्रम तक दिया गया है। अर्कान और रुक्न तक को संकेतित किया गया है। ग़ज़लगो की निगाह में ग़ज़ल की कलात्मकता अनिवार्य और अद्वितीय है। 'बहर (छन्द) बिम्ब-प्रतिबिम्ब, भाव, वाक्य-विन्यास शब्द-योजना, सादगी, प्रवाह, अर्थ-गाम्भीर्य, उन्नत-कल्पना, प्रभाव सुस्पष्टता, सम्प्रेषण, भाव और विचारों की अदायगी आदि कितनी ही ऐसी बातें हैं जिनका ध्यान ग़ज़ल में बुनियादी तौर पर रखना होता है' (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 10*)।

हर ग़ज़ल में एक ही रदीफ (समान्त) तथा भिन्न-भिन्न काफियों (तुकान) से सजी-संवरी एक ही बहर (छन्द) में कहे गये अलग-अलग शेरों के समूह को ग़ज़ल कहा गया है। इसमें सामान्यतः पांच, सात, नौ, ग्यारह शेर होते हैं किन्तु कुंअर बेचैन ने स्वयं इस परम्परा को तोड़ा है। यूं सामान्यतः इनकी ग़ज़लें भी पांच, सात, नौ, ग्यारह शेरों के संयोग से बनी हैं लेकिन कहीं-कहीं शेरों की संख्या आठ भी हो गई है। 'पत्थर की बांसुरी' की सैंतीसवीं ग़ज़ल आठ शेरों की है। इसका हर शेर स्वतन्त्र है हिन्दी छन्द-विधान के अनुसार इस ग़ज़ल के प्रथम शेर की प्रथम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंक्ति में मात्राओं का क्रम नगण, नगण, भगण, भगण, सगण, यगण, मगण और गुरु के क्रम से उन्नतीस मात्रायें और इक्कीस वर्ण, किन्तु दूसरी और गुरु के क्रम से उन्नतीस मात्रायें और इक्कीस वर्ण –

| II I|I II|S II|S II|I I S|I S S|S S S|S |

यह मत समझो उसके घर दिन चार का आना जाना है - *2* (*पृ. 65*)

किन्तु दूसरी पंक्ति में यह क्रम बदल जाता है –

| II S|IIS|S I I|S IS|I S S|S S S|S |

यह तो तबसे है जब से संसार का आना जाना है - *1* (*पृ. 65*)

मात्राओं और वर्णों में भी अन्तर है। दूसरी पंक्ति में सगण, सगण, भगण, रगण, सगण, मगण और एक गुरु के क्रम मे तीस मात्रायें हैं तथा उन्नीस वर्ण। इनकी अनेक ग़ज़लों में इसी प्रकार की संयोजना है। उर्दू के छन्दों में 'एक गुरु' मात्रा को दो लघु के रूप में और दो लघु मात्राओं को एक गुरु के रूप में लिखने का प्रचलन भी है –

| IIS|I IS|S I S|S I I|I S I|I S S|I S |

"इसको कहना था कहा और मुझको सुनना था सुना" - *2* (*रस्सियां पानी की : पृ. 95*)

किन्तु कुंअर बेचैन ने इसका सूत्र यूं दिया है - 'राजभा गा, राजभा गा, राजभा गा राजभा' ऐसा लगता है कि छन्दों और मात्राओं के निर्देश को कवि ने हर ग़ज़ल के प्रथम शेर तक ही सीमित रखा है, अन्य शेरों पर उसे घटा कर नहीं देखा। जैसे-जैसे कुंअर बेचैन का शायर ग़ज़ल कहता गया है वैसे-वैसे ग़ज़ल शिल्प को वह गढ़ता गया है। मात्राओं के विधान और शब्दों को तोड़ कर गाने के नियम का इज़हार उसने 'पत्थर की बांसुरी' में किया है। गायन-दृष्टि से दो लघु को एक गुरु करने में कोई अदावत या बहरों को तोड़ना नहीं है।

युगीन संवेदना के ताप-यथार्थ से कुंअर बेचैन की ग़ज़लें परवान चढ़ी हैं इसीलिए वह अपनी ग़ज़लों को बांस की बांसुरी नहीं 'पत्थर की बांसुरी' बनाना चाहता है जो युगीन नशतरों को अपने वक्ष पर सहन कर सके –

"तुझे तोड़े भले ही रिश्ते और नातों के पत्थर
संभाले रखियो, ऐ दिल अपनी सौगातों के पत्थर" (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 83*)

पूरी ग़ज़ल एक ही बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से गूंजती है। यहां 'पत्थर' के विभिन्न प्रतीकार्थ हैं। दूसरे शेर में 'पत्थर बातों के' हैं। ये बातें 'शब्द' प्रिया के मुख का स्पर्श-चंदन है, इसलिए उनका स्वीकरण एवं वन्दन बेहद जरूरी है। शब्द-विस्फोट आन्तरिक व्यंग्य को नाखून बना देता है जो घाव तलवार से नहीं होता वह पत्थर जैसी बातों से हो जाता है। 'मुलाकातों के पत्थरों' को प्रिय-स्मृतियों में बहते आंसुओं ने तराशा है। 'बारातों के पत्थर' दूल्हे पक्ष के वे लोग हैं जो दहेज-दानव की अमानुषिकता से रौंद कर शीशे-सी गुड़िया रूपी दुल्हन को तोड़ देते हैं, अर्थात् हर शेर की दूसरी पंक्ति के तुकान्त में पूरी ग़ज़ल का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव मौजूद है। इसी रोशनी में 'महावर इन्तजारों का' की अनेक ग़ज़लें देखी जा सकती हैं –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"देना हुआ है जब कोई प्यारा उदाहरण
हमने दिया है सिर्फ़ तुम्हारा उदाहरण।" (*महावर इन्तजारों का : पृ. 79*)

प्रिया के रूप-सौन्दर्य का भाव इस ग़ज़ल के हर शेर में बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में गुंथा है। वाक्य-विन्यास, शब्द-योजना सीधी-सरल है। अर्थ-गाम्भीर्य से परिपूर्ण। शेर गहरे एवं व्यापक बोधी हैं –

"छत की ईंटें ही अगर बारूद से मिल जायेंगी
तो यकीनन घर की नींवें दूर तक हिल जायेंगी।" (*रस्सियां पानी की : पृ. 27*)

इस शेर का अर्थ बहुत गहरा व्यापक है। अभिप्राय यह है कि घर के ही लोग आक्रमणकारियों के साथ मिल जायें, घर का भेदी लंका ढ़ाये, जब बाढ़ ही खेत को खाने लगे। यहां 'छत' कोई ईंटें, सीमेण्ट, सरिया आदि से निर्मित छत नहीं है बल्कि यह छत है संरक्षण की, सुरक्षा की, अपनेपन की किन्तु यदि यही घात करेगी तो घर की नीवें कितनी ही दृढ़ व पुख्ता क्यों न हों, अवश्य हिल जायेंगी। यह शेर उग्रवादियों के सन्दर्भ में ही है कि विदेशी शत्रुओं से तो निपटना आसान है किन्तु भितरघातियों से कैसे सुलटें। समय साक्षी है कि हमारे देश में सबसे अधिक सम्पन्न राज्य था पंजाब, पंजाब के लोग सबसे अधिक मेहनती, शक्तिशाली साहसी और शूरवीर किन्तु पंजाब में फैले कुछ आतंकवादियों ने पंजाब की जड़ों को खोखला कर दिया। वहां से लोग पलायन करने लगे। अपने घर छोड़ कर भागने लगे। करें भी क्या उनके घरों की छतों ने बारूद के साथ संधि जो कर ली, उनके घरों की नीवें जो खोखली हो गईं। इसी प्रकार इसी भावार्थ को अपने गर्भ में छिपाये 'पानी की रस्सियों' की यह ग़ज़ल है –

"न तो गांवों ने हमें और न शहर ने काटा
हमको इन्सानों के इक मीठे ज़हर ने काटा।" (*पृ. 57*)

इसके एक-एक शेर में यही भाव गहरे अर्थ की व्यञ्जना करता है। इसी प्रकार और उदाहरण भी देखे जा सकते हैं –

"आंसू और दर्द के संग जब आह भी चली
संदर्भ याद आया श्रीराम वन गमन का।" (*महावर इन्तजारों का : पृ. 13*)
"चक्रव्यूहों में फंसे हैं आज भी अभिमन्यु कुछ
आज भी कितने ही छल जग के कुटिल जयद्रथ में हैं।" (*दीवारों पर दस्तक : पृ. 23*)
'हर रोज़ कोई कूद के करता है खुदकुशी
है बात क्या कि झील में हलचल नहीं कुंअर।' (*महावर इन्तजारों का : पृ. 17*)
"नोच डाले हैं समय ने पंख मेरे ऐ कुंअर
फिर भी उसकी यह अदा परवाज़ देती हैं मुझे।" (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 77*)
'कुछ सोचकर ही, ऐ कुंअर ये कह रहा हूं मैं
जो है नदी वो है किसी सागर की बांसुरी।' (*पृ. 96*)

गीत हो या ग़ज़ल शायर/ कवि उसे एक परिवार मानता है। 'पंक्तियां' मां है और 'शब्द उसके बेटे' (*रस्सियां पानी की : पृ. 90*)। परिवार की सुख शान्ति बनाये रखने के लिए शब्दों के कर्त्तव्य बहुत अधिक हैं। कुंअर ने शब्दों को नयी अर्थ-व्यापकता और गाम्भीर्य-गरिमा दी है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीकात्मकता भी शब्दों का अर्थ-विस्तार करती है। कवि का हृदय एक गहरी झील है (*पृ. 64*) जिसमें कमल के शब्द प्रायः खिलते रहते हैं। कवि/ शायर के हृदय-सागर में भाव-लहरियां भावानुरूप चोला अदल बदल कर नए शब्दों का रूप धारण कर नए अर्थ ध्वनित करती हैं। यथा इस ग़ज़ल को परखिए –

"चलते-चलते मिल गये जो सात स्वर के घुंघरू,
साथ मेरे चल रहे हैं वो सफर के घुंघरू।" (*पृ. 76*)

सात स्वरों के घुंघरू >संगीतात्मकता, उम्रभर के घुंघरू > सांसें, मादक नज़र के घुंघरू > प्रेम लहरियां, अधर के घुंघरू > कुंअर की गीत-ग़ज़लें। इस प्रकार की प्रतीकात्मक अर्थ-ध्वनियां कुंअर की गीतीय गज़लों का पारदर्शी हुस्न है। इसी प्रकार 'आसनों से उतारी गई आरती' ग़ज़ल में 'आरती' प्रतीक है नारी का। भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान सर्वोच्च है। वह महिमामयी, गरिमामयी है और भगवान की आरती के समान वंदनीया है। धूप के समान उष्मामयी, उज्ज्वल और पवित्र है लेकिन भौतिकता की चकाचौंध में जैसे लोग भगवान की आरती को भूलते जा रहे हैं वैसे ही नारी को भी उसके पावन, पुनीत, सिंहासन से उतारते जा रहे हैं। इस ग़ज़ल का एक-एक शेर समाज की शोचनीय स्थिति को संकेतित करता है।

'पानी की रस्सियां' ग़ज़लकार के आंसुओं से निर्मित हैं जिनमें शब्दों की शक्ल में अनगिनत घटनाओं की गांठें लगी हैं। ये गांठें अनेकर्थी हैं। गांठों को खोलना वस्तुतः खुद को खोलना है। शायर 'स्व' को खोलता हुआ सृष्टि से जुड़ना चाहता है। उसका हृदय स्वार्थ की संकीर्णताओं का बन्दी नहीं है। शायर का निष्कर्ष है कि जीवन में मनुष्य जो कुछ भी सीखता है 'ठोकरों' से ही सीखता है। यह 'ठोकर' ठोकर नहीं दुःख, कष्ट, त्याग, अस्तित्व के तिरोहण की प्रतीक है –

"जिस नज़र से देखते हैं हम नज़र रोशनी
वो नज़र भी तो हमें अपनी नज़र खोकर मिली।" (*महावर इंतजारों का : पृ. 47*)
"टूटता क्या, चलते-चलते, खाई ठोकर, उठ गया
मैं रबर का इक खिलौना था जो गिर कर, उठ गया।" (*रस्सियां पानी की : पृ. 56*)

ठोकर, की प्रतीकात्मकता में जीवन का रस-तत्व है। ग़ज़लकार 'कांच के शामियानों' में बैठा 'पानी की रस्सियों' को खोलने का संघर्ष करता है। यही जुझारु वृत्ति उसे पत्थर-वक्ष में 'सुराख करने की प्रेरणा देती है। इंसान और इंसान के बीच दीवारें खड़ी करने वाली राक्षसी ताकतें इन्सानियत की दुश्मन हैं और जो भी शक्तियां इन्सान और इंसान के बीच प्यार का सूत्र बांधने का प्रयत्न करती हैं, वे ही इंसानियत की सच्ची दोस्त हैं। एक वह दीवार है जो आंगन में खड़ी है, वह रोशनी को रोक रही है, हवा को रोक रही है। इस के विपरीत एक कमरे की दीवार है जो अपने सिर पर छतें रख कर धूप, वर्षा, आंधी और अनेक आपत्तियों से बचा कर शरण दे रही है। आंगन की दीवार दुश्मनी का प्रतीक है और कमरे की दीवार दोस्ती का –

"दुश्मनी और दोस्ती में कुंअर फर्क है ये
एक आंगन की है दीवार, एक कमरे की।" (*दीवारों पर दस्तक : पृ. 6*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि का अटूट विश्वास है कि दीवारों पर दस्तक देते रहने से दरवाजे अवश्य बनेंगे (*पृ. 13*)। इसीलिए ग़ज़लगो दीवारों पर दस्तक देता है दरवाजों पर नहीं। 'महावर का इन्तजार' आस्था की वे रोशनी लकीरें हैं जो 'दीवारों की दस्तकों' को छैनी बना देती है। शायर का रचनाशील मन दीवारों पर पड़ रही लगातार उन दस्तकों को सुन कर संकल्प चेता दृष्टि का विस्तार करता है जो समाज का गुणनफल है।

ग़ज़लों के अनेक शेर सूक्ति-रूप हैं जिनकी शक्ति सामर्थ्य को खुले मन से सराहा जा सकता है –

"जो चाहते हो आसमां छूना ऐ दोस्तों
तो आंसुओं के साथ में अंगार भी रहे।" (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 75*)
"सुख में हंसकर दुःखों से न घबराइये
दीप की रोशनी में धुआं भी तो है।" (*पृ. 32*)
"दूर तक कांटे बिछे थे ज़िन्दगी की राह में
ढूंढने वालों ने उनमें फिर भी कलियां ढूंढ ली।" (*पृ. 36*)
"हर नये कर्त्तव्य पर कोई नया अधिकार था
मैं उसे समझा नहीं वह तो तुम्हारा प्यार था।" (*महावर इंतजारों का : पृ. 88*)
"वो जिसमें 'लौ' है विरोधों में और चमकेगा
किसी दीये पे अंधेरा उछाल कर देखो।" (*दीवारों पर दस्तक : पृ. 64*)

अनुप्रासात्मक संगीत कुंअर बेचैन के गीत/ ग़ज़लों में झरने की भांति झरता है –
'थिरकर, कांपकर हंसकर, सहमकर और शरमाकर' (*महावर इंतजारों का : पृ. 44*)
'दिल से प्यारी, जां से प्यारी, खुद से प्यारी चिट्ठियां' (*पृ. 68*)

अत्यानुप्रास का आधार है वर्ण-मैत्री। इसकी फुहार में भीगिए –
"मैं अपने दर्दों का अश्कों में जब अनुवाद करता हूं
जो आंसू पोंछ देते थे वो दामन याद करता हूं।" (*रस्सियां पानी की : पृ. 63*)

इसी प्रकार स्वर-मैत्री का सौन्दर्य भी ग़ज़लों को संगीतात्मकता से भर देता है –
'तेरे साथ गुजारे दिन' (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 46*), 'मेरी ही बात है मुझको' (*पृ. 51*), 'दूर तक खामोशियां' (*पृ. 15*) आदि। स्वर-मैत्री की ऊंचाई तरलता देखिये –
"हुए हमारे साथ ही नये नये ये हादसे
मिली थीं मंजिलें, मगर न तय कोई सफर हुआ।" (*शामियाने कांच के : पृ. 84*)
इस शेर में 'ऐ' की स्वर-मैत्री ही अधिक है।

पौराणिक संकेतों एवं सन्दर्भों से ग़ज़लों की कथ्यभूमि तीव्र व्यञ्जनामुखी हो जाती है –
"फिर युधिष्ठिर को पुकारा है समय के यक्ष ने
कान में इतना ही पीपल के कहा वट वृक्ष ने।" (*पृ. 86*)
"बात दिल की किस तरह खोलूं तुम्हारे सामने
मैं सुदामा की तरह हूं, बात तंदुल की तरह।" (*पृ. 86*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलंकार गीत के आभूषण हैं ग़ज़ल के नहीं लेकिन हिन्दी ग़ज़ल इससे महरूम नहीं है। अलंकार यहां अयाचित अतिथि नहीं है बल्कि मन की सहजता लेकर सुगबुगाते हैं। कुंअर की ग़ज़ल का प्रारम्भिक दौर इस अलंकार वृत्ति से बचा रहा है लेकिन बाद की ग़ज़लों में अलंकारों का नूर ज़वानी की तरह पर्दानशीं होकर भी नवाया गया है। 'नहीं, हम हैं नहीं ज्ञानी ग़ज़ल के' कह कर शायर अपनी विनम्रता और ज़िन्दादिली का सबूत देता है। इसमें दो राय नहीं कि कुंअर बेचैन ने ग़ज़ल का गहरा अध्ययन किया है। संग्रहों की लम्बी-लम्बी सार्थक भूमिकाएं इसका मानक रचना शास्त्र हैं। ग़ज़ल-व्याकरण को कुंअर ने गहरे तल में मथा है। शायर में सायास अलंकार-वृत्ति नहीं है। शाख-पत्र की भांति अलंकार खुद-ब-खुद धूप-चांदी बिखेरते आते हैं। इनायत फरमाइये –

उत्प्रेक्षा –

"हर सांस पर लदा है बोझा किसी थकन का
ज्यों नैन के क्षितिज पर हो भार अश्रुघन का।" (*महावर इन्तजारों का : पृ. 13*)

उपमा –

"दिल के दीपक पर हमने/ काजल जैसे पारे दिन।" (*पत्थर की बांसुरी : पृ. 46*)
"ज़हर को पीकर नाम ज़हर का/ हम जैसे सुकरात करेंगे।" (*पृ. 47*)

मानवीकरण –

"चाह-पनिहारी की उंगली को थाम कर ऐ कुंअर
रोज पनघट पै चला आता है घट चुपके से।" (*पृ. 82*)
"गम के पत्थर में किसी बुत-सा छिपा बैठा हूं मैं
अब तेरी मुस्कान की छैनी ही बाहर लायेगी।" (*पृ. 82*)

इसी प्रकार 'जल का खय्याम समुन्दर' (*रस्सियां पानी की : पृ. 32*), 'रूप का महुआ चुआ है आंख में' (*पृ. 17*), आदि में भी मानवीकरण की सुन्दर निदर्शना है।

कुंअर बेचैन के गीत और ग़ज़ल 'दर्द और आह' का कभी न खतम होने वाला कारवां है। कवि/शायर की तलाश जारी है। यात्रा का जारी रहना ही कुंअर की रचनात्मक सकारात्मकता है। सकार मूल्यों के प्रति कुंअर की बेचैन गीत-दृष्टि मनुष्य के अन्तर्मन को पुनः संधित कर रही है। कवि का गीतीय ग़ज़ल चिन्तन मनुष्य को उसकी बुनियादी भावभूमि से जोड़ने को तड़प रहा है। इसी तड़पन और सेतु का नाम है कुंअर बेचैन –

"सिन्धु बनने से नदी रहना ही अच्छा है कुंवर
है नदी मीठी, समुन्दर जन्म से खारा रहा।" (*महावर इन्तजारों के : पृ. 45*)

लेकिन कुंअर बेचैन की इस नदीय मिठास पर माहेश्वर तिवारी ने प्रश्न लगा दिया है। लेखक के एक प्रश्न के उत्तर में माहेश्वर ने लिखा कि – "डॉ. कुंअर बेचैन जैसे कुछ रचनाकारों का नाम बतौर सफल गीतकार इसलिए नहीं लिया जा सकता क्योंकि ये गीत का आंचल छोड़ कर पूरी तरह ग़ज़ल का दामन थाम चुके हैं.... जो कुछ महत्त्वाकांक्षाओं के लिए एक जगह से दूसरी जगह पाला बदलते रहते हैं" (*माहेश्वर तिवारी का पत्र : 11 फरवरी, 1988*)। कुंअर की गीतीय प्रतिभा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर यह आरोप बिल्कुल सही लगता है। साहित्यिक प्रतिष्ठापना के चक्कर में हिन्दी गीत को छोड़ कर ग़ज़ल की आराधना करना अपने हृदय की दीवारें गिराने जैसा है। ग़ज़ल गीत पर हावी नहीं होनी चाहिए। कुंअर का ग़ज़लीय रचना संसार गीत की अपेक्षा अधिक विस्तार पा रहा है। इनका विशुद्ध ग़ज़लीय महत्त्वाकांक्षी व्यक्तित्व गीत को तलाक देकर सुखी नहीं रह सकता। कुंअर को यदि अपने साहित्यिक मृत्यु-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं करने तो उसे नींव की ईंटों को नहीं भूलना चाहिए। गीत ही कुंअर व्यक्तित्व की गरिमा है। ग़ज़ल उसके व्यक्तित्व का एक विकसित आयाम भर है इसका विश्वास उसे अपने रसिक श्रोताओं/पाठकों को दिलाना चाहिए।

अन्तर्दृष्टि : जुगनु गीत आत्मीय कताई

अतिबौद्धिक इड़ास्म परिवेश की समसामयिक बेचैनियों के बीच कुंअर के गीतों-ग़ज़लों ने अन्तर्सम्बन्धों की आत्मीय कताई की है। मानवीय मन पर छाये घुप्प अंधेरों को जुगनू गीतों की कनियों से बेधा है। इन्होंने विवशता बोध, लाचारी, अनैतिकता, आचारहीनता, आतंक, मूल्य-टूटन, घुटन आदि की अंगार-प्रतीतियों को हृदय की खुली हथेली दी है। इनके गीतों में साइनाईड को जीभ पर रखने की ताकत है तभी वे आधुनिकीकरण की अन्तर्वीथीय तेज़ाब जकड़नों को घूंट-घूंट पी कर पचाते हैं। इन शिवकण्ठी गीत-प्रतीतियों का पर्यावरण पूरे गीत-ग़ज़ल परिदृश्य की फिज़ा को बेचैन करता है और प्रेमचन्द के शब्दों में जो साहित्य मन में बेचैनी पैदा करे वही सार्थक है। इनकी साहित्य-सम्पदा 'स-हित' के भाव से जुड़ी है। कुंठा और संत्रास के बीच भी इनके गीत-ग़ज़ल कीचड़ में कमल की तरह खिलते हैं। धरती का सीना फोड़ अंकुर की तरह फूटते हैं, शाख-पत्र की तरह अपना स्वाभाविक विकास करते हैं। इन गीत-ग़ज़लों में मरुयी ताप ही नहीं हरियाली पर्व भी है। इनकी गीत ग़ज़लीय मुस्कानें जीवन के द्रवधारी सन्दर्भ-प्रसंगों को भी मानसर हृदय देती हैं। इनमें भाव, विचार, शिल्प का अतिरिक्त चातुर्य न होकर एक अनोखा संतुलन है जो पावस-घाटी में उठे मेघ की तरह छाकर खाली होने तक बरसता है। वह गीत रूप में हो या ग़ज़ल रूप में समूचे परिवेश को आर्द्र करता है। चौरास्ते पर खड़ी ज़िन्दगी इनकी रचनाओं में अपने को खुद व्याख्यायित करती है। इनके गीत-ग़ज़लों ने कोई लक्ष्मण-रेखाएं नहीं खींची और न ही किसी शिविरधर्मी आचरण की मोहताज़ रही। संघर्षों के बीच से इन्होंने खुद रास्ता बनाया है। कुंअर बनी बनायी पगडण्डियों पर चलने का अभ्यासी नहीं है, पथ की खुद निमिर्ती उसका स्वाभाव है। उसके रचना संस्करों में जिज़ीविषा अग्नि से खेलती है और जीवट लावायी प्रवाह को काल मुद्राओं के अनुरूप द्रवीय बनाकर समाज और साहित्य को समर्पित हो जाता है। इन रचनात्मक संस्कारों की खूबी ही यही है कि इनके गीत-आंसू भी सुख देते हैं। ग़ज़लीय नफ़ीसी भी जीवन को ऋदम से जोड़ती है। जीवन और स्थितियों की गंधक को छान कर कुंअर उन द्वारों पर दस्तक देते हैं जिनके झरोखे बंद हैं। खुले झरोखों से छनती रोशनी लकीरों में अंकित जिन्दगी की इबारतों को कुंअर का रचनायित मन एक हृदयवादी चिन्तक की तरह सूर्य-अर्क करता है, युगीन सन्दर्भों में उन्हें कला-कल्पना के यथार्थ से जोड़ कर व्यक्ति और समाज को साक्षात् साधारणीकृत कर देता है। इस साधारणीकरण में देह-मन की परती धरती पर धंसे जंग लगे 'पिन बहुत सारे' 'भीतर की सांकलों' को तोड़ कर 'बाहर की सांकलों' से रूबरू होते हैं। संघर्ष-यात्रा के इस कर्म-चिन्तन में 'इंतजारों के महावर', 'कांच के शामियाने'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उर्वशी-अर्थों में गुम नहीं होते अपितु 'पत्थर को गीत बना कर बांसुरी' की तरह 'खग-कुल' की बोली बोलने लगते हैं। पानी में भंवर बनी 'रस्सियां' पारदर्शी होकर 'दीवारों पर दस्तक' देती हैं। इसी पारदर्शिता में जीवन की तमाम उलझनों- सुलझनों के बीच 'झुलसो मत मोरपंख' का आस्थाबोध बुलन्दी से सिर उठाता है। 'पिन', 'सांकलें', 'महावर', 'उर्वशी', 'रस्सियां', 'दस्तक', 'बांसुरी', 'पंख', 'शामियाने' समूचे मानव-जीवन का बोध उत्सव हैं। ये शब्द, मात्र शब्द नहीं हैं अपितु मानव मूल्यों की धड़कनें हैं जो तालबद्ध होकर जीवन की ब्रह्मरन्ध्रीय नादात्मक गूंज को अनुष्ठित कर साधने का रास्ता देती हैं। इनके प्रकाशवृत्त अन्धकार की छाती पर तीसरा नेत्र खोलते हैं। इसलिए इनके नर्त्तन में सृजनात्मकता से जुड़ा संहार दर्शन है नकारात्मक विध्वंसात्मकता का अभिशप्त रोदन नहीं। जहां कहीं हताश रोदन मानव-माथ पर चस्पां हुआ है वह युग-सन्दर्भों की व्यापक गूंज है जो व्यक्ति को जीवन के यथार्थमुखी सत्यों की ओर संधान को प्रेरित करने के लिए है। इनमें ताप गहरा और विविधमुखी है लेकिन आस्था के स्फुलिंग भी इन्हीं में है जो अग्निमुख होकर जीवन को उपनिषद् संभावनाओं से जोड़ने वाले हैं। कर्म-प्रेरित इन गीत-ग़ज़लों में कुंअर के रचना-संस्कारों ने युग का मंथन कर जो पाया है उन धचकनों की नुकीली नोकों को जल से जोड़ा है जिससे वे नोंक धार तो बनें लेकिन जल से परिणय कर द्रवधारी हो जाए। कुंअर का रचना-संसार इसी द्रवीय-चेतना को पोषित करता है। इधर-कुंअर के रचना-संसार को अनुसंधान से परखा जाने लगा है। एकाध विश्वविद्यालय से शोध प्रबंध अन्तिम स्थिति में है। अपने देश की गंध संस्कारों को बेचैन विदेशों में भी ले गए हैं। इनके गीत-बिरवों की सुगन्ध रूस, अमेरिका, मारिशस, इण्डोनेशिया आदि देशों मे फैल चुकी है। इन गीत-बीज़ों में वट होने की पूरी संभावनाएं मौजूद हैं। समय के साथ इनके गीतवटीय बीज एक दिन साहित्य छतनार होंगे - इसका विश्वास किया जा सकता है।

त्रिवेणी में गुंथा मलयज का झौंका : उमाकान्त मालवीय

गुटीय शिविरबद्धता और वादों से दूर रह कर गीत-साधना में तल्लीन यूं तो अनेक नवगीतकार हैं किन्तु उमाकान्त मालवीय की सहज़ादगी एवं शालीन निर्गुटता नवगीतीय मानकता की विशिष्ट उपलब्धि कही जाएगी। उमाकान्त शिविरबद्ध प्रतिबद्ध आग्रहों को नकारने वाले भावनाप्रवण नवगीतकार थे। बौद्धिक स्वाधीनता के नाम पर धुरीहीन अवसरवादिता का उन्होंने कभी समर्थन नहीं किया। उनकी दृष्टि में नवगीत नई कविता विरोधी अभियान नहीं बल्कि नई कविता के विकास क्रम के समानान्तर ही एक काव्य विधा है। इसलिए "जब भी कुछ नया अंकुर....छतनार वृक्ष के रूप में स्थापित है.....नयी कविता के गर्भ से नवगीत का हिन्दी कविता के विकास के अगले सोपान के रूप में अभ्युदय हुआ है....प्रतिक्रिया सदैव रुग्ण होती है और नवगीत प्रतिक्रिया स्वरूप हो ही नहीं सकता वरन् यह एक स्वस्थ विकास है।" जिस प्रकार प्रकृति, सृष्टि परिवर्त्तनशील है उसी प्रकार हर युग में संवेदनाओं के संवाहक काव्य रूप भी बदलते रहते हैं। आदिकाल से रीतिकाल बल्कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तक पद-परम्परा खूब फली-फूली, विभिन्न छन्दों में काव्याभिव्यक्तियां होती रहीं, आधुनिक काल के पूर्वार्द्ध में कविता के अनेक रूप सामने आए तदुपरान्त नयी कविता ने अपने शिल्प का लोहा मनवाया। नए प्रतीकों और नए बिम्बों का गढ़न-गठन आधुनिक संवेदनाओं को व्यक्त करने में सहायक सिद्ध हुआ। नई कविता का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विराट् और व्यापक दायित्व था अपने युगबोध को व्यक्त करना और उसने इस दायित्व को बखूबी निभाया। कालान्तर में कविता अनेक धाराओं-उपधाराओं में बंट कर नाममात्र की कविता रह गई क्योंकि नये के नाम पर साहित्यिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने के लिए साहित्यिक राजनीति की बिसातें बिछती चली गईं। बहरहाल नयी कविता के समानान्तर विराट और व्यापक युग-सन्दर्भों को अभिव्यक्त करने की सकार दृष्टि लेकर हिन्दी साहित्य के मंच पर नवगीत सूर्य का अभ्युदय हुआ। अतः नवगीत नई कविता की मात्र प्रतिक्रिया नहीं अपितु काव्यात्मक विधाओं का अगला चरण है।

त्रिवेणी-सच

मनुष्य के मस्तिष्क और हृदय की अभिव्यक्ति के लिए इलाहाबाद और बनारस प्रसिद्ध ज्ञान-तीर्थ रहे हैं। साहित्य के विकास में भी इन दोनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संस्कृत के लिए बनारस और हिन्दी के लिए इलाहाबाद अच्छी तरह जाने जाते हैं। इलाहाबाद प्रतिभाशाली तीर्थ है। निराला, पंत, महादेवी जैसे गीतकारों को सहेजने वाला कलानगर इलाहाबाद है जहां उमाकान्त मालवीय का गीत पालित-पोषित हुआ। उमाकान्त मालवीय तैयारी के साथ साहित्य के क्षेत्र में आए। संस्कृत, हिन्दी, बंगला साहित्य के अध्ययन के साथ अंग्रेजी साहित्य से भी इस गीतकार का गंभीर परिचय था। उमाकान्त मालवीय ने सावधानी और सहजता से गीत रचना की। छायावादोत्तर गीत रचना की प्रक्रिया से अवगत होने के कारण इन्होंने नवगीत के क्षेत्र में तेज़ी के साथ उल्लेखनीय कार्य किये।

उमाकान्त की शास्त्रीय दृष्टि उनके नवगीतों में झांक कर एक अलग प्रकाश का अनुभव कराती है। नवगीतों की भाषा सुसंस्कृत, संभ्रान्त और मुहावरेदार है। इन्होंने भाषा को आंचलिकता का स्पर्श देकर उसे और भी अधिक महनीय और आकर्षक बना दिया है। नवगीत को एक नयी भाषा देने का श्रेय उमाकान्त को है। इन्होंने छायावाद के मर्म को भीतर से जाना था। इन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से जीवन को देखा है। इसलिए गीतों में यदि किसी मिथक की कोई रेखा मिलती है तो वह एक नयी चिन्तना लेकर। यही कारण है उमाकान्त का गीत साहित्य अपनी अलग छाप छोड़ता है। नवगीत के पक्षधरों में उमाकान्त के गीत जहां भावना की गहनता, कल्पना की उड़ान और शब्द की झंकार देते हैं वहां उमाकान्त के पांडित्य का भी दिग्दर्शन होता है।

नवगीत के साथ यह भी देखा गया है कि जहां केवल गीत है वहां भावना अधिक कोमल, भावुक, संवेदनशील और तरल है परन्तु जिन गीतकारों ने गीत के अतिरिक्त अन्य विधाओं में भी लिखा है वहां गीत उतनी तन्मयता नहीं दे पाता। उमाकान्त जितने अच्छे गीतकार थे उतने ही अच्छे गद्य-लेखक भी। उनके लेखों से उनके पांडित्य की सुगंध पाठक को मोहित करती है। यही मोहकता उनके नवगीतों में भी है परन्तु इन्हें लोकप्रियता उस रूप में नहीं मिली जिसके वे अधिकारी थे। कवि-सम्मेलन के मंच पर उनका संचालन अत्यन्त प्रभावशाली होता था। मंच पर उनके गीत को बौद्धिक दृष्टि से सुना जाता रहा। नवगीत के समालोचक उनके गीतों को उद्धरण रूप में प्रयुक्त करते रहे हैं परन्तु उमाकान्त को वह प्रतिनिधित्व नहीं मिला। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उमाकान्त मालवीय ने बहुत कम समय में अपना स्थान बना लिया था। उन्हें अत्यन्त अल्पायु मिली। यदि और जीवित रहते तो कुछ और अच्छा काम करते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उमाकान्त के नवगीतों में भारतीय संस्कृति अपनी भव्यता से मुखर हुई है। इन के गीतों में भारतीय संस्कृति के प्रतीक तीज़-त्यौहार आदि का प्रयोग अत्यन्त शालीनता से हुआ है। उमाकान्त एक ओर नागरिक जीवन की अनुभूति संजोये हुए थे तो दूसरी ओर ग्राम संस्कृति से भी गहरे जुड़े हुए थे। नवगीत के क्षेत्र में उनके प्रयोग नई ताज़गी के साथ इसलिए उभर कर आते थे क्योंकि दोनों संस्कृतियां उनमें अकृत्रिम रूप से जगमगा रही थीं। यह सांस्कृतिक ईमानदारी उनमें कूट-कूट कर भरी थी। वे जीवन मूल्यों के लिए सदा लड़ते रहे। अपना स्वाभिमान मन जीते हुए इस नवगीतकार ने नवगीतों को सांस्कृतिकता दी और भारतीय आदर्श की स्थापना के लिए वे प्रयत्नशील रहे। वे स्वयं गायक नहीं थे परन्तु उनके नवगीत में गेयता का पूरा आनन्द मिलता है। छन्द के प्रकाण्ड पंडित और लय के अनुरागी उमाकान्त अत्यन्त मधुर गीतों के रचयिता थे।

कई बार रचनाकार सार्वभौमिक होने के लोभ में अपनी धरती की गंध भुला देते हैं। उमाकान्त मालवीय त्रिवेणी में स्नात गीत के लेखक थे। वे आत्मा से इस गांगेय संस्कृति के भक्त थे। उन की पारस्परिक शब्दावली, व्यवहार और गीत में इस संस्कृति की अनुभूति एक अलग ही रस देती है। उमाकान्त का नवगीत-संसार इतना व्यापक और विपुल नहीं है परन्तु जिस क्षण तक इन्होंने गीत गाया उसमें 'नवता' को सदा सरगम में ढालते रहे। उनका सहज सुदर्शनी व्यक्तित्व उनके गीत में मुस्कराता है। उमाकान्त की दृष्टि शोधपरक और जिज्ञासु की रही। उनके गद्य में उनका वह अनुसन्धित्सु रूप दिखाई देता है परन्तु गीत की सहजता और आंचलिक नवता के प्रति आग्रह भी स्पष्ट प्रतीत होता है। नवगीत की विचार-वीथि में उमाकान्त का नवगीत एक नया सचिन्त दीप लिए खड़ा है।

त्रिमुखी भाष्य : सुबह, दोपहर, शाम

'मेंहंदी और माहवर', 'सुबह रक्त पलाश की' और 'एक चावल नेह रींधा' मालवीय जीवन की सुबह, दोपहर, शाम है। इसके त्रिमुखी भाष्य में जीवन का ताप तप्त मधु सिंचित है। मधुमुखी खारेपन के इस जीवन चिन्तन में उमाकान्त मालवीय की मूल्यचिन्ता जीवन को हर कोण से अक्स करती है। इन संघर्षपथी सरोकार आशयों के सर्गबद्ध अध्याय ही मेंहदी से नेह रींधे चावल की त्रिमुखी पीड़ा को रचनायित कर उसे बूंद बूंद से कलश-समुद्र बनाते हैं। इस सामुद्रिक कलश-विस्तार में त्रिवेणी गुंथी सरस्वती की प्रच्छन्न पीड़ा भी है जो शब्दों में बंध कर भी जीवन की विवशता को आकारित करती है। आकार के इस चितिदर्शन से ही उमाकान्त मालवीय का त्रिमुखी भाष्य अपने को सार्थक करता है। इस सार्थकता क्रम में ही रक्त पलाशीय मेंहदी से नेह रींधे चावलों का सम्वाद समूचे जीवन की कथा बांचता है।

समीक्ष्य गीतकार की बेबाक स्वीकारोक्ति है कि उनके लिए कथ्य सबसे महत्त्वपूर्ण है। वह जिस विधा के माध्यम से सर्वाधिक सफलता के साथ अभिव्यक्त हो सके उसे निःसंकोच स्वीकार कर लेगा और जो विधा कथ्य के आड़े आएगी, उसे वह बिना किसी मोह के छोड़ देगा। 'मेंहदी और महावर' की रचनात्मकता नब्य शैल्पिक भंगिमाओं के साथ मनुष्य-मन को रचती है। इसके अधिकांश गीत आह्लाद-क्षणों के गीत हैं, दुःख-दर्द के क्षणों के नहीं क्योंकि 'जमाने के पास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यूं ही अवसाद कम नहीं है....मेरा अधिकांश सुख सार्वजनिक है और यही उसकी सार्थकता है।....और जहां तक मेरे अवसादों का प्रश्न है, निवेदन करना चाहता हूं कि वे सार्वजनिक नहीं है...उसका सार्वजनिक होना मुझे स्वीकार नहीं.....।' उमाकान्त की दृष्टि में शब्दों में बिखरा अनावृत्त दर्द निन्दनीय है –

"दर्द, दफन जो हो न जाय अन्तरतम मन में
और अनावृत्त हो शब्द में बिखर जाय जो
बहुत निंद्य है।" (*मेंहदी और महावर : पृ. 8*)

'सुबह रक्त पलाश की' 'मेंहदी और महावर' का अगला चरण है। 'मेंहदी और महावर' के आह्लाद क्षणों में कवि की रचनाशीलता प्रस्थान कर इस संग्रह में युगबोध को सजगता से आंक कर गीत की शक्ति उभारती है। इस सूर्य-सत्य से कौन इन्कार कर सकता है कि हमें राजनैतिक स्वतन्त्रता अवश्य मिली किन्तु हम सामाजिक, आर्थिक, मानसिक रूप से अभी भी परतन्त्रता के शिकंजे में जकड़े हैं। परिवेश बोध ने हमें जो दिया उसमें आस्था की मूल्य चटकनें, पाश्चात्य संस्कारों के ओढ़ने की प्रबल मानसिकता का द्वन्द्व, औपचारिकता की मरुभूमि में सिसकती सहजता, आत्मीय रिश्तों में घुटन-रिसाव कुल मिला कर सांस्कृतिक नैतिक आस्थाहत मूल्य विघटन की त्रासदी का अभिशप्त दौर। अन्तर्मन निरूपाय होकर अस्तित्व के विभाजन का अभिशाप झेलने को विवश था। विभाजित व्यक्तित्व की पीड़ा ने आधुनिक जीवन की संत्रास त्रासदी को हर कोण से जिया। भोगे हुए इन सत्यों की समकालीन कथा प्रतीतियां 'सुबह रक्तपलाश की' की गीतभूमि पर बीजित हुईं। इन गीतों में कवि का अनुभव बड़ा कड़वा और तल्ख़ है -

"भूख-प्यास घर-घर रीते/ जूठे वासन खंगारती
यात्राएं दिशाहीन हैं/ बिके एक-एक सारथी
बदनियत करों से भविष्य की वल्गायें छूटें तो कैसे?" (*सुबह रक्त पलाश की : पृ. 12*)

नवगीत कथ्य पर टिप्पणी करते हुए उसके शिल्प में परिवर्त्तन का आग्रह कवि को स्वीकार है – "कविता की पहचान के लिए, उसे रेखांकित अथवा परिभाषित करने के लिये लोगों ने हर सीमा को नकार दिया ताकि अपने द्वारा तथा अपने लोगों द्वारा रचे गये गद्य ही नहीं, रुक्ष गद्य को भी कविता कहा जा सके लेकिन जब गीत की बात आती है तो संक्षिप्तता, भावनात्मक ऋजुता, वैयक्तिकता आदि तक उसे घोट देने की दुरभिसंधि सिर उठाती है और गीत के प्रति हमारे शुभेच्छुओं का आग्रह प्रेम जाग उठता है। क्यों नहीं हमारी आज की मानसिकता, सामाजिक परिवेश, व्यक्तित्व का दोगलापन, भूख, गरीबी, व्यंग्य विपर्यय की स्थिति आदि नवगीत का कथ्य बन सकता और इस मुद्दे पर गीत की युगों पुरानी परिभाषा जो अपर्याप्त हो गयी है, आड़े आती है।" (*सुबह रक्त पलाश की : भूमिका*)

'सुबह रक्त पलाश की' के गीत पारम्परिक गीतों की रूढ़ परिभाषाओं को तोड़ते हैं। शैल्पिक सुगबुगाहट 'मेंहदी और महावर' में भी है किन्तु यहां आकर कवि के नव्य-शैल्पिक उपकरण अनुपातन अधिक स्पष्ट होते जाते हैं। इस संग्रह के गीत वर्त्तमान स्थिति का आईना है। इन गीतों में जीवन-धुरी पर संक्रमित सभी अर्थों और परिभाषाओं को बदलने वाली वर्त्तमान विभीषिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के जीवन्त चित्र-बिम्ब हैं। संकट आज आस्था का नहीं नेतृत्व का है। नेतृत्व 'रामराज्य' जैसी प्रजा नहीं चाहता। उसे ऐसी प्रजा की आवश्यकता है जो घूरे पर दाना बीनने वाली हो, जुलूस, पोस्टर, नारेबाजी करती अंधी, गूंगी बहरी और 'यस सर' की आदत डाल कर कुत्ते सी दुम हिलाने वाली हो। ऐसे में –

"आंसुओं की क्या कमी/ जो गैस छूटे/ उफ अजब कानून
लाठी के अनूठे/ पर उठाओ माथ गर्वीला उठाओ
बींधती संगीन सूर्योदय सुनहरा।" (*पृ. 21*)

रोती मर्यादाएं, सिसकती आस्थाओं के बीच पनघटी निश्छल सौन्दर्य-बोध को कोलतार की आधुनिक सड़कों के किनारे लगे नल निगल गए हैं। छतनार खजूर हो गए हैं, बेबस बेपर्दगी हया का मातम कर आधुनिक मूल्य चिन्तन का कफ़न ओढ़ हुस्नज़दा है। कुर्क गैरत मूल्यों के सरेआम नीलामी पर सिर पटक रही है। कौड़ी कौड़ी को मोहताज छलनी-जेब का मालिक स्वराज को रफ्ता-रफ्ता घिसटते देख रहा है। भारत के माने आज कौरव सभा है और बहुमत धृतराष्ट्र हो गया है। मनुष्य आज जी तो रहा है पर उसके मस्तक पर कील ठुकी है और हाथ-पांवों से लोहू रिस रहा है (*पृ. 62*)। जीवन-स्थितियों और समाजबोध की इन वैषम्य परक दशानन मुद्राओं को गीत की छाती पर झेलते हुए उमाकान्त ने इन्हें अनुभूति सापेक्ष बना कर मनुष्य को जीवट दिया है। अनेक प्रश्न हैं जो मन-मानसर का ध्यान भंग कर कवि की रचनाशीलता को चुनौती दे रहे हैं। आस्था विश्वास जैसे मूल्यों पर तुषारापात, अनिश्चय, दिग्भ्रम चारों ओर कुलबुलाते प्रश्न, नष्ट संवेद्य रागात्मकता, शोषण, गरीबी, अनाचार, अन्याय। सहजता से कट कर निस्सन्देह हमारा यथार्थ विसंगत और विकृत हो उठा है –

"कंधों पर सैंकड़ों/ सलीब लिये प्रश्न के
सूर्योदय होते हैं हारे-हारे थके
सोख गयी स्वाति मेघ कुछ कृतघ्न सीपियां
बांझिन हो गयीं किस नियोजन से क्रांतियां
कुहरों की शिकने हैं मस्तक पर धाम के
उत्तर की तलबगार द्वार पर दस्तकें।"

राजनीतिक दलदल को मुंह चिढ़ाते इन गीतों का जनबोधी उत्सव हमें बहुत नज़दीक से अपने पक्ष में शामिल होने को न्यौतता है - "माना कि इन गीतों के हाथों में हंसिया-हथौड़ा या सिर पर तिरंगी टोपी या कमर में खाकी निकर के ऊपर एक चौड़ी बैल्ट कसी हुई नहीं है, यह भी माना कि उनका रचनाकार किसी पार्टी-विशेष के चुनावों में घोषणा विशेष का शंखानुवाद नहीं करता और न ही वह किसी सत्ताधारी शक्तिधर के आगे-पीछे दुम हिलाता है, परन्तु हम तो यह नहीं कह सकते कि ये गीत अपने युगबोध अथवा जनचेतना से एकदम अछूते हैं" (*संकल्प - उमाकांत मालवीय स्मारिका*)।

संघर्ष-टकराहटें विशेष रूप से निम्नमध्यवर्गीय मानसिकता का नाश्ता-पानी है। इसके संघर्ष-पंखों की यही शक्ति है। चोली-दामन का यह रिश्ता आधुनिक वैचारिक परिवेश पर गंधक चिह्न हैं। सब कुछ बदल गया लेकिन संघर्ष की बुनियादी नियति नहीं बदली। इसीलिए वह आज भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़हर पीकर विषपायी बनना चाहता है –

"प्रतिश्रुत हूं जीने को/ कुछ थोड़े आंसू को/ ढेर से पसीने को
मीरा, सुकरात/ और शम्भू की विरासत
सादर सिर आंखों पर/ लेने की आदत
अमृत मिले या न मिले/ मगर ज़हर पीने को।" (*पृ. 19*)

हलों की नोंकें जितनी कुंद हुई हैं, विघ्न उतने ही पैने लेकिन जिज़ीविषा की चेतन-छवियां पंख पर पत्थर बांधे भी इच्छाशक्ति के बल पर उड़ने को खुला आकाश चाहती हैं –

'पांव में पहाड़ बांध कतर लिए डैने हैं।' (*पृ. 26*)

'एक चावल नेह रींधा' का कथ्य और संवेदना 'मेंहदी और महावर' जैसा ही है लेकिन नव्य शैल्पिक प्रयोगों की दृष्टि से यह 'मेंहदी और महावर' और 'सुबह रक्त पलाश की' से भी आगे है। इसका मूल स्वर अक्षत प्रेम है। प्रेम के रूपक-प्रधान निरूपण में प्रातः कालीन ताज़गी है-

"वेणी है अर्गला श्यामला/ वशीकरण स्मिति के
चितवन बीज-मंत्र सम्मोहन/ कीलक अथ इति के
प्रणय-साधना सिद्ध सस्मित/ प्रभा-प्रिया अनुकूल।" (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 65*)

संयोग और वियोग जीवन के दोनों पक्ष पूरी शिद्दत से मालवीय के गीत केन्द्र में है। आंचलिक रागबोध प्रकृति-सन्दर्भों में घुल कर संयोग के रसीय पलों को द्रवीय बना देता है, तन-अंग का हर हिस्सा रस से भर कर आम्रबौर सा महकने लगता है। इस भावना प्रवण रस-वीथिका में हर नस तन कर रक्तिम हो जाती है और सावन समूची ऋतु को बांध कर प्रिय प्रिया के मानस-कक्ष का मेहमान हो जाता है, लेकिन यही मानस प्रतीतियां वियोग पलों में नागफनी बन कर नुकीली हो जाती हैं। इन नुकीली नागफनियों का दर्द और संयोग पलों की नमकीन मिठास दोनों मालवीय के गीतों का रसीय विधान है –

"रिमझिम के पैने-पैने हैं/ बान बहुत ज़हरीले
झेल न पाएंगें दो लोचन कातर गीले-गीले
एक अदद बादल का टुकड़ा ताने दे जायेगा।" (*पृ. 92*)

वैयक्तिकता, संक्षिप्तता, क्रमबद्धता के साथ गीतात्मक ऋजुता (Lyrical Licidity) के हिमायती उमाकान्त मालवीय तथाकथित ऋजुता, स्निग्धता के दुराग्रही छोर पर शृंगार आधिक्य और जनपदीय शब्दों की भरमार से उपजी लिचलिचाहट या चिपचिपाहट का समर्थन नहीं करते। उनके लिए मानक गीत की कसौटी सार्थक सहजता है। अतिशय दुराग्रहता गीत की एस्थेटिक सेन्स और शृंगार पर गाज गिराती है। इन की पोर पोर में पिरायी गई ईख की तरह गीत गुनगुन करते हैं। गीत मनुष्य का जन्म संस्कार है, आत्मा का बीज मंत्र। यही वजह है कि मनुष्य के रोम-रोम में गीत की रचाव-अग्नि का वास है। बारहमासा हो या चौमासा हमारा हृदय-हंस गीत-मोती ही चुगता है। शिशु की तरह नटखट इन गीतों से हम कभी खिन्न मन नहीं होते। गीत के इन अनगिन वामनों पर मनुष्य आंदि सृष्टि से मोहासक्त है। स्वरों के आरोही ये 'गीत-बटोही' भारतीय जीवन-शैली का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। दाम्पत्य-प्रेम, सहज स्वाभाविक आकर्षण, हास-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिहास की संयमित आचार-संहिता इन गीतों में भारतीय जीवन पद्धति का आलोक-दर्शन है। उमाकान्त मालवीय जीवन की इसी सहज पद्धति के समर्थक और गायक हैं–

"गंध बनी निबंध अप्सरा/ सम्मोहन मूर्छित
प्रिय पथ पर नव कुसुम बिछाती/ डोल रही सस्मित
परस गई ऐसी बयार तन/ सुधि अंगार दहके।" (*मेंहदी और महावर : पृ. 17*)

'जयी मन्मथ' की सांयोगिक शृंगार मुद्राएं गरिमा की शालीनता का वृत्त बनाती जाती हैं। कहीं भी अमर्यादित नहीं होती। गीत में बंधी इन शृंगार मुद्राओं का नर्त्तन अनुभूति द्वार पर खुली दस्तक देता है –

"संग शोभित प्रियतम रति/ हर्ष की मधु चरम परिणति
अतुल है तारुण्य सम्पति/ धमनियों में वारुणी गति
सुधा अंग अनंग सिञ्चित/ सकल समरथ।" (*पृ. 50*)

कवि ने सभी पारिवारिक रिश्तों की अनमापी गहराइयों को मापा है। 'बहिन के घर बीरन आये हैं/ नयन जल भर कर लाये हैं' (*पृ. 46*), 'झुक-झुक कर छोरे का माथा सूंघता' (*पृ. 49*) 'क्वांरी ननद सरीखी पुरवा डोल रही नटखट' (*पृ. 47*) आदि गीत आत्मीयता का आंगन लीपते बैठक कक्ष से चौपाल तक को महका देते हैं। गीतों के इस अनोखे पर्यावरण में तन-मन पंचकोसी परिक्रमा कर खुशबू से भर जाता है। संयोग शृंगार के एक से एक उत्कृष्ट उन्मादक चित्र मौजूद हैं किन्तु गरिमा, मर्यादा का अंकुश भी उतना ही कसा हुआ है। 'समर्पण की रात्रि' का चित्र देखिए –

"मदन की चिर जय पताका-सी फहरती/ मानसर मन तरल मीनाक्षी लहरती
रस भिगोई हर घड़ी साक्षी सिहरती/ अहि सरीखी निशा बिछुड़न की लोनी
अंक भर सोई मिलन अहिवात/ समर्पण की.......।
केलि कुम्हलाये सलोने स्निग्ध गजरे/ बरजते, पायल अधिक मत बोल बजरे,
पुरुष बोला प्रकृति से, कुछ और सज रे/ सांस, सौरभ, स्पर्श, स्पन्दन, शेष थे बस,
मूर्छना में घुल गये दो गात/ समर्पण की गंध भीनी रात।" (*पृ. 20*)

इसी प्रकार विरह के मर्म चित्र भी बड़े सजीव और सहज हैं –

"बरसे/ घन बरसे/ दूर वधू वर से।
घुंघराले/ मतवाले।
डस जाते/ फणि काले।
सौदामिनी दर से/ पिया न टरे दरसे।" (*पृ. 38*)

इन गीतों में व्याप्त मर्यादा उमाकान्त के गीत-मन के भारतीय संस्कार हैं जो रसीय प्रतीतियों में घुल कर रक्त-मज्जा हो जाते हैं। जीवन का सहज उल्लास इस घुलनशीलता में घुल कर ही 'मेंहदी और महावर' हुआ है। वेदना की सिल पर घिसी इस मेंहदी और महावर का रंग वास्तव में चोखा है जो समकालीन ज़िन्दगी के व्यापक सन्दर्भों को एक खास अन्दाज़ में गोलाकार करता जाता है। उमाकान्त ने किसी का अनुकरण नहीं किया। इनकी रागात्मक संस्कारिता ने सम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामयिक युगीन बोध को भारतीय परिधि में कीलित किया, कथ्य की खराद पर जांचा-परखा, चढ़ाया-घुमाया, घिसा-पटका, नव्य शैल्पिक उपकरणों से तराशा-छांटा, काटा-बनाया, सृजित किया। यही कारण है कि 'मेंहदी और महावर' का हर गीत कोण अपनी बात पूरी कसावट और ठसक के साथ कहता है। वह चाहे रूप और सौन्दर्य की महीन बुनावट हो अथवा जीवन की बारीक कताई। बुनावट और कताई के इन स्वरों में मनुष्य मन पूरे झरोखे खोल कर झांकता है। रूप और सौन्दर्य के स्पर्श बिम्ब सूक्ष्म-रसीय रंग-संवेदन की धरती पर परिणय-उत्सव मनाते हैं। इन परिणय गीत-पर्वों में वासना का कालुष्य प्रीत-कक्ष से बाहर सिसकता है, चाहे वे इन्द्रिय-जनित आवेग और उष्मा के चित्र ही क्यों न हो। युवा रमणी के अछूते सौन्दर्य का चित्र खींचते हुए रचनाशील गीत मन 'अनाहूत, अभ्यागत, अतिथि मान उसे हृदय का आसन देता है –

"वर्तुल उर्मि तरंगित अंचल।
तरुणाई की तरल तलइया/ थिरक रही मधु उन्मद चंचल।
वय यमुना के तीर बांसुरी/ मुखर निमीलित हृदय पांखुरी,
छंद भिने तन में मरोर बन/ मन पैठा संकोच चोर बन,
प्रियतम स्मित आनन बिसूरते/ द्वै रतनार नयन नत विह्वल।" (*पृ. 26*)

सौन्दर्यानुभूति, रमणीक कल्पना और गीतात्मक प्रस्तुति की इस त्रिपुरारी गीत-लीला में उमाकान्त का भाव-संयोजन चित्त को जुड़ाव देता है। 'हर सिंगार का महकना' (*पृ. 17*) एक अतिसाधारण घटना है किन्तु उमाकान्त की गीतीय रसोद्रेकता उसे तरुणाई का उपादान बना देती है। इस प्रकार के भावचित्र सौन्दर्य गरिमा के गीत चिह्न हैं। इसी प्रकार 'कदली तन' (*पृ. 27*), 'कल्पतरु के तले' (*पृ. 29*), 'मोरपंखी बन' (*पृ. 34*), 'बरसे घन बरसे' (*पृ. 38*) 'माली के छोरे' (*पृ. 49*) आदि गीतों में पुरुष सौन्दर्य के प्रभावशाली चित्र गीत के साक्षी हस्ताक्षर हैं। ऋतुराज का आगमन आम्रबौर की खुशबू है जिसे महसूस कर कोयल चिहक उठती है। इस ऋतुराजीय आम्र आंगन की आगमन-आहट सिर पर मौर बांधे प्रिय की आगमन-आहट में बदल जाती है। प्रिया-कोकिला चहक कर मन के गीत-आंगन में आम्रबौर की खुशबू से अल्पना रचाने के बहाने पोर-पोर ऋतुराज हो जाती है (*पृ. 94*)।

हृदय की साध्यावस्था - 'प्रेम' विकृतियों-क्षुद्रताओं को नष्ट कर देती हैं। प्रेम समर्पण का दूसरा नाम है। प्रतिदान की कांक्षा से दूर लोकोत्तर है। जन्म-जन्मान्तर की इस 'ढाई आखर' की महिमा को मालवीय ने खूब बखाना है। अद्वैतवादी इन ढाई आखरों का निनाद कण-कण शंकर हो जाता है –

"निखिल निनादित 'ढाई आखर'
शब्द-अर्थ की उठी यवनिका/ सहज बोध के गुञ्जित हैं स्वर।
मैं अब तुम में तुम बन जीता/ पूर्ण समर्पण का मधु पीता।
भावी वर्त्तमान या बीता/ सब कुछ हारा, सब कुछ जीता।
मैं तुम, तुम मैं, बने परस्पर।" (*पृ. 60*)

प्रेम की यथार्थ बोधात्मक अभिव्यक्तियों में भी मालवीय के गीत-बोध ने अपने को एक कुशल नट की तरह संतुलित रखा है। वह पूरी तरह सचेत होकर भावनाओं को अनुभूति की घुलनशीलता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मदिरा बना देता है। इस नशे में मनुष्य मन लड़खड़ाता नहीं अपितु समाधि अवस्था अनुभूत करता है। महकती छुअन आंच प्रिय-प्रिया के अंग-अंग को छंद बना देती है और बेहिसाब उलझे प्रश्न सुलगती शिराओं में नाव खेने लगते हैं। मन भावन प्रिय की इस शोख-शरारत को अनुभूत कीजिए –

"हाथों से छीन कर किताब, होठों पर रख दिये गुलाब,
पंखुरी पर किरण तिर गयी, घुंघराली घटा घिर गयी,
महकी है आंच बेहिसाब, प्रश्नों को मिल गये जबाब।
उलझी सौगन्ध गन्ध से, अंगों के छंद-छंद से,
उमगे कुछ ऐसे सैलाब, डूब गये बाहों के दुआब,
अलकों में शिथिल तर्जनी, मूर्च्छित हो गिरी लेखनी,
सुलगती शिरा-शिरा शराब, मन-भावन तू बड़ा खराब।" (*धर्मयुग : 8 - 15 अक्टूबर 1967*)

यथार्थ प्रेम अनुभूति के इन बिम्बों में परिवेश की उच्छृंखलता नहीं है। युगबोध को कवि के रचना मन ने पूरी तरह बांधा है लेकिन मर्यादा को मूल्य का संस्कार देकर उपलब्धि के स्तर तक ले आया है।

ऋतुराजीय मादक सुधियां : प्रकृति

प्रकृति ने नवगीत की तुतलाहट को युवा बनाया है। मानवीय क्रिया-व्यापारों को साक्षात्कृत करने के लिए कमोबेश सभी नवगीतकारों ने प्रकृति के माध्यम से उन्हें मानवीकृत किया।

मानवीकृत इन बिम्बों में आधुनिक जीवन की कसमसाहट पूरे तनाव के साथ उभरी है। जीवन की तनाव-बुनावट को प्रकृति की रंगरेजी ने पक्के रंगों में रंगा है। उमाकान्त मालवीय ने प्रकृति में भी आह्लाद और उल्लास को अक्स किया। आह्लाद और उल्लास के बीच शृंगार की मानवीकृत अनुभूतियों का साधारणीकृत साक्षात्कार गीतकार के प्रकृति आधार को स्फीत धरातल पर अंगीकृत करता है। शृंगार के अभेद आरोपण में परकीया सी तन्वंगी सुकुमार लता इस लयात्मक प्रकृति बिम्ब में नभ छू लेने का मंसूबा बांधे है –

"वातायन से भीतर रह रह झांकी रही/ परकीया-सी तन्वंगी सुकुमार लता।
पवन परस जाता रसवन्ती बलखाती/ अपने अंगों की उभरन पर इतराती।
नभ छू लेने का मंसूबा बांध रही/ किससे मिलने को दीवारें फांद रही।"

(*मेंहदी और महावर : पृ. 63*)

ऋतुराजीय मादकता की बिखरी सौन्दर्य राशि मन को बांधती चली जाती है। ख्यालों में अंगड़ाई लेती सुधियां हर रात को परिणय पर्व बना देती हैं –

"हर बटोही को टिकोरे टांकते/ और टेसु-पथ अगोरे रोकते
कमल खिलते ताल में/ बसा कोई ख्याल में
चन्द्रमा शृंगार का ज्यों आरसी/ रात जैसे प्यार के त्यौहार-सी।"

(*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 124*)

आलम्बन-उद्दीपन की परम्परित सहजानुभूतियां क्षुधा और आमन्त्रण की तन्द्रिल पलकों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्मीलन-हास है –

"अलसाई-सी सांझ ऊंघती अमराई पर/ सिर धर सोती राह विगत की परछाईं पर।
खंडहर पर रोती दिन की सूनी तरुणाई/ राहु तिमिर का ग्रास बनी रवि की अरुणाई।
सतत दीप की जलन/ शलभ का प्राण समर्पण।" (*मेंहदी और महावर : पृ. 76*)

उद्दीपन की स्मिति देखिए –

"हिला-डुला कर हरित पात रूमालों को/ विदा दे रही राह गुज़रने वालों को,
हरियाली के फव्वारे-सी फूट चली/ अग्निशिखा-सी ऊर्ध्वमुखी दुबली पतली
खिड़की पर जब दृष्टि लतर पर मिल जाती/ एड़ी-चोटी तक उठता हूं सिहर-सिहर।"
(*पृ. 63*)

सावन और फाग के गीतों में कवि का मन खूब रमा है। 'घन-कुन्तल उनये' (*पृ.33*), 'मोरपंखी घन' (*पृ. 34*), 'फालसाई घिरे बादल' (*पृ. 35*), 'मेघ-कुन्तल सुरमई' (*पृ. 36*), 'बादल जो शाम से घिरा' (*पृ. 37*), 'बरसे' (*पृ. 38*), 'शोर हुआ है बदली छायी' (*पृ. 39*), 'बादल जो बरस गये' (*पृ. 40*), 'पावस की रात है लुभावनी' (*पृ. 45*), 'घन सावन के घिरे' (*पृ. 46*), 'बिजली की पैंजनिया' (*पृ. 47*), आदि गीतों में सावन की फुहारें, नाचते मोरों का समूह और पुरवैया के झोंके हैं। बारहमासा-चौमासा की चर्चा में 'बदली' का सुन्दर मानवीकरण है –

"बारहमासा मेघ मल्हारें/ आ बैठे अधरों के द्वारे
नस-नस डोले अजब हिंडोले/ पेंग बनी तन की अंगड़ाई,
शोर हुआ है बदली छाई.......।" (*पृ. 39*)

एक ओर कजली, मल्हार, चैता और विरहा जैसे लोकगीतों की ध्वनियां कानों में मिश्री घोलती हैं तो दूसरी ओर बहनें राखी-पर्व पर अपने वीरों के यश और आयु की कामना करती हैं –

"पंख फुलाये भीगा कागा ओरी पर बोला
राखी नियराई सुधि के बादल मंडराये हैं।" (*पृ. 46*)

बिजली की पैंजनिया रिमझिम, घुंघरूओं की अद्‌भुत नाद, लहरों का गल-बहियां होकर थिरकना, मोरों का नीले पंख पसार कर नाचना और पुरवैया के झोंके स्वयं सावन में 'राखी' का मानवीकरण कर देते हैं –

"आहट मिली धरा को सावन आता राखी बांध कर,
पी पी पिहकी दूर पपिहरी पी को कहीं पुकार कर।" (*पृ. 47*)

इसी प्रकार होली-उत्सव के रंग-मिलन में मन की कलुष-कुण्ठायें, संकीर्णतायें, क्षुद्रतायें सब धुल जाती हैं। 'होली की रास' अमराई में ही खेली जाती है। फागुन वृक्षों के लिए भी नया सन्देश लाता है –

"फगुनहटी भुरूक चली धूल की अबीर ले,
होली की रास रची अमराई के तले।" (*पृ. 49*)

नवगीतकार की परिकल्पना देखिए, फागुन में गुलाल के बादल बरस रहे हैं। सावन के गांव का पाहुन फागुन में कैसे आ गया। गीत-गठन में रूपक अलंकार की बुनावट का नफ़ीस सौन्दर्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृदंग थाप पर नादात्मकता की ध्वनि धार बहाता सबको संगीत के रास रंग में रंग लेता है। पिचकारी, रंग, मृदंग, मंजीर, डफली, राग, फाग, अबीर, वासंती, चूनर, रंग में भीगे आदि फाग-शब्दावली कान्हा की बांसुरी-सा मादक आकर्षण पैदा करने वाली है।

ग्रीष्म ऋतु का मानवीकरण तापधारी है। ग्रीष्म रूपी पुरुष के दोपहर रूपी होंठ जब पृथ्वी रूपी नारी का चुम्बन लेने लगते हैं तब पृथ्वी का कण-कण तपिश से दहकने लगता है –

"दहके गुलमोहर/ आतप अग्नि अधर का चुम्बन/ सुलग उठी दोपहर" (*पृ. 93*)

शरद ऋतु के दुःखदायी पक्ष की अश्रु-ध्वनियां भी अग्नि-ताप का पर्व मनाती हैं –

"सुनते हो आंसुओं को मार गया पाला।
राग भरी युवा रैन/ खेत में सिराई
आंसू ने काजल की/ मेट दी कमाई
ढिबरी को अंक भरे अंध रहा आला।" (*सुबह रक्त पलाश की : पृ. 13*)

नदी, पर्वत, घाटियां वृक्ष आदि के प्रति भी कवि की अनुभूतियां सूक्ष्म और भावप्रवण हैं। गंगा देवताओं की नदी, हमारी मां है। गंगोत्री-मां के पालने में झूलने वाली गंगा समस्त भारत को अमृत संजीवन प्रदान करती हुई अन्ततः सागर में विलीन हो जाती है –

"छिन छिपती, छिन हौले किलके/ छिन तांझां वह बीते
अरबराय के गोड़ी काढ़े/ ठमकत-ठमकत बोले
घाटी-घाटी देही-देही कर चहके सोनचिरैया
पावों पर पहुड़ा कर परबत गाये खन्ता खइया।" (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 14*)

जीवन के असंगत तेज़ाब को उड़ेलने के लिए अधिकांश गीतों में उमाकान्त का नज़रिया कोमल और संकोची है। प्रतिशोध वृत्ति और प्रहार मुद्राएं इनके गीतों का स्वभाव नहीं है। इनमें स्थितियों से पलायन का भाव नहीं है लेकिन आक्रोश-विरोध के गीत हस्ताक्षर मर्यादा-परिधियों को नहीं उलांघते –

"झण्डे रह जाएंगे, आदमी नहीं/ इसीलिए हमें सहेज लो, ममी, सही
जीवित का तिरस्कार, पूजें मकबरे/ रीति यह तुम्हारी, कौन क्या करे
ताजमहल पितृ पक्ष, श्राद्ध सिलसिले/ रस्म यह अभी नहीं, कभी थमी नहीं
शायद कल मानव की हो न सूरतें/ शायद रह जायेंगी हमीं मूरतें
आदम की शक्लों की यादगार हम/ इसीलिए हमें सहेज लो,
सहेज लो, डमी सही।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 126*)

उमाकान्त के गीतों में गहरा संवेग, लय का निर्माण ही नहीं करता, वरन कहीं उसे आगे बढ़ाता है और कहीं लोच दे देता है। गीतकार ने अपेक्षित सभी पदों को रखा है - संज्ञा, क्रिया, विशेषण और यहां तक कि सहायक क्रियाओं को भी। कहीं कहीं तो सर्वनाम का बहुत सार्थक प्रयोग कर के भाषा को व्यंजक बना दिया गया है। अधिकांश गीतों में विशेष कर मेंहदी और महावर के गीतों में कोमलकांत पदावली ही मिलेगी। कहीं एक भी शब्द, नहीं मिलेगा, जिसका नाद कर्कश लगे। श्लथ, चिह्न वर्तुल, उर्मि, प्रतिष्ठापिता जैसे पद भी ऐसी पच्चीकारी से फिट किये गये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं कि उनकी खुरदुराहट में नयी चमक आ गयी है। वर्ण-विन्यास से उत्पन्न नाद, इसकी भाषा की एक अन्य विशेषता है। आरंभिक और अंतिम दोनों वर्णों की आवृत्ति करके भाषा में नादात्मक खनक ला दी गयी है। शब्दों को दोहरा कर भी संगीतात्मक माधुर्य उत्पन्न किया गया है। लेकिन, इन सबसे बड़ी विशेषता आंचलिक शब्दों, संदर्भों और मानसिकता का प्रयोग है। परछन, बंसवारी, ललछर आदि शब्दों; 'वय-यमुना के तीर बांसुरी', 'रघुवर सिय मिलन तीर्थ' जैसे संदर्भों तथा 'टेक सुहानी मीरा के पद की' अथवा 'किसी लड़कोर का काजल लगा-सा मलिन आंचल' जैसी मानसिकताओं से उमाकांत मालवीय की भाषा ने नयी जमीन की तलाश की है (*धर्मयुग : 22 जुलाई 1980 : पृ. 19*)।

शिल्पीय चारुत्व सम्प्रेषण

आज का गीतकार भोगने और जीने के बीच सोच और चिन्तन को पंखमुखी बनाता है। रोजगार तलाशता, नगर फुटपाथों की चौराहा संस्कृति के अनुभव बिम्बों को जुटाता आधुनिकता और समय से सीधे रूबरू है। वह स्कूल या कालेज में पढ़ाने वाला शिक्षक मात्र नहीं है, वह दफ़्तर में क्लर्क, मिल-मजदूर और अभियन्ता भी है। दिन-प्रतिदिन क्षण-प्रतिक्षण की इस मध्यवर्गीय संघर्ष मानसिकता को उमाकान्त ने सटीक शब्दावली में व्यथा-गीत बनाया है –

"आसमान देखा है/ चीरा है पानी/ ऐसे ही काटी है/ सारी ज़िन्दगानी
सूर्योदय से हमको/ रहा है गुरेज/ अंधियारे की फसल/ रहे सहेज
यही उत्तर मिला और यही देंगे।" (*सुबह रक्त पलाश की : पृ. 2*)

अपमान, अपघात झेलती मध्यवर्गीय मानसिकता इसके बावजूद भी स्वाभिमान की रोशनी को मरने नहीं देती। अन्दर की एक गूंज तमाम टूटनों के बाद भी उसे जोड़े रखती है और वह अपने अस्तित्व का परिचय खम ठोंक कर देती है। नैतिकता का द्वन्द्व और मूल्यों से जुड़े रहने का अन्तसंघर्षण उसकी भीतरी आंच को सुलगाता है और वह ताप तप्त दहकनों में भी इच्छाओं को कर्मयोगी बनाता है –

"लपटों के पालने में/ जनम से पला है/ सुलगती सच्चाई की/ ध्वजा ले चला है
तिल-तिल टूटे/ मगर हीन नहीं होगा/ सूर्य कभी कौड़ी का/ तीन नहीं होगा।" (*पृ. 5*)

सांस्कृतिक परिवेश से कटाव आज नवगीतीय आत्मा पर कुटिल दंश है। गांव से नगरों की ओर पलायन ने इस दंश को जंगल की आग बना दिया है। बांस वन की तरह रगड़ खाकर ये खुद-ब-खुद सुलग उठते हैं और नागर-सभ्यता डेढ़ चावल की खिचड़ी का शोर मचाती रहती है। कवि मानस व्यथा के इस रगड़ खाते बांस-वन में भटक रहा है। वह बांस को वेणु तो बनाना चाहता है लेकिन वह जानता है अब स्नेह रींधे चावल पर सुदामा का पानी नहीं चढ़ेगा क्योंकि-

"डेढ़ चावल की खिचड़ी/ पक रही हर ओर
एक चावल नेंह रींधा/ अब नहीं होगा और।" (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 50*)

इन के बिम्बधर्मी गीतों में कलात्मकता एवं सम्प्रेषणीयता का संतुलित योग है। इनके क्रियात्मक बिम्बों में क्रिया-व्यापारों की गतिशीलता अत्यन्त तीव्र है। निम्न गीत में शैशव के बिम्ब की सशक्त अभिव्यक्ति देखिए –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गंगोत्री में पलना झूले/ आगे चले बकइयां,
भागीरथी घुट रुवन डोले/ शैल शिखर की छइयां....।" (*धर्मयुग : 10 जून, 1953, पृ. 19*)

निराशा और हताशा के इन चक्रव्यूहों की भेदन-लीला का संघर्ष कवि की मनोवृत्ति में था इसीलिए उसने नकार मूल्यों की वकालत कहीं नहीं की। आस्था को उमाकान्त ने सकारता से जोड़ा। आत्मा, भाग्य, दैवी शक्तियों आदि के प्रति कवि की रचनायित आस्था अनेक गीतों में मुखर हुई है –

"पुरखों ने पूजे हैं/ कितने गौरी गणेश/ तब यह निधि पाई है
खोलो री! बंद द्वार लक्ष्मी घर आई है।"

उमाकान्त मालवीय के गीतों में समाज में प्रचलित लोक-रूढ़ियों का भी गीतात्मक ज़िक्र है। गणेश- चतुर्थी, करवा-चौथ, बहुला-चौक आदि का अंकन इनके गीतों को जन से सीधा जोड़ता है। गणेश-चतुर्थी का व्रत-अर्घ्य मां अपने बेटे और बहिन अपने भाई के लिए देती है –

"चन्द्रमा उगा गणेश चौथ का/ मां तुमने अर्घ्य दिया होगा मेरे लिये
दिनभर उपवास किया होगा मेरे लिये।" (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 16*)

इसी प्रकार –

"यह अजोरे पास की एकादशी।" (*पृ. 25*)
'चांद विकल हो रहा चकोरी की आहों पर।' (*मेंहदी और महावर : पृ. 77*)
'गुनगाये पीर बरम औ सत्ती मैया।' (*सुबह रक्त पलाश की : पृ. 31*)

पौराणिक संकेत इनके गीतों की शक्ति बन कर आये हैं –

'चीर हरण कर सूरज/ कृष्ण सरीखा ढीठ बना।' (*मेंहदी और महावर : पृ. 92*)
'नचिकेता का शिखर स्नेह-से यम की आंख भरी।' (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 88*)
'भूखा वही देवव्रत टेरे।' (*पृ. 15*)

पौराणिक-सांस्कृतिक प्रतीक भारतीय विचारधाराओं की मूक वाणी को विस्तार देते हैं –

"नत नयनों की चितवन, वीथी ज्यों मिथिला की,
अलसाई प्रतिमा सी यौवन मद शिथिला की,
वरदायिनी मुद्रा-सी कामधेनु कपिला की,
चक्र थमें सोम सूर्य स्यन्दन के।" (*मेंहदी और महावर : पृ. 19*)

इसमें मिथिला की सीता, कामधेनु, कपिला, सोम, सूर्य पौराणिक-सांस्कृतिक सन्दर्भों से जुड़े हैं। 'देहरी पर छपे स्वस्तिक' (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 26*), 'लीपती आंगन उदासी रोज़ गोबर से' (*पृ. 29*), 'धर गये मेंहदी रचे दो हाथ जल में दीप' (*पृ. 8*) आदि गीतों में पर्व-त्यौहारों की प्रतीकात्मकता भारतीय संस्कृति के गौरव चिह्न हैं। कई गीतों में कवि ने प्राकृतिक उपादानों को प्रतीकत्व प्रदान किया है जैसे 'टेसु टीस रहा' (*मेंहदी और महावर : पृ. 82*), 'किरणों की नव सोन मञ्जरी/ गलबांहे देती उजागरी' (*पृ. 95*)। जाड़े के दिन और रात को पत्तल-दोने, आंगन-कोने, अजगर-छैने आदि प्राकृतिक उपकरणों में लिपटी परिवेश प्रतीतियां मन के गुंजन को नादात्मक ताल में बांधती हैं –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रातों पत्तल हुई/ दिन दौने हो गये,
रातों आंगन हुई/ दिन कोने हो गये,
रातों अजगर हुई/ दिन छौने हो गये।" (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 34*)

आधुनिक बोध के सार्थीकीकरण के लिए सामयिक जीवन-सन्दर्भों को भी कवि ने प्रतीकित किया है। भ्रष्टाचार का दायित्व पहले सत्ता पर है फिर प्रजा पर किन्तु राजा आंख मूंद कर सो रहा है। 'सुबह रक्त पलाश की' यही संवेदना आधुनिक बोध से आहत मानस की छटपटाहट का नुकीला समय सत्य है –

"बाज जब कपोत को/ दबोच ले,
और शिवि/ समर्पण की सोच ले।
ऐसे में भी/ क्यों नहीं तिरी,
आंखों में ज्वलित डोर रक्तिम।" (*सुबह रक्त पलाश की : पृ. 52*)

यहां बाज शोषक, कपोत शोषित और शिवि नपुंसक, विवश, लाचार राजा का प्रतीक है जिसे कपोत रूपी जनता के शोषण का पता ही नहीं, जिसे यह भी नहीं मालूम कि बाज रूपी भ्रष्टाचार ने क्योंकर अपने डैनों से समूचे परिवेश को लहुलुहान कर दिया है। प्रतीकों को तीखी कटार बनाने के लिए गीतकार ने उलटवासियों का सहारा लिया है –

"मुखबिर विप्लव की मुद्रा/ लजवन्ती-सी छुई-मुई।
तुतलाती व्याख्यायों में/ परिभाषित क्रान्तियां हुई।
हरित, धवल, लाल क्रान्तियां महज़/ पानी पर तैरते किले।
हड़तालें, ब्रीफकेस में तहिया कर/ छोड़ दी गयी।
भूखों की विवशता करुण अनशन से जोड़ दी गयी।... ..." (*पृ. 29*)

* * *

"हम दादुर/ प्रभुजी तुम हो कुआं/ नियति हमारी महज़ हुआं हुआं,
रंगे सियार लरने लगे उलाहने/ चौराहों पर जुलूस हांफते,
मृगछाले कुर्सियां तलाशते/ खानों पर रीझ गई बांघिनें।" (*पृ. 30*)

परम्परागत छन्दों में उमाकान्त मालवीय की रुचि नहीं है। प्रयोगशीलता इनकी छान्दस चेतना का प्रवेश द्वार है। 'गीत-बटोही' (*मेंहदी और महावर : पृ. 78*) दो शब्दों की योजना वाला अत्यन्त संक्षिप्त गीत है। इसी प्रकार 'रास रची पूमन' और 'गीत कनखी के' (*पृ. 79*), तीन शब्दों की योजना वाले गीत हैं। 'टेसु टीस रहा' (*पृ. 82*), 'डालो मत डोरे' (*पृ. 104*), 'ठौर-ठौर/ लगे बौर' (*पृ. 94*) आदि गीतों में दो या तीन शब्दों का मिश्रण है। 'सुबह रक्त पलाश की' के छन्दात्मक प्रयोग मालवीय की विशिष्ट उपलब्धि है। इन छान्दस प्रयोगों में आधुनिक जीवन-सन्दर्भों की लयात्मक प्रस्तुति परिवेश-कटन को उल्टा लटका देती है –

"यह कैसा देश है/ कैसे कैसे चलन
अंधों का कज़रौटे करते अभिनन्दन।" (*सुबह रक्त पलाश की : पृ. 39*)

जहां कहीं कवि ने मुक्तछन्दीय अभिव्यक्ति की है वहां छन्द-लय ताल से मिल कर सुर साधती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चलती है। आन्तरिक लय संधान के ये मुक्त छन्दीय प्रयोग गीत-बोध की बांकी चितवनें हैं -

"चिट्ठीरसा आया नहीं/ आया नहीं चिट्ठीरसा
तिनके दबाये चोंच में/ बैठे कबूतर सोच में/ जाने कहां बिरमा बसा।"

(*नवगीत दशक - 1 : पृ. 91*)

अनेकमुखी छान्दस प्रयोग की इस लीला में लोक-छान्दसिकता की द्रवीय लयात्मकता उत्कर्ष-उत्सव की अल्पनाएं रचाती हैं –

"कब भाई/ पदुनाई/ बैरन है/ तरुणाई
षट व्यञ्जन परसे/ किन्तु नहीं परसे
बरसे/ घन बरसे/ दूर वधू वर से।" (*मेंहदी और महावर : पृ. 38*)

लोक-गीतों की रचना वस्तुतः नवगीतों का श्रृंगार है –

"मइया को देती अंकवार
सखियों के रुंधे हुए बैन/ प्रियतम संग बीती जो रैन।" (*पृ. 30*)

लोक छान्दसिकता में लोकीय भाषा की घुलावट नेह रींधे चावलों की महक देती है –

"नेह रची-बसी देह गंध की छुअन
दूब, दही, दीप, फूल-पान हुआ मन।" (*एक चावल नेह रींधा : पृ. 52*)
"चौके की धुआंती रटन/ सुग्गे की सुमिरनी रटन
कदम-कदम पर मौके/ तुम्हें याद करने के।" (*नवगीत दशक - 1 : पृ. 89*)

बावरी, सांवरी, पैतान, बदरिया, रास, घी के दीये, टेसु, टीसना, ओढ़नी, पैंजनी, कोहबर, भिनसार, लोरियां आदि जनपदीय एवं आंचलिक शब्दावली 'रक्त पलाशी सुबह' पर 'मेंहदी और महावर' बन कर लिप जाती हैं।

लय, ताल, तुक की त्रिवेणी में उमगते गीत भीतरी तहों को सींचने वाले हैं लेकिन अनेक गीतों में अनुप्रास और पुनरुक्ति संगीत का सुन्दर परिपाक अन्तर्चेतना को समूचा छाप लेता है –

"सुधि सांकल कसमस कस प्राण कसे/ ओ अन्तर्यामी किस देश बसे।
....रिमझिम रिमझिम रसती रश्मि रजत/ रञ्जित हैं रग रग अनुराग सने
....प्रीति पगी प्रक्षालित पग-पग पर/ पदरज पूजित पल-पल गांव गली
....सुर सेवित सोम स्निग्ध सुन्दरता/ सहज सुलभ सस्मित सुकुमार सरल।"

(*मेंहदी और महावर : पृ. 25*)

इस गीत के हर अन्तरे की अन्तिम दो पंक्तियों का हर शब्द एक ही वर्ण से प्रारम्भ होता है जबकि पहली दो पंक्तियों में छोटे छोटे अनुप्रास हैं। अनुप्रास-योजना की इस विशिष्टता ने गीत को घुलनशील बना दिया है।

मुहावरों का प्रयोग गीतों की शुभम् यात्रा की पदचाप प्रतीतियां हैं – 'सौ-सौ बलखाना' (*पृ. 23*), 'तिल तिल कर जलना' (*पृ. 101*), 'प्यासे तक ज्यों स्वयं कुंआं आया है चल कर' (*पृ. 97*), 'पल्लू की कोर दांब दांत तले' (*पृ. 21*)। 'सुबह रक्त पलाश की' और 'एक चावल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेह रींधा' की तुलना में 'मेंहदी और महावर' की भाषा बहुत अभिजात है। संयमी लगामें, समर्पण की गंध, चंदन किवाड़, शंख वरण, बांहों की टहनी, रास रची पूनम जैसे शब्द गीतकार की एक अभिजात मानसिकता और एक विशेष प्रकार के सौंदर्य बोध का परिचय देते हैं। गीतकार ने मध्यकालीन और छायावादी सौंदर्य-चेतना के कुछ खास संदर्भों को लेकर उसमें अपने परिवेश के जीवन और मिट्टी की गंध को मिला दिया है। इसीलिए 'मेंहदी और महावर' की भाषा एक नयी ज़मीन पर दिखाई पड़ती है। दो या तीन शब्दों की पंक्तियों वाले छोटे-छोटे गीतों में कहीं प्रतीक, कहीं बिंब, कहीं नाद और कहीं संकेत भर दिया गया है –

'एक याद/ एक कली, कैद आंचल की/ मुक्ति मधु छलकी'; 'गीत बटोही/ स्वर आरोही'; 'किसलय की कोर-कोर/ उभरी रतनार डोर'; 'गीत कनखी के/ ज्यों दिये घी के' जैसे गीतों में संक्षिप्तता, ध्वन्यात्मक संकेत और अनुभूति की अन्विति सीधे-सादे किंतु कोमल शब्दों में सिमट आयी है। इन गीतों में कहीं अनुभूति का उत्फुल्ल लय, कहीं मंथर गति, कहीं समर्पण का व्याकुल स्वर, कहीं पद-विन्यास की नादात्मक झंकृति और कहीं ऐंद्रिय बिंबों की थिरकन का ताल है। नवगीत के शिल्प का यह नया संदर्भ है – कम से कम शब्दों में संवेग के अनुसार लय-संधान। 'उम्र सोलह की/ चटख कर महकी'; 'मीठा-सा एक दर्द घुल गया/ तन का ज्यों जोड़-जोड़ खुल गया', आदि पंक्तियां उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं (*धर्मयुग : 27 जुलाई 1980 : पृ. 19*)।

अन्तर्दृष्टि : रीत गया त्रिवेणी जल

निस्सन्देह उमाकान्त मालवीय का कथन सही है कि 'बात बोलेगी हम नहीं'। अतिवादी समीक्षा ने साहित्य के कुछ प्रत्ययों के साथ मनमाना व्यवहार किया है। वे हैं रूमान, प्रगतिशीलता, आधुनिकता आदि। रूमान का विरोध इसी अतिवादी दृष्टि का परिणाम है जबकि "रूमान जिज़ीविषा का पर्याय होता है......जीवन जगत के प्रति वही एक रूमानी दृष्टि है जो खरोंच जाने अथवा उत्फुल्ल होने पर रचना या सृजन के लिए प्रेरित करती है और कालान्तर में यही रचनाक्रम रचनाकार का धर्म बन जाता है....हर बड़े आदर्श की भित्ति रूमान पर होती है" (*सुबह रक्त पलाश की : भूमिका*)।

आधुनिक जटिलता बोध को जिस संस्कार रुचि के साथ उमाकान्त ने परिष्कृत सुरभि-बयार बनाया है वह ताप तप्त मरु में भी अचानक उमड़ आए जलसोते की अनुभूति देने वाले हैं। कलात्मकता इनकी सुरुचि सम्पन्नता की सहजता है। नवगीत की प्रतिष्ठापना की प्रथम पंक्ति में गिने चुने नाम हैं जिन्होंने सार्थक दिशाओं का संधान कर नवगीत को न केवल नव्य बोध दिया अपितु भाव, विचार, शैली की परिपक्वता भी दी, उनमें उमाकान्त मालवीय एक इतिहास वृत्त का नाम है जिनका अपना कोई शिविर नहीं। इन्होंने रोशनी की ऐसी लकीरें खींची हैं जो नवगीत की प्रकृति और संस्कारों को विशिष्ट मानक तक ले जाने वाली हैं। रचनाशील गीत-मन उमाकान्त के सरोकार और आशय मानवबोधी, मूल्य संकल्पी और समय-सत्य के साक्षी हस्ताक्षर हैं। नवगीत की पदचाप प्रतीतियों का एक अध्याय उमाकान्त के नाम दर्ज है, त्रिवेणी में गुंथे मलयज के इस झौंके को कोई नहीं मिटा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतः आज नवगीत जिस दिशा में अपना आलोक फैला रहा है उसकी प्रथम किरणों में उमाकान्त मालवीय का नाम सुरक्षित है। उमाकान्त का गहन अध्ययन, जीवन-आलोचन, विस्तृत, हृदय दर्शन, नव कल्पनाओं का आचरण और अभिव्यक्ति का सुरुचिपूर्ण आकलन सदा ही स्तुत्य रहा। प्रयाग के पांडित्य का प्रत्युत्पन्नमतित्व और गंगा का तरल प्रवाह उमाकान्त में था। वे श्रम, लगन और प्रतिभा के कारण अपने वर्ग में बहुत शीघ्र चर्चित हो गए थे। उन्होंने साहित्य समुदाय और मंच दोनों को एक साथ धड़ल्ले के साथ जिया।

उमाकान्त गद्य-पद्य दोनों में श्रेष्ठ बौद्धिक थे। उन्होंने गीत के क्षेत्र में भाषा की नज़ाकत को बढ़ावा दिया। वे शिविरगत अन्ध दुराग्रह के विरोधी थे। अनेक नवगीतकार नयी कविता में भी प्रतिभा प्रदर्शित करते रहे। उमाकान्त ने गीत, नवगीत रूपक, खंडकाव्य और ललित निबन्धों के क्षेत्रों में अपनी विशिष्ट पहचान बना ली थी। इन में क्षेत्रीय संस्कार व्यापक संसार के रूप में अभिव्यक्त होते थे। संस्कृत दर्शन का अध्ययन, उर्दू, फारसी का ज्ञान, हिन्दी साहित्य का निरन्तर चिन्तन उनका स्वभाव था। अपने गीतों में उनका 'स्व' व्यापक होकर बोलता था –

"दिन यों ही बीत गया/ अंजुरि में भरा भरा जल जैसे रीत गया.....।"

(*नवगीत दशक : पृ. 86*)

त्रिवेणी-जल सचमुच रीत गया। इस प्रकार की सरल अभिव्यक्तियों ने उमाकान्त को मंच का महत्त्वपूर्ण अंग बना दिया था।

उमाकान्त भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों के पक्षपाती थे। उन्हें शिवाजी और प्रताप के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वे राष्ट्र को आध्यात्मिक वैराग्य शक्ति दे सकते थे परन्तु इन्हें पौरूषहीनता सहन नहीं थी। उन्होंने शिवाजी-प्रताप पर खंडकाव्य लिखे। 'राघव राम' में उनकी अध्ययन शीलता की सुगंध और 'सुबह रक्त पलाश की' में उनके गंभीर संवेदनशील व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं। कला के सुसंस्कृत और परिमार्जित संस्कार उमाकान्त की वाणी और व्यवहार से व्यक्त होते थे। अब तो यही कहना चाहिए –

"चौके की धुआंती घुटन/ सुग्गे की सुमिरिनी रटन
कदम-कदम पर मौके, तुम्हें याद करने के।" (*नवगीत दशक : पृ. 89*)

जनबोधी शंख का वाणी संस्कार : रमेश रंजक

मानव की भावनाएं बहुत कोमल होती हैं। इस कोमलता को अनेक कठोरताएं सहनी होती हैं। इन कठोरताओं में एक दृष्टिदोष है जो हमारे समाज में एक अंधविश्वास की सीमा तक पहुंच गया है। हमारे गीत को भी दृष्टिदोष का शिकार होना पड़ा है। गीत की प्राचीन परम्परा संस्कृति से समृद्ध, भाव-विभव से शोभाशाली और कला-कोष से सम्पन्न है। स्वातन्त्र्योत्तर गीत शैली को न जाने किस की नज़र लगी कि गीतकार गीत की साधना को गौण मान कर भौतिक स्वेच्छाचार की ओर मुड़ गए। सभ्यता दूषित होती चली गई और गीतकार अपना दायित्व भूल कर पंचमकार सेवन में इस प्रकार रत हुए कि असमय जीवन समाप्त होने को विवश हो गया। एक विचित्र हठधर्मी और विकृत आचरण से प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार यदि अपना बहुमूल्य जीवन खो बैठता है तो दुःख होता है। रमेश रंजक एक ऐसे प्रतिभाशाली गीतकार थे जो थोड़े समय में ही उद्धरणीय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गए। इन्होंने गीत के क्षेत्र में बहुत अच्छा कार्य किया। नवगीत के क्षेत्र में रंजक के नवल प्रयोग, नये बिम्ब और भाषा की बुनावट ने उन्हें उल्लेखनीय व्यक्तित्व दे दिया।

रंजक का प्रथम गीत 'कांटा न लग जाये उजली किरन के पांव में' मंच पर बहुत प्रसिद्ध हुआ। इस गीत ने उन्हें मंच पर सुनिश्चित किया, इस के बाद रंजक की प्रतिभा ने अपने जौहर खुल कर दिखाए। रंजक ने कदम बढ़ाने के बाद पीछे मुड़ कर नहीं देखा और थोड़े से समय में ही आधा दर्जन गीत संग्रह नवगीत के साहित्यिक भंडार को अर्पित कर दिए। रंजक के संग्रहों से नवगीत का एक विशिष्ट व्यक्तित्व झांकता है। रंजक नवगीत का ऐसा झौंका था जो नवगीत-भूमि को पूरी तरह महका गया। सूक्ष्म अनुभूति-प्रवणता और तदनुकूल शब्द का गठन इनके नवगीत साहित्य को प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त प्रकाश देते हैं। रंजक अध्ययनशील कवि थे। वे वर्त्तमान जीवन और साहित्य की नवीनतम धड़कन से बखूबी परिचित रहते थे। अध्ययन और सृजन की गंभीरता ने उन्हें यशपात्र बना दिया। यह अतिरिक्त ही उन्हें ले बैठा। इस यश ने उन्हें दुर्दम्य अहंकार दे दिया। इस अहंकार के कारण आचरण में दुर्बलता का आना स्वाभाविक था। इन दुर्बलताओं ने उनके स्वास्थ्य को निगल लिया। इस का दुष्परिणाम यह हुआ कि यह गीतकार अपने जीवन का उत्तम पक्ष अभिव्यक्त नहीं कर पाया और असमय ही हम से छिन गया।

ईख-सरसों की नमक-मिठास

नवगीत की प्रथम पंक्ति में अधिष्ठित रंजक जनबोधी शंख का वाणी-संस्कार है। नवगीत आन्दोलन की एक बड़ी लकीर जो लोकचेतना के बीच से बाजरे की कलगी की तरह सिर उठाती है और खलिहान में बजने लगती है। गेहूं की तरह झूमते, पिराई गई ईख-सरसों की मिठास-नमक लेकर गुनगुनाते गीत बोल लोकधुनों की घुलावट से शिशिर की गुनगुनी धूप का स्वाद हो जाते हैं। 'गीत मर गया' से उत्पन्न सन्नाटे को तोड़ने वाले "रंजक के नवगीत समाज को सही अनुप्रास में विश्लेषित करते हैं" (*इतिहास दुबारा लिखो के फ्लैप से...*)। शब्द ब्रह्म की अनुगूंज लेकर गीत का विस्फोट तीन कदमों में धरती को नाप लेता है। गीत मरण की मुनादी पीटने वालों को सम्भवतः इसका अन्दाज़ा नहीं था। अपनी दही को खट्टा बताने वाले इन तथाकथित साहित्यिक आलोचकों की यह घोषणा वस्तुतः अपने बीज संस्कारों को नकारने की भूमिका थी। उनकी इसी मृत्युमुखी सोच ने इन्हें कालान्तर में हाशिये पर डाल दिया। इबारतें मिटी, चिन्गारियां अंगार बनी लेकिन ऐसे साहित्यिक आदिवासियों की एप्रोच नहीं बदली। आधुनिकता ने जो नकार मुद्रा उन्हें दी वे बंदरिया के मरे बच्चे की तरह उसी से चिपटे रहे। गीत के विरुद्ध अस्वीकृति बोध का यह असाहित्यिक षड्यन्त्र कुछ समय तक जनवादी नारे की तरह फला-फूला लेकिन गीतवट को उखाड़ नहीं पाया। इस गीतवट को रमेश रंजक ने नया संस्कार, नयी भंगिमा दी। 'हरापन नहीं टूटेगा' की घोषणा की। यही कारण है इनके गीतों में 'मिट्टी बोलती है', 'किरन के पांव' लेकर 'गीत विहग' मानस पर उतरता आता है। 'दरिया के बहते पानी' की तरलता लेकर रंजक के गीत 'गोलबन्द' होते हैं। 'इतिहास दुबारा लिखो' की चुनौती 'अमन के आसमान' पर छा जाती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि गीत जैसी रागात्मक संवेदनशील विधा की मृत्यु हो जाएगी तो सृष्टि में बचेगा क्या? मानव-मूल्य यदि विघटन के कगार पर भी पहुंच जाए तब भी गीत मंत्र अक्षत रहेंगे क्योंकि ये मानव के बुनियादी सरोकारों का रचना शास्त्र ही नहीं उसकी आदिम और संस्कारी वृत्तियों का व्याकरण शास्त्र भी है। अतिबौद्धिकता की प्रच्छन्न अराजकता ने व्यक्ति और समाज की मानस भूमि पर कूड़े के खत्ते बना दिए हैं। हृदय और बुद्धि के बीच खुले झरोखे बंद हो चुके हैं। प्रदूषित हवाएं मन को काट रही हैं। गीत-माधुर्य जीवन के वैविध्य और सनसनी को पूरी तरह कोणमुखी करने के लिए आज चकित मुद्रा में है क्योंकि आज जीवन में माधुर्य कम यान्त्रिक कर्म-संकुलता का विवशता बोध ज्यादा है। चिन्तन के डैनों ने हृदय की भावभूमि को दरका दिया है। मानस और प्रकृति के पर्यावरण-मानचित्र में मरुभूमि के पठार सिर उठा रहे हैं और पावस ऋतु जेठी धूप की अग्नि बन गयी है। प्रश्न यही है जीवन के इस अग्निबोध को गीतों का राग स्पर्श एवं ऋतुयी मानक कैसे बनाये। जीवन नागमुद्राएं ओढ़े हैं। "ऐसी संकुल परिस्थितियों में गीत आज के वातावरण से किस प्रकार समझौता करे। इस संबंध में मेरा मत है कि आज का गीत जितना सतही भावुकता एवं मात्र शाब्दिक आयतन से बच कर चलेगा उतना ही वह अधिक स्वस्थ एवं समर्थ होगा। भरती का भार ढोते-ढोते गीत की कमर झुक गयी है। कोरे चमत्कारवादी लबादों ने उसका दम घोंट दिया है। अतः गीत मुक्ति चाहता है और चाहता है नयी पोशाक में नये धरातल पर खड़ा होना जिससे उस युग की पीड़ा के प्रस्तुतीकरण का सुख प्राप्त हो सके।" (*किरण के पांव : गीतों के पहले*) स्थितियों की इन नागमुद्राओं को बांधना होगा। भीतरी अनुशासन से शक्ति प्राप्त कर साहित्य को समाज के प्रति अपना दायित्व निभाना होगा। रमेश रंजक के गीत समाज के प्रति अपने दायित्व बोध को साधते हैं। उन स्थितियों और नागमुद्राओं पर अंकुश लगाते हैं जो व्यक्ति-समाज को टूटने की हद तक ले जाते हैं। वे गीतकार के दायित्व को निरुपित करते हैं - "आज के युग में आज का गीत लिखना, नयी चेतना और नयी संवेदनाओं को मथ कर गीतमय करना तथा उसे, उसके अनुरूप नया शिल्प, नया छन्द, नयी भाषा, नयी गति देना कोई आसान काम नहीं है - लेकिन यह बात उन आलोचकों के गले नहीं उतरती जो गीत को आज के युग के अनुकूल विधा ही नहीं मानते। उनका यह कहना कि आज जब जीवन ही उलझ गया है और जब जीवन की रागात्मकता ही टूट गयी है तब गीत जैसी शर्त्तों से जुड़ी हुई विधा का प्रासंगिक रहना कहां सम्भव है? लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि जीवन के उलझाव और बिखराव की इसी खंडित गति को पचा कर गीतमय करना और ताज़गी के साथ अभिव्यक्त करना ही तो आज के समर्थ गीतकार का दायित्व है" (*हरापन नहीं टूटेगा : सही ज़मीन से : पृ. 8*)।

गीत समय-गति और उसकी तीव्रता को बांधने में पूरी तरह समर्थ है जो लोग गीत पर इस प्रकार का आरोप लगा कर इस साहित्यिक संस्कार से बचना चाहते हैं वे गीत की अन्तर्वर्ती लय और विस्तार से अनभिज्ञ हैं। गीत के विराट्त्व में संपूर्ण संसार समाया है। समुद्र कलशीय जीवन-बोध को मंत्र बनाने वाले गीत पर इस प्रकार के आरोप एक शगूफा, भ्रम और साहित्यिक गुटीय राजनीति का काजल है जो आरोपण की छद्म मुद्रा ओढ़े तथाकथित साहित्यिक रक्षकों को दिव्य दृष्टि देता है। यह बात दूसरी है कि उनके पांव साहित्यिक ज़मीन पर नहीं गुटीय शिविरबद्ध ख़ेमे की मानसिकता को ही अन्तिम सत्य मानते हैं। इस प्रकार की आलोचना और दृष्टि उन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवियों-समीक्षकों की है जो 'छन्द' 'अनुशासन' में लिख नहीं सकते। उनकी असमर्थता को छुपाने का यह एक खूबसूरत अंदाज है। उनकी अन्तर्चेतना इस बात से बखूबी परिचित है कि 'काव्य असि है तो छन्द उसकी मूंठ हैं।' छन्द गीत तो छतनार वृक्ष है जिसकी छाया में कोई भी आश्रय पा सकता है। शर्त्त यही है कि गीत-शब्द यदि पानीदार है तो वह छतनार है अन्यथा ठूंठ! जिन गीतकारों के शब्दों में धार और शैल्पिक कसाव नहीं है, 'साधना' जिनके कोश में नहीं है वे ही गीत पर इस प्रकार के अतिवादी आरोप लगाकर साहित्यिक केन्द्र में बने रहना चाहते हैं। ऐसे गीतकारों की असाहित्यिक एप्रोच ने गीत का बहुत नुकसान किया है। ऐसे साहित्यिक मेढ़कों का कुकुरमुत्ती जीवन षड्यन्त्रों की चरागाहों में केंचुओं-सा रेंगता है और वे गीत-बेताल होने का भ्रम पाले रहते हैं।

गीतों के बोल, उसकी लय, ध्वनि, नादात्मकता वह कार्य कर सकती है जो तलवार की तीक्ष्णता और बाण की नोंक भी नहीं कर सकती। रमेश रंजक के गीतों में बाण नुकीली यही तीक्ष्णता है। जन-संघर्षी चेतना को जितनी फोर्सफुल्ली रमेश रंजक ने गूंथा है उतनी फोर्स बहुत कम गीतकारों में है। गीतकार रंजक अपने गीत दायित्व को जीता है; कथ्य वस्तु, शब्द, स्वर, लय, ऋदम, नाद, ताल, ध्वनि, आचरण, व्यवहार, साहित्यिक मान, समय-बोध कमोबेश सभी दृष्टियों से रमेश रंजक "पहली बार यह दिखाते हैं कि कथ्य और शिल्प के स्तरों पर भी सीमाओं को तोड़ा जा सकता है" (*जनयुग : 26 सितम्बर 1976*)। कथ्य की नवीनता के कारण ही जन-संवाद की स्थिति बनती है, इनके बिम्ब और प्रतीक बेजोड़ हैं। कालान्तर में इनके गीतों की सहजता जनवादी गीतों पर बलि हो गई। रंजक का कलाकार मन बंधने का अभ्यासी नहीं रहा। अतः जनवादी गीत की चौहद्दियों के बीच स्वयं को फिट करने की कसमसाहट रंजक के मन को जोड़ती-तोड़ती रही। जो ताज़गी, मन और जन की पीड़ा इनके गीतों में खुल कर खुशबू-सी फैली थी एक ख़ास नज़रिये के कारण वह जन-महक जनवादी गीतों में सीमित होकर बनावटी लगने लगी। गीत के प्रति उनकी चिन्ता स्वाभाविक थी। रंजक स्वभाव और संस्कार से जड़ता तोड़ने वाला गीतकार था। इसके बावजूद गीत में गत्यावरोध तोड़ने का दावा करने वाला रंजक अपने साहित्यिक जीवन के परिपक्व काल में विशुद्ध गीतकार कहलाने की अपेक्षा एक विशेष चिन्तन से बंध कर अपने को जनवादी गीतकार कहलवाना पसन्द करता था। यह उसकी शक्ति भी थी और सीमा भी। इसके बाद भी मुझे सदा लगता रहा कि वह अन्दर से कहीं बेचैन, बहुत बेचैन है। उन्होंने मुझे लिखा था "गीत के मामले में मैंने न तो शिविर छोड़े हैं और न आन्दोलन। मैंने तो अतिक्रमण सीखा है जहां भी मुझे गीत में गत्यावरोध मिलेगा तोड़ दूंगा।" (*लेखक के नाम रंजक का पत्र : 23 जून 1986*) शिविरबाजी में अग्रिम पंक्ति के जेता, गीत के स्वयंभू मसीहा "डॉ. शम्भूनाथसिंह के विषय में उन्होंने मेरे पत्र के जवाब में बेबाक राय दी थी "डॉ. शम्भूनाथसिंह" हैं क्या? वे गीत के स्वयंभू गॉड फादर तो दूर, स्वयंभू लूज़र फादर इन लॉ भी नहीं हो सकते? उन्होंने गीत को कुछ दिया है क्या?" इसमें सच्चाई है या बड़बोलेपन का दम्भ, इस पर विचार करने का समय यहां नहीं है (*दृष्टव्य : गीतकार मासिक, जुलाई 1991 डॉ. सुरेश गौतम द्वारा महाप्रयाण से पूर्व लिया गया रमेश रंजक का साक्षात्कार*)।

लोक मन की गूंज के इस ध्वनि-ग्राहक की गीत-यात्रा के चरण-सोपान हैं - 'किरन के पांव'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(1963-65), 'गीत-विहग उतरा' (1966-68), 'हरापन नहीं टूटेगा' (1969-73), 'मिट्टी बोलती है' (1974-76), 'इतिहास दुबारा लिखो' (1974-76), रमेश रंजक के लोकगीत (1974-78), 'गोलबन्दी' (1978), 'दरिया का पानी' (1976-82), बाल गीतों का एक संग्रह और 'अमन का आसमान' अभी अप्रकाशित है।

आंसू के शिलालेख : पीर-कथा की अग्नि साधना

'किरन के पांव' वेदनागर्भी आंसू के शिलालेख हैं। 'वक्तव्य-गीत' नई जमीन तोड़ने की कोशिश है। 'छन्द और अनुशासन' की वकालत, गीतकार का जप-तप, आन्दोलन-छाया से दूर हट कर शिविरबद्धता की काहिली को इसमें कोसा गया है। नवगीत की प्राण-प्रतिष्ठा के लिए नारेबाजी शैली पर गीतकार को एतराज है वह इनसे बचकर गीत-शक्ति का तर्पण करता है। रंजक के गीत-मन की घोषणा साहित्यिक विश्वास को कायम करती है। उसका निष्कर्ष है कि गीत अपनी पगड़ी रेहन रख कर इन आन्दोलनों में शामिल नहीं होना चाहता।

'वक्तव्य-गीत' (*किरन के पांव : पृ. 9*) शब्दों, तुकबन्दी और छन्द की निरर्थकता से उपजा गीत नहीं है, प्रत्युत् गुटबाजी, नारेबाजी, आन्दोलनों की प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न मंत्र गीत हैं जिसमें गीतकार मुक्त घोषणा करता है कि वह न तो यायावर है, न ही अपनी पगड़ी रेहन रख कर वह किसी का मोहताज होना चाहता है, न ही वह चांदी की ब्रह्म-फांस में अटका है बल्कि वह तो गीतकार का जप-तप-आसन है कोई कहकहा नहीं है। पहले ही गीत में 'गीत-वक्तव्य' रमेश रंजक के विद्रोही स्वभाव की ओर संकेत करता है कि गीत समझौतावादी, उच्छृंखला और कहकहा नहीं हो सकता। गीत गीत है जो अनादि काल से समय-धारा के साथ अप्रतिहत गति से बह रहा है।

वेदना, पीड़ा की व्यथा-प्रतीतियां 'किरन के पांवों' से चल कर आंसुओं के द्वार पहुंची हैं। आंसुओं के इन शिलालेखों में जीवन का समूचा खारापन समुद्रीय तरलता लेकर जीवन के अन्दरूनी पक्ष को परिभाषित करता है। 'पोर-पोर का दर्द निर्मोही' (*पृ. 19*), 'दर्द तुमने गाया क्या अधमरे घाव हो गये' (*पृ. 20*), 'तुम आये बोझिल पलकों के आंसू वन्दनवार हो गये' (*पृ. 23*) 'पीड़ा से भांवर तो डालूं/ पर कोई इतना समझा दे' (*पृ. 25*), 'अगर शपथ की परिधि न होती/ मेरी पीर कथा हो जाती' (*पृ. 26*), 'ओ मेरे दुःखभोगी मन/ ये तुझको क्या हुआ' (*पृ. 28*), 'दर्द जब़ बांधा उभर आया गीत से पहले तुम्हारा नाम' (*पृ. 30*), 'भांवर ने बांध दिया/ आंखों से पानी/ निगल गयी आंसू का संखिया जवानी' (*पृ. 34*), 'मेरे नीलकंठ जीवन ने हर आघात सहा' (*पृ. 35*), 'मैंने आधी उमर काट दी पीड़ा गाकर' (*पृ. 56*) आदि गीत व्यक्ति मन की अन्तर्चेतना की उन परतों का अनुभूतिशास्त्र है जो अपने से बाहर निकल कर सब का हो जाता है। किरन के इन पांवों में गतिशीलता का 'चरैवेति-चरैवेति' दर्शन है जो यात्रा-क्रम में भावात्मक वैचारिक मंथन से होकर मानवमन की उन तलस्पर्शी बुनावटों का धागा बनना चाहता है जो मन को पारदर्शी कताई की बुनकरी से जोड़ दे। पराजय का तल्ख़ अनुभव कवि की मनोवृत्ति को निराश घायल नहीं करता अपितु उसे कोंचता है। यही कोंचन उसे कहीं भी पराजित मनोवृत्ति के गणित का कम्प्यूटर नहीं बनने देती जिसमें शून्य का सबसे अधिक महत्त्व है। गीतों का यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंजारा 'दर्द बटोही' को तब तक कातता है जब तक उसकी बारीक कहन गीत-जीवन की उजियारी किरन न बन जाए। इसीलिए कवि-मन निराशा की बस्ती में पाहुन बन कर भी नहीं जाना चाहता। वह तो पथिक है बस्ती पार कर डेरे की चाह को नीड़ तिनके की तरह सांजता-संवारता है। सफर-दृष्टि का यह गीतबोध ही किरण के उजले चरण हैं। 'किरन के पांव' की पायल आंसुओं से ही झनझनायी हो ऐसा नहीं है। आंसुओं की इसी किरण तरलता में आशा और आह्लाद के जीवन अध्याय हैं। भविष्यगत आस्था और वर्त्तमान के असंगति-बोध के बीच किरण की ये पगडण्डियां जीवन का रचनात्मक सेतु हैं, कांटों की नुकीली चुभन पथ-गत्यात्मकता का प्रसाद हैं फिर संकटों-संघर्षों से क्या मुख मोड़ना। कवि जानता है कि वह एक साधारण प्राणी है 'सरताज नहीं' इसलिए संकटों में घिरना उसका स्वभाव है। वह किसी की मेहरबानी पर जीवित नहीं रहना चाहता। उसे अपनी भुजाओं की शक्ति पर पूरा भरोसा है –

"मैं दूंगा भाग्य की लकीरों को/ रोशनी सवेरे की
देखूंगा कितने दिन चलती है/ दुश्मनी अंधेरे की।" (*पृ. 10*)

मांझी के उत्साहवर्द्धन में वस्तुतः मन के जीवट अक्षर हैं जो मानव को विपरीत स्थितियों में तौलते हैं –

"घबरा न मांझी प्राण के विपरीत यदि तीखा पवन
किसको नहीं इस रात को/ मंझधार में तट की लगन
आलोक की शमशीर से/ काली लहर को चीर दे
असमय न तम भर जाये, अनब्याहे सपन की नांव में।" (*पृ. 15*)

इस प्रकार के गीतों में 'आलोक' (*पृ. 50*), का संगीत-शास्त्र है जो गीतीय ऋदम में तालबद्ध होकर व्यथाओं के जंगल में संकल्प-पगडण्डियों को निर्मित करता है।

'गीत विहग उतरा' में कवि चेतना धरती के और नज़दीक आती है। कल्पना की मुक्त उड़ान और करीब से धरती जर्रों को बींधती है। जीवन से जुड़े सभी सन्दर्भ-प्रसंग इस संग्रह में नई दृष्टि से तालबद्ध होते हैं। प्रकृति हृदय की उल्लास-चुभन के साथ मुस्कुराती आती है। मानवीकृत अनुभूतियां प्राकृतिक उपकरणों को ओढ़ कर नव्यतम बिम्बों और विशेषणों के वस्त्र पहन कर जीवन के व्यापक अर्थ बोध को प्रतीकात्मक अभिव्यञ्जना देते हैं। बबूल अपने कंटीले-स्वभाव के लिए आज से नहीं अनादि काल से प्रसिद्ध है। कवि की घुलनशील वृत्ति नये शब्दों का नये अर्थों से नेह बंधन बांधती है। शब्द-अर्थ की इसी नव्यता के कारण मानव का अनुभूति संसार अपने अन्दर व्यापक जीवन-संदर्भों को अनुभूत करता रहा है। उसे समय के अनुसार उसी की तेवर-मुद्रा में अभिव्यक्त भी करता रहा है। यही कारण है बबूल की भवें तनती जा रही हैं -

"वनवासी शब्दों को/ नागरिक बना कर
रेखाएं खींचीं अपवाद की,
नये-नये अर्थों की/ वंश-बेल पा कर
कांप गयी धरती अनुवाद की
सामंती छंद-छांह छोड़ कर
एक अदद गुणा, भाग जोड़ कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनब्याही रोशनी कबूल की
भौंहें क्यों तन गयीं बबूल की?" (*गीत विहग उतरा : पृ. 9*)

बबूल क्या आधुनिक जीवन की विकृतियों को देख कर दूधिया सितारे भी मुंह फेर लेते हैं। आज परिवेश जटिल और विषम है। किसी को किसी पर भरोसा नहीं। विश्वास की छाया, छल, आस्थागत प्रपंच आज के मनुष्य का स्वभाव है। संवेदनशील मन आज अकेला है। सांसों पर प्रहरी बन कर काल की बौद्धिक छाया ने मन को बंदी बना रखा है। बाह्य प्रदूषण ने व्यक्ति को अतिचारी और अन्दरूनी प्रदूषित पर्यावरण ने मनुष्य को सांस्कृतिक रूप से पतित, आचरण से गर्हित, सभ्यता से आदिम, स्वभाव से निरंकुश, विचार से अतिबौद्धिक, दायित्वों से विमुख-उच्छृंखल, मन से भोगी बना दिया है। इस विघटित परिवेश के तमस को दूर करने के लिए रंजक के गीत अपना तीसरा नेत्र खोलते हैं। गीतीय मन के निर्माण में उस भूमिका को रचनायित करते हैं जिससे परिवेश की घुटन-धुआं कम हो, मन का कालुष्य छने, आचरण छलनी बन कर विचार चिन्तन की ओर डग भरे, हृदय को निमंत्रित करे, आलोकपर्वी माहौल को जीवनगत स्थिति-सत्यों से बद्धमूल कर संघर्षकर्मी बनाये, जनपथ से होकर बोध के उस स्तर तक टंकार करे जो व्यवस्था-सत्ता के राजपथ की चूलें हिला दे। इन्हीं जनबोधी तेवरों को रोशनी देने के लिए रंजक के दीप-गीत अपने शीश को वर्त्तिका बना कर अग्नि साधना करते हैं। लोक-जीवन से नागरिक जीवन की ओर संक्रमण इसी उद्देश्य से है। कवि का रचनाकोश उन सकार मूल्यों को जीवन के नये आशयों से जोड़ने के लिए पथ-परिवर्त्तन में विश्वास व्यक्त करता है। जीवन गांव का हो अथवा महानगर का, केन्द्र में मनुष्य ही है। मनुष्य-थीसिस इन गीतों का पर्यावरण जनबोध के बीच से बुलन्द स्वर में अपनी पहचान कायम कर जनपथ से राजपथ को प्रतीकित करता है। परिवेश के प्रति पूर्णतः प्रतिबद्ध कवि-संचेतना जड़ हो गयी लकीरों के अन्तर्बाह्य को बिंदु-बिंदु चिह्न-चिह्न खंगालती है, उसके प्रतीक-बिम्बों पर पूर्ण अर्द्ध विराम लगाती है, जिनमें बहाव है, चिन्गारी-ताप विद्युत-कौंध है। उन लकीरों को कवि रोशनी बनाता है क्योंकि वह रूढ़ियों और परम्पराओं में अन्तर करता है। आंख बंद करके आचरण का पक्षधर नहीं है इसलिए बबूल मात्र एक चुभने वाला कांटा नहीं है। वह परम्परागत आलोचक है जिसका कार्य आलोचना करना ही है दूसरी ओर गीतकार गीत-वेणी को नए-नए फूलों से गंधित करना चाहता है। एक कलाकार, शिल्पकार की तरह अपनी घुलनशील रचाव मुद्राओं को यथावसर तीखा, पैना, द्रवीय रखता है जिससे उसकी कलात्मक तराश एक सार्थक मुहावरा बन कर गीतधर्मी सृजन सीप बन जाए। सृजन की यह गीतभूमि वैयक्तिक कारा को तोड़ कर झर-झर झरना बन जाती है, स्वानुभूतियों के इस गीत-विहग की चतुष्कोणी उड़ान सतरंगे जुगनुओं से जीवन की बुनाई करती है। इसीलिए रंजक का गीत-विहग उत्सवपर्वी परिवेश का दीप मुख बन कर इस ताप तप्त धरती पर उतरता है –

"हल्दी चढ़ी, पहाड़ी देखी, मेंहदी रची कारा
अंधियारे के साथ पाहुना गीत-विहग उतरा।" (*पृ. 13*)

गीत-धमनियों की रक्त-मज्जा हृदय की लयमुखी प्रतीतियों से भोजन प्राप्त करती है। वैचारिक गतिशीलता का संस्कार इन्हीं धमनियों से शक्ति प्राप्त करता है। गाती हुई धमनियां एक विशिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लय में गीत की प्राण-चेतना को आचमित करती हैं। गीत-आचमन की ये भोर प्रतीतियां प्राचीय अनुराग की सूर्यम्पश्यी सरगमें हैं। धमनियों में खिलते गीत-गुलाब या खौलती लावायी गंधक मनुष्य की आदि-अवस्था के संस्कार-बीज हैं। इन संस्कारों की जुड़न और टूटन मनुष्य की सांसों से जुड़ी है। अतः मंत्र-आचमन का यह गीत-पर्व मनुष्य की अन्तर्चेतना का महाकाव्य है। रंजक ने मानव के इस गीत-सत्य को समझ कर उसकी महीन बुनाई करने की कोशिश की है –

"छू-छू संजीवनी/ हवाओं के झोंके
सोते से जगा गये/ गीत धमनियों के
तन्द्रा-सी टूट गई, अनबोले तार की
चौतरफा फैल गई, गंध नमस्कार की।" (*पृ. 14*)

घुटन, संत्रास, कुंठा के त्रिमुखी दर्शन को गीत-मानसिकता ने गहरे में छाना है। तेज़ाबी व्यूह वृत्तों से घिरे असंगत जीवन के सत्यों की अजगरी गिरफ्त में बंदी व्यक्ति की छटपटाहट इसी संस्कारहीनता के कारण जटिल और दुर्बोध हो गई है। आदमखोर हवाएं युगीन-बोध का संस्कार हैं, इन्हीं संस्कारों की परिवेश निर्मिति का थकान-बोध आज हर चेहरे का खौफजदां मोहर्रम है। धमनियों में उगे बांस वन आपसी टकराहट, रगड़ से धू-धूकर जल रहे हैं। बांस की तरह खोखले इस परिवेश का अग्नि नर्त्तन युग-बोध की व्यापक गूंज है –

"तन गयी हैं इस कदर युग की मान्यताएं
घुट गया है गीत का जीवन
अरे, मन! सांस धीमे ले, बढ़ेगी और जकड़न
सामने है व्यंग्य, पीछे/ विष बुछा परिहास/ आदमख़ोर
शब्दहीना वेदना को/ बींधता सायास/ दुहरा शोर
खींचता है अजगरी संत्रास भूखा/ मुट्ठियों का बंद खालीपन
अचेतन/ धमनियों में तैर जाता बांस का वन।" (*पृ. 48*)

धूप-कथानक : रचनात्मक गतिशीलता के भाव बिम्ब

औद्योगिकीकरण, महानगरीय संस्कृति, पाश्चात्य सभ्यता मशीनीय यन्त्रीकरण, अतिबौद्धिक कम्प्यूटरी देहगामी आचरण, आन्तरिक विक्षुब्धता, बाह्य आकर्षण, भौतिक, इन्द्रियकरण के व्यूह वृत्त आदि हमें वैचारिक भावनात्मकता से कितना ही स्खलित कर दे तब भी हमारी सभ्यता-संस्कृति और संस्कार मूल्यों का हरापन नहीं टूटेगा। 'हरापन नहीं टूटेगा' की भावात्मक वैचारिक सम्पदा का मूल वृत्त इसी कुबेर-भूमि पर मेरु-श्रृंखला रूप में अधिष्ठित है। यहां पूरा पर्यावरण संस्कारी और आस्थाबोधक है। ये गीत अतीत, वर्त्तमान और भविष्य के मध्य पुल हैं जिनमें न तो महानगरीय सभ्यता-संस्कृति के प्रति अतिरिक्त मोह है और न ग्राम्य-संस्कृति मात्र औपचारिक। भारतीय सामाजिक जीवन के विश्रृंखल बिखराव के लिए महानगरीय संत्रास एक सीमा तक दोषी है। इन गीतों में जन्मभूमि और उसके जर्रे-जर्रे का संस्कार बोलता है, मिट्टी गंध यहां खुल कर गुनगुनायी है। शैशव के तुतलेपन से यौवन के संघर्षों और उससे आगे जीवन की अनचीन्हीं स्थितियों के सत्यों को बटोरने का गतिबोध इस संग्रह की भावभूमि को कस्तूरी जीवन की भूमिका बनाता है। जनबोधी तेवर, जनबोधी सोच, जनबोधी आचरण-व्यवहार, जनबोधी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषा में इसके गीत जनसामान्य से एक सार्थक संवाद स्थापित करने की कोशिश है। जीवन आज हंसी के कहकहों का पर्याय नहीं बल्कि धूप का कथानक है। दुपहरी की धूप, माथे से चूता पसीना, ताज़िन्दगी खाते-फांकते अभाव, शोषण की भयावह त्रासदी, यौवन में ही दम तोड़ती इच्छाएं, विपरीतधर्मी हवाएं कितना ही थकाएं लेकिन विश्वास का आस्थादीप आंधी में भी रोशन होगा, हरापन नहीं टूटेगा –

"रोशनी पुरजोर करने में/ चाट जाये धूल की दीमक भले ही तन
मगर पन नहीं टूटेगा.......
बन्धु! जब तक/ दर्द का यह स्त्रोत-सावन नहीं टूटेगा
हरापन नहीं टूटेगा।" (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 92*)

इस संग्रह के अन्तिम चारों गीत उद्‌बोधनपरक हैं। उद्‌बोध शैली सामान्यतः राष्ट्रीय गीतों के लिए ही प्रयुक्त होती रही है लेकिन आम आदमी के रंजो ग़मों को तूफ़ानों का संघर्षगीत बनाने के लिए रंजक ने इस शैली को नये रूप में यहां नवाया किया है। सम्बोध में घुला जीवन, अभाव, घुटन, कटुता, संत्रास व्यक्ति के आत्मविश्वास को ज़िन्दा करते हैं –

"छोड़ रे! कद छोड़, पीछे छोड़/ पत्थरों की पसलियों को छोड़
ओ सृजन के बीज! आंखें खोल/ पतझर सिर चढ़ा है
उठ! झटक दे/ सूर्य का पारा/ हवा का गुस्सा-गिला सारा
मौसम चिड़चिड़ा है।" (*गीत विहग उतरा : पृ. 93*)

गीत अन्तरे की अन्तिम पंक्ति अपनी ओर पूरी तरह खींच लेती है। 'कहां तल में पड़ा है' शब्द कर्म शक्ति को मानव की अदम्य जिज़ीविषा से जोड़ कर अन्तर्गर्भी हताशाओं को नकार कर आशा और आस्था को आसन देते हैं --

'सागर चार कदम/ सरिते! सूख न जाना/ धरता बड़ी गरम' (*पृ. 95*)

में सिन्धु निलय की तड़प है। सरिता लक्ष्य-भेदक, 'धरती बड़ी गरम' मार्ग में आने वाली कठिनाइयों आपदाओं को प्रतीकित कर कवि की जनबोधी व्यञ्जनाओं की लाक्षणिक अभिव्यक्ति का सागर-मंथन है। अनुकूल शब्द-संयोजन, यति-विराम आदि जीवन की नियोजना की तलभेदक पदचाप गूंजे हैं –

"ऊंचाई से गहराई तक पिघल, संभल कर चल
थाह टटोल रही है कच्चे कानों की हलचल।" (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 95*)

यथार्थगंधी धूप ने जीवन को उन रेतीली गर्माहटों से तपाया है जो युग सत्य के हस्ताक्षर हैं। गीतों में नुमाया प्यार यथार्थ स्थितियों की भट्टी में अंगार पर पड़ी बूंदों-सा कुनकुना कर रह गया। पथरीली सनसनाहट ने जीवन को अधरंगी बना दिया। लकवाग्रस्त टूटनें घुटन की पीठ पर सवार होकर कराहने लगीं। नेह के इन्द्रधनुषी रंग चूड़ी से चिटक गए (*पृ. 30*)। धूपदानी रंजक का गीतीय विधान उन मोड़ों को चिह्नित करता है जो फूल रंग रसवन्ती आग का आसव पीकर सौन्दर्य बोध को हृदयदर्शी मुस्कान देते हैं। मुस्कानों की इस वीथि में रंजक के गीत उन गर्माहटों को अक्स करते हैं जो जीवन के यथार्थ को करीब लाकर अपने बल व्यक्ति को तौलते बूझते हैं। कवि गीत को इसीलिए बरजता है–

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गीत मेरे/ अब न खो जाना कहीं धोखे/ फूल हो के........
(इन्द्रधनु वातावरण में/ खो न जाना फूल हो के)
गीत मेरे/ बड़ी मुश्किल से तुम्हें मोड़ा गया धूप ढो के।" (*पृ. 61*)

स्वार्थों के निजी जंगलों ने मनुष्य के अन्तर को मरुवासी बना दिया है। अन्दर की घाटियों पर अब मेघदूती पवनें अपना सन्देश नहीं लिखतीं। घाटियों के बीच पसरा पतझर कथा को शोकान्तिका का शीर्षक देकर नागफनी चादर ओढ़ लेता है। अर्थहीन सम्बन्धों का बोझ बेमन से ढोते हुए आज इंसान व्यक्तिगत पहचान कायम करने के लिए अधिक उद्विग्न है। समष्टि चिंतन को पीठ दिए व्यक्ति आज व्यष्टि का मेहमान बन कर अधिक सुखी अनुभव करता है। स्वार्थों के इस लंकायी आचरण में भावना की सीता राम का साथ छोड़ने को तैयार है। 'परहित' का गीतीय अनुचिन्तन पराये बोध से अभिशप्त है। जीवन यथार्थ का अक्षर अनुवाद हो गया है। इस विपरीतधर्मी अनुवादी जीवन को कवि परिवेश-माथ के बीचों-बीच चस्पां करता है –

"टूटते तारे सरीखे/ दूर पर जब पास के रिश्ते
अब नहीं महसूस होते हैं/ धूप के धनवान दिन भी तो
बेसहारों के लिए/ कंजूस होते हैं।" (*पृ. 38*)

मिमियाते-घिसटते जीवन की इस व्यथायी कतरनों को कवि चेतना मुकुर करती है –

"बन्धु रे! हम तुम घने जंगल की तरह होते
नाम भर वाले अगर रिश्ते नहीं ढोते।" (*पृ. 66*)

जनसामान्य के जीवन में व्यथा पीड़ित कुण्ठाएं हवा की तरह व्याप्त हैं, मुक्ति की चाह तड़प बन कर रग-रग में रेंगती रहती हैं। इस रेंगन-सरकन की व्याधमुखी मिथाइल टपकनें हृदय भूमि को बंजर कर देती हैं। बेबसी की तेज़-तर्रार घुड़की देखिए कि बैसाखी दौड़ने का दम भरती है। 'लंगड़े दुःख' भी जीवन को चमकाते आतंकित कर देते हैं। दुःख की साधारणीकृत बेबसी का वैधव्य देखिए, व्यथा भी भारतीय पति की तरह मालिकाना अंदाज में नववधू को रेहन रख लेती है –

"जिस दिन से आये/ उस दिन से
घर में यहीं पड़े हैं/ दुःख कितने लंगड़े हैं
पैसे/ ऐसे अलमारी से
फूल चुरा ले जायें बच्चे/ जैसे फुलवारी से
दंड नहीं दे पाता/ यद्यपि/ रंगे हाथ पकड़े हैं/ दुःख...
नाम नहीं लेते जाने का/ घर की लिपी पुती बैठक से
काम ले रहे तहखाने का/ धक्के मार निकालूं कैसे?
ये मुझसे तगड़े हैं/ दुःख......................।" (*पृ. 78*)

यन्त्रचालित घड़ी की तरह लटका जीवन दीवार पर शो पीस बना हुआ है। जंग लगी व्यथाएं भी अरबी घोड़े की चाल चलती हैं और व्यक्ति जीवन रणक्षेत्र में पिटे हुए प्यादे-सा घिघियाने लगता है। परम्पराएं जीवित रहें, रूढ़ियां टूटें इससे किसे इन्कार है, कवि इस दृष्टि-बो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्थक है लेकिन प्रातः काल नौ बजे का सायरन उसके पांव में पहिये कस देता है –

"यह नौ बजे का सायरन/ कस गया तसमें/ कसा सारा बदन
कस गये लो पांव में पहिये/ हड्डियों का साथ लोहे से/ इसे मजबूरियां कहिये।"
(*पृ. 81*)

'चला आया दिन......' में जहां अभावग्रस्त घर का बिम्ब है वहां 'जमाई-पूजा' में व्यंग्यगर्भी तुर्शी - "चला आया दिन/ जमाई-सा/ इसे क्या दें
कैसे करें भाल पर टीका/ टकों के बिन/ चला आया दिन।" (*पृ. 76*)

'वक्त तलाशी लेगा..........' में रंजक गीत की शक्ति को जनमानस का आइना बना देता है। गीत का पहरुआ अंदाज जन-अभिव्यक्ति के रूप में सभी को चेताता है –

'वक्त तलाशी लेगा/ वह भी चढ़े बुढ़ापे में/ संभल कर चल' (*पृ. 84*)

गीत के अन्तिम चरण तक पहुंचते-पहुंचते कवि 'गीत' की रचना-प्रक्रिया को रेखांकित करता है।

रचना-प्रक्रिया की बुनावट का एक पक्ष यह भी है कि वह जहां गीतकारों को ज़मीन से जुड़ाव का संदेश देता है वहीं वैचारिक अनुभूति बिम्बों का सार्थकीकरण एवं आलोचकों-समीक्षकों से उन्हें (गीतकारों को) चेताता है कि उनके गीतों का मूल्यांकन समय-सत्य की कसौटी पर अलग-अलग पैमानों से होगा –

"जितना है उतना ही रख गीतों में गंगा जल
वे जो आयेंगे छानेंगे कपड़े बदल-बदल
संभल कर चल।" (*पृ. 84*)

दूसरी ओर 'मिट्टी बोलती है' संग्रह के पहले ही गीत में कवि अपनी व्यथा मार्मिक शब्दों में व्यक्त करता है - 'उफ ! कलम होते हुए भी/ पाबन्दियों में रह रहा हूं' (*मिट्टी बोलती है : पृ. 11*)। शब्दों का नव्य गठन कवि मानस की अन्तर्व्यथी अनुभूतियों को तलस्पर्शी कुलबुलाहट से बेध देता है। शब्दों को पाल-पोस कर उसने अर्थ की गहराई के अनुसार इन्हें ढाला है। कवि की वांछा मात्र इतनी है कि ये शब्द अर्थों को सही आकार दें –

"अर्थ को आकार/ देने के लिए चलता रहे
आंधियों के, अंधड़ों के/ बीच में जलता रहे
मैं मरुं, मरने न दूंगा पर उसे
रोज जिसमें एक चिनगी बालता हूं,
शब्द को बच्चे सरीखा पालता हूं।" (*पृ. 65*)

शब्द समय को पीते रहते हैं, इसीलिए ये अक्षत डम डम शिव डमरू हैं। ये शब्द व्यथाओं का सामुद्रिक विस्तार, गहनगर्भी वैराट्यबोध, सूर्य-ताप, चन्द्र-जुन्हाई समेटे हैं। इसीलिए शब्दों में अर्थ और ध्वनि के अद्‌भुत् अनोखे झरने हैं –

"शब्द में ध्वन्यर्थ के/ झरने अनोखे हैं
तपी जीवन-दृष्टि के/ उजले झरोखे हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताप जिनमें कसमसाता है/ देह पर जिनकी
सुबह से शाम तक कोड़े पड़े हैं
शब्द जो हमने गढ़े हैं
वे हमारी वेदनाओं से बड़े हैं।" (*पृ. 67*)

शब्द को समय की आग चाहिये। शब्द ठण्डे नहीं होने चाहिये। ठण्डे होने पर उसकी सामर्थ्य और सामुद्रिक चुनौतियां नष्ट हो जाएंगी, इसीलिए इन्हें 'वक्त की आग देकर गरम कीजिए' (*दरिया का पानी : पृ. 15*)। शब्द में प्राण होंगे तो शब्द में ब्रह्मास्त्र की शक्ति होगी। कवि ऐसे शब्द-ब्रह्मास्त्रों से देश की धरती को नवाज़ता है। इसकी यह संकल्पना साहित्यिक दायित्व की ईमानदारी का प्रतिफलित रूप है –

"शब्द में ऐसे सरल, सुन्दर, सहज से प्राण डालो!
देश का माटी भरा संगीत, गीतों में संभालो!" (*पृ. 82*)

शब्द और अर्थ का समागम कयामत की भूमिका है, एक और एक मिल कर ग्यारह हो जाते हैं, हाथों में युगबोधी नये संकल्पों की मशाल आ जाती है और परिवर्तन के कोरस चहुं ओर सुनाई देने लगते हैं (*मिट्टी बोलती है : पृ. 68*)। और जब अर्थ शब्दों से बड़े हो जाते हैं तब –

"तेवर वाले तोड़/ परिधि से बाहर आये हैं
हाथों में, आंखों में/ दो चिन्गारी लाये हैं
हर पासंगवाली तखरी के/ धड़े हो गये हैं।" (*पृ. 73*)

शब्द और अर्थ की परिणय-लीला का गहराव ही वटीय छतनार होकर तल बेधक गगनमुखी हो जाता है, असंतुलन, अलगाव धरती के सीने पर खड़ा ठूंठ (*पृ. 72*)। रंजक के गीत-शब्द घाट के वो पत्थर हैं जो धारा समागम में द्रवीयगर्भ धारण करते रहे। अब कवि का रचनाशील मन उन्हीं घाट-पत्थरों को तीर्थ रूप देने को संकल्पित हैं। यही कारण है कि वह तथाकथित प्रतिबद्ध चौखटों में कैद आलोचकों/ समीक्षकों को पुराने आइने तोड़ कर नए सांचे बनाने का परामर्श देता है जिससे –

"फिर लहर की नब्ज़ पर/ उंगली धरें, कह जायें खुल कर/ घाट-पत्थर।" (*पृ. 74*)

'शब्द जो हमने गढ़े हैं' के अतिरिक्त 'मिट्टी बोलती है' के गीत तीन अन्य भागों में बंटे हैं। 'धूप ने कर्फ्यू लगाया है' खण्ड में भ्रष्टाचार, आतंकवाद, बाढ़, अतिवृष्टि, दूरदर्शन, रेडियो, अखबार आदि पर व्यंग्य एवं अवसरवाद पर तीखी टिप्पणियां हैं। व्यक्ति-पूजा, स्वेच्छारिता आज समाज को जंगलमुखी आदिमता की ओर धकेल रही है, इसीलिए श्रम जीवट की इन नवीन परिभाषाओं में मनुष्य-चेतना का समय-बोध परिवेश-टकराहट की साक्षी-शपथ है –

"इच्छाओं के सिरहाने से/ उमड़-घुमड़ कर भावुक भाषा
जीवन की, श्रम की, जीवट की/ रच देगी ऐसी परिभाषा
बल में छल का संबल होगा/ चारों ओर अमंगल होगा....।" (*पृ. 30*)

'कहां है घर' खण्ड में घर की तलाश है। यह ज़िन्दगी ऐसा गटर बन चुकी है जिसमें पीतमुखी मानसगर्मी का मल-मूत्र भरा है, आत्मा का ओज खोखले बांस-सा बज रहा है, हड्डियां गिरवी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, चर्बी नाखूनी चलन को बाध्य है, खून में घुलती स्याही, बढ़ता कर्ज़, मौत को नज़दीक लाते दवाखाने, कुर्सी-मोह में अपने आप को भूलते युग-प्रतिनिधियों ने अपने 'घर' को भुला दिया है। यही युग का लावायी प्रवाह है। कवि की बौखलाहट देखने योग्य है –

"सुन रे! बेईमान जमाने!
मारूं तुझको कितने झापड़/ कितने ताने।" (*पृ. 42*)

'कड़ी अनुभूतियों के स्वर' खण्ड में उन अनुभूतियों के स्वर हैं जो कठोर श्रम से उपजे हैं। कलकत्ता में रिक्शा-पुलर को देख कर कवि आदमी-आदमी के शापित भेद को रेखांकित करता है –

"अब यहां से तीर-सी आवाज़ देना लाज़मी है
ढो रहा जो आदमी की देह, वह भी आदमी है
पेट पांवों को भगाता है/ मगर क्या इस तरह से
है नहीं मंजूर, देखूं/ आदमी को इस सतह से
इक गरीबी के सिवा इस आदमी में क्या कमी है?" (*पृ. 45*)

अनेक कष्ट उठाने के बावजूद उत्साह कम नहीं, कवि को अपनी भुजाओं पर भरोसा है। अपने आप से संकल्पबद्ध गीत-मन ज़हन के भीतर पड़े अंधेरे को काटना अपना साहित्यिक धर्म मानता है –

"पानी काटता है जिस तरह पत्थर/ काट दूंगा वह अंधेरा
जोकि बरसों से पड़ा है/ ज़हन के भीतर/ पानी काटता है....
हर घड़ी, हर दिन, थकन के पार
तेज करता हूं निरन्तर रोशनी की धार।" (*पृ. 49*)

एक बेहतर ज़िन्दगी के लिए वक्त के जाहे जितने थपेड़े सहने पड़े, सीमाएं पाबन्दियां यदि गीतधर्मी हों तो कोई हर्ज़ नहीं लेकिन 'बेहतर ज़िन्दगी' मिले तो सही (*पृ. 51*)। जीवन को साधने के लिए न जाने कितने बीहड़ों को पार कर चंदन पाना होता है। व्यथाओं की जंगल-घाटियों सर्पमुखी गुफाओं का अंधेरा लेकर रोशनी को पीने के लिए तैयार खड़ी हैं लेकिन रोशनी पाने के लिए अपने आप को रूई की तरह धुनना होता है तभी धवलता की नुमाइन्दगी होती है। कवि संकल्पचेता अनुभूतियों को रूई की तरह धुनता है। इस धुनक धुन धुन का परिणाम ही जीवन को 'किरण के पांव' देना है और गति 'इतिहास दुबारा लिखती' है। 'दरिया का पानी' मिट्टी के संस्कार जगाता/ रचाता गीत-विहग को उन्मुक्त अनुशासित आकाश देता है। 'अमन के आसमान' की पहली सीढ़ी का दर्द यही है। इसीलिए कवि जीवन में आए गत्यावरोधों को तोड़ने के लिए कहता है कि नदी नल का जल पीना तो बहुत आसान है, पीना ही है तो तल को पीयो –

"जल नदी तट का, न नल का पी
पी सके दो घूंट - तल का पी।" (*पृ. 53*)

भयमुक्त आचरण व्यवहार जीवन को दिशाओं की गूंज देता है। आतंक छाया में घुटता जीवन जीवन से कायराना मज़ाक है। डर-आतंक जीवन को नासूर बना देते हैं, आत्मविश्वास की चमक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आंखों में ही दम तोड़ देती है। ऐसा व्यक्ति आपाद मस्तक को क्या चूमेगा जो स्वयं ही मिट्टी सूंघ रहा हो –

"डर के आगे आग जलाओ/ कद्दावर शब्दों को लाओ
फिर देखो/ अपनी ज़मीन का
कितना बड़ा जिगर लगता है/ तुमको नाहक डर लगता है।" (*पृ. 55*)

कवि के गीत हिम्मत, उत्साह का सन्देश प्रसारित करते हैं। 'द्वन्द्व की भाषा' (*पृ. 58*), 'सधे हाथों से' (*पृ. 59*), 'ईमान की चिनगी' (*पृ. 60*), 'कागज़ी पक्के इरादे' (*पृ. 61*) आदि सभी गीतों में जन-साधारण के हौसलों का शक्ति-परीक्षण है।

भाग्य और पुरुषार्थ में कवि पुरुषार्थ को अहमियत देता है। जीवन की कठिनाइयों से जूझता पस्त-ध्वस्त होकर टूटता-छुटता-किसी भी स्थिति में वह हार नहीं मानता। 'दरिया का पानी' संग्रह का मूल-मन्त्र यही है –

"पस्त हुआ, ध्वस्त हुआ/ हार नहीं मानी
जूझा हूं-मौसम से/ कुर्सी के बाज से
मांगें दो फूल नहीं/ दंभी ऋतुराज से
पतझड़ में जीया/ देवदारू स्वाभिमानी।" (*दरिया का पानी : पृ. 21*)

समय को जो अपने अनुकूल नहीं बना सकता, उससे आंख मिला कर जो सिर नहीं उठाता, असत्य-आचरण के विपरीत जो आवाज बुलन्द नहीं करता वह मनुष्यता और उसके जीवट पर कलंक है। पौरुष कर्म का अदम्य योग है। इसी पौरुष-योग से व्यक्ति अपने अस्तित्व की पहचान कराता है। रंजक का कवि उसे नमन करता है जो अपने होने और काल की विषम मुद्राओं से टकराने की बेखौफ हिम्मत रखता है –

"मौसम से लड़ने का/ है जिसमें चाव नहीं
उसमें कुछ जान नहीं/ उसमें कुछ ताव नहीं
ताव असलगर्मी है उम्र की/ जीने का संविधान गढ़ती है।" (*पृ. 36*)

'साहस का ध्रुवतारा' कवि का रचनाशील मन 'स्व' से 'सर्व' और 'सर्व' से 'सर्वहारा' को जोड़ता है। 'उधर मत जाना' (*पृ. 41*), 'आदमी आरक्षित' (*पृ. 50*), 'दिशा बिगड़ने लगी' (*पृ. 51*), 'वक्त लगता है' (*पृ. 52*), 'नौकरी की नोंक' (*पृ. 57*), 'प्राइमरी स्कूल' (*पृ. 62*), 'आवारा ऊसरा' (*पृ. 64*), 'कद घटाओ नहीं' (*पृ. 68*), 'क्यों परेशान हो' (*पृ. 69*), 'चलो हम-तुम' (*पृ. 70*), 'देहाती हैज पर' (*पृ. 71*), 'फूल सरसों के' (*पृ. 72*), 'किरण सन्ध्या की' (*पृ. 73*), 'सोनू का गीत' (*पृ. 76*), अम्मा का गीत (*पृ. 77*) 'पावस-गीत' (*पृ. 78-81*) आदि गीतों में रचनात्मक गतिशीलता के यही भाव-बिम्ब हैं –

"हम लोहा, लोहा ही हम हैं/ हम न सूत रेशम के धागे।
हम हैं लोक-चेतना के स्वर/ हम रखवारे मानवता के।" (*पृ. 86*)

यहां आकर लोक गीतीय सांस्कृतिक बिम्ब लोक रस लेकर जीवन के छोटे-छोटे लम्हों को बड़ा बना देते हैं। 'आओ रे ! सावन घन' (*पृ. 78*), 'लो राखी आई', (*पृ. 79*), 'पल्लु भर चांदनी'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पृ. *46*), 'सूरज ! मत डूब अभी खाली है झोरिया' (*पृ. 42*), 'इक्के वाले का गीत' (*पृ. 43*), 'उधर मत जाना' (*पृ. 41*), आदि सभी गीतों में लोक-संस्कार की गूंज है जो यह सिद्ध करती है कि रंजक के लिए गीतों की रचना केवल वैयक्तिक तुष्टि का साधन नहीं है बल्कि इससे कहीं ज़्यादा एक साधना है – समष्टिपरक सतत साधना जो ऊर्ध्वमुखी है' (*उत्तर गाथा : जुलाई 1979 पृ. 103*)।

मौसम से पंजा लड़ा कर बड़े होने वाले वृक्ष जीवन के अनेक रहस्यों को सहज ही खोल देते हैं। खुले आकाश के नीचे आतप-वृष्टि का गोला-बारूद सहते हुए इनके आचरण में जूझने संकल्पवान् होने का मूक संदेश है। दूसरी ओर वृक्ष समाज-जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं का महत्त्वपूर्ण उपादान है। अनेक समस्याओं के समाधान जीवन के रहस्यों की तरह इससे जुड़े हैं। जीवन का पूरा गणित वृक्षों के माध्यम से सुलझाया जा सकता है। जड़, शाख, पत्र, फूल, फल एक प्रक्रिया के तहत व्यक्ति जीवन को समय की प्रासंगिकता से जोड़ते हैं –

"दरख्त दरख्त होते हैं,
दरख्त की रीढ़ सख्त होती हैं,
दरख्त की जड़ें गहरी होती हैं,
दरख्त छांह देते हैं,
दरख्त पनाह देते हैं,
दरख्त फल देते हैं,
दरख्त जल देते हैं,
दरख्त मौसम से पंजा लड़ा कर बड़े होते हैं... ...।" (*दरिया का पानी : पृ. 35*)

दरख्त की वकालत यहां एक नन्हें से पौधे की तुलना में की गई है। दरख्त यहां भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों का प्रतीक है जिसकी जड़ें हमारे संस्कारों का अन्तर्दर्शन हैं। नन्हें-नन्हें पौधे आधुनिक नकारात्मक जीवन-मूल्य हैं जो हमारे जीवन में विष घोल रहे हैं। कवि धरती से अमृत खींचने वाली वटीय जड़ें, बरगदी छायाएं, फल-फूल लदे दरख्तों की ये नन्हें-नन्हें पौधे क्या तुलना करेंगे। इन पौधों का जीवन अल्प है जबकि वृक्ष दीर्घकालिक और स्थायी।

सृष्टि रचना की व्यास पीठ : कलम

लेखनी बारूद है, ब्रह्म-विस्फोट जो उद्जन अणुओं से कम नहीं। 'कलम का गीत' हिमालयी शक्ति-गरिमा का गीत है, वैराट्य अस्मिता का समुद्रीय तल विचलन है। कलम का अग्निमुख संवेदन, रगों में लयी रागात्मकता, शब्दों में अंगार-द्रवता, शैली में भस्मासुरी नेह व्यंजना काल कंठ के मरोड़मुखी तेवरों को संस्कार मंत्र बना देता है। जीवन के राग-विराग की पर्याय कलम इसीलिए स्पेसवार से भी अधिक ख़तरनाक और ज़िन्दगी का गुलाब चंदन है। कर्म और संघर्ष की पौरुष-धधकन जीवन-गीत की मीड़ बन कर झंकारती है तो झनझना कर असिधार पर नृत्य भी करती है। कलम में सिंह के दांत गिनने की ताकत है, शिवडमरू की नादात्मकता को गीत बनाने की संकल्प-चेतना है। कलम अंगद है, कर्ण है, धनुर्धारी पार्थ की आलोक दृष्टि, भीष्म की प्रतिज्ञा है। व्यासीय चिन्तन का गुरु गंभीर दायित्व, महाभारतीय अनाचार का रंग-दर्शन,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रामायण का रचनालोक कलम का ही तप है। साधित जीवन की साधना का अनुष्ठान कलम के गर्भ से निकले गीत-शिशुओं की उपनिषदीय प्रतिक्रिया है। साम, यर्जु की अन्तर्वीथियों से कलम ने ही रोशनी खींची है। अतः हृदय का राग बुद्धि का विद्युन्स्पर्श एकयोग होकर जब कलम की ताकत बनते हैं तब सृष्टि जीवन का पर्याय हो जाते हैं। कलम को गिरवी रखने वाले अग्निमुख नहीं हो सकते। ऐसा असाहित्यिक आचरण करने वाला गीतकार भांड होता है और हिन्दुस्तान में भांडों की कमी नहीं है। सारस्वत मोहन मनीषी की 'कलम नहीं बेचेंगें' की तर्ज़ पर रंजक का गीतकार भी कलम की शपथ को भीष्म-प्रतिज्ञा से कम नहीं मानता –

"कलम बिकती नहीं है सिर्फ उसकी,
जुड़ा है जो जमीं से, आदमी से
उसी ने चेतना को नोंक दी है
दुःखी है जो समय की त्रासदी से।" (*दरिया का पानी : पृ. 20*)

मुंशी प्रेमचन्द के लिए 'कलम तुम्हारी' (*पृ. 9*), मुक्तिबोध के लिए 'जब हवा ने सूचना दी मर गया वह' (*पृ. 11*), धूमिल के लिए 'यहां झरने लगे हैं फूल अपने वक्त से पहले' (*पृ. 12*) गीत प्रशस्तिपरक हैं। अतः 'कलम' सृष्टि-रचना की व्यास पीठ है।

मार्क्सीय दुराग्रह : भ्रमित चिन्तन

'इतिहास दुबारा लिखो' में सर्वहारा वर्ग के प्रति कवि की दृष्टि पहले की अपेक्षा परिपक्व, गहरी और संजीदा हो गई है। जनवादी चेतना की प्रतिबद्धता ने यहां कवि की गीत-चेतना को गहरे में प्रभावित किया है। यहां पूर्वापेक्षया कवि की दृष्टि सीमित हो गई है। मार्क्सीय आचरण की खोखले नारेबाजी से गीत यहां पीड़ित है। गीत का केन्द्र है श्रम का शोषण। देह से निचुड़ता स्वेद-रक्त, श्रम की ताकत, शोषकों से प्रतिकार, शोषण का अन्त, समता का स्वर, पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, शोषकों एवं सत्ता की नागफनी मुद्राएं आदि के गीत-बिम्बों में रंजक का खरा निजीपन और लोकरस की निष्पत्ति है। 'बैल भई रे करतार उमरिया बैल भई' (*इतिहास दुबारा लिखो*), 'महंगाई ने ज़ुल्म करि डारे बहना', 'घर में मारि कुंडली बैठ दुःख बढ़ जात भये', 'प्यारी ठाड़ी है तिहारी चपरास' आदि गीत लोकधुनीय थिरकन लेकर जनमानस पर पड़े शोषकों के चिह्नों को गहरा कर उसके प्रतिकार की भूमिका निर्मित करते हैं। 'चरवाहों के गीत' में चरवाहों की विक्षुब्धता देखने योग्य है क्योंकि उनके मालिक ने ढोर-चराई के कुछ पैसे वेवजह ही काट लिये –

"जा कै रूपया बाकी धेली/ मारि मूर पै गढ़ी हवेली
लाल वही के लाल गये अब/ दिन ठगियाई के।"

शोषक मानसिकता और जीवट संघर्ष के तीव्रजनित आवेगों को पूरी शिद्दत से सीधे संप्रेषित कर देना रंजक के गीतकार की ख़ास विशेषता है –

"लोभी पेशकार की धमकी/ टामी चपरासी के धक्के
खाली मोली रोब गांठते/ तेरे छोड़े हुए उचक्के
बेकसूर इन्सान किसी के/ जूते के नीचे न रहेंगे
हम न सहेंगे, हम न सहेंगे।" (*पृ. 14*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन पंक्तियों में कोरी नारेबाजी नहीं बल्कि एक निर्दोष बेबस इन्सान की पीड़ा भी है। जमींदार का पशुवत् अपमानजनक व्यवहार आत्मा के हर हिस्से में कांटे की तरह गड़ जाता है। यह उसी महीन नुकीली गढ़न का नतीजा है जो आक्रोशजनित फन फैला कर विद्रोही तक्षक बन जाता है – 'हम न सहेंगे...हम न सहेंगे.....' कवि इसीलिए इतिहास दुबारा लिखने की वकालत करता है। शोषण के अभेद्य दुर्ग को शब्द अणुओं ने बेध कर आर-पार सुराख बना दिये हैं। विद्रोह के इस पथ को संकल्प-जल से धोना होगा। तभी आस्था की गंगाजली प्रवाहित होगी। प्रगतिवादी चिन्तन की छाप गीतों को एक रस बना देती है। मार्क्सीय वैचारिक सिद्धान्त का दुराग्रह यहां फौजी आचरण हो जाता है। एक ही एंगल को इधर-उधर बार-बार ऊपर-नीचे घुमाने से प्रभावक्षमता खण्डित हो जाती है। अनेक जगह इसी वजह से गीतकार का स्वर अभिधात्मक हो जाता है। इन गीतों में व्यंग्य की असिधार पर गतिशील होने की कामना भी है। आक्रोश का विद्रोही गीत राग शोषकों की उस मानसिकता को उभारता है जो श्रम को पानी की कीमत पर खरीद कर भी आत्माओं को बंधक बना कर रखना चाहते हैं। दरिद्रता के इस अभिशाप से कवि सतही रूप में रूबरू होता है –

"सच कहना कितना आता है - भूखा पेट गरीब का
सांझ ढले तक अपनी काया/ झूठी सच्ची दया दिलासा
अधनंगी फटकार देह पर/ फिर भी रहता भूखा-प्यासा
रात-रात भर पछताता है/ भूखा पेट गरीब का।" (*पृ. 7*)

रेत के कणों से भी कठोर मरुथली राजनीतिज्ञों का कछुआयी आचरण किस प्रकार सत्ता, कुर्सी, धनकुबेरों और शोषण की रक्षा करता है यह किसी से छुपा नहीं है। जनपथ को रौंद कर राजपथ पर कालीन बिछवाने की कला में कमोबेश सभी माहिर हैं। इनकी कोबरा मुस्कानों में पूंजीपतियों का संरक्षण है और जनता को डुगडुगी पर बंदर नचाने जैसा है। इस दृष्टि से ये शोषकों से भी दो कदम आगे है –

"मीटिंग में/ तकलीफ हमारी/ हंस कर टाल गये
एक कुटिल/ मुस्कान फेंक कर/ काम निकाल गये
हमें चूल्हे में डाल गये।" (*पृ. 13*)

व्यंग्य सबसे तीक्ष्ण हथियार है भीतर तक भेदता चला जाता है –

"इनके हाथ बड़े लम्बे हैं/ पांव नहीं इनके खम्बे हैं
गांधी का चरखा चबा गये/ भरे पेट पर देश खा गये।" (*पृ. 21*)

'मुफलिसी का गीत' (*पृ. 29*), 'हड़ताल का गीत' (*पृ. 39*), 'हम न सहेंगे' (*पृ. 14*), 'दूसरी लड़ाई का गीत' (*पृ. 46*), 'होली - 1976' (*पृ. 51*) आदि गीतों में शोषण-शोषित श्रम, अपमान, दरिद्रता, आक्रोश, विद्रोह, प्रतिकार को प्रतिबद्ध क्रान्ति बिम्ब हैं जो एक विशिष्ट मानसिकता की गीतीय प्रतीतियां हैं। इनमें मार्क्स का सैद्धान्तिक भ्रम जाल, अखबारी चिन्तन, प्रगतिवादी नारेबाजी ज्यादा है, अन्दरूनी शोषण की तकलीफ कम। इसलिए इन और ऐसे गीतों में रंजक की सहज गीत चेतना बाधक हुई है, चढ़ कर बोलती नहीं। इनमें हृदय-बुद्धि का संतुलन कम, सैद्धान्तिक दुराग्रह की कचोट कहीं अधिक है। इन गीतों में एक ही बात को गाहे-बगाहे वृत्ताकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घुमाया गया है जो विकास नहीं अगति का सूचक है। एक सोच का सांचा बना कर उसमें गीत ढालना गीत की प्रकृति के प्रतिकूल है। इसी प्रतिकूलता ने इन गीतों को ढलानवादी बना दिया है। ढलान पर लुढ़कते पत्थरों का शोर गीत ऋदम की तालबद्धता को तोड़ देता है। इस टूटन ने इन गीतों को वर्णनात्मक तथ्यात्मकता से जोड़ दिया है। तथ्यात्मकता रुक्षता पैदा करती है। ये गीत नीरसता के आखेट रस का शिकार हैं।

उपन्यास-गरिमा के मानक मुंशी प्रेमचन्द की उपन्यास-कला का उत्कर्ष 'गोदान' के जनबोधी चरित्र होरी, धनिया, गोबर के माध्यम से गांव के निर्धन कृषक जीवन में गीतकार आजादी के चालीस वर्ष पूर्व और आजादी के चालीस वर्ष बाद भी कोई अन्तर नहीं पाता। वह ग्रामीण कृषक परिवेश की यातना को साकार करता है –

"होरी पड़ा अचेत खेत में/ धनिया खाय पछाड़ रेत में
गोबर भूखा फिरे शहर में/ ऐसी हालात है घर-घर में
प्रेमचन्द के बाद दूसरा कौन लिखे गोदान।" (*पृ. 73*)

विध्वंस, क्रान्ति, विद्रोह के बिगुल शंखी गीत मार्क्सीय चिन्तन के पूर्वाग्रह के हस्ताक्षर-पत्र हैं। लोकतान्त्रिक व्यवस्था को उखाड़ कर समतावादी समाज का स्वप्न अच्छा हो सकता है लेकिन क्रान्ति के इन स्वप्नदर्शी बीजों को बोने के लिए परिस्थितियां और ज़मीन अनुकूल होनी चाहिए। भारतीय परिवेश में पाश्चात्य दर्शन की घुसपैठ हमारी संस्कृति का अवमूल्यन है। अपनी सांस्कृतिक अस्मिता को बचा कर लोकतांत्रिक व्यवस्था के विकल्प के रूप में क्रान्ति की बात करना श्रेय और प्रेय है किन्तु अपनी भूमि से कट कर विदेशी दर्शन को शक्ति के बल पर लागू करने की मानसिकता अधरंग पीड़ित लकवाग्रस्त प्रतिपक्षी भूमिका निभाने वाली एवं आरोपित है। इस तरह के आचरण पर लिखी रचनाएं किसी भी विधा में लिखी जाएं आकर्षक नारों से आगे नहीं बढ़ पातीं। रंजक की इस प्रकार की रचनाएं गीत की शक्ल में मार्क्सीय सिद्धान्तों का प्रचार और अखबार ढालने जैसी है –

"ये आग पूछती है, लोकतंत्र एक ताज है?
ये आग पूछती है, देश मेज की दराज है?
ये आग कह रही है हर दलाल एक बाज है
कि आदमी के खून पर तिजोरियों का राज है।" (*पृ. 37*)

मार्क्सीय सिद्धान्तों के दुराग्रहों से बंध कर इस प्रकार 'इतिहास दुबारा लिखने' की वकालत प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं –

"इतिहास दुबारा लिखो सिद्ध सामन्तों का
इतिहास दुबारा लिखो दलित मानवता का
इतिहास दुबारा लिखो आदमी क्यों टूटा
इतिहास दुबारा लिखो जुझारू भाषा में
किस तरह आदमी बैल बनाया गया यहां
औरत क्यों कटी पतंग रही मस्तानों की
मानवता ने लाठी खाई है कहां-कहां?" (*पृ. 56*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवर्त्तन कामी इच्छा-बोध को कुछ गीत दुराग्रह मुक्त होकर सम्प्रेषित करते हैं। 'वक्त लगता है' गीत इसी मानसिकता का है जिसमें जुए से मुक्त होने के भाव की सुन्दर व्यंजना है –

"हार खाया हुआ बैल! गर्दन की मुक्ति के लिए
बार-बार सिर झटकता है/ जुए का गर्दन पर होना
उसे/ बेहद खटकता है।" (*दरिया का पानी : पृ. 56*)

सार्थक विरोध की चिन्गारियां जब आलोक-रूप होती हैं तब त्याग और कुर्बानी के मार्ग प्रशस्त होते हैं। त्याग और देने की डायनैमेटिक इच्छा-शक्ति कायर अवरोधों को बर्फ की तरह पिघला कर पानी कर देती है। रचना-मार्ग में आने वाली दुरभिसन्धियां, असाहित्यिक आचरण, नेतायी व्यवहार, कुर्सी के गिरगिटी रंग, अंगद-संकल्पों को पर्व बना देते हैं –

"रोशनी का नाम कुर्बानी/ तोड़ देती बांध का पानी/ कालिमा बोने नहीं देती
बाजुओं को आग देती है/ प्रगतिधर्मा राग देती है/ हाथ में दोने नहीं देती।"

(*मिट्टी बोलती है : पृ. 57*)

आपात्काल के दौरान लिखी रचनाओं में अभिव्यक्ति स्वातन्त्रय की अकुलाहट है। इन का गीतीय परिवेश भाव, विचार, भाषा सभी दृष्टियों से संतुलित विवेक छाज में छना है। शैली और अंदाज नया एवं जुदा है।

प्रणय, दर्द, प्रकृति

प्रगतिबद्धता में प्रणय-छुअनों के लिए अधिक अवकाश नहीं होता। चूंकि आरोपित सैद्धान्तिक आग्रह जन-संघर्ष में इस अक्षत बुनियादी भाव को बाधक मान कर महत्त्व नहीं देता। रंजक के गीत-मन का आग्रह भी यही है –

"भूल जाना/ एक ताजी उम्र का रस, रूप, गंधित मन
भूल जाना/ एक नंगी बांह का घेरा, बदन-चन्दन
भूल जाना, भूल जाना, रेत का कुंकुम
एक खाली जगह के दो शब्द थे हम/ भूल जाना।" (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 45*)

जन-संघर्षों को समर्पित होने पर लौकिक प्रणय की गुंजायश कहां? मानव के सामने दो विकल्प हैं 'चुहल के सम्पुट लगाना' या 'सिक्के बनाना' कवि-रसिक-सामाजिकों के आगे प्रश्न फेंकता है कि 'कौन-सा रिश्ता जरूरी या कौन-सा नाता?' जाहिर है पेट की क्षुधा शान्त होगी तभी शारीरिक प्रणय की आवंश्यकता का अनुभव होगा। इसीलिए कवि प्यार को यूं व्याख्यायित करता है –

"प्यार/ माथे का पसीना/ पोंछने के बाद की सांसें
एक रामायन/ जिसे फुरसत मिले तो/ देर तक बांचें।" (*पृ. 54*)

प्रणय के प्रति नकार भाव के बावजूद रंजक के अनेक ऐसे गीत हैं जो मन की धरती पर हिमालय से पिघल कर मानसर झील बन जाते हैं। इस गीत में स्पर्श-बिम्बी चुहल-चुभन देखिए-

"क्या था उन हाथों में/ भारीपन फूल दुआ
ज्यों का त्यों शरीर/ लेकिन सब छुआ छुआ।" (*हंस : फरवरी 1987*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यौवन के द्वार पर अल्पना रचाती प्रणय गंध खुद-ब-खुद खुशबू सी बह निकलती है। कली का फूल बनना इस बावरी उमरिया का दंश है। उमर के इस दौर में प्रणय शिशु की तरह सहज भाव से अपनी जगह बना लेता है लेकिन यौवन की ढलान अनुभव परिपक्वता का दस्तावेज बन कर प्रहरी भूमिका में आ जाता है। मन की अगन आयु के दौर को नहीं देखती। सारी मर्यादाएं सारे एथिक्स धरे रह जाते हैं, जब मन को कोई अच्छा लगता है, लेकिन यौवन की सहजता परिपक्व आयु में अनुभव की आंच लेकर प्रणय अभिव्यक्ति में सकुचाती है। यही संकुचन अल्पना- रचाव को आड़ा-तिरछा कर देता है क्योंकि तब तक भीतर ही भीतर एक युग रीत चुकता है –

"कुनकुना परसन/ लगा भाव का
भाव देने लगे शक्ति/ अनुभाव को
मौन की ओज में नेह डूबे हुए
स्वर उभरने लगे हम करें भी तो क्या?" (*नया पथ : प्रवेशांक 1986*)

रंजक के प्रणय-गीतों में अल्पना रचाव का चुका हुआ बोध है। एक अचकचाहट ने उसे सदा घेरे रखा है। इस अचकन-कचोट की सकुचायी प्रणय-छुअनें नेह-छवियों को भीतर तक 'बिस्मिल्ला' कर देती हैं। शहनाई की प्रणय-गूंज समूची देही को तोड़ कर इकहरा कर देती है चूंकि प्रणय की अनिवार्यता का नकार सृजनविरोधी प्रतिगामी आचरण है। अतः प्रणय की अभिव्यक्ति परिणय-पर्व की जुन्हाई एवं जीवन की बुनियादी शर्त्त है।

दर्द-कोख से उपजी गीत-पीड़ा व्यथा की चूनर ओढ़ कर सुहागवती होती है। दर्द ही गीत को गढ़ता-तराशता है। दर्द के बिना वाणी बेमानी और अर्थहीन है –

"दरद बिना बानी, बेमानी।
दरद निचोरे, परबत-पाथर/ दरद भरै सागर में पानी।" (*दरिया का पानी : पृ. 83*)

महाजन की अजगर जकड़न आम आदमी की नियति-विवशता है। ऐसे में यदि 'दर्द' ही महाजन हो जाए तो आश्चर्य क्या? लेकिन आठवां आश्चर्य तब होता है जब कृपण दर्द का महाजन फूले-आंगन को देख ब्याज लेना ही भूल जाए (*गीत विहग उतरा : पृ. 50*)। 'अनकहा जो लिखा ब्याज से/ साधना मिश्रधन हो गयी' (*पृ. 63*) में भी दर्द-महाजन का यही तल्ख़-बोध है।

छाया-रहस्य की मानवीकरण प्रवृत्ति को रंजक ने 'गीत विहग उतरा' में भरपूर तराशा है। कला को चुम्बक बना कर कवि ने यहां प्रकृति छवियों को अनेककोणी होकर निहारा-हेरा है। इसका चुम्बकधर्मी एक कोण देखिए –

"झील किनारे/ पांव पखारे/ सन्ध्या गंध भरी
सूरजमुखी देह की छाया लगी सोनमछरी
मंजीरे-सी बजीं/ चूड़ियां हाथों की/ जल की
तन-मन पर सिहरी/ आलोकित छवि/ हल्की-हल्की
जगह-जगह समकोण बनाती दीपशिखा उभरी।" (*पृ. 25*)

संध्या के दो चित्र (*पृ. 31*), गांव का शिकारा (*पृ. 29*), सुधियां गुमनाम (*पृ. 21*) जैसे गीतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यदि संध्या के मानवीकृत चित्रों की चुम्बक जुम्बिश है तो 'धूप की किताब' (*पृ. 55*), 'सुबह हुई' (*पृ. 10*), 'झीना आलोक' (*पृ. 54*), 'धूप के निशान' (*पृ. 15*) आदि गीतों में प्रभात की अनुरक्ति मानवीकृत होकर हृदय की घुलावट बन गई है। ऐसे गीतों में छायावादी कवियों की भांति कोई रहस्यमय या अदृश्य सत्ता का संकेत नहीं है अपितु ये गीत साधारण मानव की आचार संहिता बन कर भावमुखी हुए हैं। 'घर में सुबह' गीत प्रभात-आगमन को मोरपंखी उछाह से जोड़ता है –

"सुर्ख हुई कनपटी मकानों की/ आंख खुली अंधे दालानों की
गुज़र गई किरन चपत मार कर/ अनबुहरे आंगन को पार कर
कंजी आंखों वाली रोशनी/ कमरे में झांकने लगी
दीवारों की टंगी कमीजों पर/ धूप बटन टांकने लगी
दो पहरी कालिमा निखार कर/ उबटन-सा लेप गयी द्वार पर।" (*पृ. 27*)

'वामनी-क्षण' (*पृ. 18*), 'कन्धों पर कांवर' (*पृ. 55*) आदि पद कवि के गहरे संस्कृति-जुड़ाव को संकेतित करते हैं तो 'दक्खिनी हवा' (*पृ. 45*), 'उल्कापात' (*पृ. 48*) आदि भौगोलिक ज्ञान के सूचक हैं।

शैल्पिक-पथ

रंजक ने छन्दों को एक नयी गति दी। इनके गीतों में छन्द के साथ लय का अनुबंध देखते ही बनता था। छोटे-छोटे गीतों में मुहावरेदार भाषा का सार्थक प्रयोग करने में रंजक अत्यन्त चतुर कलाकार थे। अधिक मात्राओं के छन्दों में भी उन का तारतम्य पूरा बना रहा। गीत लिखने में सावधानी और सजगता जितनी रंजक ने बरती है उतनी बहुत कम लोग बरत पाये हैं। अनुभूतियों का संसार जितना विस्तृत उतनी ही अभिव्यक्ति में नवलता और ताज़गी। खड़ी बोली का एक प्रांजल रूप रंजक के गीतों में उजागर हुआ है। शब्द को कहीं से भी उठाने में उन्हें संकोच नहीं-वे भावाभिव्यक्ति को महत्त्व देने वाले गीतकवि थे।

छान्दसिक संगीतीय लय

प्राणों की लय है 'सांस' - इसके बिना देह निर्जीव है। इसी प्रकार गीत की सार्थकता है 'लय'। लय के बिना गीत गद्यात्मक झुलसन है। लय के उद्भुत क्षण को आगे बढ़ा कर जब रचनाकार उसी लय को उसी की एक और पार्श्ववर्त्ती अतिरिक्त गूंज से जोड़ देता है तो उस लय की सपाटता में एक विशेष घुमाव आ जाता है और लय रिवाल्विंग हो जाती है.......यह सपाट लय घुमावदार लय तभी हो पाती है जब उसी लय की पार्श्वर्त्ती अतिरिक्त गूंज को पतली रस्सी की तरह भांज दिया जाता है......लय संगीत की कन्या है चाहे यह संगीत (शास्त्रीय संगीत से अलग) जीवन, जगत, यंत्र आदि का वह संगीत ही क्यों न हो जो आज के उन्मुक्त वातावरण में व्याप्त है। संगीत की ध्वनि-तरंगों से आप लय को किसी भी प्रकार नहीं बचा सकते। धूप की शहतीर में बिछलते अणु की तरह लय में भी संगीत की ध्वनि-तरंगें (वेव्ज़) तैरती रहती हैं और उन्हीं के आधार पर कविता गद्य से और गीत कविता से पृथक होती है (*हरापन नहीं टूटेगा : 'सही ज़मीन से' : पृ. 6-7*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रंजक के कमोबेश सभी गीतों में - वे संक्षिप्त हों या लम्बे लय की पार्श्ववर्त्ती गूंज घुमावदार 'रिवोल्विंग' होकर पूरे गीत में प्राणों की तरह संचरित है। संक्षिप्त गीतों में लय की घुमावदार रवानगी तीव्र है –

"ये बंजर धरती है, दे पानी!
रमजानी! दे पानी!!
जेठ की
परेवट यह व्यर्थ नहीं जायेगी
आयेगी नयी फसल आयेगी
मनमानी! दे पानी!
पानी ने
पत्थर को, लोहे को, मारा है
जो भी टकराया है, हारा है
अभिमानी! दे पानी!
रमजानी! दे पानी!!" (*मिट्टी बोलती है : पृ. 54*)

इसी प्रकार 'वक्त लगता है' जैसे लम्बे गीत में वक्त शब्द को कवि ने रिवाल्विंग बना दिया है –

"सटे हुए खुरों को/ अलगाता हुआ वक्त!
गर्दन को बोझ से/ झुकाता हुआ वक्त!
समूची देह को/ निचोड़ता हुआ वक्त!
टापू-सी टॉट को/ सिकोड़ता हुआ वक्त!
एक इबारत-सी/ छोड़ता हुआ वक्त!
मिट्टी की तरह से/ गोड़ता हुआ वक्त!" (*दरिया का पानी : पृ. 55*)

लय के महत्त्व को शिखर देने के लिए कवि ने कोकिल और कौवे का दृष्टान्त देकर उन की तुलना की है (*पृ. 22*)। लय-छन्द एक प्राण है। काव्य असि है अगर तो 'छन्द उसकी मूठ है रे'।

इसीलिए –

"छन्द कहता है करो मंथन समय का
शब्द संचालन करो ऐसे
खान से निकला हुआ सोना
साफ होकर दमकता जैसे
शब्द पानीदार है तो
वृक्ष है छतनार
वर्ना ठूँठ है रे!" (*मिट्टी बोलती है : पृ. 73*)

लय, ताल, मात्राओं का आनुपातिक मिश्रण ही छन्द की गरिमा है। कवि इसे विभिन्न अर्थ स्तरों पर व्यापक सन्दर्भों में प्रयुक्त करता है। इसलिए इनके गीत-संसार में धूप के निशान 'छन्द'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के समान उभरते हैं (*गीत विहग उतरा : पृ. 15*), यात्रा के बाद जब कोई थका हुआ व्यक्ति प्रवेश करता है तब घर की दीवारें, दरवाजों पर लगे परदे 'छन्दों' की भांति गूंज उठते हैं (*पृ. 24*), कहीं इन्हें 'बुझता हुआ नीलाभ अम्बर छन्द-सा सुन्दर' (*पृ. 26*) प्रतीत होता है तो कहीं छन्द 'प्रेम का प्रतीक' (*पृ. 34*) हो जाता है, कहीं 'छन्द-सरीखी गठन देह' (*पृ. 36*), 'छन्द वृक्ष की डाली' (*पृ. 54*) बन जाती है तो कहीं एक छन्द आंसू/ एक गीत पर तड़पन (*पृ. 61*) ही शेष रह जाती है और कहीं छन्दों के ढहने टूटने का आह्वान है –

"ढहने दो छन्द-बन्ध/ बहने दो गीत गंध।" (*पृ. 59*)

रंजक ने निश्चित रूप से 'छन्द' को उत्कर्ष दिया है। उपादानों की अपेक्षा इन की दृष्टि में गीत प्रधान है। इसी प्रकार रागात्मकता गीत की शर्त्त है छन्द नहीं। लय-विधान, संगीत-छलकन, ताल-कत्थक और संक्षिप्तति इनके गीतों की रागात्मकता है।

लोक-धुनों के इस रस-रचाव में अपनी मिट्टी के संस्कार-संस्कृति झनझनाते संगीत और खुशबू रोशनी से फैल जाते हैं। लोक रस की इस शक्ति और आत्मीयता को रंजक के गीतकार ने गहरे में जाकर पकड़ा था। इसलिए इनके गीत लोक-संचेतना का गीत-रस लेकर झूमते हैं -

"गीत में गति/ बंध नहीं पाती समय की/ झूठ है रे।" (*मिट्टी बोलती है : पृ. 73*)

लय छन्द के साथ संगीत गीत को पारस बना देता है। अपने आप में संगीत समाधि-साधना से कम नहीं –

"कौन जी पाया बिना संगीत के
देह? ना, ना!
स्नेह? ना रे!
ज़िन्दगी के पास रहना है/ सफर का गीत गा रे!" (*दरिया का पानी : पृ. 82*)

इसीलिए –

"अब्द में ज्यों शब्द व्यंजित
शब्द में ऐसे सरल, सुन्दर, सहज से प्राण डालो!
देश का माटी भरा संगीत, गीतों में संभालो।" (*पृ. 82*)

लोकोक्त मुहावरें

लोकोक्तियां-मुहावरे गीतों को लाक्षणिक व्यञ्जनाओं की धरोहर बना देते हैं - 'क्रान्ति करती नहीं भाषा घर जमाई की' (*मिट्टी बोलती है : पृ. 24*), 'एक और एक ग्यारह हो जाते हैं' (*पृ. 68*), 'खाकर मार समय की' (*पृ. 71*), 'जो चिकने घड़े हैं' (*पृ. 72*), 'गाज गिर जाये' (*पृ. 76*), 'मुश्क बांध रहे' (*दरिया का पानी : पृ. 34*), 'बखिया की तरह से उधड़ती है' (*पृ. 36*), 'रोंगटे जगने लगे' (*पृ. 40*), 'बिबाई भरे जन के पांव' (*पृ. 40*), 'काल के गाल के इक निवाले हैं' (*पृ. 68*), 'चाट जाये धूल की दीमक' (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 92*) आदि लोकोक्त-मुहावरे लोक-बुनावट की महीन कसावट है।

सूक्ति - प्रयोग भाषा को सारगर्भित एवं जीवन के गहरे अर्थ-स्तरों को खोलते हैं - 'विपत्ति कसौटी है जीवन की, दृढ़ता ही है आलम्बन' (*किरन के पांव : पृ. 44*), 'दर्द स्नेह का गंगाजल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है' (*पृ. 26*) 'किसी भी चीज़ का कद आदमी से बड़ा नहीं होता' (*दरिया का पानी : पृ. 69*), 'धन का चीज? हमारे आगे' (*पृ. 88*), 'कद घटाओ नहीं, इसको ऊंचा करो' (*पृ. 68*), 'कलम में आग है तो ज़िन्दगी है' (*पृ. 20*) आदि सूक्ति-प्रयोग ऐसे ही हैं।

शब्द, बिम्ब, प्रतीक, अलंकार

आधुनिक-जीवन संवेदना को रूपायित करने वाले शब्द खुरदरे ज्यादा हैं - अजगरी संत्रास (*गीत विहग उतरा : पृ. 48*), 'आदमखोर परिहास' (*पृ. 48*), 'भौहें क्यों तन गई बबूल सी' (*पृ. 9*) आदि शब्द खुरदरे और नुकीले हैं। 'सतरंगी तितली' (*किरन के पांव : पृ. 22*), में प्रिया के रूप-सौन्दर्य के लिए माणिक, नीलम, पुखराज, हीरकनी, मोतिया, पन्नई, गोमेधिया आदि का उपमान संयोजन हृदय-तट को लहरों से सींचता है। रूप-राशि की तरलता नाप कर उससे 'कोमल काया से क्यों बांधा इतना पाहनपन' जैसा प्रश्न हृदय-तट को भिगोती लहरों की शोख अदावत है। 'भरी भरी बाखर है/ आखर न बोलना' (*पृ. 34*), 'एक बोझ-सा उतरा तो हम फैले साये से' (*पृ. 51*) जैसे गीत और उनके शब्द लय के धनी, छन्द के स्वामी प्राण-संजीवन और गति के हामी हैं। 'ये अनमोल मोती' (*दरिया का पानी : पृ. 84*), 'शब्द ध्वन्यर्थ के झरोखे हैं' (*मिट्टी बोलती है : पृ. 67*), 'शब्द और अर्थ एक होकर दो नहीं, ग्याहर हो जाते हैं' (*पृ. 68*), 'सोनजूही' जैसे परम्परागत शब्दों को रूढ़ अर्थ से काट कर कवि ने उसे नयी संवेदना भूमि पर देवदारू बनाया है। रूढ़ता से आधुनिकता तक की गीत पदचापों में 'वाह वाह और ओफ्फो' तक की यात्रा कवि ने सोपान-दर- सोपान महसूस की है –

"मेरा बदन हो गया पत्थर का
'सोनजूही-से' हाथ तुम्हारे
लकड़ी के हो गये
हमारे दिन फीके हो गये
नक्श बदल गया सारे घर का।" (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 6*)

लोक-संस्कृति के साक्षात् बिम्ब 'रमेश रंजक के लोकगीत' का केन्द्रीय स्वर है। 'आओ रे सावन-घन' (*गीत विहग उतरा : पृ. 78*), 'लो राखी आई' (*पृ. 79*), 'माटी भरा संगीत' (*पृ. 82*), 'पल्लू भर चांदनी' (*पृ. 46*) आदि गीत इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। 'सोनू का गीत' (*पृ. 76*), 'अम्मा का गीत' (*पृ. 77*), 'पावस-गीत' (*पृ. 78-81*), 'इक्के वालों का गीत' (*पृ. 43*) आदि गीतों के साथ 'विशेषण' सम्प्रेषण-क्षमता को तीव्र और स्पष्टतर करता है।

वृहत्तर यथार्थ की अभिव्यक्ति के लिए कवि नशतर नुकीले तीखे विशेषणों से बिम्ब-निर्माण करता है। इस मुकुर बिम्बी कला नफ़ीसी में युग की संपूर्ण कुरूप वीभत्सता नंगी हो गई है। शब्द, विशेषण जीवन और परिवेश स्थितियों को खरोंचते-छीलते चलते हैं। खुरचन-छिलन के इस गीत-दर्शन में व्यक्ति-मन को काल-सत्य रौंदता जाता है। 'सर्पिल पगडण्डी' (*पृ. 13*), 'कलमुंही अंगीठियां' (*पृ.27*), 'कलमुंही इकाई' (*पृ. 16*), 'सर्पीली रातें' (*पृ.30*), 'अजगरी अंधेरे' (*पृ. 41*), 'अपनत्व कुंठित' (*पृ. 48*), 'अजगरी संत्रास' (*पृ. 41*), 'बदचलन अंधेरा' (*पृ. 51*), 'अवारा मौसम' (*पृ. 52*), 'नागिन-सी बैठ गई' (*पृ. 55*), 'काई-सा सिमट गया स्याही का व्यास' (*पृ. 17*), आदि शब्द-बिम्ब जीवन के रंग बोध को साकार कर आदमी हो जाते हैं। कहीं-कहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो पूरा अन्तरा ही वस्तुगत बिम्ब का निर्माण कर देता है –

"बूढ़ी संध्याओं की भीड़/ चली गयी/ टूटी प्रतिध्वनियां
स्याही में सिमट गये नीड़/ हवा हुई/ प्रतिबिम्बित छवियां
ऊब भरे साये दहकाये/ मुर्दों-से-ठोकर/ हमने तो........।" (*पृ. 46*)

इसी प्रकार 'याद हैं पहाड़ों से' (*पृ. 49*), 'यादें बीमार' (*पृ. 27*), 'घर में सुबह' (*पृ. 54*), 'दुहरा सेतु' (*पृ. 21*), 'बनजारिन धूप' (*पृ. 29*), 'वनवासी मन' (*पृ. 38*), 'चम्पई सीढ़ियां' (*पृ. 62*) जैसे पदों में बिम्ब-प्रतिबिम्ब जीवन को उधेड़ कर युगीय भावभूमि का प्रमाणीकृत साकारीकरण है। इनकी बिम्ब ग्रहण क्षमता तब और भी प्रखर हो उठती है जब आम आदमी के दर्द को उसी की शब्दावली में अभिव्यक्ति मिलती है। रिसते रिश्तों की आंच का बिम्ब महसूस कीजिए -

"अब न कभी महकेगी/ माथे भर ताल में
रोली की कमल-कली/ सम्बन्धों की ऐसी धूप ढली।"

संक्षिप्त से गीत में छोटी-सी टेक-पंक्ति के ज़रिये कवि ने जिस सांस्कृतिक उपमान की खोज की है वह निस्सन्देह गीत-महक को मदिरा बना देता है। इस मदिरा में बहकन भी है और दहकन की तलस्पर्शी कसावट भी।

'गीत मर गया' की घोषणा करने वालों के बौद्धिक वैचारिक दिवालियेपन को कवि ने अपने दो गीतों में 'गिद्ध' और 'कौवा' प्रतीकों के ज़रिये पूरी तरह नकारा है। पहला गीत है –

"जब हवा ने सूचना दी मर गया वह
चील, कौवे, गिद्ध, कुत्ते आ गये
मार के मारे हुए को खा गये...
गिद्ध ने फिर सिद्ध मुद्रा में कहा
वह हमारा पहरूआ था, पहरूआ!" (*दरिया का पानी : पृ. 11*)

दूसरा गीत है –

"कोकिल!
विकृत स्वरों में नहीं बोलता
छप्पर या मुंडेर पर/ उठाई गिरों की तरह नहीं....
ये सब टुकड़ खोरों के काम हैं
कोकिल!
टुकड़ खोरों के काम नहीं करता
आंख बचा कर/ सहन में सूखता अनाज नहीं चुगता
पढ़ेनी रखे हुए घड़ों में चोंच नहीं डुबोता....
ये सब कौवे के काम हैं!
कोकिल कौवों के काम नहीं करता।" (*पृ. 22-23*)

कवि ने 'गीत' शब्द का उसी प्रकार बार-बार प्रयोग किया है जिस प्रकार प्राइमरी के बच्चों को गिनती और पहाड़े रटाए जाते हैं। गिनती की सपाट लय को पहाड़े की घुमावदार लय से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोड़ कर उसे रिवाल्विंग बनाना यहां गीतकार का उद्देश्य है। गीतकार कोकिल है जिसके दायित्व अनादिकाल से सुनिश्चित हैं। मौसम के आने की सूचना देना, पंचम सुर में बोलना, लय और स्वरों का सामञ्जस्य स्थापित करना और पूरी ताकत से अपने परिवेश को गाना। गीत ही यदि मर जाएगा तो गीतकार ये सन्देश कैसे देगा। स्वानुभूति व्यंजकता के आदर्श को जीते रंजक के गीतों ने नई भंगिमा, नयी शैली में अपनी पहचान कायम की है।

छायावाद की देन मानवीकरण अलंकार में जड़ पदार्थों में मानवीय भावनाओं का प्रतिष्ठापन-आरोपण रहता है। स्वातन्त्र्योत्तर गीतों में भी इसका उत्तरोत्तर विकास हुआ है। निम्न गीत में मानवीकरण की संवेदना है। अपमानित स्त्री की क्रियाओं-चेष्टाओं का वर्णन जिसके लिए प्रभाव-साम्य मौजूद है 'पवन'। 'सूर्य' जुझारू है जो कभी अन्धेरे से तो कभी बादलों से जूझता है लेकिन स्त्री के अपमान को देख जैसे उसे भी लकवा मार गया है –

"अपमानित औरत-सी बिफरे चारों ओर हवा
और जुझारू सूरज को भी मार गया लकवा।" (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 95*)

रमेश रंजक के सादृश्यमूलक उपमानों व अप्रस्तुत-विधान में भी ताज़गी है। 'हिमकरी छांह-सी' (*गीत विहग उतरा : पृ. 19*), 'कनखी-तितलियों से' (*पृ. 18*) 'थके मजदूर सा तम' (*पृ. 34*), 'थके-थके पंथी-सा सूनापन' (*पृ. 42*), 'सूखी-सी देह डाल बतियाई' (*पृ. 43*), आदि गीतों में विस्तार-मुखी उपमान-योजना समसामयिक मूल्य-सत्यों की वाणी बन कर समय-माथ पर हस्ताक्षर करती है। हस्ताक्षरों की यह स्याही युग-मानसिकता को कोंचती फैलती चली है –

"कागजी पक्के इरादे
चीड़ के झीने बुरादे की तरह झर जायेंगे
जब किनारेदार लोहे की सतह पर आयेंगे।" (*मिट्टी बोलती है : पृ. 61*)

"संकल्प-सा अनुज/ सगी बहिन-सी शिकन' (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 74*) आदि गीत युग-मानसिकता की अचकन - सिलवटें हैं जो आमने-सामने सम्वाद करती हैं।

यमक की ग्रह दशा देखिए –

"एक दिया बांध दिया जीवन के साथ" (*मिट्टी बोलती है : पृ. 16*)

अनुप्रास, पुनरुक्ति, रूपक, ब्याजस्तुति आदि की जन्मकुंडली भी समकालीन शीतोष्ण धारा का स्रोत साबित हुई है।

अन्तर्दृष्टि : पैनी तो पत्थर में भी पैनी

रंजक की प्रतिभा नवगीत तक ही सीमित नहीं थी। 'पैनी तो पत्थर में भी पैनी' कहावत रंजक पर खरी उतरती है। रंजक में पैनापन प्रत्येक क्षेत्र में है। इन्होंने लोकधुनों के आधार पर ब्रजगीत लिखे। इन के लोकगीतों में ब्रज भाषा का माधुर्य और ललित हो उठा। इसके बाद अनेक नवगीतकारों ने लोकधुनें अपनाईं परन्तु लोक गीत की आत्मा को व्यापकता रंजक के गीतों में मिली। जीवन की छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी अनुभूति को इन्होंने सफलतापूर्वक गीतों में ढाला। हमारे दैनिक जीवन की चर्चा को मिठास के साथ गीत में चर्चित करने की कला रंजक में सूक्ष्म स्तर पर थी। इन गीतों को प्रस्तुत करने की उनकी अपनी शैली थी। इनके गायन में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंभीरता और स्वर में अर्थ की गहनता रहती थी। इन के गीतों ने सदा अपेक्षित प्रभाव डाला इसीलिए इनके गीतों पर श्रोताओं को मुग्ध और पाठक को समर्पित होते देखा गया।

अनिश्चित आतंक के उग्र माहौल में आज गीत का जीवन घुट गया है (*गीत विहग उतरा : पृ. 48*), 'आज तुलसी चौरे वाली रोशनी किसी को नहीं भाती' (*पृ. 44*) इसीलिए 'थाल भरा गीत अनगाया रह गया' (*पृ. 44*), 'गीतों को डोर ही टूट गई' (*पृ. 30*)। गीत-मंत्र के अक्षत भाव को संरक्षित करने के लिए कवि बार-बार 'गीत' शब्द का प्रयोग कर उसकी निर्विवाद सहजता, अनिवार्यता को सिद्ध करता है। वह 'गीत को नये अर्थ-सन्दर्भों में व्यापक विस्तारक शक्ति से जोड़ता है। गीत कहीं त्रिवेणी (*पृ.* 53) है कहीं सिरहाना है (*पृ. 61*), कहीं वनपंखी गीतों की छांह (*पृ. 40*) तो कहीं गीत की अनगूंजें (*पृ. 22*)। कहीं वह तड़पन है (*पृ. 62*) तो कहीं गंध (*पृ. 59*)। ऐसी भी स्थिति आई है जब 'गीत गये लौट कर न आये' (*पृ. 16*) लेकिन सींचना प्रवाही का गुण स्वभाव है और गीत प्रपात प्रवाह है। रचनाकार की गीतीय मनः स्थिति 'गीत-गन्ध बहने दो' (*पृ. 59*) का आह्वान इसीलिए करती है चाहे उसके लिए छन्द के बन्धन ही क्यों न तोड़ने पड़े' (*पृ. 59*)। गीत की गति नहीं रुकनी चाहिए क्योंकि गीत जीवन का संस्कार है। गीत गति रुकेगी तो जीवन रुक जाएगा संस्कृति-संसृति आदिम हो जाएगी। रचनादर्शी स्वप्न अराजक कालमुखी भ्रूभंगी लिपि हो जाएगें। गीत जीवन का तप है, साधना-साध्य है। लोक-संचेतना की आतप तरलता इसीलिए गीत को जीवन बनाती है। इसीलिए कवि लोकीय संवेदनाओं को गीत रसी बोल देकर जीवन की ताज़गी और स्फूर्त्ति को गाता है। उसके रागबद्ध इतिहास को दुबारा नई रोशनी के साथ आखिरी इंसान तक ले जाना चाहता है। लोकीय उपमानों को संवार कर जीवन के रंगबोध को गीतीय आकार में नुमाया कर कवि शैल्पिक रचाव की अलाव को एक ख़ास डिग्री तक गर्म-ठण्डा करता है। शब्दों-अर्थों के संकुचन-प्रसारण की वेणियों में गीत गजरों की खुशबुओं को समेटता है, 'हल्दी की थाप' (*पृ. 12*), 'हल्दी चढ़ी' (*पृ. 13*), 'हल्दी भरे हाथ' (*हरापन नहीं टूटेगा : पृ. 23*), 'स्नेह का गंगाजल' (*किरन के पांव : पृ. 26*), 'दिया बालना' (*गीत विहग उतरा : पृ. 42*) आदि गीतों में शैल्पिक अलाव की ताप तरलता एक निश्चित कोण से कवि के रचनायित गीतमन को व्याख्यायित करती हैं।

'हरापन नहीं टूटेगा' से इन के सुदृढ़ आत्मविश्वास का परिचय मिलता है। जीवन की निराशा में आशा की झलक देखने की कला में रंजक अत्यन्त निपुण थे। वर्त्तमान को चित्रित करते हुए भी इन में भविष्य के प्रति आशावादी भाव सदा जगमगाता रहता था। जीवन को गाने का अपना ढंग होता है। नवगीत की शैली में जीवन की कटुता और सुन्दरता दोनों की ओर रंजक की गहन दृष्टि रही। सब से बड़ी बात यह है कि रंजक प्रत्येक पंक्ति में अपनी मौलिकता सुरक्षित रखे रहे। रंजक की शब्दावली की गंध अन्य नवगीतकारों में मिलती है। इस मौलिकता का आभास ही क्या उसकी पूरी पहचान इस गीत कवि को थी। इसी का परिणाम था कि वे स्वयं को निराला के बाद सब से सशक्त कवि कहने लगे थे। निराला को तो खैर नहीं छू पाए लेकिन एकान्त साधना की ओर जरूर मुड़ गए। निश्चय ही साहित्यकारों के बीच उनकी प्रतिभा चर्चित रही। जहां उन्होंने प्रौढ़ और परिपक्व बुद्धिजीवियों के बीच अपनी चतुर-बुद्धि का परिचय दिया वहां बालकों के लिए भी इन्होंने बहुत अच्छा लिखा। बाल-मनोविज्ञान का आन्तरिक ज्ञान और बालक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की अनुभूति को आत्मसात कर इन्होंने जो बाल गीत लिखे उनका स्थान अलग है। इन गीतों को उन्होंने मस्ती से गाया और सुनाया। ये बालगीत प्रकाशित भी हुए। इस प्रकार बाल साहित्य की श्रीवृद्धि में भी रंजक का योगदान रहा। गीत और गद्य दोनों में उनकी प्रतिभा की चमक मिलती है।

इसमें कोई शक नहीं कि गीत की संस्कार शील परम्परा में रमेश रंजक आधुनिक हिन्दी गीत का एक संपूर्ण अध्याय है। गीत-अस्मिता को प्रतिष्ठित करने में रंजक अपने समकालीनों में अग्रणी रहे हैं। इन्होंने नवगीत को आंदोलन के रूप में नहीं सृजन के रूप में अपनाया। एक कुंभकार की तरह पावक-अलाव में इन्होंने संघर्ष अनुभूतियों को गीतीय पकावट दी और रंगदर्शी बुनकर की तरह जीवन की महीन बुनावट की। इसीलिए इनमें 'मिट्टी बोलती है', 'हरापन नहीं टूटता' 'किरन के पांव' 'दरिया का पानी' होकर 'इतिहास दुबारा लिखने' की मांग करते हैं। गीत विहग की शिल्पीय रचाव मुद्राओं में 'अमन का आसमान' झिलमिलाता है। रंगरसीय 'गोलबन्द' ध्वनियों में इन का गीतीय मिज़ाज़ युग संवेदना को पूरी शक्ति के साथ आकारित करता है, उन्हें कलाकार की दृष्टि से रचता है, पुनः पुनः संशोधित करता है और उन्हें जीवन के इतना नज़दीक ले आता है कि जीवन की तलाश पूर्ण लगने लगती है। इन के जनपक्षीय सरोकारों में रोशनी-लुनाई है लेकिन जहां कहीं रंजक का गीतकार दुराग्रही होकर प्रगतिवादी नारीय भंवरों एवं मार्क्सीय सिद्धान्तों को ओढ़ता है वहां इनका गीतीय मिज़ाज़ स्खलित होकर अखबार नवीसी करने लगता है। मार्क्सीय दुराग्रहों की छाया लेकर इन की गीत चेतना जनवादिता की खाल में ठगने लगती है। इन के इस जनवादी रूप को चन्द्रमा में दाग की तरह छोड़ दिया जाय तो इन का गीत पक्ष प्रथम पंक्ति में प्रतिष्ठित करने योग्य हैं। नये प्रतीक-बिम्बों की तराश, भाषा की जन सहभागिता, सोच का अनेकमुखी विस्तार, चिन्तन का स्फीत फैलाव जुगनुओं के इन्द्रधनुष रचता चला है। इन के गीतों में बहकाव नहीं है अपितु आलोकपर्वी उत्सव का अनुशासन है। मानवीय मन की कस्तूरी गंध को तलाशते इन के गीत अंधकार की जड़ काई को चीरते आलोक की शिखर यात्रा के संधान वृत्त हैं। इन वृत्तों में जीवन की घुन लगी चौखटे भी हैं और दूब की ज्वाला भी। बर्फीली परम्पराओं की छाती पर बारूद बिछा कर इन के गीत स्थितियों की तेज़ाब गंधक को युगीय मानसिकता में घोल देते हैं। काल की क्रूर तुर्शियों में जीवन का हर फ्रेम है। यही कारण है इन की गीत सम्पदा भाषा, भाव, विचार, कला का शिल्पीय संतुलन लेकर मनुष्य अस्मिता को गीत बना देती है। इसीलिए इन की गीत हथेलियों पर चंदन और अंगार एक साथ खेलते हैं।

आलोक पर्वी परम्परा का पुरोधा : शलभ श्री रामसिंह

'पांच जोड़ बांसुरी' में संकलित शलभ श्री राम सिंह के 'उंगली में बंधी हुई नदियां' अप्रकाशित नवगीत संग्रह के अतिरिक्त 'कल सुबह होने से पहले', 'अतिरिक्त पुरुष', 'नागरिक नामा' 'अपराधी स्वयं', 'राहे हयात और निगाह दर निगाह' इनके प्रकाशित काव्य-संकलन हैं। 'उन हाथों से परिचित हूं मैं' (1993) इनका सद्यः प्रकाशित काव्य संग्रह हैं। 'दूसरे वृक्ष पर' काव्य-संग्रह प्रकाशन के लिए तैयार हैं। अनेक सहयोगी-सम्पादित काव्य-संकलनों में संकलित शलभ की रचनाओं का अंग्रेजी, बंगाली, उर्दू, पंजाबी, मराठी, गुजराती, नेपाली भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। इन्होंने कई साहित्यिक पत्रिकाओं का सम्पादन किया। चौदह-पन्द्रह वर्ष की किशोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयु से ही इन्होंने कविता लिखनी शुरू कर दी थी। इनके काव्य-संस्कारों पर बच्चन और दिनकर के व्यक्तित्व का गहरा प्रभाव रहा। 'निशा निमन्त्रण' और 'रश्मिरथी' दोनों कृतियों ने कवि-मानस को अन्दर तक झकझोरा। इन्हीं रचनाकारों की छाया में बैठ कर शलभ ने 'मेघदूत' का पारायण किया। इसी कड़ी में 'कुमार संभव' और 'रघुवंश' को जोड़ा गुरु-परम्परा में आने वाले स्नेही आचार्य निरञ्जन झा ने। दिशा तय सी होती जा रही थी। काव्यात्मक रूझान सुर्खरंगी बेचैनी देता था लेकिन भाव और विचारों की कचाई अभी भी मौजूद थी। इसी दौरान रामचरित मानस का अध्ययन-मनन तदुपरान्त छायावादी वृहत्त्रयी प्रसाद, पंत, निराला की रचनाओं ने अभिभूत किया। इतना सब होने के बावजूद 'मेघदूत' की संस्कार छाया मानस में जलधारी होकर उमड़ती-घुमड़ती रही और पहली रचना इसी से प्रभावित होकर आकारित हुई जिसका शीर्षक था 'विहग दूत' जो पूर्व और उत्तरकाण्ड को मिला कर काफी लम्बी थी। एक प्रवासी भारतीय के मनोभावों को व्यक्त करती प्रथमतः रचित कविता के पूर्व खण्ड की शुरुआत कुछ यूं थी जो आज भी शीर्षक बदल कर 'एक गीत देश' नाम से इनकी फाइलों में कहीं दबी पड़ी है –

"उड़ते हुए विहंगम साथी मेरी मातृभूमि तक जाना,
अगर अपरिचित हो तुम उससे लेते जाओ पता-ठिकाना,
जब प्रशान्त से अरब सिंधु की ओर चलोगे धीरे-धीरे
एक सुहाना देश मिलेगा स्वप्न-सरीखा सागर तीरे
नीलगिरी में आर्य तपस्वी बैठे होंगे कुञ्ज-कुटीरे
कोल-भीर-संथाल नाचते होंगे ले करताल मंजीरे
उससे पहले पण्डित रावण की नगरी में तुम रुक जाना
उड़ते हुये विहंगम साथी मेरी मातृभूमि तक जाना!" (*साक्षात्कार : 28 दिसम्बर 1986*)

इस प्रकार भारत के लगभग सम्पूर्ण भौगोलिक और मोटे तौर पर ऐतिहासिक परिदृश्य की ओर संकेत देती यह कविता अपने उत्तर खण्ड में विभाजित स्वातन्त्रयोत्तर भारत की स्थितियों का लेखा-जखा देकर समाप्त होती है। उत्तर खण्ड की अन्तर्गत यात्रा से लौटा हुआ पक्षी उस प्रवासी के सामने भारत के जो चित्र प्रस्तुत करता है उसकी एक बानगी निम्नलिखित पंक्तियों में मौजूद है –

"भारत श्री बन यमुना के तट दिल्ली आज खड़ी है,
उसी भूमि से तो अम्बर से उसकी आंख लड़ी है
नये वस्त्र में बूढ़ी-वेश्या-सी वह ऐंठ गई है
गये रखेले तो घर के भाई पर बैठ गई है
घर का पुरखा लालकिला कुछ बोल नहीं पाता है
सत्तावन का बैठा अब वह डोल नहीं पाता है
मन के अरमानों को स्वर में तोल नहीं पाता है
घर का भेद जगत के आगे खोल नहीं पाता है।" (*साक्षात्कार : 28 दिसम्बर 1986*)

एक साक्षात्कार में शलभ ने स्वीकारा कि "एक गीत देश 1954 की रचना है और तब मैं नवीं कक्षा का विद्यार्थी था। यहां इस बात का भी उल्लेख करना चाहूंगा कि बच्चन जी से मिला

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कार आगे चल कर जहां 'प्रसाद' के प्रति मेरे मन में श्रद्धा भाव को जगाने वाला साबित हुआ वहीं 'दिनकर' जी का आत्मविश्वासी पौरुषेय स्वर मुझे निराला के पुरुषार्थ प्रवण काव्य-व्यक्तित्व के प्रति आस्थाशील बनाता चला गया। रुचिगत धरातल पर शमशेर बहादुर सिंह और नागार्जुन को लेकर मेरे संस्कार का यह प्रशारवाधर्मी स्वरूप आज भी काम कर रहा है। बावजूद सबके कालिदास और तुलसी इन सब के ऊपर आकाश की दो अलग-अलग पर्त्तों की तरह अब भी अपनी जगह विद्यमान हैं" (*साक्षात्कार : 28 दिसम्बर 1986*)।

23 नवम्बर 1956 की रात अनायास घर छोड़ने का निर्णय चुनौती भरा था। कलकत्ता आगमन के बाद संघर्षों का सिलसिला शुरू हुआ। संघर्ष-दर-संघर्ष की इस यात्रा में विराम नहीं आया। बने-बनाये संस्कारों में टूटन पैदा हुई और चेतना तेज़ से तेज़तर होती चली गई। सोच और संवेदना में समय अनुभव की घुलनशीलता ने जीवन के नए अर्थ-सन्दर्भों को व्यापक क्षितिज दिया। भीतर की संगीतात्मकता को अनुभूतिवाही शब्दों का सहभाव मिला और पारम्परिक गीतों से अलग शिल्प और स्वरूप में सर्वथा भिन्न कुछ ऐसे गीतों का खुद-ब-खुद प्रस्फुटन हुआ जो नवगीत के शिल्प और रूपविधान के सर्वाधिक करीब थे। सन् 1959 का एक गीत जो धर्मयुग के किसी अंक में प्रकाशित हुआ था का एक मुकुर-मुखड़ा देखिए –

"भीड़ का इतना अपरिचय और घबराया हुआ मन!/ किस तरह खुद को सहेजे -
एक पल के लिए भी जाती नहीं है कभी उलझन! भीड़ का इतना अपरिचय...
दौड़ते - अनगिनत प्रश्नों की कतारें!
किसे जाने दें - किसे किञ्चित विरमने को कहें - किसको पुकारें!
सभी चेहरों पर बंधे हैं मुंह चिढ़ाते हुए दरपन! भीड़ का इतना.....।"

नीरज, रामावतार त्यागी जैसे गीत-कवियों ने प्रचलित रूपविधान से एकदम अलग विषम मात्रा वाली पंक्तियों का यह गीत अपनी अलग पहचान देने वाला था। हांलाकि इसी समय शलभ प्रचलित रूप-विधान वाले गीत भी लिख रहे थे। यह गीत सम्भवतः कादम्बिनी के किसी अंक में सन् साठ के बाद छपा था –

"अपने ही आस-पास/ गुमसुम धरती अकास
अपनी परछाईं बस अपने को छोड़ चली;
इतनी-सी बात मगर चर्चा है गली-गली;
मैं कल की बात करूं/ या कल की बात कहूं?
जब तक दिन शेष रहे/ तब तक चुपचाप रहूं?
शायद वह दीपशिखा/ जिस पर हो प्रात लिखा
मुझसे भी कह जाए सो जाओ रात ढली
इतनी-सी बात मगर चर्चा है गली-गली।"

परम्परित गीत चौखट को पार करने की कशमकश थी। लेकिन अभी उससे बाहर आने का पूरा आत्मविश्वास नहीं जुटा था। परम्परित और नव्य बोध की यह कशमकश चलती रही और शलभ का गीत मन कभी परम्परित तो कभी नव के बीच झूल कर तत्कालीन भारतीय मानसिकता के मूल्य-संघर्षों का प्रतिनिधित्व करता रहा। परम्परा से नव की ओर आने वाले इस द्वन्द्व में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समकालीन युगबोध की बुनावट कवि को निरन्तर नवगीतीय व्यक्तित्व साबित कर रही थी। नवगीत बीजों का एक अंकुर और देखिए –

"ओ! तेरा होना!
तेरा होना जैसे टेसु की पलई पर फागुन का धाम!
या बांझिन के सपनों में नन्हें बच्चे का
कठघोड़े पर बैठ किलक.....किलक.....किलक खींचना लगाम
ओ! तेरा होना.......।"

विषम-मात्रा पंक्तियों वाले इन गीतों में कथ्य की आत्मनिर्भरता, अनुभूति की सादगी और विचारों की विकेन्द्रीयता जहां गीत की प्रचलित सीमाओं के अतिक्रमण के लिए ज़मीन तैयार कर रही है वहीं गेयता की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक विस्तार का अवसर भी दे रही है। इतना ही नहीं यदि ध्यान से देखा जाएगा तो यह भी प्रतीत होगा कि शब्दों और अर्थों की लय से सर्वथा भिन्न बिम्बों की एक अलग लय इन गीतों में विद्यमान है जो शलभ से पूर्व कहीं समकालीन और परवर्त्ती गीत कवियों में या तो है ही नहीं या फिर खण्डित और बिखरे हुए रूप में है।

इसका कारण यह है उस समय के अधिकतम रचनाकार या तो विज्ञान को उसके सीमित अर्थ में मात्र उद्योग और चिकित्सा के क्षेत्र तक सीमित रखते हुए देखने के अभ्यस्त हैं या फिर उसके विषय में जानते ही नहीं। छायांकन को जो लोग मात्र चित्रकला की प्रतिस्पर्धामूलक विधा मानते हैं वे छलावे के शिकार हैं। छायांकन का विविध आयामी विकास आज कविता के लिए भी चुनौती बन चुका है। जिस कविता में विकसित छायांकन तकनीक से स्पर्धा करने की शक्ति न होगी वह अपनी युगीन अस्मिता को बरकरार रखने में असमर्थ सिद्ध होगी। गीत-कविता के क्षेत्र में यह चुनौती कुछ ज्यादा ही जटिल रूप में है। उस स्थिति में तो कुछ ज़्यादा ही जबकि एक ही शब्द के पीछे एक चित्र स्वाभाविक रूप में विद्यमान है। कहीं वह शब्द मिथक या प्रतीक के रूप में प्रयुक्त हुआ है तो उससे बनने वाले चित्रों के लिए आधार देने वाली भावभूमि को उपयुक्त-फलक में बदलना बहुत ही मुश्किल काम है। उस वक्त तो निश्चित रूप में जबकि संवेदना की रफ्तार काफी तेज़ है और उसी तेज़ी में उसे अनुभूति के साथ अपना सामंजस्य भी बनाये रखना पड़ रहा है।

इस जटिलता का अनुभव सिर्फ उसी रचनाकार को हो सकता है जो मात्र पाठ प्रक्रिया के तरह शब्दों के स्वराघात को संतुलन देते हुये विराम की स्थिति तक अनुभूति और संवेदना के साथ-साथ यात्रारत रहता है। गुनगुनाते हुए गीत लोक की प्रक्रिया गीत के ऊपर संगीत की गैर जरूरी पर्त्त चढ़ा देती है और शब्दों के अन्तर्संगीत का क्रम या तो शिथिल पड़ जाता है या फिर खंडित हो जाता है जिसे अन्ततः स्वरों की खींच तान से ही पूरा किया जा सकता है। साहित्यिक गीतों में शब्दों और स्वरों की समान जुगलबन्दी होती है और दोनों नाद संगति में बराबर के हिस्सेदार होते हैं। जहां ऐसा नहीं है वे गीत या तो स्वर की दृष्टि से लंगड़े हैं या भाषा की दृष्टि से लूले। नवगीत के ध्वजवाही कवियों और उनके पिछलग्गू कवियों में से अधिकांश के गीतों की स्थिति यही है। बेचारों को न तो इस बात का पता है कि बीटाफेन की विश्वविख्यात 'सिम्फनी' स्वर परीक्षण के उद्देश्य से तोड़ी जा चुकी है और न वे यही जानते हैं कि ब्रह्मवीणा के तारों से निकलने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले स्वरों का परीक्षण ओइम् की पूर्णता की पहचान के लिए कई-कई बार हुआ है और उसके बाद ही ध्वनि-विज्ञान ने 'ओइम्' की ध्वनि को 'पूर्ण ध्वनि' की संज्ञा से अभिहित किया है।

बेरोजगारी, रोज़ी-रोटी, साहित्यिक-कार्य आदि अनेकमुखी संघर्षों ने शलभ को पूरी शिद्दत के साथ कम्यूनिस्ट पार्टी से जोड़ा लेकिन उनकी कोरी सैद्धान्तिक नीतियां और नारेबाजी में शलभ की कोई आस्था नहीं थी। इसीलिए उनके दुराग्रही सिद्धान्तों और विचारों को लेकर शलभ के मन में सदा संदेह बने रहे जिसके परिणामस्वरूप मतभेद होने स्वाभाविक थे। शलभ के लिए व्यक्ति-अस्मिता, राष्ट्र-मान का प्रश्न किसी भी सैद्धान्तिक गुमान की तुलना में कहीं अधिक बड़ा था। समय युग स्थितियों पर अपने हस्ताक्षर करता रहा। भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी के विभाजन ने शलभ-मन के संदेहों को पुष्ट किया। विभाजन का यह सिलसिला अन्य रूपों में चलता रहा। विभाजन, उपविभाजन, नक्सली आन्दोलन, और भी न जाने कितनी शाखाओं-प्रशाखाओं में पार्टी बंट गई। लेकिन सैद्धान्तिक दुराग्रहों, नारों से आलोक पर्वी परम्परा का पुरोधा शलभ का कवि अपने जुझारू और रचनात्मक व्यक्तित्व को बचाता हुआ अपनी रचनाओं के माध्यम से शोषण और अन्याय का विरोध करता रहा। विद्रोह और अन्याय के सकार विरोध की सबसे बड़ी खूबी यह थी कि इनकी रचनाएं कोरे नारेबाजी की अपेक्षा संवादधर्मी और विचार प्रवण थीं। अपने काव्य-बोध के विषय में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए शलभ ने कहा कि – "उस दौर की मेरी रचनाओं में मेरा समय लगातार अपने विभिन्न रूपों और आयामों में मौजूद हैं और इसी आधार पर प्रगतिशील कविता के पक्षधरों ने ही नहीं जनवादिता के प्रवक्ताओं ने भी मुझे अपने साथ रखा। रखा ही नहीं मेरे कतिपय गीतों का तो पार्टी ऐन्थम की तरह उपयोग किया। बावजूद इसके उनके साथ मेरा मतान्तर जहां का तहां रहा। वे अन्तर्राष्ट्रीय सर्वहारावाद के अपने खोखले नारे पर कायम रहने में विश्वास करते रहे और मैं राष्ट्रीय अस्मिता को बनाये रख कर विश्वबंधुत्व की बात पर ज़ोर देता रहा। उनके कुलगुरु कार्ल मार्क्स रहे मेरे योद्धान्यासी विवेकानन्द। उनकी पक्षधरता सर्वहारा को लेकर थी मेरी दीन-हीन शोषित मनुष्य की। उनका मनुष्य वर्गीय आधार पर विभाजित था, मैं पूर्ण मानव के सपनों से जुड़ा हुआ जीना चाह रहा था। इसी आधार पर 1965 में मैंने 'युयुत्सावाद' और 'युयुत्सावादी कविता' का प्रस्तावित प्रारूप हिन्दी के प्रबुद्ध पाठकों और साहित्य क्षेत्र में सक्रिय प्रतिभाओं के सामने प्रस्तुत किया" (*साक्षात्कार : 28 दिसम्बर 1986*)।

यह वह समय था जब 'प्रयोग वाद' के प्रचार और नयी कविता के नारों के समय प्रगतिशीलता का स्वर मंद पड़ गया था। आधुनिकता के नाम पर यौनकुण्ठा को वाणी देने वाली अकविता को बढ़-चढ़ कर विज्ञापित किया जा रहा था। जातीय अस्मिता का प्रश्न गौण हो गया था। हमारे काव्य चिन्तन की प्रदीप्त परम्परा के विरुद्ध एक सुनियोजित षड्यन्त्र चल रहा था। ऐसे में कविता को जन-जीवन से काटने वाली और अपरिचय के अंधेरे में ढकेलने की प्रयोगवादी कोशिश और जीवन तथा रूमान के स्वस्थ मूल्यों को ध्वस्त करने की अकवितावादी दुःसाहसिकता के विरुद्ध एक साथ लड़ने के लिए युयुत्सावाद की बात शुरू की गई। शलभ का दावा है कि "प्रगतिशीलता और जनवादिता के बीच काव्य-क्षेत्र में युयुत्सावाद की भूमिका 'पुल' की मानी गई लेकिन हम जानते थे कि युयुत्सावाद पुल नहीं एक पूरी राह है जिस पर चल कर आने वाली हमारी कविता को काफी लम्बा सफर तय करना है। 1963 के आस-पास जब 'नवगीत' को लेकर ओम् प्रभाकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने सोचना शुरू किया उस समय सूची में हमारी पीढ़ी के गीतकारों के कुल दो गीत थे। एक देवेन्द्र कुमार का 'एक पेड़ चांदनी लगाया है आंगने.......' दूसरा मेरा 'धरे हथेली गाल पर....।' बाद में जब ओम् प्रभाकर और भागीरथ भार्गव ने 'कविता-64' का प्रकाशन किया तो उसमें निराला से लेकर नरेश सक्सेना तक के गीतों को देख कर संतोष और प्रसन्नता हुई थी। बाद में नवगीत के पुरस्कर्त्ताओं में कई नाम आये और आज तक आ रहे हैं। नवगीत की इतिकथा सुनाना मेरा मक्सद नहीं है। मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूं कि मेरे गीत कविता की जातीय अस्मिता की पहचान को बरकरार रखने की कोशिश के तहत तब भी लिखे जा रहे थे। तब भी उनमें हमारा जीवन, हमारा परिवेश, हमारे लोकायन तथा सांस्कृतिक सन्दर्भ मौजूद हों और हमने आधुनिकता को फैशनेबुल तरीके से ओढ़ लेने के बजाय परम्परागत मूल्यों के नवसंस्कार ग्रहण की प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकारा था और अपनी इस मान्यता पर हम आज भी अडिग हैं" (*साक्षात्कार : 28 दिसम्बर 1986*)।

इसमें कोई शक नहीं कि सातवें दशक में जब नवगीत और नयी कविता को लेकर बहस चल रही थी उन दिनों हमारे प्रगतिशील और प्रयोगवादी विचारकों में नवगीत की जातीय अस्मिता से लगभग आतंकित होकर या तो उस पर बात ही नहीं थी या फिर उसे पिछड़ी हुई रूमानी विधा कह कर उसकी उपेक्षा की। इन दिनों डा. विजय बहादुर सिंह, डा. राजेन्द्र प्रसाद सिंह, डा. ओम् प्रभाकर, डा. चन्द्रदेव सिंह, बाल स्वरूप राही, डा. रवीन्द्र भ्रमर और शलभ के अलावा किसी ने नवगीत की पक्षधरता को खुल कर स्वीकार नहीं किया था। यही हाल युयुत्सावादी कविता का था। एक तरफ जहां कुछेक उत्साही नवसिखुये मार्क्सवादी आलोचकों ने इसे शलभ की महत्त्वाकांक्षा का प्रतिफल और निम्न पूंजीवादी मानसिकता का उद्गार बताया वहीं डा. नामवर सिंह जैसे लोगों ने इसे आत्मघाती प्रवृत्ति की संज्ञा दी। लेकिन डा. जगदीश गुप्त, डा. विजय बहादुर सिंह, डा. रमेश कुन्तल मेघ, डा. रणजीत और हरिनारायण व्यास इत्यादि ने इसे राष्ट्रीय अस्मिता से जोड़ कर नई चिंता के बीज और नये उन्मेष की संज्ञा दी। युवा कवियों में नीलम श्रीवास्तव, शरद विमल पाण्डेय, उमाशंकर तिवारी, प्रशान्त पीयूष के अलावा वेणु गोपाल ने युयुत्सु कविता को अपना समर्थन दिया। वेणु गोपाल ने यद्यपि अपनी बातें 'पूर्वग्रह' के माध्यम से जगदीश गुप्त के प्रति विरोध प्रकट करते हुये कहीं। उन्होंने कहा कि राजनीति के क्षेत्र में जो भूमिका कानू सन्याल की है, कविता के क्षेत्र में वही भूमिका शलभ श्री राम सिंह की है। शलभ का विरोध अपनी प्रगतिशीलता से न होकर काफी हाऊस की बहसों में ज़िन्दा रहने वाली प्रगतिशीलता से है और उनकी युयुत्सा इस दृष्टि से एक सच्चे प्रगतिशील कवि की युयुत्सा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि शलभ का काव्य चिन्तन और मूल्य-चिन्ता तथाकथित प्रगतिवादियों में चाहे विवादास्पद रही हो लेकिन इतना स्पष्ट है कि उन्होंने सर्वहारा वर्ग की जनसामान्य चिन्ताओं को रचनाओं का कथ्य केन्द्र बनाया। इस विवाद में पड़ना हमारा उद्देश्य नहीं है। उन पर लगे आरोपों को एकदम खारिज नहीं किया जा सकता उनमें कहीं न कहीं थोड़ी बहुत ही सही सच्चाई जरूर है। बहरहाल इस कम्यूनिस्टिक आचरण से शलभ के रचनाशील मन का भयंकर तरीके से मोहभंग हुआ। एक पत्र-साक्षात्कार में उन्होंने लिखा कि "16 मार्च 1983 को मेरे मित्र ज्योति प्रकाश की पटना में हत्या कर दी गई। ज्योति प्रकाश मा. क. पा. के सक्रिय नेता और जनवादी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेखक संघ की भोजपुर इकाई के सचिव थे। उनकी मौत का राजनीतिक इस्तेमाल और उनके परिवार के प्रति राजनीतिज्ञों और लेखकों की महज़ औपचारिक संवेदना से मेरा भयानक मोहभंग हुआ और बक्सर में करीब दो-तीन महीने रह कर मैंने अकेले उस संघर्ष को खतरों के बीच आगे बढ़ाया लेकिन इसे भी कलकत्ता में सरकार चलाने वाली पार्टी के दफ्तर में बैठे इसराइल जैसे लोगों ने अनुचित करार दिया। तब मुझे लगा कि मार्क्सवादियों में प्रतिभाओं के इस्तेमाल की एक बिसात-सी जमा रखी है और मैं अपने को किसी के इस्तेमाल की चीज़ तो मानता ही नहीं हूं। इसी मुद्दे पर मैं प्रगतिशील लेखक-संघ से भी हटा था और यही मुद्दा कुछ ज़्यादह कड़वे रूप में जनवादियों की दुरंगी चाल से जुड़ कर मेरे सामने जब कई-कई बार आया तब मैंने अपनी बनाई हुई राह पर चलने का निश्चय दुबारा कर लिया और अब अपने विवेक के निर्देश पर जैसा जो कुछ संभव हो पा रहा है लिख-पढ़ रहा हूं। इन दिनों देश की स्थिति को ध्यान में रख कर अशनिपात की प्रक्रिया को दृष्टि में रखते हुये मैंने एक गीत की रचना की है। उसका एक छन्द आप भी देखिए। इसे आप गीत या कविता का अशनिपात शिल्प भी कह सकते हैं –

"घना होता जा रहा है फिर/ कुहासा घना होता जा रहा है।
रात आधी गये/ यह आकाश से उतरा;
भोर से पहले, अंधेरे में भरा-पसराः
पेड़ की फुनगी बना, फिर पात, फिर....फिर डार
अब तो तना होता जा रहा है/ घना होता जा रहा है.....।"

ज़िन्दगी और साहित्य के मोड़ों को दृष्टि में रख कर मैंने कभी शेर कहा था। कृपया उसे भी देखें –

"गो मोड़ बेशुमार हैं पर रास्ता तो है!
थोड़ा-सा सब्र रख के इसी पर सफ़र करो!" *(पत्र-साक्षात्कार : 15 मार्च 1987)*

जनवादियों के इस असाहित्यिक आचरण, दुराग्रही सिद्धान्त गुंजलकों में उलझी पार्टी के अनुभूतिहीन चिन्तन-विचार को त्याग कर शलभ का रचनाशील मन अपने गन्तव्य की ओर पुनः संघर्षमुखी हुआ। जो सिद्धान्त और आग्रह उसके चेतन-मन की अग्नि बन चुके थे उन्हीं से उसकी चेतना-संवेदना झुलस गई। इस झुलसन-अग्निदाह ने उसे भरपूर खरोंचा। इस तरह झुलसन और समय-खुरचन ने उसे युग की उन अन्तर्वर्त्ती लयों का सन्धान करने को प्रेरित किया जो मनुष्य के बुनियादी सरोकारों की ज़मीन बने। अतः भावप्रवणता के साथ वैचारिक संघर्षण की युगनद्धीय प्रतीतियों के बीच शलभ के काव्य-चिन्तन ने पुनः अपनी नई भावभूमि तलाशने की कोशिश की जिससे वह समाज और जनसामान्य से एक संवेदनशील रचनाकार की तरह जुड़ सके और रचनाओं में व्याप्त बौद्धिकता हृदय को नकार कर यथार्थमुखी न हो अपितु भावात्मक विचारात्मकता की घुलनशीलता लेकर रचनाओं की सकारता मनुष्यता के बुनियादी आचरणों के खिलाफ न जाये।

वैचारिक दुराग्रहों से टूटे शलभ की हृदयी भावात्मकता में गहन गंभीर तलस्पर्शी कसावटें हैं। 'वियोगी होगा पहला कवि' के अर्थ-सन्दर्भ में शलभ अपने समकालीनों की तुलना में कुछ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्यादह ही आगे हैं। इस भावात्मकता को बाकायदा इनकी रचनाओं में खोजा जा सकता है। इस भाव-भूमि का एक छन्द-बिम्ब देखिए –

"चुम्बनों से भरी हैं वे घाटियां/ जहां हमने सांझ के सूरज छिपाये हैं!
शिला सिरहाने धरे, सोये/ एक-दूजे को समर्पित, स्वयं में गुमसुम बने, खोये!
शब्द से संस्पर्श से वञ्चित अचीन्हे अर्थ/ प्रिया हम तुम चीड़ वन में छोड़ आये हैं
चुम्बनों से भरी हैं वे घाटियां.................।"

'दर्पणों के बीच' नवगीत-कविता में तो बेहद जानी-पहचानी उपमाओं ने ग़ज़ब ढाया है। इन उपमाओं के सलौनेपन ने नयी अनुभूति महक के साथ पूरा मानचित्र निर्मित कर दिया है। इस ढंग की उपमायें हिन्दी या किसी अन्य भाषा की गीत-कविताओं में इस रूप में अभी तक तो कम-से-कम देखने में नहीं आयीं। अछूते और नव्य-प्रतीक-बिम्ब, उपमाएं इस रचना को नवगीत के समीप ले आयी हैं –

"दर्पणों के बीच/ अपनों को ढूंढता
प्रतिबिम्बों से बातें करता/ मैं किसी अजनबी शहर में आ गया हूं।
जहां नल पर नहाती सुबहें/ फाइलों पर झुकी दोपहरें
और/ खांसती बीमार रातें/ एक पल भी चैन से सोने नहीं देती।
जाने कहां छूट गई/ छूट गई.......
वह धूप वाली एक टुकड़ा बदली : मां
ईरानी गुलाब की शाख : पत्नी
धानी पत्तियों वाली ईख : बहन
नीम का नवधा पेड़ : भाई
और/ रोशनी भरा पूरा का पूरा आसमानः पिता ऽ ऽ ऽ ऽ
दर्पणों की इस भीड़ में सबके सब खो गये!
प्रतिबिम्बों! अरे ओ प्रतिबिम्बों!
क्या तुम में ऐसा कोई नहीं/ जो/ इन सबकी यादें भुला सके?
कुछ नहीं मेरे साथ सिर्फ दोस्त बन कर/ रह सके..../ जी सके...
कोई तो आगे बढ़ कर जबाब देगा!
क्या सचमुच तुम में ऐसा कोई नहीं!
कोई नहीं?.... कोई..... ।" (*नवगीत विशेषांक - 38*)

इस नवगीतीय कविता में 'ईरानी गुलाब की शाख' का संदर्भ इतिहास-बोध से जुड़ा है। पत्नी दूसरे घर से आने वाली एक भिन्न संस्कार की महिला होती है। ईरानी गुलाब की कलम बाबर के जमाने में भारत में लायी गई थी और इस गुलाब का फूल ऊर्ध्वमुखी न होकर नीचे की ओर झुका रहता है। इससे पत्नी का सहज सलज्ज स्वरूप भी प्रतिकायित होता है।

जन्म-मरण के अक्षत सत्व की तरह यह सत्य है कि मनुष्य की मूल प्रवृत्तियां जब तक बरक़रार रहेंगी तब तक अनुभूतियां अपनी अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त माध्यम की तलाश करती रहेंगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुख-दुख, जय-पराजय, हानि-लाभ और जीवन-मरण के क्षणों में मनुष्य जब जब आवेगधर्मी संवेदना धरातल पर पहुंचेगा, गीत वहां किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेगा।

अपनी इस उपस्थिति में गीत जहां एक तरफ सामाजिक परिप्रेक्ष्य में हमारी अनुभूति को स्वर देगा वहीं हमारी चेतना को द्वन्द्व मूलक बनाते हुए हमारी सकर्मक सोच का प्रमाण भी प्रस्तुत करेगा अर्थात् यह बतायेगा कि जब हमने अपने समय की कविता के रूप में अपनी संस्कृति का दस्तावेज प्रस्तुत किया तो उस समय हमारी भूमिका राष्ट्रीय दायित्व बोध के सन्दर्भ में कैसी रही?

कला कला के लिए भले न हो लेकिन बावजूद इसके अगर वह कला है और कला के रूप में किसी कलाकार की अभिव्यक्ति है तो उसमें उसके समय का आग्रह कहीं-न-कहीं जरूर रहेगा। अल्पांश या बहुलांश की बात दूसरी है। अगर वह आधुनिकता को मूल्य मान कर मुग्ध नहीं है और यह समझता है कि आधुनिकता, परम्परागत मूल्यों नव संस्कार ग्रहण की प्रक्रिया का ही दूसरा नाम है तो अपनी कला में उसकी सोच परम्परा के विकास का संकेत देती हुई एक नये रूप में विद्यमान रहेगी।

इसके बरखिलाफ़ यदि कला को सत्ता के संस्कृति प्रेम का अंग बना कर या राजनीतिबाजी के तमाशे के रूप में उसे सड़क तक लाने का प्रयास किया जायेगा तो उसकी स्थिति चीरहरण का संकट झेलने वाली पाञ्चाली से पृथक् नहीं होगी और तब किसी न किसी रूप में महाभारत का बीजारोपण होगा ही। जहां तक शलभ श्री रामसिंह का सवाल है वहां जिन गीतों की अनुभूतियां एकदम व्यक्तिगत हैं वे व्यक्तिगत धरातल पर ही पाठक को नये ढंग से सोचने के लिए प्रेरित करती हैं और जिनमें इतिहास-बोध तक सामाजिक संचेतनता से जुड़ा हुआ है वे अनुभूतियां पाठक को परिवर्त्तन की भूमिका से जोड़ने वाली मानसिकता का निर्माण निश्चित रूप से करती हैं। इस दृष्टि से इनकी 'जिन्दाबाद : इन्कलाब', 'जमाने को बदलना है', 'कदम ये इन्कलाब के' आदि रचनाओं को देखा जा सकता है।

यहां इस सत्य को रेखांकित करना आवश्यक है कि इनके गीत हों या कविताएं कवि सब में हर जगह कहीं-न-कहीं किसी से संवादरत है। कहीं व्यक्ति है, कहीं समाज और कहीं स्थितियां हैं तो कहीं स्वयं से ही आत्ममंथन की भंगिमा में कही गई कोई बात। लेकिन उनमें भावात्मक शोषण की गैर ज़रूरी कोशिश नहीं है। 'मेरे भाई' और 'मेरी बहिना' संबोधन इनकी गीत-कविताओं में वर्जित हैं। ऐसा इसलिए कि बीसवीं शती के उत्तरार्द्ध के इस काल प्रवाह में संबंधों की टूटन और उनके खोखलेपन की वास्तविकता से रचनाकार औरों के मुकाबले कुछ ज़्यादा परिचित हैं।

एक गीतकार के रूप में इनकी सदैव यही कोशिश रही है कि गीत की साहित्यिकता बरकरार रहे। साहित्यिकता को बरकरार रखने के इस क्रम में कवि की कोशिश इस बात की भी रहती है कि संगीत अपनी स्वाभाविकता में वहां मौजूद रहे। अतिरिक्त संगीतात्मकता के लिए लोकधुनों का सहारा लेकर कवि हिन्दी को भाषा के बदले बोली का संगीत-संस्कार देने के पक्ष में नहीं है। यों भी कवि-गीतकार का मानना है कि भाषा के संगीत को बोली के संगीत से अलग होना चाहिये।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शलभ ने अपनी निजी प्रवृत्तियों से जुड़ी हुई अनुभूतियों को भी सार्वज़नीन सोच के धरातल तक पहुंचाने का प्रयत्न किया है। इनकी रचनाओं/ गीतों में मार्क्सीय सरोकार सकार भूमिका निभाता है। जहां तक परिधि और मार्क्सीय तत्व चिन्तन के दुराग्रहों की बात है उस पर कवि की दृष्टि और विचार बेलाग और बिल्कुल स्पष्ट हैं। उनकी दृष्टि में "मार्क्सवाद एक अधूरा और आने वाली दुनिया के लिए सर्वथा अनुपयोगी विचार है। मेरी रचनाओं से उसका कुछ भी लेना-देना नहीं है। विचार-दर्शन की प्रदीप्त परम्परा की धरोहर के रूप में यदि मुझे विवेकानन्द से शोषित-उत्पीड़ित मानवता के पक्ष में खड़े होने की प्रेरणा मिली है तो राधाकृष्णन ने यह सीख दी है कि 'युद्ध के अभाव में राष्ट्र मर जाते हैं। जातियां कायर हो जाती हैं और मातायें वीर सन्तानों को जन्म देना बन्द कर देती हैं।"

आत्मनिर्भर कथ्य, सादा अनुभूति, विकेन्द्रित विचार, ये तीन ऐसे आधार-बिन्दु हैं जिनमें गीत से नवगीत के अलगाव के सुस्पष्ट लक्षण विद्यमान हैं। थोड़े विस्तार में जाकर इस बात को यों भी कहा जा सकता है कि नवगीत की विषयवस्तु के रूप में नवगीत कवि जिस स्थिति, घटना या सोच को चुनता है वह दृष्टिगत रूप में मौलिक होने के साथ-ही-साथ दीगर विषय वस्तुओं के साथ सापेक्षतापरक सम्बन्ध तो रखती है लेकिन अपनी पहचान में वह एकदम अलग दिखती है। विषयवस्तु की इस पहचानगत निजता को संस्पर्श देते हुए रचनाकार जब उसे अनुभूति के धरातल पर अवस्थित करता है तो उसकी अनुभूति यदि किन्हीं पूर्ववर्ती अनुभूतियों के साथ मेल खाने वाले रंग में उपस्थित हुई तो कथ्य उससे सामञ्जस्य बिठाने से इन्कार कर देगा। तब वह पारम्परिक तौर पर एक गीतनुमा चीज की शक्ल को इख्तियार कर लेगा लेकिन वह नवगीत तो नहीं ही बन पायेगा। इसलिए अनुभूति की सादगी अपने इस रूप में नवगीत की अनिवार्य शर्त्त है।

आत्मनिर्भर कथ्य और सादा अनुभूति के साथ विचार यदि केन्द्रीभूत हो गया तो नवगीत का प्रभाव सीमित हो जायेगा और व्यापक पाठक वर्ग की जगह वह केवल कुछ पाठकों तक सीमित होकर 'कला कला के लिए' का नमूना बन जायेगा। इसलिए व्यापक जन-स्वीकृति के धरातल तक पहुंचाने के लिए नवगीत में विचारों का विकेन्द्रित रूप में आना ज़रूरी है। रवीन्द्र भ्रमर, वीरेन्द्र मिश्र, कुंअर बेचैन, चन्द्रसेन विराट्, उमाकान्त मालवीय आदि के गीतों से गुज़रते हुए इस सच्चाई की ताईद की जा सकती है। सोच के भिन्न-भिन्न धरातलों पर खड़े कवि गीत में विकेन्द्रित विचारों की प्रस्तुति में अद्वितीय हैं। ठीक वैसे ही जैसे अनुभूति की सादगी के सन्दर्भ में शतदल, कुमार रवीन्द्र, नरेश सक्सेना और कथ्य की आत्मनिर्भरता के मामले में ओम् प्रभाकर। यदि कथ्य क़ी आत्मनिर्भरता, अनुभूति की सादगी और विचारों का विकेन्द्रीकरण नवगीत को शैल्पिक धरातल पर गीत से पृथक करेगा तो शिल्प का यह अलगाव भाषा ओर रूपविधान को प्रभावित किये बिना नहीं रहेगा।

लोकगीतों के रूप में मनुष्य ने अपनी मूल प्रवृत्तियों को प्रभावित करने वाली स्थितियों के साथ ही साथ कालबोध को भी वाणी दी है। इसीलिए लोकगीतों में मात्र सुख-दुःख, विरह-मिलन, जन्म और विवाह के गीत ही नहीं शामिल हैं उनमें विरहा, चैती, फगुआ, चनैनी, कजरी, कटनी, सोही से लेकर बारहमासा और लचारी तक का समावेश है। अलग छन्द विधान और स्वर संधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले इन गीतों का सम्बन्ध निजी जीवन से लेकर लोक सम्मत ऋतुबोध तक में समान रूप में है।

आत्मचेता रागबोध की भूख किसे नहीं है। वसन्त ऋतु की लोकगंधी चेतना से प्रफुल्लित हो उसे प्रतीक्षा है एक पत्र की –

"खत लिखना - फागुनी बतास खुलें
हां लिखना - दूध में गुलाब जब घुलें
लिखना जी : फूले जब हर सिंगार......।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 139*)

शलभ के गीतों में लोक-संस्कारों की रसीय कुनकुनाहट भी है। इस कुनकुनाहट बोध में सांगीतिक गुनगुनाहट सहज फुटाव पाकर हृदय द्वार पर खुली दस्तक देती है। लोक-जीवन की आस्थायें भले ही मनुष्य को अंध-विश्वासी बनाती हैं किन्तु ये मानस की शक्तियां भी हैं। ये पारम्परिक लोक-शक्तियां ही हमें मर्यादित कर जुड़ाव-अहसासों से लबरेज करती हैं। तभी मनुष्य पारिवारिकता की मीठी अग्नि में तप कर चौबीस कैरेट होता है। शंख फूंकना, सन्ध्या का दीप जलाना, तुलसी-चौरे पर दीया बालना आदि जहां अन्धकार को चुनौती देते प्रतीत होते हैं वहीं मन की उदासी, मायूसी को भी दूर करते हैं। सन्ध्या की उदासी में घूंघट से झांकते, पिया की प्रतीक्षा करते नयन, एक हाथ से ओट दे, दूसरे से दीया प्रज्ज्वलित करते हुए जैसे अपने हिय को दीप राग बना कर उदासी को बाती बना देते हैं। हिय में बैठे तिमिर को भेदते ये लोकरसीय क्षण पिय कल्पना से ही सिन्दूरी पगडण्डी बन जाते हैं। इस 'गहराई सांझ' में प्रिय-आगमन की सूचना पूजा-आराधना के उत्साह को दुगुना कर देती है –

"शंख फूका सांझ का तुमने/ जलाया आरती का दीप
आंचल को उठा कर/ बहुत धीमे/ और धीमे
माथ से अपने लगाकर/ सुगबुगाते होंठ से इतना कहा
हो सांझ भइया.......। और इतने में कहा मां ने
बड़का आ गया। बहन बोली : आ गये भइया
और तुमने/ गहगहाई सांझ में/ फूले हुए मन को संभाले
हाथ जोड़े/ फिर कहा......./ हे...सां...झ....म...इ....या।" (*पृ. 138*)

शलभ का बिल्कुल ताज़ा संग्रह है – 'उन हाथों से परिचित हूं मैं।' इस संग्रह की रचनाएं इनके अपने गांव से होकर कवि की संवेदना को विदिशा, अयोध्या और फिर दिल्ली के यथार्थ तक विस्तृत करती चली जाती हैं। लगातार विस्तृत होती इस दुनिया में प्यार, बेटी, स्त्री और आत्मीयता व शाश्वत अस्मिता की संवेदना बची रहती है, तो इसलिए कि कवि के मन में फूलों की गंध, बच्चों की किलक और किसी औरत के प्यार की याद बची रहती है और वह शब्दों, सपनों तथा जीवन के प्रति कहीं अधिक ईमानदार बना रहता है। अंधेरे और उजाले को लिखते समय, सही और गलत हाथों की पहचान में कविता में समूचे घटनाचक्र को आत्मविश्लेषण का माध्यम बनाने में वह सजग, सतर्क और विवेकशील बना रहता है।

कवि ने इन कविताओं में नवगीत की भावुक तरलता व वैचारिक जुगुप्सा ने एक ऐसा संतुलित मिश्रण तैयार किया है कि वे प्रायः रौ में नहीं जाते, बल्कि पूरी बौद्धिक तत्परता से मनुष्य के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भयावह भविष्य को टालने के प्रति सन्नद्ध रहते हैं। इसीलिए वे प्रायः निराश होकर आत्मघाती न होकर 'राख में दबे अंगार की तरह कहीं न कहीं अदृश्य, अनाम, अपरिचित' के रूप में ही सही बने रहने के प्रति आश्वस्त रहते हैं। घातक हथियारों से लैस घातक इरादों वाले घातक लोगों को पहचान कर वे अपनी इस दुनिया में लौट आते हैं, जहां एक बच्चा, फूल और पत्ती उनके इंतजार में है। जहां परिंदों से आकाश, वनस्पतियों से हरियाली और नदियों से उनका प्रवाह छीना जा रहा हो और आधुनिकता व औद्योगिक विकास के नाम पर यह सब हो रहा हो, जिंदगी और मौत के बीच मंजिल तक न पहुंचने वालों की भीड़ दुनिया में बढ़ रही हो, तो दिल्ली में सुरक्षा की उम्मीद बेकार है। क्योंकि सत्ता का यह केन्द्र हमेशा चुप बना रहा है, इतिहास इसका साक्षी है। सभ्यता का यह विकसित केन्द्र 'सर के ऊपर से गुजरते हवाई जहाजों के बावजूद' मनुष्य की रक्षा करने में निरर्थक हैं। (*जनसत्ता : 7 नवम्बर 1993, डॉ. मूलचंद गौतम*)।

अतः शलभ नवगीत की नींव तैयार करने वालों में हैं। नवगीत - उठान के साक्षी हस्ताक्षर शलभ ने परिवेश बद्ध होकर युगनद्ध प्रतीतियों से नवगीत को पुख्ता साहित्यिक एवं प्रायोगिक उत्थान दिया है। इनका वैचारिक भाव क्षेत्र मानवीय मूल्यों से निबद्ध है। सामाजिक संरचना में व्यक्ति और साहित्य की भूमिका को इन्होंने गीतीय तरलता के साथ मानकधर्मी बनाया है। इन्होंने किसी वाद का पट्टा अपने गले में नहीं पहना। मुक्त भाव से इन्होंने हर क्षेत्र में नव्यता का स्वागत किया है। आसपास बिखरी जीवन की कड़वाहटों को इन्होंने गीत मुस्कराहट दी है, उन्हें संघर्षमुखी बना कर जीवन के सार्थकीकरण को प्रेरित किया है।

इनके विषय में कहना यूं चाहिए कि किसी भी भव्य भवन की नींव की ईंट की तरह कुछ ऐसे मौन साधक होते हैं जो निश्छल भाव से अपने आप में अपनी शामें जी कर कटुता, विरोध, वैषम्य और अज्ञान के अंधेरे में चेतना-स्निग्ध प्रतिभा-प्रकाश में जागते हैं। जहां आज का संत्रस्त, भयभीत, ईर्ष्यालु, आत्म केन्द्रित, धन का असीम लोभी, वासनासिक्त मनुष्य थकन की नींद के लिए गोली खाकर सोता है। यह रात्रि अजीब है।

शलभ श्री रामसिंह ऐसे ही नवगीतकार हैं जो स्वयम् को विज्ञापित नहीं करते, साधना करते हैं। शलभ शब्द आत्मार्पण का पवित्र पर्याय बन गया है। कोई विशेष विचारधारा की अतिशयता न होते हुए भी आदमी को प्रस्तुत करने की शलभ की अपनी अलग शैली है। दैनंदिन जीवन की अतिसाधारण, उपेक्ष्य की तरह किसी भी आचरण और प्रयोगोपयोगी वस्तु का किसी भी उपमान के साथ संपृक्त कर देने की कवि में अद्‌भुत कला है। नवगीत का जब लेखन प्रारम्भ हुआ था और लोगों का ध्यान नवगीत की किसी विशेष शैली और स्वरूप की ओर आकर्षित था उन दिनों शलभ श्री राम सिंह के गीत जहां प्रकाशित होते वहां लोगों को रेखांकित करने का अवसर मिलता था।

शलभ का अल्हड़ स्वभाव विचित्रता की सीमा तक पहुंच जाता है। इन्होंने विधागत अनेक नये प्रयोग किए हैं। नवगीत के माध्यम से इन्होंने पायल से पाषाण तक के गीत गाए हैं। यह अलग बात है शलभ अभी तक सूची में नहीं हैं। उनके गीत साहित्य पर यदि अलग से शोध हो तो गंभीरतापूर्वक पता चले कि दीप में कितनी जलन है, सूर्य में कितनी तपन है? इस का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर शलभ के जलन और ताप भरे अनुभव ही दे सकते हैं। इतना सत्य है कि शलभ ने अपनी आयु में प्रकाशोन्मुखी गीत लिखे। नयी कविता एक प्रकार से अंधकार की तरह छा गई थी। शलभ नयी कविता की राह पर भटकने के बाद ही नवगीत की ओर मुड़े। नयी कविता में इन्होंने अपनी गति नहीं पाई। एक दूसरे को पहचानना कठिन हो, वहां प्रकाश की आवश्यकता नकार दी जाये और गाया जाये मैं अंधकार पर बलिहारी हूं - वहां साहित्य की क्या स्थिति होती है। यह स्वाभाविक भी था। नयी कविता का छान्दस व्यायाम भी आत्यान्तिकता का भावात्मक और शब्दात्मक विद्रोह था। आत्यान्तिकता ऊब देती है। आत्यान्तिकता की इस अंधकारमयी प्रवृत्ति के विरूद्ध ही नयी कविता और नयी कविता की ऊब से नवगीत जन्मा। यह जन्म जिस वैचारिक प्रक्रिया से हुआ उसमें नवीनता का आकर्षण था। नवगीत शब्द का प्रयोग किसने कब किया इस पर विवाद न छेड़ें तो कहा जा सकता है शलभ नवगीत के जन्म-क्षणों के प्रत्यक्ष अनुभवी थे। वह परम्परा एक नये आलोक के दर्शन करा रही थी। परिवर्त्तन का आनन्द ही यही है। सृष्टि की यह परिवर्त्तनशीलता सदा सराही गई है। नवगीत का प्रारम्भ जितना आलोकवाही था उस पर आज गंभीर चिन्तन की आवश्यकता है। शलभ ने उन नवीन आन्तरिक अनुभूतियों को नयी सोच, नये प्रतीक, नये शब्द, नये बिम्ब और नयी लय दी।

आज मंच पर शलभ कम दिखाई देते हैं। मंच पर उन्होंने बहुत अच्छी ग़ज़लें कही हैं। मंच के प्रतिष्ठित गीतकारों और ग़ज़लबाज़ों में शलभ की गणना है। वे दुष्यन्त की तरह चकाचौंध तो पैदा नहीं कर सके परन्तु इतना अवश्य है कि शलभ ने कहीं कहीं बहुत अच्छी बुनी हुई ग़ज़ल कही है। नवगीत और ग़ज़ल दोनों रूपों में वे आदर से पहचाने जाते हैं। मार्क्सवाद की तरफ उनका झुकाव प्रतिबद्ध गुटबाजों जैसा नहीं है, इनमें भारतीय मिट्टी का रचाव और संस्कार है, इसीलिए इन्होंने राजनीति की अपेक्षा साहित्य को प्राथमिकता दी है।

नीम छतनार : नईम

गीत ने जब भी आंखें तरेरी हैं एक नयी विधा आविर्भूत हुई। रामकुमार वर्मा, भगवती चरण वर्मा और बच्चन इस कायस्थत्रयी ने गीत को व्यक्ति की सहज पीड़ा में समो दिया। यह कार्य यदि शुद्ध हृदय से होता तो उसका यह परिणाम न होता जो आज गीत का है। 'परिणाम सुखे गरीयसी' - यदि परिणाम सुखद होता तो शुद्ध कविता गीत को आशंका की दृष्टि से न देखती। गीत के उस स्वभाव को ठेस लगी। गीत ने आंखें तरेरी और नयी कविता के सामने नवगीत आ खड़ा हुआ। नवगीत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह प्रकृति से सर्वाधिक जुड़ा है। प्रकृति का स्वरूप विस्तृत है। ग्रामीण अंचलों में इठलाती प्रकृति जब जीवन को गाती है तो उसका आनन्द बढ़ जाता है। नईम के नवगीत इस प्रकृति के निकट हैं और इसके माध्यम से वह जीवन पर व्यंग्य करते हैं। आज जीवन में जो घट रहा है उससे कोई संतुष्ट नहीं है। चारों ओर अत्याचार, अन्याय, हिंसा, बलात्कार जो भी पाशविकता और राक्षसत्व की सीमा में आता है वह आज घटित हो रहा है। नईम की कविताओं, नवगीतों और ग़ज़लों में यही जीवन झांकता है। साधारण जीवन के दैनिक मुहावरों का प्रयोग करने में नईम अत्यन्त कुशल हैं।

गीत-वैविध्य एवं दृष्टि-व्यापकता के साथ इनकी भाषागत नव्य भाव-भंगिमाओं ने नवगीत को वसन्त-पावस दिया है। इसी वजह से ठाकुर प्रसाद सिंह को नईम के गीतों में "बार-बार उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खटके की खोज की कशिश दिखायी पड़ती है जिससे छोटे-छोटे गीतों के भीतर छिपी कविता, सम्पूर्ण संसार, उसकी चेतना, उसके विश्वास के साथ पलकें खोलती हैं। इस दृष्टि से अच्छे गीतकार की अच्छी पंक्ति कभी-कभी ऐसे अनजाने स्थानों पर चोट करती है जहां उसके लिये लेखक का ही नहीं, मेरी अपनी पहचान भी कराता है। नईम के गीतों से मुझे इसीलिये संतोष मिलता है" (*सुकवि विनोद : गीत-कविता नये-नये सन्दर्भ की खोज : पृ. 11*)।

नईम की रचनायित दृष्टि एवं गीतों के मूल कथ्य में लोकरसीय रूप रंग की बरखा झरझराती है। ताल-पोखर से लेकर गहरी गहन घाटियां, गगनचुम्बी शिखर चोटियां, प्रकृति के रस में रच कर कवि आत्मा में सौन्दर्यबोध की अनुभूति बन जाती है। गांव का सलौना सौन्दर्य प्रकृति के अवगुंठन से झांकता है। घूंघट की ओट में पारदर्शी प्रकृति की यौवन-दीठें छुपाए नहीं छुपतीं और सवाक् हो जाती हैं। प्रकृति की बोलती चित्र वीथियों में नईम का रंगरसी मन संवेदनशील होकर अपने हृदय के समूचे तन्त्र को प्रकृति राग बना देता है। प्रकृति राग के इस अन्तर्दशन में उपेक्षित वस्तु भी नायक की तरह इठलाने लगती है। मन और कल्पना मिल कर नमस्कार मुद्रा में हाथों से जुड़ जाते हैं। प्रकृति का स्वागत मन-तन में शरारत करने लगता है। 'पाकर की डार' में पाकर की डार मात्र सामान्य और उपेक्षित वृक्ष की डाल नहीं है अपितु उसकी नायिका के रूप में मानवीकरण कवि की कल्पना का साकारीकरण है। शाख के धड़कते हृदय से अनुभूति उसी प्रकार फुटाव पाती है जैसे कमल मसृण पत्र-पल्लव –

"पोखर के पार/ जल दर्पण हेर रही
मन ही मन टेर रही/ पाकर की डार
सहज सखी ले आयीं/ मुख-दर्पण पास
और झुक चूम लिया/ कोई नहीं आस-पास
सांझ ननद, रात सास/ किए हुए सोलह सिंगार पाकर की डार।"

प्रकृति की सूक्ष्म चित्तवृत्तियों को उकेरने में सिद्धहस्त नईम मानव हृदय को उसकी ताज़ी नवलता और गुनगुनाहट से भर देते हैं। गीतों में नटखटी और सौन्दर्याभिमुख ग्राम्य परिवेश जीवन को यथार्थबोधी बांक चितवनों से नहीं काटता प्रत्युत् उसकी रमणीय मनोहारिता से सृजन शक्ति को बटोर कर मानव को संघर्षों के पायदान पर खड़ा कर देता है। इन मर्यादित प्रकृति-चित्रों में भावनाओं का मानवीकृत साधारणीकरण भी है और कवि-मन की रचनाशीलता का अनासक्ति भाव भी। शृंगार की दमकन कजरारी खंजन आंखों में जब कसमसाती है तब नयन सेज पर बिछ गए कनक-अंग नायिका के पोर-पोर को हिरण-कोयल बना देते हैं –

"सतरंगी चोली के खुले-खुले बन्ध/ किसे बांध रहे
डार-डार सांसों के हारिल/ खेत-खेत मन भिगेगा/ मेड़ें उलांघ रहे
कजरारे खंजन दो/ अब उघरे घूंघट से हेर गये।" (*संपादक : नरेश मेहता : वाग्देवी : पृ. 404*)

इनके गीतों में परम्परागत रूप में षड्ऋतु वर्णन नहीं है लेकिन विप्रलम्भ शृंगार की मान-मनुहारों, स्मृतियों के बहाने षड्ऋतु के रंग अपनी कसकन छाप के हस्ताक्षर करते जाते हैं -

"कड़वाहट झरते झर गये नीम/ यादों के सेमल फिर फूले।
चेत चांदनी के मिल कर काटे/ बैसाखी सुख-दुःख गाहे, बाटे।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उड़ते उड़ गए रुए, फलचिटके/ आये जब जेठ के बगूले।
आषाढ़ी मेघदूत घिर आये/ कजली सिरहाने विरहा गाये।
मन मिलते डार-डार सिहर उठी/ सावन ने फिर डाले झूले।
क्वांरा मन चन्दन चांदी बोये/ पूस बालियों में खेतों सोये।
प्यार बौर आया कोयल कूके/ बिलम गये पन्थी पथ भूले।
कड़वाहट झरते झर गये नीम..............................।" (*पथराई आंखें : पृ. 99*)

प्रकृति की मादकता के परिपार्श्व में छलकता पनघट ही नहीं है आधुनिक जीवन की त्रासद शोकांतिकाएं भी जीवन ग्रन्थ के काफी बड़े हिस्से को आतंकित किए हैं। पौराणिक प्रतीक-बिम्बों के माध्यम से आधुनिक जीवन की जटिलताएं अपने पूरे वजूद के साथ अंकित हैं। तर्क-कुतर्कों के बीच बुरी तरह उलझी त्रिशंकु आचरण को जीती ज़िन्दगी के नंगे सत्यों को नईम खरोंचदार शब्दावली में तौलता है। ग्रीष्मऋतु के ताप नायक सूर्य के लिए भी कवि एब्सर्ड भाषा का प्रयोग करता है –

"सूरज क्या निकला पहाड़ से
गुंडा ज्यों छूटा तिहाड़ से।" (*धर्मयुग : 18-24 मई 1986 : पृ. 33*)

ज़िन्दगी की गुण्डई तल्ख़ियों के बीच भी प्रणय भोर की अनुराग लाली का रंग लज्जाशील एवं उमंगमुखी है, भोगपरक अश्लील नहीं। प्रणय की इस पवित्र रसोद्रेकता में मन-आत्मा सम्पूर्ण भीगे हैं, मरु प्रदेश में भी धार उमगी है। विप्रलम्भ वियोग में भी इसी रसोद्रेकता ने हृदयों को और नज़दीक किया है। भीतरी कुंठाओं को कमजोर करने के लिए व्यंग्य तरल नुकीली चुभन है। व्यंग्य-कौंचन दिशाओं को निर्धारित एवं अनुपातन स्पष्ट कर देती है। भौतिकता के तमस में आज हर कोई नाखून से शिखा तक डूबा है। डूब की इस नाव पर बैठ कर हर कोई भवसागर तरना चाहता है लेकिन मुक्तावस्था कभी नहीं आती। भौतिकता आक्टोपस की भांति दिल-जिगर को मोहित कर नोंच-नोंच कर खाती है और हम सहर्ष नुचते हैं। जब तक इस 'डूब-दर्शन' को समझते हैं तब तक समय डंक देकर आगे बढ़ जाता है और हम बासी कड़ी की तरह उबाल खाकर आंखें लाल- पीली कर अतीत में किए कर्मों पर पछताते रहते हैं। आहत निर्ममता की इन भौतिक दर्द परतों को खुरचते हुए नईम जीवन का गीत बना देते हैं –

"आत्मायें गिरवी रख सुविधायें ले आये
लोथड़ा-कलेजे का, वनविलाव चीलों में
गंगा की गोदी में या कि ताल झीलों में
क्वांरी मां जैसे/ अपना बच्चा दे आए।" (*धर्मयुग : 15-22 अप्रैल 1979 : पृ. 19*)

नईम अभिव्यक्ति का नया अंदाज जीवन की वर्त्तमान त्रासदियों को पूरी शक्ति के साथ उभारता है। कुंठाएं अभिशप्त होकर निराशा के घर वास करने लगती हैं। अनाथ जीवन तैराक बनने की कोशिश में हाथ पैर पटक कर शान्त हो जाता है। यही कारण है ज़िन्दगी का 'बिरहा' सुबक रहा है, कजरी बिसुर कर मातम में बैठी है। सामाजिक रूढ़ियां जीवन के रस को सोख लेती हैं। परम्पराओं का निभाव जीवन को और छोटा कर देता है। समय की प्रतिकूलता से जूझते-जूझते रोटी, कपड़ा, मकान जैसी बुनियादी जरूरतें इकट्ठी नहीं हो पातीं। अप्रासंगिक हो गयी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूढ़ियों-परम्पराओं को कहां तक जीवित रखा जाए। यही ऐंठनें जीवन इच्छाओं को भिखारी बना देती हैं। चूल्हे को अग्नि, तन को शक्ति देने के लिए आटा-रोटी नहीं लेकिन धर्म, पुण्य, परम्पराओं के नाम पर जांत को पांत देना निहायत जरूरी है। कवि व्यक्ति की इस करुण बेबसी को शब्द देता है –

"जाते भूखे, जात खा रही/ छोले और भठूरे।" (*पथराई आंखें : पृ. 79*)

नईम के गीतों में 'मैं' सामाजिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधि हो गया है जो गीत को और भी प्राणवत्ता देता है। नवगीत मात्र वर्त्तमान का गायक नहीं है अपितु अतीत जीवन की कटुताओं की आधुनिक प्रासंगिकता में व्यक्ति इकाई को तौल कर समय-टुकड़ों को पैबस्त करता है। इसलिए नईम का नवगीत अपनी कटुता का गीत है। जीवन में जो तोड़ फोड़ षड्यन्त्र, वैषम्य, असंगति, सुविधाजीवी लालसा, अन्याय ग्रस्त मौन मनुष्य, ऐश्वर्याश्रित दरिद्रता और असांस्कृतिकता दिखाई दे रही है उसे वाणी देने में नईम अगुवा गीतकार रहे हैं। उनका गीत नैरन्तर्य की लय है। गीत के प्रति विश्वास देखिए –

"गीत की यह पंक्ति/ अब भी/ क्या लगा कर गा रही है।
पिआसे, सूखा, ग्रसित हैं/ बोल फागुन के/ ......" (*पृ. 111*)

इन पंक्तियों के पीछे गीत की निष्ठा गूंजती है। गीत आज भी मधुर अभिव्यक्ति है। नईम इस पीड़ा को मिठास के साथ गाते हैं –

"औलादें आवारा/ असमय दम तोड़ रहीं।" (*पृ. 110*)

वर्त्तमान की संतान साधना के स्थान पर वासना में बंध जाती हैं। उदारता के नाम पर सत्य से मुख नहीं मोड़ना चाहिए। आज का वातावरण औलाद को आवारा बना रहा है। वातावरण की विषमता ने अस्मिता को ढक दिया है –

"चौंकी अस्मिता आज/ रात भर टिटहरी-सी।" (*पृ. 100*)

यह स्थिति है विषमता की और दयनीय अस्मिता की।

हम स्वयं ही अपनी परिधि निश्चित कर अपने लिए लक्ष्मण-रेखाएं खींचते रहे हैं। सुबहों को छोड़ कर हम शामों को साधते रहे। धुंधवाते क्षण ही जीवन की सच्चाई बन गए। दूध, पसीना, फर्ज, कर्ज़, हरजाना, रूढ़ि, मूली, मैथी, अरहर सभी कुछ जीवन की गड्डमड्डता की तरह एक ही पतीली में रांधते रहे। इच्छाओं, आकांक्षाओं का क्वांराबोध सिसकता रहा और हम अपनी ही लक्ष्मण रेखाओं को उलांघने से कतराते रहे। ऐसी रूढ़ियों, परम्पराओं का क्या लाभ जो जीवन की साध को 'असाध्य' कर दें। बोझ बन कर गले की हड्डी बन जाए। जीवन के इन छूटते सूत्रों की सुबह- शाम को नईम बड़े मर्मस्पर्शी अन्दाज़ में बयान करता है –

"सुबहें छूटीं/ शामें साधते रहे हम-तुम/ धुंधवाते सूरज-दिन/ तापते रहे हम-तुम/ मंझली मां, संझली दी, बड़की-भौजाई/ बजरे बूढ़र, सवार पिता बड़े भाई/ देवता सिराने/ आराधते रहे हम तुम/ दूध के, पसीने के, फर्ज-कर्ज हरजाने/ रूढ़ी, मूली, मैथी, अरहर के दाने/ एक ही पतीली में/ रांधते रहे हम तुम/ छाती पर धरी हुई क्वांरी आशायें/ ब्याही कम, ज्यादातर उम्र रसीदायें/ लक्ष्मण रेखाओं से बांधते हम तुम।" (*पृ. 86*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल की क्रूर मुद्राएं निर्णय की निर्मम धार से व्यक्ति मन को साधती-काटती चलती हैं। 'संधान और कटान' की इन काल प्रतीतियों के सामने वही ठहर पाता है जो लक्ष्मण रेखाओं को उलांघ कर समय की गति को पहचान लेता है जो जड़ता को त्यागना ही नहीं चाहता वह पथहारा हो जाता है। कुछ समय की मार कुछ खुद के कोड़ों से छिली हृदय संवेदनाएं। बुनकर जब बुनना ही छोड़ दें तब जीवन पट कैसे बुना जाएगा। निराशा-हताशा ने मनुष्य की इच्छाशक्ति को पंगु कर दिया है और वह अपनी अस्मिता के प्रति शंकाशील होकर जिज़ीविषा-जीवट को तिलांजलि दे चुका है। कवि-विवेक असमंजस की स्थिति में है –

"सूख गई अन्तर धारायें/ किस पानी से पांव पखारूं?
गले-गले तक फंसे हुए जो/ कैसे डूबे गांव उबारूं?
चूल्हे पड़े उदास कि चक्की गीत न गाये।" (*पृ. 92*)

इस के कुछ अग्निकारणों में कुर्सी-पूजा के इर्द-गिर्द तिलचिट्टों की तरह इकट्ठे होते हमारे जन प्रतिनिधि, जनतंत्र के लुभावने नारों के बीच नुचती मानवीय अस्मिता, आश्वासनों की सड़ांध में घुटती सासें, वेश्या सी थुलथुले जिस्मों के बीच समर्पित आस्थाएं, न्याय के पवित्र आसन पर पैर पसारे बैठा अट्टहास करता अन्याय, शोषण, अनाचार आदि हैं जिन की घड़ियाल जकड़न में फंसा मानव आज कराह रहा है – 'कोई ज़हर पिये अथवा पिघला सीसा' (*पृ. 93*), 'अजगरी महंगाई' (*पृ. 101*), अफगानिस्तान, ब्लूचिस्तान से आए पठान सौदागरों का झोली भर-भर बचपन बेचने का दुःख (*पृ. 97*) जैसी व्यथाओं ने मनुष्य को कर्महीन बना दिया है।

समूचा परिवेश कंटकित, गंदला, कुंठाग्रस्त अभिशप्त है ऐसे में यदि 'ठुमरी' अपना अंदाज भूल जाए तो आश्चर्य क्या, गीत अपूर्ण अधूरे रह जाएं तो क्या हैरानी। वस्तुतः यह जीवन के बिखराव का रोदन है। इस बिखराव को समेटना होगा, इसीलिए 'गीत मर गया' की घोषणा जीवन के पतझर की वाहक है। एक ऋतु के समापन से ही दूसरी ऋतु का आगमन जुड़ा है जैसे भोर पाने के लिए रात्रि का अंधेरा। जीवन के यही पहलू अवसान और उठान को परिभाषित करते हैं। आशा और आस्था की नींव में निराशा और संध्या का अंधेरा ही है। इस अंधकार के ज़रिये ही जीवन गति की रात्रि प्रातेश प्रिय को पाती है –

"निकली पतझड़ की फैलायीं सारी अफवाहें झूठी/ ललछोंहीं रंगीन कोंपलें टहनी-टहनी पर फूटीं/ प्रेम-पत्र सी टटकी ताज़ी/ कोर-कोर किरनों ने आंजी/ हवा कर रही कानाफूसी-दुपहरियां फिरती ऐठीं/ कल की शाखायें परित्यक्ता/ लाजों लाल आज अनुरक्ता/ ग्रह, नक्षत्र, गोद भरने के झकमारे किस्मत रूठीं/ घनी छांव घर आंगन वाली/ बहिन बेटियां भाभी साली/ बतरस रस पीतीं छलकातीं- ज्यों गहरी छानें बूटीं।" (*पृ. 81*)

सुबह के उदय होने के बाद दोपहर पीती शाम घिर आती है। अंधकार और रोशनी की इसी क्रीड़ा का नाम ज़िन्दगी है। जीवन भी अपने आप को इसी प्रकार दोहराता है। सुबह फिर अंधकार को दूर करती है और फिर रोशनी का अंधकार से द्वन्द्व होता है। द्वन्द्व की इसी बुनावट में ज़िन्दगी के सच छिपे हैं। भीतर की नागफनी टूटनें, मर्मान्तक मनोव्यथाएं ही आस्था का पथ निर्मित करती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नईम ग़ज़लें अग्रणी पंक्ति में हैं। मूल्य टूटन-चटखन की वही जानी-पहचानी आवाज़ इनकी ग़ज़लों में भी बाजरे की कलगी की तरह सिर उठाती है। विपरीत हवाओं में सिर धुनती है, समेटती-बिखेरती मौसम के अभिशाप वरदानों को झेलने को विवश है। खलिहान तक पहुंचने का यात्रा का दर्द नाखुदा जी जान से संघर्ष करता है। अन्ततः दर्द की यही चटकनें शक्ति बन कर उभरती हैं –

"घर-परिवार अचानक टूटे बिखरे नाते
मिले गली में कुबली लिए अपाहिज आंगन।" (*गंगा : जून 1987, पृ. 4*)

* * *

"आसमान की बात न जानूं, जानूं हूं छानी छप्पर की
मेघों को गाने से पहले चितायें माटी के घर की।" (*गंगा : जून 1987, पृ. 1*)

जीवन की कटान को काटती-सहेजती ग़ज़लें मनुष्य जिज़ीविषा को उठान देने की कोशिश करती है –

"कातना चाहें जो ढंग से तो धुन लिया जाये
जी में आता है कि बिखराव बुन लिया जाये...
यूं तो बागों में बवंडर से गये हैं अब तक
आज मुमकिन हो करीने से चुन लिया जाये।" (*धर्मयुग : 27 नवम्बर 1988 : पृ. 26*)

इनकी ग़ज़लों में शेरों की संख्या पांच, सात, नौ और ग्यारह ही है। मुहावरों ने ग़ज़ल-रंग को व्यंग्य की नुकीली तुर्श व्यंजना दी है –

"आस्तीन के सांप हुए तुम...
अपनी बीती छोड़ तनिक जगबीती जी ले...
चले गए होते भी तो मुंह की ही खाते.....।" (*गंगा : जून 1987*)

नईम को ग़ज़ल की गहरी समझ है परन्तु बुद्धि का चमत्कार सदा प्रभावित करे - ऐसा कम होता है। पाश्चात्य छन्द सॉनेटों में भी नईम की कुशलता दर्शनीय है। व्यंग्य देखें –

"भाव, अरे भावों का क्या अभाव/ मिलते बाजारों में टके सेर,
बिना पिये गीत लिखो हाला के/ ठूंठ गद्य, नाम पर निराला के...।" (*पथराई आंखें : पृ. 72*)

इस प्रकार की चुभन प्रभाकर माचवे में मिलती है। नयी कविता के और लोगों ने भी सॉनेट लिखे हैं। विधा कोई हो नये प्रयोग करते रहने चाहिए। नईम की प्रतिभा अनेक क्षेत्रों में अपना प्रकाश फैला चुकी है। नईम सॉनेटों में अलग-अलग छंदों का प्रयोग है। सॉनेट की टेकपंक्ति 'आज भटके से खड़े हैं सूर्यरथ' (*पृ. 73*) को गीत-टेक के रूप में भी गाया जा सकता है।

मुक्त छंदीय छोटे-छोटे अनुप्रासीय गीतों में सामञ्जस्य पूर्ण निखार है – 'पेड़ पाण्डव, प्रकृति द्रौपदी' (*धर्मयुग : 18-24 मई 1986 : पृ. 33*), पुनरुक्ति, आन्तरिक संगीत और तुकबन्दी ने गीत-ग़ज़लों को प्रवाह दिया है –

"धरती पर धरती से/ ऊंची उनकी कुर्सी
अब मिज़ाज पुर्सी भी/ लगती मातमपूर्सी।" (*पथराई आंखें : पृ. 93*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रस्तुत-विधान में भी ताजगी है –

"मिमियाती शामें, दोपहरी जैसे बाघिन......पूनम ज्यों उल्टी नागिन।" (*पृ. 103*)

नईम का नवगीतात्मक आचार्यत्व प्रत्येक गीत में अपनी उपस्थिति जता देता है। उन्होंने नवगीत को शास्त्रीयता प्रदान की है। प्रयोग के माध्यम से उन्होंने प्रतीक को प्राणवत्ता दी है। आज के जीवन के दुःखमय क्षण गीत में साकार हो उठे हैं –

"दुर्घटना-सी भोर/ हादसे से सूरज दिन।" (*पृ. 103*)

कौन सा मनुष्य है जो भोर का सुख भोग रहा है? जीवन ही ऐसा हो गया है तो गीत को जीवन में ढलना ही होगा –

"द्वार पर कर्फ्यू खड़ा संगीन साधे...।" (*पृ. 102*)

कर्फ्यू का मानवीयकरण वर्त्तमान के लिए नियति हो गया है।

सकारात्मक दृष्टि के अभाव में जैसे हर गली हर चौराहा अंधा हो गया है, 'अंधी गली' गीत में दिन बेलगाम घोड़ों की तरह छीलते जाते हैं और न्याय पाने के लिए कोई कचहरी दफ्तर आदि में 'कागज के घोड़े' दौड़ाने पड़ते हैं' (*पृ. 105*)। 'चौंकी अस्मिता आज' (*पृ. 106*) गीत में भी 'अस्मिता' का सुन्दर मानवीकरण है।

'पथराई आंखें' में नयी कविता के तेवर दिखाई देते हैं। नयी कविता साम्यवादी गंध लिए हुए है। भाषा में आक्रोश को प्रकट करने के लिए साधारण बोलचाल के और व्यवहृत शब्दावली के शब्दों का प्रयोग कविता को शास्त्रीय वक्तव्य बना देते हैं। कहीं कहीं ऐसा लगता है कि थोड़ा सा अधिक उत्तेजित होकर गाली भी दी जा सकती है। यह नयी कविता में चल सकता है, गीत में नहीं। इसलिए नईम ने अपने इस क्रूद्ध, क्षुब्ध और उत्पीड़नपरक स्वर के लिए नयी कविता को अपनाया। गीतों में जीवन का वही दर्द गाया परन्तु नवगीत की मर्यादा के साथ। इस प्रकार नवगीत के स्वरूप संवर्धन में नईम ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

रीतिकाल के कवियों में जो स्थान केशव का है वह नवगीत में नईम का है। नईम का नवगीत आंचलिक नज़ाकत पर आधारित है। नवगीत के गुंफन में नईम बहुत चतुर है। नवगीत में भावुकता का अभाव है लेकिन गीत के प्राणतत्व को सुरक्षित रखने के लिए किसी न किसी रूप में भावकुता का कवच चाहिए ही। वैचारिक बौद्धिक भावात्मक हृदयस्पर्शी लयात्मक अनुभूति गीत-सामर्थ्य की सम्प्रेष्य शक्ति है।

नवगीत की शैली, भाषागत प्रयोग, प्रतीकात्मक रुझान और नवीनता के प्रति साग्रह अभिव्यक्ति आदि कुछ ऐसे कारण बने कि नवगीत एक अलग व्यक्तित्व लेकर उभरा। नवगीत के इस निर्माण-बोध में आंचलिक शब्द-विशेषणों ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। खड़ी बोली के शुद्ध शब्दों को तुकान्त बनाने अथवा लयात्मकता की ओर मोड़ने के लिए तदनुसार गढ़ लेने की प्रवृत्ति तो प्रमुख रही ही, साथ ही ग्रामीण आंचलिक शब्दों ने नवीनता प्रदान करने में अत्यधिक सहयोग दिया। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर नईम के नवनीत जैसे नवगीत सदा से उस नवीनता की सुगंध देते रहे हैं। नईम की विशेषता यह रही कि वे आंचलिक शब्दों के प्रयोग में सदा से चतुराई बरतते रहे हैं। उदाहरण के लिए –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"कंठ मांझे प्राण आये,
चिरह-चुन चुन के।" (*पृ. 111*)

इस पंक्ति में 'चिरह' और 'चुनचुन' का प्रयोग सर्वथा नवीन है। इसी प्रकार थूहर-वन, नेम (नियम) चिंथी, पपड़ाई बरेस, मिमियाती आदि अनेक शब्द हैं जो नवगीत की शैली को मधुरिमा देते हैं। नईम की एक विशेषता यह है कि वे शब्दों को विभक्त्यन्त रख कर नवीनता लाते हैं। युद्धक्षेत्रे, आंगने आदि सप्तक्यन्त प्रयोग देखने को मिलते हैं। साथ ही मुहावरेदार भाषा का अपना आनन्द है। नईम के नवगीतों में नवीनता का अहसास थोपा हुआ नहीं है। इसीलिए सहज और स्वाभाविक ढंग से किए गए प्रयोग अपना प्रभाव छोड़ते हैं।

नईम के गीत कृशकाय हैं। छोटी बहर में बड़ी बात कहने का लहज़ा अलग है। यही कारण है कि नईम के नवगीत और ग़ज़लों में एक ताज़गी महसूस होती है। बात वही जो शायद कही भी जा चुकी हो परन्तु उन के कहने का ढंग बिल्कुल सादा और दिलकश नजाक़त के साथ होता है जो श्रोता और पाठक को बांध लेता है। नईम स्वयं छोटे क़द के हैं और गुणी हैं इसी के अनुरूप इनके गीत छोटे-छोटे गंभीर घाव करने वाले हैं। नवगीत ने गीत की मिठास को थोड़ा फीका कर दिया है। वह छायादार और स्वास्थ्यकारक नीम वृक्ष की तरह है जो कड़ुवा होते हुए नीरोगता प्रदान करता है लेकिन नीम-निबौली मीठी होती है। नईम नीम का छतनार है जो नवगीत को अपनी छाया देकर पोस रहा है।

आधुनिक जीवनबोध से सम्पन्न नईम के गीत-ग़ज़लों में घर, परिवार, समाज सभी नुमाया है। गीत-ग़ज़लें बिखर कर भोर की तरह मुस्कुराती हैं लेकिन छंद मुक्त कविताएं ढलान का संकेत है। नईम का गीत कवि वस्तुतः गीत-ग़ज़लों में ही बोलता है। कविताओं में बिखराव नईम की पहचान नहीं है। गीत-ग़ज़लों का कसाव और लयात्मक लोच इन्हें नवगीत के अग्रणी गीतकारों में प्रतिष्ठित करते हैं। ग्रामबोध की पीठिका के समानान्तर गड्डमड्ड जीवन की आशाओं-निराशाओं का आयतन वर्त्तमान असंगतियों का मुहावरा बनकर उछाल मारता है। इस उछाल में अभिव्यक्ति-गत नेकी जीवन के संघर्षों से पूरी शक्ति से जूझती है। अतः नईम के गीत-ग़ज़ल व्यक्ति मन और मानवत्व को व्याख्यायित कर उसे जीने की एक अलग शैली देते हैं। इसीलिए नईम नवगीत के नीम-वृक्ष की मीठी निबौली हैं।

लोकगंधी चेतना का रस-मंथन : ठाकुर प्रसाद सिंह

कुछ व्यक्तियों के सम्बन्ध में विचार करते समय भाग्य पर विश्वास करना पड़ता है। भाग्यशाली व्यक्ति प्रतिष्ठित पद पर प्रतिष्ठित व्यक्तियों के बीच रहता है। उनमें कला के बीज का अभाव नहीं होता परन्तु कला के स्पर्श का जितना अंश प्राप्त होता है उससे अधिक वे पा जाते हैं पारिश्रमिक की तरह। नवगीत के आन्दोलन में ठाकुर प्रसाद सिंह का नाम भी जुड़ गया है। दरअसल नवगीत के प्रवर्त्तकों में सिंह बंधुओं का चरमोत्कर्ष संघर्ष है।

इस दल में जो सिंह जहां अधिक अड़ गया वहीं दल बिखर गया। ठाकुर प्रसाद सिंह भी इसी सिंह मठ के प्रशिक्षित नवगीतकार हैं।

ठाकुर प्रसाद सिंह को प्रसिद्धि देने वाला संग्रह 'वंशी और मादल' है। इन्होंने काफी समय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संथाल परगना में व्यतीत किया है। वहां की लोक धुनों और शब्दों की गूंज को इन्होंने अपने गीतों में सफलतापूर्वक इस्तेमाल किया है। हृदय के तरल पक्ष पर गीत कवि की दृष्टि अत्यन्त सहज और सरल है –

"तीर लगे घायल कुरंग-सा/ मन लगा लोटने/
जामुन-सी काली इन भौंहों की छांह में/ डूबे हम जा रहे।
कब से हम गा रहे....।" (*नवगीत दशक - 1 : पृ. 121*)

यह गीत प्रीति लहर से भीगा हुआ है। इस प्रकार के गीतों में एक भिन्न प्रकार की मानसिकता व्यक्त होती है। प्रीति के अनेक छोर छूता हुआ यह गीत कवि जीवन की वर्त्तमान उदासी को भी चित्रित करता है। विशेषता यह है कि उदासी में निराशा नहीं है –

"कोयलें उदास मगर फिर फिर वे गायेंगी/ नये नये चिह्नों से राहें भर जायेंगी/
खुलने दो कलियों की ठिठुरी मुट्ठियां/ माथे पर नयी नयी सुबहें मुसकायेंगी।" (*पृ. 122*)

नवगीत के क्षेत्र में इस तरह की आशावादी प्रवृत्ति कम मिलती है। इस गीत कवि का चिन्तन स्वभाविक है। जितना सृजन है, वह मात्र सृजन के लिए नहीं है, उसमें एक उद्वेग है। क्षण की अनुभूति सार्द्र होकर भावुकता को जगाती है –

"पर्वत पर आग जला/ वासन्ती रात में,
नाच रहे हम तुम हाथ दिये हाथ में..।" (*पृ. 123*)

ऐसे गीत कवि की वातावरण प्रियता को स्पष्ट करते हैं। सामान्य जन की अनुभव-क्षमता को वाणी देते इन गीतों में गीत परम्परा को एक नया प्रवाह मिला है। यह शैली और शिल्प उस वातावरण की देन हैं जहां परिस्थितियां पूरब के आदिवासियों के देश में गीत कवि को ले गईं। यह अच्छा प्रभाव है इससे अछूता रहना भी अस्वाभाविक था। संथाल परगना की परिवेशीय प्रतीतियों ने कवि के भीतर की सौन्दर्य चेतना को जागृत कर दिया –

"एक घड़ा सिर पर ले/ एक उठा हाथ में/
मैं चलती, जल चलता मेरे साथ में.....।" (*वंशी और मादल : पृ. 17*)

इस प्रकार के छोटे-छोटे गीत मन पर एक छाप अंकित करते हैं।

"इन गीतों की पीठिका दूरस्थ नहीं, प्रत्यक्ष है। इनके प्रेमी-प्रेमिका कल्पना की कौड़ी में से निकले हुए नहीं हैं। प्रेमिका रस भी बरसाती है, ठिठोली भी करती है, व्यंग्य भी, कटाक्ष भी, यथार्थ स्थिति का भोग करती है, धता भी बताती है या सीधे-साधे निःसंकोच समर्पण भी कर देती है, हार नहीं मानती, सिर्फ रोती नहीं रहती कि हाय, मेरे पिया, हाय मेरा कजरा। संवेदना के स्तर सभी आधुनिक हैं। मैं समझता हूं कि नये गीत-लेखकों में ठाकुर प्रसाद सिंह का स्थान सबसे अलग है" (*गिरिजा कुमार माथुर : नयी कविता सीमाएं और संभावनाएं : पृ. 121*)।

'वंशी और मादल' वस्तुतः कवि की भीतरी जड़ता से संघर्ष की अनुभूति प्रतीतियां हैं। लोकीय संवेदना की धरती पर बीजित इन गीतों में लोक-चेतना का व्यापक अन्तर्संघर्षण है। लोक परिवेश की रसीय चुभन सहज होकर जीवन के नये सन्दर्भों पर उंगली रखती है। 'पांच जोड़ बांसुरी' के सम्पादक ने गीत-मरण की उथली घोषणाओं को पूरी गंभीरता से लिया। गीत-मरण की घोषणा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वास्तव में हमारे संस्कारों के मरण की घोषणा थी और इस घोषणा में "गीत डूब गया होता यदि ठाकुर प्रसाद सिंह नरेश मेहता.....ने गीत के बाह्य और अन्तर को नयी संजीवनी चेतना से समृद्ध न किया होता" (*संपादन : चन्द्रदेव सिंह : पांच जोड़ बांसुरी : भूमिका : पृ. 11*)। लोक भावनाओं की समृद्धि, गीतीय परिवेश जन जातियों की लोक संवेदनाओं आदि की अनुभूति-प्रतीतियों को संवेदना की आंच में धीमे-धीमे पका कर ठाकुर प्रसाद सिंह के नये प्रयोगों ने गीत को नवीन ज़मीन पर खड़ा किया । इसमें कोई शक नहीं कि लोक तत्व संवलित शैली की सूक्ष्मता और ताज़ी रसमयता ने आधुनिक गीत को नयी और ठोस बुनियाद दी। संथाल परगना की लोक-संस्कृति ने ठाकुर प्रसाद सिंह की चेतना भूमि को हरियाले गीत-बीजों से भर दिया है। गीत की इस लोक-ललाई में आदिवासी सभ्यता-संस्कृति को कवि ने जिस गहराई, सूक्ष्म अन्तर्ग्राही कल्पना-संवेदना से हेरा है वह हिन्दी गीत-परम्परा की विशिष्ट पदचाप उपलब्धि है। इस लोकगंधी चेतना के रस-मंथन में मानवीय उद्रेक जीवन को बिल्कुल नजदीक से बांचते हैं। संयोग-वियोग की रसीय छवियां नसों को उमेठती-मरोड़ती चलती हैं। सामाजिक परिवेश की संकीर्णता प्रेमाभिसार के पक्ष में नहीं किन्तु पांच जोड़ बांसुरी से उठते स्वर प्रेम के आचार-संयम को अग्नि परीक्षण से गुजारते हैं –

"पांच जोड़ बांसुरी
वासन्ती रात के विह्वल पल आखिरी
पर्वत के पार से बजाते तुम बांसुरी/ पांच जोड़..
वंशी स्वर उमड़ उमड़ रो रहा
मन उठ चलने को हो रहा
धीरज की गांठ खुली लो लेकिन
आधे अंचरे पर पिय सो रहा
मन मेरा तोड़ रहा पांसुरी/ पांच जोड़ बांसुरी।" (*वंशी और मादल : पृ. 9*)

इस गीत में अभिसारिका - द्वन्द्व कम गीत-मानस का द्वन्द्व अधिक निखरा है क्योंकि यथार्थ के पथरीले शोर को सुर ताल देने के लिए अभिव्यक्ति के नये पथ निर्मित करने का संघर्ष सामने है। जीवन के नव्य आधुनिक बोध को बांधने के लिए जरूरी है नवीन कथ्य के साथ नवीन शैली, नवीन प्रतीक, बिम्ब, भाषा। एक तरफ रात्रि के आखिरी पलों का नीम खुमार दूसरी ओर जीवन में फैला अन्धकार, इन्हीं के बीच नवगीत के बांसुरी-स्वरों को उठान देने का यथार्थ-संघर्ष। संभोग पलों की मादकता पर वियोग के छायासुर अधिष्ठित हो कर जीवन का मर्मस्पर्शी अभिव्यञ्जन करते हैं –

"मेरे घर के पीछे चन्दन है/ लाल चन्दन है
तुम ऊपर टोले के/ मैं निचले गांव की/
राहें बन जाती हैं रे/ कड़ियां पांव की
समझो कितना मेरे प्राणों पर बन्धन है!
आ जाना वन्दन है/ लाल चन्दन है।" (*पृ. 23*)

आदिवासी प्रकृति से एकरस ठाकुर प्रसाद सिंह को प्रकृति ने नई प्रेरणा, नया उत्साह और नए उद्वेग प्रदान किए हैं इसीलिए 'आली के वन' (पृ. 30) अपनी पुनरुक्ति और नादात्मक गुंजन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से चारों ओर फैल कर पूरे पर्यावरण को महका देते हैं। प्रकृति की बिम्बात्मक नादात्मकता मन के ओर-छोरों को संगीत की अरूप ध्वनियों से बांध लेती हैं –

"झर झर झर झर
बरसे बादल, कुल एक पहर!" (*पृ. 25*)

नादात्मक बिम्ब की मानक अनुभूति के अनुभव स्तर महसूसिये जिसमें अनुप्रास और पुनरुक्ति का परिणय-पर्व संगीत छलकन बन कर अन्तर्भूमि में चू कर हंस बन जाता है –

"तिरि रिरि, तिरि रिरि, तिरि, रिरि/ बजी बांसुरी
चन्दन बन/ मलयागिरि
तिरि रिरि/ रात का बिराना पल
आखिरी/ बजी बांसुरी/ तिरि रिरि।" (*पृ. 37*)

आधुनिक युग की जटिलताओं को सर्वाधिक नारी ने भोगा है। नारी की मनोव्यथाओं के बिम्ब कवि ने लोक शैली में खींचे हैं –

"सब लोग देखते आग लगी त्रिकुटी को
रे कौन देखता आग लगी इस जी को
मैं अपने भीतर जलती जैसे बोरसी की आग
धधक पात पतझर के जल जाते, जंगल के भाग
सब लोग देखते त्रिकुटी की आग।" (*पृ. 52*)

परिणयोत्सव पर दूल्हा-दुल्हन के संवादात्मक गीत मौलिकता एवं मार्मिकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं –

"बाप-मां से मुझे छीन लोगे/ क्या मुझे उतना ही प्यार दोगे?
तुम भरोसा करो प्राण मेरा/ प्यार मेरा है कि है प्यार मेरा
मैं तुम्हें प्यार दूंगा अनोखा/ है न पाया किसी ने, न देखा
तुम मेरी हम तुम्हारे ही होंगे/ तीरी-पुरुष दुलाड़ तीरे-जूगे।" (*पृ. 29*)

कमोबेश इनके सभी गीतों पर संथाली लोक-संस्कृति और जीवन-शैली की छाप आसानी से देखी जा सकती है जिनके आंचलिक बिम्ब जीवन की जड़ता को तोड़ते हैं। संथाल के लोक गीतों का स्वर कवि के स्वर को न छुए यह कदाचित संभव नहीं था। गीतों में संथाली लोक माधुर्य की बुनावट में श्री सिंह पूर्णतः सफल हुए। संथाल का परिवेश, पर्वत, नदी और हरियाली से घिरा है। प्रकृति का यह अनन्त सौन्दर्य भी कवि के सौन्दर्य बोध को वाणी देने में सहायक सिद्ध हुआ है। गीतों में आंचलिकता का स्वर एक नवीन शैली और आकर्षक काव्य गुण को प्रकट करता है –

"तुम मान्दोरिया/ हम नाचोनिया
मादर न बजा/ रसीला मादर न बजा
बाप खड़े/ मां खड़ी
खिड़की का पल्ला धरे/ खड़ा है पिया
हम नाचोनिया/ मादर ना बजा।" (*पृ. 28*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस प्रकार के गीत वहां के लोक जीवन की गंध देते हैं। इन स्वरों की रागात्मकता मानवीय अनुराग से लिप्त हो जाती है। अत्यन्त सूक्ष्मकाय इन लघुगीतों में एक गहरी अनुभूति बिजली की क्षणिक चमक की तरह कौंधती है। यह एक क्षण की अनुभूति होती है –

"झरती है तुलसी की मंजरी/ निखर रहे पात रे,
बजती है पियवा की बंसरी/ सिहर रहे गात रे।" (*पृ. 30*)

इन पंक्तियों में एक क्षण के लिए मिलन की आकांक्षा तीव्र आवेश में न आकर एक लज्जाशील प्रणयिनी के हृदय की अभिव्यक्ति बन कर रसदशा का विषय बनी। ये गीत की एक नवीन शैली है। विराट् को सूक्ष्म में बांधने का अर्थ लेना चाहिए। जीवन तो विराट् है ही, उसकी सूक्ष्माभिव्यक्ति ही कविता को स्थायित्व प्रदान करती है। श्री सिंह ने वहां के प्राकृतिक सौन्दर्य, पारिवारिक, मंगल कार्यक्रम, रीति-रिवाज़ और विशेष शब्दों को अपने गीतों में ढाल कर नवगीत को एक नया तराना दिया है, घराना नहीं।

इसी प्रकार 'पर्वत-पर्वत पर सरसों' (*पृ. 58*) और 'सीखा कहां से रोना/ धर गाल हाथ पर तुम' (*पृ. 60*) गीत हैं। ताल, लय और नाद की सुन्दर नियोजना ने इन गीतों को अतिरिक्त कसावट के साथ उभारा है। संक्षिप्तति, उद्‌बोधनपरकता के अतिरिक्त कहीं-कहां दोहे, सोरठे, रोला जैसी दो पंक्तियों के छन्द भी हैं जिसमें केवल तेईस मात्राएं हैं -

I S I IS S I IS IS I S I S
"नहीं छूटते सूख गये पत्ते खिजूर के – *23*
मैं भी प्रीत नहीं छोड़ूंगी भूल तुम गये।" (*पृ. 43*)

'हारी हुई लड़ाई लड़ते हुए' में कवि ने अपने-आप को दोहराया मात्र है। लगता है यहां तक आते-आते कवि की लोक-चेतना चुक गई है। जिस संथाली लोक संस्कृति-सभ्यता की रसीय आंचलिक अनुभूतियों ने कवि के रचना-मानस को संगठित कर कथ्य और वस्तु के दोहराव से बचाया था यहां वह लड़ाई सचमुच हार गया लगता है। नया कहने के लिए होने के बावजूद वह शब्द माध्यम से अपने को सम्प्रेषित नहीं कर सका। गीतों को धकेल कर कविताएं यहां ठोस बन गई हैं। उन्नीस गीतों में भी बारह गीत 'वंशी और मादल' से अपहृत हैं। केवल मात्र सात नये गीत हैं जो किसी नवीन क्षमता-सोच का संकेत नहीं देते। गीत के पुनर्प्रकाशन की यह प्रवृत्ति विशेष कर वरिष्ठ कवियों के लिए कलंक है, इससे उनकी प्रतिभा संदेह के घेरे में आ जाती है। जीवन के प्रौढ़ अनुभवों की छनाई होनी तो शेष होती है और ऐसे में समय की चुनौती मुद्राएं सामने आनी चाहिए लेकिन ठाकुर प्रसाद सिंह के गीत कवि ने अन्य वरिष्ठ गीतकारों की तरह ही अपने गीत- हस्ताक्षर नहीं किए। कविताओं का मूल स्वर या कहा जाए 'हारी हुई लड़ाई लड़ते हुए' की मूल ध्वनि जिज़ीविषा - जीवट का वही संघर्ष है। यह जानते हुए भी कि यह 'लड़ाई हम हारेगें' तब भी 'धरा को गगन से मिलाने' का कवि संकल्प मूल्य-बोधी है। इस चुप्पा-बोध के बीच कोई आवाज तो दे –

"नगर चुप हैं/ जंगलों में गुनगुनाहट है
मुझे जंगल पुकारें तो चला जाऊंगा।
बात रुक-रुक कर चलेगी/ चलेगी ही तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आग वन-वन में जलेगी/ जलेगी ही तो
चला जाऊंगा : भले ही छला जाऊंगा/ नगर चुप है....।"

(हारी हुई लड़ाई लड़ते हुए : पृ. 93-95)

इस चुप्पा बोध में नगरीकरण की व्यथा के व्याल फन हैं। इन व्याल फनों की छाया में जीता मानव विषधारी हो गया है, इसीलिए क्षुद्र, संकीर्ण, स्वार्थी, निरर्थक, अस्तित्वहीन अराजक स्थितियों को मानव के राग-रस से तरल करना होगा तभी अंधकार और प्रकाश की आंख-मिचौनी की सनातन क्रीड़ा में मनुष्य संघर्षरत होगा –

"गीत वैसे ही हरे थे/ गगन वैसे ही भरे थे/ हमीं बीत गये।
जागते दिन सो रही रातें/ बहुत बातें, फिर बहुत बातें।
भरे मन, आंसू भरे ही रहे/ हमीं रीत गये।" *(पृ. 93-95)*

'हमीं बीत गये/ हमीं रीत गये' का निरर्थक बोध मानव अस्मिता की चरम निराशा व्यक्त करता है। हताशा की इन स्थितियों का जीवन बोध मनुष्य जिज़ीविषा को खुली चुनौती है। यही लड़ाई मनुष्य हर काल में लड़ता आया है। इस लड़ाई को गहरा करने के लिए ही कवि टेक पंक्ति का मिलान करते हुए 'हमीं बीत गये/ हमीं रीत गये/ हमीं जीत गये/ हमीं बीत गये' आदि के द्वारा आधुनिक जीवन की व्यथाओं को संघर्ष की अग्नि देता है।

'लड़ाई जीत जाने भर से ही लड़ाई बंद नहीं होती। इसी तरह लड़ाई हार कर भी लड़ना बंद नहीं होता'। प्रश्न लड़ाई का नहीं उसकी चेतना का है, उसके अस्तित्व का है। इन गीतों/ कविताओं में जीवन की यही अस्तित्वगत चेतना लड़ाई के वैयक्तिक और सामूहिक छोरों की ओर संकेतित कर मनुष्य को कर्ममुखी बनाती है। मनुष्य का कर्म है संघर्ष जारी रखना। रास्ता दुर्गम, दुर्वह, कठिन हो सकता है किन्तु मनुष्य को हार कर भी संघर्ष बंद नहीं करना चाहिए। कवि का मूल सरोकार यही है।

कुल मिला कर ठाकुर में भावना और बुद्धि का समन्वय है। जिन प्रसंगों में हार्दिकता का स्पर्श है वहां भावना की आर्द्रता पाठक को भावुक बना देती है। ठाकुर प्रसाद सिंह के पास बात कहने की एक शैली जरूर है। नवगीत की शैली में इस भावना के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। नवगीत की नव्यता रेखांकित करने के लिए उन्होंने उसे आंचलिकता का अल्हड़ सौन्दर्य दिया है। नवगीतों की संख्या बेशक कम हो परन्तु जो गीत उन्होंने लिखे हैं। उनसे उनकी समझदारी झलकती है। छन्द की पहचान और लयात्मकता से भी इस गीत-कवि का सूक्ष्म परिचय है। यह समझदारी ही है कि उन्होंने अपने नवगीतों में मानवीय पीड़ा को सशक्त स्वरों में गाया। वे जिस वातावरण में रहे हैं उसे अपनी कुशलता से चमत्कृत करते रहे और उस से प्रभावित भी रहे। इस वातावरण में पांडित्य की प्रखरता, ज्ञान की गहनता, अनुभूति की लचक और अभिव्यक्ति का चातुर्य है। ठाकुर प्रसाद सिंह में ये गुण मिलते हैं परन्तु कुछ ऐसा है जो वहां अनुपस्थित है। गंभीरता पूर्वक विचार करने पर ठाकुर प्रसाद सिंह उस प्रभावान्विति के अधिकारी नहीं हैं जितना समझा और समझाया जा रहा है। लेखन के प्रति सजग व्यक्ति के साहित्य में कहीं न कहीं तो स्फुलिंग दिखाई दे जाता है। ठाकुर प्रसाद सिंह वस्तुतः 'पांच जोड़ बांसुरी' का एक स्वर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस स्वर में यदि हृदय के शाश्वत सत्य की व्यापकता है तो वह गूंजेगा और गुंजायेगा उस वातावरण को जहां शून्य है और जहां नवगीत की प्यास है। केवल शब्द जोड़ने से गीत नहीं होता। सार्थक शब्दों के विकृत प्रयोग से गीत में नवता नहीं आती। नवगीत के प्रसंग में ठाकुर प्रसाद सिंह के दायित्व को अंकित करना होगा।

'तिरि रिरि...' जैसे गीत प्रयोगात्मक हैं और चमत्कारवादी। संस्कृत के पंडितों ने एक अक्षर से श्लोक लिख मारा परन्तु उनके कूट अर्थों में माथा पच्ची करने का किसके पास समय है। इसलिए जहां श्री सिंह सहज हैं वहां उन की स्वाभाविकता श्रृंगार हो गई है। श्री सिंह वैयक्तिक और सामूहिक दोनों छोरों पर खड़े हुए जीवन को देखते हैं। उन के बौद्धिक व्यायाम का कसीदा उनके संग्रह 'हारी हुई लड़ाई लड़ते हुए' में मिलता है। 'वंशी और मादल' में कवि का गीत रूप था। शैली की नवीनता ने उन्हें 'नव' के बीच बिठा दिया। एक समय ऐसा भी था कि जो नये के नाम पर कुछ नया और भौंचक्का कर देने वाला मिले उसे तत्क्षण अपने पाले में घसीट लिया जाता था। श्री सिंह नयी कविता के व्यक्ति रहे। इन की अमर कामना यही रही के वे नयी कविता के कवियों की अग्रिम पंक्ति में रहें। इस मोह में उन्होंने गीत छोड़ा भी परन्तु आज उन्हें ठीक ही लगा। गीत का हरापन नहीं टूटा। वे वैसे ही हरे हैं लेकिन 'हमीं बीत गये...' (*पृ. 93*) कह कर ठाकुर प्रसाद सिंह आत्म मंथन-विश्लेषण की ओर बढ़ रहे हैं।

श्री सिंह में यदि सिंहत्व है तो उन्हें बीतना नहीं चाहिए। इन के गीतों में गहराई, प्रकृति का मादक अवलम्बन, जीवन की अनुभूतियां और संवेदनशीलता के मर्म स्वर हैं। नयी कविता में वे जो भी रहे हों - गीत रचने की उन में अचूक क्षमता है। वैसे नवगीत के वरिष्ठ चौधरियों में ठाकुर प्रसाद सिंह का नाम आगे-पीछे होता रहा है। इस में भी कोई शक नहीं कि ठाकुर प्रसाद ने सदा मंडली निर्माण में अधिक रुचि ली। उसी मंडली के बलबूते पर ये सदा चर्चा में रहे। यूं तो इलाहाबाद, बनारस के साहित्यकार जन्म से ही कालिदास बन कर उत्पन्न होते हैं। नवगीत की चौपाल पर भी इलाहाबाद, बनारस का क्षेत्र अपनी खाट बिछाये हुक्का गुड़गुड़ा है। सिंह सामन्तों का साम्राज्य है, दूसरे नवगीतकार इनके द्वारा स्वीकृत होने और किये जाने की प्रतीक्षा में रहते हैं। नवगीत दशक जैसे ग्रन्थ इस सत्य को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त हैं। ठाकुर प्रसाद सिंह ने प्रबंधकाव्य, नाटक और उपन्यास भी लिखे हैं। इस प्रकार पद्य और गद्य दोनों क्षेत्रों में ठाकुर प्रसाद सिंह की उपस्थिति है।

दूब-नीड़ की गीत ज्वाला : दिनेश शुक्ल

दिनेश शुक्ल के अब तक पांच सौ के करीब गीत, ग़ज़ल, कविताएं प्रकाशित हो चुकी हैं। भारत की ऐसी कोई प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिका नहीं है जिसमें दिनेश शुक्ल की रचनाएं ससम्मान स्थान न पाती हों। 'पानी की बैसाखियां' इनका प्रकाशित और 'सूखी नदी की मछलियां' इनका अप्रकाशित गीत-संकलन है। भाव प्रवणता एवं दर्पणमुखी यथार्थ प्रतीतियां इनके गीतों को तरलीय नुकीलापन देती हैं। जीवन के व्याकरण के हर कोण को दिनेश के गीत-ग़ज़लों ने बूझा है। वर्त्तमान जीवन की यथार्थ कटान और समकालीन परिवेश के तुर्श बिम्बों ने इनकी गीतीय चेतना को निखार दिया है। इसी निखरेपन ने इनकी गीत छटपटाहट को विस्तारमुखी बना कर हर उस उपेक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को अपना बनाया है जिस का इस दुनिया में कोई नहीं है। ज़िन्दगी के इस विस्तारनामे में इन की वैचारिक भावनात्मकता बुद्धिस्म के तिलिस्म को तोड़ कर मानवमुखी हुई है। हृदय के खालीपन को भरने वाला इनका गीत बोध वैचारिक संतुलन की डोर पर नट-नटी सा नृत्य करता है। मानव-जीवन की अन्तर्मुखी पीर प्रतीतियां इनके गीत-ग़ज़लों में कली से फूल बनी हैं। खुशबू का विस्तार इनके गीत सरोकारों को दूबीली बंजर ज़मीन से जोड़ता है। यही बंजरीय ठसक-ठुनक इनके गीतों की प्रकृति निर्मित करती है।

पाठक एवं रचनाओं के बीच, प्रयोग प्रतीक, बिम्ब एक पुल का काम करते हैं, रचनात्मक धरातल पर ये एक नया संवाद कायम करते हैं। यह संवाद दो स्तर पर होता है - एक गहन अनुभूति के स्तर पर जहां पाठक वर्ग लेखक के गहन अनुभव के संसार से अपने आपको जुड़ा हुआ पाता है एवं रचनाओं के साथ प्रवाह की तरह बहता है, रचना की सारी तरलता, उष्णता से अभिभूत होता है और वह गीत कविता के आइने में अपनी ज़िन्दगी के चेहरों को देखता है, उसे लेखक का भोगा हुआ दुःख, अपना दुःख, अपना यथार्थ लगता है। इस दुःख-सुख का एहसास जब नये प्रतीकों के माध्यम से पाठक को होता है तो पाठक लेखक की चेतनता के साथ-साथ उसकी भौतिकता से भी एवं वायवीय संसार से भी प्रभावित होता है। लेखन में बिम्बों, प्रयोगों की शिल्पगत यह विशिष्टता ही लेखक को लेखन के क्षेत्र में सबसे अलग अपनी पहचान देती है और यह पहचान ही उसके प्रयोगों एवं बिम्बों की सार्थकता पर निर्भर होती हैं। इस दृष्टि से दिनेश ने नव्य प्रतीकों-बिम्बों के ज़रिये अपनी अभिव्यक्ति प्रतीतियों को सफलता से साधा एवं रसिक पाठकों तक बखूबी सम्प्रेषित किया है।

छंद लेखन की व्याकरण सम्मत प्रामाणिकता को रेखांकित करता है। वह लेखक को एक अनुशासन एवं संतुलन देता है। छंद लेखन को परिमार्जित करता है। भाषा का यह अनुशासन कविता के लिए बेहद महत्त्वपूर्ण है क्योंकि भाषा का वह अनुशासन ही लेखक की उस रचनात्मकता एवं व्याकरण सम्मत योग्यता की ओर इंगित करता है। नई कविता के समस्त कवियों ने छंद के अनुशासन को स्वीकारा है एवं अपने लेखन की शुरुआत छंद की ज़मीन से ही शुरू की है। धर्मवीर भारती, स्व. सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, दुष्यन्त कुमार, स्व. श्री धूमिल, स्व. गजानन माधव मुक्तिबोध, श्री कैलाश वाजपेयी आदि इसके सशक्त उदाहरण हैं। इन सब महानुभावों ने अपना प्रारम्भिक लेखन छंद व कविता से ही शुरू किया था या अपनी कविता में छंद का उपयोग किया था। श्री कैलाश वाजपेयी के गीत पाठकों के मानस संसार में आज भी एक खुशबू की तरह रचे और बसे हैं। सातवें दशक के अन्त में श्री कैलाश वाजपेयी के समान सशक्त स्तरीय गीतकार खो जाने का दुःख हिन्दी संसार के पाठक वर्ग को आज भी है। छंद की ज़मीन से चलकर जो लोग नई कविता की सतह पर उभरे हैं उन्होंने नई कविता को एक विशिष्ट धारा दी है। समय इस बात का सबसे बड़ा साक्षी है। वह चाहे सर्व श्री मुक्तिबोध हो, धूमिल हो, दुष्यन्त हो, सर्वेश्वर हो या कैलाश वाजपेयी हो। दिनेश का रचनाशील गीतकार छंद की इस अन्तर्लयी अनुशासन बद्धता का पक्षधर है क्योंकि यदि कविता में अनुशासन-सन्तुलन नहीं है तो कविता में विकार आ जाता है। अनुशासन एवं सन्तुलन ही जीवन को सत्य के निकट ले जाता है और सत्य की यह निकटता साधना से आती है। छन्द, साधना की ज़मीन पर बेहद रचनात्मक दबाब देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रचनाकार से परिश्रम से संवाद करवाता है। छंद अनुशासन को स्वीकार करते हुए दिनेश शुक्ल का कहना है कि "छंद का रुझान मेरे अपने लिये आज भी बेहद महत्त्वपूर्ण है। मैं यह स्वीकारता हूं कि दर्द की, पीड़ा की, आंसुओं की, ज़िन्दगी के सपनों की बात छंद के द्वारा जब-जब भी अभिव्यक्त की गई है, वह वर्ग जिसके लिए हम लेखन कर रहे हैं, बिना किसी अवरोध के सीधे रचना की जमीन से जुड़ा है, इसलिए छन्द का मेरी अपनी नजरों में आज भी विशिष्ट महत्त्व है" (*साक्षात्कार : दिनांक 9 मार्च 1988*)। आज के मशीनी युग में कम से कम शब्दों में गहरी से गहरी अनुभूति पाठक वर्ग चाहता है। गीत की ज़मीन छन्द की ज़मीन है और गीतों में आज भी यह प्रभाव है कि वह पाठक वर्ग को सीधे गहरे बांधते हैं, अपने आप में डुबाते चले जाते हैं। जीवन के गहन-संवेदना अनुभव का संसार जीवन और मृत्यु के बीच के उजाले को, आदमी की चेतना को छन्द एक नये आलोक से भरते हैं क्योंकि "गीत अनुशासन की ज़मीन पर उगा हुआ फूल है, उसमें परिश्रम की मिट्टी, संघर्ष का पसीना है, उसने समय की कड़कती धूप को सर पर झेला है, गीत ने वक्त के टूटे हुए सलीब को अपनी लहुलुहान पीठ पर ढोया है, गीत ने आदमी की ज़िन्दगी की थकान को झेला है, गीत आदमी के साथ आदि काल से चला आ रहा है। आदि काल से ही गीत आदमी की अभिव्यक्ति का सबसे सशक्त माध्यम रहा है। आदमी की अस्मिता के साथ गीत रेजा-रेजा टूटा है, बिखरा है, गीत के आइने में आदमी ने सबसे पहिले अपनी ज़िन्दगी का मुस्कुराता हुआ चेहरा देखा है। गीत के आइने में ही आदमी को अपने आंसू मिले। गीत की ज़मीन पर ही आदमी ने समाधि और उस अनन्त चेतना के आलोक का स्पर्श दिया। जीवन और मृत्यु के भेद को समझा" (*साक्षात्कार : दिनांक 9 मार्च 1988*)। आज भी गीत पूरी ताकत के साथ समय की आंधियों के बीच खड़ा है और पाठक वर्ग को उसी तरह अपनी ओर आकर्षित कर रहा है जैसे हवा, फूल, सपने और नदी आदमी को अपने से जोड़ते हैं। इस मशीनी युग में जबकि आदमी के अंदर संवेदना का आकाश धीरे-धीरे सिमटता जा रहा है। वह गीत ही है जो आदमी के अंदर की भावनात्मकता को आज भी ज़िन्दगी का हरापन दिए हुए हैं और गीत की यह विशिष्टता ही इस मशीनी और गद्यात्मक युग में उसकी उपादेयता को और बढ़ा देती है। गीत की संभावनाओं का आकाश बेहद विस्तृत है क्योंकि गीत के घेरों के नीचे छन्द की ठेस ज़मीन है।

आज का लेखन मानव मूल्यों का लेखन है, जीवन के उन मूल्यों के साथ जुड़ा है जहां लेखक के सामने दूर तक अन्धेरा ही अन्धेरा है। हताशा, दुःख, निराशा है। पूरी शक्ति, ऊर्जा, सम्पत्ति एक विशिष्ट वर्ग के हाथों में घिर कर रह गई है। ज़िन्दगी में दूसरा वर्ग जो श्रम के द्वारा सब कुछ निर्माण कर रहा है, जो समाज को सब कुछ दे रहा है, समाज का पूरा ढांचा जिसके परिश्रम की रीढ़ पर खड़ा है, वह आज भी पूरी तरह उपेक्षित है, उसे समझने या सोचने का अवसर ही नहीं दिया जा रहा है कि वह कौन-सी स्थिति में है, कौन से दलदल में है और इस दलदल में डालने का उसे जिम्मेदार कौन है। वह समाज जिसकी रचना-प्रक्रिया का वह स्वयं एक हिस्सा है या वह समाज जिसके नियम कानून या कायदे सदियों से स्वीकारता चला आ रहा है, उसके अपने पास विरोध का कोई स्वर नहीं है, यहां तक कि उसे खुद अपनी इकाई की पहचान भी नहीं है, वह बेहद निरीह है, सदियों से दबा एवं कुचला है, सदियों से इस व्यवस्था ने उसे पैरों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तले रौंदा है। वह इस व्यवस्था को ढोता रहा है, व्यवस्था ने उसका जी भरकर उपयोग किया है। समय के साथ व्यवस्था के चेहरे बदलते गये पर शोषण की प्रक्रिया में कोई बदलाव नहीं आया। दिनेश शुक्ल के गीत शोषण, अन्याय, व्यवस्था की यथार्थ स्थितियों में जी रहे आज के मानवीय संकट को बूझ कर उन कालकूट सत्यों को सामने लाने का प्रयास करते हैं जो आज बिल्ली के गले में घंटी बांधने के समान है। जड़ता और यथास्थिति ने व्यक्ति के संघर्षों को भोथरा और हताश कर दिया है। जिज़ीविषा अंगार पर लोट रही है उसे जलधारी बनाना और कालमुद्राओं की धूप-छाया को बारीक छान कर जीवन की बुनाई करना ही दिनेश शुक्ल के गीतों की आचमन-पवित्रता है।

जीवन में छाये 'अकाल गीत' (*जागरण (इंदौर) 13 मई 1973*), 'तल्ख़ सन्नाटों' (*जागरण (इंदौर) 30 मार्च 1973*), को समेटे 'भीड़ के सैलाब' (*जागरण (इंदौर) 16 मार्च 1975*), में 'बीमार यादों' (*जागरण (इंदौर) 2 मार्च 1975*), को ढोते रहते हैं। 'ज़िन्दगी का गुणा-भाग' (*सान्ध्य - मित्रा (बम्बई) 1978*) करती 'मौन व्यथाएं' (*मंगल दीप (बम्बई) 1976*) 'भीड़ भरे चेहरों' (*दैनिक भास्कर (इंदौर) 28 जून 1984*.) के बीच 'इच्छाओं को निर्वसन' (*दैनिक भास्कर (इंदौर) 26 सितम्बर 1986*) कर 'आदिम जंगल' (*युगधर्म : जुलाई 1979*) बना देती हैं। 'काठ के खिलौने-सी नियति' (*साप्ताहिक विन्ध्याचल (खंडवा) 17 फरवरी 1977*) ढोता आज का आदमी 'रेतीले रिश्तों' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 2 नवम्बर 1987*) की मुखौटा संस्कृति को ओढ़े इतराता हुआ 'समय के डाकिये' के हाथ में पड़ कर बैरंग 'गुमनाम चिट्ठी' बन जाता है। ज़िन्दगी की 'सोनपंखी धूप' ढलते दिन की तरह उतर जाती है। यहीं आकर 'सूर्यपुत्र भी हार जाता है'। 'दूध से धोये दिन' इस 'गूंगी सदी' की भेंट चढ़ जाते हैं। 'शहरी' सभ्यता के कागज़ी अध्यायों में जिन्दगी के खुशनुमा परिच्छेद दुःख के अनुच्छेद बन कर 'नदी को छोड़' खारे समुद्र पाने की ललक में दिशाहीन भीड़ का हिस्सा बन कर दुःखिया त्यौहार हो जाते हैं। जीवन के इन मटमैले अक्षरों में हिरण-इच्छाएं पलकों के थाल पर अश्रु-मोती-सी तरलधारी होकर जड़ी रहती हैं और बीमार इच्छाओं की पाती पर लगी चिन्ता की डाक टिकटें उम्र के एलबम में समय के हस्ताक्षर कर बाल संगाती दुःख को पुचकारती संवेदनाओं को गूंगा कर देती हैं। इन स्थिति बिम्बों को दिनेश के गीत तलस्पर्शी कसावटों के साथ उभार कर चित्रात्मक वीथि बना देते हैं। ज़िन्दगी पर छाये कसैले दिन का उतार चित्र देखिए –

"कैलेण्डर में फटे हुए पन्ने-सा/ उतर गया दिन।
अंगुली पर महिने की, अन्तिम तारीख-सा,
जेबों में बजती, शेष रेज़गारी-सा
चाय की प्याली/ सुबह का अखबार
महामारी अकाल, तोड़-फोड़ हड़ताल
नेता के भाषण, विज्ञापन समाचार
इन सब समस्याओं में/ नई-नई विधाओं में
कापी पर अर्थ लिखा, कविता-सा
अपने ही अर्थों में/ सिमट गया दिन।" (*नई दुनिया (इंदौर) जुलाई 1968*)

बेरोजगारी का अभिशाप झेलती निर्धनता ने अपनी जमीन-गांव छोड़ने को विवश कर दिया।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेबसी यातना-शिविर में बदल गयी है और समस्याओं की पहरेदार बन कर वह इस्पात नगर की कुंवारी पीड़ाओं का अन्तहीन तेज़ाबी सिलसिला बांचने लगी है। दूध धोए संदली दिन सांसों के जंगल में टेसु दहकन बन कर वक्त की सूखी नदी में ढल गए हैं। मीठी हरारतें, ऋतुयी संवाद सभी को अब स्मृति-गुंजलकों का आखेट बन कर जीवन भर तपना होगा। व्यवस्था के इस तद्रूप स्थायी भूख-आंसूओं को जीवन का महाभारत बनाना होगा। पनीली यादों में नेह की दम तोड़ती घाटियां अधजली सिगरेट के दाग-सी बेमुरोव्वत बहरे रिश्तों-सी अपाहिज़ हो गई। स्मृतियों के कुहासे में जीवन के गूंगे वनवास की व्यथा-पीड़ा में आसुओं का जल-महल महसूस कीजिए -

"गावों की मिट्टी को/ झुका कर माथ/ लेकर दो खाली/ बेकारी भरे हाथ।
पलभर में उजड़ गई/ फसलों की बस्तियां/ तोड़ रही जनपथ पर/ पत्थर की गिट्टियां।
'होरी' संग 'धनिया'/ देखो दिन-रात/ कैसे घिर आये, दिन ये करम जले
शहरों को लौट रहे, गांवों के काफिले।" (*जागरण (इंदौर) 13 मई 1973*)

समय जिस तेजी से विज्ञान की तरफ बढ़ता चला गया, उसी तेजी से सुविधा भोगी वर्ग अपने लिए सुविधाएं जुटाता-जोड़ता रहा। दूसरा वर्ग उस वर्ग की सुविधाएं मजदूर या किसान बन कर अथवा आम आदमी बन कर जुटाता रहा। उस, आखिरी आदमी के पास चाहे वह किसी भी देश का हो, किसी भी भाषा का हो, किसी भी ज़मीन का हो, किसी भी संस्कृति का हो, परम्परा ने हजारों साल से एक विरासत देकर रखी है। दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में आदमी के सोच में जब भी बदलाव आया है तब उसने बड़ी-बड़ी क्रान्तियां सिरजी हैं। विश्व का इतिहास इस बात का गवाह है और अभी-अभी सन् 1971 में बंगला देश इसका सशक्त उदाहरण है।

हमारे देश में सम्पूर्ण बदलाव उस आम आदमी पर निर्भर है, पर वह आदमी पूर्णतया अहिंसक है, यहां तक कि उसने अपनी आजादी की लड़ाई भी, अपने अस्तित्व की लड़ाई भी पूरे अहिंसक तरीके से लड़ी, वह आदमी अहिंसक, दबा, निरीह है, सत्ता की कोई ताकत उसके पास नहीं है, व्यवस्था लगातार उसकी ऊर्जा का दोहन कर रही है, यहां तक कि उसको अपने श्रम का कोई मूल्य भी नहीं मालूम। श्रम उसका होता है, निर्णय दूसरे वर्ग का, वह आदमी निरक्षर है, उसमें एहसास है, अनुभूति है, उसके अपने दुःख हैं, अब इन दुःखों की सोच का दायरा है। निरक्षर होते हुए भी उस आदमी ने कविता से संवाद बनाये रखा। दिनेश शुक्ल ने संवाद की इन परतों को निर्ममता सें छीला है। इस छिलन से उपजी कुंठाओं के समक्ष सूर्यपुत्र भी हार गया -

"कच्ची नींद के सपने/ वक्त की धूप पड़े/शीशे से चिटक गये....
चेहरे पर आ गई/ कुंठा की दूब.....सूर्यपुत्र हार गया/ एक बार फिर
जीवन का महाभारत/ कवच और कुण्डल सारे ही/ सुविधा की जेबों में पड़े रहे...।"

(*नई दुनिया : 15 अप्रैल 1973*)

स्थिति-सत्य का एक क़त्ल-बिम्ब और देखिए जिसने जीवन को सूदखोर का ब्याज बना दिया। धमनियों में पारे सी तैरती व्यथा गरलधारी होकर कोढ़ी तल्ख़ सन्नाटे में बदल गयी, -

"भूख ने मिटा दी/ हर चेहरे से/ प्यार की इबारत
सुख सारे/ खाली हाथ लौट आए/ जैसे बैरंग खत
बच्चों की फरमाइश/ और बीबी की फटी धोती से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कटे-फटे हमने/ ना मालूम/ कितने लम्हे/ अवारा फुटपाथों पर काटे
मार रहे चांटे/ तल्ख़ सन्नाटे।" (*जागरण (इंदौर) 30 मार्च 1975*)

इन क़त्ल चरागाहों में जीवन का संधान, आदमियत की सुरक्षा, मूल्यों का संरक्षण सरल नहीं है। दिनेश की मूल्यबोधी दृष्टि ने रोशनी-लीकों के साथ ज़िन्दगी के अंधेरों का दूर तक पीछा किया और उस मनुष्य की अस्मिता को जीवट-ललक दी है, संघर्षों से जूझने का संकल्प बोध दिया है।

दिनेश शुक्ल की गीत-सम्पदा अभिजात्य वर्ग की दोहरी संस्कृति पर चोट करती है, पूरी तरह से इस संस्कृति के खिलाफ खड़ी है। इसके कोई चेहरे नहीं हैं, चेहरे हैं तो खेमों के हैं। शब्द आखिरी आदमी तक पहुंच ही नहीं पा रहे। आदमी निरन्तर इनके भाषा विज्ञान के जादू से दूर होता जा रहा है क्योंकि वह निरक्षर है। आर्थिक दबाबों ने बीच में एक दीवार खड़ी कर दी है फिर भी एहसास की आग - लपटें दिखाई देती हैं। जीवन की जितनी भी समस्याएं हैं, वर्त्तमान सन्दर्भ में सब आर्थिक मूल्यों से जुड़ी हुई हैं जिन्हें कभी राजनीतिक, कभी सांस्कृतिक या अन्य बातों से जोड़ दिया जाता है। सदियों से आदमी के जीवन में (उस आखरी आदमी के) एक आर्थिक लड़ाई का सिलसिला पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चला आ रहा है, जिसे उसने अपने समयानुसार लड़ा है। इस आर्थिक लड़ाई के मूल्यों से जुड़ी दिनेश की रचनात्मकता ने परिवेश से प्रतिबद्ध होकर अपने दायित्व को निभाया है –

"यह भी अपना/ वह भी अपना/ जीवन भर सब को है तपना।"

(*जागरण : 11 फरवरी 1973*)

दिनेश की रचनाधर्मिता का मूल स्वर उसका भोगा हुआ अपना यथार्थ है। यह यथार्थ सत्यता के धरातल पर जब संवाद करता है तो पाठक वर्ग के लिए एक आईना हो जाता है और इस आईने में पाठक वर्ग अपनी ज़िन्दगी का चेहरा देखता है। वर्त्तमान का एक चेहरा यह भी है जिसे दिनेश की गीतीय तल्ख़ी ने आईना-अक्स किया है –

"फिर वही सूने दिन/ यादें बीमार/ दिन का कोलाहल
सुबह-सुबह खूंटी पर/ सुधियों की चादर को/ कपड़े-सा टांग गया।"

(*जागरण : 2 मार्च 1975*)

दिनेश के गीत उस व्यक्ति के गीत हैं जो जीवन के संघर्ष में जूझ रहा है, टूट कर बिखर रहा है, फिर भी ज़िन्दगी की लड़ाई लड़ रहा है, उसकी आंखों में भविष्य के सपने हैं, एक लालसा है, एक इच्छा है, परिश्रम से, पसीने से वक्त के चेहरे को बदलने की एक कोशिश है। अंधेरे और दलदल में फंसे आदमी की छटपटाहट, दर्द, आंसुओं से रचनाकार के गीत-ग़ज़ल सीधा संवाद करते हैं। नगरीकरण की व्यथा ने गांव की बरगदी छाया को भी डस लिया है। यही कारण है नगरबोध ने व्यक्ति की भावनात्मकता को पथरीले शोर में दबा दिया है। एक कफन-भंगिमा देखिए –

"पत्थरों के इस नगर में कैद होकर रह गया हूं,
मैं तुम्हारी बात तुम से कह गया हूं।
फूल ने खुशबू चुरा ली, धूप, खिड़की में बंटी है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हर खुशी मांगे हुये अखबार-सी कटी छंटी है,
आदमी के नाम पर औपचारिकता का सिलसिला है
सिर्फ कोरी सभ्यता का, उठ रहा ऐसा किला है
और वह नकली ठहाके, किस कदर मैं जी रहा हूं
क्या बताऊं रेत की दीवार बन कर ढह गया हूं।
मैं तुम्हारी बात तुमसे कह गया हूं............।" (*जागरण : 16 मार्च 1975*)

महानगरीय संत्रास की नुकीली सुई चुभनें कैक्टस के अदृश्य-कांटों सी मन-मानस में धंस गई है। देह-मन में पसर गए रिक्तिबोध ने व्यक्ति को खुद से ही काट दिया है। इन अचकनों की तकलीफ-टूटनों ने मनुष्य को नाखूनी खूंखार सख्तपर्ती बना दिया है। उसकी मसि भीगी कोमल संवेदनाएं मशीनीयन आचरण का फिलर बन कर सुर्ख जीवन-गणित का यान्त्रिक शून्य हो गयी हैं। बिखराव के घुमावदार गोलार्द्ध में सिमटती चेतना कलपुर्ज़ी व्यवहार में अत्याधुनिक लीकों की वशवर्त्ती है। इसीलिए कवि की नज़र में शहर यातनाओं के किले हैं जहां झूठ, छल, फरेब, मक्कारी, अदावत का सिलसिला कभी खतम नहीं होता। इसी वजह से हम कस्तूरी छोड़ मृगतृष्णाओं की अंधी भंवरों में भटकते रहते हैं –

"फूल, सपने, तितलियां और बच्चों की हंसी को/ ढूंढता सा,
रोशनी में जागता/ कुछ ऊंघता सा,
रात के सन्नाटे लिये/ रो रहा शहर।" (*उत्तरा : जनवरी - मार्च 1988*)

शहरी सभ्यता ने मनुष्य-मन की नींव को दरका दिया है। रेतीले रिश्तों की ढूहें भुरभुरा कर कचोटती आज के मनुष्य को अनेक हिस्सों में विभाजित कर देती हैं। व्यक्तित्व-विभाजन की क्रूड त्रासदी ने खून की गर्माहट को बर्फखण्डी बना दिया है, इसीलिए इनमें अधिक देर तक टिकने की सामर्थ्य नहीं है। केवल पांच मात्राओं की रिदम् में 'रेत के रिश्ते' गीत इसी दुःख, व्यथा की कोंचन बन कर चुभता है –

ऽ। ऽ ऽऽ। ऽ ।ऽ
"रेत की/ दीवार से/ रिश्ते।" (*दैनिक हिन्दुस्तान : 2 नवम्बर 1987*)

'काठ के खिलौने' (*विन्ध्याचल : 1977*) में यह कोंचन मनुष्य-मन की और भी बारीक छनाई करती है। जीवन में सामरस्य आज सिरे से गायब है। रेत-कणों सी कठोर ज़िन्दगी की सूर्य-कड़ियां आज खण्ड-खण्ड हैं, कहीं वह गुणा-भाग अलजबरा है तो कहीं एक और एक ग्यारह। ताश की गड्डी की तरह गुलाम जोकर ज़िन्दगी कम्प्यूटर आचरण की मोहताज़ हो गई है। लकवा मार गई संवेदनाएं समूचे भावतंत्र को घुटन में बदल देती है। मुखौटे ज़िन्दगी को सुविधानुसार कहीं भी फिट कर लो। जीवन-गणित में भी शून्य का महत्त्व आज सर्वाधिक है। इस नियति बोध को जीता दिनेश का कवि इसीलिए आह्वान करता है कि –

"आओ फिर लौट चलें/ भीड़ भरे ग्लैशीयर से दूर कहीं
नेह भरी घाटी में/ प्यार है जहां/ फुनगी का ढेर
गंधहीन/ संबंधों के/ बासी चेहरों से
औपचारिकता/ रूमालों-सी यों/ लिपटी शहरों से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आओ फिर लौट चलें/ काठ के घरौंदों से दूर कहीं
मन की उस मेड़ों पर/ आत्मीयता का खिलता/ जहां गाबदी कनेर।"

(*युगधर्म : 1 जुलाई 1979*)

शहरों की घुटन और ऊब को पीते-पचाते आज व्यक्ति का दम फूल गया है। वह पुनः अपनी समावेशी परम्पराओं-संस्कृति से जुड़ना चाहता है। इसीलिए नवगीतकार गांवों की निश्छल वादियों में लौटना चाहता है, सम्बन्धों की उष्णता को महसूस करना चाहता है। 'सूरज' पहाड़ियों पर एक गुमनाम पाती फेंक जाता है और इच्छायें आम्र बौर सी फूल कर तितली-कोयल हो जाती हैं। हल्दी-चिह्न मांगलिक अर्थों की व्यञ्जना करने लगते हैं, शंख-ध्वनियां अन्तर्वर्ती हृदयी लयों को समेटने लगती हैं, तुलसी-चौरे पर दीप जुगनू-कथा लिखते लगते हैं।

दिनेश ने गीत, नवगीत, ग़ज़ल, कविताएं, व्यंग्य कविताएं सभी में समान रुचि प्रकट की है। इस विषय में उनका कहना है कि "मैं लेखन में उस पक्ष पर जोर देता हूं जो बात आप दे रहे हैं, उस बात में कोई मिलावट नहीं आनी चाहिये, उसकी रोशनी पर कोई पर्दा नहीं पड़ना चाहिये। चाहे वह नई कविता में बात हो, गीत में हो या ग़ज़ल में हो। मुझे अपने लेखन के अन्तर्गत इस प्रकार का दबाब दूर तक महसूस नहीं होता। मैं अभिव्यक्ति को, विषय सामग्री की प्रस्तुति को एवं सहजता-सरलता को अधिक महत्त्व देता हूं। लेखन की विधा को नहीं। विधा तो आप की वह आकर्षक शैली होती है जो आपकी पाठकों के बीच में अपनी पहचान बनाती है। इनमें शब्द, विन्यास, प्रतीक, बिम्ब रचनाकार की अपनी कहन का ढंग आदि आते हैं जिनको पढ़ कर पाठक वर्ग रचनाकार की ज़मीन से जुड़ जाता है और रचना को पढ़ते ही वह लेखक को, लेखक के नाम को अपने जेहन में टटोलने लगता है और जब यह नाम किसी रचना को पढ़ने से स्पष्ट उभर कर आ जाता है तब वह शैली या वह विधा लेखक की अपने लेखन की पहचान बन जाती है, जिसके द्वारा लेखक पहचाना जाता है और इसी पहचान को ढूंढने में, बनाने में और गढ़ने में किसी भी कवि या लेखक को वर्षों लग जाते हैं" (*साक्षात्कार : 9 मार्च 1988*)।

दिनेश ने अपनी अलग पहचान कायम करने के लिए साधना और यात्रा को महत्त्व दिया है। लेकिन सभी काव्य रूपों में उनकी पहचान एक जैसी बनी हो इसमें शक है। गीत-नवगीत ग़ज़ल के क्षेत्र में दिनेश ने अपनी उपस्थिति से चौंकाया है लेकिन कविता के क्षेत्र में कोई बड़ी लकीर नहीं खींची है। जहां तक इनके गीतों/ नवगीतों के वैचारिक धरातल का प्रश्न है वह समाज के उस सबसे अन्तिम आदमी की संवेदना से जुड़ा है जिसके श्रम का, जिसके पसीने का सब कोई निवाला खा रहे हैं, जो शहर-दर-शहर बसा रहा है, जो खेतों में अनाज पैदा कर रहा है, मशीनों की खड़खड़ाहट में जिसकी हड्डियों का नमक गल रहा है, जो सड़क पर गिट्टी तोड़ रहा है, नदियों को बांध रहा है, ज़िन्दगी के हर रास्ते को रोशनी से भर रहा है, पर जिसके सपने को कफ़न का एक टुकड़ा भी नसीब नहीं, जिसके अपने बच्चे फुटपाथों पर कचरा बीन रहे हैं, खेतों की रखवाली कर रहे हैं, जो कड़कती ठण्ड में महानगरों की फुटपाथों पर लावारिस मर जाता है। उसके सपनों की अधूरी कथाएं ही इनके लेखन की मूल ज़मीन है। जीवन की अलाव-अग्नि में दहकते मोहभंगी स्वप्न ग्लैमर के नशे की तरह टूटते हैं। इस टूटन और विघटन की मानसिकता को दिनेश ने अपने गीतों में परत दर परत बिछाया है। अंगार-बिछावन की सुहाग-सेज पर दम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोड़ती ज़िन्दगी-वधू कालपुरुष के कोड़े खा-खा कर विधवा हो गई है, सिन्दूरी- पगडण्डी की प्रतीक्षा में लेकिन पथ-निर्माण कौन करे। दिनेश के गीत इसी पथ-निर्माण की प्रक्रिया से जुड़े हैं। ज़िन्दगी की उलझी गांठें खुलने का नाम ही नहीं लेतीं। ज़िन्दगी के इस गुणा-भाग को दिनेश ने शब्द दिए हैं –

"ज़िन्दगी गुणा, भाग-सी
हल नहीं हो पाया एक भी प्रश्न
रात भर मनते रहे जश्न पर जश्न
आंखों में जलती रही चिता/ गीतों की/ दहकी आग-सी।" (*सान्ध्य मित्रा : 1978*)

गीत ने समय को शब्द के रिश्ते दिये हैं, सभ्यता को चेहरा दिया है। गीत हजारों साल से आदमी के हर सुख-दुःख से जुड़े उसके साथ चले आ रहे हैं। गीत की संस्कारशील एक वृहद यात्रा है। दिनेश के गीत परम्परा का रस लेकर पोषित हुए हैं। युग सत्य की कड़वाहटों को समेट कर अपनी नव्य भंगिमाओं के बल पर दिनेश के नवगीत हस्ताक्षर अपने को प्रमाणित कर रहे हैं।

शिल्प-पर्व

प्रतीकों की बुनावट रचनाकार के स्वभाव से छन कर आती है, जैसे बादलों से धूप, फूलों से खुशबू। दिनेश के गीतों में कथ्य-संवेदना के समानान्तर प्रतीक खुद सरलता एवं सहजता से चले आते हैं और वे उन्हें पूरी ताकत से अनुभूतियों की ज़मीन पर शब्दों के दायरे में बांध देते हैं।

दिनेश ने नव्य प्रतीक-बिम्बों से बड़ी लीक खींची है। इनमें ताज़गी ही नहीं संदली मुस्कानों की चुम्बक कशिश भी है। 'दिन' शब्द को लेकर नवगीत में जो प्रतीक-प्रयोग इधर हो रहे हैं यथा - 'कस्तूरी', 'सोना', 'चांदी', 'कोहरा', कंगन आदि प्रतीक-शब्दों का प्रयोग दिनेश अपने गीतों में दो दशक पूर्व कर चुके थे। दिनेश की गीतीय चेतना की यह कम उपलब्धि नहीं है।

'सूर्यपुत्र' (*नई दुनिया : 15 अप्रैल 1973*) प्रतीक है आस्था, विश्वास, निष्ठा और कर्मठता का, किन्तु, आधुनिक जीवन इतना विसंगतिपूर्ण संत्रोटित शब्दों जैसा है कि टूटनों का सिलसिला कभी खत्म नहीं होता। जीवन रूपी महाभारत में सूर्यपुत्र को पराजय ही झेलनी पड़ती है। महाभारतीय अन्याय-अनाचार आज जीवन का अंग है। कर्ण के कवच-कुण्डल यदि इन्द्र मांग लेते हैं तो आज के सूर्यपुत्र के कवच-कुण्डल 'सुविधा' की जेबों में पड़े रहते हैं (*नई दुनिया : 15 अप्रैल 1973*)। इन भौतिक जैटिल्य लालसा ने सारे सुखों को बांट लिया है। 'तल्ख़ सन्नाटे' (*जागरण : 30 मार्च 1975*) आज के व्यक्ति की नियति टूटन, बिखराव, घुटन को वस्तुगत बिम्बों द्वारा व्यक्त करते हैं। 'भीड़ का सैलाब' (*जागरण : 16 मार्च 1975*) गीत वर्त्तमान जीवन की भयावहता को चित्रित करता है।

दिनेश का शब्द-चयन सटीक प्रभावशाली एवं सुन्दर है। समावेशी चिन्तन और तल्ख़ सच्चाइयों का आखेटक। इन के शब्द-अर्थ की संतुलित तालबद्धता के कारण गीतों में संगीतात्मकता का निर्झरण है। 'तन पर सौ बंधन ममता के' गीत इस दृष्टि से तपा, ताया एवं गठा हुआ है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मल दूं किसके ओठों पर केसर, किसको भर दूं पतझरों से
किसका कर्ज चुका दूं, किसको लौटा दूं द्वारों से।" (*जागरण : 11 फरवरी 1973*)

आंचलिक शब्दों का प्रयोग गीतों को आत्मीयता देता है – बरौठे, गोरैया, कोपलें, सांकल, अगरू, बैलगाड़ी, गुलमोहर, हवा, तितली, हंसी, घरौंदे, गंगाजल आदि शब्दों में आंचलिकता का स्पर्श दिनेश की गीत चेतना का एक झरोखा भर है।

अधिकांश गीत संक्षिप्त और टेक-पांक्तिक हैं। अनेक स्थानों पर मुहावरों और शब्दों ने सूक्ति का रूप धारण कर लिया है –

'हर कौम लुटी बीमारों से/ हर मुल्क लुटा गद्दारों से...डोली लुट गई कहारों से...... रिश्ते रिश्तों के हाथ लुटे...किश्तियां लुटी मझधारों से'। (*नई दुनिया : 1973*) आदि इसी प्रकार की मुहावरेदार गीत सूक्तियां हैं।

दिनेश शुक्ल के गीतों में छोटी लयों वाले छन्दों का प्रयोग सर्वाधिक है। 'गीत पांखी उड़े' गीत इस दृष्टि से कलात्मक हैं –

ऽ।ऽ ।। ऽ ।ऽ ।। ऽ।ऽ
"दूधिया/ दिन हो गये/ सब सांवले" (*धर्मयुग : 22 फरवरी 1987*)

पहली पंक्ति में पांच मात्रायें हैं और गीत की शेष पंक्तियों में सात मात्राओं का विधान है। सम्पूर्ण गीत में एक अन्तर्वर्ती लय-गूंज समाई हुई है। इनके अधिकांश गीतों में इन अन्तर्वर्ती लय परतों ने अलग तरह की खनक देकर मन के संगीत को तालबद्ध किया है।

पुनरुक्ति में संगीत झनझनाता है 'धूप हुये, नदी हुये' गीत में 'हुये' शब्द की बार-बार आवृत्ति से अद्‌भुत नाद उत्पन्न किया गया है –

"धूप हुये/ नदी हुये/ और कभी/ बादल भी
रात हुये/ सपने हुये.....धुआं हुये/ भीड़ हुये....नीड़ हुये..
सीपी हुये/ शंख हुये......ढंग हुये.....धूल हुये और गंगाजल भी।"

(*धूप हुए..... । : अप्रकाशित 1987*)

इस ग़ज़लीय पुनरुक्ति में गीत का समां पर्यावरण को भावानुकूल बना देता है - 'आंखों ही आंखों में आंखों के हस्ताक्षर' (*मंगलदीप विशेषांक : बम्बई 1984*)। इस गीत के सातवें अन्तरे/ दोहे में 'खजुराहो' शब्द का लगातार पांच बार प्रयोग अखरता है 'खजुराहो - खजुराहो, खजुराहो, खजुराहो - खजुराहो' (*मंगलदीप विशेषांक : बम्बई 1984*)। यह गीत ग़ज़ल की भांति दो पंक्तियों के छन्द में है और हर दूसरी पंक्ति के अन्तिम चरण का अन्तिम शब्द ग़ज़ल की भांति है लेकिन कवि ने उसे 'गीत' ही कहा है। इसी प्रकार 'रोशनी की एक नदी तो देखिये' (*रोशनी की एक नदी : अप्रकाशित 1988*) में भी ग़ज़ल-तर्ज़ है। दिनेश के गीतों में कल्पना यथार्थमुखी एवं चूड़ीदार है जिनमें जीवन की ऐंठनें और तनाव अपने पूरे वजूद में तन कर जीवन की कमान को खींचते हैं। चाक्षुषता इसकी प्रतिक्रिया है। इस प्रतिक्रिया में जीवन के तमाम सच नंगे हो जाते हैं, इसलिए गीत का हर चेहरा अपना अपना अलग रंग लेकर मुस्कुराता-रोता है। यदि गीत में संवाद भूख से हो रहा है तो रोटी की उस आग और उसके चेहरे की तपिश का चेहरा कवि की रचना-मानसिकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में आकारित होकर गीत की आंखों से उतर कर शब्दों की पलक-शैय्या पर बिछ जाता हैं क्योंकि कवि के अनुभव प्रत्यक्ष हैं, सुने हुये नहीं। अंतड़ियां कैसे ऐंठती हैं, नींद में भूखे पेट सोने से रोटियों के ख्वाब कैसे आते हैं, यह सब भोगे हुए सचों की भांति गीत का चेहरा बनते चले आते हैं। इन गीत-वृत्तों में अभाव चोर समझ कर पहरेदार की तरह आदमियत को फटकारता, आंखें तरेरता है और व्यक्ति का विवशताबोध बुझी-बुझी आंखों में तैरने लगता है –

"रात है पहाड़/ दुःख की/ और घुटने फिर सटे हैं पेट से/ साहू ले गया/ ब्याज में पूरी उमर/ क्या बताये/ वक्त के सूने गले की/ हसलियां हम....दुःख की/ टिकुलियां हम।" (*अंकुश : (खंडवा) 20 अक्टूबर 1983*)

अभावों और मजबूरियों ने जीवन को पूरी तरह कंगाल कर दिया है। परिवेश-पर्यावरण में तैरती प्रदूषित खारी हवाओं ने घोषणा कर दी है कि –

"संवेदनाएं/ सब यहां गूंगी मिलीं
और रिश्ते जन्म से/ बहरे मिले।" (*दैनिक भास्कर (इंदौर) 18 जून 1987*)

वैकल्य-विवशता का एक गीत चेहरा और देखिए –

"महानगर में गांव याद की/ रोटी बनी सवाल
अम्मा को खांसी/ बप्पा को हुआ/ तपेदिक रोग/ जाने कैसी जन्म कुंडली,
में है दुःख के योग/ इच्छाएं सब हुईं निर्वसन/ हुई ज़िन्दगी ऐसे जैसे
जलता हुआ मकान।" (*दैनिक भास्कर (इंदौर) 26 सितम्बर 1989*)

दिनेश ने अपने गीतों में इन्हीं बातों को कल्पना का आवरण देकर यथार्थ की ज़मीन पर खड़ा किया है। इनके गीतों की ज़मीन पूर्णतः मानवीय संवेदना, उसकी ज़िन्दगी से जुड़ी कठिनाइयां, मुसीबतों, तकलीफों, धूप, आंसू, हरारत, रास्तों की थकान, झूठ, छल, फरेब, मक्कारी, अदावत, दोस्ती, रिश्तों की दोमुंही बातें, सपनों की बातें, घरौंदों की बातें, नदी, जो आदमी के अन्दर बह रही है, ममता की, करुणा की, दया की, एक तिलमिलाहट, महानगरों एवं भीड़ का दबाब और इन सबके बीच एक बच्चे की हंसी की तरह, घर की यादें आदि तथ्य-सत्य इनके प्रतीकों की ज़मीन है, उस अनुभव संसार का विस्तृत फलक है जहां इन्होंने सच के साथ-साथ झूठ, अंधेरे एवं रोशनी दोनों को देखा-भोगा है। इन्होंने अपने एक खत में लिखा है कि "ज़िन्दगी के हर सच और झूठ का चेहरा मैंने बहुत पास से देखा है, क्योंकि मेरा अपना बचपन इन सारी बातों का गवाह रहा है, आंसू के दर्द की चुभन, उसकी हरारत, उसकी छटपटाहट, उसकी घुटन मुझे किसी से पूछने नहीं जाना पड़ा, न ही दुःख को पहचानने के लिए मुझे किस्से या कहानियों की किताबें पढ़नी पड़ीं, मेरा अपना लेखन ही यथार्थ के धरातल पर रचा गया है" (*पत्र साक्षात्कार : 2 मई 1988*)।

व्यंग्यधर्मी गीतों में दिनेश के गीतीय संस्कार रचनात्मक प्रतिपक्ष की भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक, सामाजिक अराजकता आज किसी से नहीं छुपी। इस प्रसव पीड़ा को सलोना गीत-शिशु बनाना बड़ा कठिन है, क्योंकि शोषण, उदासी, हताशा, कुंठा आदि का पूरा मानचित्र आज व्यक्ति के ऊपर चस्पां है। व्यक्ति आज चलता-फिरता पोस्टर बन कर रह गया है। इन जीवंत स्थिति-बीजों को सत्य की खाद में ओटा कर दिनेश की भावनाशीलता वैचारिकता को गीत तत्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में घोल कर रसीय बनाती है। वह धूप हो या छाया उसका हर कोण मानव और समाज के बुनियादी सरोकारों का भीतरी संघर्ष उभारता है।

हृदयी अनुभूतियों में वैचारिक ताप मुद्राएं जीवन की जटिलता को पारे-सा बिखेर देती हैं, इसीलिए शंख की ध्वनि तरंगों पर तैरता जीवन कहीं तो तुलसी चौरे पर दीप जलाता है तो कहीं टेसु- पलाश, झरबैरी-फांस, निर्वसन रेत पर कच्ची नींद के सपने बिखर जाते हैं। भूख के आंसू सहेजते पलकों के थाल बीमार इच्छाओं के जाल में उलझ कर प्यार की इबारतों को मिटा देते हैं। उपकरण बना आदमी अंधों के गांव का पाहुन बना दूध धोये दिनों को प्यासी वसीयत बना देता है। स्मृतियों के कुहासे चीरते शरबती सिलसिले भीड़ का चेहरा बन कर दिन के मछुआरे जाल में ही उलझे रह जाते हैं। गुलाबी शोखियां दुःख की टिकुलियों में उलझ कर मूक वनवास की भूमिका बन जाती है। धानी चुनरी, संग सोने की इच्छाएं, वचन के धागों से बंध कर कंगन जरूर खनकाती हैं लेकिन जादुई भ्रम पाले जीवन के दूधिया प्रसंग किताबी दिन बन कर रह जाते हैं। जीवन के इन संदर्भों को परवान चढ़ाते घरौंदे कभी धूप, कभी नदी, कभी बादल होकर नदी को छोड़ गूंगी सदी की मेहर हो जाते हैं जो आश्वासन और धुंधली आशाओं के सहारे काल-चक्र के बीच प्रश्न-सा लटके रहते हैं – अनुत्तरित से। इन्हीं स्थितियों के संवेद्य गीत बिम्ब दिनेश की कलात्मक कशिश है जो युग की समूची तपन को अपने गीत-नीड़ में तिनका-तिनका समेट लेती है। 'समय का परिन्दा', 'भूख के आंसू', 'बेकारी भरे हाथ' आदि ऐसे ही नीड़ तिनके हैं जो गीत-शिशु को छाया देकर युवा कर रहे हैं।

सापेक्षता के धरातल से गुज़रता हुआ इनका गीतीय यथार्थ रूबरू संवाद करता है। यही इनकी गीत जमीन का सच है। यह यथार्थबोधी सच संवेदना ही इनकी गीत-ग़ज़ल प्रतीतियों की रचाव मुद्राएं हैं।

नवगीत का मुख धोती यामुनी लहर : सोम ठाकुर

गीत की विकास यात्रा में नवगीत की एक अलग पहचान कायम हो चुकी है जो इस यात्रा की गरिमापूर्ण पदचाप प्रतीति है। नवगीत की ओर जिन का रुझान हुआ है वे मूलतः गीतकार हैं। राजेन्द्र प्रसाद सिंह, वीरेन्द्र मिश्र, शंभूनाथ सिंह आदि नवगीत के झंडाधारी प्रथमतः गीतकार के रूप में प्रतिष्ठित हो चुके हैं। इसी प्रकार सोम ठाकुर का उदयकाल गीत की झंकार से झंकृत रहा 'जाओ, पर सन्ध्या के संग लौट आना तुम, सेज की शिकन संवारते न बीत जाये रात' - जैसे गीतों ने सोम को लोकप्रिय बनाया। सोम के प्रारम्भिक गीतों की उठान आकर्षक थी। गीत-साधना की संभावनाएं लिए हुए और प्रतिभा का एक शालीन चमत्कार इन गीतों में समाया हुआ था। मंच पर सोम के सुरीले कंठ ने, छन्दों की विविधता और संगीतमयता को नये आयाम दिए। धीरे धीरे सोम का गीत नवगीत की पगडंडी पर मुड़ने लगा। यह एक अच्छा प्रारम्भ और बदलाव कहा जा सकता है। मंच ने सोम का स्वागत किया। सोम का रचनाकौशल, शाब्दिक प्रयोग और अनुभूति की सघनता ने श्रोता को प्रभावित किया। निश्चय ही सोम ठाकुर नवगीत शैली के प्रमुख गीतकार का श्रेय लेने के अधिकारी सिद्ध हुए।

नहीं कहा जा सकता कि क्या कारण रहा कि सोम का गीत-व्यक्तित्व मंच के सुरसा-मुख में समा गया। वह एक व्यावसायिक गीतकार बन कर रह गया। साहित्य में जिस नवगीतकार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की प्रतिष्ठा अपेक्षित थी उसे इस मंच ने निगल लिया। अनुमान किया जा सकता है कि जो गीतकार सन् 60 से पूर्व गीत-रचना में अपनी प्रतिभा की रोशनी से श्रोता को जगमगाहट देने लगा था उस का आज तक कोई संकलन प्रकाश में नहीं आया तो उसमें मंच की व्यावसायिकता ही सब से प्रमुख कारण है। मंच के व्यापारिक लोभ ने इस नवगीतकार की प्रतिभा को कवि-सम्मेलनीय मंच का द्वारपाल बना दिया। मंच के अतिशय व्यावसायिक आकर्षण ने इस सलोने गीतकार के व्यक्तित्व को अजगर सा लपेट लिया, जिस का परिणाम सामने है एक अच्छा-ख़ासा गीत-व्यक्तित्व लुंज पुंज सा मंच गवैया बन कर रह गया। साहित्यिक ऋण को चुकाने की असमर्थता ने सोम ठाकुर की सीमाओं की सार्वज़निक घोषणा कर दी।

कितने आश्चर्य की बात है कि इस प्रतिभाशाली गीतकार की एक पंक्ति तक किसी के स्मृति-भंडार में नहीं है। तालियों की आकांक्षा ने न जाने कितनी प्रतिभाओं को असमय ग्रस लिया। नेपाली, रंग, मुकुल आदि अनेक कवि हैं जो आज उपेक्षा के अन्धकार में अदृश्य हैं। सोम ठाकुर भी उनमें सम्मिलित हो गए हैं। आज मंच ही उनका जीवन है। साहित्य के क्षेत्र में सोम एक प्रकार से अनजाने और अप्रतिष्ठित हैं। किसी आलोचक ने उनकी एक पंक्ति कहीं उद्धृत नहीं की। प्रतिष्ठित होते हुए अप्रतिष्ठित होना अधिक दुखदायी होता है। सोम ने साहित्यिक गीत की प्रतिष्ठा के लिए कभी कोई चिन्ता प्रकट नहीं की। आज तक उनका कोई लेख, वक्तव्य या गीत के बारे में टिप्पणी उपलब्ध नहीं है जो समय की दौड़ में गीत की प्रतिष्ठा के लिए सहायक सिद्ध हो सके। अपने लिये जिये तो क्या जिये - सोम केवल अपने लिए जिये। मंच पर अधिक धन के लिए गीत गाना उनका अन्तिम लक्ष्य है। व्यावसायिकता ने आज साहित्य को जिस प्रकार श्रीहीन किया है, सोम उसी का आखेट हैं। उन के पास साहित्यिक वैचारिकता के लिए समय नहीं है। महत्त्वाकांक्षा की एक सीमा होती है। गीत की प्रतिष्ठा के लिए कुछ बलिदान तो करना ही पड़ता है। गीत के क्षेत्र में कुछ ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्होंने गीत को गरिमा प्रदान करने के लिए अपने स्वार्थ का बलिदान नहीं किया। सोम ठाकुर ऐसे ही गीतकार हैं जिनकी प्रतिभा को मंचीय व्यावसायिकता ने पूरी तरह उदरस्थ कर लिया। आश्चर्य तो यह है कि वे किसी साहित्यिक गीत के अनुष्ठान में भाग लेते नहीं पाए गये। जहां धन है वहां सोम का कंठ है, जहां धन नहीं है वहां उनका गीत निर्धन है। दुःख इसका है कि जो प्रतिभा गीत को प्राण दे सकती थी उस का असमय इस प्रकार निष्प्राण हो जाना क्यों संभव हुआ?

ऐसा नहीं है कि जीविका का कोई साधन नहीं हो सकता था। सोम कुछ समय कॉलेज में प्राध्यापक भी रहे। नीरज और सोम दोनों ही ऐसे व्यक्तित्व हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा का सही दिशा में सदुपयोग नहीं किया। साहित्यिक गीत की प्रतिष्ठा के लिए इन का कंठ और प्रतिभा महत्त्वपूर्ण कार्य कर सकती थी परन्तु इन्होंने इस ओर ध्यान नहीं दिया। नयी कविता के सामने इन के गीत आज कहीं नहीं हैं। आज गीत की दुर्दशा है जिसके लिए इस प्रकार के गीतकार उत्तरदायी हैं। गीत का इतिहास इन्हें क्षमा नहीं करेगा। देह की लिप्सा में इन्होंने आत्मा का निरादर किया। बच्चन ने मंच और साहित्य दोनों को जिया। बच्चन का साहित्य में स्थान है परन्तु आज बच्चनोत्तर पीढ़ी गीत के व्यक्तित्व की हन्ता पीढ़ी है। जो लोग गीत को आज सिनेमाई गीतों से जोड़ते हैं उन्हें उत्तर देने के लिए कौन गीतकार सामने आ रहा है। छन्द, भाव, भाषा और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिल्प के स्तर पर कोई विचार नहीं कर रहा है। गीत के लिए कोई चिन्तित नहीं है। गीत की सुरक्षा के लिए कोई प्रयत्नशील नहीं है। जिस व्यावसायिकता का लोग विरोध करते थे आज वही साहित्यिक वातावरण में व्याप्त है - यह क्षोभ का विषय है। सोम ठाकुर के प्रसंग में यह धारणा और भी सुदृढ़ हो रही है। गीत के सम्बन्ध में विचार करने का अवकाश नहीं है इन मंच के गायकों के पास - यह गीत का दुर्भाग्य नहीं तो और क्या है?

सोम-व्यक्तित्व का यह एक पक्ष है। व्यावसायिक रुझान, साहित्यिक प्रतिष्ठापना के प्रति नकार-दृष्टि के अतिरिक्त सोम में बहुत कुछ सकार भी है।

अन्य गीतकारों के समान ही सोम ठाकुर मंच से पहले जुड़े। सोम की सब से अधिक शीतल प्रवृत्ति यह है कि उन्होंने अपने समकालीन और अपने से पूर्व के गीतकारों को मन से आदर दिया। सोम का गीतोदय पारम्परिक गीत-पद्धति की शिला पर हुआ। वे अपने छात्र जीवन से ही गीत के क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुके थे। संकोच और जिज्ञासा दोनों ने सोम को सोमवत्, मादक और विनम्र बना दिया। गीत के कैशोर्य काल में उन के लिखे गीत अत्यन्त सरल, सहज, उन्मादक और प्रभावोत्पादक थे। सोम ठाकुर गीत की रचनार्धर्मिता के कुशल खिलाड़ी हैं। गीत के गेय रूप को संगीत की विविधता और अनुभूतिमय आरोह-अवरोह का लयमय समन्वय सोम ठाकुर ने ही दिया है। संगीतात्मकता वीरेन्द्र मिश्र के गीतों में भी है परन्तु सोम में रागात्मकता के साथ राग-रागिनी की झलक एक अतिरिक्त और विशिष्ट अनुभूति की स्मृति दे जाती है। सोम का कंठ राग के शास्त्रीय स्वरूप पर ताल के अनुसार नृत्य करता है। यह गीतकार लोक गीतों की धुनों को अपने गीत की लय में ढाल कर गाने वालों में प्रथम हैं। मंच के जो शीर्षस्थ गीतकार हैं उन में सोम की अपनी अलग पहचान है। मंच के सर्वाधिक क्लिष्ट एवं गंभीर गीतकार होते हुए भी सोम ही सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।

सोम ठाकुर अकेले ऐसे गीतकार हैं जिसने गीत को यथार्थ में जिया। गीत के बल पर उस ने सारा देश घूमा, विदेश यात्राएं कीं। सोम के जो गीत सहज-सरल रहे वे ही प्रसिद्ध हुए। 'सौ-सौ नमन करूं' देश प्रेम और भारतीय संस्कृति का मधुर परिचायक गीत काफ़ी लोकप्रिय हुआ।

सोम के प्रकाशन पक्ष को यदि छोड़ दिया जाए तो उनके गीत लेखन में अविराम सक्रियता है। गीत-निरन्तरता को जीते हुए सोम ने नये गीतीय प्रयोग किए। समकालीन यथार्थ का एक नुकीला दंश देखिए –

"समय के पृष्ठ पर हमने लिखी थीं/ छबीले मोर पंखों से ऋचाएं,
सुनी थीं इस दिशा से उस दिशा तक/ अंधेरों ने मशालों की कथाएं,
हुए हैं बोल अब दो कोड़ियों के/ कलम हीरे जड़े दिखने लगे हैं
हुआ होगा कहीं ईमान महंगा/ यहां वह बिक रहा नीची दरों पर,
गिरा है मोल सच्चे आदमी का/ चढ़ा ऐसा ज़हर सौदागरों पर...।"

(सण्डे मेल : 16 दिसम्बर 1990)

भाषा, भाव और छन्द इन तीनों शैलियों में सोम की विविधता उल्लेखनीय है। यश, प्रतिष्ठा और सम्पन्नता तीनों ही संभ्रान्त गुण सोम में हैं। यह सोम के विशिष्ट गुणावच्छिन्न व्यक्तित्व

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आकर्षण है और कृतित्व की स्वीकृति भी कि उन के अनेक गीत असामान्य होते हुए भी गंभीरतापूर्वक सुने जाते हैं। उनका यामुनी लहरों सा कंठ-गीत स्वर ऋजुता की बाहों में लहराता है। उस गीत का तात्कालिक प्रभाव बहुत गहरा होता है। नवगीत की अतिशय प्रयोगात्मिक वृत्ति उसे साधारण तक नहीं पहुंचने देती। सोम की कल्पना शक्ति और चित्रण शैली अत्यन्त चमत्कारिक है। ब्रज की धरती पर जन्म लेने के कारण उनका स्वभाव उनके गीतों में रूपायित हो गया है लेकिन यथार्थ विमुख नहीं –

"नजरिये हो गये छोटे हमारे/ मगर बौने बड़े दिखने लगे हैं,
जिये हैं जो पसीने के सहारे/ मुसीबत में पड़े दिखने लगे हैं,....
मुनादी द्वारका ने यह सुना दी/ कि खाली हाथ लौटेगा सुदामा,
सुबह का सूर्य भी रथ से उतर कर/ सुनेगा जुगनुओं का हुक्मनामा,
चरण जिन के सितारों ने छुए वे/ कतारों में खड़े दिखने लगे हैं...।"

(सण्डे मेल : 16 दिसम्बर 1990)

दम घोटती यथार्थ की इन नुकीली स्थितियों के बीच सोम का विश्वास-बिरवा पथरीली चट्टान को फोड़ कर बुलन्दी से संकल्प-शीश उठाता है। नयी कविता को गीतीय तरलता देने के लिए वह सप्तकों की गांठों को खोल कर कविता की बौद्धिक कलाई में हदय के हरे गुंजनों की मौलि बांध कर सभ्यता के नये गीत द्वारों का आचमन करता है। वंशी-समर्पित कड़वाहटों के बीच वह घोषणा करता है –

"आज कड़वे आचमन के बाद/ वंशी को समर्पित हैं,
भरी आंखें, सहमते गीत, भारी मन।
ये हमारी मुक्त चन्द्रा -घाटियां हैं/ प्यार का संवाद इस में सांस लेगा,
सभ्यता के द्वार महकी रोशनी को/ एक अनहद नाद फिर विस्तार देगा,
खोल देंगे सप्तकों की गांठ/ पीली सरगमों के आंचलों में
बांध देंगे हम हरे गुंजन/ आज कड़वे आचमन के बाद।"

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 24 - 30 नवम्बर 1995 : पृ. 5)

वह जानता है चारों दिशाओं में भ्रमर गुंजन करती भ्रान्तियों ने धर्म, मज़हब का दूध निचोढ़ लिया है। मानस-कलश संस्कृति से पूरी तरह रिक्त हो चुके हैं। पाश्चात्य आकर्षण में भारतीय 'सगुन' ढकोसलों की सूली पर ईसा की तरह चढ़ा दिए गए हैं। वैचारिक चिन्तना पंगु है क्योंकि सामाजिक मानचित्र पर अविश्वास, अनास्था, अनिश्चय के काजर धब्बे लगे हैं। ऐसे में सगुण, कलश की बात कैसे होगी –

"यहां पर मजहबी अंधे कुएं हैं/ यहां मेले लगे हैं भ्रान्तियों के,
लगी है क्रूर ग्रहवाली दशा भी/ मुहुरत क्या निकालें क्रान्तियों के
सगुन कैसे विचारें मंजिलों के/ हमें खाली घड़े दिखने लगे हैं...।"

(सण्डे मेल : 16 दिसम्बर 1990)

ऊपर से समय की नब्ज़ कहती है –

"...पपड़ाये से होंठों पर जम कर रह गये
हरे आश्वासन, नीली बातें.....।" *(नवगीत दशक - 1 : पृ. 34)*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि –

"तिरछी रेखा, कांटे उलझी चितवन/ गुज़र गया एक और सर्पीला दिन...।" (*पृ. 34*)

और फिर –

"पुल से, चौराहों से गुज़रती नज़र ने/ बोया थर्राता भटकाव....।" (*पृ. 33*)

इस नियतिबोध को जीता आज का कच्छप समाज सोम के गीतों में अपनी बिसात बिछा कर खूब खेला-छका है। इन जीवन्त गीत-बिम्बों में जीवन की रिक्तताएं अवरोध बन कर दीवार सी खड़ी हो जाती हैं। बंद हवा देह-पसीने के छन्दों को गुनगुनाहट दे तो कहां से दे क्योंकि चिनी हुई दीवार की तरह चप्पे चप्पे पर परत-दर-परत उमस बिछी है। इस के बावजूद सोम का गीत मन जीवन के खण्डित इन्द्रधनुषों को उठा कर इस्पाती भाषा में कमान खींचता है, बूंद बूंद गल कर हिमनदी सरीखा भीड़ के बीच से बहता है। सोम के इसी गीत मिज़ाज ने उसे जनीय चेतना से जोड़ा है।

सोम के गीत/नवगीत बुद्धि और भावना का सन्धि-पत्र है। इन के व्यक्तित्व -कृतित्व में मर्यादा और संतुलन एक दूसरे से होड़ करते चलते हैं। अपने गीतीय आचरण एवं यथार्थ की कड़वाहटों को तरल करती मिठास के कारण इन्होंने गीत को एक नयी ज़मीन देने की कोशिश की है लेकिन इनकी गीत व्यवसायी दृष्टि ने इन्हें पिछली पंक्ति में धकेल दिया। संगीत लयी भीगी-भीगी द्रवणशील भाषा, हृदय को आसन देती बौद्धिक अभिजात्यता, युगानुकूल तेवर खरोंचों को भाव बद्ध करती गीतीय मानसिकता, कवित्त-सवैयों की रीतीय रंग छटाओं आदि के कारण 'पांच जोड़ बांसुरी' के एक प्रमुख गीतकार के रूप में इन्हें प्रतिष्ठित आसन मिला।

मर्यादा और संतुलन के बीच एक पतली सी डोर पर नटी से झूलते इनके गीत बड़े धैर्य के साथ अपने अर्थ खोलते हैं। वे चाहे प्रणय की अठखेलियां हों अथवा लयाश्रित मन का आवेग लेकर फूटता युग-चिन्तन का लावा। शब्द की आत्मा तक पहुंच कर कवि अपने मन की मंद आंच में पका कर उसे गीतीय घुलनशीलता देता है तब बोल बड़ी शालीनता के साथ प्रणय के स्मृति द्वार के झरोखे खोल कर ताज़ी खुशबू को मौन आमंत्रण में बांध लेते हैं। प्रणयी मन की कौंचन सुग्गा-सुग्गी हो जाते हैं –

"नीले इस ताप पर/ झूल गया सूर्यमुखी फूल
उलझी है एक याद/ बरगद की डाल पर।" (*पृ. 37*)

ताल की ठहरी ठिठकी लहरों पर आकृति पाता सलोना रूप स्मृति बंध में बंध कर सूर्यमुखी हो जाता है। प्रणयी मन में पिघलता पारा निरंकुश हो कर रगों में दौड़ने लगता है। रक्त-रगों में दौड़ता प्रणय का अरबी घोड़ा नसों को तान कर नील ताल बना देता है। बरगद से उतर कर उलझी हुई स्मृतियां कस्तूरी रात का गीत बनने को झनझनाने लगती है –

"रूप तुम्हारा/ मन में कस्तूरी बो गया।
मन जाने क्या से क्या हो गया....।" (*पृ. 38*)

झन्नाती पोरों के बीच सुगबुगाती, तिनका तिनका नीड़ रचती प्रणय वीचियां देह-कवच में अलाव सुलगा देती है। इस सुलगन में रोशन बिंधी किरनें अंग अंग चिपक कर 'भूमा' हो जाती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। उर्वशी अर्थों की गांठें खुलती हैं, छिद्र-छिद्र में बसी चहकन चिड़िया सी फुदकने लगती है-

"एक पर्त्त झन्नाहट की फैली/ अंग अंग चिपक गयीं नज़रें।
एक पोर-भर चेहरा छू कर यह तर्जनी/ ले आयी आदमक़द ख़बरें।
तकिये पर टांक कर गुलाबों के संस्मरण/ रोशन बिंधा बादल
कंधे पर सो गया।" (*पृ. 38*)

'सुर्ख़ सुबह, चम्पई दुपहरी, मोर पंखिया शाम, रंग-रंग से लिख जाता मन, पत्र तुम्हारे नाम!' (*पृ. 35*) से शुरू यह यात्रा बाहों के घेरे भरती, देह-मन में उतरती धुनी हुई तैरती रुई हो जाती है –

"फिर मन आषाढ़ हो चला/ तैरती रुई धुनी हुई...।" (*पृ. 33*)

वियोग पलों में यात्रा प्रतीक्षा हो जाती है –

"खिड़की पर आंख लगी देहरी पर कान...।" (*पृ. 36*)

और फिर –

"मन्दिर के कलशों पर/ ठहर गई/ सूरज की कांपती थकान...।" (*पृ. 36*)

वर्जनाएं मन की गीत-आकृति को बेरंग करती हैं। चहकती शाखाओं पर फुदकता खग जीवन प्रकृति की धूप-छाया में मुक्ति-पर्व मनाता है। प्रकृति की इन आकृतियों में लकीर दर लकीर समाया मनुष्य जीवन अपनी परछाईंयों को समेटता, गीत बनाता, चहकती शाखाओं को सर्गबद्ध करता उन व्यथा-छन्दों की पैरवी भी करता है जिसके बिना जीवन के अनुच्छेद अधूरे हैं। इसीलिए शाखायें नंगी होकर रोती हैं, पत्र पीत पड़ कर झरते हैं, पुनः अंकुरित होकर शाख-शाख पर नृत्य करते हैं लेकिन जड़ें शीत-ताप सह कर भी अपना रस देती रहती हैं। जीवन की इस प्रकृति लीला से मनुष्य अलग कहां है। प्रकृति का पूरा आचरण मनुष्य की भावभूमि है। इस भावभूमि की चटकनों और शोख शरारतों को लेकर सोम मनुष्य-मन को प्रकृति के रंगों में घोलते हैं। इस रंग-घुलाव के सौन्दर्य सुरभित जीवन बिम्ब इनके गीतों का संस्कार कर मन के ताप को बांध कर रंगरेज हो जाते हैं। सांस-सांस को खुशबू बनाते ये प्रकृति बिम्ब मनुष्य और प्रकृति को पूरक बना कर एक-दूसरे में उतर जाते हैं –

"जो कुछ भी कहा-सुना झरनों की धारों ने
पथरीले ढालों पर सूनापन सुना गया
गन्धवती शाखों से उलझा-सा मुक्त पवन
ध्वनियों के रेशों से नया चित्र बुना गया
कब तक मन बंधा रहे जर्जर सीमाओं में
परम्परित कारा में बन्द रहे सांस भी/ खुले-खुले मैदानों में
बन्ध-मुक्त राहों में/ तुम को छू जाय मंगल चेष्टा की गंध
स्वीकृत वर्जना की गंध।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 109*)

'तुम जो मन छू कर भी अनछुए रहे, तुम को छू जाए मेरी आस्था की गंध' (*पृ. 109*) जैसे गीत कवि की कोमल वृत्ति के सूचक हैं। वे अंगार तो पकड़ना चाहते हैं लेकिन चिमटे से। इनकी रचनात्मकता में शिवत्व का संकल्प तो है लेकिन उसके लिए इन्हें लावायी प्रवाह अनपेक्षित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इन्होंने नगरीकरण के अत्याधुनिक चिन्तन को एकतरफा गाली नहीं दी। अतिबौद्धिकता का कवच ओढ़ कर नगर को तिहाड़ बनाने वाले कवियों के जमघट के बीच इन्होंने गांव के यथार्थ को बहुत नज़दीक से पहचाना है। गांव में राम राज्य की परिकल्पना इनके गीतों में नहीं है। जो अभाव, कुरूपताएं, जटिलताएं, अजनबीपन, शून्यता, मूल्य-टूटन नगर में है कमोबेश वह गांव में भी है। अतः गांव को ऊंचा उठा कर नगरीयकरण पीड़ाओं को झुठलाना इन्हें स्वीकार नहीं। पीड़ा गांव की हो या नगर की एक-सा कष्ट देती है। परिस्थितियां अलग हैं। स्थिति सत्यों की जटिलताएं मानव जीवन को टीसती गांठ बना रही हैं वह चाहे शहर में हो अथवा गांव में।

सोम ब्रज और खड़ी बोली के साथ साथ उर्दू, बंगला, गुजराती भाषाओं के अच्छे जानकार हैं। वह सुपठित गीत कवि हैं। शब्द की शुद्धि और छन्द के बंधन को सहजता देने के लिए कवि का गीत मन सदा आतुर रहा है। उन का प्रत्येक गीत एक नया वस्त्र पहन कर आता है। कवि गीतकार ने गीत, नवगीत, कवित्त, सवैया, दोहा, ग़ज़ल अनेक छन्दोबद्ध विधाओं में नए नए प्रयोग किए हैं। कवि की गीत-प्रतिभा प्रशस्य है। इन की रचनाएं मानव के हृदय को द्रवित करने वाली हैं। इन गीतों में दर्शन है, तर्क है, आध्यात्मिकता है, प्रेम और वासना है, प्रकृति है और जीवन के विशिष्ट क्षणों की तरल अनुभूति की झंकारती गूंज है। इस गूंज में मानवीय अर्थवत्ता की गुंजाइश सदा बनी रहती है –

"फिर हमारी ही प्रतीक्षा में कहीं पर/ अनमने श्यामल गुलाबों के नयन हैं,
फूटने को हैं कहीं अंकुर नुकीले/ पत्तियों के अनसुने रेशम वचन हैं,
बांट देंगे हम अनन्त वसन्त/ फिर से रोप देंगे/ एक नन्दन वन, सघन
आज कड़वे आचमन के बाद...।" (*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 24 - 30 नवम्बर 1985, पृ. 5*)

सोम के गीतों में यथार्थ जीवन की कटुता, विषमता, विसंगति, सांस्कृतिक हीनता, अराष्ट्रीयता, नेतृत्व की चरित्र हीनता, मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन आदि से उत्पन्न पीड़ा का गायन है। अनेक रंगों का पुंज जीवन इनके गीतों में अनेक प्रभाव-पिचकारी छोड़ रहा है। गीत की प्रस्तुति जितनी महत्त्वपूर्ण है उतना ही महत्त्वपूर्ण लेखन है। सोम ठाकुर के गीत नये जीवन की नयी अनुभूतियों को तराश कर रखने में सिद्धहस्त हैं। इन्होंने संघर्षपूर्ण स्वाभिमानी जीवन जिया है। कवि की काव्य-कला कलात्मक चिन्तन का प्रतिफलन है। वह एक जागरूक गीतकार हैं। समस्त रचनाओं के संकलन प्रकाशन से कवि के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का सम्यक् आकलन संभव है। अपने गीतों से सम्बद्ध शोधार्थियों के प्रश्नों के उत्तर देने का उनके पास समय नहीं है क्योंकि वे शायद व्यस्ततम यथार्थवादी गीतकार हैं। हमारा देश सांस्कृतिक धरोहरों का प्रकाश पुंज है। यहां सांस्कृतिक उत्सवों में कवि-सम्मेलन का रिवाज़ हो गया है। मंच पर आजकल मजमेबाज़ ज्यादा जमे हुए हैं परन्तु उनमें सोम ठाकुर अपनी गरिमा सुरक्षित रखे हुए हैं। समाज में सांभ्रान्तिक प्रतिष्ठा के लिए भी व्यस्तता आवश्यक हो गई है। इस कठिन वातावरण में भी सोम अपना गीत पोषित कर रहे हैं - यह स्तुत्य है।

औरों की तरह सोम भी फ़िल्मों की ओर थे। उन्होंने वहां के स्वभाव को शीघ्र पहचान लिया। वे शायद बदनाम हो कर नाम नहीं कमाना चाहते थे। सोम ठाकुर की गीत-गंगा ने नवगीत का मुख धोया है, उसे श्रृंगारित किया है। ऐसा लगता है वे गीत की सहजता की ओर मुड़ रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शैल्पिक दृष्टि में सोम में नव्यता एवं ताज़ापन है। इन में एक ऋजुयी मौलिकता का अनूठापन है। शब्द संयोजन, छान्दसिक लयात्मकता, लय-ताल का संयोजन-संतुलन सामने बैठ कर बतियाता है। इस बतियाने में एक गीतीय मस्ती है जो इन्हें काफी समय तक जीवित रखेगी।

धूपसुर्खी सकार संघर्ष : हरीश भादानी

हरीश भादानी के गीतों में जनवादी वकालत है। उनके अनुसार "मेरी कविता ने शोषण और जंग के विरुद्ध लयात्मक स्वरों में सर्वहारा वर्ग की विजय और विश्व शान्ति की आकांक्षा को व्यक्त किया है।" इनके आक्रोशमुखी तेवरों में जनवादी मुद्राओं का नर्त्तन इन्हें जनसामान्य के बीच प्रतिष्ठित करने वाला है। इनके संस्कारों का रुझान ही जनवादी है। जनवाद इनकी सकारता का मूल्य-बोध है। यही कारण है कि हरीश के लिए जनवाद आदर्श स्वप्न है। इनकी गीत कल्पनाएं जनवाद के यथार्थ को साकार करने वाली हैं। जनवादी चेतना इनके लिए उत्सव से कम नहीं। धमनियों में संचरित् रक्त जनवादी ताप में पिघलता और गर्म होता है। इन्होंने ईमानदारी से जनवाद को पहना, ओढ़ा, बिछाया और जिया है।

युग को समकालीन आधुनिकता देने वाले आन्तरिक संवेगों और बाह्य यथार्थ के निकटतम परिवेश में होने वाली विवेकात्मक अभिव्यक्ति ही इनके गीतों की रचना-प्रक्रिया है। रचनाकार की यह सहज जीवन विधि है और यही युग की आधुनिकता भी। इनके गीतों ने काव्य की व्यापकता से लेकर वैयक्तिक भावुकता और क्रियाहीन पीड़ाओं की सीमित सीमाओं का अतिक्रमण किया है। परिवेशगत अनुभूतियों को सान्निध्य की भाषा दी है (*गीत - 2 : पृ. 2*)। इनके गीत इनकी साक्षी देते हैं। आन्तरिक संवेगों और बाह्य यथार्थ के बीच इनका रचनात्मक गीत विवेक भीतरी घनत्व को द्रवीय बना कर व्यापक सन्दर्भों में रूपायित करता है। 'दुःखता मन' की गीत-प्रतीतियां विस्तार पाकर टीसती हैं –

"सुबह सुबह/ आकर चुभती हैं पिनें धूप की/ क्या बोलें दुःखते मन से
सौ-सौ मुंह उगला करती हैं धुवां चिमनियां
क्या देखें घर आंगन से/ जली-जली रहती हैं सड़कें
कोलतार की/ क्या बच लें इस आंगन से
डुबो लिया करता कोलाहल/ संबंधों को/ क्या खोजें अपने पन से
सुई सिया करती सन्ध्या की/ अंधियारे से/ क्या बोलें बींधे तन से।" (*पृ. 33*)

जन-जीवन से जुड़ कर ही रचना सार्थक होती है। जनबोध का अभाव रचना को पिछली पंक्ति का बना देता है। इसके बिना गीतों/कविताओं को सार्वज़नीनता की संज्ञा नहीं प्राप्त होती। इसीलिए जनवादी सोच में प्रणय का आत्मीय-दखल बढ़ा। यद्यपि जनवादी कवियों ने प्रेम के प्रति सामान्यतः असहमति जतायी है लेकिन अनेक गीतकारों ने फिर भी हृदय के रागपक्ष को प्रधानता दी। खास तौर पर उनकी प्रेमानुभूतियां और संवेदनाओं के मध्य उपजे विषाद, दुःख, व्यथा का प्रमुख कारण यही रागरंजित प्रणय है –

"कौन आया था पहले सपन की गली/ कौन आगे चला, कौन पीछे चला
सिर्फ इतना सिखा चल पड़ी लेखनी/ प्यार पीछे जगा, पीर पहले चली।" (*सपने की गली*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भादानी एक अन्य स्थान पर अपनी प्रेम पीड़ा को और भी स्पष्ट कर देते हैं –

"ये सब व्यापारी हैं, सूदखोर संगदिल हैं/ मेरी इस पीड़ा के आदमी
मेरी कविते! ये तो मोहित भरी उमर पर/ इन से कहीं ठगी मत जाना।"

'सपन की गली' की मर्मान्तकता प्रेम-निषेध में नहीं है अपितु उन सारे सपनों के विच्छिन्न हो जाने में है जिनके मूल में यह क्रूर असमतावादी व्यवस्था है, स्त्री भी जहां एक जिंस हो गई है (*मधुमती : मार्च 1982*)। संवेदनशील चिन्तन में मानव सरोकारों के निश्चित अंश समाज को उत्कर्ष की ओर ले जाते हैं। हरीश भादानी के गीत-सरोकार मानवमुखी हैं। मानवत्व और उसकी वैचारिक आस्था को भादानी के गीत पुख्ता करते हैं। प्रेम-आशयों को अर्थपूर्ण बनाना होगा। हरीश भादानी के गीत मानव-मूल्यों के संरक्षक मानवीय प्रेम के उद्घोषक, प्रेम के प्रति अटूट आस्था के गीत हैं। इन गीत-अहसासों में आत्मा की झंकृति है। इनके प्रेम में डूब-गहराई है सतही भावुकता अथवा बाह्य समर्पण-बोध नहीं। यही कारण है कि 'सपन की गली' का प्रेम पूर्ण दिव्य समर्पण व्यक्तिगत दायरों को उलांघ कर मानवीय कल्याण की रचनायित स्मिति लीक खींच देता है। इनकी प्रेम-अनुभूतियां विवेक छाज में छन कर संयमित आचरण करती हैं। इस प्रेम-विस्तार में 'तुम' और 'मैं' नहीं सभी शामिल हैं –

"धूप की झील में/ तैरती हरकतें/ सामने एक तट
एक तेरे लिये/ एक मेरे लिये/ हम सभी के लिए।" (*गीत - 2 : पृ. 33*)

इनका प्रेम आंचल में आग बांध कर तपता है। क्षण-क्षण धूप पीती बतियाती भाव-छवियां जब अन्दर उतरती हैं तब समर्पण की समाधि अद्वैत होकर अन्तर्नादीय टंकार करती हैं –

"हर एक क्षण/ हर सांस के युग्म ने तोड़ दी
काली बर्फ को बुर्जियां/ सिर्फ तेरे लिए।" (*पृ. 34*)

प्रेम के ये आन्तरिक संवेग बाह्य संघातों को एकरस कर लेते हैं और सब के हो जाते हैं।

'नष्टोमोह' में हरीश ने अपने शब्द-कुठार से असद् असामाजिक अमानवीय अराजकता के जाल को काटा है। समाज में व्याप्त इस प्रकार की अमानुषिकताएं आदमी को भीतर-बाहर दोनों तरफ से खोखला करती हैं। कवि की रचनाशीलता गीतायित होकर इस बाधक परिवेश के विरुद्ध शंखनाद करती हैं –

"न रगड़ो तुम भी/ चकमक पत्थर मुझ पर/ नहीं दो अपने हाथों
किसी ईंधन की/ हवि मुझे/ बस फूटने को ही है
मेरे भीतर से एक ज्वालामुखी।" (*नष्टोमोह*)

आत्मालाप शैली में रचित इन गीतों/ कविताओं में सत्ता-विरोध की संघर्षमुखी आक्रोश-प्रतीतियां हैं। पूंजीवादी शासन से कवि का मोह भंग हो चुका है। इसीलिए वह शोषण, अनाचार और अन्याय के विरुद्ध गीतों को शंख बना कर ज़ेहाद छेड़ना चाहता है –

"अपनी महारत के जुए में/ जकड़े रहने वाले परम भटट्रिको सुनो
नष्टोमोह स्मृति लर्ब्धता/ त्वत्प्रसादान्मया च्युत
स्थितोऽस्मि गत सन्देह/ करिष्ये वचनन्तव।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'खुले अलाव पकाई घाटी' रचना व्यवस्था-बदलाव के स्वर बीजती हैं। संघर्ष उठान के भावनात्मक खेत-खलिहानों में पसीना गाता है। दाने बजते हैं, शोषण की मंडी में बिकने से इन्कार कर देते हैं। इसीलिए गीत हरीश भादानी के लिए सर्वाधिक उद्‌बोधक मंत्र हैं क्योंकि ये मुर्दों में भी प्राण फूंक सकते हैं –

"बन्दूक ने बन्द किया/ जब-जब भी जुबानों को
जज़्बात ने हरफों के सरवाज़ उठाए हैं।" (*खुले अलाव पकाई घाटी*)

जनान्दोलनों से जुड़ कर ही मनुष्य सत्ता से टकराने का संकल्प और अपने अदम्य जीवट को पहचानता है। आधुनिकीकरण की औद्योगिक संस्कृति ने मजदूरों की ज़िन्दगी नरक कर दी है। उनकी स्वप्न-सृष्टि को चिमनियों का धुआं काजर की कोठरी बना चुका है। देह-रन्ध्र में नीड़ बसाये न जाने कितनी अनाम व्याधियां शरीर मिल का चक्का जाम करने को हर समय तैयार रहती हैं। हड्डियों को जंग खा चुकी हैं, फास्फोरस, चर्बी को जोंक बन कर साहूकार सेठों ने चूस लिया है। इसके बाद भी उनकी शोषण, सभ्यता बेदाग है, चिमनियां उसी प्रकार उनके लिए काली करैन्सी छाप रही हैं। भादानी के गीत इस सफेद पोश शतरंज पर बिछे स्वेद-रक्त का हिसाब मांगते हैं, दमन के क्रूर चक्र को उल्टा घुमा कर सामरस्य समता की वकालत करते हैं –

"मेहनत खा सपने खा/ चिमनियां धुआं थूकें/
तन पर बीमारी के पैबन्द लगाए हैं
दानिश मन्दो बोलो/ ये दौर अभी कितना/ अपने ही धीरज से हर सांस अघाए हैं।"

(*खुले अलाव पकाई घाटी*)

कवि जानता है यदि यह चक्र नहीं रुका तो मिलें इसी प्रकार चलतीं रहेगीं लेकिन कागजों में श्रमिकों के नाम पदल जाएंगे। घुटती सांसें श्रम के व्यवसायीकरण के सामने समर्पण कर देंगी या काल-अंक में समा जाएंगी। इसीलिए वह चेताता है –

"हवा हदें ही बांध गई है
सन्नाटा न स्वरा पाएंगे/ यह ठहराव न जी पाएंगे।"

इनके गीत स्वरों में शोषण और वैषम्य के प्रति सकार संघर्ष है जिसके सहारे हरीश के गीत-संस्कार सर्वहारा वर्ग तक पहुंचते हैं।

'अधूरे गीत', 'नष्टोमोह' का अगला कदम है। इसमें भी वर्त्तमान सामाजिक राजनैतिक, आर्थिक व्यवस्था के प्रति तीखी आक्रोश मुद्राएं हैं। यहां कवि चिन्तन यथार्थ के और नज़दीक आकर अपना निष्कर्ष देता है कि बिना सर्वहारा वर्ग की विजय और सत्ता पाये यह शोषण चक्र कभी नहीं बन्द होगा। सत्ता में भागीदारी के बिना शांति तथा मैत्री की कल्पना दुष्कर और हिमालय लांघने जैसी है। प्रणय की भाव-वीथियों ने भी इस संग्रह को खुशबू दी है। जीवन यथार्थ का यह तरल रूप 'सपन की गली' से होकर तलस्पर्शी कसावट के साथ धूप की सुर्खी और चांदनी की कनियां लेकर मुखर बिम्ब हैं। इन प्रणय व्यञ्जनाओं ने हृदयों के बीच पुल निर्मित किए हैं।

'उजली नज़र की सुई' के गीतों में वैचारिक परिवर्त्तन के संघर्ष-बीज हैं। इस संग्रह में कवि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की वैचारिक रचनाशीलता चिन्तन को पैना करती है। भावात्मक चिन्तन की ताज़गी लेकर कवि गीत की बुनावट, भाषा, शैल्पिक आचरण को युग बोध से जोड़ कर परखता है। जन के नज़दीक आने के और उसमें पैठने की ये नई कोशिशें कवि के ईमानदार आशयों को अनुपातन स्पष्ट करते जाते हैं और कवि की रचनाशीलता निखरती जाती है। रचनाकार युग जीवन से जितना जुड़ता जाता है उसकी पैठ उसकी पकड़ उतनी ही गहरी होती जाती है। इस पैठ और गहराई की तुलना में उसकी भाषा और अन्य शैल्पिक उपकरण युग भंगिमाओं को अपनी सामर्थ्य से घेर लेंगे। कवि का दृष्टि बोध यही है जिसको वह अपने रचना-आचरण में प्रमाणित करता है - "वैयक्तिक पृष्ठभूमि से जुड़ा-जुड़ा मैं कविता के शब्दों को खोजता रहा हूं। इस खोज में सामाजिक प्रतिकूलताओं से लड़ते रहने का आक्रोश और यदा-कदा की थकन भी रही है तो वैयक्तिक व्यामोह भी, किन्तु जीने के लिए मिल रहे यथार्थ का सुलगता रंग, उसकी आंच, उसका आकर्षण मुझे व्यामोहों के भावोन्मेष से खींचता रहा है, तपाता रहा है, निकटतम परिवेश की स्थिति जन्य सापेक्षता में जीने के तकाज़े करता रहा है और मेरी सम्पूर्ण चेतना पर इन तकाज़ों के हल्के गहरे दाग लगे हैं जिन्हें उजली नज़र की सुई ने गहरे तक बींधा है" (*उजली नज़र की सुई : पृ. 3*)। इसीलिए कवि नव्य प्रतीक बिम्बों के रचाव-गढ़ाव में सहज होता गया है। आधुनिक युग की पूरी झुंझलाहट उसके गीत-बोध में समा जाती है –

"आग धरती से उठे/ घाटियां घूमते पर्वतों को छुए
मेरा भी किसी फल के लिए/ अक्षरों की ज़िन्दगी तेरे लिए।" (*पृ. 38*)

मनुष्य-जीवन आज महानगरीय विभीषिकाओं-विसंगतियों में उलझ कर रह गया है। सहजता-सरलता युग परिस्थितियों की भेंट चढ़ गयी है। इसीलिए युग की लचक बोध को समोने के लिए नए बिम्ब प्रतीक तो गढ़ने ही होंगे अन्यथा अभिव्यक्ति में बिखराव और टूटन फुसफुसा कर पानी के बुलबुले की तरह फूट जाएगी। हरीश भादानी कथ्य, वस्तु, भाव विचार, शिल्प आदि सभी दृष्टियों से पूरी तरह सचेत हैं। इसीलिए वे आधुनिक संवेदना को बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप में प्रस्तुत करने के लिए नए-नए प्रतीक गढ़ते रहे हैं –

"हम तराशे जा रहे हैं/ नई सड़कें/ नये सम्बन्ध
आंकते ही जा रहे हैं/ नई संभावनाएं।" (*सुलगते पिण्ड*)

'रोटी नाम सत है' विशुद्ध जनवादी गीत-संग्रह है। इसमें लोकगंधी चेतना, जनसाधारण के भाषायी तेवर, सहजता, सम्प्रेषणीयता, पौराणिक संकेत, लोकप्रचलित रूढ़ियां, लोकध्वनियों, लोक-प्रतीकों-शब्दों के माध्यम से कवि के अन्तर्मन का विस्फोट अपने तेवर बदलता जाता है। व्यवस्था के प्रति विद्रोह को इस संग्रह में एक नयी पहचान मिली है। 'बोल मजूरे बन्द' (*रोटी नाम सत है*), 'बोल मजूरे हइसा-हइसा', 'ये राज बोलता-ये सूराज बोलता' आदि लोकधुनों पर आधिरित गीतों में हरीश भादानी ने 'रोटी की लड़ाई' को प्रमुख रूप मे केन्द्रित किया है। सत्ता में मजदूरों की भागीदारी लोकतन्त्र की काली करतूतों को समझते हुए समूची तथाकथित लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अभेद्य दुर्ग को ध्वस्त करने का संकल्प इन गीतों की प्रकृति में है -

"सारे भूखों को न्यौता दे दे
एक फौज बन जाने का व्रत ले ले।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सरकारों का कुम्भकरण-सा सोते रहना' में पौराणिक प्रतीक की सुन्दर नियोजना है। (*नवगीत : जून 1971 : पृ. 44*) कवि विवेक संतुलित भावाभिव्यक्ति को अपनी गीत प्रक्रिया से जोड़ कर देखता है और यह उसकी रचना-प्रक्रिया का प्रमुख कौशल है। संक्षिप्त, लघु टेक पंक्ति युक्त लोकधुनीय गीत प्रभावशाली और आकर्षक हैं।

हरीश भादानी में अभिव्यक्ति का कलात्मक संयम है। जनवादी चेतना कोरे नारों से बच कर जिन सकार मूल्यों की वकालत करती है भादानी के गीत उसे संतुलित होकर बांधते हैं। वे उन मुहावरों से बचे हैं जो प्रचार की गंध देते हैं। उनका प्रणय दर्शन हो अथवा उनकी सामाजिक सरोकारीय मूल्य चिन्ता वह सब जगह लीक खींचते चले हैं। आधुनिक जीवन और युगीन छटपटाहटों को व्यक्त करने के लिए यदि उन्होंने नये प्रतीक-बिम्बों को लोक अंचलीय रस में पकाया है तो दूसरी ओर भाषा को भावानुकूल तपाया-गरमाया भी है। लय और ताल जुड़ावभरी ललक से एक-दूसरे को ताकती है। अनेक गीतों में हालांकि बिखराव-विखण्डन है जो लगभग कविताएं हैं या उनके नज़दीक है। लेकिन हरीश के जनवादी संस्कार उन्हें यात्रा की रचना प्रक्रिया में ही साध लेते हैं। इनके गीत शोषण वैषम्य के विरुद्ध सत्ता को कड़ी चुनौती देते हैं। सर्वहारा वर्ग को नवीन चेतना का दर्शन देकर इन्हें संघर्षमुखी बनाते हैं। वर्ग-संघर्ष की आक्रामक मुद्राएं गांठ नहीं बनतीं अपितु खुल कर अपने आशयों को अतिबौद्धिकता से काट कर तरल कर लेती हैं। इसीलिए उनका आह्वान भी यथार्थ की तल्ख़ आक्रमकता के बावजूद द्रवीय जलधारी है-

"पढ़ गये हैं वक्त की भाषा
आज तक अनपढ़ रहे ये लोग।" (*रोटी नाम सत है*)

हरीश भादानी को जनवादियों का तथाकथित गुटीय कठमुल्लापन नहीं बांध पाया, इसीलिए इनमें अभिव्यक्तिगत नेकी भी है और विस्तार की ललक भी। इनके जनवाद में दुराग्रह कम रचना ज्यादा है इसी वजह से ये जनवादियों की भीड़ में बुलन्द हैं।

कांवर भर धूप : नारायण लाल परमार

'कांवर भर धूप' और 'रोशनी का घोषणा पत्र' नारायण लाल परमार के प्रकाशित काव्य-संकलन हैं। 'चलो गीत गाएं' एवं 'बचपन की बांसुरी' (शिशु गीत संकलन), 'झूम झूम कर गाए गीत' और 'धरती हिन्दुस्तान की' इनके सम्पादित गीत संकलन हैं।

इनकी रचनात्मक पहचान का काव्य चिह्न है 'कांवर भर धूप'। सामाजिक ऐंठनों के प्रति आक्रोश, रिक्ति बोध की कांवर उठाये अंधकार धूप के ऋतुबिम्ब, कटु यथार्थ की आनुभूतिक रागात्मकता, ग्रामीण संस्कार, वैचारिक संघर्षण भावना की खिली धूप-कांवरें जीवन का पूरा इन्द्रधनुष रच देती हैं। प्रकृति के प्रति कवि का रागात्मक बोध जीवन को सहज होकर पकड़ता है। वर्त्तमान जीवन की कड़वाहटों के बीच ऊब, थकान, अजनबीपन, स्वार्थ के घिनौने वृत्त खुद-ब-खुद बनते चले जाते हैं। प्रकृति की सहभागिता से वंचित बद किस्मत मनुष्य मशीनवत् कार्य करता है। अपने कंधों पर स्वयं ही अपनी चलती फिरती लाश ढोता रहता है। नून तेल के चक्कर में वह अरहर की सौगन्ध, सरसों की छेड़छाड़, गेहूं की गुस्ताखी, बाजरे की झमक, ईख की पोर-पोर उमगन सब कुछ भूल गया है। एक चीखता सन्नाटा उसके मन-मानस को चीरता चला जाता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुबह का सूरज कहीं लुक छिप कर
उगता है सुनसान टेकड़ियों पर
कांपती है मधुऋतु मृत्यु भय से
झुक जाता है आकाश प्रतिदिन/ सहानुभूति से
और धरती कंठस्थ कर लेती है/ अपने इस इकलौते दुःख को
खा लिया है मुट्ठी भर जहर/ जुन्हैया के सुकुमार गीतों ने
अरहर के खेतों में गूंजता है सन्नाटा.......।" (*कांवर भर धूप : पृ. 23*)

घिसी हुई पटरी पर दौड़ती रेल-सी ज़िन्दगी अनचाहे स्टेशनों पर रुकने को मजबूर है। गन्तव्य पर कभी समय पर नहीं पहुंचती। फूल खिलने से पहले ही मुरझा जाते हैं। इस लेट-लतीफ़ ज़िन्दगी के बासीपन में कोई हलचल ही नहीं। वही नारेबाजी सा क्षणिक जोश और पढ़े गए अखबार की तरह बासी खबर बन गई ज़िन्दगी रद्दी की टोकरी हो जाती है। मन-कोल्हू अपनी यात्रा करता रहता है –

"जल भी चुप/ थल भी चुप/ बैठे मन मारे
आस्था का द्रोण, बंधु/ कब से है खाली
पेड़ों से ठान चुकी/ अनबन हरियाली
ऊर्ध्व सांस खींच रहे/ गांव नगर सारे।" (*पृ. 53*)

नियति-पथ संकरा निकला, ऊबड़-खाबड़। बेवक्त बुनियादी जरूरतों ने नपुंसक बना दिया। दम तोड़ चुकी आस्थाएं नुकीली बन कर धंसने लगी। हांफता जीवन खारी हवाओं को पीकर मरूभूमि का झाड़ हो गया। अन्दर बसा गीत-गांव अभाव की पावस में कटा खेत बन गया। प्रकृति चित्रों में बोलती वर्त्तमान असंगतियां विविधवर्णी लयों में जीवन को साधती गाती जाती हैं –

"जा चुका वसंत, तेज धूप की नदी
दिशाहीन डूब रही फूलों की नाव।
हांफती हवाओं की/ नींद है उचाट
नहीं रहे पहले से/ टेसू के ठाट
पेड़ों की देह पर पसलियां हैं शेष
उजड़ गया लहरों का गीत भरा गांव।" (*पृ. 55*)

कवि के अन्दर चहकता ग्रामीण बोध रहट के संगीत से जुड़ा रहता है। शहरी मानसिकता के बीच रहते हुए भी गांव की पगडण्डियां नई लीक खींचती रहती हैं। अनास्था के जंगल कुहासे को चीर कर कवि की रचनाशीलता उन सूत्रों की तलाश करती है जो आशा-आलोक से जुड़े हैं। आशा की झूमर झुनझुनाती कवि के अन्दर बैठी भोर पौ बन कर फूटती है। बाल अरुण अनुराग के खगकूजनों से धरती को अलस्सुबह चहका देता है –

"छोटे से आंगन का रोम-रोम तृप्त,
सूरज दे गया कांवर भर धूप,
नाच रहा पनघट पर/ हर मन का मोर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पगडण्डी झेल रही/ पायल का शोर
इठलाती गंध नदी सहज आस-पास
पी रही तितलियां सब फूलों के रूप।" (*पृ. 51*)

जीवन-नहायी प्रकृति मनुष्य में दूध-पानी-सी घुली है। इस घुलावट की रंग-धूप तमतमायी जरूर है लेकिन खिली-खिली है। उदासी को ओट देकर मुस्कुराती है। प्रकृति से कटी आज की सभ्यता यान्त्रिक कोलाहल का हिस्सा बन गयी हैं। ताज़गी का अहसास कराते ये प्रकृति बिम्ब जीवन की उदासी को तोड़ते हैं। शहरी सभ्यता से दूर अन्तर्वर्ती अर्थों को खोल कर मनुष्य को प्रकृति सान्निध्य का निमंत्रण देते हैं। इन गीतों में प्रकृति का रोमानी बोध नहीं है अपितु प्रकृति जीवन के यथार्थ को कीलित कर महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। जीवन अनुभूतियों का यह सफर यथार्थबोधी समानान्तर लकीर खींचता जाता है। आकाश आंगन में नर्त्तन करते जलधर जब ऋतुयी पावस बन कर धार-धार होते हैं तब कवि की चेतना उन्हें धरती के सत्यों से जोड़ कर देखती है। उसे लगता है समय के लम्बे अन्तराल के बाद आने वाले बादल वस्तुतः अधिकारों की रक्षा और बुनियादी जरूरतों को पाने के लिए हड़ताल पर गए मजदूरों, कामगारों का आना है। प्रकृति यहां सर्वहारा रूप में सार्थक होती है –

"निरन्तर/ एक लम्बी बहुचर्चित/ हड़ताल के बाद/ आ गए काम पर
बेहद गरजन-तरजन के साथ/ आकाशी मिलों में/ साथ छा गये
कामगार बादल ये/ काम पर/ आ गए।" (*पृ. 29*)

जीवन के यथार्थ बंधों को खोलने के लिए परमार संवेदनाओं को रचनात्मक तुर्शी देता है। वैषम्य, अन्याय के प्रतिकार के लिए वह आग नहीं होता अपितु उसे घिसकर कमज़ोर करता है। सीधा विरोध उसकी प्रकृति में नहीं। सांप भी मर जाए और लाठी भी न टूटे की दार्शनिकता उनके गीतों को समकालीन बोध से जोड़ती है। उसकी जागरूकता में प्रहरियों का अंदाज है। वह जीवन के उन सूत्रों को संधित करता है जो मनुष्य अस्तित्व को नकार नहीं स्वीकार का भाव दे। झूठे दम्भ और प्रदर्शन प्रियता में उसे विश्वास नहीं। क्रान्तिदर्शिता, प्रगतिशीलता उसमें तथाकथित वामपक्षियों से ज्यादा है लेकिन वह नारेबाजी में विश्वास नहीं करता। समस्याओं के प्रति गीतकार की दृष्टि सकार मूल्यों का मंथन करती है। समस्या अथवा शोषण विशेष के प्रति कवि का नज़रिया आक्रमण का नहीं है, न ही वे वायवीय होकर आकाशचारी होते हैं अपितु समस्या, विपत्ति, अन्याय को समझ कर पहले वे उसके प्रति संवेदना भाव को जगाते हैं तदुपरान्त उसे आंव की तरह पका कर अपने अनुकूल बना लेते हैं। वे न तो पलायनवादी हैं न ही वैयक्तिक विचारवादी। यथार्थ की कड़ुवाहट संवेदना और विचार से टकरा कर जनसामान्य का अक्स बन जाती है।

बिखराव-मानसिकता आज का जटिल सत्य है। नकारात्मक मूल्यों का निषेध, नकलवृत्ति, व्यवस्था से लाभ उठाने की मनोवृत्ति ने आज मानव को बंधुआ बना दिया है। स्वाभिमान से वह परिचित नहीं, आत्म सम्मान का मूल्य नहीं, वह किसी भी शक्ति का पालतू कुत्ता बनने में गौरव अनुभव करता है। अभावों की लम्बी फैहरिस्त नैतिक ह्रास का राशन कार्ड बन कर गिद्ध का घोंसला हो जाती है। यह ऐसा ही है जैसे बिल्ली से दूध की रखवाली। वैचारिक दरिद्रता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंगु भावनात्मकता को धमकाती है। एकाकीपन, निर्वासन, खंड-खंड मूल्य-टूटन समूची देहात्म इकाई को तिनका-तिनका सच में बिखेर देती है। इन स्थितियों के अभिशप्त, नियति-बिम्ब एक विशिष्ट आकार लेकर वर्त्तमान जीवन की संगति में 'बंधुआ रामलाल' हो जाते हैं –

"भोग रहा निर्वासन अर्थ आज एकाकी
मूल्यों की खंड-खंड हो गई प्रणाली
भ्रातृ भाव के तन पर/ जितने आघात हैं
अपनी ही पीठ गड़े/ अपने ही दांत हैं।" (*पृ. 45*)

मध्यवर्गीय दुम हिलाती मानसिकता भी 'बंधुआ रामलाल' से अलग नहीं हैं। नियति के इसी अभिशाप को सबसे अधिक वही झेल रही है –

"आस्था के पंक्तिबद्ध/ बिक रहे कवच
लग रहा खिलौने सा/ इन दिनों सलीब
वैचारिकता होती/ जा रही गरीब
ढेर-सी विसंगतियां/ बन गई अपच।" (*पृ. 42*)

व्यवस्था की क्रूरता ने आज के व्यक्ति को कितना धूर्त्त, पाशविक और समझदार बना दिया है, उसके बढ़ते कदमों की आहट लीजिए –

"वह कौन नहीं जानता कि/ उसके कमरे में
एक तस्वीर टंगी है/ ईश्वर की पूजा के बहाने
वह अपने भव बंध काटता है
और हम सब को प्रतिदिन प्रसाद स्वरूप
नारियल की जगह/ षड्यंत्र बांटता है।" (*पृ. 34*)

समतावादी स्वप्न साकार हो इसके लिए जन मानसिकता में पैठ कर अपनी बात कहनी होगी। उत्थान, प्रगति के द्वार पर वेणु-शंख बजा कर मानवता को पोषित करे, शोषण का अन्त हो, सूर्य की तरह सब में रोशनी बंटे, न्याय खुली आंखों से सब को तोले, जीवन के छोटे-छोटे सुख उत्सव-पर्व हो जाए, अधिकार और कर्त्तव्य गलबहिया हो – इसके लिए व्यवस्था को बदलना होगा। संकल्पों को रोशनी-भविष्य देने के लिए रचनात्मक वैचारिक क्रान्ति की ओर बढ़ना होगा-

"साथियों/ दिन मुकर्रर करो कि/ अंधियारा नीलाम हो
रोशनी किसी एक की न रहे/ आम हो।" (*पृ. 28*)

गीतकार अपनी सकार रचनात्मकता को स्पष्ट करता है। वह नहीं चाहता जनपथ के स्वप्न खरीदने वाले बच निकले इसलिए वह उन कुक्कटों एवं यथास्थितिवादी स्वार्थखोरों से जनसामान्य को बचाना चाहता है जो उनके कन्धे पर रख कर बन्दूक चलाते हैं। सुविधापरस्त ऐसे पक्षकार मानवीय जिज़ीविषा से छल करते हैं, आदमियत इनके आचरणों से शर्मिन्दा होती है –

"हाथ उठा कर खुद को कहता है विद्रोही
इन्सानी रिश्तों की बेच कर किताब।" (*पृ. 48*)

परमार की रचनात्मकता तस्वीर का पाजिटिव है, इनमें मूल्यों का संघर्षण तीव्र है लेकिन टकरा कर धुआं उगलने से ये बचे हैं। जन सहभागिता इनके गीतों का स्वभाव है, इनमें क्रान्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का बल है लेकिन उफान नहीं है। मानव मन के तल को छूते इनके गीतों में वर्त्तमान जीवन के असंगतिबोध का हाहाकर व्यक्ति को जुझारू बनाने के बजाय काटता जाता है। जीवन की बलखाती ऐंठनें मनुष्य को उसकी सीमाओं का बोध कराती हैं। क्रान्ति का रचनात्मक समर्थन नवीन मूल्यों की स्थापना का संघर्ष है। मनुष्यत्व और प्रकृति के एकाकार में गीतकार का समष्टि बोध है। व्यक्ति, समाज का पूरा मानचित्र खींचते परमार के इन गीतों में उथलापन नहीं है, पूरी गंभीरता के साथ ये गीत जीवन के व्यापक सन्दर्भों को ओटाते हैं। बौद्धिक वैचारिकता आनुभूतिक संवेदनाओं में घुल कर सुर्खरंगी जीवन का युगानुकूल पैटर्न बुन देती हैं।

परमार का सबसे बड़ा नवगीतीय गुण है सहजता, स्वाभाविकता तथा सादगी जो उसकी काव्यीय रचनात्मकता का अलंकरण है। यह गुण उसकी धमनियों में लहू बन तैर रहा है क्योंकि इसे उसने पाण्डुका, बाग बाहरा आदि के अपने ग्रामीण जीवन के काल में आत्मसात् किया है। आज भी सच्चाई और ईमानदारी गांवों में ही मिलेगी। इस कवि के पास तो अनुभूतियों का कल्पवृक्ष है। उसकी यथार्थवादी दृष्टि, शैलीगत विशेषता लिए हुए है, नये प्रयोगों में ग्रामीण शब्दों का चयन सहज और स्वाभाविक गति से करना उसकी अपनी विशेषता है (*पृ. 4*)।

भाषा की लोक संस्पर्शिता, नादात्मक ध्वनियों की प्रकृतीय प्रतीतियां, नव्य उपमान योजना आकर्षक है। जन बोध को बहुत ही सहज भाव से उठाते उपमान नवगीत के शब्द-शब्द को तीव्र सम्प्रेष्य बना कर जीवनधर्मी संदर्भों से जुड़ते चले जाते हैं। शैल्पिक रचाव के सायास प्रयत्नों की अपेक्षा इनमें सहज स्वाभाविकता का अंकुरण है –

"तीन सौ पैंसठ पत्तों वाली/ एक प्याज नोचते रहे/ एक वर्ष बीत गया।" (*पृ. 10*)
"चन्दन वन में प्रिय मृग छोने सी रात।" (*पृ. 56*)
"मीठे नीम की/ पत्तियों सी/ महमहाती हो।" (*पृ. 11*)

इस प्रकार के प्रयोग जीवन की उधेड़-बुन के प्रति मनुष्य को सावधान करते हैं। इनमें सतही टटकापन अथवा रोमानी बोध नहीं जीवन की वास्तविकताओं का पारिवारिक विचलन है। परिस्थितियों के व्यूह वृत्त में घिरी मानसिकता जब बेबसी से आंख भर लेती है तब वर्त्तमान असंगतियों के बीच ये गीत कंदील की तरह जुगनु हो जाते हैं। आशा और निराशा, श्रम और जीवट, जिज़ीविषा और कर्म की आंख मिचौनी खेलते इन मूल्य बोधी गीतों में ललक-अकुलाहट के बीज स्वर हैं। अंधकार और प्रकाश का सफर यहां गुत्थमगुत्था है। विजय पाने के लिए यथार्थ दृष्टि और विश्वास चाहिए। स्थितियों, वर्त्तमान व्यवस्था को समझने की कुव्वत और अपनी हैसियत में रहते हुए जीवन को पाने की ललक ही वस्तुतः मूल्यों का संधान है। सहज अभिव्यक्ति का मूल्य-तर्पण महसूस कीजिए –

"आओ/ हम वक्त को/ लकड़हारे की तरह काटें
अपनी मजदूरी खड़ी करें/ फिर घर लौटें/ अपनी
नन्हीं-मुन्नी आशा को/ चूमें बहलाएं/ बड़ी करें।" (*पृ. 27*)

मूल्य-तर्पण के ये गीत-बिम्ब बेबसी और अन्तर्वर्ती कसक-पीड़ा को बड़ी तल्ख़ी से उभारते हैं। बाह्य सन्नाटे को तोड़ना कोई मुश्किल काम नहीं अन्दर का सन्नाटा टूटना चाहिए। पीड़ा का राजकुंवर भावना की राजकुमारी का अपहरण कर लेता है। आग उगलती पीड़ा विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपमानों की पीठ पर चढ़ कर मन-मानस को छिद्रित करती जाती ही। सन्नाटे का रूपकीय पीड़ा-बिम्ब प्रतीकात्मक रूप में पूरे जीवन और स्थितियों को उधेड़ देता है –

"कल तक वसंत था/ कोयल देव दासी थी/ सौरभ महन्त था
और अब इस/ सर्वहारा सन्नाटे को तो देखो/ राह बाट पर
क्वांरी खुशियों को छेकता है/ नयन बान फेंकता है।" (*पृ. 30*)

अतः आठवें दशक में प्रकाशित होने वाले नवगीत संग्रहों में नारायण लाल परमार का 'कांवर भर धूप' महत्त्वूपर्ण संग्रह है। नवगीत की ज़मीन को ठोस पुष्ट करते हुए इस संग्रह के गीत जनबोधी रचना मानसिकता के प्रतीक चित्र हैं। इन नवगीतों में जिज़ीविषा, जीवट, ललक, जन प्रतिनिधिकता, सम्बन्धों की उधेड़बुन, पाखण्डी जीवन की छलनाएं, अर्थ संक्रमित समाज-बोध की त्रासद विभीषिका, नैतिक-सामाजिक मूल्य-चटखनें, मरूयी रिक्तिता, शोषण, अन्याय, विरोध के खिलाफ माहौल, प्रकृति से मनुष्यत्व का तादात्म्य आदि का रचनात्मक बोध, युग-प्रासंगिकता में जीवन की कसावट को प्रहरी भूमिका में लाता है। 'रोशनी के घोषणा पत्र' का मसविदा लेकर 'कांवर भर धूप' के नवगीत अपनी अलग पहचान बनाते हैं। व्यापक सन्दर्भों को समेटने वाले इन नवगीतों में रचनाकार गहरा उतरा है। अनेक गीतों में सपाट बयानी भी है जो इनकी गीत-क्षमता को नकारती है लेकिन जीवन की सपाटता मुमुर्षू चिन्तन को भी जन्म देती है। परमार के गीतों में मुमुर्ष चिन्तन के प्रति निषेध है, अस्वीकार को स्वीकार में बदलने की कोशिश है। इस दृष्टि से नवगीत के इतिहास में 'कांवर भर धूप' एक बड़ी लकीर साबित होती है।

नवगीत का सजग प्रहरी : ओम् प्रभाकर

नवगीतकारों की पहचान कायम करने में ओम् प्रभाकर ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। इन्हें 1960 के बाद से ही लगने लगा था कि हमारे जीवन में एक ऐसा अप्रतिहत जलप्रवाह आया जिसमें सच्चे नीले जल के तालों में खिले हुये हमारे सारे श्वेत पुष्प डूब गये हैं। क्योंकि नयी कविता जंगल में खोई कविता है। बेशुमार कवि और उनकी बेशुमार कविताओं में काव्यात्मकता का अंश बहुत कम है। इसे रचनाधिक्य से ग्रस्त एक साहित्य विधा कहा जा सकता है। 'तार सप्तक' से आज तक लिखी गयी हजारों हज़ार पंक्तियां आसानी से महज़ इसीलिए काटी जा सकती हैं कि वे खराब कवितायें तो क्या वे कवितायें ही नहीं हैं। फतवायी बयानबाजी और काव्य-रचना में ज़मीन-आसमान का अन्तर होता है। कविता और कवि सदैव विशिष्ट होते हैं और लयहीन कविता के वास्तविक रूप की खोज में नया कवि स्वयं उलझा-उलझा रहा है। नये कवितावादी सदैव गुटपरस्ती, ख़ेमेबाजी में व्यस्त रहे लेकिन नवगीतकारों ने गीत, कविता और साहित्य के प्रति अपने दायित्व को न केवल गंभीरता से समझा अपितु अपनी अलग पहचान कायम कर ईमानदारी ओर निष्ठा से इसका निर्वाह भी किया। वह एकनिष्ठ भाव से रचना में प्रवृत्त एवं समर्पित रहा जबकि नयी कविता का नेतृत्व एवं नामवर अपने अनुकूल मौसम बनाने में एक दूसरे के पथगामी रहे। नवगीतकार अपने ऊपर लेख लिखवाने छापने-छपवाने की मृगतृष्णा में नहीं उलझा। आधुनिकता, फैशनपरस्ती अहं आदि किसी प्रकार की कोई लक्ष्मण रेखा उसने कभी नहीं खींची और न ही अपनी जातीयता, संस्कृति, संस्कारों को खुले मन से स्वीकारने में ग्लानि अनुभव की। यही मुख्य कारण है कि नवगीतकारों ने अपनी आत्मा में रचे-बसे 'गीत-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कारों' को पुनर्संस्कारित किया। "नवगीतकर इतना अधिक आधुनिक नहीं कि उसका कोई अपना निजी रूप ही न हो....उसकी आधुनिकता जीवन की एषणा और रूप-रस-गंध की जातीय विशेषता की सच्ची पहचान का ही प्रतिरूप है। नवगीत आज भी कविता का ऐसा रूप है जो पूर्वापर वस्तुनिष्ठ संवेदना और विशुद्ध मानवीयता से युक्त पूर्ण यथार्थ से साक्षात्कृत अनुभूतियों की काव्य-अभिव्यक्ति है।" यह काल-दशक ऐसा था जब विचित्र कथ्य और अनोखी अभिव्यक्ति का आशय लेकर हिन्दी कविता कभी प्रगति तो कभी प्रयोग के पथ पर हाथ-पैर मार रही थी। दूसरी ओर शिविरमुक्त कवि अपनी पौराणिक सांस्कृतिक पहचान बनाए रखने के लिए गीत को अपनी हथेलियों की ओट दे रहे थे। न तो वे सामाजिक यथार्थ के प्रति उपेक्षाशील थे और न ही अपने संस्कारों के प्रति उदासीन। इसीलिए जब कविता नई कविता, अकविता, भूखी पीढ़ी की कविता आदि दौरों से गुज़र रही थी तब भी गीत अपनी रससिकता, माधुर्यसक्ति, लयात्मकता से संयुक्त था। ऐसे माहौल में आधुनिक जीवन की विसंगितियां विघटित होते हुए जीवन मूल्यों के बीच नये और स्वाभाविक जीवन सम्बन्धों की खोज करना ही नवगीतकार का श्रेय है। इन स्थितियों और परिवेश को ओम् प्रभाकर ने अपने चेतना कक्ष में दहकाया है, इसीलिए ओम् प्रभाकर का वस्तु बोध प्रबल है। उनकी संवेदना कहीं वस्तु से व्यंजित होती है और कहीं ढेर-सी सिलसिलेवार चीजों के ऊपर टिक जाती है। जैसे, मध्यवर्ग की आर्थिक तंगी और संघर्ष को व्यक्त करना है, तो बापू के उमर की बोझिल घड़ियां, रोटी करती हुई अम्मा, न जलने वाली लकड़ी आदि से गीतकार एक ऐसा रेखाचित्र बनाता है, जिससे मूल कथ्य व्यंजित हो जाता है। इस तरह से एक ओर ओम् प्रभाकर ने गीत को वस्तु बोध के करीब लाने की कोशिश की है और दूसरी ओर उसकी सांकेतिकता और संक्षिप्तता को भी बरकरार रखा है। 'पुष्पचरित' के गीत ग्रामीण परिवेश के निम्न मध्यवर्ग की मानसिकता को प्रस्तुत करते हैं। चौका बासन, छज्जा-कोठा, तुलसीचौरा-पूजा घर आदि संदर्भ एक विशेष सामाजिक परिप्रेक्ष्य के अनुसंग हैं। केदारनाथ सिंह के गीतों में इस प्रकार की सामाजिकता उभरी थी, किन्तु इस प्रकार की आर्थिक विसंगति का वस्तु-बोधात्मक रूप नागार्जुन की नयी कविता में ही मिलता है। सड़क-पार्क, पटरी-स्टेशन तो यों ही आ गये हैं (*दृष्टव्य : धर्मयुग : 27 जुलाई 1980 : पृ. 46*)।

अतः नवगीत को चर्चा का विषय बनाने और उसे नया बोध देने वालों में ओम् प्रभाकर का महत्त्वपूर्ण योगदान है। नवगीत ने यहां तक आते आते बहुत से ताने सहे हैं। आज नवगीत में वे संपूर्ण जीवन को देख रहे हैं। भारतीयता के प्रति उन्मुख यह गीत कवि नवगीत की जातीय या जातीय परिवेश दृष्टि को किसी भी आधुनिकता, अत्याधुनिकता या अन्तर्राष्ट्रीयता से अधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। निर्मुक्त मन का क्षोभ - "डूब गया दिन/ जब तक पहुंचे तेरे द्वारे" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 59*) जैसे गीतों में जीवन का सहज बोध उजाले की तरह फैलता जाता है। आज असामाजिक तपन से तप्त मन क्रान्ति चाहता है - "खेत वही बंजर सुनसान/ रेत हुए ताल। भूखे प्यासे मकान/ गिरते गिरते अकाल/ इनसे होकर जाता/ यह रथ अब तोड़ दें" (*पृ. 60*)। अब इस रथ को तोड़ कर नया रथ नया पथ गढ़ना होगा।

ओम् प्रभाकर नवगीत के सजग प्रहरी हैं, नवगीत की प्रतिष्ठा के लिए कृत संकल्प। प्रत्येक निष्ठावान् लेखक की तरह ओम् को भी इस बात का दुःख है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जो चेहरे/ तेजवान दिखते थे दूर से/ वे अंधकार में डूबे स्वर्ण कंगूरे/ हम तुम कविताएं/ चीज़ें सभी अधूरे" (*पृ. 61*)।

यह अधूरापन ही साहित्यिक अवमूल्यन का कारण है। इसीलिए सब के चले जाने पर सूनापन महसूस होता है। अब तो यहां से चलने को मन करता है। अपनी यात्रा के लिए कहीं किसी कोने में जा बैठना चाहता है। उस के लिए छत-मुंडेरे सब अपाहिज हो गए हैं। कहीं भी जीवन की स्फूर्ति नहीं है। यही नवगीत की लाक्षाणिक अभिव्यंजना है। लय, जातीय संस्कृति, बिम्ब प्रतीक आदि सब कुछ नया है परन्तु वह अस्वाभाविक नहीं है।

'सात गीत वर्ष' ने आधुनिक जीवन की जिस ऊब, थकान, पीड़ा और संत्रास को गीत के नये शिल्प में ढाला है, 'पुष्प चरित' उस परम्परा की एक मजबूत-कड़ी है। लेकिन, जहां 'सात गीत वर्ष' में संक्रांति की पीड़ा प्रबल हो गयी है, वहीं 'पुष्प चरित' में पीड़ा के साथ उल्लास भी है। एक ओर जीवन की हरीतिमा है, तो दूसरी ओर गहरी तपन से चिटक गयी दरारें भी हैं। 'सात गीत वर्ष' में हमारी रिक्तता, मिथ्याचार, युयुत्सा, भग्न आस्था और मूल्यगत ढांचे की निस्सारता बड़ी तीक्ष्णता से उभरती है। यह संक्रमित होते हुए समूचे युग की पीड़ा है। 'पुष्पचरित' में युग की अपेक्षा मध्यवर्ग के मन की रिक्तता और भराव दोनों का अनुभव है। जीवन का सुखद क्षण श्वेत पुष्प है, जो भयानक बाढ़ में डूब जाता है। इस मनः स्थिति के तीन आयाम हैं - 'एक श्वेत पुष्प था', 'आई थी बाढ़', और 'श्वेत पुष्प डूब गया' (*धर्मयुग : 27 जुलाई : 1980 : पृ. 46*)।

दर्द और व्यथा का हर कोण ओम् प्रभाकर के गीतों की रागात्मक चेतना को अनुभूति की तरलता देता है। अंधकार और प्रकाश के अन्तर्वृत्त आशा-निराशा की धूप-छांह लेकर मनुष्य की जुड़ाव- दरारों को पाटते, समय-अनुभवों को कोंचते, वर्त्तमान त्रासदियों को व्याख्यायित करते, सामाजिक, राजनैतिक अन्तर्ग्रन्थियों के बीच कराहते-सिसकते मानव की तस्वीर बन जाते हैं। इन तस्वीरों के रंग फीके और उड़े हुए हैं। मनुष्य की शंकित वृत्ति, इधर और उधर किसी भी तरफ न होने की बेबसी आशाओं के सोनल मांग पत्र की भेंट चढ़ जाती है। भरी दोपहरी में धूप-धूल सहता-फांकता व्यक्ति रथ-धुरी की तरह गतिशील होकर भी धरती को नहीं छू पाता, त्रिशंकु की तरह टंगा रहता है –

"सूना घर/ भरी दुपहरी,
पागल-सी भटक रही है/ गलियों में हवा अकेली,
मेरे माथे पर किसने/ रख दी यह गर्म हथेली।
अनुभूति बहुत है गहरी।" (*पुष्प चरित : पृ. 6*)

मन की जलन गीत की तरह फूट पड़ती है। कवि पूरी तन्मयता और भाव प्रवणता के साथ अन्तर्मन की व्यथाओं को समेट कर उन्हें शक्ति बनाने का प्रयत्न करता है। अभिव्यक्ति की निश्छलता में यथार्थ जीवन की निराशाजन्य तपन मन को और तापित कर देती है –

"कहां जाये? हम निस्सहाय - निरूपाय/ हीनताओं के पुतले क्यों हैं
हम इतने निरीह, इतने बौने, इतने उथले?
क्या हुआ हमें/ जो असर नहीं करते हैं हम पर
मन्त्र/ सुभाषित स्तोत्र/ ऋचायें।" (*पृ. 68-69*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें कोई शक नहीं कि आज के प्रदूषित माहौल में मंत्र, स्तोत्र, ऋचाओं का असर खत्म हो गया है। संस्कृति पाश्चात्य आकर्षण में फंस कर बैसाखी के सहारे घिसट रही है। संस्कृति-पुष्प की तलाश और खुशबू, सुकून पाने की छटपटाहट गीतकार के रचनाशील मन को सकार द्वन्द्वशीलता में बदल देती है। उसके सामने प्रश्न खड़ा हो जाता है कि वह मानसर नीले जल-ताल को कहां ढूंढे जिसमें संस्कृति पुष्प डूबा है। श्वेत पुष्प भारतीयता एवं संस्कारों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देता है। काला, अन्धा, विकृत महासिन्धु है जो आज के विसंगतिपूर्ण परिवेश को मुकुर करता है, जिसमें शंका, अनास्था, भ्रम, अविश्वास का काई युक्त जल एवं अज्ञानता और अविवेक की कीचड़ समायी है। चुभनशील अराजकता ने वचन और कर्म की संतुलित तार्किकता में खाई पैदा कर दी है, कथनी और करनी हाथी के दांत बन गये हैं। कथन में तो यहां आदर्श सिद्धान्त और प्रभावशाली वक्तव्य हैं, लेकिन इसके उलट करनी में अन्याय, शोषण हिंसा, अनाचार का बोल बाला है। सच्चाई, ईमानदारी आज बेईमानी और अन्याय की पहरेदार है। परिवेश के इन ज़हरीले दंशों को सहने के लिए विवश मानव-अस्मिता अपने-अपने नियति-पथ पर रेंग रही है –

"सब चले गये/ सूनापन है
सन्नाती पटरी/ थर्राते स्टेशन को/ जो छोड़ गये
मेरे इस एकाकीपन को/ वे कौन लोग थे
मुझे नहीं मालूम हाय,/ फिर भी व्याकुल मन
कितना है मासूम हाय/ मानों बिम्बों से पीड़ित/ कोई दरपन है।" (*पृ. 56*)

शृंगारित प्रणयपरकता में समर्पण भरी प्यार-मनुहारे हैं, प्रतिदान की इच्छा या अश्लीलत्व नहीं। सांयोगिक पलों में मर्यादा की गरिमापूर्ण विवेकशीलता है –

"आ प्रिया/ पिन्हाऊं तुझे जूही के झुमके
इस फूली संझा के तट पर/ आ बैठे बिल्कुल सट-सट कर
दृष्टि कहे जो/ उसे सुने तो/ अर्थ खिलेंगे नये आज गुमसुम के।" (*पृ. 14*)

रूप, रस, गंध की त्रिपुर अनुभूतियां सांध्य-प्राप्ति की शक्ति बन कर उभरी हैं। इनमें रूप-मादकता की उत्तेजना एवं मिलन की उत्कंठ आकुलता रस्सी की तरह एक-दूसरे में बंटी है -

"री सुहागन..
बौरी-बौरी/ बरस भर धायी/ पौरी-पौरी।
अब बैठी निर्जला उपासी/ गन्ध भरी जब पूरे आंगन।" (*पृ. 14*)

वियोग शृंगार में भी यही बुनावट है। वियोग की उत्कटता कवि को निराश कम करती है प्रिय के नज़दीक अधिक ले जाती है। इसीलिए इनके वियोग-बिम्ब उज्ज्वल एवं पवित्र हैं। प्रेम की विरही अनुभूतियां कवि-मन को खंगालती हैं, गहन गम्भीरता की तलमापक ये - अनुभूति प्रतीतियां प्रेम बन्धन को मेरू बनाती हैं। स्पर्श-छुअन की ताज़गी देखिए –

"तुम्हारा संग-सुख/ हर क्षण/ हमारे साथ रहता है।
खुली पुस्तक पर गिरीं/ तुम्हारी हिचकियां गीली।
मुझको बेध जाती हैं/ तुम्हारी हिचकियां गीली।
तुम्हारा रंज दुःख/ हर क्षण/ हमारे साथ रहता है।" (*पृ. 10*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ईश्वरी सत्ता का नकार नयी कविता की एक प्रवृत्ति विशेष है लेकिन नवगीतकारों में इस प्रकार का दुराग्रह नहीं है। अनेक नवगीतकारों में भक्ति, दर्शन, अध्यात्म और रहस्यपरक प्रश्न मिल ही जाते हैं। ओम् प्रभाकर के गीतों में भी कहीं कहीं सृष्टि के प्रति जिज्ञासा एवं रहस्यात्मक संकेत हैं –

"इस सुनसान अपरिचित नगरी में
किसके आमंत्रण पर मैं आया हूं?" (*पृ. 54*)

इसी तर्ज पर 'हम' शीर्षक गीत कवि के आत्ममंथित चिंतन का परिणाम है –

"वह कौन - हमारा कारण?
वह कहां - हमें जो कर सकता हो धारण
हम वात्याचक्र ग्रस्त तिनके/ हम किनके हैं? हम किनके हैं?
उफ् कुछ भी तो मालूम नहीं।" (*पृ. 66*)

प्रकृति ने नवगीतकारों को जीवन दिया है। कृत्रिमता, बनावटी वृत्तियों को त्याग कर नवगीतकार प्रकृति की सहजता से पूरी तन्मयता के साथ जुड़ा। प्रकृति का प्रत्येक उपकरण अभिव्यक्ति का साधक हुआ। मानवीय व्यापार प्रकृति का साथ पाकर खिल उठे। ओम् के गीत भी प्रकृति की रश्मियों को समेटने में पीछे नहीं रहे। मानवीयकृत प्रकृति ने मनुष्य के भावों को नयी भूमि पर बीज कर झूमती फसल का पगलाया ख़ुमार बना दिया। मानवीयकरण की सुन्दर नियोजना का एक मनोहारी बिम्ब निरखिए –

"पगली-सी भटक रही है/ गलियों में हवा अकेली" (*पृ. 6*)

* * *

"टूटेगें पत्ते तो सूनी-सूनी शाखें सिसकेंगी।' (*पृ. 22*)

ओम् का ऋतु सौन्दर्यबोध गमक देता है –

'री सुहागिन! कुसुम ऋतु छायी/ बागन बागन!' (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 64*)

इसी प्रकार के प्रकृति चित्र अत्यन्त मनोभावन हैं। वसन्त की अनुभूति विरह की मानसिकता के साथ अत्यन्त सार्द्रता से उभरी है –

"प्रिया फिर फूले कचनार/ प्रिया तुम बिन फूले कचनार!" (*पृ. 65*)

में प्रिया की अनुपस्थिति का दर्द और प्रकृति के प्रति कला का हृदय अपनी संपूर्णता में है। प्रकृति के प्रत्येक चित्रण में मानसिक उद्विग्नता सघन होकर मुक्त सी प्रतीत होती है क्योंकि नये बदलावों के प्रति कवि-मानसिकता आग्रहशील है। समाज का संपूर्ण व्यक्तित्व आज क्षत-विक्षत है। सूर्य का उदय होना असंभव लगने लगा है।

ओम् प्रभाकर की पारम्परिक षड्ऋतु वर्णन के प्रति रुचि नहीं है लेकिन पतझर (*पुष्प चरित : पृ. 36*), ग्रीष्म (*पृ. 40*) आदि का नयनाभिराम मनोरम चित्रण कवि की गीत, दृष्टि में शामिल है। इनके प्रकृति-बिम्बों में प्रकृति के उज्ज्वल परिवेश का दृष्टि-विस्तारण अधिक है। सम्बोधन-परक शैली में ये प्रकृति-चित्र सहज और मन के बिल्कुल नज़दीक हैं। सम्बोधन शैली के ये स्वर किसी विशिष्ट-विशेष के लिए नहीं है लेकिन जो भी हैं, वे बेहद आत्मीय, स्नेही और अपने से हैं –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"चलो बन्धु लौट चलें/ दिन नीला पड़ गया
वृक्षों ने ओढ़ लिये साये/ आकाश किसको दुहराये। (*पृ. 11*)
कैसे जीवित हो आकार, आह
मोड़ों पर अंधकार/ सूली-सा गढ़ गया।" (*पृ. 50*)

'पुष्पचरित' की भूमिका में नवगीत पर की गई ओम् प्रभाकर की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है "नवगीत केवल द्रवीभूत तत्व या सूक्ष्म रवेदार चीज़ नहीं है वरन् वह अत्यन्त एकनिष्ठ सृजन साधना का परिणाम है। वह छंद, तुक, लय, गति और विराम आदि की समस्त रूढ़ियों से मुक्त ही नहीं बल्कि उनका वह विरोधी भी है लेकिन उसकी अपनी निजी लय और गति है जो पूर्णत: युगानुरूप परिवर्त्तित है। नवगीत किसी विशिष्ट छंद या लय में ही नहीं रचा जाता है और न आज तक रचा ही गया है। हर नवगीत का अपना एक खास छंद, एक खास लय होती है जो दूसरे नवगीत से उसे जोड़ नहीं पाती।" इन्होंने कथनी और करनी के भेद को नहीं माना। इसीलिए इनके गीत नवगीत के निर्धारित किए गए मानकों पर खरे उतरते हैं।

अन्य नवगीतकारों के समान ओम् प्रभाकर ने भी कचनार, कदम्ब, गुलमोहर, रजनीगन्धा आदि को प्रतीक के रूप में अपनाया है। उन्होंने गंध केतु और किरन धेनु की भी सृष्टि की है लेकिन उनका कौशल प्रतीकों की सृष्टि में नहीं वरन् गीतों को रेखाचित्र बनाने में है। एकदम प्रस्तुत वस्तुओं से बने हुए बिम्ब में कुछ विशेषण डाल कर गीतकार ने चित्र को सजीव बना दिया है :

"भाई साहब का थका चेहरा/ और अम्मा की भरी आंखें
और भाभी की नरम बोली/ और पप्पु की उठी बाहें।"

कहीं-कहीं बिम्बों में पूरा जातीय सन्दर्भ है –

"बहिना ने उठ कर/ आंचल खोंस कमर में
लीपा चौका, मांजे बासन/ सुबह हो गयी।"

यहां जातीय विश्वास, संस्कृति और भाषा का संकेत है –

"द्वारे पर थमे हुए हाथों में मौन/ उभरे होगें ऐपन के क्वांरे शंख
बैठक की कड़ियों में अब भी/ खुरसे होगें/ परसो पहले के वे दो मयूर पंख।"

लेकिन जहां व्यंजना न होकर वस्तुओं का विवरण है, वहां गीत शिथिल हो गये हैं (*दृष्टव्य : धर्मयुग : 27 जुलाई 1980 : पृ. 16-17*)।

रसरंगीय भाषा की द्रवीय अनुभूतियों में बिम्बों की ताज़गी कला-कल्पना के सान्निध्य से यथार्थ की भूमिका बन कर उभरती है –

"रह गया पीछे/ नगर, घर, द्वार/ सब कुछ रह गया पीछे....
रह गया पीछे/ तीज-त्यौहार/ सब कुछ रह गया पीछे।" (*पुष्प चरित : पृ. 73*)

जातीय संस्कार के अनोखे दर्पण ओम् प्रभाकर के गीतों में जन-प्रिय सम्बोधन जीवन को नैकट्य बोध देते हैं। ऐसे लगता है जैसे हम स्वयं को ही सम्बोधित कर रहे हों। गीतों में व्याप्त नयेपन को एक ओर कर इसकी लयात्मक तरलता महसूस कीजिए –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"तुमने आ किया सभी निराकार/ धन्यवाद बन्धु अन्धकार
पुस्तकें कांपती अंगुलियां/ नत पलकें : सर्मर्पित अंजलियां
उसी से/ अधरों में उमड़ते हुये/ कुछ कटिदार शब्द दुर्निवार
नहीं रहा/ नहीं रहे अब कोई भार/ बन्धु अन्धकार/ धन्यवाद।" (*पृ. 18*)

अपने संक्षिप्त गीतों में इन्होंने तुकों और टेकों को तोड़ कर नये प्रयोग किए हैं। इनके गीतों के स्थायी अन्तरों में एक संवेदनात्मक लय गूंजती है –

"मान कथन ये/ पलक झपकते/ नहीं रहेंगे
रूप-गंध-रस-रूपक छन से?
आंचल भर ले कर पालागन।" (*पृ. 34*)

ओम् प्रभाकर ने बच्चन की खड़ी बोली को नवगीत में अपनाया है। बच्चन की भाषा अनुभूतिपरक है और ओम् प्रभाकर ने वस्तु-बोध और संवेदना दोनों को मिला कर भाषा का निर्माण किया है। एकदम सीधी-सपाट दो क्रियाओं 'बुझना' और 'राख होना' में पूरे युग का एकाकीपन और पीड़ा है –

"बुझ गये घर, छत, मुंडेरें/ हुआ सूरज राख/ अब हम कहां जायें।"

लेकिन, उन्होंने जहां विवशता, आत्महीनता और बौनेपन की बात सपाट ढंग से कह दी है, वहां भाषा दार्शनिक मुद्रा बना कर संवेदन शून्य हो गयी है। ओम् प्रभाकर ने पुराने प्रतीकों से नये मुहावरों को गढ़ कर नवगीत की भाषा को नयी कविता के समानांतर लाने का सार्थक प्रयास किया है। इन गीतों में लोकधुन एकाध जगह ही है ज़्यादातर गीतकार ने नयी-नयी लय की रचना की है। अधिकांश गीतों में तीन टुकड़े हैं। कुछ में दो और कुछ में चार भी हैं। संवेदना का चरम बिंदु हर टुकड़े में फैला हुआ दिखाई पड़ता है। बहुत कम ऐसे गीत हैं, जिनका चरम बिंदु एक ही टुकड़े में सिमटा हुआ है। इन गीतों में एक विशेष प्रकार की मंथर लयात्मकता है। युग की संक्रांति से उत्पन्न जिंदगी के ठहराव की तरह, इन गीतों की लय भी ठहर-ठहर कर बढ़ती है (*दृष्टव्य : धर्मयुग : 27 जुलाई 1980 : पृ. 46*)।

जब नवगीत की जन्मकुंडली लिखी जा रही थी तभी से पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से नवगीत और ग़ज़ल के क्षेत्र में ओम् प्रभाकर का नाम बहुत ही पहचाना सा लगता रहा है। धर्मयुग जैसी पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित होना ओम् प्रभाकर की प्रतिभा का ही प्रतिफलन है। ओम् प्रभाकर चित्रात्मक भाषा लेकर एक नये तेवर के साथ नवगीत के क्षेत्र में उतरे। बहुत कम समय में वे इस विधा के प्रतिभाशील हस्ताक्षर के रूप में स्वीकृत हो गए थे।

ओम् प्रभाकर दुष्यन्त की शैली के गीत-कवि हैं। आदमी के भीतर एक तनाव और घुटन का धुंआ उमड़ रहा है। ओम् में इस धुएं की कड़ुवाहट अत्यन्त अर्थ भरे और तीखे स्वर में अभिव्यक्त होती है। इसलिए उन का अपना एक अलग नवगीत व्यक्तित्व विकसित हो चुका है। जीवन की अभिव्यक्ति और चिड़िया की चहचहाहट के साथ साथ वे एक नयी अनुभूति का आकाश छोड़ जाते हैं कि चिन्तन किसी सीमा में नहीं बंध पाता। शायद यही वितान है ओम् प्रभाकर की रचनाओं का।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन सामान्य का जीवन बोध संभाले जातीय संस्कारों से युक्त ओम् प्रभाकर के गीतों में समाज की रग-रग बोलती है। लय, तुक, ताल की ताज़गी में घुले मानवीय ज़िन्दगी के अनेक रंग एकरस होकर कवि के मूल्य-सरोकारों की धूप-छांही तस्वीर उभारने वाले हैं। इनमें दरार और फांकें दोनों हैं। चटकन और सृजन की मनोभूमि से जुड़ी इन नवगीतीय प्रतीतियों में ओम् के रचनाशील आशय मनुष्य मुक्ति का रास्ता खोज रहे हैं। जिज़ीविषा और जीवट को नयी पहचान देने वाले इन गीतों में मानवत्व का संधान और दर्द की व्यथायी परतें गीतकार की नयी सोच को उभारने वाली एवं युगबोध के यथार्थ को चुनौती देने वाली है। नवगीत की ताज़गी और कला का एक नाम ओम् प्रभाकर है जिसने गंभीरता और ईमानदारी से नवगीत विधा को संस्थापित करने का संघर्ष किया है। ओम् प्रभाकर के गीत समाज को स्वतन्त्र, सुखी और सही रूप में देखना चाहते हैं। आज व्यक्ति विवश है – "ये फैले खुले दो हाथ/ ये करें तो क्या करें।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 68*) आवश्यकता है बंध कर मुट्ठियां तने।

नवगीत का मेघधारी सुरभित झरोखा : कु. रवीन्द्र

कु. रवीन्द्र के काव्य उपवन की क्यारियां हैं - 'आहत हैं वन', 'चेहरों के अंतरीप', 'पंख बिखरे रेत पर' (गीत संग्रह), 'एक और कौन्तेय' (काव्य नाटक), 'लौटा दो पगडंडियां' (छंद मुक्त कविताएं), 'दि सैप इज़ स्टिल ग्रीन' (अंग्रेजी कविताएं)। नवगीत दशक - 2, 'नवगीत अर्द्धशती', 'यात्रा में साथ-साथ', 'सप्तपदी - 1' समवेत संकलनों में भी इनके कुछ गीत और दोहे संकलित हैं। विभिन्न विश्वविद्यालयों में चल रहे अनेक शोध प्रबंधों में इन के कृतित्व को केन्द्रित कर शोधार्थियों ने इनकी साहित्यिक अभिरुचियों और योगदान को प्रमुखता से रेखांकित किया है। कुमार एकमात्र ऐसे गीत कवि हैं जिन की रचनाओं ने अन्तर्राष्ट्रीय फलक पर अपनी पहचान कायम की है। हिन्दी और अंग्रेजी के इस सुधी विद्वान की आधुनिक सोच में बुनियादी मानव मूल्यों ने सकार लकीरें खींची हैं। अच्छी खासी संख्या में ग़ज़लें, दोहे, चार काव्य नाटक, अंग्रेजी से अनुदित हिन्दी कविताएं आदि आदि अभी प्रकाशन-प्रतीक्षा में नेह-निमंत्रण दे रही हैं।

स्वतः स्फूर्त्त गीत में शब्द और आकार स्वयं अर्थ से अभिन्न हो जाते हैं - यह चिन्तन कुमार रवीन्द्र के लिए सर्वथा सही है। साहित्य का सामयिक सन्दर्भों से जुड़ना उसे ऐतिहासिक महत्त्व देता है। यह तो सत्य ही है कि साहित्य यथार्थ का सीधा तद्रूप नहीं होता। कल्पना यथार्थ का संस्कार करती है। भाव बोध के साथ साथ शब्द और शिल्प के स्तर पर भी कुमार रवीन्द्र ने प्रत्येक गीत को पृथक व्यक्तित्व देकर आकर्षक और ऊर्जस्वल बनाया है। आज की परिस्थितियों को सीधे सरल शब्दों में आंकना रवीन्द्र की विशेषता है –

'सोफ़े पर/ कॉफ़ी के प्यालों में गप-शप के साथ/ बैठे हैं सभ्य-सधे चेहरे/ नकली मुस्कानें'
(*नवगीत दशक - 2 : पृ. 83*)

ये पंक्तियां आज की कृत्रिम प्रदर्शन प्रिय सभ्यता पर चोट करती हैं। पोस्टर संस्कृति से आक्रान्त समाज दिशाहीन है, भटकाव की स्थिति है। असत्य सत्य की आकृति लेकर घूमता है –

'आरती की लौ/ समायी जुगनुओं के मूक चेहरों में' (*पृ. 85*)

इस परिस्थिति में मनुष्य अपने लिए रोशनी खोजता है। जीवन व्यथा-कथा का पर्याय हो गया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। नवगीत जीवन के इस उदास पक्ष से उदासीन नहीं है। इसलिए नवगीतकार केवल प्रेम के स्वप्न ही नहीं देखता, वह यथार्थ से भी आंखें मिलाता है। यथार्थ में जो विवशता है वह स्पष्ट है। हम समाज को परिवर्त्तन की ओर अग्रसर देख रहे हैं –

'खेल वही है अब भी/ सिर्फ़ खिलौने बदल गए।' (*पृ. 87*)

परन्तु शहरों में जंगल की मानसिकता आ बसी है। शिकार खेलने के लिए हथियार बदल रहे हैं, शिकारी की मनोवृत्ति में अन्तर नहीं है। प्रदर्शन का यह हाल है कि घर मैले हैं लेकिन दीवारों को उजला कर लिया है। जीवन में एकरसता आ गई है –

'वही तारीख सपनों की/ पुरानी, कलैण्डर में नया कुछ भी नहीं है।' (*पृ. 89*)

यह बासीपन ही प्रतिभा को निगल रहा है।

रवीन्द्र गीतों का मूल कथ्य विविध स्थितियों और अनुभवों से मन में पनपती अनुभूतियां हैं। इन अनुभूतियों के बीच से बुलन्दी से सिर उठाते आदमी को व्याख्यायित कर रवीन्द्र के गीत उन स्थिति-सत्यों को उधेड़ते चलते हैं जो मनुष्य के लिए चक्रव्यूह बने हुए हैं –

"वही/ पिछली आदतें, सागर किनारे/ खोज है मीठे कुओं की" (*चेहरों के अन्तरीप : 23*)

"हाथ में पकड़े कुल्हाड़े/ जंगलों से लौट आए/ लकड़हारे।" (*26*)

हरियाणा की कृषि बहुला हरी भरी भूमि रवीन्द्र की गीत भूमि का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। इन के गीतों में हांलाकि महानगरीय संत्रास चुभन का नुकीलापन नहीं है लेकिन हरियाणवी धरती की अर्क रसीय बुनावट इन के गीत बोध को सूक्ष्म, पैना और गहरी जुड़ाव प्रतीतियों से जोड़ती है –

"पेट नंगे/ पीठ पर गहरे/ छुरों के घाव।" (*49*)

"रिश्ते नाते आपसदारी/ सूली सभी चढ़े
जंगल की चौहद्दी टूटी/ सहमें गांव खड़े।" (*31*)

नवगीत की शैली में प्रयोग की दृष्टि से कुमार रवीन्द्र के नवगीतों ने नवगीत साहित्य को समृद्धि प्रदान की है। यथार्थ जीवन नया प्रयोग कर रहा है इसलिए नवगीत भी नये प्रयोगों से उसे व्याख्यायित करने में प्रत्यनशील है। आज की नागरिकता सभी क्षेत्रों में संदिग्ध हो गई है। नये प्रयोग के साथ देखिये –

"धुआं देती हर लहर है/ जली नदियों का शहर है
चीख में डूबे-हुए गुम्बज/ हवाएं चुप खड़ी हैं...।" (*पंख बिखरे रेत पर : पृ. 84*)

इस में गीतकार ने जली-नदियों का शहर कह कर जीवन की सारी जलन उड़ेल दी। रवीन्द्र का नवगीत असहज नहीं है, वह प्रत्येक बात साधारण शैली में कहते हैं जो भीतर तक अपना असर फैलाती है। प्रारम्भ से ही रवीन्द्र के गीतों का उठान सहजता से हुआ है। दिनों को उजला खरगोश, धुंध के वस्त्र उतारना, घास का बालों में पिन लगाना आदि और भी बहुत से रूपक-उपमा रवीन्द्र की कल्पना शक्ति का परिचय देते हैं। यह इसलिए कहा जा रहा है कि कुछ नवगीत कवि प्रकृति का और जीवन का चित्र उपस्थित करते हुए जिन उपमानों का प्रयोग करते हैं उन में स्वाभाविकता नहीं मिलती। रवीन्द्र की प्रारम्भिक कविताओं में प्रकृति के अनूठे रंगों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्र है –

"नदी का जल बह रहा है, दूर/ तिरती जा रही है/ यह अनोखी शाम।"

"पीली हवाएं लौट आयीं/ नीम के पत्ते झड़े......।" (*आहत है वन : पृ. 14*)

ऐसी अनेक पंक्तियां हैं जो प्रकृति से सीधा संपर्क स्थापित करती हैं।

जब प्रकृति आलम्बन के साथ उद्दीपन का भी काम करती है तो और भी सार्थक और प्रभावशालिनी हो जाती है। आज के जीवन के सम्मुख जो है वह है –

"पीछे विस्मृत अतीत/ आगे सूना भविष्य के बाद रवीन्द्र तुरन्त कहते हैं –

बीच में खड़े हैं डरे हुए हम.......।" (*पृ. 30*)

"चीत्कार/ जल पांखी का....."

यह प्रकृति से तत्काल तादात्म्य है इसलिए वे प्रकृति के साथ एकदम तादात्म्य हो कर जीवन की उस घुटन और तनाव को और भी सहजता से व्यक्त कर देते हैं। उदासी इस सीमा तक है कि गंधहीन सांसों का एक दिवस कट जाने को भी मानव अहसान समझता है। जीवन ही तो है जो अनेक प्रकार से गाया गया है। राजनीति से ग्रस्त समाज अतिबौद्धिकता का ढोल पीट रहा है। गीत में व्यंग्य का घोल उसे और नशीला कर देता है। आज कविता में स्वाभाविकता नहीं है क्योंकि ओढ़ी हुई अनुभूतियां असल का सुख नहीं दे सकतीं। रवीन्द्र ने ठीक व्यंग्य किया है –

"कमरे में बैठ कर/ आओ, नदी-जंगल की बात करें।" (*पंख बिखरे रेत पर : पृ. 29*)

आज यही हो रहा है। समाज में जो अनैतिकता, दुराचरण, पतनशीलता दिखाई दे रही है वह रवीन्द्र दीवारों से घेर लिये चौरस्ते......। (*पृ. 38*) साहित्य का उद्देश्य भी यही है।

आज राजनीति, नेतागिरी उपहास का विषय बन कर रह गई है। राजनीतिक अखाड़ेबाजी के उल्टे-सीधे धोबीपाट दावों को बरकरार रखने के लिए न जाने क्या-क्या चाहा-अनचाहा करना पड़ता है। आज राजनीति की लौह नज़ाकत ऐसी ही है। इसमें नीतिज्ञ वधू की चूड़ियों की ग़ज़लीय खनखन कम हथकड़ियों की रगड़ ज़्यादा है। खुशबू के विपरीत आज की राजनीति का एक सत्य बिम्ब देखिए –

"फिर/ जुलूसों की जरूरत रोज़ होगी

लोग फिर से/ नये अभिनन्दन रटेंगे।" (*चेहरों के अन्तरीप : पृ. 71*)

परिवेशगत दुरभिसन्धियों की मरोड़मुखी अकड़नों में फ्रेम-सा जड़ा व्यक्ति आज एक बासी समाचार से ज्यादा कुछ नहीं। यही बासी खबर नये-नये मुखौटे ओढ़ करं आधुनिक हो जाती है। कहीं यही खबर मुखौटे अपने नुकीले नाखूनों से किसी का मांस नोंचते हैं और कहीं इनके बाप मगरमच्छ सत्ता की आड़ में इन्हें माल की तरह इस्तेमाल करते हैं। हताशा और इस्तेमाल की इस मुखौटा संस्कृति के बीच शोषक शोषित की चक्रम पीड़ा को रवीन्द्र ने पूरी तरह परत-दर परत खोदा है। इसी खुदाई में बेबसी की बदसूरती भी है और आत्मविश्वास की जुगनू रोशनी भी। आस्था-रोशनी के इन जुगनुओं के सहारे ही कुमार रवीन्द्र सृजन का बीज सन्देश देते हैं-

"सारे दिन सूरज के/ आयेगें/ सुनते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम बूढ़े छन्दों को/ बार-बार बुनते हैं
ताजा अखबारों में गीतों के पन्ने हैं फटे हुए।" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 56*)

बौद्धिक ताप जब गीत में पिघलता है तब भीतरी बर्फ को गला कर संदली धुआं बना देता है। मन पर जमी काई, अवसाद का उड़ता धुआं सूरज की रोशनी भेंटने दौड़ता है। जीवन में छन कर आ रही टुकड़ा-टुकड़ा धूप पूरे आकार में गीत-देह होकर सोलह कलाओं की पूर्णमाशी हो जाती है। बुद्धि और मन को संतुलित करती ऐसी गीत ध्वनियां बेमिसाल तो हैं ही भीतर की जड़ता को तोड़ कर सूरजमुखी हो जाती हैं –
"अलगनी पर/ धूप के टुकड़े टंगे हैं
कुछ पराए अजनबी हैं/ कुछ सगे हैं।" (*चेहरों के अन्तरीप : पृ. 17*)

कुमार रवीन्द्र के गीत अपने परिवेश और तज्जन्य संघर्षों के प्रति जागरूक एवं समकालीन हलचलों को करीने से अपने कथ्य की नोंक पर रखते हैं। कथ्य-जैटिल्य से शिल्प में भी तद्नुरूप गहराई आई है। रवीन्द्र के गीत-बिम्ब सामान्य जीवन की उपज हैं, इनमें रोमानियत अथवा वायवीयता नहीं हैं। जीवन के संघर्षण से उपजे इन बिम्बों में आम आदमी की त्रासदी के चटक रंग हैं। इसलिए भाषा का मुहावरा भी बदल कर जन-जीवन के निकट आ गया है। जीवन के जैटिल्य बोध को तराशती भाषा की बुनावट और उसमें निहित अर्थवत्ता अधिक जटिल हो गई है। रवीन्द्र की गीतीय चेतना जीवनगत अर्थ व्यूहों को भेदने के लिए जहां बौद्धिकता की प्रवृत्ति का स्वागत करती है वहीं वर्त्तमान जटिल प्रसंग-सन्दर्भों को सक्षम रूप से प्रस्तुत करने की नियत से सीधे बतियाती हैं। यही वजह है कि जीवन के प्रति ललक-लालसा का गीत-संस्कार इनमें सघन रूप में अपनी भूमिका निभाता है। लोकधर्मिता, लौकिक-प्रयोगों और प्रस्तुति की ओर रूझान इनके गीतों की प्रमुख विशेषता है।

सम्प्रेषणीयता रवीन्द्र की नज़र में एक सापेक्ष स्थिति है क्योंकि आज के मशीन-आरोपित सभ्य-परिवेश में मनुष्य और उसकी भाषा बड़ी तेज़ी से विसंगत होते जा रहे हैं। मनुष्य और मनुष्य के बीच जो रागात्मक रिश्तों का एक पुल सहस्त्राब्दियों से बना था, वह अचानक या तो ढह गया है या ढहने लगा है, ऐसे में भाषा एक शोर बन कर रह जाती है। आज की भौतिक आपाधापी वाली सामाजिक संरचना में भाषा का संस्कार एक निरर्थक प्रसंग बन कर रह गया है, उथले-पुथले पार्थिव धरातल पर जीने की उत्कण्ठा और विवशता में आपसी सम्प्रेषणीयता मनोरंजन या व्यवसायिक प्रसंगों तक जीवित रह गयी है। ऐसे में गीत की सम्प्रेषणीयता वास्तव में शोचनीय स्थिति में है क्योंकि गीत तो भाषा की अर्थवत्ता का चरम सीमा तक प्रयोग करता है।

गीत का और समग्र रूप में पूरे साहित्य का उद्देश्य मानवीय अस्मिता को जाग्रत रखना है। इसी उद्देश्य को दृष्टिगत कर कु. रवीन्द्र ने अपना गीत-विस्तार किया है। गीत का विकास-विस्तार उसकी आन्तरिक सम्भावनाओं के क्षेत्र में, यथा अनुभवों और अनुभूतियों के धरातल पर अधिक हुआ है। आज के अनर्गल प्रचार-प्रसार तंत्र में वह अप्रासंगिक नज़र आता है। वस्तुतः ऐसा है नहीं क्योंकि यह स्थिति बहुत देर तक नहीं रहेगी और गीत की स्पष्ट सामाजिक मानवीय संस्कार, वृत्ति और आस्था ही आज के अमानवीय प्रसंगों को रोशनी देगी। इस दृष्टि को लेकर ही कु. रवीन्द्र की गीति-सम्पदा सामाजिक मानवीय संस्कार का संरक्षण कर अपना विस्तार करती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लयात्मकता जो गीत का प्राण तत्व है मनुष्य की आस्था की ही गूंज है। यह लयात्मकता आज के सामाजिक प्रसंगों में विखण्डित हुई है। इसके बिना मनुष्य इस दिशाहीन अंधी दौड़ में बहुत दिनों तक चल नहीं पाएगा। यदि उसे जीवित रहना है तो उसे अपनी आस्था और लयात्मकता को पुनः जागृत करना होगा और जीवन का संगीत खोने के बाद मानव जब अपने ही द्वारा सृजित विभीषिका के आमने-सामने होगा, तो उसे गीत ही अपनी शाश्वत लयात्मकता से मानवीय अस्मिता को पुनः प्राप्त कराने में सहायक होगा। अभी तो विज्ञान और उससे उद्भूत भौतिक उपलब्धियों के गहरे कुहासे ने मनुष्य की अस्मिता को ढक लिया है। विज्ञान का यह स्वरूप भी सभ्यता की विकृति है। विज्ञान के सही स्वरूप का गीत की लयात्मकता से कोई विरोध नहीं है। वैज्ञानिक विकास की प्रक्रिया का वह मोड़ बहुत दूर नहीं है जब वह स्वयं लयात्मक प्रसंगों और मानवीय अभीप्साओं के सात्विक प्रयोजनों की ओर उन्मुख हो जाएगी, तब गीत ही भाषा और भाव के स्तर पर उसकी पहचान बनेगा, मानवेतर स्थितियों के विरोध में गीत ही मनुष्य का एकमात्र बचाव है। कुमार रवीन्द्र ने इस सत्य स्थिति को खुले मन से स्वीकार किया है। इसे शब्द देते हुए उन्होंने कहा कि "नवगीत ने छंद को नये आयाम दिये हैं। लय के उन सन्दर्भों को गीत ने जिया है जो आज के मशीनी युग में सर्वाधिक सक्षम हैं जब चारों ओर से जीवन की लय पर प्रहार हो रहे हैं और जीवन को एक सपाट और बंधी हुई मशीनी चर्या में बदल डाला गया है, तब गीत की लयात्मकता से अधिक उपादेय क्या हो सकता है? भौतिकवादी आस्थाहीन समाज का आधार 'उपादेयता' से जुड़ा होता है। यह उपादेयता आन्तरिक उपादेयता से भिन्न होती है, किन्तु उस पर ही टिकी होती है। मनुष्य की आन्तरिकता का लय से गहरा जुड़ाव है। भावात्मक स्थितियां अभी जीवित हैं और उन्हीं से जीवन की सार्थकता भी है। सारी भौतिक आपाधापी के बीच हमें उन रिश्तों की निरन्तर तलाश है जो हमारे जीने को एक अर्थ दे सके। गीत की लयात्मकता इन्हीं घनिष्ठ रिश्तों की है, मेरी अपनी गीत रचना की विवशता भी इसी सच्चाई से जुड़ी है" (*साक्षात्कार : दिनांक 21 जून 1986*)।

रवीन्द्र के लयी गीत वैज्ञानिक भौतिक कुहासे को चीर कर मनुष्य को उसकी अस्मिता का व्याकरण समझाते हैं। लय-ताल की ठुनक प्रतीतियां रवीन्द्र गीतों में भाव-विचार का सेतु-संतुलन निर्मित कर जीवन की समरस व्यवस्था का गायन करती है। लय की अन्तर्ध्वनियों को बांधती रचावगंधी भाषा जीवन की विद्रूपताओं और खण्डित लयों को पूरी कसावट के साथ उभारती है। गीत अपने अनूठे शिल्प और कलेवरगत संक्षिप्तता के कारण अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक विरल-सघन एवं सूक्ष्म होता है। उसकी वैचारिक भाषिक संरचना भी अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक जटिल होती है। शब्दों के तात्पर्य गीत शब्दों से अतिरिक्त होकर उभरते हैं। ये तात्पर्य ध्वनियों, लयों, बिम्बों, प्रतीकात्मक संयोजनों भाषा के भावेतर प्रयोजनों में उपजते हैं जो भाषा को अतिरिक्त अर्थवत्ता प्रदान करते हैं। इसीलिए सपाट बयानी, जो अन्य विधाओं के लिए शायद उतनी घातक सिद्ध नहीं होती, गीत को तो कतई रास नहीं आती, गीत की आत्मा तो उन पारस्परिक संघातिक ध्वनि-समूहों में केन्द्रित होती हैं जिनसे उसकी अर्थवत्ता अधिक गहराई तक निक्षेप करती है, गीत की गूंज इसीलिए अन्य विधाओं की अपेक्षा अधिक आन्तरिक धरातलों तक जाती है और देर तक बनी रहती है। यही कारण है कि रवीन्द्र के गीत उस अर्थलयी निक्षेप अनुगूंजों को सहजेते हैं जो अन्तस्तल को बींध कर मानसरोवर हो जाती है। उनकी सांघातिक गीत तरंगें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चुम्बकीय विक्षेपण के साथ सीधी तरल चोट करती हैं।

स्वानुभूति व्यञ्जक ऋदम इनके गीतों को निखारती है। 'हम कहां जायें' (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 54*), 'हम बूढ़े छन्दों......' (*पृ. 56*), 'हमारे आइने में' (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 89*), '*हम दुःख की झील हो गये*' (*पृ. 86*), आदि गीतों में स्वानुभूतियों का फैलाव आत्मपरक अहसासों की परिपक्वावस्था है।

इनका बिम्ब-विधान बहुत समृद्ध है। 'स्वतन्त्रता हरे-भरे बगीचे-सी' दिखाई देती थी लेकिन उसी स्वतन्त्रता ने आज हमारे कन्दीलों को धुंधला कर दिया –

"भोले थे जो हरियल आकर्षण
पल-पुस कर चील हो गये।" (*पृ. 86*)

परिवेशगत स्थितियों को उजागर करते वस्तुगत बिम्ब भीतरी चटकनों को दरारते वर्त्तमान आधुनिकता को मुंह चिढ़ाने लगते हैं –

"बदले हैं हथियार/ किन्तु आखेट वही हैं।
आदिम मन की भूख/ गुफाएं ठेठ वही हैं।
वही शिकारी वृत्ति/ सिर्फ मृगछौने बदल गये।" (*पृ. 87*)

अधिकांश गीत संक्षिप्त, लयात्मक और टेक पंक्ति वाले हैं। कहीं कहीं एक ही अर्थ को संकेतित करने वाले दो शब्दों का प्रयोग अखरता है –

"वही दहलीजें पुरानी वही सीमाएं/ हम कहां जायें।" (*चेहरों के अन्तरीप : पृ. 20*)

यहां 'दहलीजें' और 'सीमाएं' एक ही अर्थ को ध्वनित करने वाले शब्द हैं।

अनेक गीत ऐसे भी हैं जिनमें जीवन की कठोरता तो व्यक्त होती ही है, इन नवगीतों की कठिनता भी व्यक्त होती है। भाषा की कठिनता और भावनाओं का अप्रत्यक्ष गुंफन एक गांठ बन कर रह जाता है। भाषा में परिष्कार और खड़ी बोली की ठसक है परन्तु रहस्यात्मक गहरे चित्र स्पष्ट नहीं रह पाते और जीवन अनगाया-सा लगता है। रवीन्द्र का पांडित्य और शब्द की प्रतीति उनके नवगीत का सरल सौन्दर्य है। कठिनाई यह है कि रवीन्द्र के गीतों में जो है वह प्रायः इन के समकालीन सभी नवगीतों में है। अतः भाषा और शैली में नवीनता और भिन्नता के बावजूद कुमार रवीन्द्र नवगीत की पंक्ति में अभी तक कद्दावर नहीं हो पाये हैं। प्रतिभा को कोई चिह्नित नहीं कर सकता। यह प्रतिभा अनुभूति के स्तरों को साधारणीकृत कर किसी और नवगीत को जन्म देने की प्रक्रिया में भी हो सकती है। सभी नवगीतकारों ने प्रकृति के खेल खेले हैं क्योंकि इस नवगीत का धरातल गांव है। गांव की ओर सभी की दृष्टि गई है। प्रकृति और गरीबी दोनों का प्रतिनिधित्व गावों में होता है। इसलिए गांव जिसको जितना दे जाता है, पा लेता है। कुमार रवीन्द्र के गीतों में प्रकृति का स्वतन्त्र रूप है परन्तु उनमें आधुनिक जीवन की सर्वातिशयी विडम्बनाओं और विसंगतियों से जूझती हुई अस्मिता का अवसाद है, कुंठाग्रस्त एकान्तभाव का चित्रण है, साथ ही आस्था, विश्वास और सांस्कृतिक निष्ठा भी व्यक्त होती है! विभिन्न शैलियों में लयाश्रित छान्दस-विधान की साधना उपेक्षणीय नहीं है। शैली में एक बांकपन है।

कु. रवीन्द्र हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं के अतिरिक्त विदेशी पत्रों में भी प्रकाशित हुए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। नयी व्यंजनाओं के माध्यम से जीवन को गाना कुमार का स्वभाव रहा है। इनके गीतों में नवगीत का शिल्प सुसंस्कृत शैली में व्यक्त हुआ है। भाषा में नयापन है और भाव बोध में गहनता। बिम्बात्मक प्रतीकों के प्रति कुमार रवीन्द्र साग्रह लगते हैं। अनेक गीतों में बिम्ब का सौन्दर्य अनुभव गम्य है। कु. रवीन्द्र की प्रतिभा में ओज है और हृदय की बात कहने का उन का अपना ढंग। नवगीत की शाब्दिक अभिव्यंजना कहीं कहीं अत्याधिक सुख देती है। अतः कुमार नवगीत का एक सुरभित झरोखा है जिस की लयधारी गीत प्रतीतियों में मेघ नीड़ों का वास है जो सामुद्रिक खारेपन को कलश-मिठास के साथ बरसाते हैं। जीवन के खारेपन को मिठास बनाती कु. रवीन्द्र की अन्तर्कलशी भाव मुद्राएं बौद्धिकता की तर्क-चुभनों को रसीली बना कर जलधारी होती है और खाली होने तक बरसती है, पुनः पुनः अपने को भरती है फिर खाली होती है। जीवन और सृष्टि का क्रम भी तो यही है। जीवन की लय पाने को संधानरत कुमार की नवगीतीय तल प्रतीतियां सरोकारी मानवीय मूल्यों को चषक की तरह खींचती है, रूई की तरह धुनकती है। यही इनकी लयी गीत-प्रक्रिया है जिसने कुमार को अन्तर्राष्ट्रीय काव्य मंच दिया है जो किसी नवगीतकार के खाते में नहीं है।

मध्यवर्गीय कालकूट का साक्षी हस्ताक्षर : माहेश्वर तिवारी

आज यदि नवगीतों का संकलन किया जाए तो वह सिन्धु का रूप ले सकता है। इसकी हर लहर उछल उछल कर स्वयं के अस्तित्व का संकेत देती है। दूर दूर तक भिगोकर लौटने वाली लहर का अस्तित्व भी जल में समाहित हो जाता है। इस सिन्धु के तल को छू कर जो गीत गा रहे हैं उनमें माहेश्वर तिवारी भी हैं। माहेश्वर मंच के प्रतिष्ठित नवगीत के जाने-पहचाने गीत कवि हैं। मैं मंच का प्रयोग विशेष रूप से इसलिए करना चाहूंगा कि मंचीय माहेश्वर तिवारी की शैली ने अनेक गीतकारों को प्रभावित किया है। इसे अतिरिक्त श्लाघा न कहा जाय तो अनेक गीत कवि माहेश्वर तिवारी की धुन में गीत गाते हैं। यह गायन शैली का आकर्षण है। गीत कवि की शैली का प्रसिद्धि में आना उसकी बाह्य प्रस्तुति का सौष्ठव प्रकट करता है। बच्चन, नीरज, शिशु जैसे गीतकारों की गायन-शैली अनुकृत हुई है। यह अनुकरण शरीर का था इसलिए चिरन्तनता नहीं आ सकी। ये लोग गीत को सौष्ठव-संचालन नहीं दे सके। नवगीत में सोम ठाकुर और माहेश्वर तिवारी दो ऐसे गीत-कवि हैं जिनकी गायन शैली नवगीतकारों को बहुत सहारा दे रही है। इस शैली ने यद्यपि अभी तक कोई मौलिकता उजागर नहीं की अपितु धीरे धीरे लगता है नवगीत का लय-संसार फिल्म के जगमगाते जगत् की ओर बढ़ रहा है। इसमें उस का अपराध भी नहीं है क्योंकि जनता गीत के नाम पर उसी तरह के गीत सुनने की आदी हो गई है। अनेक कवि-सम्मेलनों में नीरज को अपने गीत सुनाते देखा-सुना है। प्रसिद्धि से पैसा जुटता चला जाता है। माहेश्वर तिवारी के गायन में भी अपनी मौलिकता है। उन्होंने गीत को ध्वनि दी है, प्रतिध्वनित नहीं हुए।

गायन शैली की ओर ध्यान पहले इसलिए दिया क्योंकि माहेश्वर की शैली विशेष प्रस्तुति तक ही सीमित नहीं है प्रत्युत भावनाओं को नए प्रतीकों-बिम्बों के साथ आन्तरिक लयवत्ता देना भी इन की विशेषता रही है। माहेश्वर तिवारी संस्कार से गीत-कवि हैं। इनके गीतों में भारतीय संस्कृति की सौंधी गंध रहती है। कवि का वातावरण महानगरीय सभ्यता से दूर है अतः उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की पावनता में प्रदूषण नहीं है। इन के गीतों में मन्दिर, आरती, पूजन, फूल, चांदनी, खेल, पनघट, खेतों की मेंड़, छाया, धूप, हवा आदि के प्रयोग मौलिक सन्दर्भों में मिलते हैं।

प्रारम्भ में पारम्परिक गीतों से प्रेरणा ली है और अब पिछले तीस-पैंतीस वर्षों से गीत के क्षेत्र में अपने सृजनधर्मी आचरण से नवगीत को नादात्मक गूंज दे रहे हैं। माहेश्वर पहले शलभ के नाम से लिखते थे। माहेश्वर गीत में सपाट बयानी का पक्षधर नहीं है। गीत और नवगीत में एक मौलिक अन्तर यह भी है कि गीत में सादगी सपाट बयानी लगती है लेकिन नवगीत में प्रतीक सब कुछ कहते हैं। हालाकि प्रतीकों की अपेक्षा माहेश्वर गीतों में बिम्बों की प्रधानता है। रचना के मूल में कवि का निजी अनुभव होता है तथापि अभिव्यक्ति के स्तर तक पहुंचते पहुंचते यह अनुभव या साक्षात्कार व्यक्तिवादी मनोविलास की अभिव्यक्ति न रह कर समूह मन की चिन्ता, छटपटाहट, हर्ष-उल्लास बन जाता है। ये विचार माहेश्वर के गीतों में झलकते हैं। आज का व्यक्ति विभाजित व्यक्तित्व को जी रहा है –

"धूप थे, बादल हुए, तिनके हुए/ सैकड़ों हिस्से गये दिन के हुए।"

(*नवगीत दशक - 2 : पृ. 119*)

यह विडम्बना है कि मनुष्य को इस विभाजन का शिकार होना पड़ता है। माहेश्वर ने मानव मन की इस छटपटाहट को नये शिल्प और नयी भाषा में गाया है –

"दफ्तरों से लौट कर आया शहर/ हम कहीं उन के हुए, इन के हुए....।" (*पृ. 120*)

'पांच जोड़ बांसुरी' और 'एक सप्तक और' में संकलित कवि माहेश्वर तिवारी की पहचान 'हरसिंगार कोई तो हो' के गीतों से विशिष्ट होकर उभरी है। नवगीत को ईमानदारी से प्रतिष्ठित करने के संघर्ष का माहेश्वर साक्षी-हस्ताक्षर है। पांच सौ से अधिक गीतों के रचयिता इस संवेदनशील नवगीतकार की 'एक चिड़िया डाल पर', 'नींद में चुपचाप कविताएं' (दोनों गीत-संग्रह) 'अजनबी शहर में' (ग़ज़ल-संग्रह) 'फूल आए हैं कनेरों में', 'चांदनी के पूर्व', 'सागर मुद्राओं पर तर्जनी' (नवगीत संग्रह) और 'अपनी शताब्दी के नाम' (कविता-संग्रह) रचनाएं प्रकाशन की बाट जोह रही हैं। संप्रति 'हरसिंगार कोई तो हो' इनका प्रतिनिधि गीत-संकलन है। इनके गीतों में नवगीत के मुहावरों ने सार्थकता पाई है। नवगीत की जितनी भी प्रमुख प्रवृत्तियां-विशिष्टताएं हैं उनको एक नये अन्दाज़ के साथ माहेश्वर ने जिया और भोगा है। विक्षोभ और आक्रोश के बीच ज़िन्दगी के तल्ख़ सत्य विद्रूप होकर मनुष्य की अस्मिता को चुनौती दे रहे हैं। विकलांग आस्थाएं, कपोत संस्कृति पर झपटते नाग-गिद्ध, लाचार मानवत्व आचार-संहिता ने ज़िन्दगी के व्याकरण को अशुद्ध कर दिया है। माहेश्वर के गीत इस अशुद्ध व्याकरण के बीच जीवन का सूक्ति दर्शन बन कर उभरते हैं। समूची जनतान्त्रिक व्यवस्था को काटती जा रही लोकतान्त्रिक चेतना, निर्धारित कर दी गई व्यथा परिधियां, अनचाहे निरर्थक संघर्षों से थका पीड़ित जीवन, नक़ार परिस्थितियों के बीच अभिशाप-बीज बोते राजनीतिक नेता, उजाले में उल्लू अंधकार में आदमखोर सत्ता, मर्यादाओं-मूल्यों से अनाचार, रिश्तों की मरूशुष्क गुंजलकें, बंद प्रज्ञायी हृदय झरोखे, ठीक बीच से उधड़ती जीवन सीवनें, सहज ग्राम बोध पर हावी आधुनिक नागरीय पीड़ाएं, पलती असभ्यता के बीच तथाकथित आधुनिक संस्कार-संस्कृति आदि व्यथा के इस रचना दर्शन को माहेश्वर के गीत यथार्थमुख होकर संवेदनात्मक सकारात्मकता देते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल्का-सा मादक मस्त झोंका हरसिंगार की कलियों को अपने अंक में ले उड़ता है। रूप, रस, गंधीय सुरभि समर्पणवती होकर महक उठती है। माहेश्वर के गीत इसी महक को बांधने का प्रयास हैं। इसी महकीले वातावरण के इर्द-गिर्द माहेश्वर के गीत अपनी बुनावट की संघर्ष-यात्रा में जीवन का रचनाशास्त्र रचते जाते हैं। धधकते अग्नि माहौल के बीच पारे-सा बिखर गया जीवन हर सिंगार की रूप रसीय गंध को तरस गया है। भौतिकता के कंचन मृग ने रावण बन कर मर्यादित जीवन की राम अनुभूतियों को अमर्यादित और सीता-सा मोहासक्त कर दिया है। क्षण-क्षण डसते स्थितियों के नाग दंशों ने हरसिंगार के सामने पतझर-परिणय की भूमिका निर्मित कर दी है। कवि का गीत मन सभ्य-असभ्य यातनाओं के आदर्श-यथार्थ को झेलता हुआ बार-बार हरसिंगार के लौटा लाने का यत्न करता है। यही यत्न-संघर्ष जीवन की मूल्य-संचेतना और गीतकार के रचना-सरोकार हैं। कवि की रचनायित दृष्टि आलोक गुंथी है। वह जानती है कि हरसिंगार का लौटना जीवन का लौटना है, मानवत्व की मूल्य गरिमा का संरक्षण है। हरसिंगार को लौटाने की गीतीय नादात्मकता कवि-मन की ही आवाज नहीं है अपितु यह "लोक की आवाज है। मंद बुद्धिहीन करुणा को कोई अकेले कैसे सहेज कर रख लेगा भला। उसके तो वे सभी लोग, जो एक सामूहिक यातना भोग रहे हैं, भागीदार हैं, अधिकारी हैं। इसीलिए कवि गीतकार अपनी हरसिंगार दृष्टि को स्पष्ट करता है।" बेर, कनेर सब आजमा लिये गए। अब लौट आओ हरसिंगार। घर और लोक का यह विषव्य तुम्हीं हर सकते हो। हमें एक बार आच्छादित करके अपने गुण-धर्म हमें दे जाओ, फिर जहां चाहो चले जाना। कोई रोक टोक नहीं लगेगी। कोई नहीं बरजेगा तुम्हें, अगली यात्रा पर निकलने से। क्योंकि पांव के नीचे अब पहले जैसी मुलायम घास नहीं रही। उसका चरित्र भी बदल गया है। इसलिए जहां बची भी है वहां वह नंगे पावों को, तलुओं को सहलाती नहीं, उनमें चुभन पैदा करती है। लोक से तुम्हारी अनुपस्थिति में जगह जगह आक्टोपस उग आए हैं। वे हमारा सारा का सारा रस, सारी गंध चूस लेना चाहते हैं। अब छन्द फिर तुम्हीं से बनेंगे, कण्ठ तुम्हीं से प्राणवान् होगा, आओ! नासाग्रपुटों और नयन देहरी से मन में समा जाओ (*हरसिंगार कोई तो हो : 'लौट आओ हरसिंगार' : पृ. 7*)।

युगीन स्थितियों और नागफनी मानसिकता को मुकुर बनाने के लिए माहेश्वर अपनी शैली और भाषा को खरोंचदार और अनुकूल ताप देकर गुनगुनी थाप देते हैं। जनसामान्य के बिल्कुल करीब जाने के मकसद से वे संस्कृतनिष्ठ शब्दावली से कमोबेश परहेज़ करते हैं। इनकी प्रतीकात्मक व्यंजनाएं सीधी चोट कर भावानुकूल तेवरों में अपनी अभिव्यक्ति को अनेककोणी अर्थ संदर्भों में विस्फोटित करती हैं। सहज, सरल, प्रतीक-बिम्ब परिवेश अंकन को लैन्स की भांति छाप लेते हैं। परिवेश की थकान, ऊब, आस-पास मंडरा रहे चील-कौवे की तरह देखते देखते साकार हो जाती है क्योंकि कवि के रचनाशील मन ने प्रतीक-चयन एवं बिम्ब-कलात्मकता को उरेहने के लिए अपने आस-पास ही देखा है। अनुभव की आंच में पका कर उन्हें गीत-संस्कार दिए हैं। बतियाते शब्द नये अर्थ कोणों से जीवन को ढकते-उघाड़ते चलते हैं। सामान्य से शब्दों के माध्यम से जीवन की समूची व्यथा निचोड़ लेने में कवि मानस की कलात्मक-दृष्टि अचूक है। इस अचूकता और तरलता के कारण जीवन के छिपे हुए अर्थ और सन्दर्भ पारदर्शी होकर गीत-ग़ज़ल हो जाते हैं। अन्य नवगीतकारों में यह विशिष्टता बहुत कम है। शब्द-प्रयोग की इस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भावनात्मक कला ने माहेश्वर के गीतों को उत्कर्ष दिया है। परिवेश का पुनरांकन और शोषण मानसिकता की प्रतीकात्मक व्यंजनाओं का नई अर्थ भंगिमाओं से युक्त माहेश्वर का गीत-संसार मनुष्य के इर्द-गिर्द रह कर उसकी अन्तर्भूमि को परिभाषित करता चलता है। प्रतीकात्मक अभिव्यञ्जना का एक चित्र देखिए –

"कौआ उड़ कर बड़ी दूर से/ आया लेकर दाने।
घर के चूल्हों की बदहाली/ लगा हमें समझाने।
कैसे गौरैया/ आंगन से रिश्ते तोड़ रही है।
और बाज के खतरों से/ अपने को जोड़ रही है।
कितने टिन की सन्दूकों के/ खाली हैं तहखाने।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 151*)

कवि का नज़रिया है कि "रचना अपने मूल में रचनाकार का नितांत निजी अनुभव या अपने आस- पास से सीधे साक्षात्कार का परिणाम होती है किन्तु अभिव्यक्ति तक पहुंचते-पहुंचते वह अनुभव या वह साक्षात्कार व्यक्तिवादी मनोविलास की अभिव्यक्ति न होकर समूह मन की चिन्ता, छटपटाहट, कभी-कभी हर्ष-उल्लास भी बन जाती है। आज आक्टोपस संस्कृति अपनी विविध रूपकारों वाली टहनियों से व्यक्ति और समाज को अपने घेरे में लेने को प्रयत्नशील है। ऐसी स्थिति में अपने अस्तित्व और अपनी अस्मिता को बचाये रखने के संघर्ष को यदि कुछ सार्थक नाम दिये जा सकते हैं तो उनमें से एक नवगीत भी है" (*नवगीत - दशक - 2 : पृ. 242*)।

माहेश्वर के गीतों में सुर, लय, ताल में गुंफित इन्हीं संघर्षमुखी प्रतीतियों का शिराजाल बिखरा है। ज़िन्दगी के बिखराव और दोहराव को व्यक्त करने के लिए कवि 'क्या करें' टेक शब्दों को दोहराता है। वर्जनाओं में घिरा मनुष्य मन व्यर्थता के अहसासों से दबता-घुटता जाता है लेकिन उसे समझ नहीं आता कि वह किस दिशा में प्रयत्न करे कि हरसिंगार की महक उसे पुनः प्राप्त हो जाए। चांटे, कर्ज़, उंगलियां, गाल जैसै बोलचाल के शब्द कवि के अनुभव-पाट को चौड़ा करते हैं और वह नये अर्थ-सन्दर्भों में जीवन को रचता है। 'क्या करें' का विवशता-बोध जीवन की सच्चाई बन कर सिर पर नंगी तलवार-सा लटक जाता है –

"वर्जनाओं से घिरे/ इस कांचघर को क्या करें।
उड़ रही जो हवाओं में/ गर्म/ तपती रेत
कर गई सूना/ दहकती छतें/ जंगल-खेत
शीशे पांव से जड़ी/ इस दोपहर को क्या करें।" (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 51*)

एक ओर महानगरीय विभीषिकाओं का त्रासदी दौर दूसरी ओर सम्बन्ध विघटन का काल कूट। सम्बन्धों के बीच खोखली औपचारिकता, अनमनापन, उदासी बोझ-सा ढोने की मजबूरी मुंहजोही आधुनिकता सभ्यता हो गई है। इसलिए आज 'सम्बन्धों की रेत' पर खड़े हुए हम नितान्त अकेले हैं –

"रेत के इस छोर से/ उस छोर तक हम-तुम अकेले,
जी रहे हैं अनमने सम्बन्ध/ कस्बे, शहर, मेले।" (*पृ. 44*)

समंय के साथ-साथ रीतते जा रहे सम्बन्धों का घनत्व क्षीण होकर गांठों मं बंध गया है। गठीले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्बन्धों के बीच रेतीली गर्मी घुटन कुंठाओं से तपाती ज़्यादा है। पिघलाती कम है। न जाने कहां कब प्यार के सूत्र छूट गए, अजानी घाटियों से घिरी 'प्यार की शीतल छांह' काली स्याह स्थितियों की भेंट चढ़ गयी। गले में पड़े ढोल से संबंध हड्डी बन कर अटके हैं न छोड़ते बनता है न स्वीकार करते 'हम केवल कटे हुए सन्दर्भों वाले मात्र संवाद रह गए हैं।' (*पृ. 46*) भौतिकता की चुंधियाहटों में भटकता हमारा मन शहर-दर-शहर 'हंसी के झरने/ नदी की गति/ वनस्पति का हरापन' (*पृ. 42*) ढूंढ रहा है। महानगरीय रेल-पेल में अस्तित्व की तलाश करता आदमी आज खोखली खींसें निपोरता कृत्रिमता को जी रहा है और उसी कृत्रिमता के सहारे अपने तथाकथित सम्बन्धों के सर्टिफिकेट बांट कर सुर्खरू बन जाता है। नैकट्यबोध, आत्मीयता आज जीवन में सिरे से गायब है। वह समरस समावेशी संस्कृति से दूर अणुयी कल्चर का नायक हो गया है। संत वाणी उसके लिए बेमानी है, मुन्नु के तुतलाते बोल उसकी आत्मा में रस नहीं घोलते। देह पर बने व्याधि छिद्रों की तरह आज जीवन बाह्य चकाचौंध का दास हो गया है। अखबारी समाचार-सा-उसका दैनिक व्यवहार मनुष्यता से दूर चला गया है (*पृ. 12*)।

अकेलेपन के बांझ अहसास खुरचने वाले हैं। देह की हर खिड़की को हरारता अकेलापन पता नहीं कैसे नस-नस में पैठ गया। जीवन की स्वच्छ प्रशान्त झील में क्रीड़ा करती इच्छाओं की मछलियां बर्फ की तरह जम कर पथरा गयी हैं। 'छतनार' से अनबन (*पृ. 13*) छायाविहीन 'खजूर' के घर ले गयी है। पथराये मौसम परिवेश में सभी पराये काटने वाले हैं। नीले, पीले, उजले फूलों से महकते कहकहों के दिन लगता है बीत गए (*पृ. 15*)। ताल से छमछमाते हरे दिन चिल्हकनी उदासी में बदल गए हैं। ऐसे विषाक्त परिवेश में मूल्य-वचन कैसे टिकेंगे। कवि-मानस इन सब स्थितियों को जीते हुए डूबती शामों में भी 'मछुआरी किरनों' को बांधने की कोशिश में बिखर-बिखर जाता है –

"खुली आंखों से देखा तो/ हम थे बबूल थामे
यह अनुभव किश्तों में/ फिर से हम को तोड़ गया।"

(*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 10 जून 1979 : पृ. 23*)

इन देहधर्मी स्थितियों का कोई अन्त नहीं। टूटते-जुड़ते आदमी का जीवन निरीहताओं और बेबस लाचारियों का चिड़ियाघर बन जाता है। पिंजरे में कैद मुक्त दिन जीते हम घुन खाये समय के हस्ताक्षर हो जाते हैं। देह और आत्मा के हर जोड़ को तोड़ता सन्नाटा चुपचाप शब्दों की घण्टियां बजाता है –

"सांस में/ चुपचाप कोई/ शब्द बुनती हैं हवाएं
एक सन्नाटा/ चुभोये बन्द हैं/ सारी दिशाएं।" (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 17*)

उत्पीड़न, व्यर्थता बोध से पैदा ऊबीली खुजलाहट मध्यवर्गीय यान्त्रिक मानसिकता के ऐसे चित्र-बिम्ब हैं जो माहेश्वर के गीतों में जीवित होकर धड़कते हैं। 'पंख कहां खोलें' (*पृ. 82*), 'धुएं का आतंक' (*पृ. 85*), 'क्या करें' (*पृ. 51*), 'झुलसे चीड़ वनों के सपने' (*पृ. 39*), 'देह के बबूल' (*पृ. 27*), 'किसे समर्पे' (*पृ. 24*), 'मन जाने कितना उदास है' (*पृ. 22*), 'झर गया कुहासा' (*पृ. 21*) आदि गीतों में जीवन की यही अंधियारी परछाइयां खौफ़नाक किस्म से हमें कोयला बनाती चली जाती हैं। सामाजिक यथार्थ के ये डैने-डंक टूटती शिराओं में पारा बन कर पसर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाते हैं। सम्बन्धों की गर्मी छाया की छाया मशीनीयन अनुवाद हो कर रह गयी हैं। प्रिया के रसीय बोल, बांकी चितवनें, व्यंग्य-वक्रीय शालीमता के एकान्त पाठ सभी मशीनी ज़िन्दगी के जंग खाये कलपुर्ज़े हो गए। लक्ष्य के बेहद निकट आकर भी हम जलते हुए परिवेश के ताप से यात्राएं छोड़ कर बीच से ही मुड़ गए। कहीं जेठ की सूनी पहाड़ी जैसे नदी-जीवन से हमारी आगत पीढ़ियां परिचित न हो जाए –

"यात्राएं छोड़ कर हम/ बीच से ही मुड़ गये
नहीं छूटे/ कहीं कोई चिह्न/ कोई रेख
जहां/ आगत पीढ़ियां फिर/ सकें हमको देख
उगे थे तो इन्द्रधनु थे/ आंधियों में उड़ गए।" (*पृ. 57*)

बासी ख़बर की तरह जीवन अब नहीं जिया जाता लेकिन कोई चेहरा तो हंसे। सभी मरहलें, कटे गूंगे खेत की तरह निःशब्द गालियां बकते से दिखते हैं। लाचारी का यह बोध अन्दर तक खामोश कर देता है –

"मीत मेरे/ लकड़ियों की तरह
नम होकर सुलगना/ अब नहीं भाता....
टूट जाना नींद/ और सोते हुए भी
इस तरह जगना/ अब नहीं भाता
मीत मेरे।" (*पृ. 58*)

महानगरीय इस यान्त्रिकता को जीते हुए अपने घर-चौपाल की याद करना स्वाभाविक है। 'धूप ने जब भी जलाया गांव और घर सरक कर पास आ गया।' समृतियों के सहारे समस्याएं तो नहीं सुलझतीं, छरहरी यादें फटी बिवाइयों को वेसलीन की तरह पुचकारती जरूर हैं। आग झुलसी तुलसी भावनाएं शहर के शोर गुल की भेंट चढ़ जाती हैं, फिर भी यादों के सहारे चलना तो पड़ेगा ही –

"धूप में जब भी जले हैं पांव/ घर की याद आई
नीम की छोटी/ छरहरी छांह में/ डूबा हुआ मन
द्वार का आधा झुका/ बरगदः पिता/ मां : बंधा आंगन
सफर में/ जब भी दुःखे हैं घाव/ घर की याद आई।" (*पृ. 41*)

'झुलस गये आन्तरिक प्रसंग/ मछलियों के/ मरघट वाला कुत्ता/ देता गलियों के फेरे' (*पृ. 79*), 'गुलाबों की पंखुरी पर आंच फिर दहका गये हैं' (*पृ. 83*), 'नर्म हथेली में चुभता है नागफनी का कांटा' (*पृ. 70*), 'टूटती शिराओं में तैर रहा/ ज़हरीला धुआं ठांव-ठांव' (*पृ. 69*), आदि गीत हैं जो युगीन कशमकश को संकेतों-प्रतीकों के माध्यम से सशक्त व्यंजना देते हैं। 'पत्थरों में घास उगाने' (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 124*) को तत्पर माहेश्वर के गीत 'धूप वृक्ष काटने' (*पृ. 125*) की इच्छा से ही 'अगली सुबह का गीत' (*हरसिंगार क़ोई तो हो : पृ. 59*) गाते हैं। महानगरीय संत्रास से मुक्ति पाने के लिए वह गांव की ओर प्रयाण की वकालत करता है। नए परिवेश की जंगल अनुभूतियों में अब वह जीवन जीना सीख गया है। गांव का आत्मीय बोध उसकी शक्ति है। नदी, ताल, झरने, वन उसमें ज़िन्दा हैं लेकिन शिशु जिज्ञासाएं अब निःशेष हो चुकी हैं (*पृ. 10*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए मानस भूमि पर पूरा देश बिना नागा घटित होता है और वह अपने चारों ओर फैली उक्ताहटों और नंग सच्चाइयों को नहीं नकारता अपितु वह रोजमर्रा दिनचर्या की तरह जड़ता अपने कंधों पर ढोता रहता है। कांटों के बीच छिदी रोती चमेली दुर्गन्धित गलियों में रहने को बाध्य है। इन दुर्गन्धित गलियों को माहेश्वर के गीत चारों ओर से खोलने की चाह में तल तक गोता लगाते हैं –

"आओ/ हम इस घर की/ बन्द खिड़कियां खोलें
बन्द हो गये हैं/ आगामी कल के/ रोशनदान
अन्धी गुफा बने हैं/ इस बस्ती के सभी मकान
इसमें रहते लोग/ निकल कर बाहर झांकें
धूप हवा पानी से/ अपनी भाषा बोलें।" (*पृ. 67*)

'आओ' के सम्बोधन में सभी शामिल हैं। मन की खरोचों को भूल कर आस्था के इन गीतों को गुनगुनाना होगा। तभी हम अन्धी गुफाओं में धंसी बस्तियों को खोल पाएंगे। चिड़िया के गीत पुनः सुन पाएंगे। डर से सहमी अनुभूतियां पिघल कर आकार लेंगी और हम कवि के साथ सामाजिक सरोकारों को रचनात्मक दिशा-दृष्टि से गुलमोहर करेंगे। तभी अपाहिज विश्वास मन की भाषा बोलेंगे। 'झुलस गए आन्तरिक प्रसंग' तब खुद-ब-खुद गीत बन जाएंगे।

माहेश्वर के गीतों में पारिवारिक सम्बन्धों की जीवन्तता, स्थूल प्रणय की अपेक्षा सूक्ष्म प्रेम व्यंजना संयोग-वियोग को समान रूप से स्वीकारती है। विप्रलम्भ की मार्मिक उक्तियां इनके गीतों का श्रृंगार हैं –

"हम जहां थे खुली किताब के पन्नों की तरह
आज हर गीत में बीते हुए पत्र याद आये।" (*साप्ताहिक हिन्दुस्तान ; 10 जून 1979 : पृ. 23*)

प्रणय गीत की प्रेरणा बन कर रोम-प्रतिरोम बिछ जाता है –

"शायद तुमने/ मेरा नाम ले पुकारा,
गुनगुनाहटें फूटीं तार-तार की।" (*कादम्बिनी : दिसम्बर 1968*)

दुःख, व्यथा गीत की मूल भूमि है। 'सांस-सांस सारंगी' की तरह बजती व्यथा का 'तनहा सफर' (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 86*), 'गर्म हवाओं की चर्चा में बदल जाता है जब 'कोंपली किरन सुबह' धोखा देकर 'जेठ की दुपहर' हो जाती है। नाते-रिश्ते गमगीन परछाईं बन कर खामोश हो जाते हैं और कवि-मानस के गीत-ग़ज़लीय छाले फूट जाते हैं –

"हम अपने आंसू गाते हैं
वे कहते हैं गीत रचा है।" (*पृ. 87*)

आध्यात्मिक रहस्यात्मकता के संकेत भी माहेश्वर के गीतों में है। तन्हाई के आलम में यही प्रश्न उसके ज़हन में बार-बार कौंचता है कि 'कौन हमें चूल्हे की आग में ज़िन्दा खरगोश-सा पकाता है' (*पृ. 79*) और –

"इन अंधेरी घाटियों में कौन चलता
मुट्ठियों में थाम मेरे हाथ।" (*पृ. 35*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के प्रति नवगीतकारों का रुझान घर लौट कर आने जैसा है। प्रकृति के माध्यम से कमोबेश सभी नवगीतकारों ने मन की परतों को खुल कर खोला है। प्रकृति को हर कोण से जांच परख कर उसे मानवीय संवेदनाओं में ओटाया है। प्रकृति के अनेक रंगों ने माहेश्वर को लुभाया है और हृदय की सार्द्रता ने उन्हें द्रवित किया है –

"खामोशी टूट गई फिर पठार की/ लहरों से पांव छू गया कहीं दुबारा।"

(*नवगीत दशक - 2 : पृ. 120*)

इस प्रकार की मनः स्थिति पर चिन्ता घिर आती है तो वह शाम का चित्र खींचते हुए पूछता है –

"हर तरफ कांटे/ किधर माथा टिका सोयें/ शाम के गहरे धुंधलके।" (*पृ. 121*)

प्रकृति की आनंदानुभूति में यह मानसिकता बाधा पहुंचाती है। वह मैना से मना करता है कि वह पिंजरे की भाषा न बोले। स्वतन्त्रता की अनुभूति को भारतीय मन भोग नहीं पाया, समझ नहीं पाया। आज जीवन का गुलाब कांटों से घिर गया है। लगता है जीवन का अस्तित्व ख़तरे में है –

"सारे छज्जे, छत पथराव में/ जीते हैं घृणा के अलाव में/ हम घर की जलती मेहराबों का क्या करें!" (*पृ. 122*)

वस्तुतः मनुष्य इस वातावरण में जीने को विवश हो गया है। इस जाल से निकलने का कोई रास्ता भी नहीं है। वह स्वयं से पूछता है –

"ऐसा क्यों लगता है/ गीतों से भरा हुआ मन/ जैसे हो बिल्कुल खाली।" (*पृ. 124*)

यह खालीपन ही जीवन का रस सोख रहा है। यह खालीपन व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व में व्याप्त हो गया है। औद्योगिकता, नगरीकरण, वैज्ञानिक वैचारिक शुष्कता मनुष्य को नीरस बनाते जा रहे हैं।

ग्रीष्म की जेठी तपन अन्दर तक झुलसाती है। कवि का संवेदनशील हृदय 'सूरज' को सम्बोधित कर उससे ही ताप हरने की प्रार्थना करता है क्योंकि तपन-झुलसन नन्हें और निरीह पशु-पक्षियों की जीवन पाखों को निगलने लगी है। गीतकार की संवेदनशीलता के इन प्रकृति-बिम्बों में खरगोश के नन्हें पंख, दुखती हिरन-आंख, हंसों की गोरी पांख ही नहीं मानवीय चेतना के आन्तरिक राग की झुलसन भी है। शोषण और यान्त्रिक जीवन के ताप ने छोटे-छोटे सुखों, भावनाओं की कस्तूरी खुशबू, विवेकशील वैचारिक पाखों की आत्ममंथित गीत-छाया को भी निगल लिया है। इसलिए कवि की रचनात्मकता इस तपन को हर कर नयी रूप चेतना के साथ युगीन प्रासंगिकता में जीवन की तमाम झुलसनों को 'कस्तूरी हंस पांख' बना देना चाहती है –

"सूरज ओ/ ताप हरो/ जलते हैं/ खरगोशों के नन्हें पांव/ पेड़ों की टहनियों में सिमटी है छांव/ बादल के/ फूल झरो/ दुखती है/ कस्तूरी हिरनों की/ आंख/ हंसों की झुलस गई है/ गोरी पांख/ अब तो/ ऐसा न करो" (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 11*)।

इसी प्रकार 'झील जल पथरा गया' (*पृ. 13*), 'एक नदी भीगे वस्त्रों सी' (*पृ. 60*), 'झुलसे चीड़ वनों के सपने' (*पृ. 39*), 'मन नदी के द्वीप-सा' (*पृ. 37*), आदि गीत प्रकृति की ओट से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समसामयिक संदर्भों के छल को संवेदना की आंच में पिघलाते हैं।

प्रकृति माहेश्वर के गीतों में सुगंध की तरह महकती है। कवि प्रथम दर्शन से ही हरसिंगार के फूलों और उसकी आत्मीयतापूर्ण सहलाव भरी गंध पर निहाल हो गया है। इसीलिए हरसिंगार मात्र वृक्ष नहीं है कवि के लिए वह प्रीतीय सुखकर आकांक्षाओं का प्रतीक है। 'लौट आओ हरसिंगार की गुहार' इसीलिए है। प्राकृतिक क्रिया व्यापारों में मानवीय भावनाओं का साधारणीकरण एवं स्मृति बिम्बों की ताज़गी मन को लुभाती है –

"बैठ के गुलमोहर की नर्म घनी छावों में
धूप में नींद के भुलसे हुए पल याद आये
हाथ की खुशबू है/ छाया है कई चेहरों की
गीत के बोल हैं/ सांसों में थरथराते हुए....।" (*यात्रा में साथ साथ : पृ. 39*)

नये-नये बिम्बों की उपमाओं को समेट कर 'याद तुम्हारी' गीत 'रीते घट' पर ही मोहित हैं। स्मृतियों के कंचन-कलश की छलकन अकेली किरन से शरारत करती कभी आंगन में हंस बन कर उतरती है तो कभी 'दूर चिनारों के वन को' लांघ कर कंगनी पर कपोत जोड़े का वंशी स्वर चहकाने लगती है। माहेश्वर में स्मृति-बिम्बों की अटूट प्यास है। इस प्यास की छलकन को महसूस कीजिए –

"याद तुम्हारी जैसे कोई/ कंचन-कलश भरे,
जैसे कोई किरन अकेली/ पर्वत पार करे।
लौट रही गायों के संग-संग/ याद तुम्हारी आती,
और धूल के संग-संग/ मेरे माथे को छू जाती।
दर्पण में अपनी ही छाया-सी/ रह-रह उभरे,
जैसे कोई हंस अकेला/ आंगन में उतरे।" (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 9*)

घटनाओं की पथरीली सनसनी स्मृति के वातायन खोल कर खग-सी फड़फड़ाती चीख बन कर कंठ में अटक जाती है। शब्दों की कटान बिम्ब को नुकीला बना देती है –

"सनसनाते हुए पत्थर-सी/ फेंकता है कौन घटनाएं
फड़फड़ाती हुईं तारीखें/ बन रही इतिहास की चीखें।"

(*धर्मयुग : 22 अक्टूबर 1981 : पृ. 18*)

माहेश्वर तिवारी के समावेशी चिन्तन में गांव और नगर की उदासी हटाने का संकल्पीय गीत बोध है –

"अमलतास गहरा कर फूले/ हवा नीम गाछों पर झूले,
चुप हैं सब गांव, नगर, आदमी/ हम को तुमको सब भूले,
हर तरफ घिरी-घिरी उदासी/ आओ हम मिल जुल कर छांटें।"

(*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 149*)

सुरबद्ध संगीतात्मकता का अभाव होने के बावजूद माहेश्वर के गीतों की प्रवाही शक्ति मुतास्सिर करती है। संगीत ताल, सुरीली ध्वनियों का अभाव लयात्मक शब्दों की कोंचन के बावजूद गीत की ऋदम को बाधित करता है। शब्दों में नयापन युगीन खरोंच और लोच है। जब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन का सुरीलापन ही सिरे से गायब है फिर रचनाकार से इस की उम्मीद भी नहीं करनी चाहिए। साधारण शब्दों में भरी नयी अर्थ व्यञ्जनाएं जीवन के अनगाये संगीत को खरोंचती जाती है, इसलिए गीतों का पठनीय प्रवाह लोच के साथ ज़िन्दगी की सच्चाइयों से रूबरू करता है –

"सुबह-सुबह की हवा/ रख गयी/ पीली धूप अंगोछे में।
आसमान : उलझा सवाल/ फिर/ धंसने लगा निगाहों में।
शोर-शराबे चायघरों के/ लगे/ फैलने बाहों में।
धीरे-धीरे लगी सिसकने/ पीली-धूप अंगोछे में।" (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 56*)

बौद्धिकता का ताप यद्यपि माहेश्वर के गीतों में नहीं है फिर भी अधिकांश गीतों में अनुप्रासात्मक, पुनरुक्ति और आन्तरिक संगीत का अभाव है। टेक-पंक्ति से जो कार्य लिया जाना चाहिए था वह इन्होंने नहीं लिया। शब्द-संयोजन सटीक है लेकिन लयात्मकता इनमें भी खण्डित है। इनके गीतों में एक अनोखी नादात्मक गूंज है जो लयात्मकता को अपने अंक में समेट कर एक अनोखा भ्रम बनाये रखती है। 'बांह के आकाश होते ही' (*पृ. 57*) गीत में चिटकनें, कंपकंपी, तन गईं, थरथरे आदि शब्द नादात्मक गूंज के ही पर्यायवाची हैं। 'झील का ठहरा हुआ जल' (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 123*), 'शायद तुमने मेरा नाम ले पुकारा' (*पृ. 120*) और विभाजित व्यक्तित्व' (*पृ. 119*) गीतों में यही गूंज बनी हुई है।

इसमें कोई शक नहीं कि "गीतों में छन्द बद्धता के साथ ही साथ एक आन्तरिक लय अन्तः सलिला धारा की तरह मन को अनुगूंज के स्पर्श से देर तक थरथराहट से भरा रखती है" (*अनूप-अशेष : लौट आएंगे सगुन पंछी : भूमिका*)। 'पहला पानी' जैसे गीतों में आन्तरिक लय की अनुगूंज ने 'थरथराहटों' को देर तक कायम रखा है लेकिन इसमें यह अनुगूंज पुनरुक्ति के कारण अधिक है –

"पहला पानी झरने-झरने/ सीढ़ी-सीढ़ी लगा/ उ/ त/ र/ ने
हरियाली ने/ नक्शे खींचे/ पत्तों-पत्तों/ बाग-बगीचे
सूखे मौसम की दरार से/ भीतर-भीतर लगे गुज़रने।
हल्दी न्योत गई पुरवाई/ पन्ने-पन्ने/ आकर ढाई
घाटी-घाटी जंगल-जंगल/ दीखे सींगों वाले अरने।" (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 75*)

माहेश्वर ने अनेक गीतों में ग़ज़ल जैसा समां बांधा है –

"दिन बड़े हो गये/ जैसे कुछ अपाहिज
पांव पर अपने/ खड़े हो गये।" (*पृ. 79*)

"अक्सर/ हम तनहा होते हैं जब
एक प्रश्न बार-बार/खुद को दुहराता है।" (*पृ. 87*)

विशुद्ध ग़ज़लें माहेश्वर का अगला गीत चरण है। ग़ज़लों का मूल कथ्य भी महानगरीय विभीषिका ही है –

"शहर दर शहर शोर मचा है
गर्म हवाओं की चर्चा है।" (*पृ. 43*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मैंना री ! पिंजरे की भाषा मत बोल' गीत में लोक लयात्मकता की संगीतात्मक प्रवाहात्मकता है। ऐसे गीतों के रसीय बोलों से ही माधुर्य टपकता है।

काव्यनुशासन के लिए छन्द माहेश्वर की दृष्टि में बेहद जरूरी है। "भारतीय कविता में छन्द की भूमिका काफी अहम् रही है और वह कहीं न कहीं से उसकी पहचान का भी एक जरूरी उपकरण है। गीत इस माध्यम का एक जन स्वीकृत स्वरूप है....छन्द भारतीय मन के काव्य-आस्वादन से रिश्ता बरकरार रखने के लिए जरूरी है। अतः वह छन्द की हिमायत करता है किन्तु विषयवस्तु की अपेक्षाओं के दबाब की भी उसे ठीक-ठाक पहचान है इसलिए वह परम्परावादी छन्द और कण्टेण्ट की मुठभेड़ से अपने लिए नए छन्द-रूप की तलाश करता है। अभी भी लय को आंख मूंद कर खारिज किये बगैर नवगीत और शब्द की ध्वनियों से बनने वाले छन्दों को अधिक तरजीह देता है" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 38*)। माहेश्वर की लयात्मक शब्द-ध्वनियां स्वयं ही छन्द में ढलती चली जाती हैं –

"फूलों-सा आज हमें कर गयीं उंगलियां फिर/ तितली के पर छूने वाली
सूने पन को आकर भर गयीं उंगलियां फिर........।" (*पृ. 40*)

एक विशिष्ट अंदाज में माहेश्वर के गीत-ग़ज़ल गुण चरित को साकार करते चलते हैं। यथा- 'अंधी सुरंग पर लेटा शहर' (*नवगीत अर्द्धशती : पृ. 187*) गीत में 'अंधी सुरंग' प्रतीक है अनाचार, अव्यवस्था, आतंक, दहशत, अनास्था आदि की जो पूरी मानसिकता का बिम्ब खींच कर सिलसिलेवार स्थितियों को उघाड़ती है। इसी प्रकार 'आहटों का सिलसिला' (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 46*), 'धोखे सुर्खाबों के' (*पृ. 47*), 'अंधेरी खाइयां' (*हरसिंगार कोई तो हो : पृ. 49*), 'चांदनी के फूल झरने' (*पृ. 48*), 'देह के बबूल' (*पृ. 27*) आदि गीत गुण चरित को साकार कर समय और स्थितियों के आखेट को बांधते चले जाते हैं। 'दिन' के विशेषणों पर दृष्टि डालें 'मुट्ठी में बंद दिन' (*पृ. 53*), 'सारे दिन' (*पृ. 12*), 'बीत गए दिन' (*पृ. 15*), 'दिन के हुए' (*पृ. 29*), 'दिन हवा के रेत के' (*पृ. 32*), 'गुलेल दिन' (*कादम्बिनी : मई 1974 : पृ. 67*) 'आदिवासी दिन' और 'कहानी से दिन' (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 43*) गीत में तो अनेक उपमाओं- विशेषणों से दिन के गुण-चरित को साकार किया है –

"बादल से दिन/ पानी से दिन.....कहानी से दिन...राजा से दिन/ रानी से दिन....बोली से दिन/ बानी से दिन....." (*पृ. 43-44*)।

सौंधी आत्मीयता, अछूती संवेदना और अभिव्यक्ति की ताजगी माहेश्वर की नवगीतीय व्यंजनाएं हैं। इस गीत कवि ने रचनात्मकता की बेचैन अन्तश्चेतना को रूपाकार दिया है। छट-पटाहट भरी प्रसव-प्रक्रिया को इसकी गुनगुनाहट ने सहज बनाया है। रचनात्मक विकास के साथ साथ शिल्पगत कसाव अपने आप अपनी जगह बनाता गया है। मार्क्सीय वैचारिक प्रतिबद्धता ने इन्हें हमेशा शिल्प की अपेक्षा कथ्य पर जोर देने को प्रेरित किया है। अपने एक साक्षात्कार में हांलाकि उन्होंने किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता को साहित्यकार और कलाकार के लिए गठरी (*साक्षात्कार : 11 फरवरी 1988*) कहा है लेकिन प्रतिबद्धता रचनाकार की विवशता है - कह कर वे मार्क्सीय विचारधारा में अपनी खुली अभिरुचि प्रकट करते हैं। गीतकार का रुझान गीत की साहित्यिकता पर ही अधिक है जो इन के मार्क्सीय वैचारिक अन्तर्विरोध को स्पष्ट करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्क्सीज़्म तो साहित्यिकता को आवश्यक नहीं मानता, उद्देश्य पूर्ति के लिए, वैचारिक प्रचार-प्रसार के लिए गाली देना भी उस की यथार्थ साहित्यिकता का अंग है। इसलिए मार्क्सीय विचारणा के साथ साहित्यिकता की वकालत को स्पष्ट परिभाषित करना होगा। नारेबाजी की भाषा साहित्यिक नहीं हो सकती। इसलिए साहित्यिकता को सुरक्षित रखने के लिए मार्क्सीय विचारधारा को संशोधित रूप में स्वीकारना होगा। जहां तक संगीत का सवाल है वह तो 'गीत के भीतर से ही फूटता' है। प्रतीकों की अपेक्षा बिम्बात्मकता की ओर माहेश्वर का ज़्यादा झुकाव है। इसलिए 'बादल' इनके गीतों में कहीं उल्लास, कहीं तरलता का परिचायक है तो कहीं वह अवसाद की दिशाएं भी संकेतित करता है। कमोबेश यही स्थिति धूप की है। 'चिड़िया' और 'मछली' की प्रतीकात्मकता सामान्य जन का प्रतिनिधित्व करती है जिस का प्रयोग माहेश्वर गीतों में अक्सर हुआ है। माहेश्वर की दृष्टि में नवगीत 'समूह मन के गीत' हैं (*साक्षात्कार : 11 फरवरी 1988*)।

तिवारी की भाव भंगिमा तिरछी चितवन से जीवन देखना है। इनके गीतों की मुद्रा ऐसी ही बंकिम है। गीत का उठान और टेक के साथ तुकान्त बड़े ही प्रभावशीली होते हैं। गीत की सम्प्रेषणीयता का गुण इन गीतों में भरपूर है। साहित्यिक कसौटी पर भी ये गीत खरे हैं क्योंकि इनमें मानवीय संवेदनाओं का उपयोग बड़ी मार्मिकता से हुआ है। इन में जीवन के अनुभव और सामाजिक अनुभवों का सलोना तादात्म्य है। प्रकृति की छटा में छने कई गीत अत्यन्त मनमोहक हैं। संक्षिप्तता और गंभीरता दोनों नवगीतीय विशिष्ट गुण इनके गीतों में मिलते हैं। जहां नवगीत के विचारात्मक पक्ष और शैलीगत सौन्दर्य की चर्चा होती है वहां माहेश्वर का स्मरण किया जाता है। इनके अनेक गीत चरण उद्धरणीय सिद्ध हुए हैं। नवगीत के समालोचकों का ध्यान माहेश्वर तिवारी ने खींचा है, यह शुभ आरम्भ है। नवगीत की इस उपलब्धि की चर्चा शेष है। कितना साहित्य प्रकाश में आया है नहीं कहा जा सकता। प्रयत्न करने पर भी कुछ कृतियों की अनुपलब्धि और जानकारी का अभाव अनेक प्रश्न चिह्न खड़े कर देता है।

माहेश्वर के गीत वस्तुतः 'हरसिंगार' की प्रतीक्षा में हैं कि कब हरसिंगार आएगा और कब मानव कैक्टस-संस्कृति के मोह से छूटेगा। हरसिंगार की रस गंधीय स्मृतियों को अर्क बना कर कवि ने अपने गीत-कलश को समाधिस्थ किया है। हरसिंगार को लौटाने की गुहार आक्टोपस संस्कृति का प्रतिकार है।

कड़ी धूप में जलता शहर : उमाशंकर तिवारी

इन दिनों साहित्य में आधुनिकता बोध, उत्तर आधुनिकता आदि विशेषणों का बहुतायत प्रयोग हो रहा है। आधुनिकता बोध का सामान्य अर्थ यही लेना चाहिए जहां लेखक आधुनिक जीवन की समस्याओं, मनोवृत्तियों, पद्धतियों और रूपनिर्मित को अपने लेखन-केन्द्र में रखता है। यह वांछित भी है क्योंकि वर्त्तमान से ही वह भविष्य के जीव की रूप रेखाओं में रंग भरता है। साहित्य में जीवन के अभाव की कल्पना ही नहीं की जा सकती। अतः आज जो नवगीत, गीत, कविता जो कुछ भी लिखा जा रहा है उसमें जीवन प्रतिबिम्बित होता ही है। उमाशंकर तिवारी के गीतों में भी जीवन के हास रुदन, सुख-दुःख, शोषण, अत्याचार, कुंठा, संत्रास आदि सभी कुछ मिलता है। तिवारी जी ने ठीक कहा है कि वे नवगीत को जीवन से जुड़ा हुआ काव्य मानते हैं। आज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नवगीत में जीवन की वे सभी परिस्थितियां हैं जिन के बीच से होकर आज का आदमी गुज़र रहा है। तिवारी जी के गीतों में उन भोगे हुए क्षणों को बांधने की कोशिश है जो जीवन को नीरस होने से बचाते हैं, नवगीत की भाषा में इसे गुनगुना अहसास कहा जाता है। इनके गीतों में गांव घर, रिश्ते-नाते, प्यार-प्रेम सभी कुछ है परन्तु कवि की मुख्य रूप से सूक्ष्म दृष्टि उस भागते हुए, हांफते हुए, टूटते हुए, उठते-गिरते हुए, त्रासद परिणतियों के सुपुर्द होते हुए आदमी पर अधिक केन्द्रित है। इस आदमी ने ही गीत को यह शक्ति प्रदान की है कि वह संपूर्ण युगसत्य को आत्मसात् कर सके। कवि के शब्दों में 'नवगीत आधुनिक जीवन का यथार्थ प्रतिवेदन है।'

'जलते शहर में' और 'धूप कड़ी है' उमाशंकर तिवारी के नवगीत चरण हैं। इस के अतिरिक्त नवगीत दशक - 2 में भी इनके कुछ गीत संकलित हैं। इन गीतों में समसामयिक व्यथा, घुटन और जीवन के प्रति व्यर्थता का भाव प्रभावपूर्ण शैली में चित्रित हुआ है। नवगीत की युग सापेक्षता स्पष्ट हो चुकी है। इसलिए यह सत्य है कि कविता सुन कर ताली बजाने की नहीं, अपने भीतर डूब जाने की वस्तु है। तिवारी जी के शब्दों में नवगीत सीढ़ियों की नहीं, छलांगों की कविता है, यही कारण है कि नवगीत तेजाबी स्वभाव रखता है। वर्तमान जीवन की छवि और कुंठा को व्यक्त करते तिवारी के गीतों में तनाव की सख्त परतें हैं। स्थिति का जायज़ा लीजिए –

"उफ़ वो हंगामा हुआ, जब थम गए, मिल गयी ठंडी उपेक्षा, जम गए,
फिर तो पथराना हमारा शेष था।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 71*)

जीवन की गति को इन्हीं परिस्थितियों ने विराम दिया है –

"पैर बेमानी हुए, वे हाथ के कंधे हुए हैं,
हादसे के बाद के अहसास से अंधे हुए हैं,
एक अंधे की वसीयत हम युगों से बांचते हैं.....।" (*पृ. 72*)

पीढ़ियों के इस अन्तराल और आक्रोशपूर्ण स्वर आज के गीतों में पर्याप्त मुखर हुए हैं। नवगीत गायकों ने शहर पर बिजलियां गिराई हैं तो तिवारी जी शहर पर टिड्डियों को टूटते अनुभव करते हैं। शहर का श्याम चित्र प्रभावित करता है –

"रोज की शव यात्रा सी, शाम की कैसी पुकारें, क्या करेंगी चीटियों सी रेंगती लम्बी कतारें।"
(*पृ. 73*)

जीवन के इस नगरीकरण की आलोचना प्रायः सर्वत्र मिलती है। यह ख़तरा सभी के सामने है क्योंकि यह वातावरण जीवन को निर्जीव कर रहा है।

तिवारी जी के गीतों में पाश्चात्यीकृत महानगरों की विकृत सभ्यता और तज्जन्य भयावहता की अत्यन्त सुन्दर अभिव्यक्ति मिलती है। इसके लिए नवगीतकारों ने गांव की मिट्टी की गंध अपने गीतों में भरी। नगर की प्रदूषित फैशनपरस्त परिस्थितियां जीवन के रस को सोखे जा रही हैं। नवगीत ने भारतीय संदर्भ में गांवों को आदर्श बना कर भारतीयता का संरक्षण किया है। आज के गांव भी यांत्रिक और उद्योग प्रधान होते जा रहे हैं –

"ये शहर होते हुए से गांव/ पहचाने नहीं जाते।
अब न वे नदियां, न वे नावें/ हवाएं भी नहीं अनुकूल...।" (*धूप कड़ी है : पृ. 11*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी प्रकार जीवन की मार्मिक अनुभूतियों का विविध रूपों में चित्रण हुआ है। आज का मनुष्य लूट मार, हिंसा, शोषण और संत्रास का शिकार है और शायद युगों से उस की यही नियति रही है –

"हो गया फरमान जारी है/ फिर उठे हैं बेरहम कोड़े।
पीठ दुहरी हो गयी तो क्या/ रस्म है यह कौन क्यों तोड़े।" (*पृ. 14*)

समसामयिक संवेदना की धरोहर है 'जलते शहर में' जब चारों ओर दहशत, आतंक, उग्रवाद शिकंजा कसता जा रहा हो तब गीतों में भी युग की दुर्दान्त त्रासदी ही घायल आखेट बिम्बों के बीच हांफती दौड़ लगाएगी। गीत बिम्बों में इसी जलती त्रासदी के अनुभव बिम्ब हैं –

"आंखों में धुएं की लकीरें/ लपटों में चीखती सदी
टूट टूट जलती तस्वीरें/ चीरों को लम्बाती चीरें
बन्द गली में, फुटपाथों पर/ भीड़ रेंगती धीरे-धीरे
आवाजें केवल आवाजें/ डर, दहशत ऊब से लदी।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 80*)

सिलसिलेवार दुःखों-व्यथाओं के सर्ग ओढ़ कर नियति को गाली देना भारतीय मानस की विवशता है। चारों ओर का पर्यावरण ही जब अशुद्ध है फिर घुट-घुट कर मरना भी असहज हो जाता है। हवाएं खारी होकर डराती हैं, बादल घुड़की देते हैं, सूरज की आंख-मिचौनी दहशत पैदा करती है, चन्द्रमा की छाया ताप देती है, लगता है सब कुछ उल्टा-पुल्टा हो गया है। तनावों के बीच घिसट रहे जीवन के सत्य काल के हस्ताक्षर बन कर हर चेहरे को पोत देते हैं। स्याह अंधकार की इन परिवेश-प्रतीतियों के बीच टूट-टूट कर जुड़ना होगा और जुड़-जुड़ कर टूटना होगा। दहशत और आतंक के वस्तुगत बिम्ब तने हुए परिवेश की थकन प्रतीतियों के बेसुरे गीत बन कर उभरते हैं –

"नस्लों के माफिक ताबूत गढ़ गये होगें,
बचे-खुचे दहशत की भेंट चढ़ गये होंगे,
खुले हुये चेहरों वाले नकाबपोशों के
तीखे नाखून बढ़ गए होंगे
जबड़ों के दोज़ख की सीढ़ियां उतरना.....उफ मरना।
रोज़-रोज़ मरना/ तने हुए चेहरों के बीच से गुज़रना।" (*जलते शहर में : पृ. 32*)

'दहशत का अंधा दानव' धीरे-धीरे सब को लील रहा है –

"टूटे दरवाजों पर बिखर गयी राख/ जलता है सिगरेट की आग से शहर
सभी ओर चीख और शोर/ इन्सानी दर्द सभी ओर
दहशत का अंधा दानव/ लील रहा सभी ओर-छोर
कुत्ते से भाग रहे पागल इन्सान/ हर घर है बना हुआ एक मौत-घर।" (*पृ. 1*)

'धूप कड़ी है' में कवि इन निराशावादी स्थितियों से उबरा है। हालांकि समय के घोड़े सूर्य के रथ- चक्र को तोड़ कर उससे 'दिन को लुढ़का देते हैं' (*पृ. 46*)। तब भी रोशनी पराजित नहीं होती। हर अमावस्या के बाद आकाश चांदनीमय हुआ है। रात्रि गर्भ से तमतमाता सूर्यपुत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जन्मा है फिर दुःख के बाद सुख कैसे अजन्मा रह सकता है? इसी बोध को कवि रचनायित करते हुए कहता है कि "मैंने उन भोगे हुए क्षणों को भी बांधने की कोशिश की है जो ज़िन्दगी को रेगिस्तान बनने से बचाते हैं जिन्हें गुनगुना एहसास कहा जाता है और जिनका सम्बन्ध गांव-घर, नाते-रिश्ते प्यार से होता है" (*धूप कड़ी है : भूमिका*)। कवि-शब्द उसके मन का दर्पण है। वह शब्दों से खिलवाड़ नहीं करता बल्कि पारिवारिक सुख-समृद्धि की कल्पना करते हुए उसमें प्यार की खुशबू देखना चाहता है –

"बांध लेगी फिर हमें सोयी हंसी/ गोद में दुबके हुए से सुर्ख नन्हें पांव।
हम कभी सिद्धार्थ हो सकते नहीं/ हार बैठे, खूबसूरत दांव।
छोड़ कर जायें कभी जो यह शहर/ देर तक हिलते रहेगें हाथ।" (*पृ. 12*)

कल तक जंगल की जो आग नगरों-महानगरों को लील रही थी, चारों ओर चीख, दहशत का भयानक दौर था, कत्ल करने वाले खुश हो रहे थे, प्रदूषित हवा अंहकार के कोड़े पर सवार होकर जनमानस को फटकार रही थी, 'काली नदी के दायरे में सिमट चुके सब ज़िन्दगी को विलाप-स्वरों में गा रहे थे, अब इन्हीं जीवन के विलाप स्वरों को कवि का रचना-मन 'तथागत' भावों से करुणार्द्र करता है। 'जुगनुओं की फौज' लेकर इन स्थितियों को पराजित करने के लिए रोशनी बोने का प्रयत्न कर रहा है।

सामाजिक, राजनैतिक, मूल्यों को निगलती आदिम बनाती असंगतियां, साम्प्रदायिकता, अलगाववाद, नगरीकरण आदि आज हमारे लिए सबसे बड़ी चुनौती है। इन विसंगतियों ने न केवल हमारी प्रकृति-नदी, जल, धरती, जंगल, पर्वतों आदि को प्रदूषित किया है अपितु हमारे आचार-व्यवहार, घर-शहर, सम्बन्धों में भी प्रदूषण भर दिया है –

"थरथराते हैं नदी के पांव/ पर्वत कांपते हैं,
पीठ पर कोड़े उगाये, डाकिए/ खत बांटते हैं,
एक ज़हरीली हवा की सांस ने/ जब से छुआ है,
हो गई धरती धुआं घर, हर शहर/ जंगल हुआ है,
आदतन बौने सिपाही/ हर सुबह को डांटते हैं।" (*पृ. 17*)

ज़िन्दगी आज घुमावदार सीढ़ियां बन कर रह गई है। इसीलिए रोशनी और रास्तों की पहचान अनिवार्य है। सहयात्री और सहयोगी शत्रु और मित्र की शिनाख्त आज जरूरी है। तिवारी का गीत-पथ रोशनी की इन्हीं तकरीरों को बिछाता है।

इसके अतिरिक्त तिवारी जी ने प्रकृति का चित्रण भी नये मिज़ाज से किया है। जाड़े की दुपहर को कवि ने देखा, महसूसा तो कह डाला –

"दोपहरी जाड़े की/ गुस्सावार भोर
पी रही जैसे घूंट/ गर्म काढ़े की।" (*पृ. 47*)

इसी तरह 'सूरज की सौगात', 'मेघ घिर आये', 'फिर शाम हुई', 'हेमन्त, हिमालय और हम' जैसे गीत कवि की प्रकृति स्नेही प्रवृति का परिचय देते हैं परन्तु इस सब के बीच उसकी भावनाओं और संवेदनाओं के मूल में वही मनुष्य है जो उदास, निराश, कुंठित और जिज़ीविषा को त्रस्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। समाज, राजनीति सभी उसे व्यर्थ लगता है –

"चन्द नारों और फतवों के लिए/ फेंक दी जाती हवा में कुर्सियां,
पांव में कीलें जड़ी होती कहीं/ और घर में सर्द मातम पुर्सियां,
आज हम पहुंचे कहां मरते हुए/ ज़िन्दगी को खुद ज़हर करते हुए...।" (*पृ. 37*)

लयात्मक संगीत की छान्दसिकता गीत में विद्युत-संतुलन का कार्य करती है। इनका त्रिकोण सम्प्रेषण को तीव्रगामी बनाता है – 'सृजन का क्षण महिमामय है। रचनात्मकता की बेचैन अन्तश्चेतना को रूपाकार देना या किसी चमक, कौंध अथवा इन्ट्यूशन को बांध लेना एक छटपटाहट भरी प्रसव-प्रक्रिया है जिसे गुनगुनाहट सहज बनाती है। इसलिए मेरी दृष्टि में बिना गुनगुनाये काव्य-सृजन सम्भव नहीं है......वैसे विषयवस्तु की जटिलता को ध्यान में रख कर अर्थ की लय भी स्वीकारी जा सकती है। उसी प्रकार छन्दानुशासन से नये छन्दों के आविष्कार भी किए जा सकते हैं (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 69-70*)। छंद-वैविध्य उमाशंकर तिवारी के गीतों की प्रवृत्ति निर्मित करता है। इनके गीतों में कहीं अट्ठाईस मात्राओं वाला छन्द है तो कहीं छब्बीस मात्राओं वाला, कहीं टेकपंक्ति दो पंक्तियों की है जिसमें अट्ठारह-अट्ठारह मात्रायें हैं तो कहीं पन्द्रह-पन्द्रह मात्राओं की टेक पंक्तियां हैं –

। ।।ऽ ऽऽ ।।। ।। ऽ।ऽऽऽ। ऽऽ
"टिड्डियां टूटी शहर पर, कांपती हैं नील झीलें – *28*
चोंच में तिनके दबाये, लौटती जब अबा बीलें।" (*धूप कड़ी है : पृ. 16*)
"आ गये काली नदि के दायरे में लोग-बाग।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 73*)
"एक ही आधार पर कटते रहे/ हिमशिला की देह थे, घटते रहे।" (*पृ. 71*)
"पुकारें याद की नंगी पुकारें/ सांप जैसी कुण्डली मारें।" (*पृ. 75*)

कथ्य के लिहाज़ से भाषा खुरदरी, तल्ख़, भाव प्रवण आदि रूपों में अच्छी से अच्छी रचना को जन्म दे सकती है। 'जलते शहर में' (*जलते शहर में : पृ. 1*); 'मौसम ने छुआ हमको' (*धूप कड़ी है : पृ. 54*), 'फासले' (*पृ. 13*), 'मुखबिर हवायें' (*पृ. 15*), 'काली सदी की त्रासदी' (*पृ. 20*), 'हिमदेही' (*पृ. 21*), 'शहर पर टूटती टिड्डियां' (*पृ. 16*), 'मरना और मारना' (*पृ. 22*), 'कैबरे दिन' (*पृ. 32*) आदि गीतों में आज के जलते परिवेश की बुनावट है। संघर्ष की दुर्गम घाटियों से होकर ही सुख के मानसर तक पहुंचा जा सकता है। दुःख यदि हमें जड़ बनाता है तो करुणा हमें पिघला कर जलधार बना देती है।

मानव-जीवन के नियति-दर्शन को रचनाकार ने बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में यूं प्रस्तुत किया है –

"क्या हमें जो दर्द हरकारा बने/ झिलझिलाती धूप में पारा बने,
हम पिघलने के सिवा क्या जानते?/ झील चांदी की बने, धारा बने,
भिश्तियों की पीठ से बंटते रहे....।" (*पृ. 21*)

इस प्रकार युग सापेक्ष सत्यों को तिवारी जी के गीत उद्घाटित करते हैं। कुछ ऐसे गीत भी हैं जिनमें पारम्परिक गीत शैली में आज का दर्द गाया गया है –

'हर तरफ़ मुख़बिर अंधेरे चौकसी पर हैं/ अब सुबह की रोशनी की बात क्या होगी?' (*पृ. 20*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह अभिव्यक्ति नितान्त सामान्य है। इसी तरह –

'आ गये कुहरों भरे दिन आ गये' (*पृ. 32*)

गीत 'कैबरे' शब्द के लिए लिखा गया लगता है। इस गीत का पंक्ति गठन पुरानी शैली का है परन्तु पीड़ा आज की है। भाषा में सरलता और बिम्ब प्रयोगों में सहजता है। शब्दों के प्रयोगों के साथ अर्थ का घुमाव काव्यकला का आन्तरिक सुख देता है।

धूप का प्रतीक तरल और कठोर दोनों रूपों में कवि-मानस को बांधे हुए है। खिली खिली खुली बन्द धूप उमाशंकर तिवारी की गीत-चेतना के झरोखों से छन कर ज़िन्दगी की पेचीदगियों और व्याकरण शास्त्र को एक कलाकार की भांति अक्स करती हैं। धूप के बिम्ब-प्रतीक मनुष्य को समूचा तराशते हैं। इस तराश की ऊंचाई-निचाई की माप-जोख ज़िन्दगी को करीब से छूती-खेलती धनुष की कसी डोर-सा तान देती है। इन तनन-कसावट में ज़िन्दगी की सिलवटों और शैथिल्य की बदसूरती खूबसूरत रंग लेकर चटक निखरी है। इन नीके और बदसूरत रंगों की सच्चाइयों पर धूप के बिखरे वर्क जीवन के ताप और छाया की रंगदर्शी प्रतीतियां देते चलते हैं। प्रवासी रक्त की तरह धूप के टुकड़े कभी रूठते हैं कभी मनाते हैं। कड़ी धूप के इस सफर में आशा की कोख से जन्मा धूपीला उजियाला मनुष्य आस्थाओं की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। लयात्मक संक्षिप्तता, खुरदरी भाषा, धूपीली प्रतीकात्मक बिम्बात्मकता उमाशंकर तिवारी के गीतों की पहचान है।

आज के जीवन में विष ही विष है, चारों ओर असन्तोष है, ईर्ष्या है। इस विषैले और विसंगतियों से भरे जीवन के वातावरण में आदमी जीने के लिए बाध्य है। उमाशंकर तिवारी ने शब्द और छन्द से खेलते हुए अपनी अनुभूतियों और भावनाओं को नवगीतात्मक शैली में सफलतापूर्वक व्यक्त किया है। साधना पथ पर गुंजन करते चरण हैं, इन पग ध्वनियों से लक्ष्य की कल्पना तो की ही जा सकती है।

सन्नाटे की झील : कृष्ण तिवारी

'सन्नाटे की झील' शीर्षक ही नवगीत के चमत्कारी व्यक्तित्व से परिचित करवाने के लिए काफी है। कृष्ण तिवारी ने अपने नवगीतों के द्वारा भागदौड़ और व्यस्तताओं के बीच से गुजरती हुई वर्त्तमान ज़िन्दगी से जुड़ी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक विसंगतियों में संतुलन की ईमानदारी से तलाश की है। छंद को भारतीय कविता की आत्मा मानने वाले तिवारी छन्द विधान में कुशलता का पूरा परिचय देते हैं। इन के गीतों का व्यक्तित्व सीधा और सरल है। उनमें पंक्तियों की तोड़ फोड़ कम है। इनके गीतों में भारत के नये परिवेश को आत्मसात करने की अकुलाहट है। गांव का नगरीकरण प्रत्येक गीतकार को दाह दे रहा है। तिवारी जी भी इस दाह में झुलसे हैं। इस नवीन सभ्यता ने मनुष्य को असभ्य कर दिया है। कोई किसी से मेल नहीं खाता - "कुछ के रूख दक्षिण/ कुछ वाम/ सूरज के घोड़े हो गये बे-लगाम।" यह अनुशासनहीनता ही देश की दुर्बलता है (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 109*)।

आज जीवन 'सन्नाटे की झील' हो गया है। इस 'सन्नाटे की झील' में हम, तुम, सभी डूबे हैं। कवि ने 'सन्नाटे की झील' में वर्त्तमान जीवन के संत्रास बोध को हर लहर में सर पटकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखा है।आज का सारा परिवेश ही सन्नाटे की झील बन गया है। जीवन के सोलह संस्कारों को रागबोध से जोड़ने वाले गीत, सुबह से शाम का सफर तय करते, रात्रि का स्वागत करते अलग-अलग प्रहरों के गीत, ऋतुओं को पर्व बनाते, व्यथा कातते, जीवन की बारीक बुनावट करते गीत आज सन्नाटे की झील में डूब गये हैं। आधुनिकता और पंखविहीन संस्कृति ने ही इन जीवन गीतों को सन्नाटे के रंगों में रंगा है। रंगविहीन असंगत परिवेश के परायेपन ने महानगर को तो रोशनी दी लेकिन भीतर अंधकार कर दिया। इसीलिए आज संस्कारों, उत्सवों की रंग-रलियों में आत्मीय जनों के साथ डूबता-उतराता व्यक्ति 'सन्नाटे की झील' हो गया।

गांव से नगर की ओर पलायन बहुत आसान है लेकिन महानगरीय यन्त्रणाओं को पचाना बहुत मुश्किल। वापिस लौटे भी तो कैसे? शहरीकरण की सभ्यता अटारी पर चढ़ कर बांग दे रही है –

"खण्डहर हो गये गांव/ भूतों का वास हुआ
बप्पा, भइया, काका/ हर नाता प्यास हुआ।" (*रविवार : 3 दिसम्बर 1978*)

नगरों का सबसे बड़ा दुष्कृत्य यही है कि उसने मानव से उसकी सहजता छीन ली। मिट्टी का वह रचाव शहर आकर बांझ मुंडेर हो गया जो हर मौसम में ऋतु रस लेकर मुस्कुराता लहकता था। महानगर की तो हवा भी मृगतृष्णी है जो कस्तूरी की ओर तो झांकने ही नहीं देती और व्यक्ति को कत्लगाह तक ले आयी है। कृत्रिमता, बनावट, औपचारिकता, सहजता ने आज मनुष्य को हमेशा-हमेशा के लिए अभिनय की सलीब पर टांग दिया है –

"अर्थहीन संवादों की तरह अभिनय के कन्धों पर झूलना,
सांस-सांस ज़हर पिये जाना फिर/ गुब्बारे जैसा बस फूलना
तोड़ कर गुलाब की टहनियों से/ पहरे में मनचले बबूल के
छोड़ गयी/ मुझको इस शहर की हवा।" (*रविवार : 3 दिसम्बर 1978*)

नवगीत पूरी क्षमता के साथ इस सलीब टंगी आज़ादी को ढो रहा है। आधुनिकता के इस कछुआधर्म का निभाव आज की बेबस ज़िन्दगी का हिस्सा है क्योंकि "आधुनिक बोध और जातीय अनुभव के सहज सामञ्जस्य से ही नवगीत की सृष्टि हुई है" (*नवगीत दशक -2 : पृ. 106*)। आधुनिक जीवन-बोध की सार्थक अभिव्यक्ति के लिए कृष्ण तिवारी ने समसामयिक जीवन- सन्दर्भों को प्रतीक रूप में ग्रहण किया है। भ्रष्टाचार आज मनुष्य अस्मिता का कवच है लेकिन इसका दायित्व किस पर है - शासन पर, जनता पर, राजा पर। युग सन्दर्भों को वाणी देता हुआ यह गीत नंगों को भी निचोढ़ता है –

"भीलों ने बांट लिये वन/ राजा को खबर तक नहीं।
पाप चढ़ा राजा के सिर/ दूध की नदी हुई ज़हर।
गांव, नगर धूप की तरह/ फैल गयी यह नयी खबर।
रानी हो गयी बदचलन/ राजा को खबर तक नहीं।" (*सन्नाटे की झील : पृ. 1*)

काल-चक्र को नमन क्योंकि 'सन्नाटे की झील' ने आदिम सत्यों की मुखबिरी कर उन्हें आधुनिक जीवन पद्धति बना दिया। किशोर राजकुंवर जुएं में 'बहन' हार गया, मेरे सर्प जी गये,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ताल-सरोवर-पोखर सब सूख गये। बादलों को सूर्य पीने लगा, हिरन बिना पानी के मरने लगे, राजमहल खण्डहर हो गये और सिंहासन का हरन हो गया (*पृ. 2*)। चारों ओर डर, दहशत की फिज़ा सुर्खरू हो गई, धरती टूटने लगी, ज़र्रा-ज़र्रा पिघलने लगा, चांद-सूर्य को अजगर निगलने लगे, समूचा देश बारूद का घर बन गया जिसे एक चिंगारी निगलने को मचल रही है (*पृ. 6*)। इसके बावजूद गीतकार का रचना मन हताश अंधेरों की गंधक को पीने के लिए जुगनु गीत रचता है। इन्हीं रचना-संकल्पों के बूते पर 'सूर्य के रथ को पीछे लौटाने' की सकार चिन्ता सन्नाटे की झील में हलचल पैदा करती है (*पृ. 24*)। कवि में भाषायी लोच है, बिम्ब संपदा संस्कारी है। रेत पर उभरे नदी के पांव, आ गये दिन फिर नदी के, सनसनाती हवा की अंगुली पकड़ कर, अभिनय के कंधों पर झूलना आदि वस्तुगत बिम्ब आधुनिक जीवन की ट्रेजिक स्थिति सत्यों को प्रतिबिम्बित करते हैं। 'सन्नाटे की झील' का बिम्ब अनुभव रंगों को गहराता है –

"कमरे के कोने में पत्र पड़े कल के
हवा उड़ा ले गयी साथ गलियारों में,
सारा का सारा घर-आंगन भीग गया
गली सड़क को धोती हुई फुहारों में
टकरा कर बंट गयी हजारों कोणों में
आदमकद दर्पण में मेरी परछाई।" (*पृ. 52*)

लोक-संवेदना की रसीय गीत प्रतीतियां हमारी रग-रग में चेतन हैं। आस्था-विश्वास की परम्पराओं को जीवित रखने के लिए लोक गीतों ने ही संघर्ष किया है। प्रेम के सांयोगिक पलों के मादक चित्रों में कवि सब कुछ कहता है किन्तु अश्लीलता का आभास तक नहीं होता –

"देखना अब न फिर आदिम गंध वाले फूल
जूड़े में पिरोना/ खिड़कियों पर खड़ी होकर
अब कभी आकाश आंखों में न धोना
लाल होती गुलमुहर की अंजरियों को
ओ प्रिये! अब दूब अक्षत से न भरना।" (*पृ. 50*)

कृष्ण तिवारी को 'शीशे' से बहुत प्यार है – 'शीशे के बने अंग-अंग' (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 116*), 'बन्द शीशे के घरों से लोग बाहर निकल आएं' (*पृ. 111*), 'शीशे के जारों में बंद मछलियों ने' (*पृ. 109*), 'शीशे का घर' (*पृ. 113*) आदि। 'शीशा' प्रतीकात्मक है। इसके आर-पार सब कुछ दिखाई देता है किन्तु सन्नाटे की झील में बैठे हम अन्याय, अनाचार का प्रतिकार चाह कर भी नहीं कर पा रहे, युग- सन्दर्भानुसार शब्दों के नए अर्थ नहीं ढूंढ पा रहे। कवि ने पौराणिक प्रतीकों को भी अभिव्यक्ति पथ में मांजा है – 'क्या हुए अभिमन्यु के वे व्यूह-भेदी दांव।' (*पृ. 112*)। महाभारत काल में पत्नी दांव पर लगी थी आज बहन लगी है - शायद यही आधुनिकता की पहचान है कि हमारे अन्दर का पानी इतना प्रदूषित हो चुका है। अजगर, बारूद, ज़हर, ताश-महल, हुक्म के गुलाम, केंचुल-सी, चढ़ी उमर-सी आदि शब्द नवीन उपमान योजना को संगठित करते हैं।

तिवारी का गीत मनुष्य को परिवर्तित होने के लिए प्रेरित करता है। वह चाहता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"रोप कर पीछे अंधेरा/ बहुत आगे बढ़ गया है सूर्य का रथ/ उसे मुड़ना चाहिए अब।" (*पृ. 113*)

इसलिए धुंआ बन कर छा रही खामोशियों से आग के स्वर फूटने ही चाहिए। हमें अपनी दुर्बलताएं पहचाननी होंगी –

"जब तक यह शीशे का घर है/ तब तक ही पत्थर का डर है।" (*पृ. 113*)

आज आवश्यकता है कि हम अपने घर को शीशमहल न बनने दें। इस सत्य से सभी परिचित हैं परन्तु आत्मसात नहीं कर पाते।

श्री तिवारी प्रसन्न क्षणों में भी जीवन की अकुलाहट को विस्मृत नहीं करते। वे अतीत दिनों को याद करते हुए दिन के प्रति अपनी मनः स्थिति को प्रकट करते हैं –

"आ गये फिर शंख के दिन/ बांसुरी की रात।"

दिन रात की इस जोड़ी को कवि प्रसन्नता से ग्रहण नहीं करता। उसे लगता है कि नागफन पर चांदनी पांव टिकाये हुए है, सूरज उगता है तो दर्द की धूप ले कर। इस प्रकार यह गीतकार जीवन की घुटन को नए प्रतीकों, बिम्बों के माध्यम से गाता है। उसे पता है धरती हर क्षण टूट रही है, कण कण पिघलता प्रतीत होता है, कोई अजगर सूरज और चांद को निगल रहा है। सारा संसार बारूद के ढेर पर बैठा है। कभी किसी ने चिंगारी फेंक दी तो इस संसार का क्या होगा? परिणाम स्पष्ट है। इस प्रकार की चिन्तातुर मनोभावनाएं नयी भाषा और शिल्प के साथ व्यक्त हुई हैं।

कृष्ण तिवारी के गीत आधुनिक ज़िन्दगी की पहचान कायम करते हैं। भीड़ में शामिल हम अपनी अस्मिता का गला खुद घोंट चुके हैं। शायद यही आधुनिक मूल्यों का सत्य है। आंखों में भरी लिज़लिज़ाहट सुविधाभोगी होकर असंगतियों को पीती रहती हैं और हम रोज मरते रह कर ज़िन्दा रहते हैं। कृष्ण तिवारी के गीतों में जीवन की यही भीतरी उदासी सन्नाटे की झील में बदल गयी है। इस सन्नाटे को तोड़ने के लिए कवि के रचना संस्कार रोशनी की तलाश में भटकते हैं। भटकन को थाम कर संधानमुखी होना, यथार्थ कचोटों को अनुभूति बिम्ब बनाना ही कृष्ण तिवारी का नवगीत बोध है।

निखरती पीर : रामबहादुर सिंह भदौरिया

रामबहादुर सिंह भदौरिया समय के मुख्य गायक हैं और प्रतिष्ठा की चाह कवि को नहीं है। हृदय-भूमि पर पड़े गीत-बीज मौसम के अनुकूल अंकुरित होकर विटप बन जाते हैं। ज़िन्दगी की शाखाएं-प्रशाखाएं फूट कर फागुन हो जाती हैं। फगुनायी भाव प्रतीतियां जीवन की बैसाखी बनती हैं तो चिकनी मिट्टी का फटा खेत भी। सरसों, बाजरे की झूम लहरियां कवि के चिन्तक व्यक्तित्व को भावना की लय-प्रतीतियों से जोड़ देती हैं और कवि जीवन के अभावों और खुशियों को समान-भाव से ग्रहण कर संघर्षों का स्वागत करने को तत्पर हो जाता है। नये कल्ले फूटने लगते हैं और गीतकार पूरे जोर से मस्त होकर मनुष्य राग गाने लगता है। उसका पूरा वजूद ऊंचे कद के साथ तन जाता है –

"मैं बदनाम रहा इसका तो गम नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं तुम्हारे लिए मल्हारें ला सका
इसीलिए वह पीर निखरती ही रही।" (*नयी धरती के नए स्वर : पृ. 77*)

रामबहादुर सिंह भदौरिया ऐसे गीतकार हैं जो गीत में भाव और भाषा की दृष्टि से नये प्रयोग करते हैं। इन के गीतों में नवगीत के प्रति आग्रह अपना रंग देता दिखाई पड़ता है। जीवन के दुख दर्द गाने में यह गीतकार विशिष्ट है। इनके गीतों में व्यक्ति-मन की निखरती पीर है इसलिए मंच पर इन्हें प्रीति पूर्वक सुना जाता है।

इनकी काव्य-यात्रा के गति चिह्न हैं - 'गोधूलि', 'जाड़े की धूप' (गीत संग्रह), 'गतम न सोचामि' (मुक्तक प्रबंध) और 'सोये नहीं चिराग़' ग़ज़ल संग्रह। भदौरिया जी का रुझान आजकल दोहों की तरफ है। अतः उन की शरण में आधुनिक युग की तर्कीली अकड़ाहट को तराश कर मोम बनाने के प्रयास में जीवन को समकालीन सोच के अनुरूप चारों ओर से खोलने की कोशिश ही इन दोहों का मूल सरोकार है। स्वयं को शब्दायित कर पाने की चेष्टा ही इनकी दृष्टि में रचनाधर्मिता की सार्थकता है।

आज विज्ञान जहां रेखाओं और संकेतों का मनोविश्लेषण है वहीं गद्यात्मकता उसे रेखांकित करने की विवशता। विज्ञान का 'वि' विशेष के स्थान पर विद्रूप होकर जिस प्रदूषण को जन्म देता रहा है उसे छन्द वर्णिक और मात्रिक रूप में प्रतिबद्ध एवं स्वरित होकर ध्वनि-प्रदूषण रोकने का माध्यम रहा है। मशीनी युग भी गति और यति से परे नहीं है। अतः कवि को छन्द का बन्धन बड़ा सामयिक एवं श्वासतन्त्र की गति को पहचानने का सजीव चित्ताकर्षक माध्यम लगता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संसार को रिझाने का काम बिना खुद को रिझाये हुए हो ही नहीं सकता। अतः स्वयं को ध्वनित करवाना, आठ घरी, चौबीसों प्रहर से संवाद की स्थिति बनाये रखना ही छन्द का आनन्द है जिससे श्वासें महक उठती हैं और हम अविभूत होकर शब्दघात की प्रवहशीलता को महसूस करते हुए जीवन की गीतात्मकता को नितान्त वैज्ञानिक युग को जीने के बावजूद बिसार नहीं पाते। इस दृष्टि को पोषित करती है लोक संवेदना एवं सहज मानव बोधी संस्कार। ग्रामीण अथवा नगरीय संस्कृति के बीच सतह पर तैरते इन मंत्रगीतीय बीजों को रोप कर ही हम मनुष्य-मन को ताल तलीय रस एवं हरापन दे सकते हैं। इस ताल तलीय रस एवं हरेपन से ही भदौरिया के गीत-ग़ज़लों का सरोकार है।

भदौरिया के गीतों में वसुधायी बोध है। गीत अपने आप में ही सर्वसृष्टि है। सृष्टि के शिवत्व की कामना का प्रतिफलन 'गीत' रोम-रगों को स्वर-सुर बना देता है और मानव झंकृत होकर धूप- छाया, शीशा-पारा, जल-अग्नि, खेत-खलिहान, समुद्र-बादल, चांदनी-अंधकार, ताप तरलता, घुमड़न-सिकुड़न, कालकूट-संजीवन, बीज-अंकुर, शाख-पत्र, जड़-तना, नींव-शिखर, कोर-काजल, देह-कस्तूरी, समय-चुनौती, सुई-धागा (*'वन्दना', 'वाणी पर', 'गीत गाते रहना', 'आंगन की तुलसी पर', 'मैं पीपल का बिरवा', 'यह बिरवा नीम का', 'सच हुए सपन', 'बनजारिन धूप ने', 'गंध उड़ी धानों से', 'जाड़े की धूप' आदि गीत*) आदि आदि न जाने क्या-क्या का गति-पथ हो जाता है। भदौरिया के गीत गति-पथ द्वार पर दस्तक-यज्ञ हैं। इन मन्त्रीय आचमित स्वरों में लोक बोध सरगम बन कर तेरा-मेरा नहीं सर्व हो जाता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कला ने सदैव कल (बीते + आने वाले) की बात की है। उसे भूत और भविष्य की सदा चिंता रही है। कल-कल करती सरिता के साथ वर्त्तमान की ऊहा-पोह से उसने सदैव अपने को बचाये रखा है। धान के खेत में अब भी ढोलक बजती है। गांठ-गांठ पानी में झुकी गोपिकायें अब भी धान की शिराओं में लोकगीत की मादक ध्वनि का इन्जेक्शन लगाकर उसे मिट्टी की घुलनशीलता में तुरन्त जड़ पकड़ लेने का अनुदेश देती है। ऐसे में कला कहां विकला है यह तो भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ ही जाने जिन्हें न गलियारों की गंध मिली है न पगडंडी की शीतल छाया। खेत की मेड़ पर बैठ कर धूप-छांह की लहरों का साक्षात करने वाले ललित कलाओं के माध्यम से कला की उपादेयता को चार चांद लगा सकते हैं। किन्तु हम महागति के वंशज हैं हलाहल पीना हमारी नियति है। अतः गीत के माध्यम से इस आर्थिक युग में हम राजनीति के पुजारियों की तरह रंगमहल की साकारता तो नहीं प्राप्त कर सकते उनको सेंसर तो कर सकते हैं। उन पर उंगली उठाने का काम ही वस्तुतः कवि साहित्यकार का है। इन संकेतों को स्थूल रूप से मस्तिष्क के सेल भलें न समझे, हृदय की धड़कनें उसे स्वतः ग्रहण करती रही हैं और मानव-समाज में इसीलिए नैतिकता सदा अपने वर्चस्व को बनाये रही है। भदौरिया की नज़र में "गीत की 'लिरिकल वैल्यू' मीटर, मैटर और मैनर के निर्वाह में होती है और मैं समझता हूं इसी को अर्थ, काम और धर्म की संज्ञा मान कर गीत वैयक्तिक उद्भावना को समष्टि की दहलीज़ तक ले जाता है" (*साक्षात्कार : दिनांक 24 फरवरी 1988*)। मनुष्य की वृत्ति में भिन्नता हो सकती है किन्तु मूल प्रवृत्ति में नहीं उसकी रागात्मक धारा को क्रियाशील बनाये रखना ही गीत की गति है। अतः व्यक्तिगत कुछ होता ही नहीं। सारा का सारा शीलत्व गीत की आत्मा है और गाम्भीर्य उसकी संचेतना। आज जब हम फैशन यानि सौन्दर्य बोध को सिर से पैर तक ओढ़ कर सोना चाहते हैं ऐसे में गीत अकेलेपन की धरोहर हो ही नहीं सकता।

वर्त्तमान समाज उच्चाटन, ऊहा-पोह, अश्लीलता, निर्बन्धता के दायरे में जी रहा है। ऐसे में एकमात्र गीत की गीतात्मकता ही हमारी सहजता और सरसता को प्रतिबिम्बित कर सकती है। अनुभूति स्वयं में अनुभव का ही पर्याय है। अतः पर्यावरण के इस युग में गीत के चरण बड़े पावन लगते हैं। वैसे आज के माहौल में इसका मन बड़ा अनमना है फिर भी ये निर्धन नहीं हैं। यह दूसरी बात है कि यह विधा नारेबाजी एवं विज्ञापन में भी प्रयुक्त होने लगी है। अतः सिने गीत के अलावा गीत के अन्य प्रतिद्वन्द्वी भी खड़े हो गये हैं। आज के गीत का एक और रूप सामने आया है 'चुनावी गीत' का। यह गीत की शक्ति-सामर्थ्य है जिसे हर व्यक्ति अपने-अपने तरीके से औजार की तरह इस्तेमाल कर रहा है। इसके मूल में गीत की द्रवीय चेतना है जो तरल होकर देह-खेत के अणुयी झरोखों तक को भेद कर उसमें अपना नीड़ बना लेती हैं। यही गीत की विलक्षणता है जो हमारी राष्ट्रीय सोच को इंगित करती है। भदौरिया के गीतों में इसी संचेतना का व्यापक बोध है।

गीत हमारे लोक संस्कार में कुछ इस तरह ध्वनित होता रहता है कि हमारी धड़कनें रचना प्रक्रिया बन कर मूर्तिमान हो जाती हैं। गीत ऐसी ग्रन्थि है जो कस्तूरी गंध की कुलांचें भरने को विवश है। अतः इसका जन्म सायास नहीं हो सकता। छन्द का दूसरा नाम सोलह श्रृंगार भी है। अतः वासन्ती रंग की घुलनशीलता गीत का अनुभव है। आंचल के नीचे जब तक दो दीप प्रदीपित रहेंगे गीत गतिशील रहेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भदौरिया की गीत चेतना दूध से धोयी और गर्म श्वास सी दहकीली है। इस दहकन-दूध में ही सृष्टि बीज सप्त पदी होकर अपना मंत्र प्रसार करता है। भदौरिया के गीत इस यात्रा के वाहक ध्वज हैं जो मंत्र गंधित होकर पर्यावरण को सुरभित करते हैं।

भीड़ में हो कर भी भीड़ के बन्धन से मुक्त रहना इसका स्वभाव है। अतः पहाड़, नदी के अलावा लहराते हुए खेत देखे बिना गीत एक छायादार वृक्ष हो ही नहीं सकता।

भदौरिया के गीतों में आंचलिक प्रतीकों (*जाड़े में धूप : पृ. 41, 52, 31, 37 आदि*) की घनी छाया है। आंचलिक प्रतीकों के घनत्व ने उसे सहज बनाया है। लोक भूमि से जोड़ कर उसके भाव बोध को छतनार छाया की छनी हुई रोशनी दी है। आदमी आज काठमार जाने की अवस्था का अनुसरण कर रहा है। लौह मानव (कम्प्यूटर) हमें पग-पग पर निर्देशित कर रहा है। ऐसे में कवि गृह एवं गृह वाटिका से प्रतीक चुन कर राष्ट्रीय संचेतना को एक नया विचार देने को उत्सुक है। कच्ची दीवारों के साये जहां हमारे आध्यात्मिक पहलू को छूते हैं वहीं राष्ट्रीय विकास की कहानी को भी चरितार्थ करते हैं। अतः रचनाकार वृक्षों के छायांकन को ही अपना यथार्थ बोध मानता है। कहने वाले इसे जंगल की आवाज कह सकते हैं। किन्तु ध्वनि एवं वायु प्रदुषण हेतु गीत के इसी आभूषण को सकार कर कवि अपनी वैचारिकी जीने को उत्कंठित हैं। आधुनिकता के नाम पर आज तथाकथित अधुनातन गद्य + पद्य जहां तारकोली प्रतीकों का लिजलिज़ापन ढो रहे हैं वहीं भदौरिया के गीत राष्ट्रवृक्ष को आत्मसात् कर उसकी हरीतिमा को प्रतीकात्मकता प्रदान कर चिरंजीवी होने का स्वप्न संजो कर राष्ट्रीय चेतना से कंधे से कंधा मिला कर चलने की सहज अनुभूति जी रहे हैं।

भदौरिया नवगीत के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके इस नकार में सकार बोध है। उनके अनुसार परम्परा ही गीत का प्राण है। अलग पहिचान एक राजनीतिक भूख है। यह अलग बात है कि आज का कवि-गीतकार जनमानस से तुलसी-कबीर-सूर-मीरा की छाप को मिटा कर आगे नहीं बढ़ा है किन्तु गीत, नवगीत या छन्द की आत्मा ही भारतीय जनमानस है। 'रामायण' या 'गीता' जैसे चरित्र को टुकड़ों में जीना ही आज की प्रतिबद्ध कविता की मूल प्रवृत्ति है। अतः श्वासों में संगीतात्मकता बनाये रख कर अपनी परम्परा की परोक्ष सेवा तो गीत या कविता ही कर रही है। यह उसकी निजी उपलब्धि भले न हो पर पुरखों की विरासत बनाये रखने के भारतीय चिन्तन की चिरन्तन धारा तो है ही।

गृहस्थ जीवन के धागे में गुंथी मुक्तक-मनकों की माला है 'गतम् न सोचामि' (*दृष्टव्य : पृ. 1, 5, 9, 21, 26, 29, 31, 33, 40, 43, 44, 47, 49, 50, 53, 57, 58, 61, 63, 65, 67*)। इन मुक्तक-मनकों में आत्म-चिन्तन-मंथन के अनुभूति-स्वर हैं। चिन्तन-अनुभूति की गंगाजली उठाये इन सौन्दर्यबोधी मुक्तकों में पूरे जीवन की व्याख्या हैं (*दृष्टव्य : पृ. 1, 5, 9, 21, 26, 29, 31, 33, 40, 43, 44, 47, 49, 50, 53, 57, 58, 61, 63, 65, 67*)। प्रकृति को दुहते इन मुक्तकों में जीवन-दर्शन की गहरी प्रतिक्रियाएं हैं। प्रकृति-पुरुष की अक्षत भाव-चेतना को गीत बनाते ये मुक्तक जीवन से जुड़े अनेक सामयिक युगबोधी प्रश्नों की लीक खींचते चलते हैं। मनुष्य के प्रत्येक कर्म पर आज राज सत्ता का अंकुश परछाईं बन कर उसके व्यक्तित्व का अंग है दूसरी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओर अर्थ-मूल्यों की अजगरी जकड़न में टूटती-घुटती व्यक्ति-अस्मिता का सोच-दायरा तमाम वैज्ञानिक उन्नति, प्रगति और खुलेपन के बावजूद नारी-दोहन को अपना अधिकार समझता है। हृदयमुखी नारी-कमल की शत पंख-धारी कल्प-मुस्कानों में भी उसे वस्तुभोगी दृष्टिकोण नज़र आता है। इसी वजह से मस्तिष्क की स्नेहन शक्ति आज लौह की आग्नेय तरंगें संचालित कर रही हैं। 'भारती वन्दना' (*गतम् न सोचामि : छः*) कोई क्या करे, 'यशोधरा' आज भी बाट जोहती है, 'पंचवटी', सिया-सिया पुकार रही है, सभ्य विद्वत्जनों के बीच आज भी 'द्रौपदी' का आर्त्तनाद इसी प्रकार गूंजता है,'सती सुलोचना' का विलाप आज तक बंद नहीं हुआ, 'शकुन्तला' रोज छली जाती है, 'उर्मिला', 'माण्डवी', 'सुकीर्ति' की व्यथा-कथा मर्म-भेदक तो है ही हृदय से उसे पढ़ने वाले भी नहीं हैं क्योंकि अहंकारी 'शर्पूणखा' ने भावात्मक आत्मविश्लेषण छोड़ दिया है। गीत का मूल सरोकार इसी भाव चिन्तन से है जिससे ऋषीय करुण चिन्तन पुनः मेरे भारत को विश्व संस्कृति का सिरमौर बना दे और वनेचर ऋषि वाल्मीकि का हृदय सब पा जाये जो मैथुनरत पक्षियों की आर्त्त ध्वनियों को जलधारी अग्नि बना कर ताप तप्त हो जाए। गीत में प्रणय-करुणा की यही प्रसार अग्नि तो है जिसे वाल्मीकि जैसा ऋषि ही पा सकता है क्योंकि आज बुद्धि ने हृदय को बंधक बना लिया है। इसी वजह से आज गृहलक्ष्मी का राजलक्ष्मी से, नगर-बोध का ग्राम-बोध से, सामाजिक समरसता का व्यक्ति-इयत्ता से, समर्पण का समझौते से टकराव हो रहा है। भदौरिया इस स्थिति कठोरताओं को अपने मुक्तकों में अभिमंत्रित करते हैं। 'गृहस्थ यज्ञ' की पहली आहुति है 'मैं'। यह नारी-नर, प्रकृति-पुरुष, पत्नी-पति के लिए एकत्व की सृजन-भूमिका है। 'भोर तो है एक नूतन जागरण की' (*गतम् न सोचामि : पृ. 2*) किन्तु लोग ही भरी दुपहरी में सो गये हैं। ऐसे में रचनाकार क्या करें। इसीलिए पति-पत्नी का रिश्ता जन्म-जन्मान्तर का न होकर 'देह से बस देह का अनुबन्ध' (*पृ. 2*) भर रह गया है। यह क्रूर सत्य काष्ठ कीट की तरह हमारे भीतरी वजूद को कन-कन कुतर रहा है और हम गांधारी आचरण के दास बने धृतराष्ट्र की जय-जयकार कर रहे हैं। इन मुक्तकों के केन्द्र दायें-बायें, परिपार्श्व सभी कोणों में भव्य नारी की अन्तर्वर्ती सौन्दर्य लहरों की दिव्यता है। मंदाकिनी गंगा की यह गोमुखी भावयात्रा मुक्तकों की ऊबड़-खाबड़ लीकों पर चल कर मैली नहीं हुई अपितु रूप बदल कर अलकनन्दा, सतलुज, कावेरी, सरस्वती होकर त्रिकाल दर्शी शम्भू की जूट-जटाओं में नीड़धारी अर्द्धांग पार्वती हो गई है।

रामबहादुर सिंह भदौरिया लोक गीतों को सोलह कलाओं से आगे सत्रहवीं कला मानते हैं- 'मन की सहस्त्र धारायें हैं और ललित कलायें इनकी 'फीडर'। अतः लोकगीत को सोलह कलाओं से अलग मैं सत्रहवीं कला मानता हूं (*साक्षात्कार : 24 फरवरी 1988*)। लोकगीत एक पद पर खड़े होकर एकाग्रता की अनुगूंज को प्रार्थित किया करता है और लोक-मानस के इर्द-गिर्द घूमा करता है। वह उनके साथ बाग-बगीचे, खेत-खलिहान, ब्याह-बारात, तिथि-त्यौहार तथा देवी-मंदिर तक जाकर मन की थकान मिटाया करता है। इसका अनगढ़ स्वरूप श्रुतियों की तरह निरन्तर प्रवहमान रहता है। इसे शिल्प तथा भाव भूमि की तलाश नहीं है। इसे अपने रचनाकार से मिलने की आवश्यकता भी नहीं महसूस होती। न इसे नाम की भूख है, न सिद्धि की या प्रसिद्धि की। यह अन्तर्ध्यान की वह अवस्था है जहां गीत को अभी पहुंचना है। राजनीति की उठा-पटक इनके मानस में नहीं है इन्हें सामाजिक उथल-पुथल की चिन्ता रात-रात भर जगाती भी नहीं। लेकिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक रूढ़ियों एवं कुरीतियों को जितना लोकगीत ने उजागर किया है उतना गीतों ने नहीं। इनका एक ही अभिष्ट है लोकोत्तर भावना को अपनी धुन में जीते रहना और माटी की सौंधी गंध को आत्मसात् करते रहना। सितारों की चिन्ता नहीं है इसके मन-मस्तिष्क में। यह जड़त्व ही इनकी स्थिर बुद्धि है। यदि कहीं वे आज के परिवेश से संदर्भित होने लगें तो इनके खेतों की मेंड़ों पर बिछुओं की झनक भी थक कर बैठ जाएगी। खुदा का शुक्र है कि ट्रैक्टर नलकूपों, पावर थ्रैशर की ध्वनि-तरंगें इन्हें प्रभावित नहीं कर पायीं। जहां तक इनके शैल्पिक रचाव की बात है वह नदी के जल-सा स्वतः ध्वनित होता रहता है। इनके कर्णकुहरों में आज का शोर अभी तक नहीं गूंजा। यह एक शुभ शकुन है (*जाड़े की धूप : पृ. 19*)। 'ग्रामदेवी' (*पृ. 20*), 'कुछ पल्लव आम के' (*पृ. 21*), 'गूलर के पेड़ को प्रणाम' (*पृ. 22*), 'आंगन की तुलसी' (*पृ. 23*), 'मैं पीपल की बिरवा' (*पृ. 24*), 'बरगद का वृक्ष' (*पृ. 71*) आदि गीतों में अन्तर्ग्रथित लोक रसात्मकता भारतीय संस्कृति की धरोहर है। 'लौट आया' (*पृ. 28*) गीत एक ओर जहां शहरीकरण की भौतिकता, आत्मीय सम्बन्धों की नीरसता को संकेतित करता है वहीं 'निबिया की छांव' और 'पीपल' वृक्ष आदि के महत्त्व को भी प्रतिपादित करता है। ये दोनों 'आशीष वृक्ष' मनुष्य के मन की सरगम है जो मनुष्य को जीवन-संघर्षों से जूझने के दाव पेंच सिखलाते हैं। इसी प्रकार 'इन्द्र बड़ा रसिया' गीत धान-बीजने का गीत है जिसें पुनरूक्ति, आंचलिक भाषा और संगीतात्मकता की सुन्दर समरसता है। इनके अधिकांश गीतों में 'न', 'ना', 'नी' जैसे वर्ण वाले शब्द बहुतायत में आए हैं जिससे गीतों में संगीतात्मकता का प्रवाह फूट पड़ता है। गीत का शैल्पिक् विधान नदी के जल-सा स्वतः होना चाहिए। कवि इसी बोध का समर्थक है। गीत संक्षिप्त टेकपंक्ति वाले हैं। छोटे-छोटे अनुप्रास वृत्तों ने भदौरिया के गीतों को खनकीला बना दिया है। 'स्वरों को ईश्वर' मानने वाले रामबहादुर 'नवगीत' के विषय में अपना मन्तव्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "गीत हमारा संस्कार है, धर्म है। जिन्हें अपने सबल पैरों पर आस्था नहीं होती है वे ही बैसाखियों का सहारा लेते हैं। हमारी भूमिका तो सदैव भूमि का होकर जीने की रही है। परलोक की चिन्ता वे करें जिन्हें लोक पर आस्था न हो। लोक-जीवन स्वयं एक लोकगीत है। जन्म से लेकर मरण तक एक छंद है। सच्चे अर्थों में लोक जीवन ही सिद्धार्थ है। भिक्षा से अर्जित किया हुआ धन भी समान रूप से बांट कर खाना ही निर्वाण है। मानव कल्याण में सिंहासन का मोह न करना गौतमी पिपासा है और है गांधीय जिज्ञासा। साहित्य की मूल ध्वनि ही सर्व हितकारी है। सबके हित की बात करना ही मूलाधार है" (*पृ. 8*)। रचनाशील मन का निष्कर्ष अन्ततः गीत की मंत्र सिद्धि को नमन करता है –

"बार-बार गाये हुए गीत गाते रहना/ पीर उठे मन में तो बिरवों से न कहना।
आदमी का आदमी से कोई सरोकार नहीं,
ढूंढिए चिराग लेके तो मिलेगा प्यार नहीं।
सहना अकेले ही सब बयार सहना/ तुम सदा बयार से ही वारूणी उगहना।
ये बबूल, नीम, आम काम तेरे आयेंगे,
मालती-मयूरपंख, प्राण को बचायेंगे।
दुर्ग हो कि राजभवन है सभी को ढहना/ आड़े आये कोई न देने उलहना।" (*पृ. 18*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टेक पांक्तिक गीत-गागर में समायी सामुद्रिक ऊंचाई, गहराई मुहावरों और लोकोक्तियों की पीठ पर सवार होकर नायकीय आंच से दमकती है।

भदौरिया ने ग़ज़लें भी अच्छी कहीं हैं। उसकी रोशनाई में आम आदमी के भीतरी संघर्ष-द्वन्द्व बाह्य चटकनों को टूटने से बचाकर जुड़ावधारी बनाने वाले हैं। शायर की कहन में लचक एवं रहनुमाई का समकालीन युगबोध है। ऐसे शायर फनकार के अनुसार "हिन्दी साहित्य में दोहे का कोई जबाब नहीं है किन्तु ग़ज़ल दिलो-ओ दिमाग पर छाने वाली विधा है। यह रोटी दाल के चक्कर में नहीं पड़ती, इसे तो वारूणी चाहिए। वारूणी से इनका अभिप्राय तरलता से है"(*सोये नहीं चिराग़ : पृ. 2*)। इस वारूणीय मद को छकती भदौरिया की ग़ज़लें 'अपनी आंख में छलके पैमाने को ढाल कर' (*पृ. 3*) कोर काज़ल का बहता नीर हो जाती हैं। इनकी ग़ज़लीय प्रतीतियों में भी 'मुहावरेदार' भाषा का दानेदार प्रयोग है –

"पथ पर पवन सही है कि उनचास चल रहे
थोथा चना कभी था बाजता बहुत घना....।" (*पृ. 42*)
"आपकी ध्वनि-तरंगों में नाचा किये.....
लोग तिल को बनाने लगे ताड़ फिर
वक्त की थाप को, आपसे क्या कहें....।" (*पृ. 45*)

मतला, मक़्ता, क़ाफिया और रदीफ़ का प्रयोग कहां होना चाहिए, इसकी शायर को पूरी तमीज़ है। इनकी अधिकांश ग़ज़लों में पांच शेर हैं। ग़ज़ल का शीर्षक ही प्रायः शेर का चौथा चरण है। 'एक तेरे बिना' ग़ज़ल की बानगी देखिए जिसके प्रारम्भ में लौकिक प्रेम और अन्तिम चरण में अलौकिक प्रेम की व्यंजना है –

"सूना सब कुछ लगे, एक तेरे बिना
दर्द निश-दिन जगे, एक तेरे बिना....
देह दुलर्भ बहुत यह परम सत्य है
देह मिथ्या लगे, एक तेरे बिना
तू समाया मुझी में मगर मौन क्यों
कितनी ग़ज़लें पढ़ें, एक तेरे बिना।" (*पृ. 44*)

इनकी ग़ज़ल शब्दावली में साम्प्रदायिकता नहीं है, समरस समावेशी चिन्तन है। उर्दू, अरबी, फारसी के शब्दों के साथ शूल, पुष्प, पहाड़, अदम्य धार, प्रवाह आदि हिन्दी-शब्द कहीं दूल्हे की तरह इठलाते हैं कहीं बारात में शामिल होकर मस्ती से गुनगुनाने लगते हैं।

भदौरिया की गीत-ग़ज़लीय प्रतीतियों का अन्तिम लक्ष्य मनुष्य है। मनुष्य-बोध को आंच देने वाली इनकी रचनाएं मन का संस्कार कर बुद्धि को समावेशी चिन्तन की ओर ले जाती हैं। आधुनिक संत्रास-चटकनें मनुष्य-मन को तोड़ती-जोड़ती रहती हैं, उनके बीच इनकी रेखाएं वे चाहें गीत हों या ग़ज़ल एकरस होकर सेतु हो जाती हैं। अनेक गीतों में अतिरिक्त भाव-उछाह है जो गीत-टेक को बिखेर देता है। बोलों में रस एवं उनका मर्मस्पर्शी अभिव्यंजन कीलता है लेकिन लय, ताल, स्वर में असंतुलन गीत ऋदम को भीतर पूरी तरह नहीं छाप पाता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवत्वमुखी गौरी शंकर : शतदल

राम प्रकाश 'शतदल' की गीत-दृष्टि मंथन मुखी है। गीत की महीन बुनावट में कती अनुभूतियों की गुनगुनी अर्न्तपर्तों के चंदन-संस्कार ले कर शतदल ने अनेक सूक्ष्म जिज्ञासाएं व्यक्त की हैं। शतदल का गीत मुहावरा वनेचर विस्फोट की ऋषीय प्रतीति है। वनेचर ऋषि वाल्मीकि की ब्रह्म रन्ध्रीय गीत गूंज आज तक सभी अन्तर्चक्रों को पार कर मनुष्य के मानसर में चू रही है और जब तक मानव का अस्तित्व है यह चुअन मन्त्र बीज की तरह विकसती रहेगी। गीत की इस समाधिस्थ साध्यावस्था की अन्तर्लय को शतदल के गीत बोध ने गहरे में सहेजा है। इन की गीत दृष्टि की गगनचुम्बी ऊंचाई और धरती गर्भ में हंस रही तल-तौलती गहराई पर गौर फरमाए। इनका कहना है कि - "जिस प्रकार ईश्वर, आनन्द और प्रेम की कोई सर्वमान्य परिभाषा नहीं दी जा सकी, मुझे लगता है 'गीत' की भी एक परिभाषा नहीं दी जा सकी। उसे किसी घेरे में रख कर नहीं देखा - जाना जा सकता। गीत - रचना से निरन्तर जुड़े रह कर उसके आनन्द का आभास किया जा सकता है।......हम जितना जो भी इस के सम्बन्ध में कह पाते हैं वह अन्धे का हाथी जैसी ही बात होती है। यहां तक कि कबीर ने इसे बहुत दूर/ गहराई तक पहचाना लेकिन उसके आगे भी गीत का अस्तित्व जरूर होगा। ....गीत रचना अपने आप में एक बहुत बड़ी साधना है। साधना को यों भी सोचिए जहां कोई साध न रह जाए। ऐसी स्थिति को पहुंचना कितना कठिन है!......मन की रति का संसार इस ब्रह्माण्ड की तरह ही असीम है" (*साक्षात्कार : 1 मार्च 1987*)। शतदल इस वातावरण की संस्कारी गूंज है।

अनुभूति और रागात्मकता गीत का रक्त और लाली है। हम पाश्चात्य बहाव में अपनी कितनी ही ज़मीन छोड़ दें इसके बावजूद भी रागात्मकता गीत की एक अनिवार्य शर्त्त है। इस शर्त्त-मानक पर शतदल के गीत सौ टांच खरे हैं। हांलाकि इन के पास अभिव्यक्ति के साधन सीमित हैं। 'मीटर' के प्रयोग इन्होंने अपने गीतों में नहीं के बराबर किए हैं लेकिन अनुभूति की आन्तरिक गूंज जिस भी मीटर में शब्द पाती है शतदल की रचनाशीलता उसी गीतीय तरलता में रम जाती है।

कविता को गद्य के निकट ले जाने को शतदल एक सोची समझी साज़िश करार देते हैं। उन की मान्यता है कि – "कविता की अपनी एक सीमा है उसके बाहर जाने पर वह अगर गद्य हो जाती है तो उसमें कविता का क्या दोष?....दोषी तो वे हैं जो अपनी असमर्थताओं के कारण ऐसा करते हैं और समूह बना कर यह घोषणा भी करते हैं कि कविता गद्यमयी हो रही है। कवि बनने के ये 'शार्टकट्स' हैं" (*साक्षात्कार : 1 मार्च 1987*)। व्यक्ति, समाज की समूची अन्तर्ग्रन्थियों को शतदल ने अपने गीतों की रागात्मक आंच में पका कर प्रतीति लयी बनाया है। संत्रास चुभनों के नुकीलेपन को कुन्द कर उन्हें जलधारी गीत बनाया है। व्यक्ति टूटनें इनके गीतों में गाकर लयात्मक जुड़ाव हो गयी हैं क्योंकि शब्दों में समय की सारी विसंगतियों को गाकर जीना, उन्हें लेकर रोने-बिलखने से, कहीं ज्यादा अच्छा है। गीत की सब से महत्त्वपूर्ण भूमिका यह है कि वह घुटन और कुंठा की तीव्रता को कम करता है और अपनी सृष्टि में विलीन कर लेता है। इस स्थिति को जो पलायन शब्द देते हैं, वे साहित्यिक तरलता को नहीं जीते।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्त्तमान समय की स्थितिगत काल कुठारें शतदल के गीतों में आकर समर्पणवती होकर सोने की तरह पिघल जाती है। काल-सत्य के क्रूर दंश की नखीय खरोंचें शतदल के गीत परिवेश में आकर प्रीतीय खनक से खनकने लगती है। शब्द की अग्नि में उतनी ही तपती है जितनी धंस कर जलाये नहीं। इन के गीत दहकाते जरूर हैं अलाव नहीं बनते। इनके गीतों में उजली सुई की ऩोंक चुभन है जैसे कोई किरन-कनी बींध दे और रोशनी की तरह अंधकार के आर-पार हो जाए। कवि के गीतीय संस्कार खुले मन से इस मंत्रसत्य को स्वीकारते हैं कि "आधुनिकता के नाम पर अपनी संस्कृति से कटना किसी अर्थ में भी श्रेयस्कर नहीं" (*साक्षात्कार : 1 मार्च 1987*)। अपनी संस्कृति से कट कर उस की प्रासंगिकता पर बहस करना वस्तुतः बिना माँ के बच्चे की कल्पना जैसा है। रचनाकार तो अपनी संस्कृति से कट ही नहीं सकता और यदि वह कटता है तो उसकी रचनाओं में गीतीय द्रव की अन्तर्लयी बारीक कताई हो ही नहीं सकती जिसे शतदल ने शब्द दिए हैं – "......गीत रेशम के उन धागों से भी बारीक है जो नंगी आंख से दिखते नहीं......।" (*साक्षात्कार : 1 मार्च 1987*) शतदल के रचना संसार ने इन स्थितियों और सत्यों को जिया है।

कहना न होगा कि गीत, ऊपर से देखने में, बहुधा व्यक्तिगत अनुभूति का दर्पण प्रतीत होता है। सही मायनों में ऐसा होता नहीं। गीत की आनुभूतिक रोशनी प्रतीतियां लेकर अन्तर्मंथन की अवस्था में ज़रा गहरा उतरा जाए तो गीत की तलीय परिधि मानस हंस की गूंज देती है कि गीतकार अपने लक्ष्य-केन्द्र में सम्पूर्ण सृष्टि का दर्शन करते हुए उसी के लिए गीत रचना करता है। वह वैयक्तिक होते हुए भी इसी कारण नहीं होता। शतदल की रचनायित बिम्बमुखी गीत प्रतीतियां प्रकृति निर्मित पगडण्डियों की तरह गति पथ बन जाती है और वैयक्तिक होते हुए भी समूह मन लेकर शाख-पत्र की तरह अपना विस्तार-विकास करती हैं। जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। इस सत्य के कारण ही गीत की सार्वभौमिकता स्वयं हो जाती है। रचनाकार कभी प्रकृति की असंख्य मनोहारी छवियों में स्वयं को निरूपित करता है और कभी अपने भीतर ही उन बिम्बों की खोज करता है। इस प्रक्रिया में रचनाकार का अहं विसर्जित होता रहता है और अहं विसर्जन के बाद वह जो कुछ भी रचनायित करता है वह शिवत्वमुखी नटीय त्रिपुरारी होता है। शतदल की गीत प्रक्रिया ने इन्हीं 'नीली घाटियों' में 'पवन' को बांधा है। गीत इनके लिए शिवत्वमुखी गौरी शंकर है जिस की नादात्मक गूंज में संहार-सृजन की तीसरी आंख साधनारत है। मानव-मात्र को अपने प्रेमिल गीतों से विस्तार मुखी बनाना ही इन की गीत-सम्पदा का बुनियादी सरोकार है।

भावुकता पुराने गीतों की तरह लिज़लिज़ी नहीं होती अपितु उसके सौन्दर्य बोध में कहीं गहराई रहती है। बांसुरी को नवगीतकारों ने बहुत बजाया है। प्रेम प्रसंगों में बांसुरी प्रायः सर्वत्र बजी है। शतदल ने भी कहा –

"गंध ने प्यार से छू दिया क्या इन्हें,
ये अधर इस जनम तो हुए बांसुरी।" (*पवन गया नीली घाटी में : पृ. 25*)

शतदल के गीतों में प्रणय-पीड़ा की अधिकता है। उन्हें डर लगा रहा –

"जग न उठाये उंगली मुझ पर,
दाग न लग जाये आंचल में.....।" (*पृ. 29*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह पलायन पुरातन पीर की नयी अभिव्यक्ति है। शतदल के गीत भावुक मन की सजल पुकार हैं। अश्रु की बौछार और अधर का प्यार गीतों को गीला कर देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि गीद दर्द को गाये नहीं, या वह ज़माने के लिए रोता रहे। कुछ समय वह अपने लिए भी जीना चाहता है। जीवन की इस आपाधापी में जो गीत हमें सरसता के कुछ क्षण दे जाते हैं तो क्या यह उन का योगदान नहीं है। जो व्यथा शतदल में है वह सर्वत्र व्यापक है। उसे पूरी सामर्थ्य से गाना महत्त्वपूर्ण है –

"प्यार को प्रार्थना जो नहीं मानते,
वे समझ लो स्वयं को नहीं जानते।" (*पृ. 53*)

अत्यन्त साधारण शब्दावली में गहरी चुनौती है। प्यार में जब अहं का विसर्जन हो जाता है तो हर बिम्ब दर्पण का काम करता है। परन्तु अहं का त्याग नहीं होता। अतृप्ति भी 'अहं' होता है –

"तृप्ति अगर छू जाती इन को, तो न अधर ये सरगम होते..।"

शतदल के गीत अतृप्ति के इसी अहं में डूबे हुए हैं –

"एक ख़त जो किसी ने लिखा भी नहीं
उम्र भर आंसूओं ने उसे ही पढ़ा।" (*पृ. 51*)

इस प्रकार की उक्तियां रहस्यवाद जैसा चमत्कार उत्पन्न करती हैं। शतदल के गीत इन्द्रधनुषी रंगों में रंगे हैं जो पूरे जीवन आकाश को छा लेते हैं। इन के गीतों में कहीं कहीं कबीर का व्यक्तित्व झांकता दिखाई पड़ता है –

"बहुत बढ़ा कर कहने पर भी,
कथा रही ढाई आखर की।" (*पृ. 86*)

यह ढाई आखर ही कबीर को अमर बना गया। शतदल के नवगीत गीत की आर्द्रता के पक्षपाती हैं। गीत की भीतरी लालिमा इन गीतों में झिलमिलाती है। शतदल का व्यक्तित्व ही एक तरह से इनके गीतों की सुरभि हो गया है। 'पवन गया नीली घाटी में' का प्रत्येक गीत प्रेमिल क्षण की उद्दाम पिपासा लिए हुए है। एकान्त में पढ़े जाने वाले ऐसे रससिक्त गीत नवगीत के पुराने आह्लाद की याद दिलाते हैं।

नवगीत के सरोवर में एक शतदल खिल रहा है, महक रहा है, मुस्करा रहा है, आकर्षित कर रहा है, वह आकर्षित नहीं हो रहा। शतदल के नवगीतों में गंगा का पावन संस्कार गूंजता है। छोटे छोटे गीत गहरे उतरते चले जाते हैं। गीत की असीम प्रतिभा से सम्पन्न शतदल के स्वर में संगीत की अनुशासित सरगम लहरी गूंजती है। शतदल भीड़ का गवैया नहीं है, वे एकान्त और एकान्त जैसे संभ्रान्तवर्ग का गीत कवि है।

'पवन गया नीली घाटी में' के गीत उनकी उज्ज्वल प्रतिभा के परिचायक हैं। उनका गीत सरगम की प्रक्रिया से होता हुआ अर्थ के पड़ाव तक आ गया है। सक्रियता, सजगता, श्रम और निरन्तर रचना क्रम शतदल को निश्चित रूप से स्वीकृति की ओर ले जाएगें। उनका नवगीत विहग उड़ान भर रहा है, वह जितना ऊंचा जाएगा उतना ही प्रकाश मिलेगा। शतदल में प्रकाश के प्रति प्यास,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पीड़ा को गाने का आनन्द, स्वर में एक करुणासिक्त आभास है। प्रस्तुति में किसी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। वे सहज सरल भाव से गीत को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रस्तुति के कारण ही वे चर्चा में आये हैं। मंच से शतदल अधिक सुने गए हैं। नवगीत के अलंकार को इन्होंने बड़ी चतुरता से धारण किया है। सौन्दर्य की खनक, कठोर अनुभूति की सरल अभिव्यक्ति का नाम ही शतदल है जिन से नवगीत की अनेक संभावनाएं जुड़ी हैं।

डूबते चन्दन वन का शापित यक्ष : किशन सरोज

कभी कभी किसी कलाकार का उठान जिस वेग से होता है वह उसे आगे तक नहीं निभा पाता। यह निर्वाह ही कवि-गीतकार को साधना से सिद्धावस्था तक ले जाता है। दुर्भाग्य से किशन सरोज के साथ यही घटा। वे एक असफल प्रेमी की व्याकुल भावनाओं के चित्रकार हैं। लगता है कवि का ह्रदय यौवन की देहरी पर जिसे अपने में बसा बैठा उसे जीवन में नहीं अपना सका। उसके पास कांटे रह गए, फूल सूख गए। इनके सारे गीत इसी मनोभाव के हैं जहां गीतकार अपनी कल्पित या अकल्पित प्रेयसी को समझाता है। अतीत के प्रेमिल क्षणों को भूल जाने के लिए प्रेरित करता है। विरह-पीड़ा को सहता है और प्रणय की रागिनी छेड़ कर स्वयं को संतुष्ट करता है। जीवन का 'चन्दन वन' जैसे कुहरे में डूब गया और अपने गीतों में वह उसकी स्मृति संजोये बैठा है।

स्मृति-वीथियों में भटकता किशन सरोज विरह-पालकी में बैठी गीत वधू को भरी-भरी आंखों से सामने से जाता देखने को विवश हो गया। पसीजती हथेलियों में कसी चन्दन वन खुशबू नागफनी बन कर देह के कोने कोने में पसर जाती है। मन की सतह पर रेंगती स्मृतियां आलसी अजगर बन खुद को ही काटने लगती है। रचनाकार के हाथों में ही सोने जैसे दिन और चांदी जैसी रातें कपूर-पंख बन जाती हैं। नीर-बूंदों में ही वचन जल समाधि ले लेते हैं। बूंद बूंद काटती स्मृतियां और कवि का आकुल मन प्रश्न मरीचिका में उलझा तलवार नोंक पर खड़ा दिशा तलाशने को हाथ पैर पटकता रह जाता है। इस पटकन में उससे भावुकता के केश भी नहीं संवरते (*चन्दन वन डूब गया : पृ. 27*), ह्रदय के आर-पार हुए चित्र चाह रखते हुए भी लेखनी की स्याही नहीं बन पाते (*पृ. 27*)। मन की सहमी गलियों में हाहाकार करता ज्वार-सागर घुप्प अंधेरे की शक्ल अख्तियार कर दैत्य हो जाता है और कवि के मन जैसा पारदर्शी नील गगन उसमें कहां समा जाता है, कुछ सूझता ही नहीं। इस अग्नि को समेटने का गीतकार के पास एक ही रास्ता है -

"दाह छिपाने को अब हर पल गाना होगा,
हंसने वालों में रह कर मुस्काना होगा,
घूंघट की ओट किसे होगा सन्देह कभी,
रतनारे नयनों में एक सपन डूब गया,
वह देखो! कुहरे में चंदन-वन डूब गया!" (*पृ. 28*)

चंदन-वन के डूबते ही कवि अपने मन को सम्बोधित करता है। स्वयं को बांधने और बंधने की इस कोशिश में वह उन रिश्तों-सम्बन्धों को नकारता है जो जीवन की गति-तपन को नहीं सह सके। उस का निश्चित निष्कर्ष है कि रूप जब तक बाहुओं में है तभी तक अपना है, भुजाओं से बाहर छिटकते ही वह निषेध हो जाता है। अतः दुर्बल सौगन्धों, चंचल मन-गंधों का क्या रोना?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सीने से तस्वीर हटाओ, मेरे मन!
जैसे हो यह आग दबाओ, मेरे मन!
हस्ताक्षर जिन पर भयभीत चुम्बनों के
ऐसे खंडित अनुबन्धों पर क्या रोना?" (पृ. 31)

स्मृतियां बहुत कड़ी हैं। सम्बन्धों के शून्य के बीच मन टूटे नक्षत्रों की तरह लापता हो गया और बंधे चरणों का गीत सिन्दूरी वेला में पराया हो गया –

"आंगन ने इतना प्यार किया, बंध गये चरण
भटकाया विवश क्षितिज ने सूनी राहों में
पहले ने दी कल्पना, दूसरे न अनुभव
किस का अहसान अधिक है, ईश्वर ही जाने।" (पृ. 32)

दूर तक नदी के पाट पर खड़ी-खड़ी नावें थक गयीं। हवाएं शाल-वृक्षों से लिपट शीश धुनती रही, तट बंध सा हर दिन टूट टूट कर ढहता गया लेकिन स्मृतियां क्षण भर को भी चंदन नहीं बनी/ मन दाह-कुण्ड में पवित्र समिधाओं की तरह जलता रहा, आंसू घी बन गये, तड़प-कसक सामग्री का धूंआ, मन की चटकन ने देह को निष्क्रिय और बुद्धि को बंदी बना लिया। स्मृति-तक्षक बार-बार फन उठाये डस जाता और विष-ज्वार से नीली पड़ी समूची देही बाणबिद्ध खग पीड़ा के करीब पहुंच कर समर्पण कर देती –

"याद आये फिर तुम्हारे केश
मन-भुवन में फिर अंधेरा हो गया
पर्वतों का तन-/ घटाओं ने छुआ
घाटियों का ब्याह-/ फिर जल से हुआ
याद आये फिर तुम्हारे नैन
देह मछली, मन मछेरा हो गया।" (पृ. 35)

कोबरा-स्मृतियों के नख दंत कवि के समूचे शरीर तन्त्र को ड्रेकुला-जकड़न में कस लेते हैं। इस कसन में पूरे गड़े दांत गीतकार की चेतना भूमि को लहुलुहान कर उसकी कराहट पर भी पहरे बिठा देते हैं। कवि-चेतना के साथ स्मृतियों का यह अन्याय अन्याय नहीं रहता चूंकि कवि भी स्वयं इन चंदनी कसावों में बंधा रहना चाहता है –

"नींद सुख की हमें सोने न देगा/ यह तुम्हारे नैन में तिरता हुआ जल
रूप धर अनगिन कथा कहता दुःखों की/ जोगियों-सा घूमता-फिरता हुआ जल।" (पृ. 39)

दहकन-कसकन की इस भंवर-गुफा से निकली रोशनी की गीत लकीरें कवि के भ्रम को तोड़ती हैं। कवि भी जागते-सोते नीम अंधेरे पर पड़े कुहासे के कफन को चीर कर बाहर आने को छटपटाता है लेकिन उसकी विवशता देखिए प्राण-तरू की शाखाओं-प्रशाखाओं पर स्वप्न के अभिशप्त विहग-बसेरे उसकी मानसभूमि को दंशधर्मी बना देते हैं –

"एक सी सब की कथा है, एक ही सब की व्यथा है
हैं सभी असहाय, मेरी या स्वयम् की बात छोड़ो!" (पृ. 41)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वंचना के हंसते गुलाबों' (*पृ. 42*) के दंशों को 'किसने जाना' (*पृ. 43*) है लेकिन इतना जरूर है जब कभी शृंगार वेला में ठेस लगने पर दर्पण चटक जाए, मनुहार-वेला में धार के आघात से सहसा किनारा ध्वस्त हो जाए तो स्मृतियों की काजर- गलियों में भटकने के बजाय मुझे याद कर लेना। यह आग्रह मन की सूक्ष्म अन्तर्पर्ती चेतना भूमि पर अंकुराया स्मृति का वह तुलसी बिरवा है जिसे सहेजना सीता की अग्नि-परीक्षा से कम नहीं, क्योंकि –

"हैं भ्रमर दोषी निगाहों में जनम से,
और हर खिलती कली अपराधिनी है
हर नयन है रूप का अभियुक्त, लेकिन
अश्रु की जो धार है, मन्दाकिनी है।" (*पृ. 45*)

यह क्रम रुकता नहीं। चेतना पर पड़ी स्मृति की गहरी लकीरें कवि को पुनः पुनः वहीं लौटा लाती है। 'आज भी' (*पृ. 47*), 'बीत गये दिन प्यार के' (*पृ. 48-49*), 'ज्यों रजनी गंधा' (*पृ. 50-51*), 'स्वर न मांगो' (*पृ. 52-53*), 'मन के सम्बन्धों की बात' (*पृ. 59-60*), 'निर्जन घाट रह गये' (*पृ. 67-68*), 'ताल सा हिलता रहा मन' (*पृ. 79-80*), 'तुम गगन हो गये' (*पृ. 80-81*), 'बादल क्या जाने' (*पृ. 84*), 'एक बरन हो जायें' (*पृ. 85*), 'दिन हुए हम को पहाड़ों से' (*पृ. 90*), 'कहां कहां भटका' (*पृ. 68*), 'कसमसाई देह' (*पृ. 15-18*) आदि गीत गाहे-बगाहे कवि की इसी मानसिकता के चाक्षुष बिम्ब हैं। कवि निरन्तर 'गीत वधुओं की व्यथाओं' को बांचता रहा है। स्मृति-अंगारों को सहेजते-सहेजते उमर बीत गई। निराशा के गहरे क्षणों में भी स्मृतियों ने ही गीतकार का साथ दिया है। प्राणों पर जब कभी रात का साया हस्ताक्षर करने को बड़ा कवि ने स्मृतियों की फुलझड़ियां जला कर उसे हतप्रभ कर दिया। भाल पर अधर छुअन की स्पर्श अनुभूति होते ही मन बांसुरी की तरह बजा लेकिन जीवन शंख हो गया। आयु के पड़ावों को पार करते-करते केश उजाले से दोस्ती गांठ बैठे, बीच-बीच में नीड़ बसाये चांदी तार प्राण-पिंजर में कैद स्मृति-विहग को गतिशील बनाये रहे फिर भी बांधते, खोलते, चूमते, बांचते पातियों में लिखे शब्द धुंधले हो गये –

"सांस में घोल कर प्यास की त्रासदी
वक्त ने सोख ली एक बहती नदी
गीत वन हो गये, मन शिकारी हुआ
और हम बान-बींधे हिरन हो गये।" (*पृ. 54*)

कवि अपनी स्थिति को जानता है, सूत्र उसके हाथों से पूरी तरह छूट चुके हैं। उसके जीवन की कुल जमा पूंजी ही यह है। इसे गीतकार ने स्वीकार भी किया कि "दुःख रचनाधर्मिता को ऊर्जा प्रदान करता है, यह विश्वास गीत-यात्रा में मेरा पाथेय रहा है....यह दण्ड मरण-पर्यन्त भुगतना ही होगा। रागात्मक अनुभूतियों वाली इन गीत-कविताओं की सर्जना मेरी विवशता है, मेरी नियति है।" इसी पूंजी के बल पर कवि कुबेर को ठेंगा दिखाना चाहता है। जीवन की कसक भरी जलती अग्नि-घाटियों में विहरता गीत-मन ताप के साथ पिघल कर एक हो जाना चाहता है। उस के आग्रह में कशिश भी है और तरल अनुभूति छुअन की मर्मान्तक पीड़ा भी –

"अश्रु की उजली सभा के, अनसुने अध्यक्ष हम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ओ कमल की पंखुरी! बिखरो हमारे पास भी
लेखनी को हम बनाये -
गीतवंती बांसुरी
ढूंढते परमाणुओं की -
धुन्ध में अलकापुरी
अग्नि-घाटी में भटकते, एक शापित यक्ष हम
ओ जलदकेशा प्रिये! संवरो हमारे पास भी।"

सरोज का प्रारम्भिक गीतकार गीत की नयी शैली, नयी भाषा, नया स्वर और नयी उद्‌भावनाएं लेकर उदित हुआ तो श्रोता और पाठक नयी आशा लेकर विश्वस्त हुए थे परन्तु यह नयापन धीरे-धीरे पुराना पड़ गया। गीत में ताज़गी का अभाव आता गया। पुराने प्रतीक और पुरानी शब्दावली कुछ क्षण के लिए सिहरन भले दे जाये उस में वह आकर्षण नहीं है। जीवन में प्रेम का अत्यधिक महत्त्व है परन्तु प्रेम ही सब कुछ नहीं है। हालांकि 'अभिशप्त बांसुरी का सम्मोहन' शीर्षक देकर 'चंदन-वन डूब गया' की भूमिका में माहेश्वर तिवारी ने पाश्चात्य एवं भारतीय चिन्तक मनीषियों, गीतकारों का हवाला देते हुए वज़नदार तर्कों द्वारा अपने गीत मित्र किशन सरोज की सीमित गीत-दृष्टि को मेघ दूतीय फलक देने की असफल कोशिश की है लेकिन तमाम तर्क-कुतर्कों के बावजूद वे किशन सरोज की सीमित गीत-दृष्टि एवं कथ्य को सागर नहीं बना सके। अभिशप्त बांसुरी के इस स्वर-समापन में उन्होंने जिस आग्रही शर्त की बंदिश लगायी है वह अपने आप में एक व्यंग्य है। बकौल माहेश्वर तिवारी के सहृदय रसी पाठक यदि एक ख़ास नज़रिये से रचनाओं को देखे-पढ़े तो किशन सरोज का 'चंदन-वन' (?) कभी नहीं डूब सकता। शब्दों से खिलवाड़ कर इस प्रकार की दोस्ताना वकालत किशन सरोज को कालिदास नहीं बना सकती। इनके जो भी गीत हृदय की तहों को फोड़ते हैं वे बिना वकालत के ही सिर चढ़ कर जादू बन जाते हैं उस के लिए माहेश्वर तिवारी या अन्य किसी की वकालत की कतई जरूरत नहीं है। यह गुटीय सहानुभूति के अतिरिक्त कुछ नहीं, यह साहित्यिक शिविरबद्धता का राशनकार्ड है जिस पर दूसरी पंक्ति के हस्ताक्षर हैं। इस सत्य से विमुख होना गुनाह है कि किशन सरोज का गीत-कथ्य और वृत्त सौ प्रतिशत सीमित है और विरह-व्यथा सौ टांच खरी। निश्चित रूप से किशन सरोज गीत की दृष्टि से प्रणय की रागिनी के एक ऐसे पाश में बद्ध गीतकार है जो अपनी सीमा को पार नहीं कर सका। उसने समय से आंख नहीं मिलाई। लगता है जैसे कोई परिस्थितियों से समझौता कर एक विवश जीवन जी रहा हो। कमोबेश यही भाव इन के समस्त गीतों में स्पष्ट झलकता है। सारा जीवन मज़दूरी करते हुए भी वे मज़दूर की पीड़ा न गा सके। आज जीवन जिस संघर्ष से जूझ रहा है उसकी खनक सरोज के गीत में नहीं है। जहां तक प्रतिभा का प्रश्न है वह उनमें भरपूर है, परन्तु प्रतिभा को कोई प्रस्फुटित न करे और आलस्य से अकर्मण्य होकर गीत लिखने के लिए गीत लिखे, इस के लिए वह स्वयं दोषी है।

सरोज का स्वर मीठा है, उसमें कंपन एवं सार्द्रता है। गीत सुनने पर अच्छा लगता है, उसमें हृदय की कोमलता को झनझना देने की सामर्थ्य है परन्तु साहित्यिक गीत एक सीमा तक ही इस सीमा को सहन करता है। प्रकाशन की दृष्टि से सरोज के गीत पत्र-पत्रिकाओं में बहुत कम देखे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए हैं। 'चन्दन वन डूब गया' इन का प्रकाशित संग्रह है जिसमें इनके प्रसिद्ध मंचीय गीत संकलित हैं। मंचीय मन जीने वाला किशन सरोज केवल रसिक जनता तक ही सीमित रहा। प्रणय की जिस रागिनी में ये पाशबद्ध हैं उसके ये सिद्धहस्त हस्ताक्षर हैं। लगभग तीन दशक तक लिखने के बावजूद इन की गीत-यात्रा में विकास की सीढ़ियां नहीं हैं। समतल भूमि पर खड़े रागिनी दुहराने में ही शायद इन्हें ज्यादा सकून मिलता है।

श्रृंगार की यह विशेषता है कि वह आलम्बन के सभी उपादान प्रिय बना देता है। चन्दन लगने पर या जलने पर दोनों ही स्थितियों में सुगन्ध देता है। उसी प्रकार किशन सरोज को जब मंच से सुना जाता है तो लगता है आज के युग में दुर्लभ सच्चा प्रेमी विरह-गीत गा रहा है। कंठ में विरह की तरलता ने एक विचित्र वियोगिनी छन्द को पवित्र कर दिया है। गीतों में विरह और स्मृति की सघनता ने किशन सरोज को ललित गीतकारों की पंक्ति में ला बैठाया है। कुहरे में चंदन-वन की तरह किशन का सरोजी गीत-पक्ष अभी तक चर्चित नहीं हो सका। इन गीतकारों को मंच का क्षणिक श्लथ सुख आलसी बना गया। भविष्य के प्रति अनपेक्ष ये गीतकार अपनी प्रतिभा को स्वयं अपनी उपेक्षा से आत्महत्या की ओर प्रेरित कर रहे हैं।

गाती हुई आग में दहकता स्वर्ण गीत : विजय किशोर मानव

इधर नवगीत और ग़ज़ल कुछ मा जाये भाई की तरह या नवविवाहित जोड़े की तरह या अत्यन्त निकट आए मित्र की तरह दोनों हाथ में हाथ डाले प्रत्येक साहित्यिक काव्यात्मक मंच पर पत्र-पत्रिकाओं और गीत-कवियों की चर्चाओं में दिखाई सुनाई देते हैं। विचार की कोई भी चिन्गारी जब जन्म लेती है तो उस पर धूल पड़ सकती है, उसकी ऊष्मा सहज हो जाती है परन्तु नष्ट नहीं होती। नयी कविता कितनी ही बाजरू क्यों न लिखी जा रही हो परन्तु कहीं कहीं अपना रंग दे जाती है। इसी तरह गीत भले ही फिल्मायित होता जा रहा हो परन्तु कभी कभी, कहीं कहीं गीत अपनी रमक दे जाता है। इस हॉच-पॉच में कुछ ऐसे नवीन प्रतिभाशाली लेखक हैं जो अपनी शैली में नवगीत को ढाल रहे हैं। विजय किशोर मानव का स्वर जिस शैली में गीत छेड़ता है उसमें नवगीत की स्पर्श-क्षमता स्वयम् अनुभूत होने लगती है।

गुनगुनाहट से जुड़ी गीत रचना स्वाभाविक प्रक्रिया है। संगीतमय कंठ, सम्प्रेषणीयता का गुण, नवगीतीय अकुलाहट के साथ लय से सन्धि कर 'गाती हुई आग' बन जाती है। इस गाती हुई आग में समाज की स्थिति का चिन्तनशील आग्रह है। गीतों के दहकीले बिम्ब समाज के छिछलेपन से व्यग्र दिखाई देते हैं। पूंजी का सही विभाजन या उपयोग समाज को स्वच्छ और निश्चिन्त जीवन देता है परन्तु वर्त्तमान में ऐसा नहीं है। जीवन की सारी प्रक्रिया ऐसी बदली है कि जीवन कठिन हो गया है –

"यात्राएं गंगा सागर की/ नावें पत्थर की/ ऐसी बदल गयी है/ आबो हवा शहर भर की।"

(गाती आग के साथ : पृ. 21)

परिस्थितियों की विषमता ने मनुष्य को बांध दिया है, उसमें उत्साह, उत्फुल्लता का भाव नहीं रहा। जैसे मदारी के इशारे पर जमूरा काम करता है वैसे ही मानव आज सत्ता-व्यवस्था और प्रतिपक्षी शक्तियों के हाथों में कठपुतली बन गया है। जीवन में उसे नयापन महसूस ही नहीं होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि उसके स्वप्नों की बे मौसम मौत हो चुकी है, रंग चुक गए हैं। सुबह और शाम के एक जैसे चलन ने जीवन की स्फूर्ति को समाप्त कर दिया है। वही दफ़्तर, फ़ाइल, अफ़सर की डांट, वही सब कुछ - इस उदासी ने जीवन का रस सोख लिया है। ऊपर से प्रदर्शनप्रियता ने जीवन को कृत्रिमता के सांचे में ढाल दिया है। सादगी और उच्च विचारों का अकाल है। इसीलिए -

"रूखा सूखा मिले यहां, जो भी बस वह खाना/ तोते से कहती है मैना, अब शहर न जाना।" (*पृ. 34*)

नागरिक जीवन के प्रति यह वितृष्णा भारतीय जीवन की सादगी के प्रति आत्मीयता प्रकट करती है।

नवगीत के क्षेत्र में विजय किशोर अब 'मानव' उपनाम से जाने जाते हैं। तोते को मना करने वाला मानव कानपुर को छोड़ कर दिल्ली आ बसा है। छोटे शहर से बड़े शहर में आना उसके जीवन की शायद विवशता रही। यहां आकर रचनाकार के रूप में स्थापित होने की ललक भी बढ़ गई। इस प्रबुद्ध गीतकार को छन्दों और मात्राओं का अच्छा ज्ञान है। गीतों में नयी शैली एवं सजग आत्माभिव्यक्ति का अपना सौन्दर्य है। जीवन के बिखराव को इनके गीत बड़ी सहजता से मुकुर करते हैं –

"दरवाजे अपने हैं/ ताले गैरों के/ आंगन में हिस्से हैं नत्थू खैरों के।" (*पृ. 37*)

यहां नत्थू खैरा शब्द जीवन की कसावट को प्रकट करता है।

इसी प्रकार 'तीर कमान बांस के लोहे के रावण' गीत में 'ऐरों-गैरों के डर से/ प्रियतमा त्याग देना' (*पृ. 46*) कह कर कवि ने पौराणिक सन्दर्भों की जो कमान खींची हैं वह लीक से हट कर है। वैसे आज वर्त्तमान वैषम्य-समस्याओं के समाधान पौराणिक सन्दर्भों में खोजने का फैशन हो गया है लेकिन मानव ने बतौर फैशन पौराणिक सन्दर्भों को व्यंग्य की सिल पर घिस कर भांग नहीं बनाया बल्कि प्रभावशाली ढंग से पौराणिक-ऐतिहासिक सन्दर्भों में घर बना कर मानव-चेतना को पैनाया है।

विजय किशोर मानव के पास लोकरूढ़ियों, लोक प्रचलित कहावतों का अच्छा कोश है। बहरों का गूंगों को कायदा सिखाना (*पृ. 47*), हंसों का दूध में पानी घोलना, गंगा में दागों का धुलना असम्भव जान पड़ना आदि लोक-बिम्बों की धार पर नृत्य करते असि व्यंग्य रचनात्मक हथियार बन कर सकार मुद्राओं में संवाद करने वाले हैं। आज मानव की सहनशीलता में इज़ाफा हुआ है, उसका कारण धैर्य नहीं बेबस विवशता है। अन्याय सह कर ही आज मनुष्य पत्थर हुआ है। अपने आप से मानव कहां तक लड़े। न जाने रोज़ कितने महाभारत उसके अन्दर गुज़र जाते हैं और वह क्षण-क्षण अपनी भूमिका बदल कर कभी अश्वत्थामा, कभी भीष्म, कभी द्रोण, कभी महाबाहु पार्थ, कभी कर्मयोगी कृष्ण, कभी धृतराष्ट्र तो कभी दु:शासन-द्रौपदी बन कर जीता है। जीवन का रथ बियावान रक्त पथ पर दौड़ रहा है लेकिन सारथी कृष्ण नहीं, आंखों पर पट्टी बांधे गांधारी है और उसे कीलित कर रहा है धृतराष्ट्र का सत्तायी अंधापन। सत्ता-व्यवस्था के शकुनि आचरण को मानव कहां तक सहे। उसका जीना दुश्वार है, इसीलिए पार्थ के भी पराजित होने की संभावना है (*पृ. 51*)। शकुनि-आचरण से गरियाया मनुष्य-पार्थ आज गीता को भूल

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है, कर्मयोग की पंख-पांखें आखेट हो गई हैं। इन आखेट-व्याध स्थितियों से प्रक्षिप्त कवि-मानसिकता एक-एक शब्द को चबाती है और अपने पर ही गुर्राती है। शब्द की चबाहट और गुर्राहट का विवश भौंकना देखिए कितना व्रणमुखी एवं मिर्चधारी है – 'पार्थ जीतेंगे नहीं इस बार।' वह जानता है कि जब कौए सलाहकार हों, तोते बिल्ली के हो जायें, धनुष बांस के हों, तरकश खाली हों (*पृ. 36*), एक गर्दन पर हज़ार फन्दे हों (*पृ. 42*), पांव के नीचे जमीन ही न हो (*पृ. 49*), पड़ोसी का जलता घर देख कर भी हम संवेदनहीन हो चुप्पी साधे हुए हों (*पृ. 52*), समय पांसे फेंकता जाए तो हम दांव हारेंगे ही (*पृ. 60*)।

तीखी कड़वाहटों का सच उजागर करने और जीवन के कुरुक्षेत्र को जीतने के इरादे से कवि ने मुहावरों को हरावल दस्ता बनाया है। मुहावरों के प्रयोग से अभिव्यक्ति नुकीली और पैनी हो गयी है –

'सिर पर फन फैलाए हैं' (*पृ. 35*) 'पाला मारे खेत......काठ मारे से शहर' (*पृ. 40*), 'अनवरत सिर लोग धुनते हैं' (*पृ. 51*), 'पांव के नीचे ज़मीन ही नहीं' (*पृ. 49*), 'सर पर कफन बांधे हैं/ पड़ते पांवों में छाले' (*पृ. 60*)। पौराणिक संकेत-बिम्बों के अतिरिक्त कवि के वस्तुगत-बिम्बों ने तृप्ति और सुकून दिया है –

"एक चिड़िया हंसी बांच कर
बाज के घर लिखा 'स्वागतम्'।" (*पृ. 91*)
"हंस की भाषा न बोला कर/ तुझे मेरी कसम।
मूंद ले आंखें न खोला कर/ तुझे मेरी कसम।" (*पृ. 92*)

इसी प्रकार "समझौते के पहाड़ चढ़ते/ थके हुए प्राणों का हांफना" (*पृ. 94*) और "कर्ज पिता का, मां के आंसू/ बोझ लदे कंधे बचपन के" (*पृ. 65*) आदि वस्तुगत बिम्ब जीवन की आन्तरिक व्यथा-परतों पर जमी काई को फाड़ कर हृदय झरोखों से जलधारी हवा बहाने की कोशिश है।

प्राकृतिक और साहित्यिक प्रतीकों-उपमानों को भी कवि अभिव्यंजना का माध्यम बनाता है –

"जल पर खिले कमल पर जब भीगी चांदनी झरे
घनानन्द का छंद-बांसुरी पर जैसे उतरे.......।" (*पृ. 93*)

मानव की एक विशेषता यह है कि उन्होंने आज के दर्द को लोक धुन के आधुनिकी क्रम में गाया है। हमारे गांव में क्या हो रहा है–यह बताने के लिए गीत-कवि ने जो कहा है वही वर्त्तमान की विषमता है। जीवन का सरल अनुभव एक गंभीर विचार लेकर उपस्थित हो जाता है। इस प्रकृति के कारण ही मानव के गीतों में गाती हुई आग की जलन और ताप है परन्तु इस ताप में प्रकाश भी है। मानव में जो गीत कवि है उस में एक पत्रकार की आत्मा भी सजग है, इसलिए जीवन को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर देखने वाली सूक्ष्म दृष्टि कवि को उतना भावुक नहीं होने देती। जहां भावुकता है वहां तरलता सकुचाई सी उभरती है।

मानव में भी औरों की तरह ग़ज़ल कहने का स्वभाव जागा है। एक सचेष्ट साहित्यकार होने के नाते ग़ज़ल में भी कहीं कहीं बुद्धि का तराशा भाव श्रोता-पाठक को उछालता है। मानव की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सृजनशीलता में एक निरन्तरता है भले ही गति धीमी हो। मंच और साहित्य दोनों क्षेत्रों में अब विजय किशोर जाने जाते हैं। वे कहानी, पटकथा और वार्त्ता आदि के क्षेत्र में भी सक्रिय है। गाती हुई आग के साथ जो मानव चल रहा है उसका पथ प्रशस्त है, इसमें सन्देह नहीं क्योंकि मानव के गीत वर्त्तमान परिवेश से परिबद्ध होकर युगीन घुटन-संवेदना को हूबहू चित्रित करने की कला में माहिर हैं। इन जिज़ीविषी गीतों में जीवट युवा होकर आंखें तरेरता है। यही तरेरन अक्समुखी होकर विजय किशोर मानव हो जाती हैं।

नवगीतधर्मा ग़ज़ल प्रतीतियां : ज़हीर कुरेशी

नवगीत के क्षेत्र में ज़हीर कुरेशी का नाम बड़ी तेजी से उछला है। नवगीत के केश संवारते ज़हीर की पृष्ठभूमि में प्रकृति की सम्पन्नता है। इसीलिए गीतों में नदियों की कलकल और झरनों का शीतल नाद है। प्रारम्भ से ही प्रकृति प्रेमी और अन्तर्मुखी स्वभाव ने कवि को जीवन के प्रति गंभीर दृष्टि दी है। जब कस्बे का आदमी शहर में आता है तो उसे जीवन के नये रूप और नयी समस्याओं से जूझना होता है। ज़हीर ने समाज के आर्थिक वैषम्य, सांस्कृतिक पतन और मनुष्यता के अवमूल्यन को भीतर से महसूस किया है। इसलिए ज़हीर के नवगीत अर्थ और लय के साथ शब्द की नवीन प्रत्यावृत्ति को प्रमुखता देते रहे हैं। आज का मानव हृदय से छोटा हो गया है-

"सड़क के दोनों तरफ़ कटि तक गड़े हैं लोग
मील के पत्थर बने तन कर खड़े हैं लोग,
और बौनापन छिपाने के लिए अपना
छोड़ कर समतल हिमालय पर चढ़े हैं लोग...।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 91*)

ज़हीर बनावटी भाषा पर विश्वास नहीं करते। नवगीत का सही अर्थ नयी अभिव्यक्ति में है। आज के जीवन की विषमता को गहराई से पहचान कर ही उन्होंने कहा कि सन्नाटा बाहर से ज़्यादा अपने मन का है –

"भीतर हैं दरके दर्पण - से/ टुकड़े-टुकड़े लोग!" (*पृ. 93*)

यही व्यथा-कथा है। जहां तक विषय का सम्बन्ध है, उस कथ्य में अन्तर नहीं है। समाज का स्वरूप विकृत और घिनौना हो गया है। मशीनीकरण ने मनुष्य के हृदयपक्ष को अत्यधिक हानि पहुंचाई है। स्वार्थी प्रवृत्ति बुद्धि की देन है। यह बुद्धि उसे हिंसा और भ्रष्टाचार की ओर ले जा रही है। मनुष्य इस दुष्प्रवृत्ति का ऐसा अभ्यासी हो गया है कि कोई दुर्घटना उसके लिए विशेष नहीं रह गई –

"लगे 'हादसे' ऐसे/ जैसे कोई बात नहीं!" (*पृ. 93*)

ज़हीर कुरेशी ने नवगीत का भाषा-भावगत शिल्प ले कर ग़ज़ल के क्षेत्र में एक नई पहचान बनाई है। दुष्यन्त भी मूलतः गीतकार थे परन्तु उनकी प्रतिभा का प्रस्फुटन सहसा ग़ज़लों में हुआ। दुष्यन्त के बाद हिन्दी में अनेक ऐसे शायर कवि हैं जिन्होंने ग़ज़ल का हिन्दीकरण कर उसे ग्राह्य बनाया। कुरेशी ने ग़ज़लों के माध्यम से हिन्दी के परम्परागत छन्दों और उर्दू की लयवत्ता में सार्थक साम्य उत्पन्न किया है। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लों की संवेदनशीलता, शिल्प कला और कथ्य नवगीत के स्वभाव की निकटता लिए हुए हैं। कुरेशी की ताजी टटकी बिम्ब योजना ग़ज़लों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को बासी नहीं होने देती। संख्या में तो अनेक हिन्दी शायर कवि ग़ज़ल कह रहे हैं परन्तु उनमें सहजता नहीं मिलती। ज़हीर की ग़ज़लों ने नवगीतीय हिन्दी ग़ज़ल को गुणात्मक दृष्टि से समृद्ध किया है। उन्होंने हिन्दी ग़ज़ल के सम्बन्ध में फैली अनेक भ्रान्तियों का निराकरण करने का प्रयत्न भी किया है। वे दुष्यन्त की ग़ज़लों को हिन्दी मूल की ग़ज़लें नहीं मानते। इस दृष्टि से अधिकांश रचनाकारों की ग़ज़लों में हिन्दी मुहावरा प्रतीत नहीं होता। उन्होंने कहा है कि हिन्दी ग़ज़लें देवनागरी लिपि में छपी हुई उर्दू मुहावरे की ग़ज़लें होती हैं जिमनें एक-दो स्थानों पर एक-दो भारी भरकम हिन्दी के शब्द डाल कर दिग्भ्रमित करने का यत्न किया जा रहा है। साथ ही कुरेशी नये नामों जैसे ग़ज़ल को गीतिका, मतले को आरम्भिका और मक़ते को अन्तिका आदि कहने के भी विरूद्ध हैं। कुरेशी का विचार है कि हिन्दी ग़ज़ल कहने से पूर्व ग़ज़लकार की समझ साफ होनी चाहिए अन्यथा वह हिन्दी ग़ज़ल की भाषा, मुहावरे और शिल्प पर बात करने से कतरायेगा, गोल मोल बातें बता कर दिग्भ्रमित करने की कोशिश करेगा।

कुरेशी की नवगीतधर्मा इन ग़ज़लों में वर्त्तमान जीवन के परिवेश में आम आदमी की मानसिक व्यथाएं और जिज़ीविषा से संत्रस्त संघर्ष की संवेदनशील अभिव्यक्तियां हैं। इन ग़ज़लों के माध्यम से शायर कवि ने सामाजिक परिस्थितियों का चुनौतीपूर्ण साक्षात्कार किया है, साधारण आदमी के लिए साधारण होकर –

"मैं आम आदमी हूं, तुम्हारा ही आदमी/ तुम काश देख पाते मेरे दिल को चीर कर।"

(*चांदनी का दुःख : पृ. 15*)

केवल भाषा या भाव के लिए हिन्दी या उर्दू ग़ज़ल नहीं होती। प्रकृति भाषा और भाव की भी होती है। यही गीत या ग़ज़ल में अभिव्यक्त होनी चाहिए। जीवन के अनुभव भाषा के प्राकृतिक मुहावरों के साथ होने चाहिए। आज के जीवन की विसंगति देखिए –

"पद प्रतिष्ठा ने इतना बौराया/ पुत्र अपने पिता को भूल गए।" (*पृ. 16*)

महानगरीय प्रभाव का चित्र अत्यधिक प्रभावशाली है –

"ये महानगरीय जीवन का करिश्मा है/ भूल बैठे हम सुखी परिवार की भाषा।" (*पृ. 22*)

कुरेशी की ग़ज़लों में गाड़ियों पर अपना घर लादे बंजारे, जल रहित बादल, समुद्र बनती बूंद, कमल को खोजने के लिए कीचड़ में उतरते लोग, बन्दूक की भाषा, अपने तर्कों के शास्त्रों और शस्त्रों से सजीं पुरानी नई पीढ़ियां, अंधेरे में देह व्यापार करती नारी, कुंठित कलाकार आदि तरह तरह की अभिव्यक्तियां हैं जो पाठक को बांधती हैं। कुरेशी का यह कथन सशक्त है – "निर्बल कोई भी हो-औरत, हरिजन अथवा शीशमहल/ निर्बल पर ताक़तवर ने हर युग में अत्याचार किया" (*समन्दर ब्याहने नहीं आया : पृ. 11*)। इस प्रकार के सत्य जीवन को दिशा देते हैं। आजकल का आदमी संदेहों के बीच फंस गया है, त्रस्त और व्यथित है। 'आग जैसे ज्वलन्त प्रश्नों में/ देश उलझा अनन्त प्रश्नों में' (*पृ. 22*) कह कर ग़ज़लकार ने समूचा चित्र स्पष्ट कर दिया है। जिन लोगों ने अंधेरे का चेहरा नहीं देखा, वे उजाले का मूल्य नहीं जान सकते। इसलिए वह इस आदमी को ही कहता है कि उलझनें तो सभी के साथ हैं, कुछ पल खुशी के साथ जीना चाहिए। अपनी मेहनत पर भरोसा होना चाहिए क्योंकि मशीनों का समाज आज भी हाथ की कारीगरी के सामने नत है। माना कि हुसैन जैसे कलाकार को नंगे पैर होने के कारण लोग, क्लब से बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर देते हैं, परन्तु 'ज़िन्दगी वो भी चखायेगी जो कड़वा है कहीं/ ज़िन्दगी के वृक्ष के फल को सदा मीठा न देख' (*पृ. 43*)। इसलिए आक्रान्ता और शोषकों को समझना चाहिये। 'कुछ भी गुज़रे सीप के दिल पर उसे मतलब नहीं/ सीप के दिल से वो मोती चीर कर ले आयेगी' (*पृ. 57*) - इस से आशा बंधती है कि इन संघर्षों, कुंठाओं और त्रासदियों के बीच से मनुष्य की महान मूर्ति स्पष्ट होगी।

इन्होंने गीत-कविता एवं ग़ज़ल को एक रचनात्मक अस्त्र की तरह पैनाया है (*साक्षात्कार : 25 दिसम्बर : 1986*) क्योंकि इसके बिना रचना जन चेतना की संवाहक नहीं हो सकती। 'नदी के साथ दुर्घटना' जैसे गीत इस दृष्टि से विशिष्ट है। गीत ग़ज़लों में ज़हीर साहित्यिकता के पक्षधर हैं। शायर कवि के अनुसार 'कवि का अनुभव संसार जितना बड़ा होगा रचना उतनी ही वज़नी और बड़ी होगी' (*साक्षात्कार : 25 दिसम्बर : 1986*)। अनुभव प्रौढ़ि पर खड़े ज़हीर की रचनात्मकता के प्रमाण पत्र 'लेखनी के स्वप्न', 'एक टुकड़ा धूप', 'चांदनी का दुःख', 'समन्दर ब्याहने नहीं आया' जीवन और समाज की दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों के काल पट्ट हैं जिनमें समय की विद्रूपताएं छप्पर तान कर मनुष्य नियति पर अट्टहास कर रही है।

महानगरों की विषैली प्रकृति ने सारे वातावरण को विषाक्त कर दिया है। इसीलिए महानगर में यूं तो सभी मिलते हैं परन्तु सुकरात जैसा मनुष्य नहीं मिलता। इसी संत्रास, पीड़ा और मानसिक यातनाओं से लदे-फदे गीत वर्त्तमान के मानवीय संकट को मुखर वाणी देते हैं। नवगीतों से अधिक इन की ग़ज़लें समाज मन की उलझी गुत्थियों को काटती हैं। ग़ज़ल इन के स्वभाव में है और गीत कंठ में। ज़हीर की अभिव्यक्ति दिन पर दिन सशक्त हो रही है। नवगीत के सम्बन्ध में इनके विचार स्पष्ट हैं। वे नवगीत को सामयिक हिन्दी कविता की जीवंत एवं विशिष्ट प्रवृत्ति मानते हैं।

एक बार फिर जाल फैंक रे मछेरे! बुद्धिनाथ मिश्र

नवगीत की नयी पीढ़ी बुद्धिनाथ मिश्र के नाम के बिना अधूरी है। मिश्र के नवगीतों में प्रकृति और ग्राम की शहद-नमकीली गंध मिलती है। आंचलिकता ने इन के गीतों को अलग सौन्दर्य दिया है। गांव की सहज सरलता और जीवन की कठिनाइयों भरी सांसें गीतों को साग्रह बनाती हैं। उन का विचार है कि जिस नयी कविता में आम आदमी की बात कही जाती है वह नयी कविता आम आदमी के जीवन से अपनी पहचान खो बैठी है और नवगीत में उसे सार्थक अभिव्यक्ति मिली है। उसे मातृ रूपा प्रकृति में गीत की लय मिली है जिसे उन्होंने गीतों में ढाला है। आज विज्ञान के युग में गीत ही ऐसा साधन है जो मनुष्य को कुछ देर के लिए शान्ति दे सकता है। यंत्रीकृत इस युग में गीतधर्मिता ही हृदय को यंत्र होने से रक्षित कर सकती है। उन्हें अहसास है कि आज मनुष्य के पास महाकाव्य का अध्ययन करने का समय नहीं है, इसीलिए नवगीत के छोटे छोटे गमलों में महाकाव्य का 'अर्थ-बीज' बोया जा रहा है।

मिश्र महानगर में रहते हुए भी गांव से पूरी तरह जुड़े हैं –
"सुन्नर बांभिन बंजर जोते/ इन्नर राजा हो;
आंगन-आंगन छौना लोटे/ इन्नर राजा हो!" (*धर्मयुग : 20 - 26 जून 1976 : पृ. 20*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोक गीत की सहजता से सम्पन्न ये नवगीत अपनी छटा से विमुग्ध करते हैं। इस का यह अर्थ नहीं कि जीवन की सामयिक पीड़ा से ये गीत विमुख हैं। गांव और नगर दोनों की स्थिति उत्तरोत्तर कष्टप्रद होती जा रही है। जीवन के आदर्श धूल में मिला दिए गए हैं और मनुष्य जीने के लिए लाचार है –

"सड़कों पर शीशे की किरचें हैं/ औ' नंगे पॉव हमें चलना है।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 110*)

ये पंक्ति ऐसी ही है कि आग का दरिया है और तैर कर जाना है। जीवन बिखर गया है, प्रकृति का आनन्द घुटन में खो गया है। अब सुबह-शाम सब व्यर्थ प्रतीत होते हैं –

"सूर्य लगे अब डूबा, तब डूबा/ औ' ज़मीन लगती है धंसती-सी
भोर; हिंस्र पशुओं की आंखों-सी/ सांझ; बेगुनाह जली बस्ती-सी...।" (*पृ. 111*)

नवगीत के स्वरूप और आस्थावादी विचारों को अपने गीतों में ढालने का सुख बुद्धिनाथ मिश्र को मिला है। गीत में बुद्धि का प्रयोग कर इस गीत कवि ने अपने नाम को सार्थक किया है। गीत की गायकी और अर्थ की सम्प्रेषणीयता इन दोनों गुणों से मंडित बुद्धिनाथ मिश्र के नवगीत अपनी छाप छोड़ते हैं। जीवन की कटुता और उसके प्रति यथार्थपरक दृष्टि नवगीत का स्वभाव हो सकता है परन्तु उस की प्रस्तुति का अपना महत्त्व है।

बुद्धिनाथ को गीत के क्षेत्र में स्थापित करने का श्रेय उनके प्रथम प्रसिद्ध गीत को जाता है-

"एक बार जाल और फैंक रे मछेरे,
न जाने किस मछली में बिंधने की चाह हो।"

इनमें जीवन के प्रति एक नया अनुरागमय दृष्टिबोध है। इस गीत से ही कवि के चिन्तन और नयी अनुभूति के स्वरालोक की किरण-छवि पाठक और श्रोता के मन में आशापूर्ण संभावनाएं जगाने के लिए पर्याप्त है। इसके बाद इनके अनेक गीत प्रकाशित हुए और मंच से भी सुने गए। इस गीत कवि ने जो भी लिखा है वह केवल भावुकता की उपज नहीं है। उसमें बुद्धि के संयोग ने एक प्रकार की कांट छांट की है। यही कारण है कि कवि के प्रयोग बुद्धि को चौंकाते हैं, हृदय की प्रधानता उतनी दृष्टिगत और अनुभवगम्य प्रतीत नहीं होती। महानगर की वैज्ञानिक प्रवृत्ति ने गीत को तरलता के संकेत भी दिए हैं लेकिन उनमें वह मिठास नहीं है। शायद इस जीवन की आधुनिक पीड़ा ने ही यह विवशता दी हो।

'जाल फेंक रे मछेरे' के इक्यावन गीत बुद्धिनाथ मिश्र की रचनात्मक भावभूमि का कृतित्व द्वार है। प्रवेश-आंगन में कृति-महोत्सव की अनन्त संभावनाओं को व्यक्त करते इन गीतों के झरोखे धरती और आकाश को एक करने को आतुर हैं। इन गीतों में मानवीय मन की सूक्ष्म परतें नादात्मक गूज देती हैं। प्रणय-चारुता को समेटे इस संग्रह के कई गीत नवगीत दायरे से बाहर हालांकि परम्परित गीत की गंध देते हैं लेकिन लोकधुनों, लोक संस्कृति, लोक रूढ़ियों आदि से सम्पन्न इन गीतों के प्रकृतिपरक बिम्ब मन की गूंज बन कर जीवन के रसीय बोल बन जाते हैं। 'शीर्षक गीत', 'गांधारी ज़िन्दगी', 'मुमकिन है', 'जिज़ीविषा', 'एक किरन भोर की', 'मोह की नदी', 'आर्द्रा', 'नीम तले', 'उजला बादल', 'छालों भरा सफर', 'बागमती धान जब भी कूटता है' आदि गीतों की आंचलिक परिवेश प्रतीतियां साधारणीकृत बिम्बों के माध्यम से मनुष्य मन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के रचनात्मक द्वीप चिह्न हैं जो हृदय के हस्ताक्षर पत्र लेकर समुद्र द्रवीय हो जाते हैं। नमक मिठास कि इन कलश द्रवीय अनुभूतियों का खारापन भी प्यास बुझाने वाला है। संस्कृति से जुड़ाव की मिठास दिखिए –

"कितने अन्तर्विरोध झेलकर/ संधिपत्र लिखें नदी के कछार
कहीं संजोकर रखें तमस द्वीप/ पितरों के सूर्यमुखी संस्कार
संभावित वृक्ष - शाल बीज की तरह/ रेत की नदी में हम
बह रहे उधर/ शोख लहर हम को ले जा रही जिधर।" (*जाल फैंक रे मछेरे : पृ. 41*)

टेक पंक्तिक इन गीतों की सरस संक्षिप्तति मन के आर पार होकर शाख, फूल, पत्र की रस खुशबू से खेलती जीवन का शहद हो जाती है। सहजता में चूल्हे की रोटी का पकाव स्वाद को मधुमक्खियों की सृजन प्रक्रिया से जोड़ देता है। इन जुड़न प्रतीतियों में हृदय की चौपाल पर हुक्का गुड़गुड़ाते गीत सब के हो जाते हैं। गैया, ओसोर चूल्हे, अंगीठी, जलपाखी, नयी पुआल, सरसों के खेत, सोना बरसेगा जैसे प्रयोग-गीतों में जीवन चुआता है, बूंद-बूंद खारा-मीठा। इन जलधारी गीतों का स्रोत जीवन का खारा समुद्र ही है जो धरती से उठ कर मिठास के साथ बरसता है। खारेपन की इस मिठास-बरसन में बुद्धिनाथ मिश्र की जिज़ीविषा जीवट को रूई की तरह धुनकती है, कण-कण, तिनका-तिनका, रेशा-रेशा बुनावट के लिए। तभी तो –

"नदी रुकती नहीं है/ लाख चाहे उसे बांधो
ओढ़ कर शैवाल वह चलती रहेगी।" (*धर्मयुग : 24 अक्टूबर 1976 : पृ. 17*)

बुद्धिनाथ के गीत के शिल्प विधान और स्वर मुद्रा में लोकधुनों और आंचलिक शब्दों का सहजता से उपयोग किया है। प्रायः जो गीत किसी आंचलिक संविधान से जुड़े हैं कवि ने अपने गीतों में उसका प्रयोग किया है। इसे दोष नहीं कहा जा सकता। प्रयोग और अनुकरण में अन्तर है। जहां अनुकरण है वहां गीत का वैषिष्ट्य पल्लवित नहीं है। नवगीतकारों ने और गीतकारों ने आंचलिकता से अधिकाधिक लाभ उठाया है। इस गीत कवि ने इन गुणों का सही उपयोग करते हुए एक प्रकार की ताज़गी का अहसास कराया है। इन गीतों में जीवन की यातना है तो कहीं प्रकृति का आकर्षण भी है। प्रकृति के किसी रूप को जीवन के सांचे में ढाल कर बुद्धिनाथ मिश्र ने अनेक गीतों को सजाया है। इस प्रकार के गीत विधान से गीत कवि की जागरूकता स्पष्ट होती है। प्रायः नवगीत का शिल्प एक जैसा मालूम देता है। यह समानता आलोच्य कवि के नवगीतों में कम है। बुद्धिनाथ मिश्र ने कुछ लम्बे गीतों की रचना भी की हैं जो नवगीत की प्रकृति में नहीं आते। छन्द के निर्वाह में कवि कुशल है। कम से कम मात्रा और अधिक मात्राओं के गीत दोनों में छन्द के प्रति सावधानी है। तुकान्त में शब्दों के मूल रूप को सुविधानुसार रंग लेना भी एक कला है। इस कला के नवगीत के रचनाकार अधिक कुशल हैं। यह कुशलता मिश्र में भी है। नवगीत के उत्थान और प्रचार में बुद्धिनाथ मिश्र का सक्रिय सहयोग रहा है।

इस प्रकार मिश्र के नवगीत प्रकृति की मुस्कान से हंसते हुए जीवन के संत्रस्त अभावग्रस्त और कुंठाजनित अश्रुओं में स्नान कर पाठक और श्रोता को द्रवित करने में समर्थ होते हैं। यहां यह कहना भी ठीक है कि जहां गीतों में आंचलिक शब्दों का प्रयोग हुआ है वहां उनकी सार्थकता सार्वभौमिक नहीं हो सकती क्योंकि वे शब्द सर्वथा व्यवहार में नहीं हैं। जरई, बांभिन, सहकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि शब्द स्वतन्त्र रूप से अर्थ नहीं दे पाते। गीतों में अर्थ सम्प्रेषणीयता का भाव प्रमुख होना चाहिए।

बिवाइयों सी चटकी पीर-दरकनें : उद्भ्रान्त

संघर्षशील जुझारू व्यक्तित्व का नाम है उद्भ्रान्त। 'पांखुरी-पांखुरी', 'देह-चांदनी' और 'इस शहर में आ गये' इनके कृति-पड़ाव हैं। दर्द, पीड़ा, व्यथा, संघर्ष, अभाव की अग्नि में तपे इनके गीत मनुष्य मन की तापभूमि की तरल अभिव्यक्ति हैं। प्रणय का वियोगपक्ष इनके गीतों में अधिक उभरा है। प्रिय स्मृतियां मन की आकुलता को तीखी व्यंजना के साथ साधारणीकृत करती हैं और कवि का गीतों से भरा आञ्चल छलछला उठता है –

"लो छलक उठा गीतों से भरा हुआ आंचल।" (*पांखुरी - पांखुरी : पृ. 13*)

अवनी से अम्बर तक 'गीतों की दर्द भरी शहनाई गूंज उठती है' (*पृ. 13*)। उनकी इस गीत-गगरीय-छलकन में राधा-कृष्ण, वंशीवट, कदम्ब का पेड़, वंशी के स्वर आदि भरे पड़े हैं। मन रूपी वंशीवट की ओर जा रही छलकती गागर की बाट जोहते राधायी गीत समाधिस्थ होकर कृष्ण हो जाते हैं। एकत्व के इन माधव रागों में राधा स्वर उन तमाम फासलों को पाट देते हैं जो जीवन की बुनावट में गांठ बन कर रिसते हैं। इन कृष्णायी गीतों में राधायी लता माधवी पौरूष से लिपटती जाती है जो जीवन की हरीतिमा को अनुराग रंगों में रंग कर एकरस एकरूप कर देती है। व्यक्ति राग की अहंमन्नयता समष्टिगत चिन्तन से परिणय कर राधा-माधव, माधव-राधा हो जाती है। 'गोरी के पैरों में' गीत में प्रिय-आगमन से पूर्व गोरी की मनोदशा का बिम्बांकन कर कवि की रचनायित दृष्टि एक विशिष्ट वातावरण का निर्माण कर सांगीतिक बिछलन पैदा कर देती है। गोरी के पैरों की पैंजनियों का छून छनन छनन...... स्वर किसी मांगलिक वाद्य से निकली ध्वनियां हैं। पियराए आंचल का दूर-दूर लहराना, सजनी की आंखों में काजर का डूबना, गोरी के अंग-अंग में मस्ती का छाना और पलकों में 'सपनों की बस्ती का तैरना' आदि उसकी मनः स्थितियों के मूर्तित चित्र कलम-तूलिका का अन्तर मानस है जिसके रंग कवि ने मानसर के तल से पारदर्शी किए हैं।

अभाव-संघर्षों की अलाव-धधकन उद्भ्रान्त में कम नहीं है। निराशा-हताशा की अवसाद प्रतीतियां जब विषाद के पके हरित-पत्रों से दोस्ती गांठ कर अपनी व्यथा-जड़ों को खुद सींचती हैं तब उसका जीवट सावधान सतर्क होकर प्रिय को अपने दायरे से बाहर रखना चाहता है क्योंकि जीवन की 'अग्नि वीणा' बजाते-बजाते अलाव स्वरों का रियाज़ गीत बन कर जब वेदना गर्भ से फूटता है तब बबूल की नुकीली सेज दम साधे मुखर होकर कहती है –

"पांव के नीचे बबूल बिछे हुए/ शीश के ऊपर खड़ा ज्वालामुखी
और कण कण चटकता है गात का/ किन्तु मेरी वेदना फिर भी सुखी।
फूल-सा जीवन अलावों में हंसा है/ कौन-सी पीड़ा भला उसकी हरोगे?
तुम भला उसमें समा कर क्या करोगे?" (*पृ. 56*)

धीमी सुलगन, सिसकन बन कर उसके अन्दर रेंगती है और कवि मन की अलाव-अग्नि में उसे चंदन भावों से सुलगाता रहता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मेरे अंदर सिसक रहा है कोई ऐसे भाव में
जैसे धीमे-धीमे सुलग रही हो आग अलाव में।" (*देह चांदनी : पृ. 7*)

एकाकी-व्यथा नयनों की पीर कथा में सर्गबद्ध होती चली गई। काल के दर्पमुखी व्याल-फनों ने निरीह पंछियों की उन्मुक्त उड़ानों को बंधक बना लिया। मन-वन की घनी हरियाली के बीच वट बनते जा रहे कल्प तरूओं को विषधारी समय के सहस्र फनों ने दशानन की अशोक वाटिका की तरह उजाड़ दिया। कठोर यथार्थ के इन व्यालमुखी अवरोधों के बीच धचकनें खाता जीवन मरुभूमि के ताप-सा झुलसता जा रहा है। सृष्टि के इस अभेद्य चक्रव्यूह को भेदने के लिए अभिमन्यु की तरह चौकस, महाबाहु पार्थ की तरह संधानरत रहना जरूरी है लेकिन समय ने तन, मन, आत्मा पर इतने प्रहार किए हैं कि जीवन राणा-सांगा हो गया। सुख-स्वप्न अरावली पर्वतों की घाटी में भटकते महाराणा प्रताप से हो गए हैं जिसने सिंह को घास चरने के लिए मज़बूर कर दिया है। पतझर सी झरती स्वप्न-ऋतुएं वसन्त-पावस सी महकना फूलना चाहती हैं लेकिन आतप-वर्षा की यथार्थ दरकनें जीवन को बिवाइयों सा चटका देती हैं। इस पीर को कौन समझे। जीवन को दरारती ये पीर बिवाई अचकनें ज़ख्मों सी टीसती हैं। पैराणिक बिम्बों के माध्यम से कवि जीवन की इन दरारों में झांकता है –

"कुछ उलझ रहा है मन में अब ताना-बाना
क्या लगा रहेगा एक यही आना-जाना
संघर्ष सारथी बना, समय का रथ मेरा
लड़ते-लड़ते हो गया आज तन श्लथ मेरा
यह चक्रव्यूह मैं अब तक भेद न पाया हूं
मैं द्वैत अब तक अद्वैत में न समाया हूं....
माना तुम छोड़ रहे शर जयद्रथ! संघाती
पर टकराओगे जबकि पार्थ से तब क्या होगा?" (*पांखुरी-पांखुरी : पृ. 68*)

'कांटों का प्रतिवेदन' में कांटों का मानवीकरण कर गीतकार यथार्थ को और नज़दीक लाता है-

"फूलों को हमने अमृत-दृष्टि से देखा
बन गए सुरक्षा-हित हम लक्ष्मण-रेखा
कपटी माली के हाथ न उन तक पहुंच सकें
हर आने वाले क्षण का रक्खा लेखा।" (*पृ. 70*)

गीतों में व्याप्त ऋदम, अन्तर्लय संगीत की परतों को तालबद्ध कर गत्यात्मकता देती है। ऐसे गीतों में एक संतुलन है जो स्वर, ताल, लय, ऋदम, संगीत, छन्द भाषा आदि की बुनावट कुछ इस तरह करता है कि कवि की रचना-मानसिकता गीतीय-बिरवों को तुलसी-जल चढ़ा कर नव होने के बावजूद उन परम्पराओं की पवित्रता कायम रखती है जो संस्कारशील पदचाप-प्रतीतियों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली है –

"गीत की/ खिल रही/ पांखुरी/ पांखुरी/ भावना नाचती/ प्राण को/ बांचती/ नेह है/ देह है/ मरमरी/ मरमरी/ यह लहर/ डोलती/ रस मधुर/ घोलती/ मीत है/ प्रीत है/ बांसुरी-बांसुरी।" (*पृ. 80*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्भ्रान्त के गीत मर्म-तट पर अपनी गीत-किश्तियों का लंगर डालते हैं। चारों ओर से घिरे द्वीप की तरह इनके जलधारी गीत सांस-सांस को पीड़ा का चषक बना कर अंधकार के माथे पर रोशनी लकीरें खींचते हैं। इसीलिए इनमें प्राणों का स्पंदन-गुंजन जीवन का इन्द्रधनुष तानता चलता है –

"सांस में भी आज तुम घुल-मिल गये हो
है कठिन अब प्राण! तुमको छोड़ देना।" (*पृ. 11*)

यहां पीड़ा घनीभूत है। गीत का शीर्षक 'सांस में भी' है किन्तु टेक-पंक्ति है 'है कठिन अब प्राण...' लेकिन इस पंक्ति के पूरक चरण में कवि की सारी व्यथा पीड़ा जैसे समा गयी है। व्यथा का तर्पण करती पीड़ा को देखिए –

"है कठिन जब प्राण! कश्ती मोड़ देना...।" (*पृ. 12*)

उद्भ्रान्त के गीतों में लय-ताल तुक-साम्य, आन्तरिक संगीत, लोक-स्पर्श शिल्प की नवीनता में अधिक निखरे हैं –

"मचल रहे हैं वंदनवार/ लाल हो गए हैं कचनार
सज-धज कर आई है द्वारे रंगों की बारात री!
महके महके अंगों की बारात री!" (*देह-चांदनी : पृ. 45*)

पूरे गीत में, तुकसाम्य और संगीतात्मकता के लिए 'सतरंगें प्रपात री', 'रंगों की बारात री', 'सुहाग की सौगात री', 'सूर्यमुखी-सी बात री' का प्रयोग नए अर्थों की व्यञ्जना करते हैं। इसी प्रकार 'छन्दों की उर्वशी चूनर' सुन्दर प्रयोग है। संगीत के लिए पुनरूक्ति की हिरनी चाल मस्तानी है –

"मन अकुलाया, तन अकुलाया, अकुलाये हैं प्रान।" (*पृ. 79*)

शब्द-संयोजन कसा हुआ है। अधिकांश गीत संक्षिप्त हैं। बड़ी 'ई' और इसकी मात्रा से भी गीतों में अतिरिक्त लयात्मकता उभरी है –

"एक उजली घड़ी/ फिर बड़ी हो गई
वारूणी छंद की/ ले खड़ी हो गई।" (*पृ. 27*)

निश्छल स्वानुभूतियों के अभिव्यञ्जक इन गीतों में 'मैं, मेरी, अपनी', 'मैंने' जैसे शब्द मन की तरल भूमि को संकेतित करते हैं। सब को अपने में समो लेने की अकुलाहट उद्भ्रान्त में है। संवेदना की व्यापक परिधि में 'स्व' और 'सर्व' का रागबोध है जो इन्हें उन मानवीय मूल्य चिन्ता से जोड़ता है जो श्रेयस की सकार दृष्टि का बोधक है। इस बोध में उद्भ्रान्त का गीत-मानस जीवन के उस हर हिस्से पर उंगली रखता है जिसकी पीड़ा मनुष्य को नकारबोध से जोड़ती है। इनमें अतिरिक्त बेचैनी है जो इन्हें मनुष्यता के नज़दीक ले आती है। 'स्वयं को मैंने निहारा' (*पृ. 76*), 'आत्मावलोकन' (*पृ. 77*), 'जीवन के गांव में' (*पृ. 70*) आदि गीत इनकी इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं।

'नये गीत की पाती' (*पृ. 27*) लेकर कवि युगबोधी चिन्तन को नये रूप में छान्दसिक लय देता है। आज की जटिलताओं और विरुपताओं की मांज-संवार नये दृष्टिबोध से ही संभव है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसलिए परम्परित छन्दों में उसने रूचि नहीं प्रकट की। गीत का गगन (*पृ. 11*) होठों की भूमि पर जैसे ही झुका कि गीत का अमर छन्द मन के एक-एक पृष्ठ को बांचने लगा। इस वचन-बंधन में लघु पंक्तिक छंद और बड़ी-बड़ी पंक्तियों के छंद दोनों ही शामिल हैं। भावानुसार अभिव्यक्ति सटीक और प्रभावशाली होनी चाहिए। 'जीवन के गांव में' (*पृ. 70*) उन्नतीस मात्राओं का गीत है जिसमें कहीं कोई यति चिह्न नहीं है जबकि 'महानगरीय संत्रास' (*पृ. 58*) को व्यक्त करते समय कवि सुविधानुसार रुकता है। कहीं-कहीं कवि ने गीत को क्षिप्रता देने के लिए दो छोटी-छोटी पंक्तियों का छन्द रचा है –

"सूरज से बल लूं
चंदा से बल लूं।" (*पृ. 54*)

इसी प्रकार ग़ज़लों को कहते समय शायर कवि ने कहीं सोलह मात्राओं (*इस शहर में आ गये : पृ. 57*) तो कहीं चौबीस मात्राओं (*पृ. 35*) वाली ग़ज़लें कही हैं। भाषा गठन एवं संप्रेषण की दृष्टि से ग़ज़लों में नवीनता एवं कथ्य-विविधता है। अनेक ग़ज़लें जीवन को नज़दीक से बूझती हैं, मन को कौंचती हैं –

"जिन्दगी की प्यास कैसे बुझेगी
मरुथल यहां है आदमी-आदमी
काल एक ख्याति प्राप्त नर्त्तक है
पायल यहां है आदमी-आदमी।" (*पृ. 11*)

"कहते तुम बीसवीं सदी
पर ये है दर्द की सदी
करते हम दर्द से हंसी
है हमारी ये त्रासदी।" (*पृ. 13*)

भावाभिव्यञ्जना को तीखी करने के लिए ग़ज़लगो ने मुहावरों का प्रयोग किया है –

"सुनो सभ्यता की इस सड़क पर
तिल बन कर ताड़ चल रहा है।" (*पृ. 57*)
'अभी आँख ही खुली थी अभी होश ही सम्हाला।' (*पृ. 58*)

कई ग़ज़लें यदि शुद्ध हिन्दी भाषा की अल्पना रचाती हैं तो अनेक ग़ज़लें विशुद्ध उर्दू-फारसी शब्दों में अपनी बात कहती हैं –

"फिर अंधकार के घटाटोप नभ के भीतर
किरणों कं तेज़ प्रखरतम भाले झूम चले।" (*पृ. 19*)
"पिला साकी ज़रा कुछ और
कि, ला, साकी जरा कुछ और" (*पृ. 45*)
"रफ्ता - रफ्ता आ गया, तिश्नगी के मुकाम पर
मौज़े - शरर रक्सां हुई, इश्क के अंजाम पर।" (*पृ. 47*)

हिन्दी ग़ज़ल को लेकर इन्होंने अच्छे प्रयोग किए हैं। "ग़ज़ल में रवानी यानी प्रवाह और उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रिद्म की सपाट, बेबाक, रफ़्तनी ही ग़ज़ल की जान है। हिन्दी लेखकों का उर्दू शैली से पूर्णतया परिचिन न होने के कारण ग़ज़ल में अपेक्षित निखार और पैनी तराश - कलात्मक फ़िनिश की अक्सर कमी महसूस होती है। मगर मैं इस मुकाम पर बहुत संजीदगी से कहना चाहूंगा कि उद्भ्रान्त जी अपनी ग़ज़ल रवानी में बहुत ही जागरूक और सटीक ग़ज़लगो साबित हुये हैं" (*इस शहर में आ गये : फ्लैप से*)।

उद्भ्रान्त के गीत-ग़ज़लों में रोशनी है। नवीन प्रस्तुतीकरण शैली, युगचिन्तन के प्रति जागरूकता, अनुभूति-वैविध्य, रसोद्रेकता, लय-ताल संतुलन आदि विशेषताएं इनकी रचनाओं के गतिशील तेवरों को समकालीन भावमुद्राओं से जोड़ते हैं। प्रणय की अकुलाहट, वर्त्तमान त्रासद स्थितियों की बुनावट, आध्यात्मिक संकेत आदि सभी कुछ इनकी रचनार्धमिता के अंग हैं। प्रतीकों में आधुनिक जीवन का खिंचाव है, बिम्बों में रूबरू कर जीवन को बूझने की मुकुरधर्मी कोशिशें। भाषा जीवन की कटुताओं को लकीर बनाती हैं, भावनात्मक अभिव्यक्ति वैचारिक चिन्तन को साथ लेकर जीवन का संतुलन-सेतु निर्मित करती है जिसमें बुद्धि और हृदय एक साथ बैठ कर सोचते हैं। इसीलिए इनमें अन्तर्विरोधी स्थितियों के प्रति नकार मुद्राएं हैं और श्रेयस का स्वीकार।

व्यक्ति और समाज की पारदर्शी छवियां : वीरेन्द्र आस्तिक

'संवेदन से मानवता का अर्थ निकालने वाले' आस्तिक का साहित्यिक सफर बहुत लम्बा नहीं है। लगभग एक दशक में आस्तिक ने 'तीन कदम'-वीरेन्द्र आस्तिक के गीत (स्मारिका), 'परछाईं के पांव' और 'आनन्द ! तेरी हार है', रखे हैं, लेकिन जमा कर रखे हैं। जीवन के उतार चढ़ावों एवं परिवेश की तल्ख़ अनुभूतियों के बीच आस्तिक का मन सामाजिक सरोकारों से बुना है। उनके व्यक्तित्व का रचाव लयबद्ध एवं तालमय है। गीतों की बुनावट सांगीतिक है, कसाव मानव मन की आन्तरिकता एवं सौन्दर्य से जुड़ा है। कसाव और रचाव की तालबद्ध अनुभूतियां गीतकार के संवेदनशील मन पर थाप देतीं हैं और वह थाप युगनद्ध हो मन-आत्मा को मथ डालती है और तब आस्तिक की गीत-प्रक्रिया का विस्फोट होता है –

"सुख नहीं मंजिल अगर, तो खोज दुख का अर्थ है
ज़िन्दगी भटकन सही, पर बैठना तो व्यर्थ है।" (*आनन्द तेरी हार है : पृ. 105*)

मधुर कंठ के कुबेर आस्तिक के पास अनुभवजन्य ईमानदारी है। सम्भवतः इसीलिए वह जीवन और स्थितियों की लय तोड़ने में विश्वास नहीं रखता। अनचाही स्थितियों को आत्मसात करने के बावजूद उसका 'फूल सा मन त्रासदी के संस्मरण ढोता' रहता है। 'संध्या से प्रातः पाने को गीतों पर प्राण चढ़ाता' है। कुल मिलाकर बौद्धिकता और आक्रमकता से दूर पिरायी जाती ईख का गुनगुना मीठा रस आस्तिक के गीतों की शक्ति है –

"किसी अंधेरे के मन की कन्दील बनो
या फिर आंखों के भीतर ही झील बनो।" (*पृ. 88*)

इनके गीतों में समायी ऋदम अनुभूति के तलस्पर्शी होने का सबसे बड़ा सबूत है तभी 'दुख की बैसाखी पर सुख विख्यात' हो जाते हैं और आस्तिक का बोराया मन 'विरह में मिलन के अधूरे क्षण जीते' हुए व्यक्त अनुभूतियों में ही अपने प्रेम की पूर्णता पा लेता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'तारीखों के हस्ताक्षर' में आकर आस्तिक ने ट्रेक बदला है। आज साहित्य और संस्कृति का सरकारीकरण होता जा रहा है। ऐसे में राष्ट्रीय भावनाओं को जगाने वाला कवि सम्मान का हकदार है। आस्तिक खरे वक्ता हैं। इस संग्रह में आस्तिक का प्रेम सौन्दर्य राष्ट्र सौंदर्य में परिवर्तित हो गया है। युगीन विषमताओं की गूंज जब कवि मानस पर छा कर मन को बेचैन करने लगे तो उसकी अनुगूंज गीत के रूप में निकलनी गीतकार की विवशता है। कवि समय और स्थान का स्वामी होता है। कविता/ गीत को मनोरंजन के स्थान पर देश निर्माण का तत्व समझने वाला रचनाकार अपनी युगीन स्थितियों से अछूता रह कर आंखें नहीं मूंद सकता। आस्तिक उन रचनाकारों में नहीं हैं। इसीलिए समकालीन स्थितियों को अपनी मानस तुला पर आंकते हुए गीतकार राजनीतिज्ञ सर्प की फुंकरण, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक अधःपतित स्थितियों को जीते भोगते मर्मस्पर्शी सत्यों के अंकन को अपना हथियार बनाने को बाध्य होता है। अतः आस्तिक यहां वादों की धारा से मुक्त हो 'राष्ट्रीय त्रासदी के गीत' गाते हुए अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह कर रहा है। इन गीतों में आस्तिक के भुक्तभोगी मन की संवेद्य और प्रगल्भ अनुभूतियां आकार ग्रहण कर युगबद्ध परिवेश के विवशता बोध को नियति मान लेती हैं।

राष्ट्रीयता, श्रद्धा और भक्ति से अनुप्राणित एक आदर्श मनोभाव है। राष्ट्रीय कविता का स्वभाव होता है 'क्षितिज को छूना', राष्ट्र को प्रगति के पथ पर प्रशस्त करते हुए जनमानस की रागात्मक भावनाओं में उद्वेलन मचाना, नवनिर्माण का संदेश देना। कमोबेश आस्तिक अपने इस दायित्व को 24 कैरेट बनाने के लिए निरन्तर जूझता है। जब आस्तिक के अन्दर बैठा रचनाकार यन्त्रचालित व्यवस्था को झेलता हुआ विक्षुब्ध मन से चुनौती फैंक वक्त को आवाज देता है तब लगता है कि उसके प्रेम-श्रृंगार मूलक गीत यहां राष्ट्रीय चेतना सम्पन्न होकर व्यापक धरातल पर फैल गये हैं –

"हर व्यवस्था एक ठोकर सी बनी -
क्यों न होगा उग्रवादी ये सफर
दर्द, आंसू और अपमानित हुए
और फैलेगा विषमता का ज़हर
शूल ही जिसके प्रयत्नों से उगे, उससे कहो
सब्ज बागों का दिखाना छोड़ दे।" (*तारीखों के हस्ताक्षर : पृ. 24*)

आस्तिक की राष्ट्रीय भावना मूलतः राजनैतिक तथा सामाजिक परिवेश से सम्बद्ध है। समकालीन राजनीति की सक्रियता युगबोध से प्रेरित कर कवि व्यक्तित्व को राष्ट्रीय स्वाभिमान का रचनाकार बना कर प्रस्तुत करती है। इन रचनाओं के माध्यम से आस्तिक देश की नैतिक शक्ति को स्थाई बना कर उसका व्यापक प्रसार चाहता है।

इन गीतों का धरातल इसी प्रकार के स्थायी और राष्ट्रीय स्वरों से अनुरंजित है। राष्ट्रीय जीवन की प्राण चेतना में जो स्पन्दन धड़क रहा है उसके संस्पर्श से ये गीत संजीवन हो गये हैं। जो पाठक की भावनाओं को उत्तेजित करने में समर्थ हैं। इन गीतों में व्यापक सामाजिक बोध और नैतिक प्रतिबद्धता है। नव भारत के सृजन में बाधक त्रासद स्थितियों का अंकन करने वाले ये गीत अन्ततः विद्रोह, अग्नि, विप्लव अथवा बवंडर का रूप नहीं धारण करते बल्कि रचनात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवनिर्माण के सूत्र फेंकते हैं –

"प्रश्नों के गर्भों से ही तो
हर उत्तर पैदा होगा
पॉवों- पॉवों राह बने तो
शिखर-स्वप्न ज़िन्दा होगा
जरूरतों के श्रम के ही परिणामों से पहचाना जाये।" (*पृ. 48*)

गीतों के रूप में 'तारीखों के ये हस्ताक्षर' देश की यथार्थ स्थिति को मूल्यांकित करने वाले महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर हैं। इन गीतों में उत्साह का रचनात्मक स्वरूप है। शोषण और दमन के संहार पर नूतन भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाओं में गीतकार की जनमानस से सीधी-सीधी खरी बातचीत है। कला चातुर्य का दुराव इनमें नहीं। कहीं-कहीं उर्दू के शायराना अन्दाज़ में तुकान्तता को तोड़ कवि ने भाषा में खुलेपन का अबीर भरा है। पूर्व रचित गीतों सी संगीतात्मकता इनमें नहीं है। ऐसा लगता है, आस्तिक के मन में रचना प्रक्रिया के दौरान आम जनता से जुड़ने का ख्याल रहा होगा।

स्थितियों के दर्पण में कैद देश के सामयिक सन्दर्भों से जुड़े इन गीतों के मूल में राष्ट्रीयता का स्वर अवश्य है, लेकिन ये गीत विशुद्ध राष्ट्रीय गीत नहीं हैं। समसामयिक स्वर अधिक होने के कारण वस्तुतः ये गीत राष्ट्रीय त्रासदी के गीत हैं, जो अपने आप में एक नयी बात है। मानव-शोधित दृष्टिकोण होने के कारण गीतकार की अनुभूति और अभिव्यक्तिगत ईमानदारी इन्हें राष्ट्रीय गीतों के निकट ले आती है। इस दृष्टि से आस्तिक उन कवियों की श्रेणी में आ जाते हैं जो यथार्थ चिन्तन के धरातल पर साम्प्रदायिक समाज, सामन्तवाद और पूंजीवादी भ्रष्टाचार के सूक्ष्म और बुनियादी स्वरूप को बेनकाब करते हैं। अतः आज के पतनशील समय को देखते हुए ऐसे त्रासद राष्ट्रीय गीतों को सुरक्षित रखना होगा।

नवगीत हालांकि गीत जैसी लोकप्रियता पा चुका है और ये गीत, नवगीत/ जनवादी गीत की श्रेणी में भी मूल्यांकित किये जा सकते हैं। वस्तुतः नवगीत को गीत से पृथक कर देखने का अन्दाज ही बिल्कुल गलत है। तथाकथित वाद चलाने वाले दूसरे शब्दों में गीत-नवगीत के स्वयंभू मसीहा बनने वालों द्वारा इस प्रकार का आन्दोलन चला कर अपने आप को प्रतिष्ठित करने का यह एक सुनियोजित साहित्यिक षड्यंत्र है। नवगीत दशक 1, 2, 3 की क्यारियों में बोये मौसमी बीज पावस-सावन की पछवा में ही कुम्हला गये हैं। ठोंक-पीट कर किसी को कालिदास नहीं बनाया जा सकता। जो ठुकने पिटने को तैयार नहीं हुए वे नवगीत दशक से बाहर, नहीं तो कोई कारण नहीं था, नवगीत दशकों में डॉ. रवीन्द्र भ्रमर, चन्द्रसेन विराट्, डॉ. कुंअर बेचैन, वीरेन्द्र आस्तिक आदि का नाम बाहर होता। यह किसी को नहीं भूलना चाहिए - समय की छलनी बहुत निर्मम होती है। वह बिना लिहाज़ के बड़ी बेरहमी और बारीकी से छानती है। जब समय-समुद्र में गीत-मंथन होगा तब गीत के असुर अमृत कलश को बहुत दूर तक नहीं ले जा सकेंगे। क्योंकि –

"अब चिंतन ओ संवेदन में
रिश्तों जैसी बात नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्म अपाहिज पड़ा कहीं पर
कर्मकार विख्यात कहीं
बिना दया के ही हो जाते दयापूर्ण व्याख्यान।" (*पृ. 44*)

गीत मात्र शब्द-योजना नहीं बल्कि मानवता और संवेदना के आदिम सम्बन्धों-श्रोतों की गुहार है। "गीत जीवन का प्रकृति स्वरूप है। हम अपनी प्रकृति से विमुख होकर अधिक देर नहीं ठहर सकते। यही विवशता है जिसको हम प्रतिक्षण सहज होकर जीते रहते हैं। उसकी उपादेयता जल्दी-जल्दी समझ में नहीं आती है। यदि मनुष्य अस्तित्व में रहना चाहता है तो मानवता को अस्तित्व में रखना ही पड़ेगा। मानवता (अर्जित सभ्यता-विकास) कलाओं का भावनात्मक स्वरूप है। किसी कला के उत्कर्ष में भी रागात्मकता ही निहित होती है। रागात्मकता ही अपने सहजता, लयता आदि गुणों के साथ शब्दों में काव्य हुआ करती है। गीत काव्य शृंगार है। आदि से मनुष्य की प्रवृत्तियों का मूलाधार उसकी भावना है, भावना बुद्धि की जननी है। या यों कहा जाए कि बुद्धि भावना की शक्ति का श्रेष्ठतम प्रतिबिम्ब है। मशीनी युग तो बुद्धि के विकास का भौतिक परिणाम है। बुद्धि के शौर्य मण्डल में भावना के विलुप्त होने का भ्रम तो पैदा होता है और शायद आज का युग इसीलिए भ्रमित भी है। इस भ्रम में जब कभी टकराव (प्रलय-संघर्ष) होगा तो अन्ततः भावना की ही जीत होगी, भावना ही अस्तित्व में रहेगी।" (*साक्षात्कार : 17 जुलाई 1987*) आस्तिक के गीत स्वतः विस्फूर्तित हुए हैं भावना और बुद्धि को सहजता से जीते हैं। अपने मन्तव्य को स्पष्ट करते हुए आस्तिक का कहना है कि "इनमें जो मैंने भोगा है और जो मेरी कल्पना है वो सभी कुछ है" (*आनन्द तेरी हार है : आत्म कथ्य*)। "गीत कभी भी पूरी तरह निजत्व के दायरे में नहीं रहा। कुछ आलोचकों ने जान बूझ कर गीत की व्यापकता को व्यक्ति के घेरे में कैद कर दिया था। राजनैतिक-सांस्कृतिक प्रतिबद्धता स्वीकार करते हुए आज गीत ने जो भी मापदण्ड बनाए हैं उनसे सबसे अधिक खतरा गीत को ही है, ऐसी स्थिति में गीत को जन-जन का होने में अपनी अस्मिता की रक्षा-हेतु तमाम घुसपैठियों से सतर्क रहना पड़ेगा" (*साक्षात्कार : 17 जुलाई 1987*)।

गीत में अनन्त सम्भावनायें हैं। गीत के माध्यम से स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म संवेदना की अभिव्यक्ति सम्भव है। वीरेन्द्र आस्तिक के अधिकांश गीत संक्षिप्त और टेक पंक्ति वाले हैं। साहित्यिकता और संगीतात्मकता का इनमें अद्भुत समन्वय है। "ये पूरी तरह से गेय और मधुर है। गेयता का आशय लयात्मक स्वर-विधान से है। आजकल ऐसी कविताएं भी लिखी जा रही हैं जिनमें केवल भावना का संगीत होता है अथवा जो अर्थ की लय पर आधारित होती है। वीरेन्द्र आस्तिक की इन रचनाओं में भावात्मक संगीत और अर्थ की लय के साथ-साथ छान्दसिक और सांगीतिक लय का भी विन्यास हुआ है। इन गीतों के माधुर्य का मुख्य कारण यही है कि इनमें आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का संगीत विद्यमान है। विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इनमें 'नवगीत' की नयी लयात्मकता है। वीरेन्द्र आस्तिक की संगीत में बचपन से ही अभिरुचि रही है और अपनी गीत-रचना के लय-विधान में इन्होंने इसका लाभ उठाया है। एकाधिक प्रकार की गान-पद्धतियों के मिश्रण से इनके कई गीतों में एक प्रकार की नयी लयवत्ता दिखाई पड़ती है" (*आनन्द तेरी हार है*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

थरथराती लयों को गुंजाने के लिए कवि ने पुनरुक्ति और अनुप्रासात्मक संगीत पर बल दिया है –

"एक मौन ने एक मौन का क्षण चाहा
सुन्दर ने सुन्दर को जैसे अवगाहा
था मुख पर मुख का उजियारा।" (*पृ. 27*)

"हम कहां पर हैं हमारे ढूंढते हैं दृग
दृग कहां पर हैं भटकते खोजते हैं पग।" (*पृ. 99*)

'अरे' 'रे' जैसे शब्द-प्रयोग लोक-लयों का छायारस लेकर आत्मीय घुलनशीलता देने वाले हैं –

"अरे! वेदनाजीवी तू रण-थल में होता
दुर्दान्त-बोध हर मानव की आंख भिगोता
संवेदन माने खो देता सूने घर में।" (*पृ. 66*)

लोक-लय मन को संस्कारित कर मनोभावों को पवित्र करती है। इसलिए कवि लोकगीतों का समर्थक है। उनका विचार है कि "आंचलिक भाषा शैली में लोकगीत अधिक सम्प्रेषणीय और अधिक स्पष्ट हुआ है। लोकगीत सांस्कृतिक-धार्मिक परम्पराओं के विशेष स्थलों पर गाये जाते रहे हैं (और अब भी गाये जाते हैं) किन्तु मानव-सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसके रूप भी बदले हैं। तब आज की तरह सामाजिक-राजनीतिक मूल्यांकन की न बात थी न आवश्यकता, आज प्रकारान्तर से लोकगीत में सामयिक सन्दर्भ जुड़ने लगे हैं। लोकगीतों की परम्परा को जीवित रखने के लिए लोकगीत लिखे जाने चाहिए लेकिन फिर रचनाकार को साहित्यिक मूल्यांकन की अपेक्षाओं के व्यमोह से दूर ही रहना चाहिए" (*साक्षात्कार : 17 जुलाई 1987*)।

इनके गीतों में सम्बोधनपरक शैली के सुन्दर प्रयोग हैं –

"हम फूलों के ऐसे प्रहरी
कांटों पर हैं आंखें ठहरी
ऐ कोयल! इस मौसम का गीत तुम्हें गाना है।" (*तारीखों के हस्ताक्षर : पृ. 27*)

राष्ट्रीय गीतों और शोषकों के विरुद्ध आवाज उठाने में यही शैली उद्‌बोधनपरक हो गयी है-

"ओ! मजदूर, जवानों/ कुछ करने की ठानों
सुख से जीना है तो/ करनी को पहचानो।" (*पृ. 33*)

कहीं-कहीं जब विद्रोह, घृणा, जुगुप्सा का भाव चरम सीमा का स्पर्श करता है तब स्वर व्यंग्यात्मक हो जाता है और शैली 'प्रश्नवाचक' –

"दीवार बनाने में तो आगे/ दीवार गिराने में तो आगे
रे मानव तेरी चतुराई का क्या कहना
इतिहास कब्रों पर बैठे मज़हब
औ' नफरत के बीजों से उगे अदब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कागज पर बनते ओउम् सितारे
धरती के करते हैं बंटवारे
हिन्दू-मुस्लिम भाई-भाई का क्या कहना
धर्म अगर होते, गोली बरसाते?
और प्यार के सीने फटते जाते?
ईंट-गारों के राम-रहीमों!
कब तक छलोगे नीम हकीमों!
ऐसी विघ्नहरण अगुआई का क्या कहना!" (*पृ. 77*)

शब्द-प्रयोग भी एक कला है जब भावना सही कथ्य पा जाती है तब शाब्दिक-योजना तैयार होने में अधिक वक्त नहीं लगता। आस्तिक की रचनाओं में मुहावरे, शब्द-वैचित्र्य सहज होकर आए हैं –

"प्रात पाकर हैं मुखर कौवे/ रह गई सिर कोकिला धुन कर।" (*आनन्द! तेरी हार है : पृ. 35*)
"भव-सागर में, मैं डूबा हूं/ तिनका नहीं सहारा।" (*पृ. 78*)
"अहंवाद के युद्ध खड़े हैं सिर ताने।" (*तारीखों के हस्ताक्षर : पृ. 50*)
"सब्जबागों को दिखाना छोड़ दे।" (*पृ. 24*)

कवि ने 'शूल' (*आनन्द! तेरी हार है : पृ. 46, 59, 49*) शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। कहीं 'खार' और कहीं 'कांटें' का प्रयोग कर कवि अपनी हृदयगत अवसाद पीड़ा को ही मुखर वाणी देता है –

"और कब तलक हम शूलों से शूल निकालें? (*पृ. 59*)

आस्तिक के गीत 'तीखे' शब्दों की सरगम (*तारीखों के हस्ताक्षर : पृ. 65*) हैं जिससे गीतकार ने मन की विसंगति और त्रासदी को बार-बार गाया है –

"दिन तो हो ले/ फिर दिनकर होने का प्रण ठाना जाए,
बुनियादों में ही अन्धकार है/ क्यों ने इसे संधाना जाए।
चिन्तन की पीयूष नदी को/ अवसादों ने ही चूसा,
जंग लग गई मस्तिष्कों में/ बना विचारों का भूसा।
अवरोधों को तोड़-सामने/ क्या है वह भी देखा जाए।" (*पृ. 47*)

सांगीतिक शब्दावली लय उत्पन्न करती है। आरती, धुन, तानपुरा, लय, राग, सरगम, बांसुरी, अन्तर, मूर्च्छना आदि शब्द लय लकीरें खींचती भावनाओं का हृदयी इन्द्रधनुष हो जाती हैं। 'गीतों को पढ़-पढ़ कर मैं बुझता दीप जलाता' (*आनन्द! तेरी हार है : पृ. 77*) में कवि न कहते हुए भी 'दीपक राग' की ओर संकेत करता है।

अनेक स्थानों पर शब्द सूक्तियों का रूप धारण कर लेते हैं –

'कोमल छवि का कठिन सृजन है/ कोमल ही शिल्पी का मन है।' (*पृ. 24*)
'एक बूंद में समा गया है सारा जल वर्षण।' (*पृ. 26*)
'वन में एक हिरन है और हिरन में सारा वन।' (*पृ. 72*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'सागर में रहना पत्थर से टकराना है,
तूफानों को सहना मोती बन जाना है।' (*पृ. 88*)

प्रतीक-योजना में नयापन है –
"चल रहा है मौसमों पर शोध कैसा
मोर अपने पर कुतरता जा रहा है।" (*पृ. 35*)

'मोर' सत्ता है जो अपने ही पर स्वयं कुतर रही है क्योंकि जब से देश और हम स्वतन्त्र हुए हैं निरन्तर किसी न किसी शोध में ही उलझे रहे हैं –

"क्या सुनें हम क्या गुनें हम/ ओठ बोलें व्याकरण की कैद से।"

'व्याकरण की कैद' समसामयिक स्थितियां हैं जिसने मानव की अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया है। 'कभी-कभी दुःख देते तन को, तन के ही गहने' (*परछांई के पांव : पृ. 32*) में गहने आभूषणों की चमक-दमक में छिपे विषदंश हैं जिन्हें स्वर्ण समझ हमने अपने हृदय पर पहना था लेकिन वे काले नाग बन हमारी ही छाती पर लोटते हैं –

'कांटों की तो बात न पूंछों फूलों द्वारा घायल' (*पृ. 28*)

एक उर्दू शेर का भावानुवाद है –

"लोग कांटों से बच कर चलते हैं हमने फूलों से ज़ख्म खाये हैं।"

यहां फूलों द्वारा घायल होने से अभिप्राय मित्रों का भितरघात है।

'शोध कैसा' गीत 'परछाई के पांव', 'आनन्द तेरी हार है' से उठ कर 'तारीखों के हस्ताक्षर' में भी आ गया है लेकिन यहां तक आते आते इसमें एक छन्द की बढ़ोतरी हो गई है। इसमें पौराणिक प्रतीक की सुन्दर नियोजना है –

"आधुनिक उद्धव कन्हैया है/ गोपिकाएं आधुनिक राधा
गर्व कायर कर रहे, कितना/ देश का उजला बचा माथा।" (*आनन्द! तेरी हार है : पृ. 35*)

बिम्ब ताजे एवं नव्य हैं। नवीन उपमान एवं रूपकों के साथ नव्य विशेषण सम्प्रेषण क्षमता को त्वरा देते हैं। वस्तु-बिम्ब आकर्षक है –

"दूर-दूर तक फैला सन्नाटा/ मधुवन जैसे नागिन का काटा।" (*पृ. 22*)
"अंगारों-सी प्रश्नों की माला पहने/ उत्तर में हिम-गंगा के अनगिन सपने।"
(*तारीखों के हस्ताक्षर : पृ. 49*)

"यह विवशता है कि सूरज को कहें हम नीड़ जैसा,
और लगता हर सहारा व्यक्तिवादी भीड़ जैसा।" (*आनन्द! तेरी हार है : पृ. 31*)

ऐन्द्रिय बिम्बों में गुदगुदाती कुलबुलाहट है –

"समीकरण नख-शिख का ऐसा/ कभी आज तक नहीं दिखा
उतर गई प्राणों में ऐसी/ अद्भुत कोई दीप-शिखा
एक दृष्टि में ही लय हो जाता है आराधन/ ऐसी है तेरी चितवन।" (*पृ. 25*)

स्पर्श-बिम्बों में गंध-छुअन है –

"एक तरह के फूल सप्तरंगी पांखें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उग जाती है आकृति पर सौ-सौ आंखें
छूने से लगता है पारा।" (*पृ. 28*)

पौराणिक बिम्बों का सौन्दर्य देखिए –
"अमृत पान करने के खातिर हैं झूठे विषपायी।" (*तारीखों के हस्ताक्षर : पृ. 17*)

पशु बिम्ब नुकीले हैं –
"कान खोलो-आंख खोलो
दुमुंहों के बीच अपना मुंह खोलो।" (*पृ. 21*)

वीरेन्द्र आस्तिक के गीतों की दो डायमेन्शस हैं। एक 'पराजय' में जीवन ढूंढने की और दूसरे 'तारीखों पर हस्ताक्षर करने की।' धारा से जुड़ा रहना अनिवार्य है क्योंकि जीवन का लक्ष्य मात्र जीना नहीं, जीने को सार्थक करना है। इसी दर्शन को कवि नये चिंतन, नयी जिज़ीविषा, नई आस्था, नए विश्वास के साथ गीतों में सम्प्रेषित करता है। इन की गीत बुनावट में व्यक्ति और समाज की पारदर्शी छवियां हैं।

कुल मिलाकर मुख्य रूप से नवगीत की भाषा का छान्दस रूप इन दिनों कानपुर में अधिक विकास पा रहा है। उत्तर प्रदेशीय त्रिवेणी सांस्कृतिक बोध और नवगीतीय प्रतिभा लेकर वीरेन्द्र आस्तिक नवगीत के क्षेत्र में उतरे हैं। इनके संग्रह इसे प्रमाणित करते हैं। गीत से नवगीत, ग़ज़लनुमा नवगीत अत्यन्त श्रमपूर्वक ढाले गए हैं। वस्तुतः वीरेन्द्र के गीतों में एक आस्तिक विद्रोह है। विद्रोह की आस्तिकता इस बात की द्योतक होती है कि विरोध से जन्मी नास्तिकता के मूल में प्रच्छन्न आस्तिकता ही है।

वीरेन्द्रीय प्रतीकों में नवगीत का स्वभाव है। व्यक्ति की पीड़ा घुटनभरी उच्छल भाषा में व्यक्त होती है। प्रकृति का आग्रहण भी नवगीत की अदायगी का हिस्सा है। वही मोरपंखी, चम्पई, सुरमई, गुनगुनाती , कतराती, इतराती सी भाषा और वेदना का आस्तिक अनुभव वीरेन्द्र का नवगीत-संसार है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि नवता के प्रति साग्रह प्रयत्न है। भाव और भाषा में एक सांस्कारिक गुण बोलता है।

नवगीत के अनेक ऐसे सदस्य भी हैं जिनमें नवगीत के कीटाणु नहीं हैं परन्तु उनका स्वभाव है वे बिना सदस्यता ग्रहण किए नहीं रह सकते। वीरेन्द्र और शतदल दोनों में नवगीत का स्वरूप सुन्दरता और कोमलता से अभिव्यंजित होता है। वीरेन्द्र के गीतों में निखार-उभार है। गीतकार का अध्ययन और चिन्तन का गहन विस्तार अनेक संभावनाएं जगाता है।

सूक्ष्म दृष्टि का अर्क चिन्तन : असीम शुक्ल

'घुटनों तक रोशनी' और 'कल्प वृक्ष गमले में' असीम शुक्ल की गीत यात्रा के दो महाबिन्दु हैं। संग्रहों के शीर्षकों की प्रतीकात्मक व्यंजना कवि के रचनायित मन के भावनात्मक चिन्तन की तलस्पर्शी अनुभूतियों को पूरी कसावट के साथ उभारती है। इंसान के पूरे वजूद को प्रतिष्ठापित करने का संकल्प और संघर्षों का अन्तहीन सिलसिला इन रचनाओं की आन्तरिक बुनावट है। दायें-बायें खिचीं रोशनी की लकीरें जब घुटनों से ऊपर उठ कर मन को नहीं दहका पाती तब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्त्तमान जीवन की त्रासदी आधुनिकता के नाम पर गमले की गोलाई में ही कोल्हू होगी। एक तरफ त्रासद संघर्षी अंधकार दूसरी तरफ गमले की परिधि में संस्कृति का कल्प वृक्ष आधुनिक जीवन के अग्नि विद्रूप को उभारता है। हर दृष्टि से विपन्न मानस रोशनी की तलाश में कल्प वृक्ष की छाया तक पहुंचना चाहता है। अभाव एवं प्रताड़नाएं सोच को यथार्थवादी बना देती हैं। सामाजिक व्यवहार चिन्तन को पैना करता है। स्थितियां कवि-मन को संघर्षमुखी बना कर दायित्वहीन नहीं होने देती। कवि संघर्षों, यथार्थ कटुक्तियों से मुख नहीं मोड़ता अपितु समय की तल्खियों, बगुलायी आचरणों, सम्बन्धों के ठंडेपन, कुण्ठित अभिशप्त स्थितियों से लगातार आंखें मिला कर अनुभव बिम्बों के पाट को चौड़ाता है। कालदंश की भंगिमाओं को अपने तेवरों में घोल कर अनुभव प्रौढ़ि की खराद पर घिसता है। इस घिसन में ताप भी है, अंगार भी और उसमें तप कर निखरने का संकल्प भी। अग्नि-तर्पण की इस यथार्थ बोधी दृष्टि में घर की सुरक्षित दीवारों से भी अंगार बरसते हैं (*दृष्टव्य : घुटनों तक रोशनी : पृ. 13*), टूटते संकल्पों के बीच हंसता अंधियारा समाधान के घर (*पृ. 14*), सारी खुदाई को धता बता कर जोरू का भाई बना हुआ है (*पृ. 39*)। स्वरों के अश्व विद्रोह कर देते हैं (*पृ. 54*)। इसीलिए महानगरीय संत्रास त्रासदी की मरूभूमि को लांघने के लिए गान्धारी का आंखों से पट्टी उतारना अनिवार्य हो गया है (*पृ. 52*), उर्वशी के विश्व-सुन्दरी का खिताब जीतते ही पुरुरवा का सहज प्रफुल्लित मुखमण्डल मुरझा गया है और ऊपर से शब्द-ब्रह्म की गूंज अर्थ की अनुगूंज नहीं बन पाती। शब्द की त्रासदी अर्थ गांठ बन कर जीवन की बुनावट में अवरोध बन गई है। शब्द-अर्थ की इस त्रासद शोकांतिका के दायें 'घुटनों' तक रेंगती रोशनी बायें गमले में उगे 'कल्पवृक्ष' को मुंह चिढ़ाती है। चुनौती-संघर्ष की इन काल-मुद्राओं में 'आचरण', 'आंसू', 'अव्यक्त आदमी' जैसे अनेक शब्द संस्कारविहीन होकर दिगम्बरी मुद्रा में पुनर्जन्म की प्रतीक्षा में है।

'कल्पवृक्ष गमले में' के अनेक गीत 'घुटनों तक रोशनी' संग्रह के पिछले दरवाजे से प्रवेश पा गए हैं। एक ही संकलन के गीत जब दूसरे संकलन में पुनर्मुद्रित होकर गीत पृष्ठ बढ़ाते हैं तब रचनाकार की क्षमता पर प्रश्न चिह्न लग जाता है। बहरहाल वरिष्ठ गीतकारों के आचरण पर चलते हुए असीम शुक्ल भी सींग कटा कर बछड़ों में शामिल हुए हैं। कम लिखना गुनाह नहीं है, अपने को अलग-अलग शीर्षकों में दुहराना गीत की मानक साख से गिरना है। असीम इस दृष्टि से सचेत हैं, यह काफी है, क्योंकि इनकी रचनाशीलता में संभावनाओं का आकाश चारों ओर से खुला है। आधुनिक पर्यावरण का पीत विषाद, संघर्षों के बीच से बुलन्दी के साथ निकलने की अकुलाहट, सांस्कृतिक, अवमूल्यन से जूझते हुए मूल्य-शोधी अनुसंधन, आशा-आस्था की मत्स्यवत तड़प, मानवीय टूटन की जुड़ाव-जुन्हाई, राजनीतिक गुनाहों पर कुठारमुखी व्यंग्य तुर्शी, रिश्तों की सिसकन, रिक्ति बोध, भंवरायी आचरण की क्रूड आधुनिकता, कथनी-करनी में कछुआधर्मी दृष्टि, भूखी-प्रतिशोधी निगाहें, जन संत्रास का अग्नि-उत्सव आदि के छायायी धूप रंग 'कल्पवृक्ष गमले में' के शाख-पत्र हैं। 'इड़ास्म' के पुजारी हम आधुनिकता के मंदिर में आकर अतिबौद्धिकता की दीप लौ से स्वयं को प्रकाशित करने के स्थान पर हृदय की हथेली को धीरे-धीरे खुरच रहे हैं। भौतिकता के अभिशाप को झेलते हुए हम निरन्तर विवेकहीनता की ओर बढ़ रहे हैं। कवि का चिन्तक निष्कर्ष है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सांपों की नगरी में आए/ पर गारुड़ मन्त्र नहीं आता है,
इतने विष का यह मतलब है/ चंदन एक कहीं गाता है,
उसको खोजा है निशि-वासर, इतने में आखिर पस्त हुए।" (*कल्पवृक्ष गमले में : पृ. 20*)

प्रत्येक मानव-मानस के हृदय-द्वीप से करुणा-कस्तूरी की प्रेम नदी निकलती है, उस को पाना सिंह के दांत गिनना है। भारतीय इतिहास सिंह क्रीड़ा का साक्षी है, संकल्प-क्षमता और जीवट की आवश्यकता है। इसी जीवट-संकल्प को असीम के गीत कस्तूरी लय-राग में तालबद्ध करते हैं। इसीलिए कवि को फूलों की सेज स्वप्न में भी स्वीकार नहीं –

"है मशाल हाथ, किन्तु साथ अन्धकार है...
सेज फूल की न स्वप्न में जिसे कबूल है,
गन्ध के चरित्र में न स्वर्ण है न धूल है।
तृण समान तोड़ दो ये बाग की परम्परा,
प्यार का कलंक जो जिया, कभी नहीं मरा।
है अमां की नाव किन्तु पूर्णिमा सवार है
चांद के कलंक को प्रणाम बार-बार है।" (*पृ. 26*)

कवि-मन की आक्रोश प्रतीतियां गीतकार के रचाव स्वभाव की मृदुता लेकर अपना फैलाव करती जाती हैं। व्यंग्य की कुठारतुर्शी के साथ गीतकार के रचनायित संस्कार शिशिर धूप के गुनगुने और गुलाब संस्पर्शों से घुलनशील होकर सीधे लक्ष्य पर चोट करते हैं। वह लोहे-हथौड़े से निरुद्देश्य नहीं ठोंकती जिसकी चोट-गूंज तो ऊंची होती है लेकिन बे असर साबित होती है। भारी-भरकम शब्दावली की अपेक्षा असीम की गीत-प्रतीतियां अपनी पदचापों को चिह्नित करती बुद्धि और हृदय के बीच सेतु बन जाती है –

"सिन्धु मेरी प्यास की चिन्ता न करना
गांव से मेरी नदी अब आ रही होगी।
वह नदी जो तोड़ कर सीमा नहीं बहती
और अपना दर्द खुद से भी नहीं कहती
उस नदी का ही हमारी आंख में पानी
रक्त की हर बूंद उसका रूप बलिदानी।
बह रही होगी कहीं निर्माण के पथ पर
श्रम स्वेद वाले माथ को सहला रही होगी।" (*पृ. 14*)

'सागर' के समकक्ष 'नदी' का सूर्यदर्शन सहज चिन्तन की गहराई का मापक है। 'सागर' का खारापन असीम जलराशि के बीच भी मनुष्य की प्यास बुझाने में असमर्थ है, लेकिन नदी की हंसली धार पोर-पोर तृप्त कर देती है। महानगरीय सभ्यता का खारापन और पनघट की तृप्ति का यह दर्शन असीम की गीत-चेतना का रंगदर्शी निदर्शन है। मर्यादित, धीर, गंभीर, नदी अपने आप को दर्द की तरह पीती रहती है। परिश्रम को सींचने वाली सृजनकर्त्री नदी के मानवीकरण में गीतकार की हृदय घुलावट ज्यादा है बुद्धि का संस्पर्श ताप कम –यही गीतधर्मिता का मानक-बिन्दु है। इस प्रकार के गिनती के गीत किसी भी रचनाकार की महनीय उपलब्धि कहे जा सकते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। असीम का गीतकार इस ओर निरन्तर बढ़ रहा है, यह सुखद है। नवगीत के एक ख़ास शिविर, गुट, प्रदूषित वर्ग से यदि असीम का गीत पर्यावरण सुरक्षित रहा तो उसकी हृदयस्पर्शी चिन्तना इस प्रकार की तलस्पर्शी कसावटों को गीत द्रव बनायेगी, इसका विश्वास किया जा सकता है। 'दर्पण जनम जनम से राजा हरिश्चन्द्र है' गीत में कवि ने राजा हरिश्चन्द्र को सत्य-प्रतिबिम्ब का प्रतीक माना है। इस प्रकार के संक्षिप्त और सारगर्भित गीत रचनाकार के मन का झरनायी विस्फोट होते हैं –

"दर्पण जनम-जनम से/ राजा हरिश्चन्द्र है
जितने खण्ड करोगे इसके/ उतने सत्य उजागर होंगे
वे ही सागर से दीखेंगे/ जो सचमुच के सागर होंगे....
साथ-साथ चलता है दर्पण/ कभी-कभी अंधियारा बन कर..
इस दर्पण में गगन समीरा/ जल-थल-पावक सभी बन्द हैं।" (*पृ. 15*)

असीम का प्रतीक विधान नया और ताज़ा है। 'पुरवैया' की मालिन के रूप में परिकल्पना रसीय अनुभूति देती है। फूलों के नामों के साथ पुनरुक्ति संगीत की छलकन शब्द-संयोजन की तालबद्धता को उभारती है –

"बेला, कचनार, जूही, चम्पा की/ आंचल भर गंध तोड़ लाई है;
पुरवैया मालिन।
मुट्ठी भर मुझको दे/ मुट्ठी भर उसको दे/ मुट्ठी-मुट्ठी सारे जग में बांट आई है,
पुरवैया मालिन।" (*पृ. 64*)

इसमें दो राय नहीं "असीम के गीतों में ऐसी सुगन्ध है जो एकान्त को महकाती है। वह महफिल की मोहताज नहीं है। कई बार गीत सुनने में जितने प्रभावित करते हैं वे जब पढ़े जाते हैं तो उतना प्रभावित नहीं कर पाते। अनेक गीत ऐसे हैं जो गीत की आराधना को आलोकित करते हैं।" (*पृ. 6*)

स्वानुभूति व्यञ्जना के प्रतीक 'मैं', 'मेरी', 'मेरे', 'हमारा', 'मुझको', 'हमारी', जैसे शब्दों का प्रयोग सामान्यतः असीम गीतों की प्रथम पंक्ति में हुआ हैं। मुहावरे भावात्मक वैचारिक ऊर्जा को क्षिप्रता से सम्प्रेषित करते हैं। भावानुकूल मुहावरों का सहज प्रयोग सम्प्रेषणीयता को स्पष्ट और प्रभावशाली बना कर प्रस्तुत करता है –

'वे जो नौका में सवार हैं/ वे ही उसमें छेद करेंगे।' (*पृ. 20*)
'गांव बकरा बना और मुखिया छुरी।' (*पृ. 37*)
'शेर और बकरी मिलजुल कर/ इसका शीतल जल पीते हैं।' (*पृ. 17*)

अनेक जगह शब्द-संयोजन ने सूक्तियों का रूप ले लिया है –

'हम सब का जीवन पानी है/ समय चंदन-सा है।' (*पृ. 21*)
'विष पीकर अमृत पीने का आखिर काम कौन करता है।' (*पृ. 66*)
'संस्कृति से बड़ी कोई तुला नहीं होती।' (*घुटनों तक रोशनी : पृ. 55*)

समसामयिक आधुनिक युगनद्ध त्रासद संत्रास को व्यक्त करने के लिए असीम शुक्ल ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पौराणिक बिम्ब-प्रतीकों का खुल कर प्रयोग किया है। गान्धारी, धृतराष्ट्र, उर्वशी, पुरुरवा, हरिश्चन्द्र, मनु, श्रद्धा, गरुड़, कल्पतरु आदि बिम्ब-प्रतीक गीतकार की पैनायी चेतना का रूपायन है। 'हिरनी सी भोर' गीत में पशु-बिम्ब की कटकन है तो 'मटमैली भोर' में वस्तु-बिम्ब के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों को वाणी मिली है –

"सद्यजात बच्चे-सा होता है शोर/ सांपों के केंचुल-सी मटमैली भोर।
फूलों का नंगापन ढांकेगी धूप/ नीड़ों से बरसेगा चंदनिया रूप।
बूढ़े सन्नाटे का धरती है कब्र/ दफन करो जल्दी से, सब हैं बेसब्र।
नाच रहा कोलाहल जैसे हो मोर/ सांपों के कंचुल सी मटमैली भोर।" (*पृ. 29*)

वस्तुगत बिम्बों में ईसा-मसीह की कथा का संकेत है –

"कील ठोकें समस्या वक्ष में, माथ में
क्रास पर तन लटकता समाधान का।" (*पृ. 33*)

असीम शुक्ल ने गीत-ग़ज़ल के साथ कविता, मुक्तक, दोहा, प्रशस्ति आदि रूपों में भी भावाभिव्यक्ति की है। मुक्तक का बीज-संकेत उर्वर भूमि की तैयारी है –

"पहले सौंपो मन को कीचड़ के हाथों में,
फिर देखो सपना श्वेत कमल बनने का।
तब भोर-निशा के सन्धि-काल में आकर
आशीष मांगना अमल-धवल बनने का।" (*कल्पवृक्ष गमले में : पृ. 67*)

आकारीय संक्षिप्तति और गीतीय लम्बाई दोनों नाप असीम शुक्ल के गीत बैरोमीटर में अंकित हैं। 'महामिलन' का गीत' (*पृ. 75*) यदि लम्बा है तो 'माटी का सामान' (*पृ. 47*) गीत संक्षिप्त है। लयात्मक संगीतात्मकता के साथ गीतों में टेक-पंक्ति का प्रावधान है। भाषा अभिव्यक्ति के अनुरूप चोला अदलती बदलती रही है। इसमें एक अनूठी रसीय खरोंच है जो बड़े प्यार के साथ जीवन-सत्यों और स्थितियों को खरोंचती है। इस खुरचन में परम्पराओं के रंग सुरक्षित रहे हैं, नव्यता के प्रति आग्रहशीलता और युगीय मानसिकता के दायरे खुद ब खुद समाते गये हैं। लाक्षणिक व्यंजनाएं भाषा की वाक् शक्ति है जिसमें असीम का गीत-कद बुलन्दी से सिर उठा कर अपनी उपस्थिति देता है।

अतः विचार-सागर के असीम मंथन से जो नवगीत मिला असीम शुक्ल ने उसे ही नवगीत नाम दे दिया है। पिछले लगभग ढाई दशक से वे गीत को तप मान कर साधनालीन हैं। संघर्षों की तप्त भूमि पर नंगे पैर चलने वाले इस जीवटधारी की गीत चेतना श्रम अर्जित जीवन की नज़दीकी अनुभूतियां हैं। असीम का नवगीत पक्ष दार्शनिक स्पर्श लिए हुए है। इन के गीत मात्र सुनने के लिए नहीं हैं वे रुक कर चिन्तनीय भी हैं। अपनी कृति के प्रति आत्म विश्वास असीम की वर्त्तमान के प्रति सूक्ष्म दृष्टि का अर्क-चिन्तन है। असीम की सुगन्ध तक पहुंचने के लिए चन्दन वन की सर्पीली वीथियों से गुजर कर जाना होगा। सांपों से जिसे भय नहीं लगता वही वहां तक पहुंच सकता है। जीवन की जितनी भी कड़वाहटें हैं, मनुष्य-अस्मिता को संरक्षित करने के लिए जितनी यातनाएं हैं उनको असीम का गीत बीच धारा से तोड़ता है। हताशा की चुभन और विषाद की अगन जब एक बिंदु पर आकर असीम के गीत में ढलती है तब वैश्यायी व्यवस्था

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के प्रति असीम का आक्रोश तेज़ाब बन कर फूटता है। 'घुटनों तक रोशनी' पीकर असीम का गीतकार 'गमले में कल्पवृक्ष' लगाने को प्रतिबद्ध है। उस की यह प्रतिबद्धता मनुष्य सरोकारों से सीधी जुड़ी है, इसीलिए जीवन का क्षण-क्षण क्षरण नवगीत में ढल कर उसके कंठ का गीत बन गया है।

'कल्पवृक्ष गमले में' के नवगीत जीवन के यथार्थ को और अधिक पैनी निगाहों से देखते हैं। व्यंग्य की रमक लिए असीम की भावगत छवियां अपना अर्थ विस्तार कर ज़िन्दगी की भीतरी तहों को उधेड़ देती है। जीवन के असीम रंगों को वैचारिक मंथन और भावों की धूप में तपा कर कवि का गीतमन भारतीय संस्कृति और गांव की सहजता लेकर हारी हुई लड़ाई भी जीत में बदल देता है। गांव की मेड़ों से होता हुआ गीतकार का भावबोध महानगर के संत्रास से तृप्त नहीं हो सकता।

असीम के गीत एक निश्चित संकेत छोड़ते हैं। रचनाधर्मिता के प्रति सक्रिय असीम का गीत चिन्तन नवगीत को गहराई से पकड़ रहा है। यही कारण है कि उनके नवगीत अन्तर्मुखी होते जा रहे हैं। उनके भीतर का संघर्षशील हृदय नवगीत की मुद्रा को प्रणाम कर रहा है, उसे प्रणाम की मुद्रा बहुत भली लगती है। असीम नवगीत के प्रतिभाशाली गीतकारों की पंक्ति में अपना स्थान बना चुके हैं।

देहरी पर चीखता सन्नाटा और गांव की चिट्ठी : राधेश्याम शुक्ल

राधेश्याम शुक्ल के गीत 'पीड़ा के आंसू' हैं। "पीड़ा-जो जगत् को पावन बनाती है, संवेदना को जन्म देती है, सिखाती है, आंसू से रिश्ता जोड़ना और आदमी को आदमी बनने की तमीज........पीड़ा या प्यास कभी परायी नहीं होती....पीड़ा शाश्वत है। पीड़ा दृष्टि है। पीड़ा ही सृष्टि है और पीड़ा तथा संवेदना के सारस्वत सम्बन्ध से उपजा गीत चिरन्तन है" (*हरियाणा, डेढ़-दो दशक से रचनारत 1 गीत संग्रह-पंखुरी पंखुरी झरता गुलाब*)।

विरह और पीड़ा राधेश्याम शुक्ल का गीत विस्तार है। मरुस्थल का भी एक रसवन्ती सौन्दर्य होता है, वही रसवन्ती सौन्दर्य शुक्ल की गीत-कमान है। रिसते घावों की रसवन्ती आग ने ही कवि के मन पर पड़े छालों को धोया है। कवि के मन में चूंकि घावों का तेज़ाब भरा है इसलिए पपीहा, कोयल सबके मन में रिसते हुए घाव हैं। इस सृष्टि में वसन्त वनवासी है और पतझर जीवन-आसन का अधिष्ठाता। पीड़ा की इन्हीं नागफनियों से आज मनुष्य बिंधा है। हाथों में आसमानी सितारे पकड़े मनुष्य बिना ज़मीन के खड़ा है। युधिष्ठिर की तरह वह सब कुछ हार बैठा है लेकिन जयघोष के नारे लगाने के लिए सबसे अगली पंक्ति में शामिल है। मनुष्य चेतना को सर्वग्रासी ग्रहण ने विषाक्त कर रखा है। हाथ पर हाथ धरे सूर्यारोहण की प्रतीक्षा में वह निष्क्रिय हो गया है। समय की जटिलता ने उसकी चेतना को भ्रमभंगी बना दिया है। यातनाओं-यन्त्रणाओं के बीच जंग खायी मनुष्य अस्मिता पूरी तरह समर्पण के विवशता बोध को ढो रही है। इस विध्वंसक नियति को कवि शब्द देता है –

"तन इसका बौना है पर मन मृग छांना है
मरुथल की प्यास लिए, जल रहा है आदमी।" (*पंखुरी-पंखुरी झरता गुलाब : पृ. 8-9*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भीतर ही भीतर टूटता अपनी ही चादर को छलता वह ज्वालामुखी गंधक बन चुका है जिसे कोई भी संवेदना नहीं पिघला पा रही (*पृ. 19*)। उसकी आत्मा पर युग के दंश इतने अधिक हैं कि वह महानगर से संत्रस्त गांव के पीपल की छांव चाहता है। आधुनिक नागर जीवन की इन असंगत विकृतियों को कवि ने पूरी तरह पिघलाने की कोशिश की है –

"कुंठा की सीलन से, भरा हुआ घर-आंगन
मकड़ी के जालों में उलझ गया है तन-मन
देहरी पर दीप नहीं, चीख रहा सन्नाटा
बन्द पड़े मन के वातायन को खोलें।" (*पृ. 20*)

अहंकारी मनुष्य नाग-मुद्राएं ओढ़ लेता है, यह क्या कम दोष है? और कवि उसे आकाश बनाना चाहता है क्योंकि वह जानता है कि धरती की समस्त खुशियों को हासिल करने के लिए आकाश बनना जरूरी है, यही वेदना-पीड़ा का इतिहास रहा है।

गीत के साथ ग़ज़ल फैशन हो चुका है, चाहे ग़ज़ल विधान की सम्पूर्ण जानकारी हो अथवा नहीं। शुक्ल ने भी सामाजिक दंशों को ग़ज़ल में काता है। किस प्रकार मनुष्य भौतिक मृगतृष्णाओं में भटक कर जीवन के मानक-मूल्यों से गिर जाता है, जीने की कठोर शर्तें, मत्स्य-न्याय के अनुसार मनुष्य को निगलता मनुष्य, दोहरा व्यक्तित्व और दोहरे मानदण्ड, 'नून-तेल-लकड़ी गेहूं' जैसी अनिवार्यताओं से जूझता मनुष्य आदि सभी ग़ज़ल के केन्द्र में हैं। मरुस्थली व्यथा कंटीली फसल यहां भी लहलहा रही है। बहुत दिनों बाद आई आज मेरे गांव की चिट्ठी' के शब्द-शब्द से व्यथा और दुःख रिस रहा है –

"इबारत में झलकता है मेरी मां का फटा आञ्चल,
पिता की बेबसी का राज़, मेरे गांव की चिट्ठी।
मेरे बेकार भाई की अधूरी साध रोई है
बहन की है सिसकती लाज मेरे गांव की चिट्ठी।
नहीं अब कुछ नहीं लिखती प्रिया के हाथ की मेंहदी
महावर का है फीका साज मेरे गांव की चिट्ठी।
बहुत दिनों बाद आई आज मेरे गांव की चिट्ठी
किसी मजलूम की आवाज मेरे गांव की चिट्ठी।" (*पृ. 37*)

शुक्ल के गीत और ग़ज़लों में आकर्षण है। कतिपय गीत-ग़ज़ल पीड़ा की दृष्टि से बेजोड़ है। मार्मिकता, संक्षिप्तता, प्रभावान्विति लयात्मकता, आन्तरिक संगीतात्मकता, मुहावरों व लोकोक्तियों का प्रयोग, विन्यास वक्रता, साहित्यिक बिम्बों व प्रतीकों से युक्त इनके गीत-ग़ज़ल समसामयिक संवेदना को व्यक्त करने में समर्थ हैं। 'मैं, मुझे, मेरे' आदि शब्द आत्माभिव्यक्ति के प्रतीक हैं। इसके बावजूद ये सभी विशेषताएं एक स्थान पर इकट्ठी नहीं हो पाईं। ये सभी विशेषताएं बिखरी-बिखरी हैं, लेकिन गीतों पर इनकी पकड़ को प्रमाणित करती हैं। कवि यदि थोड़ा सावधान और गंभीर हो तो अपनी काव्य-सम्पदा को साहित्यिक आंच दे सकता था। पीड़ा इनकी जितनी बड़ी शक्ति है वहीं बिखराव इनकी सीमा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक यथार्थ की शंख-प्रत्यंचा : कृष्ण बक्षी

'हवा बहुत तेज है' तथा 'एक भाषा है नदी की' कृष्ण बक्षी के दो गीत संग्रह हैं। गीत-मरण की घोषणा से कवि मर्माहत है। उसे अफ़सोस है कि गीत पर कोई आलोचक या समीक्षक ही नहीं नई कविता का कोई कवि तक बात करना पसन्द नहीं करता। कृष्ण बक्षी के लिए कविता एक मशाल है जिसे पूरी जागरूकता के साथ सामाजिक न्यायपूर्ण पक्षों को आलोकित करना है। गीत हो या कविता उसमें वर्ग-संघर्ष से सरोकार रखनेवाली जीवन-दृष्टि का होना अत्यन्त आवश्यक है। नवगीत में जनवादी तेवरों को रेखांकित करने वालों की पंक्ति में गीतकार स्वयं को शामिल करता है। उसकी आस्था जन के उत्कर्ष में है। कवि प्रगतिवादी सैद्धान्तिक प्रतिबद्धता का कायल नहीं है और न ही उसमें किसी प्रकार का मार्क्सीय दुराग्रह है। खेमे-खांचे में वह फिट नहीं होना चाहता लेकिन जनवादी गीतकार कहलाने का मोह उसे आत्मरति तक है। इसमें कोई शक नहीं कि इनके गीत चेतना के मुखबोध हैं और वर्ग-संघर्ष की कठिनाइयों से परिचित। गीतों का मूल सरोकार शोषण और उसके केन्द्र में शोषितों का दुःख दर्द है। गीत की मूल्य चिंता के इस दर्शन में शोषकों की चुनौतियों को स्वीकार करने का हौंसला है। इसी हौंसले के बल पर वह समाजवादी समरसता का स्वप्न देखता है। भविष्य के प्रति वह आशान्वित है। उसे विश्वास है कि निकट भविष्य में ऐसी पीढ़ी 'जन्मेगी...... जो आग उगलेगी जिससे कोई बेगार नहीं ले सकेगा।' धरती से आसमान तक की गतिशीलता का यह रहस्यपरक व्यापार है जो मुखर घोषणा कर रहा है कि एक पीढ़ी पढ़-लिख कर जन्म ले चुकी है जिसमें उदासी सुलग रही है और सन्नाटा क्रान्ति के स्वरों को धधका रहा है। अन्याय का घड़ा भर चुका है। यह मूक, मौन जनता सदा गूंगी नहीं रहेगी, अवश्य बोलेगी और ललकारेगी –

"बैलों जैसा नहीं जुतेगा/ ये पूरा परिवार हमारा
श्रम की होगी सही समीक्षा/ मजदूरी का सही चुकारा
अन्यायों के यहां खिलाफ/ रस्ते करने होगें साफ
तब जा करके आंखें बंद/ व्यवस्था खोलेगी....
सब के पास जमीनें होंगी/ होंगे सबके घरू मकान
और नहीं अब पिसने वाले/ ज्यादा दिन मजदूर-किसान...
सही-सही इंसाफ तराजू/ तब ही त्तोलेगी.....।" *(एक भाषा है नदी की : पृ. 16)*

जनवाणी कवि की वाणी है और कवि का आह्वान जन का आह्वान है। 'हक की लड़ाई' का शंख इसी धरती पर बजेगा –

"बेशक भूखे रह लो भाई/ लेकिन हक की लड़ों लड़ाई
ठंडक में कुछ आग निचोड़ों/ आपस के झगड़ों को छोड़ों
बिना एकता के न बदले/ जायेंगे यह गलत रवैये......।" *(पृ. 19-20)*

महंगाई, कालाबाजारी, जमाख़ोरी, जालसाज़ी, उग्रवाद, गूंगी प्रजा, अंधी सरकार आदि पर गीत-टिप्पणियां समाज की शिकारी परिस्थितियों का ब्यौरा है। शोषितों और शोषकों का यह सनातन द्वन्द्व कथ्य को तीव्रता से उभारता है। जटिलताएं, विषमताओं का ज़िन्दगी कफन ओढ़े कटोरा हाथ में लिए हुए है। सत्ता का यह कुर्सी-व्यापार मनुष्य की अस्मिता को रौंदता जाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। गरीबी का अभिशाप छोटी-छोटी अनिवार्यताओं को झुठला कर शक्तिशाली हाथों में बेकारी की हथकड़ियां डाल देता है और ज़िन्दगी, समाज बिना दीवारों की जेल बन जाती है। सत्ता दरोगा बन कर यहां भी पीछा नहीं छोड़ती जोंक की तरह रोम-रोम चूसती-छलती है। क्षण-क्षण का यह मरण जन्म लेने से पहले ही मां-गर्भ में जीने की मोहलत को तरसता है। पेट में जलती आग अपनी शक्ल को ही दुत्कार देती है और माथे पर चिपक जाती है जे. जे. कालोनी और गटर की ग़न्दगी। इसी गटर-ग़न्दगी को साफ करने के लिए कृष्ण बक्षी की गीत-चेतना प्रतिरोध का बायस बनती है। कवि उन अभिशापों को गीतों में चीन्हता है जिन्हें सत्ता का मुखौटेधारी दर्शन आदमी मानने से इन्कार करता है। इस इन्कार को आदमी बनाने के लिए ही बक्षी के गीत अपनी चोंच नुकीली करते हैं। बक्षी 'रूढ़ अर्थों में लोक गीतकार नहीं हैं' (*साक्षात्कार : दिनांक 15 जुलाई 1986*) किन्तु लोक धुनों पर उसकी भावानुभूतियां वैचारिक संघर्षण की रगड़ लेकर अपना रूपाकार अदलती-बदलती रहती हैं। 'दईया-रे-दईया' के केन्द्र में 'महंगाई' दैत्याकार बन कर मानस में कब्र खोदने लगती है। भरी आंखों से अंजुरियों से फिसलते पल देखते हुए एक किसान की मनः स्थिति का कवि ने सुन्दर अंकन किया है –

"अंगारे पर से बांधे/ उड़े हैं चिरैया/ दईया रे, दईया रे, दईया..
महंगाई ने तो हमें ऐसे उघारो/ मुश्किल से होत-लगे अपने गुजारो
परके तो बेची थी बैलन की जोड़ी/ तब जाके पाले थे जो मोड़ा-मोड़ी
अबके बिकेगी नरैया/ दईया रे दईया......................................।"(*पृ. 13*)

बिम्ब प्रतीक भी किसान की मनः स्थिति को भाले की नोंक सा नुकीला और फरसे की धार सा तीखा बना देती है। अभिशाप की इस भूल-भूलैंया में महंगाई द्वारा अपहृत जीवन किनारे नहीं लगता, डूब जाता है, लेकिन घुट-घुट सांस चलती रहती है, गीली लकड़ी-सी सुलगन अन्दर ही अन्दर राख के नीचे दबी चिन्गारी बन जाती है। 'दहलीज़' और 'तहजीब' भूखे पेट नहीं आती। रिश्तों का यह तनाव समय की करवट है। पीठ पर लदा मूल्यों का बोझ बेमानी है जब बुनियादी जरूरतें आंखों में मायूसी भर कर हाथ फैलाने को बेबस हो जाए फिर कैसी तहज़ीब कैसी दहलीज़-

"तुलसी का चौरा/ संझा की बाती/ गायब है,
भाई-चारे वाली/ अपनी थाती/ गायब है,
किसने की आरोपित/ हम पर ऐसी तहज़ीबें....
तुले हुए सब/ सागर पीने पर/ मछुआरे हैं
शक्ल बदलती/ लिए द्वार-आंगन/ गलियारे हैं
उतनी अब संवेदनशील/ कहां हैं दहलीज़ें.....।" (*पृ. 42*)

बीसवीं सदी बूढ़ी हो गई (*पृ. 43*) किन्तु बाल-विवाह नहीं रुके, आदमखोर हवा ने भी कैलेण्डर की तारीखों पर खून के छींटे डाल दिए (*पृ. 45*), कोख में ही पंख झुलसने लगे (*पृ. 17*), पंख-झुलसन की इस आदमखोर व्याधियों का कोई इलाज नहीं सिवा क्रान्ति और विद्रोह के। इन ज़हर बुझी बुनियादी जरूरतों के स्वप्न, खो गए दिनों की असाध्य पीड़ाओं के दर्द को कोई बूझने वाला नहीं। 'जयनारायन' (*पृ. 35*), 'वाह भई वाह' (*पृ. 28*) जैसे गीत रीति-रिवाजों की उधड़ती सीवनों की चटखती चीखें हैं जो असमय विद्रोह की स्थितियां पैदा करती हैं। कवि ऐसे अन्तर्सम्बन्धों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को व्यंग्य की नोंक पर रख कर उनको गिद्ध दृष्टि से नापता है जो शोषण की स्थितियां निर्मित करती हैं। गली-गली, गांव-गांव, नुक्कड़-नुक्कड़ बन्दर मदारी के खेल में एक जमूरा अपनी हरकतों से बे सिरपैर की बातों से लोगों को हंसाता है। उसी जमूरे का इस्तेमाल कवि ने अपने एक गीत में किया है जो सफेदपोशों की ढोल बजा कर पोल खोलता है। 'काले धन्धों की बैसाखी पर भागती 'कुर्सी की दौड़' के तीन अलग-अलग गीत-बिम्ब खींच कर रचनाकार जनमानस को सत्ता-लोभियों की मोतियाबिन्द दृष्टि के नज़दीक ले आता है'।

'लय > रिदम् जन्म से ही हमारी सांसों में घुली मिली रहती है' (*साक्षात्कार : दिनांक 15 जुलाई 1986*)। कृष्ण बक्षी के गीतों में लय का अप्रतिहत प्रवाह है। इसके लिए कवि ने पुनरुक्ति, व्याकरणिक चिह्न, नादात्मकता, ध्वन्यात्मकता आदि का सफल प्रयोग किया है –

"टप! टप! टप! भाई टपक-टपक
इधर लपक या/ उधर लपक....
सोच लक्ष्य/ पाने की सोच/ सोन अन्न-दाने की सोच
भरी नींद में/ नन्हें सपने/ आंखें रहे झपक..........।" (*पृ. 38*)

मुहावरों का प्रयोग भाषा को नई व्यञ्जना देता है। बक्षी ने मुहावरों को गीत की गति-लय के अनुसार तीव्रता प्रदान की है –

"ठंडी है आवाज/ गर्म है खुसर-फुसर/ काना-फूसी करते....
'बाहर औ भीतर की सह कर दोहरी मारें......।'
'बोल रहा दुर्घटनाओं के सिर पर खून चढ़ा.....।" (*पृ. 9*)
"आपस के झगड़ने ने कमर तोड़ डारी।" (*पृ. 13*)
"आंखों में भर गई/ हमारी इतनी धूल उड़ी।" (*पृ. 66*)

गीतों में तथाकथित जनवादी स्वर की मुखरता है। टेक पंक्ति, संक्षिप्तति ने गीत-गति को तीव्रता दी है। लोकधुनों के स्पर्श से गीत धुले-धुले दीखते हैं। प्रगतिवादी मार्क्सीय सैद्धान्तिकता की जकड़न इनमें नहीं है। एक लचीलापन है जो इनके गीतों को सामाजिक यथार्थ की धनुष-प्रत्यंचा बना देता है। नदी की भी एक भाषा होती है जिसे हम गढ़ सकें तो गढ़ें, सुन सकें तो सुनें, पढ़ सकें तो पढ़ें, उसी प्रकार युग की संवेदना को गुन सकें तो स्वर-लय में गुनगुनायें (*पृ. 52*)।

गीतकार की संवेदना भूमि निर्मित की हुई अधिक है। जैसे अंगूठी में नग जड़ दिया जाता है, उसी प्रकार सामाजिक यथार्थ-विभीषिकाओं को रचनाकार ने गीतों में जड़-सा दिया है। गीतों में लय-ताल का संगुफन है इसलिए प्रवाही गतिशीलता इनका गुण है। मार्क्सीय चिन्तन का प्रभाव गाहे-बगाहे कवि-चेतना पर अक्स की तरह अंकित है। भूखों को रोटी मिले, छलविहीन लोगों को घर, नंगों को तन ढांपने को कपड़ा इससे कौन इन्कार कर सकता है, लेकिन जब यही रूप बदल कर नारे की शक्ल में गीत में ढलती है तो उसका दायरा सीमित और प्रचार तंत्र का हिस्सा हो जाता है। मार्क्सीय चिन्तन की गहराई यदि समझ ली जाए तो वह समाज और मानव के लिए निश्चित रूप से हितकर होगी लेकिन यदि उसे अखबारों की शक्ल में गीत में पिरोया जाए तो संवेदना उथली और सतह पर रह जाएगी। जनवाद से जुड़ना निश्चित रूप से आज की जरूरत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है लेकिन उसे फैशन के तौर पर गीतों में ढालना, साहित्यिक गुनाह है, इधर बहुत से गीतकारों ने यह गुनाह किया है, उसमें यदि कृष्ण बक्षी भी शामिल हैं तो हर्ज़ क्या है?

नपुंसकत्व नकार मुद्राओं का दुराग्रह : नचिकेता

नचिकेता मुहावरों की ओट में प्रतिबद्ध नारेबाजी, झण्डा उठाऊ संस्कृति की मार्क्सीय जूठन है। ये अपने रचना कर्म के प्रति गंभीर कम साहित्यिक प्रतिष्ठा की राजनीति में उस्ताद ज्यादा हैं। स्वयं को प्रथम पंक्ति का रचनाकार मानना दूसरे की समझ पर प्रश्न चिह्न लगाने की जड़ीभूत मानसिकता इनका स्वभाव है। अतः इनकी गीत चेतना अहंग्रस्त, दृष्टिबोध बांझ, वैचारिक पंगुता, शैल्पिक स्खलन जागते हुए भी जम्भाई लेता है। ऐसे गीतकारों ने नवगीत की तनी कमानों को अपने स्वार्थों के लिए पिछले दरवाजों से शिथिल किया है। इनका रचनाकर्म नारेबाज़ी से आगे नहीं बढ़ा। बतौर फैशन सर्वहारा वर्ग के शोषण, वैषम्य-विरोध, समतावादी समाज की संस्थापना का स्वप्न आदि दिखाना इनके गीत मुखौटे हैं। इनके सकार और आशय धुंधले और कपटाचारी हैं। भाषा की खरोंच ओट में ये जीवन की यथार्थ स्थितियों को आंकने का भ्रम फैलाते हैं। यही कारण है इनका गीत मिज़ाज़ विद्रोह और आक्रोश की फुसफुसी नारेबाजी करता विखण्डित हो जाता है। इनकी गीत-प्रतीतियां उजली नहीं हैं। भोर पर पड़ी शाम की परतें बाह्य सतहों पर ही कुटकुटाती रह जाती हैं। जीवन और श्रम का सौन्दर्य बोध इनकी काव्यात्मक रचनाओं में लयात्मक स्मिति कम देता है रुआंसी भाव-प्रतीतियों को बार-बार हलवाई के मिलावटी दूध की तरह ओटाता ज्यादा है। ओटाव और रचनाव के बीच फंसी नचिकेता की गीत-चेतना कहीं-कहीं विद्युत बनती है अन्यथा खाली बादलों की तरह गरज कर जबरदस्ती अपने को दर्ज करने का आग्रह अधिक करती है। रचना-गर्जन की इन स्थितियों को जीना नचिकेता की मजबूरी है क्योंकि ये न तो अपना फैलाव कर सके और न ही अपना विस्तार। कोल्हू के बैल की तरह एक ही वृत्त में घूम कर वहीं के वहीं मेंढक की भांति कुएं की निर्जीव बुदबुदी लहरों को समुद्र का नर्त्तन समझ बैठे हैं। आंच है लेकिन परिधि सीमित, सत्ता विरोध है लेकिन फुसफुसा, शोषण प्रतिकार है लेकिन दिखावटी, जीवट की कटान है लेकिन तटीय, परिवेश असंगतियां हैं लेकिन बिखरी-बिखरी। अधिकांश रचनाओं में बिखराव, गीत बोध बंधक, खुलेपन और सहजता का अभाव। यारों-दोस्तों से अपनी गीत संपदा पर रचनात्मक टिप्पणियां करवाने से यदि कोई साहित्य में प्रतिष्ठित हो सकता तो आज गली-गली में कालिदास, भवभूति, प्रसाद, निराला की लाईन लग जाती। जनबोधी चेतना के नाम पर जनवादी गीत के नारे लगा कर चमत्कृत करने से साहित्य की अगड़ी पंक्ति तो क्या पिछड़ी भी नहीं मिलती। अतः नचिकेता को अपना रचनात्मक विस्तार करना होगा। सकार मूल्यों की ईमानदारी से वकालत करनी होगी, काव्य-आशयों को स्पष्ट करना होगा, गुटबाजी से उठ कर शंभूनाथीय छाया को काटना होगा, तभी सुगबुगाती संभावनाएं पल्लव-शाख के भीतर से गुजर कर फलधारी विटप-वृक्ष बनेंगी अन्यथा सतह पर तैरती कागज़ की नाव कुछ समय की क्रीड़ा कर अंततः डूबती ही है।

नचिकेता के रचना-दर्शन में ठहराव ही ठहराव नहीं गत्यात्मकता भी है। जहां कहीं गत्यात्मकता पदचाप देकर प्रतीति-द्वार खटखटाती है वहां नचिकेता की गीत-मुद्राएं जीवन की ऐंठनों को अक्स कर समाधि की ओर चलने का संकेत देती हैं लेकिन अनेक रचनाएं बीच रास्ते में ही थक कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समर्पण कर देती हैं किन्तु कुछ अपनी पहचान कायम कर नचिकेता के कृतित्व-चिन्तन की रोशनी लकीरें खींचती हैं। हमें इन्हीं रोशनी-लकीरों को सहेजना है जो जीवन की सकार बिम्बात्मकता से जुड़ कर सामाजिक आशयों को अर्थपूर्ण और संवेदना को प्रतिरोधकामी बनाती हैं।

तथाकथित जनवादियों ने अब प्रेम के अनुभूति-महत्त्व को समझ लिया है। अब प्रेम इनके लिए वैकल्पिक नहीं अनिवार्य है। प्यार है तो जीवन अर्थवान है, इसीलिए वह सुख-समृद्धि के नए-नए झरोखे खोलने वाला है –

"चाहता हूं प्यार की/ दुनिया बसाना
खिले फूलों की तरह/ खुशबू लुटाना
प्यार सुख के आगमन का है झरोखा।" (*सोये पलाश दहकेंगे*)

अजस्र शक्ति का स्रोत प्यार मनुष्य की ताकत है, जीवन के कष्टों का समाहारक-संहारक। इसकी रंग-खुशबू सृष्टि के जर्रे-जर्रे में व्याप्त है नचिकेता ने प्यार को व्यापक अर्थीय संवेदना दी है –

"प्यार के जब पांव में कांटें गड़ेंगे,
मुक्ति के संघर्ष के बादल उड़ेंगे,
प्यार के ही वास्ते/ दुनिया लड़ी है।"

"जिस देश की आबादी का अधिकांश हिस्सा प्रकृति की गोद में बसे गांवों में रहता हो, जहां नदी, नाले, निर्झर, पहाड़ों, वनों, घाटियों, पठारों, शस्य-श्यामला खेतों और बाग-बगीचों का जाल बिछा हो, हर मौसम का अलग-अलग रूप और गंध हो, सुबह से रात तक आसमान विविध रंगों से भर जाता हो, हर उत्सव, त्यौहार, रीति-रिवाज़, वेशभूषा, खान-पान, भाषा, धर्म, कर्म, व्यवहार और कला हर चीज़ पर मानवीय सौहार्द्रता, आपसी भाई चारे और सहज आत्मीयता की गहरी छाप हो, वहां का जन-जीवन आन्तरिक लयवत्ता और संगीतात्मकता संश्लेष से रिक्त नहीं हो सकता" (*आर्यकल्प : जुलाई 1987 : पृ. 29*)।

इसलिए प्रकृति प्राण संचेतना का पोषक रस और जीवन का स्पन्दन है। नचिकेता के इस प्रकृति दर्शन ने मन-तल छुआ है। इनके प्रकृतिपरक गीतों में प्रेरणा और ताज़गी है। एक ओर ग्राम्य जीवन के रंग-बिरंगे तुर्श चित्र हैं तो दूसरी ओर प्रकृति की आह्लादकता गीत-वितान में इन्द्र धनु बन तन गयी है। प्रातः मध्याह्न, सन्ध्या हो या हेमन्त, शिशिर शरद् ऋतु, वर्षा-वसन्त, चिड़िया हो अथवा अन्य पक्षी, सूर्य-चन्द्रमा हो या तारा-मण्डल-प्रकृति का प्रत्येक उपकरण इनके गीतों में मानव जिज़ीविषा को गरिमा देते हैं।

मानव-जिज़ीविषी इस प्रकृति-गरिमा ने ही नचिकेता के अनेक गीतों को जीवन के अर्थपूर्ण संवाद दिए हैं, गीत-शिथिलता को संभाला है। रात्रि के गहन अन्धकार में भी जगमगाते प्रातः के संकेत कवि अपने दिव्य चक्षुओं से पाता है –

"मौन के ही गर्भ से ही/ आंधी उपजती है
घाटियों में ही हवा/ की बीन बजती है
रात ही संकेत है जगमग सवेरे का।" (*सोये पलाश दहकेंगे : पृ. 62*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षड्ऋतुयी परम्परा का निर्वहण नचिकेता के प्रकृति अनुराग की गीत भूमि है। भारतीय संस्कृति और सभ्यता से प्रकृति का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध स्थापित कर नचिकेता भावनात्मक वैचारिकता का परिचय देते हैं।

जनवादी गीतों का ढोंग कवि ने खूब रचा है। ऐसे गीतकारों ने ही जनवादी गीतों को बदनाम किया है। प्रतिपक्षी भूमिका में सत्ता को गाली देना इनका साहित्यिक पेशा है लेकिन अवसर आने पर उससे लाभ उठाने में इन्हें कोई गुरेज़ नहीं। मनुष्य की बुनियादी आवश्यकताओं को कवि गीत बनाता है लेकिन इनकी व्यक्तित्व बुनावट में यथार्थ की छायायी भूमिका भी नहीं है –

"वह दिन कितना अच्छा होगा/ जब भर भर थाली भात मिलेंगे
मेहनत करने वालों को/ सपने सच होकर दहकायेंगे
रूखे-सूखे गालों को/ आंखों में ठाठें मार रहा
खुशियों का सच्चा जल होगा।" (*पृ. 22*)

वर्त्तमान की आधुनिक बौद्धिक स्थितियों के असंगत गीत हस्ताक्षर कुनकुने हैं लेकिन इनमें भी हृदय-पक्ष गौण है। 'बिल्ली', 'मानचित्र', 'तीन बन्दर बापू के', 'भजन' आदि गीतों में सीधे-सादे शब्दों में व्यंग्यात्मक अवस्थिति ध्यान खींचती है किन्तु वहीं प्रच्छन्न बौद्धिकता यथार्थ के नाम पर यहां भी नंगी है –

"गजब देश का मानचित्र है।
कुछ को चूहे काट चुके हैं/ कुछ को झींगुर चाट चुके हैं...
जिसका जितना नाटा कद है/ उतनी ही ऊंची मसनद है
संसद की आपाधापी में/ कुचल गयी काया पवित्र है।" (*पृ. 27*)

नचिकेता ने भाषा को हथियार की तरह इस्तेमाल किया है। इनकी दृष्टि में "यदि गीत को जनसामान्य के सुख-दुःख में शरीक होना है और उनकी सांस्कृतिक चेतना का अभिन्न अंग बना कर सर्वत्र ज़िन्दा रहना है तो लोक साहित्य के शब्दों, मुहावरों, लयों, धुनों और उक्तियों से नज़दीकी रिश्ता कायम करना होगा। उसमें क्रान्तिकारी और प्रगतिशील अन्तर्वस्तु भरने का जोखिम भी उठाना होगा" (*भूमिका*)। 'सरल आदमी' में आस्था की कुलबुलाहट भाषायी सादगी का नमूना तो जरूर है लेकिन यह सरलता उनकी गीत-चेतना का अविभाज्य हिस्सा नहीं है –

"ओ अमन के शीश पर था/ बांधता सेहरा
गुलमुहर सा लाल उसका/ हो रहा चेहरा
मुक्ति के भिनसार का संकल्प-बल है आदमी।" (*पृ. 20*)

लोक गीतों, आंचलिक व जनपदीय शब्दों, मुहावरों, धुनों और जन प्रचलित उक्तियों के आकर्षक प्रयोगों को नचिकेता ने बखूबी साधा है। छोटे-छोटे टेक-पंक्ति वाले गीत, तुक, लय और संगीतात्मकता से सम्पन्न हैं लेकिन शब्दों के प्रयोग सम्बन्धी अशुद्धियां खटकती हैं – 'किनकी खातिर दाव पेंच से', 'वर्गभेद की चादर ओढ़े खिलना नहीं कलह जैसा/ आजादी की महक लुटाते, आना नयी सुबह जैसा', 'काम देगी किसी दरिन्दे को/ तब जीवन-बीमा' आदि गीतों में अनेक शब्द-प्रयोग गीत लयात्मकता में बिखराव पैदा करने वाले हैं। 'सपनों की फेरी' शीर्षक गीत में भवानी प्रसाद मिश्र के 'गीत फरोश' की छायायी भावात्मकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी अधिकांश गीत-सम्पदा में पार्टी प्रचार की गंध है। प्रचारात्मक स्वरों ने गीत-सहजता को पूरी तरह ध्वस्त कर दिया है, गीतात्मक ऋदम रुआंसी होकर हतप्रभ हो जाती है, हृदयतत्त्व सिसकने लगता है और अतिबौद्धिकता कालमुद्राओं को खरोंचने लगती हैं। नचिकेता यथार्थ और शोषण विरोध के नाम पर जनवादी नारों को गीत बनाने की कला में भी असमर्थ है। कला और भाव का रिरियाता असंतुलित गीत नपुंसकत्व इनकी काव्य अवधारणाओं को नारों की शक्ल में उछालता है जो झण्डे उठाये किराये के टट्टुओं की प्रचारात्मक पार्टी का स्वर बन कर कुछ क्षणों के लिए लोगों का ध्यान खींचता है और फिर सर्वहारा वर्ग के नाम पर नेतायी आचरण करने लगता है। नचिकेता के गीत राजनैतिक सिद्धान्तों की साहित्यिक छाया की छाया के अतिरिक्त कुछ नहीं। न उनमें बांकपन है, न जीवन का व्याकरण शास्त्र, मात्र प्रदर्शन और नारे बाज़ी का अल्कोहल है जो जल्दी ही देसी ठर्रे की तरह उतर जाता है।

कुल मिलाकर नवगीत की साग्रह विशिष्ट शैली के मुखर दावेदार नचिकेता जनवादी विशेषण के अधिक प्रेमी हैं। इनके कथन से ऐसा प्रतीत होता है जैसे नवगीत में ही जनवादी गूंज है। जब कि सच्चाई यह है कि आज कोई भी रचनाधर्मी जीवन के त्रास, घुटन, अभाव और यातनाजन्य अनुभूति से असम्पृक्त रह कर रचना को जीवित नहीं रख सकता। नवगीत का प्रत्येक शिल्पी एक मसीहाई अन्दाज़ में नवगीत की वकालत करता है। जनवादी विशेषण अन्यविधाओं में सृजित साहित्य को जनवादिता से विमुख घोषित करता हो - ऐसा लगता है। नचिकेता का स्वर नवगीत की इस तथाकथित शैली से पृथक नहीं है। 'आदमकद खबरें' में संग्रहीत गीत वर्त्तमान की त्रासदी के ही गायक हैं। स्वतन्त्र भारत का वर्त्तमान - 'अंधकार ले आया हथकड़ी, वर्त्तमान हो गया नीलम' में स्पष्ट है। आज वर्त्तमान का अभाव इस सीमा तक पहुंच गया है –"चम्मच दो हलवा के, लिए हुआ पूरा घर गिरवी" (*बाईस्कोप का गीत - 44*) - इस प्रकार की अभिव्यक्ति अब आम हो गई है। नयी कविता, गीत, नवगीत, ग़ज़ल सभी में यह भावना है। नचिकेता कहते हैं –"कर्ज़ पिता के लेते ही, बेटी हो गई जवान" (*बाईस्कोप का गीत - 30*) और अशोक लव की नयी कविता- "अभावग्रस्त बाप की बेटी, बहुत जल्दी हो जाती है बड़ी, लम्बे खजूर सी" – इसमें कोई ख़ास फर्क नहीं है। नचिकेता के बचपन की आंखों में रेगिस्तान तैरता है और दूसरे गीतकारों के अनेक गीतों में बचपन रोया है और जवानी सुलगी है। नवगीत के क्षेत्र में भाषागत ताज़गी के कारण नचिकेता का नाम अपरिचित नहीं है। इनके संग्रहों में जनवादी स्वर का ढोंग ज्यादा है। अनुभूति की प्रामाणिकता कम। मशीनीकरण के युग में जीवन की ऐसी विकलता और छटपटाहट अस्वा-भाविक नहीं है। यह छटपटाहट 'आदमक़द खबरें' में नये प्रतीक और भाषायी स्फूर्ति के साथ अभिव्यक्त जरूर हुई हैं लेकिन वैचारिक स्खलन की ओट में जीवन की लिज़लिजाहट के प्रति गीतकार का भावबोध बासी और सामान्यीकरण की हद तक रिरियाने लगता है। इस रिरियाहट में जीवन से जुड़ने की कशिश कम अपने को केन्द्र में रखने की चमत्कारमुखी शैली अधिक है। इनके गीतों में शाब्दिक तोड़-फोड़ अनुभूतियों को खण्डित कर देती है और वैचारिक दुराग्रह नपुंसकत्व नकार मुद्राओं में व्यक्ति-समाज को भ्रमजाल में उलझा कर मूल्यों की सकारता से काट देता है। इसलिए इनकी रचनाएं मुट्ठीबंध आक्रोश जीती हुई युवा होने से पहले ही दम तोड़ देती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुबह होने तक....युगल श्रीवास्तव

युगल श्रीवास्तव के गीतों का परिवेश सहज और सरल है। भौतिकता और वायवीय कल्पनाओं से हट कर कवि आम आदमी के मनोवेगों को गीत की कथ्य-धुरी पर घुमाता है। कवि की रचनाएं 'किसी विशेष नीति अथवा प्रतिबद्धता से ग्रसित नहीं हैं अपितु अपनी अनुभूति एवं विचार मंथन की देन हैं' (*सुबह होने तक : पृ. 6*)। गीत की मनोभूमि आम-आदमी के इर्द-गिर्द ही सार्थकता तलाशती है। शोषित वर्ग की व्यथा-पीड़ा इनके गीत बोध का आचरण है –

"कहने को उसका गांव है/ पर उसका अपना घर नहीं
कैसा श्रम का स्वरूप है/ जिसकी गुज़र बसर नहीं
गायों का कृष्ण जरूर है/ पर दूध और का दुहे....।" (*पृ. 37*)

* * *

"क्यूं अंधेरी/ बस्तियां हैं/ अब तलक/ सारे दीपक कुछ घरों में/ जल रहे हैं.....
एक-सी आवाज/ आहट फुसफुसाहट/ तक नहीं है/
इन अंधेरों में/ किसी को कोई/ घबराहट तक नहीं है/
लोग हैं या साये-गूंगे/ चल रहे हैं.........।" (*पृ. 39*)

बिना किसी प्रयत्न के कवि-संवेदना विस्तृत होती चली गई है। "किसी कवि के रचनाकर्म की इससे बड़ी सार्थकता और क्या हो सकती है कि जिस ज़मीन पर वह खड़ा है वहां के हर स्पन्दन को उसकी रचनाओं में महसूस किया जा सके।"

'चक्रव्यूह है शहर' गीत के पौराणिक संकेतों से कवि महानगरीय व्यवहार को तीखी व्यञ्जना देता है। मशीनी जीवन जीते हुए चक्रव्यूही शहर में प्रवेश तो पा गए हैं लेकिन उससे निकास का कोई मार्ग नहीं। मकड़जाली विभीषिका की गिरफ्त इतनी नुकीली है कि आदमी जस का तस उससे निभाव के संघर्ष में उमर बिता देता है। जीवन का रचनाशास्त्र आधुनिक गणित हो गया है। शून्य से चालित जीवन का अलजबरा पाठ्यक्रम की वर्णमाला में कहीं फिट नहीं होता। जंग खाये पुर्जे-सा अर्थहीन मृत शब्द शक्ति हो गया है। दर्द गीतों को अलग पहचान देता है -

"गीत बहुत प्यासे हैं/ बहक न जायें कहीं
आज आंसुओं को/ जी भर पी लेने दो...
दर्द सिर्फ मेरा है/ जनम-जनम साथ रहे -
इसीलिए आंसू को सारी उम्र बोना है.....।" (*पृ. 29*)

हर सुबह की रात गहरी है लेकिन 'सुबह होने तक' धीर रखना ही कठिन होता है। कर्म जिज़ीविषा की आलोक-पूंजी अंधकार-वणिक की तिजोरी बिना चाबी के खोल देती है। कवि की रचना-मानसिकता कर्म-कुंजी की इसी वकालत से जुड़ी है। सवेरे की झीनी-झीनी कनिया अंधकार की छलनी से छन कर ही वृत्त बनाती हैं। इन वृत्त-लकीरों को गीतकार नये उत्साह के साथ रंगता है। जीवन-ग्रन्थ का पहला अध्याय कर्म की शक्ति और पराजय के तिरस्करण से आंखें मिलाता है। इसीलिए कवि बेहिचक स्वीकारता है –

"जिसने भी बढ़ के/ उठा ली है/ अपने हाथों में
ज़िन्दगी बन के नशा/ उस रिन्द के/ नाम रही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बहना है फिसलते चलो/ अपने लिए दूसरों के लिए
वरना शह खाके उतर जाओगे/ गुनाहों में सुबह होने तक....।" (*पृ. 36*)

अंधकार वृत्तों में कर्म-जिज़ीविषा ही सुराख करती है। सुराखों से झरोखे मुस्कराते हैं। सुबह की आशा में ही पथ-निर्माण होते हैं, पगडण्डियां खुद बनती जाती हैं। मनुष्य यदि पद-चिह्नों को दी देखता आगे बढ़ेगा तो 'दोष न देना/ पांवों की गति ही सो जाये....' (*पृ. 38*)। कवि ताकीद करता है, अंधेरे तभी जलते हैं जब मशालें जलती हैं। इसलिए हजारों ठोकरें खाकर गिरने और लहुलुहान होकर ही ज़िन्दगी सम्हलती है। घुप्प नीम के अंधेरे से ही सुबह शिशु किलकारियां मारता उमगता है (*पृ. 63*)।

उग्रवादी आतंकग्रस्त स्थितियों ने हमारे भीतर के हरेपन को चटका दिया है। हरापन जब टूटता है तब हृदय की शान्त लहरियां सिसकने लगती हैं। ऐसी सिसकनें ही आदमी को आदिम और बौने होने का अहसास देती हैं।

टेकपंक्ति वाले गीत संक्षिप्त हैं। गीतों में लय, तुक, संगीतात्मकता की व्यवस्था है –
'इस तरह लय और धुन/ गीत की व्यवस्था है' (*पृ. 76*)

'गोबर' और 'धनिया' जैसे प्रतीकों के माध्यम से गीतकार ने तीखी व्यंजना दी है। 'उधार की उमर' गीत में फसल दुल्हन और किसान दूल्हा है जिसके ब्याज से कवि किसान की दुर्दशा को अक्स करता है –

"ये हल, ये बैल, ये खेत/ शर्त्त में किसान के हुए।
जब भी फसल दुल्हन बने/ दूल्हा किसान न छुए।" (*पृ. 37*)

'अग्नि परीक्षा न लो' गीत में सांगीतिक शब्दावली का सुन्दर निदर्शन है –

"बांसुरी पर हाथ मत धरो
बजने दो सांसों-स्वर/ आरोह-अवरोह पर....
सिसकनों की मिजराव से/ रागिनी के कंठ खुल रहे...।" (*पृ. 48*)

'तट भीगा' गीत में 'भीगा' शब्द का बार-बार प्रयोग गीत में एक ख़ास ऋदम पैदा करता है। पुनरुक्ति के साथ-साथ आन्तरिक लय की गूंज गीत कथ्य को तीव्रता से सम्प्रेषित करती है –

"तट भीगे, पनघट तक भीगा/ घट भीगे घूंघट तक भीगा
अंग-अंग भीगा ज्यों नदिया/ में लहरें उठ कर बल खायें...
छत भीगी आंगन तक भीगा/ बिंदिया से कंगन तक भीगा
भीगे नयन, नयन में सौ-सौ/ सावन की उठ रही घटायें
दिन भीगा रातें तक भीगी/ सखियों संग बातें तक भीगी
छेड़-छाड़ में भीगी यादें/ भीगी सिंदूरी संध्यायें।" (*पृ. 56*)

'अग्नि परीक्षा' (*पृ. 48*), 'पांसे गलत गिरे' (*पृ. 49*), 'चक्र व्यूह' (*पृ. 69*) जैसे पौराणिक-प्रतीकों का प्रयोग कवि की अभिव्यक्ति को गहराव देता है।

मुक्त छन्द के साथ युगल ने ग़ज़लें भी कहीं हैं। ग़ज़लों के मूल कथ्य में गीतों की वही दुःख-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्दीली ऋदम है –

"टूटे हुए दरख़्त की है/ छांव ज़िन्दगी
दुर्भिक्ष की शिकार हुई/ गांव ज़िन्दगी।" (पृ. 49)

"आंसुओं के गमों से क्या रिश्ते/ फूल, पौधों का दर्द कैसा है
गीतकारों के गीत महफिल में/ बे जुबानों की बात करते हैं।" (पृ. 57)

कथ्य, लय, तुकान्त की दृष्टि से ग़ज़लें आकर्षित करती हैं। लोक गीतात्मक शैली का प्रयोग मन को खुशबू देता है। 'चलो री चिड़िया' (पृ. 25) लोकगीत में कृषक-जीवन की त्रासदी को घोल कर लोक शैली में गाना मात्र इस गीत का उद्देश्य नहीं है अपितु इस गीत में किसान के रूप में भारतीयता का मानचित्र अंकित है।

सर पर तपता, शिखर सूरज, दुर्बल कन्धों पर हल, कर्ज़-जोंक को खून पिलाता शोषित कंकाल, धरती का सीना चीरते स्वेद-मोती, मुनिया की शादी-गौना, बैलों की चिन्ता, पनघट की रसीय उड़ान, कपड़ा मापना, घर लीपना, गाय-बछड़ों का रम्भाना आदि सभी दृश्य-बिम्ब पट परिवर्त्तन कर आंखों में तैरते चले आते हैं।

अतः युगल के गीतों में चहुंमुखी जीवन को गहराई से नापने की कोशिश है। परिवेश-चुभन कीलती है, अनुभूतियां मन की सतहों को खुरचती हैं। इनमें यथार्थ से आंख मिलाने की ताकत है। शोषण के विविध रूपों को कुठारती जनवादिता इनके गीतों की शक्ति बन कर समकालीन मानसिकता को प्रतीकित करती है।

जलधारी चौपाल : बद्री विप्लव

जिन प्रतिभाओं को अपने अनुकूल वातावरण मिलता है और उसमें वे फलती फूलती हैं तो आश्चर्य नहीं होता परन्तु विपरीत वातावरण में जो प्रतिभाएं ललकती हैं वे सच्चाई लिए हुए साधिका प्रतिभाएं हैं। बद्री विप्लव (*बद्री प्रसाद शर्मा, उपनाम 'विप्लव', मूलतः उत्तर प्रदेश*) एक ऐसे ही गीतकार हैं जो सैनिकों के बीच शस्त्रमय वातावरण में रह कर गीत रचना के लिए अत्यन्त व्याकुल रहते हैं। कवि तो कवि है, वह कहीं भी हो उसकी प्रतिभा जीवन के मर्म को समझती और पहचानती है। बद्री विप्लव के कवि ने जाबांज सैनिक धर्म निभाते हुए समाज में जो पतन और भ्रष्टाचार का नग्न सत्य देखा है, उससे उनका मन द्रवित होकर गीतमुखी हुआ। वस्तुतः बद्री के संस्कारों में गीत है, वह जहां भी होते धरती-गर्भ से अंकुराये विटप की तरह उनके गीत संस्कारों की लता ने फूटना ही था। बद्री के गीतों में उत्तर प्रदेश का मीठा पानी मचलता है, अरहरी खेत की गंध हिरण कुंलाचे मारती है, इठलायी सरसों इनकी पंख रंगीनी को खलिहानों से जोड़ती है। प्रदेश के लोकधुनों की उठान इनके गीतों में ईख का गुनगुना रस घोलती है। इनमें उ.प्र. की लोक धुनें और लोक संगीत न रमे होते तो आश्चर्य होता। उ. प्रदेश का संगीत तत्व और अल्हड़पन इनके गीतों को माधुर्य देता है। सामाजिक वैषम्यमूलकता इनके गीतों को पीड़ित करती है –

"यह कैसा समय है/ न भाई चारा/ न अनुनय विनय है...कैसा समय है?"

इस गीत से परिवर्तित समय की कड़ुवांहट और वर्त्तमान जटिल यथार्थ से परिचय होता है। इस कड़ुवाहट को छान कर बद्री की संस्कार-घुलावट आज भी भारतीय श्रद्धा भाव को गाती-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगाती है। वह अपने विश्वास को भारतीय मिट्टी की गंध से रचता है। रचाव के इस दर्शन में ही भारतीय संस्कृति का विराट्त्व बोध है –

"श्रद्धा मैत्री की है जननी/ सद्भाव बांटते जायेंगे...।"

इस पंक्ति से गीत कवि का आदर्श और उदारभाव पूर्णता की ओर बड़ता जाता है। गीत का चरमोत्कर्ष रचनाकार हृदय के सरोकारों को बुलन्दी देता है –

"जीवन क्रम से मुक्ति मिलेगी उन्हीं को/ जो नेकी की राहों पर चले जा रहे हैं।"

(*सभी उद्धरण गीतकार द्वारा प्रेषित सामग्री से*)

आकाशवाणी, कवि-गोष्ठियों के माध्यम से अचानक साक्षात्कृत हुए बद्री विप्लव में 'विप्लव' जैसी क्रान्तिकारिता नहीं है। स्वभाव से चंदन, वाक् से शालीन, व्यवहार से मर्यादित, आचार से संयमी, वेशभूषा से जागरूक प्रहरी, विचारों से आस्तिक, संकल्प-समर्पण से एकनिष्ठ राष्ट्रभक्त, दृढ़ता में अंगद, आंखों में झांकती वैचारिक गहनता, हृदय से भावुक संवेदनशील, चारों ओर फैले असंतोष से विक्षुब्ध, जीवन और व्यवस्था में कदम कदम घुस आयी नकार राजनीति से दंशित, भारतीय सांस्कृतिक-मूल्यों की सामुद्रिक क्षमता से पुलकित बद्री प्रसाद शर्मा गांव की चौपाल की तरह अपने हैं, पनघट की तरह सहज और जलधारी। अभी तक नगरीकरण ने उनकी संवेदनाओं और विचारों को बंधुआ नहीं बनाया है। सहज जीवन और व्यवहार अभी उनमें ज़िन्दा है। इसके बावजूद 'विप्लव' उपनाम इन्होंने क्यों और कैसे रखा, मैं नहीं जानता। लेकिन इनका कोई भी रूप 'विप्लव' शब्द को सार्थक नहीं करता। इस दुनिया में आदमी तो बहुत हैं इंसान खोजे से भी बमुश्किल मिलते हैं। कुछ भी होने से इंसान होना सब से बड़ा है। बद्री पहले इंसान है बाद में कुछ और। कुल मिलाकर ये ओजस्वी आनन के लालित्य से मंडित और सालिग्राम में प्रच्छन्न तांडव की स्फूर्ति से समादृत एक बहुत ही नेक और अच्छे इंसान हैं। इनके पास सुन्दर द्रवणशील करुणायी हृदय है। हिन्दी मंच वाले इन्हें बेच न खायें यही साहित्य देवता से प्रार्थना है।

बद्री विप्लव वायु सेनाधिकारी हैं। ये निर्भय, निश्छल, अकृत्रिम स्वरों में अपनी अनुभूति के अनुसार गाते हैं। गीत-गोष्ठियों में गूंजता अनुशासित अधिकारी व्यक्तित्व का संभ्रान्त स्वर सब को मोहता है। इसलिए एक गीत बार बार सुना जाता है, परन्तु धुन, मात्रा-संकोच, स्वर के प्रवाह और कंठगत गुंजन का गांभीर्य इनमें सदा समान रहता है। हमारे बहुत से ऐसे गीतकार हैं जो साल भर में मौसम के अनुकूल बारह धुन बदलते हैं। विप्लव ने अभी हिन्दी साहित्य का 'गांभीर्य' नहीं देखा है। राजनीति का साहित्यिक होना सह्य है परन्तु साहित्य का राजनीतिक होना महा भयंकर है। विप्लव का स्वाभाविकता से गाने वाला मन इसी अल्हड़ता से गाता रहेगा - यह विश्वास करना होगा। विप्लव छन्द के सामवेदों का अध्ययन करें। गीत तो साधना चाहता है। कुछ भी हो साहित्यिक गीत की कुछ शर्तें तो अनिवार्य हैं ही।

विप्लव के गीतों में गांव की संस्कारी गूंज सांस्कृतिक मूल्यों के ताप में पिघल कर गीतद्रवी हुई है। बाहर का रूप तो कौन कहे परन्तु जब कभी उनसे साक्षात हुआ उन्हें अत्यन्त प्रसन्नवदन व्यक्ति पाया, गीत की तरह तरल। उनकी मनुष्यता निष्कलंक है। मनुष्यता की छाया में जो गीत समय की छलनी में धूप-रोशनी ले कर छन रहा है, उसका परिष्कृत परिणाम किस रूप में अभिव्यक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो यह तो समय-साधक जानें, मैं तो इतना जानता हूं कि बद्री विप्लव के मन में गीतकार प्रहरी की भांति जागृत है। उसे जैसे ही कुछ चुभता है, वह गा उठता है। उसे गाने के लिए दरबारी-माहौल नहीं चाहिए। दरबारी सुनें तो उसे सराहें, उनकी इच्छा है। आतिथ्य-आह्लाद से आप्लावित बद्री विप्लव का मन गीतकारों के बीच बर्फखण्ड की भांति पिघल कर नदी हो जाता है। मां के वात्सल्य-बोल इनके गीतों का सरस्वती मुख है।

विप्लव का गीत-शिशु बचपन से कैशौर्य की ओर है। गीत मात्र शब्द-संयोजन नहीं है। गीत में संगीत का साहचर्य महत्त्व रखता है परन्तु मात्राओं का अनुशासन वांछनीय है। जो प्रगतिशील होते हैं और हृदय से उन्नति के इच्छुक हैं उन्हें गीत के इन अनिवार्य तत्वों के प्रति सावधान रहना चाहिये। विप्लव भाई छन्द की संसाधना को सैनिक भावना से ग्रहण करें और उनका संग्रह अपने छान्दस मात्रा-मैत्री के साथ गीत संकलनों के रूप में हम से मिलें तो हमें हार्दिक प्रसन्नता होगी और अपने श्रम की सामर्थ्य सार्थकता सिद्ध होगी। अब हिन्दी गीत अपने भीतर की अनुशासन प्रियता को पहचान रहा है। साहित्य की वक्र दृष्टि अभी गीत की ओर है।

प्रमुख नवगीतकार

जो गीत साधक मंच से अलग चिन्तन और साधना पूर्वक गीत लेखन में निरन्तर रत हैं वे वास्तव में नवगीत परम्परा के संरक्षक हैं। ऐसे नवगीत लेखक अनेक हैं उनमें **योगेन्द्र दत्त शर्मा** का नाम बड़ी सादगी से लिया जाता है। इस गीत कवि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि प्रचार-माध्यमों से जुड़ा होने पर भी वह स्वयं को उद्घाटित नहीं होने देता। जो प्राप्त करता है वह अपनी रचना के बल पर। पत्र-पत्रिकाओं में इनका गीत-प्रकाशन भी रचना के स्तर पर हुआ है। संचार के अन्य जो साधन हैं उसके लिए आग्रहशील न होने के कारण सुधी जनों तक ही इस गीत-कवि की पहचान है। नवगीत के भावजगत् को योगेन्द्र ने बड़ी बारीकी से पहचाना है। नवगीत मानवीय संवेदना की तरल अभिव्यक्ति लेकर आया था। योगेन्द्र के गीतों में पीड़ा पलकों को भिगोती है। इनके गीत एकान्त के संवेद्य गीत हैं। वे जितनी बार पढ़े जाते हैं, उतना ही रस देते हैं। इस रसमयता का कारण ही यह है कि ये गीत सहज संवेद्य है, इनमें कृत्रिम और आरोपित अनुभूतिपरकता का अभाव है।

योगेन्द्र दत्त शर्मा स्वभाव से संकोची और मौनसाधक है। इनकी दृष्टि में रचना की उत्कृष्टता ही किसी भी विधा को श्रेष्ठता प्रदान करती है। यह सत्य भी है विधा कोई भी हो उत्कृष्टता ही कसौटी है। योगेन्द्र प्राणवान गीत कवि हैं जिसने अपने गीतों में जीवन की तीव्र अनुभूतियों को संवेदनशीलता के साथ व्यक्त किया है। समाज का स्वरूप अब अत्यन्त विकृत हो गया है। प्रायः सभी इस तथ्य को व्याख्यायित करते हैं। मनुष्य की विवशता ने सब ओर से अवमूल्यन का वातावरण उत्पन्न कर दिया है –

"चांदनी ने गंध अपनी/ कौढ़ियों में बेच दी है/ आज की यह त्रासदी है!"

(नवगीत दशक - 3 : पृ. 81)

मनुष्य की सभ्यता लुप्त होती जा रही है। सभ्य मनुष्य समाज में अधिक त्रस्त हैं –

"सभ्यता के मोड़ पर/ सहमी हुई मन की नदी है।" *(पृ. 81)*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योगेन्द्र के गीतों में सहजता और मुकुरधर्मी अभिव्यक्ति का सौन्दर्य है। इन्होंने नवगीत लिखने के लिए गीत नहीं लिखा, जो उसे सूझा, अनुभूति को व्यक्त करने के लिए जो उसे रुचा उसे उसने अपना लिया। उसके कहन में कसावट और कसाई है। जीवन कहां से कहां आ गया -

"उड़ गई किरचें हवा में/ कांच की मेहराब टूटी,
एक चुप्पी धर गयी/ पीछे कहीं आवाज छूटी...।" (*पृ. 87*)

आवाज का छूटना उज्ज्वल इतिहास की स्मृति के प्रति सात्विक आकर्षण है। प्रायः नयी पीढ़ी अतीत को दुत्कारती है। इतिहास के दोषों को रेखांकित करना युवा पीढ़ी का स्वभाव हो गया है जबकि प्रगति के लिए उसके स्मरणीय प्रसंगों को दुहराना जरुरी है। योगेन्द्र में एक सुसंस्कृत वातावरण की संस्कृति का सौरभ है, अतः उसके प्रति स्नेह भी सहज है। आज की पीढ़ी का भटकाव और प्रश्नों भरा जीवन ही जैसे उसकी नियति हो गई है –

"उमर गुजरी सवालों में/ जबाबों के लिए भटकीं/ सदा अंधे उजालों में।" (*पृ. 82*)

इस प्रकार की अभिव्यक्ति प्रायः सभी नवगीतों में मिलती है परन्तु योगेन्द्र के गीत अभिव्यक्ति की ताज़गी और अकृत्रिम प्रतीक लिये हुए हैं।

मनुष्य-मन अनुभूतिप्रवण पारा है लेकिन यह ग्राह्यता पर निर्भर है कि व्यक्ति विशेष को अनुभूति कहां तक आस्वाद्य है? कृत्रिमता को भी शहद बना कर कहने की कलात्मक शैली में योगेन्द्र का जबाब नहीं है। इन के अधिकांश नवगीत एक सम्वाद उपस्थित करते हैं। इन नवगीतीय सम्वादों में जीवन की सांसें संतुलित गति में धड़कती है। बाग में घूमते हुए आपके सामने यदि एकदम तितली के पंख का कटा हिस्सा उड़ कर आ जाये तो संवेदनशील मन में अनुभूति तापित हो कर उजड़े खण्डर की प्रतीति देगी। श्री शर्मा की विशेषता यह है कि वे ऐसी अनुभूतियों को भी शाब्दिक रेशमी अर्थों में संगीतमय बना देते हैं –

"एक टूटा पंख तितली का/ कहां से आ गया?"... (*खुशबुओं के दंश : पृ. 42*)

इस और ऐसे ही प्रतीकों से वह पीड़ा के चरमोत्कर्ष तक पहुंच जाते हैं जहां जिज़ीविषा फिर से यौवनानुभव सम्पन्न होती है –

"एक टूटा पंख तितली का/ उमगता आ गया
खुशबुओं से फिर नई/ पहचान सी करवा गया।".. (*पृ. 42*)

इन्हीं 'खुशबुओं के दंश' से ये गीत-कविताएं जन्मी हैं।

बड़ा विचित्र संयोग है कि योगेन्द्र के साधारण (अत्यन्त) व्यक्तित्व में कृतित्व का ऐसा प्रोज्ज्वल रूप निहित है। नवगीत के नाम पर अनगिनत लोग लाइन में लगे हैं परन्तु श्री शर्मा के नवगीत नवगीत की मानक अनुभूति-प्रतीतियों के आन्तरिक झरोखे खोलने वाले हैं। अनुभूति की सूक्ष्म अभिव्यंजनाओं का प्रतीति द्वार अनेक बार बाधित हो जाता है जब योगेन्द्र अखरने वाले प्रयोग करते हैं। अभिव्यक्ति की नव्यता का अर्थ अप्रचलित प्रयोग नहीं है। यथा –'खड़ा हुआ गंगा जल' (*पृ. 25*)। जल का खड़ा होना नितान्त अप्रचलित है। जल रुका हुआ होता तो रूढ़ता के प्रति कहीं अधिक सार्थक प्रयोग होता परन्तु खड़ा क्रिया जल के साथ असंगत-सी प्रतीत होती है। जनमानस की रूढ़िगत अन्तर्भावनाओं के साथ खिलवाड़ नहीं करना चाहिए। गंगा के साथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारी भावनाएं जुड़ी हैं। चिन्तन में श्री शर्मा मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं। साहित्य को राजनीति का स्पर्श नहीं मिलना चाहिए भले ही राजनीति को साहित्य का स्पर्श मिल जाये। योगेन्द्र राजनीतिक आचरण के प्रति नितान्त विद्रोही है। उनका यह कथन अत्यन्त प्रेरक है –

"मंच की कंठस्थ गूंगी/ भूमिकाओं में/ भर सके तो आग भर/ ठंडी हवाओं में।" (*पृ. 41*)

यह आग विचार की ऊष्मा लिए हुए है। अस्वीकार, एकाकीपन की पथरीली जड़वत स्थितियां इस वैचारिक ऊष्मा के लिए ईंधन का कार्य करती है –

"आदमी क्या/ सिर्फ पथराये हुए चेहरे
सनसनी पहने/ कुएं में डूबते गहरे
नब्ज़ अपनी किन्तु/ बेजानी धड़कन।" (*पृ. 65*)

योगेन्द्र के बिम्ब जीवन के भौतिक-अनुभवों से सम्पृक्त हैं। प्रकृति भी जीवन का हाथ पकड़ कर गतिशील होती है। जीवन का स्वरूप ऐसे हो गया है कि प्रकृति स्वयम् में स्वतन्त्र रूप से चिन्तनीय, विचारणीय और अनुभवनीय नहीं रह गई है। वर्त्तमान आवश्यकताओं और व्यवसायों के बीच सृजन की पीड़ा अनेक स्थानों पर अभिव्यक्त हुई है। पीड़ा तो सामान्य ही है परन्तु उसके लिए कुछ नए प्रभावात्मक भाव दृश्य उपस्थित करने में योगेन्द्र को विशेष सफलता मिली है। योगेन्द्र के गीतों में फागुन आने पर देह कसमसाने लगती है, आपके आने पर वसन्ती दिन लौट आते हैं, झुलसी धूप में तुम्हारा आना मेघ जैसा लगता है, और भी न जाने क्या क्या प्रकृति से लिया, दिया। इसका भी एक इतिहास है, अतीत है, स्मृतियां हैं –

"कितना कुछ छूट गया पीछे!
वे पोखर, ताल, नदी, झरने
घास-पात, आम के बगीचे!" (*पृ. 79*)

इस पीछे छूट जाने में स्मृति योग्य भी जो है वहीं कलात्मक दृष्टि है। उसे हिरनी की दो आंखें और बांहों की तरह फैली शाखाओं की याद आती है परन्तु गीत कवि की दृष्टि का औदार्य दृष्टव्य है –

"मां-सी वह नम्र हरित छाया/ मन को है छाती से भींचे....।" (*पृ. 79*)

इसमें मन को छाती से भींचना कह कर गीतकार ने एक पृथक भावना-स्पर्श दे दिया है। मां जैसी विनत छाया कह कर यह नारी के समर्पित भाव को पवित्रता की श्रद्धांजलि है।

योगेन्द्र नये प्रतीकों के साथ नयी शब्दावली भी लाए हैं। किसी भाव-विशेष को शब्दों की ध्वनि- प्रक्रिया से अनुभूति के स्तर तक लाने में यह गीत-कवि अत्यन्त कुशल है। यह कुशलता काव्य संस्कार से आई है। इस गीत-कवि का वातावरण काव्यात्मक रहा है। पिता के काव्यगत संस्कार ने छन्द के प्रति सावधानी दी है। मात्राओं का सही संचयन छन्द को वाचन और गायन शैली में सुविधा देता है। योगेन्द्र ने छन्द के निर्वाह में इसका पूरा ध्यान रखा है। लयात्मकता के कारण शब्द कहीं भी नहीं टूटता और न ही शब्द के कारण कहीं लय भंग होती है। इनमें पंक्तियों को तोड़-मरोड़ कर शैली-वैचित्र्य उत्पन्न करने की चेष्टा नहीं है।

संक्षिप्त, टेकपंक्ति वाले इनके नवगीतों में आन्तरिक लय की सुनियोजना है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सुगना/ जो पिंजरे में बंद हुआ/ राम-राम रटता है
कहता है-नीली छत छूट गयी/ हवा नहीं/ सांस घुटी
टिटकारी/ जाने कब छूट गयी
एक-एक दिवस/ यातनाओं में काटता है।" (*पृ. 42*)

योगेन्द्र का कवि रचना में जितना उत्कृष्ट है, सृजनशीलता में उतना ही निरपेक्ष एवं आलसी है। ऐसे अनेक गीत-कवि हैं जो रचना की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं परन्तु उनका आलस्य आक्षेप की सीमा तक पहुंच जाता है। इस दृष्टि से मंच साधने वाले नवगीतकार आगे हैं क्योंकि सृजनशीलता में भी वे तीव्र गति से चलते हैं जो आवश्यक है। समयानुकूल रचना के प्रकट न होने से उसके रस को समय पी जाता है। योगेन्द्र के लेखन में उतनी तेज़ी नहीं है। नवगीत के अभ्युत्थान में ऐसी प्रतिभाओं का योगदान ऐतिहासिक महत्त्व का सिद्ध हो सकता है। मौन साधना को सिद्धि की ओर मुड़ना चाहिए। नवगीत अब कुछ नया परिवर्त्तन चाहता है। योगेन्द्र के गीतों से गीत-कवि की क्षमता का परिचय मिलता है। सतत सृजन, प्रोत्साहन और प्रकाशन की आवश्यकता है। किसी भी हो-हल्ले से दूर रह कर घर का एकान्त भोगना ही शर्मा की रचनाधर्मिता है। वे बहुत अच्छा सोचते हैं और बहुत अच्छा कहते हैं। शान्त प्रकृति के सौम्य गीत कवि योगेन्द्र दत्त शर्मा आज भी नवगीत सृजन में व्यस्त हैं। इनके नवगीतों में संगीत का अन्तः स्वर झंकृत है।

पारम्परिक गीत ने जब नवगीत का चोला अपनाया तो वे ही गीतकार नवगीत की ओर मुड़ गए। **शिव बहादुर सिंह भदौरिया** ऐसे ही नवगीतकार हैं जो मंच से अधिक जुड़े रहे। भदौरिया के नवगीतों में दैनन्दिन जीवन की क्रिया-कलाप संहति अधिक मुखर हुई है। उसका एक कारण यह है कि भदौरिया का क्षेत्र विस्तृत नहीं रहा। उन का अनुभूति-क्षेत्र कुछ सीमित रहा। उनके गीतों की अनुभूति वहीं घूमती रही। भदौरिया के नवगीत गीत की एक नयी धुन लेकर आए हैं। इन गीतों में भावना प्रधान है। भावना की तरी पर बैठा यह शब्दों का नाविक अपनी सादगी, सहजता और सरलता का गुण लिए नवगीत की बांसुरी बजा रहा है।

भदौरिया जीवन का कवि है। जीवन में जो अभाव, घुटन और विषमता है उसे नयी उद्भावनाओं और भंगिमा के साथ भदौरिया ने अभिव्यक्ति दी है। अपने जीवन में वे जिस प्रकार भोले भंडारी हैं उसी प्रकार नवगीत में भी वही सादगी है। कवि के गीत-मन ने प्राकृतिक परिस्थितियों को अपने गीतों में पूरा महत्त्व दिया है। साथ ही साधारण जीवन की घटनाओं को भी अपनाया है। इनके गीतों में व्यक्ति की कसमसाहट और पीड़ा को नये प्रतीकों के साथ अभिव्यक्ति मिली है। नदी, पहाड़, खेत, खलिहान आदि ने नवगीतों को नया आकर्षण दिया है। भदौरिया नवगीत की पंक्ति में खड़े ऐसे गीतकार हैं जो अपनी मौन साधना से सरलतापूर्वक गीत गाते हैं। उस गीत में जीवन की अनुभूति तरलता से व्यक्त होती है। उस अनुभूति को सुन्दर, सरस और कुछ नयापन देने के लिए घिसे-पिटे प्रतीक न लेकर उन प्रतीकों और बिम्बों को खोजते हैं जो जीवन से जुड़े होने पर भी गीत के होठों पर नहीं आए। घर-गृहस्थ में सास-नन्द, भाई-भाभी और ऐसे ही अनेक सम्बन्ध जब कुछ नये सन्दर्भ और नये शब्द की गठन लेकर गीत में गुंथते हैं तो उन का रस सहृदय को मधुर आनन्द प्रदान करता है। प्रणय का एक हंसता हुआ रसीला बिम्ब

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखिए –

"भर हथेली में हथेली/ राग से, कसते हुए दिन आ गये।
फूल-पत्तों के नये श्रृंगार ये,/ प्यार के पांवों पड़े उपहार ये;
खिलखिलाते खेत, हिलती डालियां,/ बाग से/
हंसते हुए दिन आ गये।" (*नवगीत दशक - 1 : पृ. 98*)

यहां यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि नवगीत भी अब जैसे रूढ़ होता जा रहा है। भाव, भाषा और छन्द की दृष्टि से जो नव्यता के प्रति आग्रह, खोज और गठन प्रारम्भ में मिलता है उसमें कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं आया। भदौरिया की विशेषता यह रही कि उन्होंने इधर-उधर के षड्यन्त्रों द्वारा या सम्बन्ध बना कर उन्हें भुनाने की या अपने को प्रतिष्ठित करने की कोशिश नहीं की जैसे इस दिशा में अनेक तथाकथित स्वयंभू गीतकार करते रहे या अपने मसीहयाई की छाया लेकर गुर्राते रहे हैं। जैसे इनका साधारण व्यक्तित्व है वैसा ही स्वभाव इनके गीतों में झलकता है। इन की स्वभावगत सीधी अभिंव्यक्तियों में भी तलस्पर्शी गहराई है। इस गहराई में उतरने की कोशिश करें –

"मीड़-मूर्च्छनाओं का/ उठना-गिरना मुझ में हो/
जो भी प्यास पकड़ ले कगरी, भर ले जाये खाली गगरी/
मच्छ मगर घड़ियाल-/ सभी का रहना मुझमें हो।....
मेरा बदन काट कर नहरें/ ले जायें पानी ऊसर में;
जहां कहीं हो, बंजरपन का मरना मुझमें हो।" (*पृ. 104*)

इन्होंने भावाकुल क्षणों को कुशलता से गीत में बांधा है। वे परिवर्त्तनशील गीत यात्रा के सहचर गीतगामी हैं। भदौरिया के संस्कारों में गीत की पवित्रता है। वे गीत को साधना मानते हैं। इसीलिए उनकी दृष्टि में समाधि शिथिल रचना वास्तविक गीत नहीं बन सकती। समाधि जीवन-चिन्तन की आत्मगृहीत स्थिति है। जीवन की विशदता इस समाधि में व्याप्त रहती है – "उसमें प्रकृति चित्र, प्रेम की मनः स्थिति, युगीन संत्रास, कुंठा और तीव्र विरक्ति आदि कुछ भी हो सकता है।" भदौरिया के गीत इसके प्रमाण-बिम्ब है। नवगीतों में अनुभूति की सघनता कलात्मकता के साथ जीवन की वर्त्तमान अर्थ छवियों को पकड़ती है। जीवन के आंगन से उत्पन्न ध्वनियों को इन्होंने नवगीत लय दी है। जीवन समस्याओं से घिरा है, विवश है –

"पंख कटी चिड़ियों-सी घूमती समस्याएं/ प्रतिक्रियाएं बांझिन छिपती दायें-बायें/ भरे पुरे आंगन खोखले हुए..........।" (*पृ. 100*)

यह चित्र है वर्त्तमान जीवन का। गीत मात्र भावुकता व्यक्त नहीं करता, वह यथार्थ का गायन भी है। भदौरिया ने गांव के प्रकृति चित्रों को बड़ी सफलता से उकेरा है। फागुन का प्रारंभ कितना अच्छा है –

"आमों की शीश/ मौर बांधने लगा फागुन....।" (*पृ. 99*)

इसी प्रकार –

"पूरब दिशा, कन्त कजरायी, फिर आसार दिखे, पानी के....।" (*पृ. 98*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी तरह के गीत हैं जो मन को पुलकित करते हैं। सामान्य जीवन की उदासी और कुंठा को भी कवि ओझल नहीं करता। वह सब में समा जाना चाहता है – "मेरी कोशिश है कि नदी का बहना मुझमें हो.." (*पृ. 103*)। इसके साथ ही भदौरिया के एक गीत की चर्चा बहुत हुई थी – "पुरवा जो डोल गई।" यह गीत 1954 में धर्मयुग में प्रकाशित हुआ था। 'शिंजिनी' के बाद भदौरिया का दूसरा गीत संग्रह इसी शीर्षक से प्रकाशित हुआ। भदौरिया सौम्य स्वभाव, शील और सादगी की साक्षात् मूर्ति और एक सरल पर दुःख कातर कवि हैं। उनमें गांव का भोला मन सदा गूंजता रहता है। प्रचार प्रसार से दूर वे वस्तुतः गीत-समाधि में संलग्न हैं। गीत की भीतरी नादात्मक गूंज भदौरियों के अन्तर्मन की पुलकन है। अकृत्रिम व्यक्तित्व, अकृत्रिम गीत यही भदौरिया की विशेषता है। भाव और भाषा में सहज नवगीत में वे जहां असहज हुए हैं वहीं उन्होंने छापक, छिडल, कोहबर आदि शब्दों से गीत को बोझिल कर दिया है। लोकसंगीत का पूरा प्रभाव भदौरिया के गीतों पर है।

भदौरिया शुद्ध मंचीय गीतकार हैं। अब मंच भी सम्बन्ध के आधार पर प्रतिष्ठा देता है और यह ऐसा गंभीर गीतकार है जो मंच पर भी स्वयं को विज्ञापित नहीं करता। इनकी प्रस्तुति अकृत्रिम और सहज सम्प्रेषणीयता के गुण से मंडित रही है। शम्भूनाथ सिंह की अव्यक्त छाप इनके नवगीतों पर है। इससे उनकी मौलिकता आशंकित नहीं होती। वह स्वयं में समाधिस्थ हैं और नवगीत की साधना में रत है। भदौरिया का नवगीत आरोपित नहीं है। ये गीत प्रयास रचित नहीं है। इनमें प्रकृति का प्रकृत लावण्य है। छोटे-छोटे गीत अपेक्षित प्रभाव छोड़ते हैं। नवगीत की धुन भी जैसे अब रूढ़ हो गई है। अनेक नवगीतकार एक से ही स्वर में नवगीत पढ़ते मिलते हैं। भदौरिया धुन की दृष्टि से भी अपवाद हैं, जैसे वीरेन्द्र मिश्र और सोम ठाकुर हैं परन्तु हमारे कानों में नवगीत की धुन समा गई है। भदौरिया कहीं कहीं इस दृष्टि से प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। इनके छोटी बहर के गीत मन को अधिक लुभाते हैं। इन गीतों की लघुकायता में संतुष्टि और संपूर्णता का गुण है। ये अधूरे नहीं प्रतीत होते। प्रत्येक गाया गया क्षण अपने आप में पूर्ण प्रतीत होता है। पीड़ा भी हंसती हुई गाती है। जीवन की विसंगतियां अभिलाषा देती हैं निराशा नहीं।

बीस वर्ष की आयु से ही कविता के स्वर में बोलने वाले **गुलाब सिंह** गीतकार और उपन्यासकार के रूप में जाने जाते हैं। गुलाब सिंह का कवि जानता है कि आज गांव, नगर, महानगर में बदलते जा रहे हैं। गांव और नगर की संश्लिष्ट सभ्यता के बीच आज का मनुष्य जी रहा है। किसान का बेटा शहर में कोठी बनवा रहा है तो शहरी बाबू गांव में कॉटेज की रचना करवा रहा है। चारों ओर असुरक्षा का वातावरण है। राष्ट्रीय चरित्र की शृंखला में व्याप्त आडम्बर और झूठ के प्रभाव से कोई मुक्त नहीं है। गुलाब सिंह ने अपने नवगीतों के माध्यम से ग्रामीण जीवन की पवित्रता, निश्छलता, सच्चाई, सादगी को कुशलता से गाया है –

"घर-आंगन-चौपाल-चौतरा, झाड़-बुहार गयी/ बड़े सकारे किरन ओ सारे पाटी पार गयी।"

(*नवगीत दशक - 2 : पृ. 95*)

गांव की बेबसी –

"आया है भइया परदेस से/ घर में मनचाहे मेहमान-सा" (*पृ. 95*)

परन्तु आज गांव का यह रूप नहीं है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"शब्दों के हाथी पर ऊंघता महावत है,
गांव इधर/ लाठी और भैंस की कहावत है।" (*पृ. 97*)

गांव की विकृत दशा की पहचान इससे बड़ी और क्या होगी –'नहर गांव-भर की/ पानी परधान का..' (*पृ. 99*)। गांव की आंचलिक बोली सौन्दर्य-सरसता लेकर गुलाब के गीत नवगीत की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

गुलाब सिंह के गीतों के 'धूल भरे पांव' खेत-खलिहान के पसीने से चुआते हैं क्योंकि इनमें आर्थिक शोषण की दर्दमुखी व्यथायी चटकनें हैं। ऋतुओं की तरह धूप-छाया होता मानव अपना कद नापता तोलता रहता है –

"मिट्टी की दहलीज पुरानी/ सांकल लगे किवाड़े,
बरगद, बांस, धूप-सूरज के/ आ जाते हैं आड़े
ठण्डे नंगे पांव और यह/ ऋतु यात्राओं की।" (*धर्मयुग : 24 जनवरी 1984 : पृ. 34*)

महानगरीय संत्रास से विक्षुब्ध हर संवेदनशील प्राणी अपने गांव, गंवई संस्कारों की ओर लौटना चाहता है। कारण आज भी आत्मीय सम्बन्धों के सेतु-सूत्र वह अपनी मिट्टी एवं संस्कारों से जुड़े महसूस करता है। चौपाल और चूल्हा अब भी अन्दर कहीं ज़िन्दा हैं। घूंघट से झांकता पनघटी अपनत्व आज भी जुड़ाव देता है। सम्बन्धों की इस आत्मीयता के कारण ही 'बड़का भइया' के नाम नन्हें का खत भावों का अकूत सागर है जिसमें पारिवारिक संस्कारों की मर्यादा बड़ी शालीनता के साथ अग्रज बंधुओं का स्मरण कराती है –

"भूले-बिसरे लिखते/ सिलसिले तमाम/ नन्हें का खत/ बड़के भइया के नाम
देखो जो, यह खत भी/ अनदेखा मत करना/ घर भर का राम-राम/ गांव भर का सलाम।"
(*धर्मयुग : 8 फरवरी 1987 : पृ. 33*)

गुलाब-गीतों में मानवीय सम्बन्धों की सीमा प्रकृति, पशु-पक्षियों तक से रागात्मक नाता जोड़ती है –

"हरे लहरे खेत से टहकारती सोना पतारी
ले रहा बाबा हरी का नाम/ खींचती अम्मा पकड़ कर कोर चादर की
उठी दीदी/ जगीं अंगड़ाइयां/ खनकता आंगन संवरते बरतनों से
लीपती चौका औसारा/ भोर-सी भौजाइयां/ दोहनी में धार
तार सितार के बजते/ सुबह के संगीत होते काम।" (*धर्मयुग : 12 अगस्त 1984 : पृ. 33*)

भावनात्मकता पर पड़ा आधुनिकता का बौद्धिक अवगुंठन अनेक जगहों पर अपने आप पारदर्शी हो जाता है जैसे अचानक बिजली कौंध गई हो –

"शीशों के दिल दिमाग वाली/ महलों की महरिन-सी/ झुग्गियां
बूटों बंदूकों के पांव ढके/ अनुशासन पर्वों की/ लुग्गियां
सपनों का एक स्वर्ग/ सुलग रहा आंखों में/ नाकों में निन्यान्नवें नरक।"
(*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 22 जुलाई 1979 : पृ. 22*)

गुलाब सिंह का गांव से अधिक संपर्क रहा है। गांव के जीवन और उसके प्रकृति प्रधान

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रों से उसके गीत हृदयग्राही हैं। टपकनों की पोर-पोर चुभन भी आत्मीयता के साथ बतियाती है –

"टपरे का पोर-पोर टपके/ ओ बादल! कोने की आग तो बचाना,
आग यही - / जतनों से पा ली है/ बांकी तो सारा घर खाली है,
गहरते अंधेरों में जाग-जाग/ पड़ता है इसी को जलाना/
ओ बादल!......
पानी से नेह तुम्हें/ अपनी भी - उसी से सगाई
ओ रे सहगोती!
गांवों के देश की दुहाई/ आग मेरे पुरखों की थाती
बौछारों से नहीं बुझाना/ ओ बादल!............।"

(*धर्मयुग : 30 अक्टूबर - 5 नवम्बर 1987 : पृ. 22*)

गुलाब का यह कहना ठीक है कि – "नया ग्राह्य और पुराना स्मरणीय होना चाहिए। जन जन जागरूक् रह कर ही समाज को सुसंस्कृत बनाये रख सकता है तथा बाहरी दूषित प्रभाव से सुरक्षा प्रदान कर सकता है –

"दीवारें दुहरातीं - कैसी आज़ादी?
प्रश्नों के ऐसे भौंचक्कर में/ हमें नहीं भौंकना।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 97*)

चारों ओर यही दशा है। गीत कवि ने गांव की साधारण बोली के शब्दों का चातुर्य के साथ प्रयोग किया है –

"'धनियां', 'गुलकी/ भले दिनों की/ करतीं जोहा-जोही....
'लगुआ' की छलनी छाती पर/ लटके सूद-सिरोही।" (*पृ. 98-99*)

'धूल भरे पांव' किसान, मजदूर या मेहनतकश के ही हो सकते हैं। संग्रह का यह शीर्षक इन के ग्रामीण संस्कारों का मानकीकरण है। जीवन के सलौनेपन एवं संघर्ष सादगी को प्रतीकित करता यह शीर्षक वस्तुतः हुक्का गुड़गुड़ाती गांव की चौपाल है, गांव के प्रति अतिरिक्त लगाव का सूचक। जो लोग गांव का अर्थ छप्पर-गोबर, निरक्षरता समझते थे, वे वहां की 'गरीबी हटाकर' आश्वस्त हैं, लेकिन जो गांव का अर्थ भारत की आत्मा, भारत की अस्मिता समझते थे; वे बिजली की रोशनी में आंखें फाड़ कर तलाश रहे हैं – निश्छलता, सगापन, सादगी यानी संपूर्ण मानवता। गुलाब सिंह ने अपने गीतों के माध्यम से इसी स्थिति-सत्यों की वकालत की है। उन का यह प्रयास रहा है कि इनके गीतों में आधुनिकता के फैशनपरस्त दिखावे के मोह में पड़े समाज को अपना असली रूप देखने को मिले। जिन प्रश्नों पर उसकी आंखें बंद हैं, उनका अधिक पैना और चुभने वाला रूप देख कर, वह समाधान के लिए तिलमिलाहट का अनुभव कर सके (*साक्षात्कार : 9 मई 1986*)।

गुलाब के गीतों के बुनियादी सरोकार बिल्कुल स्पष्ट हैं। आदमी, आदमी के दर्द को समझ सके। शोषण-मुक्त समाज रचना में सहअस्तित्व और समता का महत्त्व स्पष्ट हो सके। आधुनिकता और वैज्ञानिक प्रगति की अंधी दौड़ में विश्व-विनाश के जितने साधन जुटाये गए हैं और समृद्धि की ललक में जितने अमानवीय उपकरणों पर निर्भरता बढ़ी है, उन को देखते हुए मनुष्य थोड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देर ठहर कर अपनी यात्रा और उपलब्धि पर पुनर्विचार कर सके तथा 'महानगर बोध' और 'ग्राम बोध' की विभाजनरेखा के पार एक मानवीय सम्बोध का अनुभव करते हुए, जातीय स्वाभिमान से भारत और भारतीयता की रक्षा कर सके और विश्व मानव के आदर्श को यथार्थ बना सके- यही इनकी गीत सम्पदा की वैचारिक भावनात्मक नींव है। इतने वर्षों से नवगीत की साधना में जुटे गुलाब सिंह सम्मानित और पुरस्कृत होने के बावजूद नवगीत की भीड़ में अलग चेहरा नहीं दिखा पाए। नवगीत की ऐतिहासिक परम्परा में उनका नाम है परन्तु उनकी किसी कृति को उल्लेखनीय चर्चा नहीं मिली। गद्य के क्षेत्र में भी उन्होंने 'पानी के घेरे' उपन्यास लिखा, उसकी भी कोई साहित्यिक प्रतिक्रिया नहीं हुई। 'चाहिए' का आदर्श और 'है' का यथार्थ, द्वन्द्व और तनाव की बुनावट के महीन तार कातते गुलाब के गीत वर्त्तमान अकुलाहटों का अन्तर्विरोध तो सामने लाते ही हैं, मानव-मन की आस्था प्रतीतियों को भी मुकुर करते हैं।

अनूप अशेष नवगीत का जाना पहचाना नाम है। पत्र-पत्रिकाओं में इनके नवगीत काफी समय से प्रकाशित होते आ रहे हैं। इनके गीतों में गांव की महक अधिक गूंजी है। गांव से जुड़ा आदमी शहराती सभ्यता में भी गांव-अनुभूति से पृथक नहीं रह सकता। आज विपरीत धर्म सामान्य प्रचलन हो गया है। जिन लोगों ने गांव की दोपहरी नहीं झेली वे भी गांव पर सहानुभूति पूर्ण कविता लिख कर अपने प्रामाणिक भोक्ता होने का दावा करते हैं। अनूप गांव से बहुत गहरे तक जुड़े हैं। इसीलिए इनके ग्रामीण परिवेशीय गीत गांव वालों के लिए न होते हुए भी सुपठित के लिए आकर्षण हैं। जीवन-अनुभवों को अनूप ने अत्यधिक नयेपन के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है –

"धूप के ताले हुए दिन/ गंध के भाले हुए दिन.....।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 35*)

आज व्यक्ति के लिए दिन के यही विशेषण महसूस हो रहे हैं। साधारण जीवन की गंध कवि तोता, पिंजरा आदि के सटीक संग्रहण से देता है। कवि गांव के माधुर्य को सुरक्षित रख महानगरीय व्यर्थता, प्रदर्शन, जीवन के अभावों को बड़े ही सूक्ष्म ढंग से व्यक्त करता है –

"घर की किल्लत, भूख बिमारी हंस कर सह जाना
भैया शहर नहीं आना.......।" (*पृ. 39*)

इस प्रकार के गीतों की सहजता और सम्प्रेषणीयता अत्यन्त उदार है। नवगीत की एक झोंक है जिस में बोधगम्यता उपेक्षित हो जाती है। आंचलिकता का आनन्द जब गीत बन कर फूटता है तो वह मात्र अपनी परिधि को संतुष्ट नहीं करता अपितु उस की आंचलिक सुगन्ध सुदूर वातावरण को भी गंधायमान कर देती है। इसलिए नवता का आग्रह अप्रचलित शब्द के प्रति नहीं होना चाहिए। अनूप के गीतों में भी कहीं कहीं ऐसे शब्द हैं – मसुरी, गुगुआती, पतौखी, परछन, उज्जर - वाजर आदि शब्द गीत में लोक धुन का प्रवेश कराते हैं परन्तु सामान्यतः इस प्रक्रिया से लोक तक पहुंचने में कठिनाई होती है। इसी प्रकार जलने को 'जरना' शब्दों की विकृति नयेपन का अल्हड़ स्वाद देती है, पौष्टिक आस्वाद नहीं।

नवगीत दशक के बहुत से निरर्थक नामों के बीच अनूप अशेष का नाम सार्थक अभिव्यक्ति की धरोहर है। 'लौट आयेंगे सगुण-पंछी' के बाद 'वह मेरे गांव की हंसी थी' में जीवन के सहज

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत-बिम्ब खेत खलिहान से झूमते-खेलते हैं। 'इन वसन्त मोड़ों पर' के मोड़ अभी अप्रकाशित हैं।

प्रकृति-वैभिन्नय जीवन को ताज़गी देता है। यह वैविध्य स्वभाव में हो या विचार में, धरती के रोम रोम में बिछली रमणीय सौन्दर्य राशि की घनीतिमा हो या भाव कल्पना की विविधरंगी पंख उड़ान। वैविध्य जुड़ाव और जिज्ञासा की सेतुनाल है। प्रकृति का स्वरूप ही कुछ ऐसा है कि विविधता के बिना वह मन को नहीं भाती। नवगीत के शरीर का सौन्दर्य, विविध आभाओं का मण्डल हो सकता है परन्तु आत्मा का व्यापकत्व अरूप होता है और अनूप भी। शरीर में आत्मा ही अशेष है। अनूप अशेष की रचनाओं में नवगीत का आत्मगुंजन एवं प्रकृति का स्वावलम्बिनी रूप है। वह मात्र शब्दोन्मुखी नहीं है। गांव की संस्कृति में पला मन ही ऐसी छवि दे सकता है –

"गमछा कांध पर गया/ मन जैसे/ हो गया नया " (*वह मेरे गांव की हंसी थी : पृ. 13*)

लेकिन यहां यह कहना भी अनिवार्य है कि गमछे की ग्राममय सरलता केवल मन भीगने तक रह गयी। उसके बाद जीवन को दुख की याद आ गई है। गीत की उठान नवगीत के आत्मागत सौन्दर्य की झलक प्रकट करती है। इसी प्रकार 'वह मेरे गांव की हंसी थी' गीत ग्राम-प्रेम की छवि देता है। 'बकरी ने सींग अभी छोड़ी है' (*पृ. 20*) जैसी पंक्तियां ग्रामीण अटपटेपन का आभास देती हैं। बकरी और सींग शब्द ग्राम के आंगन के शब्द हैं परन्तु अर्थ करने में कठिनाई हो जाती है।

नवगीत की अपनी लय और छन्द होते हुए भी यह कहीं पर अपने पहले से मेल नहीं खाता। दरअसल यह खास छन्द लय में लिखा ही नहीं जाता (*धर्मयुग : 22 अगस्त 1982 : पृ. 31*)। इसके जातीय संस्कार ही इसके प्रमुख तत्व रहे। जातीय संस्कारों को नवगीत के प्रमुख तत्व घोषित करने के बाद अनूप अशेष गांव को इस प्यारे भारत देश की संस्कृति और इयत्ता मान कर चलने के पक्षकार हैं क्योंकि – "गांव में ही शहर बने हैं। मेरे नवगीतों में जो चारित्रिकता, सांस्कृतिकता और मौलिक सहजता बार-बार मिलती है, उसकी यही वजह है" (*उत्तरा : फरवरी 1986 : पृ. 19*)।

विरहिणी प्रिया भी प्रकृति को अपने साथ उदास पाती है। बौरायी डाल यदि प्रिय-मिलन के क्षणों का स्मरण कराती है तो नीम की खिसकती छाया उस के उदास मन के अंकुठित प्यास बिम्बों को उभारती है। लाचार विवशता का अहसास पिंजरे में कूदता सुआ करता है –

"बौरायी आम डाल की/ धूल उड़ी/ तेरे नाम की
ओ पिया...../ रस बींधे आये दिन
नीम की खिसक गयी/ है छांव/ मन हुआ उदास
पिंजड़े में कूदता सुआ/ धूंप आस-पास
चिट्ठी में हुई राम-राम/ पगडण्डी मुई........।" (*नया प्रतीक : अप्रैल 1976 : पृ. 54*)

मानव-प्रकृति से प्रकृति का तादात्म्य कहीं कहीं बहुत सुख कर लगता है –

"कटे महुए के/ पुराने ठूंठ/ जैसे कुछ/ जले हाथों में/ पिघलती मूंठ/
जैसे कुछ/ होम जो करते रहे भरपूर/ कुछ अपने सगे थे.......।"

(*वह मेरे गांव की हंसी थी : पृ. 29*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति के गीतीय नव-चित्र हार्दिक संवर्धन की प्रक्रिया में हैं –

"फूली पीली सरसों/ ऐसा लगता बिना तुम्हारे/ हुए खेत में बरसों.....।"

(*लौट आयेंगे सगुण पंछी : पृ. 51*)

जैसे चित्र मन की गंध छुअन से स्पर्शित होकर महकते हैं। 'छानी-छप्पर' (*वह मेरे गांव की हंसी थी : पृ. 31*), 'पीपल महुआ और बेर के' (*पृ. 32*), 'सेहुंड़ के कांटे' (*पृ. 33*), 'गांव गरीब हुए' (*पृ. 43*) जैसे प्रकृति मथित गीत हृदय-चाक को पूरे जोर से घुमाते हैं। नवगीत के छायांकन में ग्रामीण वातावरण ने ताजगी दी है। कमोबेश सभी नवगीतकारों ने अपने गीतों में गांव को याद किया है।

'लौट आयेंगे सगुण पंछी' के गीतों में आंचलिकता का यही गुण और भी गहराया है। गौरेया, चिरइया सभी गीतों में चहकते से प्रतीत होते हैं। भूख, गरीबी का आलम सब ओर है। भारत की जनता का जीवन जिस प्रकार अभावों में बंट रहा है, वह इन गीतों में अभिव्यक्त हुआ है-

"यह रस्सी/ भूखे मल्लाह ने बनाई/ आंतों की ऐंठ पोर पोर उतर आई....।"

(*लौट आयेंगे सगुण-पंछी : पृ. 11*)

ऐसे गीतों को सगुण-पंछियों का स्वर मिला है जिससे गीत और निकट आ गये हैं। इस पंक्ति में 'हम यहीं रहते हैं' (*पृ. 15*), 'एक कथानक' (*पृ. 27*), 'नीम के दो पल' (*पृ. 31*), 'पीठ-से फिर गए दिन' (*पृ. 33*), 'सुलगती यात्रा' (*पृ. 49*), 'फागुनी निबंध मेरा गांव' (*पृ. 55*), 'पक गयी होगी सुनहली-धान' (*पृ. 77*), 'अंधेरे की लिखावट' (*पृ. 81*), 'पागल आदमखोर' (*पृ. 83*), 'रोटियों के बीच' (*पृ. 95*), 'ऋतुओं के पहले' (*पृ. 99*), 'तीज के जागे' (*पृ. 119*), 'देह का संगीत' आदि विविधवर्णी गीत हैं जिनमें अरहरी गंध, खेत- क्यारियों की खुशबू और विवश ताप समाया हुआ है। नवगीतों की शैली और शिल्प में इन गीतों ने ताज़गी भरी है। इन गीतों में विषमता, अभाव, कुंठा, त्रास, प्यास, यातना सभी की तरल अभिव्यक्ति है। स्नेह के रसीले और जीवन्त अनुभवों में सुख और दुःख की मिली जुली छुअन है। आंचलिकता का इन गीतों में विशेष स्थान है। शिल्प और शैली में कवि द्वारा किए गए नव्य छान्दस प्रयोग प्रभावित करते हैं।

इनमें संवेदनशीलता अधिक है। कथ्य को करूणा में डुबो कर कहने का इनका अपना ढंग बन गया है। नवगीत जैसे प्रयोग इन्होंने ग़ज़ल में भी किए हैं। कुछ नया कहने का उत्साह अनूप अशेष से अनेक संभावनाए जगाता है। प्रतीकों के चयन में भी शैली जैसी सादगी है। सप्रयास कही हुई बात अपना अलग प्रभाव देती है। अनूप अभिप्राय को किसी वक्र शैली में नहीं बांधते। समाज और व्यक्ति के जिस आचरण पर चोट करनी है उस पर इन का प्रहार सभ्यतापूर्ण है। कला का कोई भी स्वरूप हो मनोरंजन उस का एक औपयोगिक पहलू हो सकता है परन्तु उसका क्षेत्र मर्मज्ञ हृदय है जिसे साहित्यशास्त्र सहृदय हृदय कहता है। अनूप की रचनाधर्मिता हृदय की इसी धड़कन की ओर संकेत करती है। अनूप के नवगीत और ग़ज़ल को निकट से देखने पर लगता है जैसे वह हृदय वीणा की तार पर नवगीत की सरगम छेड़ रहा है।

हो सकता है नवगीत साधना का कोई नया पक्ष पल्लवित हो रहा हो। भाषा, शब्द, शिल्प और शैली सभी दृष्टियों से अनूप की प्रतिभा उजाला देने वाली है। निरन्तर जीवन-चिन्तन अनूप के गीतों को और अधिक गंभीर गरिमा प्रदान करेगा – यह विश्वास है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिलेश कुमार सिंह मूलतः विज्ञान के व्यक्ति हैं। इन्होंने विज्ञान और कविता में साधर्म्य प्रतिपादित किया है। वैसे यह नया विचार नहीं है। निराला ने विज्ञान और साहित्य के समन्वयवादी दृष्टिकोण को अत्यन्त प्रौढ़ता से व्यक्त किया था। अखिलेश नूतन गीतकार है। काव्य लेखन की दृष्टि से ये बीस वर्षीय युवा अपने गीतों में अधिक संवेदनशील है। भावुकता अध्यधिक द्रवित कर देती है इसीलिए वह भूल जाता है कि सर्दी में दिन छोटे और रातें लम्बी होती है –

"धूप कुहरा ओढ़ कर/ फिर देर तक सोने लगी।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 20*)

अखिलेश की नवगीत दृष्टि प्रकृतिपरक अधिक है। प्रकृति कवि की भावना को दुलारती चलती है। कवि भी अपनी भावुकता को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त करता है –

"यह धुला आकाश/ पकते बाजरे की गंध/ बांस में उलझी हवा/ सीटियों के छन्द/
ये गीत वाले खनकते पलछिन तुम्हारे नाम।" (*पृ. 22*)

अपने प्रिय के लिए भावनाएं अर्पित करता हुआ कवि निराशा के स्वरों में गाने लगता है -
'बीत गए दिन फूलों के।' (*पृ. 19*)

यह सही है यथार्थ कभी तो प्रकृति की अनन्त सुषमा से सम्बद्ध होता है और कभी समाज की विसंगतियों और विकृतियों से साक्षात्कार करता है। जहां वह अनन्त सुषमा से आकर्षित होता है वहीं उदासी घेर लेती है –

"सर्दियां आई/ नदी फिर अनमनी होने लगी।" (*पृ. 23*)

नवगीत की प्रकृति के अनुकूल अखिलेश ने प्रकृति का चहुंमुखी इस्तेमाल किया है। कहीं गुनगुनाते खिल-खिलाते दिन नाम कर दिए जाते हैं और कहीं शीत के सैनिक किसी अंधी गुफा में सोते रहे। वर्त्तमान कहता है –

"रोप गई मन के आंगन में/ बिरवे कई बबूलों को" (*पृ. 25*)

कांटों का यह वन दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है –

'भूचाल की तेज होने लग गई है धड़कनें/ पाताल की/ हर गली में दिख रहे दो चार खण्डहर'
(*पृ. 19*)

जैसी पंक्तियों से सांस्कृतिक उपेक्षा की दुर्गन्ध आती है। हमारी संस्कृति आज अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है। आज का अमानवीय आचरण ही यह कहने को विवश करता है कि हम कभी आदमी रहे होंगे। आज तो पत्थरों की मूर्तियां हैं। हम पर प्रकृति के सौन्दर्य का प्रभाव नहीं पड़ता, सामाजिक विकृतियों का असर नहीं होता। आज मनुष्य की मूर्च्छना अवस्था है। अनुभवों का अटूट सिलसिला भोगते हुए अखिलेश ने समय और यथार्थ को लयबद्ध किया है। जीवन के कोमल क्षणों को शब्दों कीं कोमलता से आस्वाद्य बना कर लिखे इस गीत में मृदंग-स्वर है –

"याद आयेगीं/ दूधिया झरनों सरीखी/ यह हंसी की धार"
जैसा सार्थक प्रयोग नवगीतों में कम मिलता है।

अखिलेश के गीतों में जीवन के बिखरे अनुभवों का संचय है। वह व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र और समूची मानवता के प्रति अपने विचार प्रकट करता है। इनमें वर्त्तमान की त्रासद पीड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी भरपूर है –

"आदमी थे हम कभी/ अब पत्थरों के बुत हुए।" (*पृ. 25*)

आज का मनुष्य वस्तुतः भावनाहीन है। वह दूसरे की पीड़ा को हृदय से अनुभव नहीं करता अपितु उस पीड़ा से लाभ उठाने की चेष्टा करता है। मजदूर किसान का जीवन सदा से जो कष्ट झेलता रहा है, वह आज भी उसे सहता है। इसलिए वह इस निरन्तर शोषण और अपरिवर्तित जीवन प्रक्रिया को उनकी नियति बताता है –

"पांवों में बेड़ी कसी हुई/ है हाथ बंधे हथकड़ियों से......।" (*पृ. 26*)

और एक कचोट –

"घु र इ कब तक/ और सहेंगे

इन - उन के/ घूसों लातों को.....।" (*नवगीत अर्द्धशती : पृ. 37*)

आंचलिक स्पर्श अखिलेश में सुखकारी है –

'उपथे पाथेगी/ वसन मांजेगी/ पारबती अपने दिन यों ही काटेगी।'

(*नवगीत दशक - 3 : पृ. 26*)

आज ईमानदार व्यक्ति ऐसे ही दिन काट रहा है। शोषित का और शोषण हो रहा है। कवि इस तथ्य को संकेतों से प्रकट करता है।

लोकगंधीय संस्कार सुगन्ध को जीवन में रचाने-बसाने का दायित्व भी नारी पर ही है। वह पारबती हो या अंगूरी। चेतना का यह अंचलीय संस्कार नारी की करूणाद्र खंजन-कोरों में ठहरा हुआ जल है –

"तुलसी के/ बिरवे को/ पानी देगी/ धौरी को/ श्यामा को/ सानी देगी,

आटा गुंथेगी/ चूल्हा फूंकेगी/ रात गये मुर्देन्सी/ पड़ सो जायेगी.........।"

(*धर्मयुग : 18 मार्च 1990 : पृ. 50*)

मानवीयकरण अलंकार की सुन्दर नियोजना अखिलेश गीतों में है। अमूर्त्त का मूर्त्त उपमान का मानवीकृत बिम्ब आकर्षक है –

"पारदर्शी झील-सी ये/ अनवरत गाती हुई आंखें/

साथ मिल हम ने बटोरी/ जो सुनहरी, मूंगिया पांखें.....।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 19*)

वस्तु बिम्बों में सामयिक बोध एवं वक्त की त्रासद स्थितियां प्रतिबिम्बित हैं –

"वक्त की तीखी छुरी ने/ काट दी अपनी जड़ें,

अस्मिता का यह समर/ अब हम भला कैसे लड़ें,

तेज आंधी में घिरे/ जर्जर चिनारों - से हुए।" (*पृ. 23*)

नवगीत शैली का प्रारम्भ उदार है। अखिलेश नवगीत की भाषा और शिल्प से अब पूरी तरह परिचित हो गए हैं। वैदिक मंत्र, ऋचाओं सभी का सुसंगत प्रयोग है। प्रथम कवि की प्रतिभा 'अ' वर्ण के अनुक्रम के कारण है। अखिलेश नवगीत के संस्कार में संलग्न हैं। व्यक्तित्व-कृतित्व शीघ्र शिखर मुखी हो - इसकी प्रतीक्षा है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरनाथ श्री वास्तव की दृष्टि में नवगीत और नयी कविता कथ्य और उससे उत्पन्न लय में समान है। यदि भिन्नता है तो मात्र शिल्प में। नवगीत में ललित गीतों की अपेक्षा भाषा और छन्द के ऊबड़-खाबड़ प्रयोगों को यह कवि सहज स्वाभाविक मान कर स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में अनगढ़ शैली और शिल्पगत खुरदरापन रचना को नयी चमक देता है। वह नवगीत को कबीर की उलटवांसी के पास ले जाता है। वह अनुभव करता है कि वर्त्तमान साहित्य में अपने कुसंस्कारवश अनुभव करने की क्षमता चुक गई है। जबकि एक सही कविता व्यक्ति के अन्तर्लोक और उसके बाह्य परिवेश की साक्षी है। आज जीवन अन्तर्विरोधों में जीने को मजबूर है –

"भीतर चुभन सुई की/ बाहर संधिपत्र पढ़ती मुस्कानें/
आंधी से आंतकित चेहरे/ गर्दखोर रंगीन मुखौटे।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 132*)

यह चित्र है उस व्यक्ति का जो समाज का प्रमुख अंग माना जाता है। आज का व्यक्ति शोभा यात्रा में चलते हाथी का जीवन झेल रहा है जिस पर मोती की झालर सजी है परन्तु ऊपर अंकुश का विकृत शासन है। कवि अपना बचपन याद करता है। पारम्परिक गीत की तरह नये भावबोध को अभिव्यक्ति देने के लिए अर्जित संस्कार से भाषा गढ़ी गई लगती है। सीधी शब्दावली में नया अर्थबोध –

"डूबते हुए भी हम तार तार बिखरे/ आसमान छूते हैं तिनकों के नखरे.....।" (*पृ. 134*)

तिनकों के नखरों का आसमान छूना एक मुहावरेदार भाषा है जो दंभ और अहं को वाणी दे रही है। जरीदार कुर्ते के नीचे फटा हुआ उपवस्त्र बता कर गीत-कवि द्वारा आज की प्रदर्शनप्रिय संस्कृति पर भारी प्रहार किया गया है।

'गेरु की लिपियां' इनका नवगीत संकलन है जिसमें इनकी गीत यात्रा के मानक स्मृति चिह्न सुरक्षित हैं। नवगीतों में कहीं कहीं चुभन महसूस होती है। प्रकृति और वैज्ञानिक वृत्ति के बीच व्यक्ति के मन की अभिव्यक्ति व्यंग्य के साथ उभरती है –

"शीत ताप अनुकूलित कमरे/ अपने लिए बनाओ/ लेकिन, टूटे शीशे वाली खिड़की/ मेरे नाम छोड़ते जाओ।" (*पृ. 137*) जैसे पदों से उनका प्रकृति के प्रति प्रेम व्यक्त होता है, साथ ही निर्धन मानव की असुविधा के प्रति सहानुभूति सरसता के साथ व्यक्त होती है। इसी प्रकार के अनेक चित्र कवि ने खींचे हैं। एक साधारण मनुष्य की जो स्थिति समाज में है उसका व्यक्त स्वरूप सहजता से साक्षात्कृत हो जाता है। मोम के खिलौने जैसा हृदय संघर्ष की अग्नि परिक्षा में है। जंगल का राजा जंगल को जलता छोड़ गया है। इस गीत कवि ने भी आदमक़द, बौना, शीशा, पांखी जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। इन सारे नवगीतों को पढ़ कर लगता है कि कुछ विशेषण-शब्द नवगीत के लिए रूढ़ हो गये हैं। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनकी उपस्थिति ही उन्हें नवगीत की गरिमा देती है।

इसमें कोई शक नहीं कि अमरनाथ श्री वास्तव के नवगीत भावात्मक चेतना के उन्नयन में सहायक सिद्ध हुए हैं। आम आदमी जिस दर्द को जीता है, कलाकार उसे आम आदमी तक पहुंचा देने भर से उत्तरदायित्व मुक्त नहीं हो जाता। आज कला केवल मनोरंजन नहीं है। कला का वह अर्थ अतींत हो गया है। अमरनाथ कला के इस आधुनिकीकरण से पूर्ण परिचित हैं। यही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण है कि अमरनाथ का प्रत्येक नवगीत चेतना की कोई न कोई पर्त्त अवश्य खोलता है। प्रत्येक पर्त्त में आदमी का जीवन एक नयी चेतना के साथ जन्म लेता है। आम आदमी की विपन्नता-सम्पन्नता भोगी नहीं जान पाता। कठिनाई तो यह है कि विपन्नता अपना स्वाभिमान और योग्यता के प्रति आत्मविश्वास खो बैठी है। इस 'खोने' को अनेक चालाकी भरे अर्थ दे कर भुनाया जा सकता है। कुछ लोगों ने इसे भुनाया है और बड़ी ईमानदारी के साथ बड़ी-बड़ी बेईमानियां की हैं। तथाकथित 'महान' को लेकर प्रायः सभी लिख रहे हैं। अमरनाथ श्रीवास्तव का दृष्टिकोण किसी विध्वंस की प्रतीक्षा नहीं करता परन्तु वैचारिक क्रान्ति अवश्य चाहता है। 'उलझ गए जितना विस्तार' (*दैनिक हिन्दुस्तान : दिनांक : 19 जनवरी 92*), 'पत्तों के धानी होने तक' (*दैनिक हिन्दुस्तान : दिनांक : 21 मार्च 93*), 'चेल्हा मछली जैसे हम' (*दैनिक हिन्दुस्तान : दिनांक : 11 फरवरी 90*), 'शहरों में आए बन्जारे' (*दैनिक हिन्दुस्तान : दिनांक : 21 मार्च 93*), 'इतने थोड़े जल में' (*दैनिक हिन्दुस्तान : दिनांक : 11 फरवरी 90*) आदि सभी गीतों में कवि ने एक नया विचार पाठकों को दिया है -

"कैसे हम कांच के/ घरौंदे में रहते/ ठेक कहीं लगने का/ भय कितना सहते।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : दिनांक : 19 जनवरी 92*)

"गमलों में पेड़ों की दुनिया/ छत पर बाग-बगीचे/ किसे पड़ी है जो यह सोचे/ क्या है जड़ के नीचे/ काट रहे हमको जमीन से/ चौखट सीढ़ी जीने।"

'शहरों में आए बनजारे' गीत में कवि ने शहरीकरण की विसंगति को उभारा है। 'इतने थोड़े जल में' गीत महानगरीय वैवशय बोध की कोंचन को नुकीला बनाता है जिसने हमारे पारिवारिक रिश्तों को 'सुविधा की गलियों' की ओर मोड़ दिया है। पौराणिक संकेतों के माध्यम से कवि अत्याधुनिक बिसात पर बिछी मानवीय अस्मिता की गोटों से क्रीड़ा करता है। क्रीड़ा का यह बोध हमारे जीवन की सुबह-दोपहर-शाम हैं क्योंकि किसी भी क्षेत्र में अनेक सीढ़ियां चढ़ने के बाद भी हम राजनीतिक सत्ता व्यवस्था की ऐंठी हुई गुंजलकों के आखेट हैं। हमारी नियति के स्विच-बटन 'सूटकेस सभ्यता' के संकेत को समझते हैं। वे उचित समय पर ही ऊपर-नीचे होते हैं–सामने वाले का वज़न देख कर। अतः भविष्य को घसीटने के लिए वर्त्तमान से समझौते आज अनिवार्य हो गए हैं। अन्यथा हम सब मिटी हुई इबारतें हैं जिन्हें पढ़ा ही नहीं जा सकता –

"सूक्ति से/ सुभाषित से/ शुरू हुई दीक्षा/ चालें भी चौपड़ की/ धैर्य की परीक्षा"

"भूख जगाते रहे फरिश्ते/ वर्जित फल को चखने की।" (*सण्डे मेल : 27 जनवरी 1991*)

अधिकांश गीत टेक-पंक्तिक, संक्षिप्त एवं लयात्मक हैं। मुहावरों के प्रयोग भाषा और गीतों को गठीला बनाते हैं – 'वही ढाक के पत्ते' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 11 फरवरी 1990*), 'पत्थर पर उगी दूब' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 11 फरवरी 1990*), 'हाथों से तोतों का छूटना' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 11 फरवरी 1990*), 'हाथ की मैल' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 11 फरवरी 1990*) आदि मुहावरें गीत के ताप को तरल कर अभिव्यक्ति को सम्प्रेषणीय बनाते हैं। इनके गीतों में नवस्मिति का आलोक है लेकिन अभी पूरी तरह खुले नहीं हैं।

'सीली माचिस की तीलियां' **कैलाश गौतम** का अभी तक एकमात्र काव्य संग्रह है। इन काव्यात्मक रचनाओं में लय, ताल, तुक का अद्भुत समानुपात है जिसके कारण ये गीत के करीब आ गयी हैं। इनकी रचनाओं का मूल स्वर व्यंग्य है। सामाजिक दंशों को समेटती इनकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीली तीलियों में आग लगाने की क्षमता है। पारिवारिक विघटन, रिक्तता, सम्बन्धों पर घिर आयी काली घटाएं, टूटते खण्ड-खण्ड होते विश्वास, जोंक बन गयी आस्थाएं, टूटते अनुबन्ध, लंगड़ी होती जा रही बैसाखी समझ, राजनीतिक आचार-दर्शन में नेताओं की नायकीय खलनायकी आदि कारुणिक प्रसंगों को उमेठती चलती इनकी माचिस की गीली तीलियां वैचारिक सुलगन देकर सामान्य मन को राहत और सुकून बांटती हैं। व्यंग्य-सुलगनें लोक-प्रचलित रूढ़ियों को लेकर मुहावरेदार भाषा में खनकने लगती हैं –

"पानी में गई भैंस/ बहुत लम्बी योजना है
यह कब तक चलेगीं/ लाठी वालों को सोचना है।" (*सीली माचिस की तीलियां : पृ. 42*)

इनकी रचनाओं में गड्डमड्ड नवगीतीय बोध इन्हें गीत की समकालीन प्रवृत्तियों से जोड़ता है। इनके नवगीतों में हरीश निगम, योगेन्द्र दत्त शर्मा की भांति प्रणयानुभूतियों का मर्मस्पर्शीय अंकन प्रकृति के माध्यम से हुआ है –

"भूल से/ हम छू गये/ ओस में डूबे,
शरद के फूल से/ हम छू गये,
मन कहीं आंगन/ कहीं पर्वत/ कहीं जंगल हुआ है,
गांव से बाहर निकल कर/ गांव का पीपल हुआ है,
खिलखिलाती धूप में/ ओझल नदी के कूल से हम छू गये।" (*पृ. 58*)

अधिकांश गीत और उनके अन्तरे संक्षिप्त हैं। गीतों की पंक्तियों में दो-दो तीन-तीन शब्द उनमें प्रवाह और रिद्म पैदा करते हैं –

"मीठे मुंह/ अच्छे दिन/ बार-बार आना,
काठ का खिलौना हूं/ आग से बचाना।
आंगन में किलकारी/ हरियाली खेत में,
सिर माथे छांह घनी/ जल देना रेत में,
चंदन से/ रोली से/ पान से निभाना।" (*जनसत्ता - 16 मार्च 1988*)

'वाह' गीत की व्यंग्यतुर्शी में लोकगीतात्मक स्पर्श है। गीत में व्याप्त 'अन्तर्लय' व्यंग्य की कटान को तरल करने के बावजूद तीखा और नुकीला बनाये रखती है –

"आपने अच्छा पाठ पढ़ाया, वाह भाई जी वाह-वाह
काठ का उल्लू हमें बनाया, वाह भाई जी वाह-वाह
झूठ बोलना, धूल झोंकना, कुंआ झंकाना, धक्के देना
आपने क्या-क्या नहीं सिखाया, वाह भाई जी वाह-वाह।" (*जनसत्ता : 9 मार्च 1980*)

लोकलयात्मक गंधाती शैली में पिरोये भोजपुरी मुहावरों ने गौतम के गीतों को रचाव खनक दी है। शैली वैभिन्नय कैलाश की गीतीय चेतना का विस्तार बोध है। गीतों में पदशैली की सहजता भक्तिकालीन गीतीय पर्यावरण की ओर ले जाती है। इनमें एक छोटी पंक्ति टेक पंक्ति के रूप में है शेष पांच बड़ी पंक्तियां हैं। बड़ी पंक्तियों की तुक छोटी पंक्ति से मेल खाती है। 'सरसों बांट रही गोराई' पद में एक किशोरी की सगाई के बाद की सूक्ष्म मनः स्थिति का बिम्बन है -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"सरसों बांट रही गोराई
गांव पहाड़ी जंगल झरने टीले और तराई
बार-बार मुंह देख रही है पोखर में अमराई
नई उमर के हाथ लगी है शोखी और ठिठाई
आग लगाती है पानी में चूड़ी-भरी कलाई
नींद नहीं सपने ही सपने जब से हुई सगाई
पके पान में लिख कर किसने भेजे आखर ढाई।" (*जनसत्ता : 15 मार्च 1987*)

फागुन में किशोरी से तरुणी हो जाने पर तो देह गंधी शीशा पिघल कर सुलगती शीतल अगन बन जाता है। 'ढाई आखर' की गीत रसीय अगन आंखों में सेज चटकनें बन कर कूकती कोयल हो जाती है। शोख़ खंजन नयन पलकों के दीप जला कर भीतर की सारी रोशनी को समेट कर फगुनायी मस्ती में नेही-उत्सव की प्रतीक्षा में गुनगुनाने लगते हैं। इस रसीय फगुनायी गुनगुनाहट का गुणा-भाग देखिए जिसमें कैलाश ने किशोरी का सौन्दर्यपूरित मनोवैज्ञानिक मुंह बोलता सजीव बिम्ब खींचा है –

"घर से निकले थे झूठ बोल कर/ भागे मेले में
पकड़े गए ठठा कर हंसते हुए/ अकेले में
उलट गयी है/ रंग से भरी कटोरी/ फागुन में।" (*धर्मयुग : 11-17 मार्च 1990*)

कैलाश गौतम ने ग़ज़लें भी खूब कहीं हैं। सत्ता-लोलुपता की शतरंज पर प्यादे-घोड़े की शह मात अवसरवादियों की पोल खोलने वाली है। ग़ज़लों की खनक रवानी में भी व्यंग्य की लहक सीली माचिस की तीलियों की तरह अग्निवर्णी है –

"कैसे कैसे तलवे अब सहलाने पड़ते हैं
कदम-कदम पर सौ-सौ बाप बनाने पड़ते हैं।" (*जनसत्ता : 9 मार्च 1988*)

कैलाश गौतम का सबसे प्रमुख शस्त्र ही व्यंग्य है। इसी व्यंग्य के सहारे वे गहरे उतरे हैं। व्यंग्य को इन्होंने अनेक कोणों से गढ़ा और तराशा है। इस तराश और गठन में स्वाभाविकता सहजता से दोस्ती गांठ कर हमजोली हो गई है। इसीलिए ये हृदयभूमि को कीलित कर बुद्धि को कोंचन देती है। व्यंग्य की देहरी से अन्तंकक्ष तक पहुंचने की यात्रा का रहस्य खोलते हुए कैलाश गौतम ने कहा है – "मेरी ज्यादातर कविताएं प्रतिबद्ध मन से लिखी गयी हैं। 'प्रतिबद्ध' शब्द में जानबूझ कर इस्तेमाल कर रहा हूं। वह इसलिए कि हास्य-व्यंग्य के नाम पर हिन्दी में ज्यादातर फूहड़ और अश्लील कविताएं लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। इससे न सिर्फ हिन्दी-कविता की छवि धूमिल हुई है, बल्कि श्रोताओं और पाठकों की स्वस्थ मानसिकता भी कुत्सित प्रयोगों का शिकार हुई है। यही कारण है कि मंचीय कवि दो नम्बर के कवि गिने जाते हैं। मुझे यह सब देख सुन कर बड़ी तकलीफ हुई। मैंने निर्णय लिया कि इस लकीर को छोटा साबित करना चाहिए। और मैंने तथाकथित भांडों-चारणों और नौटंकी के जोकर की हैसियत वाले कवियों के बीच मानवीय संवेदनाओं, अनुभूतियों, सामाजिक और राजनीतिक विसंगतियों को स्वस्थ-सुन्दर और आकर्षक ढंग से स्थापित करने का एक छोटा सा प्रयास शुरू किया (*सीली माचिस की तीलियां : पृ. 9*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इनकी भाषा, सीधी, सपाट और बोलचाल की भाषा है। वह भाषा जिसे छात्र, अध्यापक, मजदूर, वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, किसान और व्यापारी यानी हिन्दुस्तान का आम आदमी बोलता है। भोजपुरी और अवधी के ठेठ मुहावरे जहां बहुतायत से मिलेंगे, वहीं अंग्रेजी और संस्कृत के शब्द भी छिटपुट और इक्का-दुक्का ही सही, लेकिन सहज और सार्थक रूप से जुड़े हुए मिलेंगे। ऐसे मुहावरों, लोकोक्तियों, और शब्दों का प्रयोग अनायास हुआ है, सायास नहीं।" (*पृ. 10*)

अंकुर-पत्र की तरह धरती गंध लेकर फूटती इन गीतीय कविताओं में युगनद्ध बिम्ब अपनी खुशबू- खरोचों से समाज और मनुष्य के वजूद को अस्मिता देकर जागरुक करते हैं। रचनाओं की सबसे बड़ी सार्थकता यही है। 'बरसात से पहले' (*पृ. 64*), 'बदनाम मुहरा' (*पृ. 67*), 'अंधी कोयल' (*पृ. 70*), 'नागरिक होने के नाते' (*पृ. 74*), 'बाढ़ की नाव' (*पृ. 79*), 'सीली माचिस की तीलियां' (*पृ. 82*), 'अजायब घर का घड़ियाल' (*पृ. 85*), 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' (*पृ. 89*), 'केंचुए का पर्याय' (*पृ. 95*), 'संस्कार' (*पृ. 97*), 'दबा हुआ आदमी' (*पृ. 99*), 'ट्रक' (*पृ. 101*), 'सौदा' (*पृ. 105*) 'पकी फसल का दर्द' (*पृ. 106*), 'अभिशापित पेड़' (*पृ. 109*), 'कहां गया वह गांव' (*पृ. 112*), 'सुना है' (*पृ. 114*), आदि रचनाएं सत्ता, समाज, व्यवस्था एवं मनुष्य-मन का पूरा एक्सरे करती हैं। इन एक्सरे विकिरणों का दूसरा नाम ही कैलाश गौतम है जो सकार भूमि से उठ कर रचनात्मकता के शिखर गुम्बद की ओर देख रहा है। यात्रा की शुरुआत ठीक दिशा में है यदि तथाकथित साहित्य के शिविर, गुट इस प्रतिभा को न निगल लें।

नवगीत के विचित्र गीतालय में **श्री राम सेंगर** का प्रवेश शंभूनाथ सिंह के मसीहाई अंदाज का परिणाम है। सन् 1963 से लेखन-कार्य करते हुए भी अभी तक सेंगर की कोई पहचान नहीं बन पाई है। अभिव्यक्ति में स्वाभाविकता एवं कौशल सेंगर की विशेषता है। कृत्रिम भाषा या शैली से गीत बोझिल हो जाता है। वर्त्तमान व्यवस्था की यान्त्रिकता ने मनुष्य के उछाह को पूरी तरह सोख लिया है। जीवन की बासी कड़ी में उबाल ही नहीं आता। समय के साथ घिसटती जाती ज़िन्दगी के नंगे सचों ने अन्दर-बाहर वीरानी को पूरी तरह अंगीकार कर लिया है। प्रति-क्रिया विहीन जीवन की तापहीन आग ऐसी ही है। समसामयिक जीवन की घुटन को सेंगर अपने गीतों में प्रत्यक्ष करते हैं। आज के विक्षोभ, बेचैन मन, परिवेशजन्य तनावों और अन्तविरोधों का चित्र इन गीतों में मिलता है –

"अपने प्रति क्रूर औ' तटस्थ बने रह कर/ सब आग पचा डाली।"

(*नवगीत दशक - 2 : पृ. 48*)

व्यर्थता का बोध आज व्यापक हो गया है। इस मानसिकता का चित्र स्पष्ट है –

"जीने की व्यर्थ औपचारिकता/ ओढ़े हैं/ मरी हुई खाल पर।" (*पृ. 49*)

'शेष रहने के लिए' इनके गीतों का प्रतिनिधि संकलन है। 'रेत की व्यथा कथा' खंड की कविताएं मानव के अन्तर्द्वन्द्व की कविताएं हैं। मध्यमवर्ग का प्राणी सर्वाधिक पीड़ा में है। ऊंचा और नीचा दोनों आनन्द लेते हैं। यथार्थ की दृष्टि से यह तथ्य हमारे सामने, हमारा भोगा यथार्थ है। गीत कविता की पीड़ा यहीं, इसी पीड़ास्थल से जन्मी है। मध्यम वर्ग की विवशता है, वह इज्जत संभाले या घर संभाले। यह तड़पन है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"गोली खा कर/ सांस तोड़ते/ पंछी से फड़ फड़ा रहे हैं।" (*शेष रहने के लिए : पृ. 19*)

आज का जीवन क्या है –

"सरकंडों के पुल पर हम तुम/ खड़े हुए हैं कितने गुमसुम।" (*पृ. 23*)

गुमसुम इसीलिए हैं क्योंकि हम तुम में जिज़ीविषा है परन्तु सामने संकट मंडरा रहे हैं। गीतकार ने नवगीतों में यथार्थ लाने के लिए मेज़, गुणा-भाग, फाइल, छोटा बाबू, दफ्तर सभी का उपयोग किया है। जिज़ीविषा का भी कोई एक रूप नहीं है। जब मुंडे मुंडे मति भिन्ना सिद्ध हो गया तो जिज़ीविषा का भिन्न भिन्न होना स्वयं स्वभाव सिद्ध है।

श्री राम सेंगर ने शब्द-प्रयोग की दृष्टि से आंचलिकता का आंचल थाम जो फेरे लगाए हैं वह आकर्षक है –

"गूमड़ माथे के/ बहुत पिराते हैं/ फिर भी गाते हैं।" (*पृ. 26*) जैसी पंक्तियों में मानव की विवशता सांस घोटती है। इस घुटन को जिसने महसूस किया है वही इन गीतों के अन्तर्मन को जान सकते हैं। नवगीतकार कल्पना के यथार्थपरक रूप को ग्रहण करता है –

"काटने को दौड़ता है घर/ एक कोना भी नहीं/ सिर को छिपाने के लिए।" (*पृ. 29*)

एक मध्यमवर्गीय कवि की समस्याओं का उत्पीड़न भी अनुभूतिगम्य है। श्री सेंगर ने बड़ी सहजता से उस चुभन को व्यक्त किया है। घर काटने को तभी दौड़ता है जब जीवन अभावग्रस्त होता है। जीने की पूर्ण ललक-लालसा होते हुए भी अनुरूप साधन न जुटा पाने की मानसिक विषमता और विवशता के चित्रण में श्री सेंगर कुशल हैं।

'बिम्ब उभरेगा' खंड की रचनाओं में शाब्दिक और भावजगत् के साम्य की बात यदि छोड़ दें तो लगता है जैसे बहुत कुछ कहना चाहते हुए भी कुछ न कह पाने का दर्द मानस में चुअनें बन कर झरता है –

"परनाले बंद हुए/ छत पर तैयार हुई झील।" (*पृ. 61*) में निश्चय ही अभिव्यक्ति का स्रोत सूख गया – झील सा बन जाना अशुभ है परन्तु झील किस का प्रतीक और परनालों को किसने रोका – इस बारे में कोई प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं है। श्री राम सेंगर प्रतीक-आयोजन में अत्यन्त कुशल हैं परन्तु कहीं कहीं शब्दों की अप्रचलित व्यावहारिकता बाधा पहुंचाती है। इनमें बिम्ब उभरता है। झील बिम्ब है और बिम्ब गोलाकार है अतः कोई भी अर्थ लिया जा सकता है। श्री राम सेंगर के बिम्ब और प्रतीक योजना निश्चय ही नवगीत के अनुकूल हैं –

"खांसना मत/ मौन टूटेगा हवेली का!" (*पृ. 62*)

खांसना क्रिया में बिम्ब है और हवेली के मौन का टूटना भी व्यंग्य है। गीतात्मक व्यंग्य ज्यादा चुभन देते हैं। इसी प्रकार 'घुन्नानी/ कुतिया जो ठहरी' (*पृ. 65*) में घुन्नानी शब्द हमारी लोक संस्कृति का शब्द है परन्तु सेंगर ने जहां जिस अर्थ में उसे फिट किया है, यही उसका अभिव्यक्तिगत गुण है। कई जगह कुढ़न, बेबसी, आक्रोश की व्यंग्यात्मक चुभन देने के लिए गीतकार असभ्य शब्दों के प्रयोग पर उतर आता है। यथार्थ के नाम पर 'चुतियापा', 'चूतड़' (*पृ. 64*) जैसे शब्द जीवन के सौन्दर्यबोध को खण्डित करने वाले हैं और गीत की प्रकृति के प्रतिकूल। इस संघर्षमयी जिज़ीविषा के क्षणों में आधुनिक मानव भीड़ में किस तरह जीना चाहता है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"धक्के पर धक्का, सीने पर अपना संसार भींच पुस्तक-सा/ शर्मीली लड़की-से/ रेले में टंगे चले आये/ क्या तांगा क्या इक्का" (*पृ. 67*)

महानगरीय पीड़ा, विसंगतियां, क्रूरताएं, दंभ, अहंकार सभी तरह की वृत्तियां इन नवगीतों में मिलती हैं। श्री सेंगर एकान्त साधक हैं। नवगीत के क्षेत्र में वे नये कार्य कर रहे हैं। इसलिए वे कहते हैं –

"छत गिरे नहीं मकान की/ हर संभव कर रहे प्रयास।" (*नवगीत दशक - 2 : पृ. 53*)

यह प्रयास सफल हो। यह सही है 'वक्त कुछ खराब चल रहा' है। आज योग्यता और साधना का महत्त्व कम है, तिकड़म ज्यादा सफल हो रही है। जीवन का स्वरूप –

'द्वार, घर न छत/ ये भी क्या धत्' (*पृ. 53*)

यह एक प्रवृति का प्रतीक है, नया अभिव्यक्तिकरण है। इस तरह सरल-सहज शैली में ये गीत छद्म-कंचुकी की चुभन अहसासते हैं। नवगीत कभी कभी नयी कविता हो जाता है जब कहता है –

"तेवर इस तेज हवा के/ कितने मक्कार बुर्जुआ।" (*पृ. 55*)

कांच सेंगर को भी पसन्द है। लगता है आज का व्यक्ति इस कांच का प्रतिबिम्ब बन गया है। सामान्य व्यक्ति रोटी पानी के धंधे में इतना फंस गया है कि उसे विचार का समय ही नहीं है। सत्य का उद्घाटन –

"बुझे चूल्हे के लिए/ ईंधन जुटाने में/ रोज़ सूरज डूब जाता है।" (*पृ. 51*)

श्रीराम सेंगर का चिन्तन अत्याधुनिक है। निरन्तर लेखन उन्हें और सहज बनायेगा। आज नवगीत को कुछ छिपाना नहीं है। वह नये से नये ढंग से कहे परन्तु कहे प्रसन्नार्थक। नियत में फ़र्क़ नहीं आना चाहिए। सेंगर नवगीत के प्रवर्धमान स्वर-संस्कार में सहयोगी है। शब्दों का मोहजाल बड़ा आकर्षक होता है। यह ऐसा दर्द है जिस की मिठास बार-बार आनन्द देती है। हो सकता है कवि की श्रम-साधना युग को ऐसा अनमोल दे जाय।

मयंक श्री वास्तव के दो गीत संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इनका कहना सर्वथा सत्य है "पारम्पारिक गीत रचना की कोख से ही नवगीत का जन्म हुआ" (*सहमा हुआ घर : पृ. 5*)। यही कारण है कि मयंक की गीत-रचना में पारम्पारिक गीत एवं नवगीत दोनों का मिला जुला रूप मिलता है। नवगीत की शैली में कवि ने अच्छे प्रयोग किए हैं। आज के जीवन की विषमता, घुटन, त्रास और अभाव (*पृ. 16*) के चित्र कहीं कहीं बहुत प्रभावित करते हैं। कवि-मन के अधखिले फूल रोज़ मुरझाते हैं। यही वर्त्तमान की त्रासदी है। समाज-वन की टहनी टहनी सूख रही है और पत्ती पत्ती बीमार लगती है। इस जीवन का रूप –

"आग लगती जा रही है,
अन्न पानी में,
और जलसे हो रहे हैं राजधानी में।" (*पृ. 27*)

"गेहूं चार हथेली मांगें/ पेट मांगता रोटी।
लेकिन मेरी आंखें मांगें/ केवल एक लंगोटी।" (*पृ. 17-19*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्त्तमान जीवन की कशमकश और सत्ता का आम आदमी के प्रति नज़रिया निश्चित रूप से स्वस्थ नहीं है। सत्ता की निरंकुशता ने लोकतांत्रिक मुखौटा पहन कर जनसामान्य को जमूरा बना दिया है। प्रशासन के निकम्मेपन ने भुखमरी, बेरोजगारी, असंतोष, आक्रोश की ऐसी स्थितियां पैदा कर दी हैं कि जनसामान्य का जीना दूभर हो गया है। पेट में जलती आग और जीवन की बुनियादी सुविधाओं से वंचित आज का अधिकांश समाज इसी जुगाड़ में लगा रहता है किसी तरह जीवन की गति चलती रहे। सुख और आनन्द जीवन में सिरे से गायब है और ऊपर से पूरी तरह निचोढ़ती महंगाई ने व्यक्ति के आगे सुरक्षा के सवाल को अहम् बना दिया है। मयंक की सहज गीत प्रस्तुति आदमी के अन्दर रोती, संघर्ष करती विकल तड़प को नासूर बना देती है। इस नासूर की चीर-फाड़ कर व्यक्ति को सावधान करना आज गीतकार का सबसे बड़ा दायित्व है। इस दायित्व का एक कोण देखिए –

"अपनी तो इस महंगाई में डूब गयी है लुटिया बाबू
लेकिन कैसे बने तुम्हारे ऊंचे ठाठ मुगलिया बाबू।
भूख हमारी खा बैठी है सारे शौक, सभी इच्छाएं
जाने कब से नहीं बजायी झांझर और ढुलकिया बाबू।
तुम राशन का गेहूं देने में भी रिश्वत मांग रहे हो
हम तो बूढ़ी अम्मा तक को दे न सके हैं खटिया बाबू।"

(धर्मयुग : 13 सितम्बर 1980 : पृ. 18)

वक्त की सच्चाई और तुर्शी देखिए जो व्यक्ति को जीवन के अध्याय से जोड़ती है। जीवन में यदि एक दूसरे के प्रति करुणा, सहानुभूति नहीं होगी तो आदमियत का जज्बा कैसे पैदा होगा। सहभाव की अन्तर्वर्ती लय से जुड़ कर हम एक-दूसरे के हो सकते हैं। वक्त का तकाज़ा भी यही है –

"दर्द आपस में कभी/ मिल कर नहीं बांटा
वक्त शायद इसीलिए ही/ मारता चांटा।" *(सहमा हुआ घर : पृ. 44)*

समता, सहभाव के अभाव में आदमियत ज़िन्दा नहीं रह सकती। यही वजह है –

"दर्द की पगडंडियों से/ खेत घायल है
गांव में जंगल मनाता/ रोज मंगल है।" *(पृ. 38)*

शहराती सभ्यता की घटाटोप आंधी लेकर जंगल बनते जा रहे गांव स्मृति चिह्नों के सहारे रेंग रहे हैं क्योंकि –

"अब न कोई गा रहा मस्ती भरा गाना।
खुल गया है क्योंकि मेरे गांव में थाना।" *(पृ. 19)*

आपसी सद्भाव, भाईचारे की मेंड़ थक कर कंटीली बाढ़ बन गयी है। खेत के किनारे-किनारे खड़े पंक्तिबद्ध कैक्टस अब सुरक्षा-प्रहरी हो गए हैं। ये कैक्टस संस्कृति खेत खलिहानों तक नहीं रही दिलों में भी उतर गई है। अब दाने खलिहानों में बजने से इन्कार कर देते हैं, चौपाल का अपनत्व हैसियत देख कर बतियाता है। गांव का सलोनापन, एक-दूसरे को करीब से बूझने की ललक, दही-मट्ठे, तीज-त्यौहार की चुहल, चूल्हे में सुलगती आंच, लिपे आंगन की महक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुरभि सब के बीच सभ्यता संस्कृति की लकीरें खिंच गई है, क्योंकि –

"गांव नंगा कर दिया है
कारखानों ने।
और खुशियां छीन कर
रख लीं सयानों ने।" (*पृ. 17*)

भौतिक सुखों, वैज्ञानिक-औद्योगिक उन्नति ने मनुष्य को अतिबौद्धिक चिन्तन तो दे दिया लेकिन कलश-द्रवीय हृदय में छिद्र कर दिए। छिज गया कलश रो पड़ा –

"क्या पता/ कब मिलेंगे
गांव की चौपाल वाले दिन।
नीम पीपल/ नहर पनघट
झील पोखर ताल वाले दिन।
ढूंढता हूं रोज होली/ और कजली
गायकों के स्वर.........।" (*पृ. 25*)

होली और कजली की बातें स्वप्न हो गई। आज की दहशतजंदा ख़ौफनाक परिस्थितियों के बीच दबता-भिंचता आदमी आदमखोर सत्यों की ओर बढ़ रहा है। सत्ता-व्यवस्था के अत्याचार आदिम राग के पुर्नजन्म की स्थितियां पैदा कर रहे हैं। ये बीज पनप न सके इसका आतंक-भय गीतकार के मन-मानस को पूरी तरह मथ रहा है –

"एक अरसे बाद/ फिर सहमा हुआ घर है।
आदमी गूंगा न बन जाए/ यही डर है।" (*पृ. 13*)

वक्त की त्रासदी का खरोंचता-छीलता नंग सत्य यही हैं –

"सोच पर
प्रतिबंध का पहरा कड़ा होगा/ अब बड़े नाखून,
वाला ही बड़ा होगा/ वक्त ने फिर से किया
व्यवहार बर्बर।" (*पृ. 13*)

राजनीति से ग्रस्त आज का समाज हिचकियां भर रहा है। नदी नाले में खो गई हैं और गांव महानगरों में। मयंक के गीतों में गांव के वातावरण की उदासी और अभावजन्य कुंठा का चित्रण अत्यन्त प्रभावशाली है।

कवि का अनुभव संसार कथ्य के अनुरूप अपनी बात कहता गया है और उसी के अनुरूप भाषा, शब्द, शिल्प और कलात्मकता ग्रहण करता रहा है। इसलिए उनमें न कोई अलंकारिकता है और न ही अर्थहीन पच्चीकारी। भाषा ऐसी अनगढ़ भी नहीं जहां व्याकरण के नियमों का उल्लंघन हो सके। इस विषय में मयंक ने एक साक्षात्कार में एक प्रश्न के उत्तर में कहा कि – "रचनाओं में मेरी कोशिश यही रही कि नये-नये अनुभवों और नये कथ्यों को समेट कर यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में अपनी बात कह सकूं। मैंने अपने गीतों को वही भाषा, शब्द, परिवेश दिया जिसमें आजकल छोटे तबके का आदमी जीता है। मेरे गीत छोटे आदमी के जनजीवन की भाषा बोलते हैं और उनके सुख दुख की बात करते हैं" (*साक्षात्कार : 1 जुलाई 1986*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन्दों की विविधता और सुगठित शिल्प ने गीतों को नवता प्रदान की है। गीतों में किए गए प्रयोग अस्भाविक नहीं हैं। आंचलिक शब्दों के प्रयोग से गीत की मिठास पाठक को सुख देती है; हालांकि इनमें ठेठ आंचलिकता नहीं है। नवगीतकारों की भीड़ में मयंक का निष्कलंक काव्य अपनी अलग छटा बिखेरता है। नयी कविता जिस प्रकार शिविरबद्ध है उसी प्रकार नवगीत भी अब शिविरबद्ध होता जा रहा है। इसीलिए मयंक की चन्द्रिका का शीतल ताप नवगीत के ठेकेदारों तक नहीं पहुंचा।

श्याम सुन्दर घोष के गीतों में आम जिन्दगी का ब्यौरेवार चित्रण है। अशांति, असुरक्षा, डर, दहशत, आतंक, असंगतिपूर्ण जीवन, महानगरीय विसंगतियां, प्राकृतिक आपदाएं, सूखा और बाढ़, मध्ययुगीन जीवन-शैली जीते हुए पिछड़े क्षेत्रों की भूमिहीनता, बंधुआ व बाल मजदूर, शोषण, क्षेत्रीयता, जाति-पांति, ऊंच-नीच, पारिवारिक विघटन, सामाजिक उत्पीड़न अन्याय, बेरोजगारी आदि समस्याओं को श्याम सुन्दर घोष ने बड़े करीने और नफीसी से गीतों में ढाला है। उनका निष्कर्ष है कि पहले जमींदार किसानों व मजदूरों का शोषण करते थे और अब नेताओं, अफसरों, पुलिस, नवधनाढ्य वर्ग और असामाजिक तत्वों ने उनके शोषण चक्र का झंडा अपने हाथों में थाम लिया है। उनकी स्थिति आज पहले से भी बदतर हो गई है। पहले जमींदार और उनके बीच केवल जमींदार के आदमी थे लेकिन आज शोषण-चक्र को गति देने के लिए दलालों और बिचौलियों की संख्या अनगिनत है। समय ऐसा विपरीत है कि अपराधी सिर ऊंचा किए छाती तान कर घूम रहे हैं और निरपराधी चुप, विवश और मौन रह कर देखने का आदी हो गया है-

"रात कहीं पर लुट जाती है/ दिन हो जाता घायल
कभी कहीं पर नूपुर बजता/ कहीं-कहीं पर पायल
अब तो अक्सर होती ही रहती हैं ऐसी घटनाएं
वंशी बजती रही कत्ल होता है दायें-बायें
कौन किसी को पूछे-ताछे बड़ा खराब समय है
कुछ बेखौफ घूमते, कुछ को हद से ज्यादा डर है।"

देश में हो रहे या दिख रहे सामाजिक आर्थिक परिवर्त्तनों ने सबसे अधिक निम्नमध्यवर्गीय को भीतर से तोड़ा है। भीतर की यह टूटन उसकी नैतिकता, निष्ठा आस्था को सरेआम ठेंगा दिखाती है। चारों ओर झूठ बेईमानी का साम्राज्य अघोरी नर्त्तन कर रहा है। समाज के तथाकथित ठेकेदार हर स्थिति, हर कानून को अपने पक्ष में देखने के आदी हो गए हैं उनके लिए हर कला सहज सुलभ है। ज्ञान, बुद्धि, विद्या, बल-वैभव, सत्ता शोषण का अधिकार उनकी मुट्ठियों में केन्द्रित है क्योंकि जब-जब भी नदियों को काट कर नहर बनाई जाती है उसे वे अपने घर की ओर मोड़ लेते हैं। उनके लिए हर समस्या का समाधान घर की बात है। साम, दाम, दण्ड, भेद की नीतियां उनकी रखैल हैं –

"घूंसा चलाने के काबिल भी कहां रहा
मारा मुंह-माथे पर/ गुण्डों ने डण्डा
बन्द हुई लफ्फ़ाजी/ जोश हुआ-ठण्डा
जिस-जिस ने गलियाया, घुड़का, क्या नहीं कहा।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन के सृजनात्मक पहलुओं को 'घुन' खा गया है। ज़ुल्म ऐसे घिनौने कि उन्हें ज़ुल्म कहन में भी संकोच होता है। स्वाभिमान इस कदर कुचला गया है कि घृणा अपमान के घूंट पीकर भी मनुष्य धनुष की तरह तनता नहीं, बिवाई भरे पांवों से अपने को घसीटता चल रहा है। चुपचाप अन्याय सहने के लिए वह अभिशप्त जो है। इस अभिशप्त मानवीय नियति के तेज़ाब अल्कोहल ने मानव को भीतर से भी नरकंकाल बना दिया है। कवि भरी-भरी आंखों से इन स्थितियों को बांचता है और उसे जो मार्ग सूझता है उसे शब्दायित कर अपने मन के आक्रोश को उड़ेल देता है –

"आओ अब खुद को नीलाम करें
अपमानित कभी कहीं कर देगा
मन का सुख-चैन खुशी हर लेगा
चूहे की तरह कुछ कुतर देगा
आओ अब इसको नाकाम करें।"

वह जानता है अत्याचारों का यह सिलसिला कभी नहीं खत्म होगा, इसीलिए वह अपने हाथों में 'शंख' चाहता है जो युग को परिवर्त्तनकारी नाद सुना सके। वह पुनः उन झांझ, मर्जीरों और ढोलों को बजाना चाहता है जो मनुष्य-मन की बीज बुनियाद है। वह झूमर, विरहा, चौपाई, दोहे, पद और साखियों को स्मरण कराना चाहता है, इसीलिए वह कहता है – 'एक शंख मेरे हाथों में दो।'

परिवर्त्तनशीलता का हामी श्याम सुन्दर जीवन को समग्र रूप में देखने का आकांक्षी है। जैसे नदियां आड़ी-तिरछी बलखाती, रुक-रुक कर आगे बढ़ती रहती हैं उसी प्रकार मनुष्य को भी बाधाओं को पार करते हुए आगे बढ़ना है। नदियों के स्वर हमारे जीवन में समरसता, प्रेरणा के स्वर गुंजाते हैं –

"इनके ही स्वर ने गूंथा है
जीवन का हर ताना बाना
गाती रहती मस्ती में भर टप्पा, ठुमरी, कजली नदियां।"

जीवन की खड़ी जटिल अग्निशलाकाएं और समरस समावेशी चिन्तन श्याम सुन्दर घोष की गीतीय चेतना में वर्त्तमान बन कर जीवन की आधुनिक विद्रूप मुद्राएं ओढ़ लेता है। आधुनिकता के इन्हीं स्वरों से श्यामसुन्दर घोष ने मनुष्य जीवन और उसके संघर्षों को संधित कर नया गीतपथ देने की कोशिश की है। स्थिति बिम्ब जटिल और कड़वे जरुर हैं लेकिन जीवन के नज़दीक हैं। शोषण मानसिकता पर भरपूर प्रहार है लेकिन निम्न मध्यवर्गीय नियति दर्शन की खरोंचें तलस्पर्शी एवं खरोंचने वाली है। विवशताबोध की आंखों से झांकती बेबसी जन-सामान्य को पारे की तरह बिखेर देती है। बिखराव की इस पीड़ा को झेलता समाज नपुंसक बन निरन्तर एक आतंक और उग्रवाद के बीच सिसकियां ले रहा है लेकिन उफ तक नहीं करता। इस भस्मासुर संस्कृति को मिटाने के लिए ही श्याम सुन्दर घोष के गीत-दीप अनुष्ठान भूमिका में खड़े हैं। सम्भव है रोशनी की इन गीत लकीरों से कुछ झरोखे खुलें और कारवां बनता चला जाए। जीवन पुनः सहज होकर गीत गति हो जाए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत संक्षिप्त और टेकपंक्ति वाले हैं लेकिन लोकधुनों एवं जनपदीय शब्दावली का प्रयोग इनके गीतों में नहीं है। मुहावरों के प्रयोग कहीं-कहीं प्रभावित करते हैं। लय-ताल संतुलित नहीं है, नादात्मकता कौंधती जरुर है लेकिन गूंज नहीं देती। इनके गीतों में यथार्थबोध की खरोचें ज्यादा है जिसके कारण हृदय पक्ष दब गया है। इसी वजह से लयात्मकता खण्डित होकर गीतों को साधारण कोटि में ले आती है।

रामावतार चेतन (*स्वर्गीय, कवि, लेखक, पत्रकार, प्राध्यापक - सन् 1950 से लेखन, 'आधार' और 'रंग' पत्रिकाओं का सम्पादन। काव्यकृतियां - 'श्वासों के स्वर', 'चांद के नीचे' और 'पारदर्शी पर्त्त'। बम्बई में स्नातकोत्तर व्याख्याता।*) रचित 'पारदर्शी पर्त्त' बीस वर्षों की समय-धारा पर तैरते भाव- खण्ड हैं, जो कवि की हार-जीत, वेदना, संघर्ष, आस्था-विश्वास के जीवन्त साक्षी हैं। गीतों- कविताओं के इन भाव-खण्डों ने कवि को अन्धकार में ज्योति, निराशा में सहारा दिया है। इन भाव- खण्डों को कवि के आशा-निराशा, निश्चय-अनिश्चय, संघटन-विघटन का लेखा-जोखा कहा जा सकता है।

विशेषण-सूचक चिह्न चेतन के गीतों में आकर्षण और निखार पैदा करते हैं। इस दृष्टि से 'संघर्ष-गीत' (*पारदर्शी पर्त्त : पृ. 15*), 'आज का गीत' (*पृ. 20*), 'थकान का गीत' (*पृ. 34*), 'युवा-गीत' (*पृ. 35*), 'गीत-अगीत' (*पृ. 79*) आदि गीतों में जीवन का मर्मस्पर्शी अंकन है। 'संघर्ष-गीत' में कांटों को सम्बोधित किया गया है जो मनुष्य के पांवों में ही टूट चुके हैं। ये वस्तुतः जीवट के अग्नि बाण हैं, धरती के रक्त-बीज हैं। कांटे होने के बावजूद इनके हृदय में साम्प्रदायिकता का विष नहीं, इनके हाथ तोपों से भी मजबूत हैं। मनुष्य-मन के संघर्ष-प्रतीक इन कांटों की छाती टैंकों से अधिक कठोर और माथे की रेखायें धरा का भाग्य बनाने वाली हैं। मानव और उसकी शक्ति के प्रति कवि पूर्णतः आश्वस्त है क्योंकि हर सुबह की रात गहरी होती है। अन्ततः अस्त सूर्य हठी यौवन की तरह उदित होगा –

"बीत ले हम पर/ कि जितना बीतने को है।
रीत ले संवल/ कि जितना रीतने को है।
आज को दे डालता हूं छूट,
आखिरकार-कल हमारा/ आज ऊपर जीतने को है।" (*पारदर्शी पर्त्त : पृ. 17*)

व्यंग्य की तीक्ष्ण धार चेतन के गीतों का अग्निरस है। कवि ने अपने बुद्धि-कौशल से आज के राजनीतिज्ञों, सामाजिक अनाचारों, जीवन की एकलव्यीय परिस्थितियों, द्रोणाचारी आचरणों, धृतराष्ट्रीय सत्तानशीनों, शोषण के सूत्रधारों, रेत की पटरी बनी मानवीय आस्थाओं, बाह्य आरोपित मूल्य-अभिशापों, वैज्ञानिक रथियों के हाथों आई इक्कीसवीं सदी के रथ में जुते अश्वों की लगाम नस्लों पर व्यंग्यनश्तरों द्वारा एक्यूपंचर पद्धति का इस्तेमाल किया है। इनकी बदहज़मी ठीक करने के लिए इनकी नस-नस में व्यंग्य की सुइयां धंसाना आवश्यक है। 'अतिशयोक्ति' गीत में अतिशयोक्ति अलंकार के माध्यम से अतिशय शब्द के बारम्बार प्रयोग से कवि ने सुन्दर तीखी व्यञ्जना की है –

"हम हैं अतिशय-गाथा!
अतिशय रफ्तारों में/ हम दौड़े जाते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतिशय विस्तारों को/ अतिशयतर जीवन को
सीमित फैलावों में/ चैन कहां है मन को!"

अतिशय मंजिल अपनी/ अतिशय संबल अपने लम्बी अपनी बांहें/ चौड़ा अपना माथा हम हैं अतिशय-गाथा!" (*पृ. 50*)

'अहिंसा' (*पृ. 50*) और 'मतदाता' (*पृ. 50*) जैसे मुक्तकों में व्यंग्य की कसाई धार सीधा प्रहार करती है।

'भाषा-परिभाषा' गीत में कवि ने क्षेत्रीय भाषाओं के प्रति प्रेम को विशाल राष्ट्रीयता के सन्दर्भ में आडम्बर माना है। इसीलिए वह चिड़िया को सम्बोधित करता है –

"ओ भोली चिड़िया! क्या धरा है इस आडम्बर में!
बोल तू अपनी इस धरती की भाषा में!
तेरी निजी अभिव्यक्ति/ मैं समझूं यदि नहीं, तो
मेरा इस विशाल देश के/ नागरिक होने का गौरव/ तथा सदियों पुरानी महान सांस्कृतिक/ परम्परा की धरोहर का उत्तराधिकार व्यर्थ है!"

"बोल री चिड़िया/ अपने हृदय की निश्छल भाषा में –
मेरा अन्तर/ तेरे अन्तर की भाषा समझने में/ समर्थ है।" (*पृ. 15*)

'आन्दोलन' (*पृ. 15*) और 'युवा-गीत' (*पृ. 15*) में कवि की व्यथा अपरिभाषित है। जिन युवाओं को हम देश का कर्णधार मानते हैं आज वे व्यवस्था के अगले दरवाजे पर प्रहार करते हैं लेकिन पिछले के खुलने का इन्तज़ार! इस दुर्भाग्यपूर्ण स्थितियों का सत्य अणुरक्त इकट्ठा करने वाला है। मानवता और सृष्टि इस न्यूक्लियर स्थितियों से कैसे निपटेगी यह भविष्य-गर्भ में निराकार है –

"झण्डे हथकंडे ले/ फुटपाथी सर्कस से/ आन्दोलन हिट करें
कंधे की हड्डी को/ कॉलर में फिट करें।" (*पृ. 55-56*)

व्यंग्य-गीतों के साथ कवि ने ग़ज़लें भी बहुत सुन्दर कही हैं। ग़ज़लों का सहज सम्प्रेषण जनसामान्य के अन्दर की कुरुपता को उसी रूप में हूबहू उड़ेल देता है। विषाद की पीत छाया मनुष्य को अन्दर से काटती चली जाती है। एक सीधी लकीर खड़ा करती है जिसकी नोंक पर रामावतार चेतन का ग़ज़ल-बोध जीवन की अन्दरूनी खूबसूरती को युग स्थितियों के रंग देता चलता है और मनुष्य अपनी चेतना की परतों को पारदर्शी पाता है। समाज की नब्ज़ आखेटक स्थितियों से मिल कर मनुष्य का कहां-कहां शिकार नहीं करती और सत्ता-व्यवस्था उन पर आश्वासनों और नारों का संतोष लेप लगा देती है। दुराचरणी दुर्योधन सत्ता के सामने तो आज कंस भी घुटने टेकने को बाध्य है, मनुष्य की तो बिसात क्या। इन्हीं स्थितियों के पारदर्शी बिम्ब ही इन ग़ज़लों का गर्भ है। 'खासियां चाहिए' (*पृ. 102*), 'हम' (*पृ. 98*), 'नज़र आते हैं' (*पृ. 96*), 'हो गया है' (*पृ. 95*), 'कहां से आया' (*पृ. 93*), 'है कि नहीं' (*पृ. 92*), 'परम्परा' (*पृ. 91*), 'क्या जिए हैं' (*पृ. 90*) आदि ग़ज़लें मनुष्य के अतीत और वर्त्तमान का गीत-बोध हैं।

इनके गीतों में व्यंग्य के लिए मुहावरों को बहुत खूबसूरती से पिरोया गया है। गीत संक्षिप्त,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आत्मानुभूतियों से प्रेरित, लयात्मक और टेक-पंक्ति वाले हैं। 'मुक्त लय' (*पृ. 35*) गीत में कवि ने 'लय' और 'रसानुभूति' को अनिवार्य माना है। एक बार यदि 'लय' टूट जाए तो फिर जोड़ने के लिए बहुत यत्न करना पड़ता है। कवि ने अपने गीतों, ग़ज़लों, मुक्तकों में इसी लय और रस को प्रमुखता दी है।

गीत में व्यंग्य, व्यंग्य में गीत यही **दिनकर सोनवलकर** की विशेषता है। नयी कविता की माला गले में डाल कर सोनवलकर ने गीति-कविता के अच्छे स्वर साधे। छोटे छोटे छन्दों में बड़ी बात कहना इस गीत कवि की विशेषता है। सोनवलकर अध्ययनशील रचनाकार हैं। इसलिए इनमें बुद्धि का प्रयोग अधिक है।

भोगे हुए आत्मपरक सत्यों का उद्घाटन बहुत मुश्किल होता है, बहुत तकलीफ होती है जब कोई अनुभूति आकार नहीं ले पाती लेकिन दिनकर सोनवलकर उन व्यंग्य गीतकारों की श्रेणी में है जिनकी रचनाओं का विषय मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों को रूपायित कर निर्धनों के अभावग्रस्त जीवन का मार्मिक अनुभव समेटे है, जहां अनुभूत अनुभूतियां आकार पाने को तड़पती नहीं हैं, अस्तित्व-संघर्ष के लिए बेचैन नहीं होती, बल्कि संयत विद्रोह के सांचों में ढली तीखे व्यंग्य नश्तरों से असामान्य प्रभाव छोड़ती चली जाती है।

'अंकुर की कृतज्ञता', 'पीढ़ियों का दर्शक', 'शीशे और पत्थर का गणित' इनके प्रकाशित काव्य- संग्रह हैं, जिनमें नई ज़िन्दगी के अनुभवजन्य चित्र अंकित हैं। प्राचीनता का मोहभंग कर नये जीवन के प्रति आस्था इन रचनाओं का मूल स्वर है। सामान्य जीवन के हर क्षण और हर स्थान में विरोधाभास है। मनुष्य का दुहरा व्यक्तित्व अपने द्वैत को अधिक से अधिक समृद्धि दे रहा है। शहर और गांव में कृत्रिमता और अकृत्रिमता का अन्तर है। ग्राम का जीवन असभ्य है, पर ईमानदार है। शिक्षित लोग अपने अपढ़ किन्तु आत्मीय लोगों से घृणा करते हैं। साहित्यिक कार्य एक व्यापार हो गया है। ये सन्दर्भ नयी ज़िन्दगी के हाशियों में अन्तर्भूत हैं। दिनकर ने इन जीवन-सन्दर्भों को वस्तुमुखी दृष्टि से तोला-परखा है और ज़िन्दगी के इस तीखे यथार्थ को अनुभूत सत्य में ढाला भी है। कवि की वस्तुमुखी इस परीक्षण दृष्टि का प्रतिमान नया होते हुए भी लव-कुश की परम्परा का द्योतन करता है –

"हम नयी पीढ़ी के लोग
लव कुश की परम्परा के साथी हैं
तुम पुरानी पीढ़ी के लोग,
अपनी साम्राज्यवादी लिप्सा में चूर
दर्प और शोषण के जो अश्व छोड़ते हो
हम उन्हें रोकेंगे
उनकी गति को अवरोधेंगे।" (*अंकुर की कृतज्ञता : पृ. 35*)

व्यंग्य गीतों का वैविध्य ज़िन्दगी की हर चुभन को छुपाये है। ज़िन्दगी के रोएं-रेशे जो भी कवि की आंखों में छवि बन कर उभरे हैं उनकी पहचान को कवि ने व्यंग्य-गीतों में ढाल दिया है। जीवन की इन अर्थ-छवियों की पीड़ा को अनुभव स्तर पर नयी अर्थवत्ता देकर सोनवलकर ने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सार्थक किया है। जीवन के जोड़ जहां भी खुले वहीं दिनकर की गहरी पैठने वाली दृष्टि ने कैमरे के लैन्स की भांति उसे शब्दित कर लिया। जीवन की यह पहचान उसके बहुत करीब है, 'दर्द कहां नहीं है' अनुभव करने वाला कवि-मन ऐसा मानता है कि इस जगत् में आन्तरिक रूप से कोई सुखी नहीं, कोई शान्त नहीं है –

"कुछ दर्द महज़ सहने के हैं/ कुछ दर्द सदा रहने के हैं
थोड़े से/ जो दर्द ऊपरी, अस्थायी हैं
बस वे ही तो कहने के हैं।" (*पृ. 8*)

आधुनिक समस्याओं को आत्मसात् करने वाले व्यंग्य प्रगीतों के अतिरिक्त दिनकर की दृष्टि प्रणय और प्रकृति के विशाल-बोध को भी आकलित करती चली है। नूतन बिम्ब-योजना कवि-व्यक्तित्व को जागतिक बनाती है। कवि का गीतधर्मी व्यक्तित्व प्रिया के 'स्मृति-सुख' में भी भरपूर रमा है। प्रेम-स्मृति का यह बिम्ब ताज़ा है, अनोखा है –

"आकाश के फ्रेम में जड़ा/ चन्द्र दर्पण,
उसमें प्रतिबिम्बित होता/ तुम्हारा श्रृंगार मुख
इस बिम्ब को/ बार-बार/ गीतों में बांधता/ मेरा सुख" (*पीढ़ियों का दर्शक : पृ. 40*)

शब्द भी कभी कभी कितने ठोस और नुकीले हो जाते हैं। इसकी साक्षी है 'शीशे और पत्थर का गणित'। नुकलाहट को और नुकीला बनाती लयधारी कविताएं नवगीत परिधि के आस-पास चक्कर काटती हैं लेकिन इनमें समाया व्यंग्य अग्निधारी होकर समाज की गैण्डा खाल और अराजक सोच के बीच हमारी भोथरी चेतना को भेद कर मूल संवेदना के नीचे बारुदी सुरंगें बिछा देता है। बस उन्हें एक चिंगारी की जरुरत है। दहक अंगार का यह अग्नि-दर्शक व्यंग्य चुभनों को तराशता चेतना की सभी तहों को भेद कर अर्थकुंडलियों को खोलता चला जाता है। भावनाहीन कविता की कल्पना करना प्रतिबद्ध प्रलाप के अतिरिक्त कुछ नहीं। दिनकर की रचनाएं भाव और विचार को समेकित कर जटिल जीवन की प्रतिक्रियाओं को एक कोंचीय चुभन के साथ नीमरस करती है। कुछ नमक, कुछ मीठा मिल कर कड़वाहटों को भी मीठी निबौली बनाने का संघर्ष करती है। जीवन के पर्यावरण को शुद्ध करने के लिए दिनकर की इन गीतीय कविताओं में विखण्डन कम कसावट ज्यादा है। संक्षिप्त कविताएं अपेक्षाकृत अधिक प्रभावित करती है लम्बी कविताओं में शैथिल्य एवं ढीलापन हैं। वायवीय लोक में विचरते, अंगारों को चिमटों से पकड़ने वाले साहित्यकारों को विखण्डन की चेतावनी देते हुए दिनकर कहते हैं –

"उधर आ गई एक और पीढ़ी/ जो कविता को ही नहीं,/ सभी कलात्मक मूल्यों को/ जला रही है बेरहमी से।
यानी/ बुनियादी सवाल/ खुद को स्थापित करने का नहीं/ कविता को बचाने का है।"

इनकी कविताओं में वैचारिक निष्कर्ष न सिर्फ जीवन से प्राप्त हैं, बल्कि जीवन को एक दिशा देने की कोशिश भी यहां दिखती है। अनेक कविताओं का बोध नयी कविता के चलन पर आचरण करता है, गीतात्मकता इन कविताओं में पूर्णतः खण्डित हैं। बहरहाल – "बस रोशनी देना ही/ लक्ष्य मेरा' पर सवाल यह उठता है कि इन विचारों की उपज क्या है, और वे कौन सी दिशा इंगित करते हैं। राजनीति के बारे में कवि का विचार है : 'कितना घिनौना है/ राजनीति का व्यापार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यहां हर मसीहा/ कुर्सी पाने को मचल रहा है/ नेताओं को वह आगाह करता है : 'तुम/ जिसके लिए कुर्सी ही लक्ष्य है/ एकमात्र/ तुम्हीं तो हो/ समूचे नाटक के खलनायक पात्र।' कवि को राजनीति का एक ही चरित्र नजर आता है और दिमाग में यह साफ नहीं है कि यह राजनीति किन शक्तियों द्वारा संचालित है। बुद्धिजीवियों का हाल यह है कि वे 'शब्द के धनी, क्रांति का दर्शन बघारते हैं', 'रंगीन महफिल' सजाते हैं, और उन सबों ने 'सुविधा' को चुन लिया है। इसलिए 'कुछ नहीं मिलेगा/ किताबों में।'

लोगों का क्या हाल है? जिंदगी और मौत के बीच/ किसी तरह घिसट रहे हैं लोग/ न वे करते हैं क्रांति/ न वे नया समाज बनाते हैं।' और आम आदमी की फरियाद है : 'मुझे अपनी मेहनत मजूरी करने दो/ चैन से।'

कुल मिलाकर 'समूचा देश/ एक अंधा कुंआ है/ जिसमें भांग पड़ी है/ दिल्ली से देहात तक/ पूरी व्यवस्था ही सड़ी है।' 'इस हिंदुस्तान में' सब कुछ है : 'बहस करते हुए बुद्धिजीवी, संघर्ष करती हुई जनता, कुर्सी बचाता हुआ मंत्री, प्रवचन करते हुए भगवान, गालियां देते हुए गुंडे, रिश्वत लेते हुए अफसर, मेकअप करती हुई लड़कियां।' सब-एक दूसरे से कटे हुए हैं, समस्याएं सबकी हैं, मगर वे मिल कर उनसे नहीं लड़ते, इसलिए समस्याओं का दलदल बढ़ता जाता है। सलाह यह है कि 'चारों ओर दीवारें ही दीवारें/ चलो/ इन्हीं पर सिर मारें/ 'यानी दिशाहीनता की स्थिति में एक रास्ता बचता है, वह है विवेकहीन विद्रोह का" (*जनसत्ता : 25 मई 1986*)।

कवि एवं व्यंग्य गीतकार के रूप में दिनकर सोनवलकर निरन्तर प्रगति-प्रसिद्धि के मापक चरण नाप रहे हैं। व्यंग्यकार के रूप में इस कवि-व्यक्तित्व से काफी सम्भावनाएं की जा सकती हैं। इनकी छोटी-छोटी गीतात्मक रचनाएं अधिक संयत, चुटीली और सधी हुई हैं। अनुभूति सघनता का अभाव, बर्हिमुखी दृष्टि इनके गीति-व्यक्तित्व के लिए अहितकर है। स्फीत दृष्टि-फलक होते हुए भी जब तक कवि-दृष्टि अनुभवजन्य ताप से तप कर अन्तर्मुखी नहीं होगी जब तक इनकी रचनाओं का पैनापन भी युग का साथ अधिक नहीं देगा, फिर भी गीतों में विद्यमान तीव्र सम्प्रेषण, सायासिक भाषा, नवगीतों की ताज़गी, सहृदयता और लोकोनुरूपता उभरते हुए एक व्यंग्य-गीतकार के रूप में इनकी-पहचान को विशिष्ट बनाये हुए है।

आजकल आप ज़रा गहरी दृष्टि इधर-उधर दौड़ाए तो - कला ऐसी अनेक रूपा हो गई है कि सत्य की परख खो गई है। कला का विषय वह अस्पष्ट और पिघलने वाला प्रकाश है जो वस्तुओं के साथ लिपटा होता है और जिसे केवल संवेदनशील मनुष्य ही देख सकता है। **शेरजंग गर्ग** नवगीत की तथाकथित प्रक्रिया में किसी विशिष्ट शैली का प्रतिनिधित्व नहीं करते परन्तु उनका कथ्य जीवन की जिस छटपटाहट को व्यक्त करता है वह स्वयं में एक विशेष उपलब्धि है। डॉ. गर्ग के कृतित्व पर उर्दू साहित्य का प्रभाव है। साहित्य का प्रभाव महत्त्वपूर्ण न भी हो तो शैली में फ़ारसी की गुनगुनाहट है। शेरजंग ने जहां गीत लिखा है वहां हिन्दी का संस्कार एक नये तेवर के साथ आविर्भूत होता है। वैसै डॉ. गर्ग हिन्दी के ही लेखक माने जाते हैं। हिन्दी गीत-ग़ज़ल को इन्होंने सहजता दी है। अनुभूतियों की सरलता से अभिव्यक्ति और वह भी व्यंग्य शैली में तो वह आकर्षक और प्रभावोत्पादक हो जाती है। व्यंग्य का समकालीन मुजरा देखिए, तुर्शी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में कितनी नफ़ीसी और धार कुठार हैं –

"देश को शौक से खाते रहिए/ चैन के ढोल बजाते रहिए,
क्रान्ति को भ्रान्ति बनाते रहिए/ शान्ति का शोर मचाते रहिए।
एक-दो मंजिलों का घर क्या घर/ मंजिले रोज बढ़ाते रहिए,
तर्क सब गर्क, बढ़ा कर संपर्क/ हां फ़क़त हां में मिलाते रहिए।
धर्म का मर्म समझ कर दुष्कर्म/ खून इंसां का बहाते रहिए,
क्या दया और हया अब कैसी/ बेहयायी को भुनाते रहिए।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : 10 जनवरी 1993*)

डॉ. शेरजंग गर्ग के कृतित्व का प्राणतत्व व्यंग्य है। गीत में, ग़ज़ल में, रूबाइयों में उन्होंने व्यंग्य के सतरंगी दर्शन कराये हैं। शब्द को सही जगह पिरोना डॉ. गर्ग को बहुत अच्छी तरह आता है। समाज के विकृत तत्व, विषमता, राजनैतिक अनैतिकता और आर्थिक विपन्नता-विषमता को लेकर कवि ने बहुत सुन्दरी व्यंग्यधर्मी रचनाएं लिखी है।

दो नमूनें नोश फ़रमाइये –

"देश चारों ओर धू धू जल रहा है/ वोट-कुरसी का तमाशा चल रहा है,
छद्म भाषा को तराशा जा रहा है/ साफ बातों का मुहूरत टल रहा है।
नवसृजन के सूत्र टूटे और बिखरे/ ध्वंस ज़िन्दाबाद होकर छल रहा है,
प्रेमियों के पात्र में नफरत न ढालो/ बंधु इसमें मात्र गंगाजल रहा है।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : 11 नवम्बर 1990*)

"तुम खिलो, हम खिलें सभी खिल जाएं/ बात ऐसी तो हो उमंगों में
गीत, संगीत, प्रीत के विपरीत/ भक्तजन खो गए हैं दंगों में
होड़, गठजोड़, तोड़ की बातें/ संत दोहरा रहे सत्संगों में
लुत्फ़ आता नहीं लतीफों में/ हम तो उलझे है आत्मव्यंगों में।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : 10 जनवरी 1993*)

'चंद ताज़ा गुलाब तेरे नाम' इनका प्रकाशित संग्रह है। इन्होंने प्रत्येक क्षेत्र में नये प्रयोग किए हैं। गीत हो या ग़ज़ल किसी पुरानी बंधी बंधाई लीक पर चलना इन्होंने नहीं सीखा। सामाजिक वैषम्य को इन्होंने सर्वाधिक खुरचा है। किसी वस्तु का प्राप्त न होना घातक नहीं, परन्तु गलत हाथों में जाना भयंकर है। डॉ. गर्ग ने अपना भाव-प्रभाव इसी मनोवृत्ति पर अधिक रखा है। 'युगगीत' में अपनी तल्ख़ी को नुकीला बना कर कवि का रचनाशील मन बहुत ही सहजता के साथ अपनी बात कह कर आगे बढ़ जाता है –

"सौ-सौ प्रतीक्षित पल गए/ सारे भरोसे छले गए/
किरणें हमारे गांव में/ खुशियां नहीं लाईं।" (*चंद ताजा गुलाब तेरे नाम : पृ. 9*)

'मृत इच्छाओं' का कब्रिस्तान देखिए –

"अब कोई/ दर्द नहीं खलता है
याद नहीं आते हैं रंग, इन्द्रधनुषी रंग!

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूर, बहुत दूर/ आसमानों में/ परिस्थिति के पेंचों ने
काट दी/ दुलार की/ कुंलाचती पतंग।" (*पृ. 19*)

बहुआयामी व्यक्तित्व के मालिक शेरजंग ने बच्चों के लिए भी उल्लेखनीय कार्य किया है। इनके बालगीत बहुत प्रसिद्ध हैं। प्रचार-प्रसार के प्रति सहज डॉ. गर्ग अपना लेखन निरन्तर जारी रखे हुए हैं। पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनाएं निरन्तर पढ़ने को मिलती हैं। नयी पीढ़ी के नये विचारवाही गीत, ग़ज़ल आदि में डॉ. गर्ग को सम्मानित दृष्टि से लिया जाता है। इधर ग़ज़ल संग्रहों की भूमिकाओं में जो सूची प्रकाशित हो रही है उनमें डॉ. गर्ग का स्थान रेखांकित किया जा रहा है। नये प्रतीक और नये बिम्बों के प्रति डॉ. गर्ग की अतिरिक्त संसंक्ति है। गंभीर व्यक्तित्व साफ़ और सपाट है, व्यंग्य रहित, कोई ख़म नहीं। गहरी से गहरी बात को बहुत ही आसान तरीके से कहने की अदा इनकी अपनी है – सिर्फ़ अंगूठे हैं हम लोग' यह एक पंक्ति सारी मानसिकता को बड़ी सफाई से व्यक्त कर रही है। आज के मानव के तथाकथित दिलकश अन्तर्विरोधी आचरण की एक बानगी देखिए –

"दिल से सौ-सौ दुआयें देकर भी/ तुमने दिल को मगर, पनाह न दी;
कितना तीखा मज़ाक है, गोया/ रोशनी बख्श दी, निगाह न दी।" (*पृ. 27*)

कवि ने अपनी आचार संहिता को बड़े ही नफ़ीस तरीके से शायराना अंदाज में नुमाया फरमाया है। इस साफगोई और अंदोजे बयानी में आज के आदमी का पूरा सच भी नंगा हो जाता है। शायर का प्रच्छन्न व्यंग्य चुभन कोंच कर सीधा हमला करती हैं –

"हमारी ज़िन्दगी में/ खुदकुशी करने के/
कई अवसर आये हैं/ और हमने उन्हें टाल दिया है/
क्योंकि हम अवसरवादी नहीं हैं।" (*पृ. 73*)

ऐसे मिसंरे और सूक्त्यात्मक गीत-ग़ज़ल मुखड़े इनकी रचनाओं की यथार्थ भूमि है। समय को हुबहू छापती चलती शेरजंग गर्ग की गीत ग़ज़लीय रचनाशीलता पीछे मुड़ कर नहीं देखती। उसका गणित सीधा और सच्चा है। इतने आक्रोश जनित उफान-संत्रास, वैषम्य-जूठन, पतित आचरण, अतिबौद्धिक अराजक पर्यावरण के बावजूद गीतकार शायर का विश्वास देखिए जो कुबेरीय प्रतीतियों की स्मिति-रेख बन कर विद्युत सी कौंधती है –

"पिघलकर ही रहेगा एक दिन पत्थर/ दृगों के नीर पर इतना भरोसा है
सदा संघर्ष करता हूं मुसीबत में/ हज़ारों आफतों की क्रूर हरकत में
अजी, तकदीर खुद ही मुस्करायेगी/ मुझे तदबीर पर इतना भरोसा है।"

(*संडे मेल : 6 मई 1990*)

सामाजिक एवं मानव सरोकारों की व्यंग्य तुर्श महीन गीत ग़ज़लीय बुनावट करने में सिद्धहस्त डॉ. शेरजंग गर्ग का लेखन अब प्रौढ़ता की ओर है। अभी मंजिलें और भी हैं, राहें नयी तलाशों की मुंतज़िर। इसीलिए इनके सफ़र में नैरन्तर्य एवं आंच का सिलसिला नये सर्गों की रचना के लिए परिवेशगत प्रतिबद्धता के प्रति पूरी तरह सचेत हैं। यही कारण है डॉ. गर्ग मंच, संचार, साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जन के रसिक हृदय में स्थान बनाए हुए हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिनेश सिंह ने नयी कविता के भाव संसार को संकुचित दायरे में सिकोड़ कर नवगीत के विस्तार को महत्त्व दिया है। वैसे नवगीत दशक के समस्त कवियों की टिप्पणियां नयी कविता के शरीर को छीलने वाली हैं। सभी के वक्तव्यों में घूम फिर कर एक जैसा स्वर है। नवगीत की समरसता इन एकत्रित गीतों में पाई जाती है। कमोबेश सभी वही राग अलापते हैं और अधिक से अधिक शब्दों को विकृत कर उन्हें आंचलिकता देने के प्रयास में है। दिनेश जिस बोधगम्यता और सम्प्रेषणीयता की बात करते हैं वह आरोप नवगीतों पर भी हो सकता है। नवगीत किसके लिए हैं और नयी कविता किसके लिए? यदि दोनों के श्रोता समान है तो आरोप दोनों पर सही है। नवगीत जहां सहज है, स्वाभाविक लय और नये उपमानों के साथ जीवन से जुड़ता है वहां उस का स्वर ताज़गी देता है। यदि नवगीत कठिन काव्य के प्रेत की रचना बन जाए तो उसकी उपयोगिता में संदेह उत्पन्न हो जाता है। दिनेश के नवगीत उतने सहज और अकृत्रिम नहीं है। प्रारंभ जितना आकर्षक होता है मध्यम उसका उतना ही उलझा हुआ। जहां प्रकृति के प्रति साग्रह चिन्तन है वहां सौन्दर्य दृष्टि निखरती प्रतीत होती है –

"सुबह की ताजी हवा में/ हम नदी के साथ,
थोड़ा घूम फिर आयें..................।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 116*)

साधारण अनुभूतियां अभिव्यक्ति की गर्माहट लिए हुए हैं। संवेदना की आंतरिक तरलता शिवप्रद सार्थकता में आज के आदमी से जोड़ती है –

"दिन जैसे इन को कोई डर-सा हो गया,
सूरज से आंख मिलाये अरसा हो गया....।" (*पृ. 119*)

इस प्रकार के गीतों में जीवन की घुटन और अभाव स्वाभाविक शैली में व्यक्त हुए हैं –

"तू कुलच्छिन, कोयले बिन/ ढोल के सुर राग मत गिन,
तनिक पेट टटोल/ हैं तो खाल से दोनों मढ़े।" (*पृ. 120*)

दिनेश सिंह के नवगीतों में लोक-लयों की अनुगूंज है –

"पहिने बाग-बहार ताल झांके बसवारी
छिन बदरी, छिन धूप, पात आंखों से पीले
चुप! चुप कहे बयार उमर अपनी सब जीते
टूटा गंध सितार, कसे फूलों की क्यारी।" (*नया प्रतीक : सितम्बर 1977 : पृ. 80*)

इनके गीतों का छन्द-विधान नया है। छन्द का प्रथम चरण जिस प्रकार है दूसरा-तीसरा चरण इससे भिन्न है –

"ढोल/ढांपे पोत बाजे/ बाजने दे।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 120*)

अंचलीय लोक तात्विकता के रस में नहा कर युवा हुआ शब्द-तन्त्र अर्थ-सौन्दर्य की अनेक परतों को कोमलकृशी नववधू के घूंघट की तरह खोलता है। अर्थ सौन्दर्य के दिपदिपाते बांक सौन्दर्य में घूंघट का सलोनापन बींधने वाला है। सौन्दर्य-बांक का यह नवीन तेवर देखिए –

"एक मुट्ठी धूल ले आये/ जहां तक जाये हवा जाये
थाप दे-दे खिड़कियां खोले/ दर्पणों से चीख कर बोले

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बन्द घर में या कि कुछ गाये/ जहां तक जाये हवा जाये।
लहर बनकर धारा पर लहरे/ पाल के संग नाव पर फहरे
या कि तट से शीशा टकराये/ जहां तक जाये हवा जाये।"

(*नया प्रतीक : जनवरी 1978 : पृ. 81*)

इन नवगीतों में गांव की कसमसाहट है, किसान और मजदूर की व्यथा भरी सांसों का कटु क्वणन है। गांव की आंचलिकता ने इन्हें सहजता तो दी परन्तु बोधगम्यता का अभाव निरन्तर खलता है। आज देश की 'वासन्ती' आठों पहर रो रही है। वह गांव में हो या शहर में उसके भाग्य की लिपि में विधि ने दुख ही लिखे हैं। प्रायः नवगीत का विषय वही है और है भी ठीक। आख़िर जीवन और है भी कहां? दिनेश के गीतों में ताज़गी है परन्तु प्रयोग में जितनी सरलता होगी वह उतने ही हृदय के समीप लगेगी। इनके गीतों में लय की प्रधानता मिलती है। छान्दस अनुराग गीत की सम्प्रेषणीयता के महत्त्व से अनुप्राणित है।

विनोद निगम के गीतों में जीवन की विविधवर्णी अनुभूतियां चिंगारी में छुपे स्फुलिंग की तरह ऊष्मा और रोशनी का अहसास देती हैं। इन गीति कविताओं में हृदय का संवेदनशील श्रृंगार और जीवन के अलाव में सुलगते अंगार का संतुलन है। जब हृदय में प्यार की हिलोर उठती हैं तो वह गा उठता है –

"एक बार और/ अधर तक आओ/ एक और गीत का जनम हो।"

(*जारी हैं लेकिन यात्राएं : पृ. 75*)

ऐसे गीत श्रृंगार की मिठास से न केवल मन की रिक्ति को भरते हैं अपितु उन्हें पावस मेघ बना देते हैं। गीतकार अपनी प्रियतमा से नयनों को भाषा और अधरों को गति देने के लिए कहता है –

"बंधने को आतुर हैं ये खुली भुजाएं/ अब तो अनुमति दो।" (*पृ. 73*)

सहज स्वाभाविकता से छूने वाले श्रृंगार गीत नवगीतकारों ने कम लिखे हैं। परम्परा और नव का गठबंधन करता गीत 'कोलाहल बंधा है साथ' एक अच्छा गीत है। इसी प्रकार 'गीत क्षण जिया' अनुभूति की कोमल अभिव्यक्ति है। इसलिए विनोद निगम के इस पक्ष पर पहले विचार होना चाहिए। प्रेम की प्यास पुरानी है परन्तु अभिव्यक्ति ने उसे असंख्य रूप दे डाले हैं। विनोद का परिवेश उनकी रचनाओं में झांकता है। सबसे अच्छी बात यह है कि उसमें विरह का आर्द्र समर्पण नहीं है। वह खुले मन से अपनी बात कहता है –

"और अधिक इस खुली चांदनी में मत बैठो/ जाने कब संयम के कच्चे धागे अलग-अलग हो जायें।" (*पृ. 66*)

गीत कवि प्रेम के साथ यथार्थ का संकेत देते हुए आयु के मनोविज्ञान को बिना लागलपेट के मुकुर करता है कि यह उम्र बहुत ज़्यादा सहने योग्य नहीं हैं। यौवन का उद्दाम वेग कभी किसी से नहीं रुकता। यह स्वाभाविकता प्यास के साथ मानवीय अनुशासन और सामाजिक मर्यादा की रक्षा के लिए भी सावधान है। इसमें प्रेम की पावनता को प्राण मिले हैं। गीत पढ़ते ही शब्द एक अर्थ चित्र खींच देते हैं। नारी का कोई भी खुला अंग पुरुष मन को आकर्षित करता है -

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"खुली भुजाएं और नीम से छनी चांदनी/ लगता है संकल्पों के दिन ठीक नहीं.....।"

(*पृ. 64*)

यौवन सुलभ चंचलता और प्रकृति का उद्दीपन पक्ष दोनों अनुभूति को सार्थकता देते हैं। कालिदास ने ठीक कहा था – 'ज्ञाता स्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः।

नवगीत में भावुकता और मनुष्य की पीड़ा दोनों साथ चलती हैं। भावुकता जब पीड़ा के क्षणों में उभरती है तो प्रिय की स्मृति मन में बसी हुई ऐसी लगती है जैसे पहाड़ों में कोई अकेला गांव बसा हुआ हो। अशान्ति और बेचैनी जीवन में इस प्रकार व्याप्त हो गई है कि सुबह, शाम और दोपहर सारा शहर भीड़ में चलता-सा प्रतीत होता है। गीत-मानस के साथ-साथ विषबुझी हवाएं चलती हैं, सारे सम्बन्ध, मान्यताएं, आकर्षण सब एक एक कर टूट गए हैं। जीवन का वर्त्तमान जब यही है तो गीतों में वही व्याख्यायित भी होगा।

नवगीतों में प्रकृति जहां मुस्कुराती है वहां वह मिठास का अलग स्वाद भी देती है। जब नवम्बर का महीना आता है तो फूल की महक गीत कवि को रिझाती है। कुनकुनी हवाओं में हल्की सी ठिठुरन महसूस होती है। इस प्रकार के ऋतु-अनुभव विनोद के गीतों में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं।

नयी कविता के स्वर की खरी आलोचना करते हुए विनोद निगम ने उसे विदेशी नक़ल बताया है। इसमें कोई संदेह नहीं कि गीत की आत्मा में भारतीयता है। नक़ल साबित करना जोखिम का काम हो सकता है परन्तु भारतीय दर्शन की लयात्मकता असंदिग्ध है। विनोद के गीत लय और छन्द की दृष्टि से बहुत सधे हुए हैं। मनुष्य का मन उदासी से भरा स्फूर्तिहीन है। यही कारण है कि गीत का मन उदासी से उबारने के लिए सड़कों पर आना चाहता है क्योंकि –

"घर में गतिहीन हुए हम/ सड़कों में यात्राएं हैं।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 127*)

मनुष्य का पेट खाली है। खाली पेट मौसम नहीं सुहाता –

"मौसम है खुशनुमा खूब/ मौसम के रंग तो खिले हजार हैं/ छोड़ गई मौसम से काट कर हमें/ रोटी में भी कितनी तेज़धार है" (*पृ. 128*)।

आर्थिक विषमता की चक्की में पिसता मनुष्य जीवन के किसी भी सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाता। विनोद मनुष्य व्यथा को गीत में तरल कर, संवेदना की अग्नि में पका कर उस खालीपन को भरने की कोशिश करते हैं जो मनुष्य की कोमलता को तबाह करता जा रहा है।

कोई भी समर्थ साहित्यकार वर्त्तमान की पीड़ा और समस्याओं से अनपेक्ष नहीं रह सकता। विनोद निगम ने अपने इस बुनियादी धर्म को निभाया है। राष्ट्रीय उपलब्धियों के सन्दर्भ की रचनाएं वर्त्तमान अभाव, त्रास, घुटन और तनाव को व्यक्त करती हैं। रोटी पानी की चिन्ता ने मनुष्य को जीवन के सभी क्षेत्रों में भटकाया है। इस प्रकार के गीतों में कोई नयापन नहीं महसूस होता। सभी नवगीतकार एक जैसी घुटन को प्रायः एक जैसे की तरह ही प्रकट करते हैं।

विनोद निगम ने गीत को यात्रा माना है। इस यात्रा में धूल, पानी, हवा, मौसम, धूप, अंधेरा, फूल का मकान, गलियां, सड़कें, कारखाने, ऑफिस, फाइलें जो भी गीत कवि के मन में प्रत्यक्ष हुई हैं सभी का अभिव्यक्तिकरण हुआ है। प्रकृति से सम्बन्धित गीत विनोद की परिवेशीय प्रकृति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निरीक्षण दृष्टि को प्रकट करते हैं। इनमें प्रयोगधर्मा शब्द अपने विशेषण रूप में 'नव' को सार्थकता देते हैं –'अंखुवाए दर्दों का बढ़ता फैलाव', 'कचनारों की संध्या', 'धीरज की लक्ष्मनी लकीर', 'इम्तहानों से लदे, गोरी के घांघर', 'खरगोशों-सा दौड़ गया दिन', 'लंगड़े तर्कों के कंधों' आदि ऐसी शब्दावली है जो विनोद निगम की अन्वेष दृष्टि का परिचय देती है। विनोद में पारम्परिक गीत और नवगीत का आदर्श मिश्रण है इसलिए यहां नियत में बेइमानी की गुंजायश ही नहीं है। सफल नवगीतकार के रूप में प्रतिष्ठित होने के लिए विनोद निगम अभी संघर्ष कर रहे हैं। इधर-उधर प्रकाशित नवगीत संकलनों, पत्र-पत्रिकाओं में भी विनोद प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं। 'जारी हैं लेकिन यात्राएं' इनका प्रथम प्रकाशित ग्रन्थ-चरण है। नवगीत को ऐसी प्रतिभाएं निश्चित ही प्रतिष्ठित कर सकती हैं।

गीत को काव्य की मूल और कालजयी विधा मानने वाले **डॉ. सुरेश श्रीवास्तव** नवगीत सृजन की ओर बिना किसी बाह्य प्रभाव के स्वभावतः प्रवृत्त हो गए हैं। कवि ने नयी कविता की अपेक्षा नवगीत को भारतीयता के अधिक निकट पाया है। वस्तुतः यह सत्य है कि नयी कविता के कवि और आलोचक नवगीत को स्वीकार करना तो दूर गीत विधा को आदर देने या उसे स्वीकारने में हिचकिचाते हैं। गीत की वकालत करने वाले डॉ. सुरेश के गीतों में जीवन का सादगीपूर्ण चित्रण हैं। वह जिस आशा को लेकर जीवन अपनाता है उसका वहां अभाव है –

"दूर से चल कर बहुत खुश था मिलेगी छांव,
क्या ख़बर थी और भी जलते मिलेंगे गांव।" (*नवगीत दशक - 3 पृ. 44*)

यह निराशा गांव, नगर, महानगर सभी में व्याप्त है। समाज की विषमता सर्वत्र मिलती है। धनी और निर्धन के बीच फ़ासला और भी बढ़ता जा रहा है। उसे 'लग रहे बौने बहुत ही कुछ बड़े-से लोग' (*पृ. 45*)।

सुरेश श्रीवास्तव ने अपने एकमात्र संग्रह 'ऋतु वृन्दावन' के चवालीस गीतों में विविधमुखी कोणों से प्रकृति के रंगदर्शी सुर-स्वरों को सर्गबद्ध किया है। इस संग्रह के गीतों को गीतकार ने 'चार तिनका ऋतुएं', 'राग वसन्त उर्फ फूल काण्ड' 'राग ग्रीष्म उर्फ अग्निकाण्ड' जैसे नौ उपशीर्षकों में बांटा है। शैल्पिक नव्यता इन गीतों की विशिष्टता है। बारहमासे की नवीन प्रतीक-बिम्बात्मकता की उपमान-संयोजना में कवि के रचनाशील मन ने वर्त्तमान त्रासदी की अत्याधुनिक संवेदनशील- स्थितियों को युग-सत्य की अलाव-अग्नि में शीशे की तरह पिघलाया है –

"सहमा-सहमा फिरता सड़कों पर दिन/ दीर्घकाय होते जाते हैं पल छिन
सन्नाटा पिघल रहा ज्यों जीवित लाश/ सांस पर उठाये हैं जलता आकाश
गौरी सुकुमार किरण/ गाती है कजली।" (*ऋतु वृन्दावन : पृ. 34*)

इन गीतों में प्रकृति ही वर्त्तमान परिवेश, सामाजिक सन्दर्भ, आर्थिक विपन्नता, सांस्कृतिक संकट आदि की लोक संवेदनात्मक अभिव्यक्ति के रूप में मुखर हुई हैं –

"गाभिन गैया-सी डकराती रात नींद कब ठहरी?
प्राण सिकें ज्यों ताती रोटी धरती तपी तवा-सी
नीम तते बूढ़ी-सी खटिया ढके निबौर दवा-सी
आमों के रसदार पन्हें में डूबी सब लू लहरी।" (*पृ. 65*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. सुरेश श्री वास्तव में नवगीत की हल्की सी आंच है। जीवन के कड़वे-मीठे अनुभवों को नये प्रतिमानों के साथ प्रकट करने की अच्छी कोशिश है। कंधों को कुली और शहजादे बोझ बना कर अच्छा रूपक प्रस्तुत किया गया है –

"कंधे कुली/ बोझ शहजादे कोई फर्क नहीं,
राजे कभी/ कभी महाराजे/ कोई फर्क नहीं....।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 47*)

'मन भीगे कपड़े-सा, सुग्गे-सा पालता पिंजरे में प्यार....पांखों से झर गये सपन' आदि नवीन उपमानों ने गीतीय चेतना के दायरे को व्यापक कर युगीन मानसिकता से सीधे-सीधे साक्षात्कार किया है। सूक्ति जैसे वाक्यों ने गीत-कथ्य को गहरा और सामुद्रिक कलशीय बोध से जोड़ा है-

'भाव रिश्तों के बहुत ऊंचे बढ़े' (*पृ. 6*)
'दर्द से हारे नहीं/ ये लड़खड़ाते पांव' (*पृ. 52*)
'ढाई आंखर' (*पृ. 27*) में प्रतीकात्मकता गहरे दर्शन का अनुसंधान है।

आज मनुष्य मनुष्य के बीच सत्याधारित सम्बन्ध टूट गए हैं। नाते रिश्ते टुकड़े टुकड़े और प्यार की धज्जियां उड़ गई हैं –

"रास्ते में कागजी टुकड़े पड़े/ एक हल्की सी हवाई, उड़े....।"।

आज के अख़बारों की सुर्खियों में केवल बड़बोलों की बातें हैं। इन बातों का कोई मूल्य नहीं है। जीवन का बिखरापन कवि को सालता है। बेवज़ह भीड़ और बेमतलब के लोग चारों ओर दिखाई देते हैं। भाषा, शैली और शिल्प में कहीं कहीं ताज़गी है। छन्द को साधने की इन्होंने सफल कोशिश की है। 'मौसम को आग लगी है, कागज के फूल महकते' जैसे गीतों में बांकपन है। आज के जीवन की छवि को नये रूपकों द्वारा व्यक्त करने की इनमें बेचैन ललक है। अपने प्रकाशित गीत संकलन के बावजूद नवगीत दशक के अतिरिक्त डॉ. सुरेश श्री वास्तव नवगीत में चर्चा का विषय नहीं बने – यह विचारणीय है। नवगीत का जो एक रूप और सांचा बन गया है उसमें फिट होने की पूरी जद्दोजहद इनमें है। अन्य नवगीतकारों की तरह इनमें भी इश्तहार, शीशे का घर, बौनापन, अर्गनी, कांच आदि सभी का प्रयोग है। दर्द भी वही है –

"पीछे चल कर आगे पहुंचे/ जाने कितने लोग/ हमें हजूरी रास न आयी/ लगा क़लम का रोग।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 48*)

इस क़लम का रोग तो जरुर लग गया परन्तु इस रोग से नवगीत को फिलहाल तो कोई लाभ नहीं हुआ। साधना की गति में तीव्रता आये और लेखन सिद्धि की ओर मुड़े तभी कुछ कहा जा सकता है। इस समय तो मात्र इतना ही कि प्रतिभा कल्पना है और बिम्ब-संयोजन में निखार भी, इस के बावजूद ऐसा कुछ है जो नवीनता की मांग करता है।

कभी कभी कोई चिन्गारी जो कभी ऊष्मा दे रही थी वह किन्हीं बाह्य-आभ्यन्तर कारणों से धूल में दब गई। वह दबती रही, लोग इधर-उधर से निकल जाते हैं परन्तु सिवाय घर-आंगन के अब कोई हवा उसका स्पर्श अनुभव नहीं कर पाती। आज जबकि चारों ओर अगीतात्मक जड़ता का शीत सता रहा है तो याद आती है उसी ऊष्मा की। इस ऊष्मा की याद दिलाई गीत-कवि पं. मधुर शास्त्री ने।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आगरा स्वयं में धन्य नगर है जहां हरिशंकर शर्मा, डॉ. गुलाब राय, डॉ. रामविलास शर्मा जैसे दिग्गज विद्वानों की साधना ने सिद्धि की रसानुभूति की। वहीं किसी मधुवनी में **घनश्याम अस्थाना** ने रास रचाया। घनश्याम अस्थाना के गीतों में ताज़गी और प्रस्तुति की एक गरिमा है। मंच पर सदा ही आदर से सुने गए। आकाशवाणी से उनकी रचनाएं सुनने को अब भी कभी-कभी मिल जाती हैं। अस्थाना के गीतों में मानवीय संवेदनाओं की गहरी अनुभूति है। इस अनुभूति का सुखद स्पर्श जब कोई रसिक अनुभव करता है तो वह तरल हो उठता है। इस तरलता में विद्रोह की तालबद्ध प्रतीतियां जीवन की कटुता को उड़ेल देती है।

घनश्याम अस्थाना 'सूर्यों के अन्वेषी हैं' जो वर्त्तमान की हिंसात्मक क्रूरता, हताश घटाओं के ऊपर छाते निराश मेघों की क्रीड़ा को समझ कर उसकी अन्तर्चेतना में उतरता है, इसीलिए वह निराशा-हताशा को आसानी से नहीं स्वीकारता। हा हा करते अंधकार की छाती पर जुगनू नृत्य करते इनके गीत आस्था की भाव-भंगिमाओं को बार-बार संशोधित करते हैं। इनकी तलाश तमस से ज्योति के पंख बांधने की है, इसीलिए इनके गीतों में खाली मेघ पुनः पुनः भरने लगते हैं। 'सूर्य का अन्वेषण' वस्तुतः चरेवैति उपनिषद् ही तो है फिर जीवन जड़ कैसे हो सकता है –

"गर्जनमय सैलाबी सागर/ आस्था के सेतु-बंध बांधे।
आकाशी ऊंचाई छूलें/ आंखों में गीत, गन्ध, साधें।
हम हैं सूर्यों के अन्वेषी/ तुम हो किरणों के हमराही।
सरगम के इंद्रधनुष तुम हो/ हम हैं प्रत्यञ्चा लयवाही।
नाप लें/ ध्रुवान्तों को हिल-मिल/ हाथों में गुंथे हाथ वाले।" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 4*)

युगीन संवेदनाएं इनके गीतों में नृत्य करती प्रकृति से मिल कर फलकधारी हो जाती हैं। इनका गीत-पर्यावरण संतुलित एवं तल की ओर दृष्टि बांधे सफ़र करता है। इसलिए इनके गीतों में व्याप्त गूंज एक से अनेक हो जाती है।

रूपक, समासोक्ति मानवीयकरण, बिम्ब-प्रतीक मिथक की गीत घुलावट इनके गीतों में तरल प्रकृति के अनेक वर्णी भाव बोधों की साक्षी बन कर उभरती है। युग की चलचित्रीय वीथियों से गुज़रती इनकी भाव प्रतीतियां मनुष्य की उदास परतों को उधेड़ कर उन टूटनों की ओर संकेत करती हैं जिनके वृत्त में घिरा मनुष्य आज कोल्हू का बैल बना हुआ है –

"मृगजल में डूब गयी उन्मेषी तृष्णा/ दिग्भ्रम में भटकी सागर की गहराई
धूप फिरी दस्तक देती द्वारे-द्वारे/ सूरज की नाव नहीं तट को छू पायी।" (*पृ. 6*)

तत्समयुक्त शब्दावली में गुम्फित लोक-गीतात्मक स्पर्श ध्वनियों की संवार घनश्याम गीतों में चुहल करती है। 'बांधो रे मेघ छन्द' जैसे गीतों में इसकी सुन्दर नियोजना है –

"मचल गया ऊर्जस्वित तृष्णा का सिन्धु गहन
अधरों की उष्मा तट भूल गयी/ सीमन्तनी आकांक्षा झूल गयी
पलकों की देहरी पर आतुर मन, मुग्ध नयन
सेमल-सी लाज झरी गालों से/ बहक गये हरसिंगार डालों से
स्वर्गभ्रष्ट फूलों से/ तृषातृप्त कूलों पर
स्वप्न अंध सेतुबन्ध बांधो रे, बांधो।" (*पृ. 11*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पद' छन्द के प्रति घनश्याम में अतिरिक्त आसक्ति है किन्तु भक्तिकालीन कवियों के पदों से इनके पदों में अन्तर है। उनकी प्रथम छोटी पंक्ति हर बड़ी पंक्ति के बाद टेक पंक्ति होती थी और एक पद में छोटी पंक्ति के साथ आठ, दस, बारह बड़ी पंक्तियां होती थीं लेकिन अस्थाना के गीतों में उतने ही बड़े दो पद हैं और टेक-पंक्ति अलग से है। पौराणिक सन्दर्भों प्रसंगों ने अस्थाना की गीत सम्प्रेषणीयता को तीव्रता दी है –

"लक्ष्मण रेखाओं में वैदेही ज्वालाएं/ भोग रही निर्मम वनवास,
छलिया कंचन मृग सा मेघ खण्ड आवारा/ टेर-रहा - प्यास, प्यास, प्यास।
इन्तज़ार कल्पों का टूटा संकल्पों - सा/ मन्त्रबिद्ध पुरवा द्रुतमन्द,
निर्वसना वेत्रवती एक और कालिदास/ सिरजे मन्दाक्रान्ता छन्द
एक चोर चितवन बच निकली, पर घेर लीं/ आंखों के घेरों ने आंखें।" (*पृ. 10*)

कोहरा ढका सूर्य मुस्कुरा कर बांझ अंधेरों को चुनौती दे और छन कर विश्व को अपनी अर्क-कनियों से ज्योति-मंत्र बना दे यही अस्थाना का सूर्य-अन्वेषण है और यही उनका मूल सरोकार भी। अब अस्थाना की गीत-छवि टूट सी गयी है। इनमें बौद्धिकता के प्रति आग्रह प्रकट होने लगा है। नवगीत की ओर सरकने का प्रयास एवं छटपटाहट इनमें इधर बढ़ती जा रही है। अन्य अनेक गीतकारों की तरह अस्थाना का साहित्यिक गीतकारों में नाम मात्र रह गया है। वे अब पत्र-पत्रिकाओं में भी नहीं दिखाई देते।

हरीश निगम की ख्याति बालोपयोगी गीत-कविताएं लिखने में अधिक हैं लेकिन उनका चवालीस गीतीय नवगीत संग्रह 'होंठ-नीले धूप में' इस धारणा को खण्डित करता है। इनका केन्द्रीय कथ्य भी महानगरीय संत्रास की त्रासदी झेलता जन सामान्य है। जेठ की तपती कड़ी धूप, जान लेवा धुआं उगलती चिमनियां, बाढ़-सूखा, भूख-प्यास, रिश्तों में लगी रिसती गांठें, निरंकुश सत्ता का आखेट, अपने वज़ूद को तलाशता मनुष्य, हिंसा, कर्फ्यू, हड़ताल, बम-विस्फोट, दहशत आदि का पिघलता लावा इनके पपड़ाये गीत होठों को नीला कर देते हैं। मृग-तृष्णायित इस माहौल को हरीश ने अपने गीतों में जड़ों से बांधा है। वह शब्दों की पगडण्डी से मन के उस छोर तक पहुंचना चाहता है "जहां धमाकों का शोर नहीं पहुंचता। नेह, धूप, रंग, भूख, भीड़, धुआं, अकेलापन, नौकरशाही आदि तमाम तत्व कवि के भीतर हमेशा एक रासायनिक प्रक्रिया में संलग्न रहते हैं और यही रासायनिक प्रक्रिया जब-तब समाज से मिल कर नवगीतों का संश्लेषण कर डालती हैं" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 110*)। हरीश के गीतों ने बड़ी नफासत के साथ प्रीति- तत्व को संचित किया है, बूंद-बूंद मधुमक्खी की तरह। प्रेम-प्रणय की सुर्ख अंदाज़ अदाएं नसों में कुनमुनाहट भरती हैं। प्रणयी मधुर बिम्बों का अंकन कवि ने प्रकृति और मौसम के अनुसार किया है –

"महके हैं/ बहके हैं/ चहके हैं
दिन अपने/ टेसु से/ दहके हैं
फागुनी बयार हुए हम-तुम।"

प्रिया का नाम लेते ही हवा में खनक पैदा हो जाती है –

"हवा खनकने लगी/ चूड़ियों की गंधों से,
नेह-छुअन बंध गयी/ देह के अनुबंधों से।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बदराये पल/ गुमे धूप के धाम
लेकिन इन्द्रधनुष हो आया/ धड़कन का कुहराम।" (*होंठ नीले हैं धूप में : पृ. 45*)

इनकी गीत-चेतना में पारिवारिक-रस की घुलनशीलता है। परिवार का कोई भी चित्र-बिम्ब हो उनमें श्रृंगार की तरह तीव्र कुनकुनाहट है। भाव, अनुकूल आसन पर विराजमान हो जाते हैं। इनके गीतों में परम्परित शृंगार का सांस्कृतिक बोध नवगीतीय चटक के साथ चुहल करता हुआ नारी-सौन्दर्य को मन्दिर-आरती बना देता है। दीप-लौ का प्रकाश दोनों तरफ संतुलित रहता है जो स्वयं जल कर दूसरों के लिए प्रकाशवाही है। वैयक्तिक बोध की इन्हीं अन्तर्लयों से समूह मन की गूंज जुड़ी है। 'अनपढ़ बुआ' में आंचलिक बिम्बों का अंकन मनभीना है –

"अनपढ़ बुआ/ पढ़ता सुआ/ ये घर हमारा गांव....
गोबर लिपी/ देहरी चुकी/ हारे हुए हर दांव
हरहराती नीम/ तीखी धूप/ सूख कर झरते हुए रिश्ते
और घर में/ खांसते दादा/ अंधेरे भाग लिखते/ उम्र के हिस्से
जलती नदी/ मन से बंधी/ अमराइयों की छांव।" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 114*)

कुण्ठित वैमनस्यपरकता इनके गीतों में कम है, आस्था की स्वच्छ निर्मल स्रोत धाराएं मन को ज्यादा भिगोती हैं। वैकल्य बोध की बेबस मूल्य चटकनें इनकी गीतभूमि नहीं है। समसामयिक समस्याओं के विद्रूप शंख-स्वर इनके गीतों में भरपूर हैं लेकिन इनमें भी आत्मीय निष्ठा का वचन-बोध ज्यादा है। जिज़ीविषा जीवट की अन्तरंग भावभूमि है उसकी परछाई नहीं। मालवा की गंधाती गंध सूंघिये –

"श्रम की गंगा घरमें बइरी, मल-मल डुबकी मारो
तम माता का लाल भगीरथ, आखा जग के तारो।
श्रम को तानो, श्रम को बानो, श्रम को बड़ो अहातो
श्रम को रेंट्यो, श्रम की पोनी, श्रम की रूई के कातो
सुन लो मांझी! श्रम की नैया, जल्दी पार उतारो
तम माता का लाल भगीरथ, आखा जग के तारो।" (*गीतकार द्वारा प्रेषित सामग्री से*)

'चम्बल नदी' के सौन्दर्य-अंकन में आस्था-प्रतीतियों का यही स्वर है जो लोक-लय से एकरस होकर कर्म की कर्मठता में ढल जाता है। चम्बल नदी में नृत्य करती नौकाएं और नौकाओं के खिवैया नाविक चढ़ती-उतरती लहरों के साथ गाते हुए ऐसे थिरक रहे हैं जैसे लहरों की चंचलता उनके स्वरों में रच-बस गई हो –

"लहर-लहर नाव चले, हैया रे! हैया रे! हैया रे!
जय बोलो चम्बल मैया रे! हैया रे! हैया रे! हैया रे!
जुगर मगर जोत जले! भैया रे! भैया रे! भैया रे!
अब नाचो ताता थैया रे! जय बोलो चम्बल मैया रे!"

उदास, दुःखी, पर्यावरण में बंध गई मनः स्थितियों की व्यथायी बिम्ब-कुलांचें समूची परिवेश-थकन को उड़ेल देती हैं। इन बिम्बों में अतिरिक्त आकर्षण इसलिए है कि ये शब्द न रह कर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मन-फलक के विस्तार-बोध को उदासी का हिस्सा बना देते हैं। इस प्रकार की चित्रात्मक गीत-वीथियां इधर के गीतों में बहुत कम हैं –

"देहों में/ शोर चुप्पियों का/ कुनिया गड़ाये
नींदों के द्वार तक/ पहुंच के/ फिर खाली हाथ लौट आये।" (*होंठ नीले धूप में : पृ. 32*)

इनके गीतों का लोक अंचलीय बोध महुआयी रस में पगा है। मालवी की लोक संस्कृति और झूमती मस्ती की मालवीय परम्परित गंध मुद्राएं पंख की तरह हल्की और खुशबूदार हैं। इन अभिमंत्रित लोकीय गीत-आचमन में परम्पराओं का संरक्षण और चुआता मन का द्रव है, जिसकी रसीय शब्दावली में मालवा की धरोहर स्मितकामी होकर संदल हो जाती है।

शिशुओं-बच्चों के मनोविज्ञान के हरीश निगम सक्षम पारखी हैं। उनकी आयु के मुताबिक इन्होंने उन्हें ढेर कविताएं, गीत, पहेलियां दी हैं जिनके माध्यम से सच्चरित्रता, देश प्रेम, बड़ों के प्रति अनुराग, संस्कृति-सभ्यता के प्रति संसक्ति का इन्होंने पाठ पढ़ाया है। इनमें गम्भीरता भी है और हल्का-फुल्का मनोरंजन और जिज्ञासु ललक भी। 'रंगों वाली होली का, देखो जादू होली का' एक आकर्षक गीत है जिसकी लय, ताल, तुक, संतुलित और रस्सी की तरह बटी हुई है-

"खरहा पीला/ नीला शेर/ पल में तोता/ बना बटेर।
बदला मौसम बोली का/ देखो जादू होली का।
पढ़ के अंतर/ फेंका रंग/ सबके मन में जगी उमंग।
काम बना फिर टोली का/ देखो जादू होली का।" (*जनसत्ता : पृ. 1987*)

सीधे-सरल, छोटे-छोटे चरणों वाले, टेक पंक्तिक गीतों पर हालांकि किसी प्रकार के सांगीतिक निर्देश नहीं हैं फिर भी इन्हें विभिन्न रागों में बांध कर गाया जा सकता है। सटीक सांगीतिक गीत शब्दावली गीतों में एक विशिष्ट ऋद्म भर देती है –

"हंसती है आंख की ग़ज़ल
देह हुई राग माल कौंस/ पोर-पोर बांसुरी घुली,
ऋतुओं ने खोल दिए बाल/ हवा हुई और चुलबुली,
नथनी की गंध के बुलावे/ होठों से हो गई पहल।" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 113*)

हरीश नवगीत का एक संयत चरण है। वैचारिक और भावनात्मक संयमशीलता लोक अंचलीय रस लेकर और अधिक निखर उठी है। इन की गीत-दीठों में लगा काज़ल आधुनिक प्रदूषण से बच कर कजरीय छलकन बन जाता है। लय, ताल, स्वर, संगीत की अन्तर्लयी लकीरें एक-दूसरे से होड़ कर जीवनमुखी होती हैं। शब्द-चयन संटीक और बिम्बधारी है। प्रतीकों में जीवन की ताप तरलता फैलती चली जाती है। इनका बालोपयोगी साहित्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितनी नवगीत की साहित्यिक भाव-भंगिमाएं। दोनों में रस और सकार दृष्टि का चिन्तन बोध है, जो युग मानसिकता को लेकर व्यक्ति-समाज को व्याख्यायित-परिभाषित करता है।

संग्रह विहीन **श्यामसुन्दर दूबे** सामाजिक सरोकारों से गहरे जुड़े हैं। कवि सुषुप्त जनचेतना को जगाना चाहता है। 'आग जला रे भाई' शीर्षक गीत कवि की रचना मानसिकता का बिम्ब खींचता है जिसमें चिंगारी को लावायी बनाने की कशमकश है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जहां कहीं थोड़ी सी आग है अलाव में
उकसा कुछ और उसे/ गरमाये आस-पास
आंच बहुत आवश्यक है/ व्यक्ति के बचाव में....
आग जला रे भाई/ उड़ने दे चिन्गारी
थोड़ी गरमाहट रहे/ व्यक्ति के स्वभाव में....
आग जला रे भाई/ फूंक मार कड़वे में
बहता रहे रक्त-राग/ जड़ता के गांव में।" (*ऋतु चक्र : 25 सितम्बर 1983 : पृ. 6*)

आज मानव वैचारिक रूप से कहीं ज्यादा जागरूक हैं। इस जागरूकता ने मनुष्य को नकार वृत्तियों से अधिक जोड़ा है। सकार मूल्यों के प्रति अनास्था, कुंठा ने उसे एकाकी कर संवेदन वृत्तियों को पाशविक भ्रमजाल में उलझा दिया है। एक सुलगन है जो उसे धीरे-धीरे आदिम मूल्य-पंगुता की ओर ले जा रही है। रिक्तिपन के एकाकी बोध ने उसे चौराहा बना दिया है –

"किस तरह टूटे हुए मन को समेटे/
कांच के घर में कहां तक आइनों के अक्स भेटें
यह अकेलापन और भीतर सुलगती आग
क्या तुम्हें स्वीकार है?" (*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 16 सितम्बर 1979*)

"घर के इन कोनों में/ किसको मैं दु:खी करूं
भीतर की गांठ को बन्धु कहां खोलूं।"

भीतर क़ी गांठ तमाम कोशिशों के बावजूद नहीं खुलती लेकिन उसे सन्तोष है कि –

"अकेले ही नहीं/ और भी तो लौट आये
हाथ खाली/ भरे हाट से।"

विभाजित व्यक्तित्व की द्वन्द्व बुनावट अपने हर हिस्से को सार्थकता से जोड़ना चाहती है। खालीपन को भरना इतना आसान होता तो अतिबौद्धिकता का ज़हर नहीं चढ़ता। उसी ने व्यक्ति की फांकें की हैं। इन फांकों से भरा स्थिति सत्यों का नमक-मिर्च व्रणों को खुजलाहट से भर देता है। एक ओर आज का व्यक्ति यदि एकाकीपन से खुश है तो दूसरी ओर आधुनिक बौद्धिक संस्कृति वैचारिक स्तर पर समाज में घुलना चाहती है लेकिन अपनी शर्तों पर।

अन्दर से खाली बादल की तरह मनुष्य गरजता तो बहुत है लेकिन बरसना वहीं चाहता है जहां उसके स्वार्थों की सिद्धि हो। एकाकी एक पक्षीय रह कर भी घुलावट की चाह उसे चौरास्ते की दिशाहीन गूंज और धोबी का गधा बना देती है। अन्दर से तो वह सबका सरगना बनता है लेकिन नहले पर दहला पड़ने पर खींसे निपोरने लगता है। जीवन की इस लिज़लिजाहट का साकार रूप वर्त्तमान सभ्यता की वकालत है और मनुष्य इन खलनायक सूत्रों का नायक –

"अक्सर मैं उस आदमी के बारे में सोचता हूं
जो भीतर से बहुत पोला है/ और ऊपर से बहुत दमदार है।" (*साम्य 2 : पृ. 11*)

दूबे के बिम्ब-विधान में ताज़गी और नव्यता है –

"दुधमुंही हंसी खिली/ फैल रही धूप/ उस नींदे आंगन में।" (*धर्मयुग - 24 जनवरी 1984*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पारम्परिक छन्दों को इन्होंने महत्त्व दिया है। पहले दो पंक्तियां और फिर चार पंक्तियों के संयोजन से इनके गीत अपना आकार लेते हैं। पहली दो पंक्तियां टेक की हैं –

"सर्दियां आयीं, नदी/ फिर अनमनी होने लगी
हो गये खरगोश के/ छौने सरीखे दिन
देह में चुभने लगी हैं/ अनदिखी सी पिन
धूप कुहरा ओढ़ कर/ फिर देर तक सोने लगी है।" (*नवभारत : 25 नवम्बर 1983*)

भाषा में समाया आंचलिक रस गीतों में मिठास घोलता है –

"सरसों के खेतों को/ बांटे जब राय सुआ/ हल्दी के रंग भरे आमन्त्रण।
बबूल की फुनगियों पर/ झिलमिल हो सूर्य बिम्ब/ कांपे जब पलकों पर वासन्ती क्षण।
करना जी याद बहुत/ बहुत बहुत याद/ दहकते पलास की छुअन।
अमराई देह जब/ खिड़की में महक उठे/ बेला की बास हंसे संझवातिन।
रोली-आखत-टीके/ माथे आकाश के/ गोधूली बेला जब अहिवातिन
भरना जी/ अंकवारों-बाहों में, बाहों अंकवारों में/ बासमती भेंट के सगुन।"

(*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 68*)

छोटे-छोटे छन्द, दो-दो तीन-तीन पंक्तियों वाले छन्द, विषय अतुकान्त छन्द से मुक्त छन्द की यात्रा के अनेक उदाहरण श्याम सुन्दर दूबे के गीतों में मिलते हैं –

"आहटें सुनना/ बहुत नज़दीक से
पांखुरी के लौटने की।
और उजली हंसी/ जैसे झनझनाहट/ फैल जाए/ ललक जागे
वृन्त टहनी भेंटने की।" (*आजकल : नवम्बर - 1989 : पृ. 7*)

'काल मृगया' का नीम वृक्षीय बोध चित्ताकर्षक एवं अनूठा है – "नीम दूसरी माता है, लोक गीतों में नीम का धातुरूप बहुत निखरा है। गांव-कस्बों में, नीम का वृक्ष ठौर-ठौर दिख जाता है। अक्सर इसके नीचे चबूतरा बना दिया जाता है, उस पर पथिक दो घड़ी सुस्ता लेते हैं। पगड़ी मुरेठा बांधे सफेद मूछों वाले मुकद्दम पंचायत करते हैं, भाभियां अक्सर नीम की छाया में देवरों से उलझती हैं। नीम की डाल पर बैठा कौवा कांव-कांव का राग अलापने लगता है, तो घर भर में कुहराम मच जाता है.... ... .. नीम गांव का आत्मीय वृक्ष है। इसकी कड़ुवाहट सत्य की पर्याय है। यह सब को एक सा है। किसी को मीठा किसी को तिक्त नहीं ... .. चिर वियोगिनी बहू सास से पूछती है कि 'कवनी उमरिया लगाये न/ कवनि उमरिया विदेशवा गये हो राम/ खेलत कूदत बहुवरि निबिया लगाये/ रेखिया भिनत गये विदेसवा हो राम/ फरिगे निबिया लहसि गये डरिया/ तबहु न आये तोर विदेसिया हो राम"(*काल मृगया : पृ. 38-39*)।

'अरुण कपोलों वाली दुलहिन एक वसंती शाम/ पाती लिखती बैठ मेंड़ पर दूर पिया के नाम' जैसे आरम्भिक गीतों में टटके और नव्य बिम्ब कवि के गीतीय उठान का संकेत देते हैं। इनके गीतों में लोक जीवन की लय को आंतरिक गीत चेतना में सम्मिलित करने की गंभीर चेष्टा है। लोक जीवन से कवि का गहरा रिश्ता है। लोकलय टूटने के बावजूद लोक अभी भी छंद में ज़िन्दा है। कवि इसे स्वीकार करता है। उस का स्पष्ट मन्तव्य है कि "गीत अब रोने-धोने और आत्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्मोहित होने की लिज़लिजी विधा नहीं हैं अपितु गीत की प्रत्यंचा की दंड पर चढ़ कर युग सापेक्ष टंकार करती है" (*साक्षात्कार : 10 जनवरी : 1992*)। इस टंकार ने ही गीत को समकालीन समाज जीवन का सार्थक प्रवक्ता बनाया है। आज गीत विचार और बौद्धिकता को पहले पचाता है, रक्त बनाता है, रग रग में उसे दौड़ाता है फिर वह उसे अपनी शक्ति बनाता है।

आंचलिक लोक सांस्कृतिकता इनके गीत-कथ्य को मन की गूंज देकर लय-ताल में बांध देती है जिसकी वजह से पराया बोध भी अपना लगने लगता है। इनके गीतों की कस्बाई चेतना में मनुष्य की संघर्षशील वृत्तियों का संस्कारशील अनुगुंजन है। अनेक गीतों की सधी हुई लय ताल में वर्त्तमान की जटिल भावात्मकता वैचारिकता से मिल कर नवगीत पताका को आगे ले जाने वाली है। ऐसे भी गीत हैं जो भावात्मक स्खलन, वैचारिक-अंकुश, शैल्पिक-शैथिल्य की दृष्टि से पिछली पंक्ति में भी शामिल नहीं किए जा सकते लेकिन इस गीतकार की नवगीतीय चेतना में वर्त्तमान जीवन सन्दर्भों की खिंची हुई कमान है जिसे साधना के बल पर लक्ष्य पर संधित किया जा सकता है। कवि इस ओर जागरूक है। यही उसकी उपलब्धि है।

यूं तो नवगीत भी आज व्यापार टाइप हो गया है। जब देखा कि नवगीत में यशोविस्तार के अवसर हैं अनेक नाम नवगीत से जुड़ गए। नवगीत से जुड़ कर उसके प्रतिष्ठाताओं में स्वयं को प्रतिष्ठापित करने की ललक लिए नाटकीय ढंग से अनेक तथाकथित गीतकार नवगीत के मंच पर पधारे। यह बात दूसरी है कि इस तमाम तरह की साहित्यिक उखाड़-पछाड़ के बाद भी प्रतिष्ठापक मसीहाओं में कोई नाम लेने को भी तैयार नहीं हुआ लेकिन बहुत से ऐसे भी हैं जो अवसरानुकूल गोटी बिठाने में सफल हो गए और नवगीत के प्रतिष्ठापकों की पंक्ति में अपना नाम चर्चित करवाने के षड्यन्त्र को आगे तक खींच ले गए परन्तु जो स्वयं नवगीत का प्रतिभाशाली लेखक होकर नवगीत के तप में आहुति दिए जा रहा है उसकी निश्छल सेवा इस प्रचार-प्रसार युग में प्रचार कला से सर्वथा अनभिज्ञ रही। इतना ही नहीं यह कहना भी प्रासंगिक है कि वह दूसरी प्रतिभाओं को प्रकाशित और सम्मानित करने में ईमानदारी के साथ संलग्न हैं – वह है **श्री इसाक़ अश्क़**।

चर्चा और आलोचना के प्रायः दो परिणाम होते हैं, या तो वह इतना चर्चित हो जाता है कि लोग उसे आदर और पुरस्कारों से ढक देते हैं और दूसरी ओर कुछ ऐसे हैं जिन्हें सब जानते हैं परन्तु वे कहीं नहीं हैं। जहां नवगीत नाम आता है वहां शुद्ध हृदय वाले सुधी विद्वान अपनी राय प्रकट करते हैं। वहां जिन नामों की चर्चा होती है वहां इसाक़ अश्क़ का नाम आदर से लिया जाता है। नवगीत के हिन्दी संस्कार को अलग से सुरक्षित रखने वालों में इसाक़ अश्क़ एक चुम्बकीय ग़ज़ल व्यक्तित्व है। अश्क़ की विशेषता यह है कि वे अध्येता बहुत अच्छे हैं। आज कल इस सद्व्यसन की भारी कमी है। उन्हें नवगीत की परख है। अतः इसाक़ अश्क़ लिखते समय नवगीत की सांस्कृतिक अन्तरात्मा की ध्वनि के साथ अपनी लय मिलाते हैं।

वर्त्तमान जड़ता की क्रूड मानवीय नियति के समकालीन बोध का एक निश्चित फ्रेम सुनहरी परिधि की देहरी पर चस्पां हो गया है। इस सुनहरी परिधि के चारों ओर वृत्त बना आज का मनुष्य अपने आप से छल कर दूसरे के प्रति वफादारी की कसमें खाता है। रिक्तता बोध के अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में जुड़ती जा रही उग्र आतंकवादी अलगाव पंक्तियों ने जीवन और युग मानसिकता को सभी नैतिक मूल्यों से काट कर नपुंसकत्व की बारात बना दिया है। बांझ मुंडेर के इस खौफ़नाक युग बोध को इसाक़ का गीत मन बहुत ही सहजता के साथ आकारित करता है। जीवन-समाज के इस युगीय आकार-फ्रेम को पहचानिये हम कहां खड़े हैं –

"एकता के/ रेशमी/ बिखराव के मारे/
मन दुःखी है/ आजकल अलगाव के मारे/
दूर तक/ दिखती न शीतल –
स्नेह की छाया, यह सहज/ युग बोध –
या मारीचि की माया...............।" (*दैनिक हिन्दुस्तान : 13 मई 1990*)

शोषण और अन्याय के प्रति इन के गीत प्रतिकारी मुद्रा में भी अपनी रचनाशील मनोवृत्ति को नहीं छोड़ते। इनमें जुझारू प्रगतिशीलता की गत्यात्मक एप्रोच है। अनुभव की जीवंतता के जितने भी स्तर हैं वे मनुष्य आकांक्षाओं को रचनायित कर मुक्ति के गीत-पत्र बन कर वर्त्तमान जीवन के ग्रन्थ अध्याय बन जाते हैं। नव्य अनुभूतियों को बांधते 'सूने पड़े सिवान' के गीत किसी चौखटे या शिविर प्रतिबद्धता का व्याकरण नहीं हैं, न ही वे नारेबाजी से चमत्कृत करते हैं। इन गीतों में व्याप्त अर्थ लय जीवन की गांठों को धीरे-धीरे खोलती है, फांकों को भरती है, जीवट को कुरेदती है, जिज़ीविषा को प्रमाणित करती है। यही इनका गीत-मुहावरा हैं।

'समांतर' जैसी चर्चित पत्रिका का वे निस्स्वार्थ भाव से सम्पादन और प्रकाशन कर रहे हैं। नवगीत की प्रतिनिधि पत्रिका के रूप में 'समांतर' स्मरणीय है। जो 'समांतर' के पाठक हैं वे जानते हैं 'समांतर' में वर्त्तमान की चर्चित प्रतिभाओं के गीत, नवगीत और नवगीत की प्रकृति के अनुरूप रची गई ग़ज़लें प्रमुख रूप से प्रकाशित होती रही हैं। न जाने कितने आर्थिक संकट के बीच भी 'समांतर' नवगीत, ग़ज़ल गाता रहा है। वास्तव में यह नवगीत के प्रचार-प्रसार में एक महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इसाक़ अश्क़ के गीत, नवगीत एक ख़ास पहचान के हैं। इन की गीत ग़ज़लीय प्रतीतियां हृदय-मृदंग पर कुरंग सी नाचती है। दर्द उनमें आम आदमी का है –

"ऐसी विषम व्यथा पायी कि/ सुख जीवन भर रास न आया/
जिस को छुआ हुआ वह मिट्टी/ तिल सब के सब ताड़ हो गए/
जरा लक्ष्य की ओर बढ़ा तो/ सम्मुख खड़े पहाड़ हो गये......।" (*सूने पड़े सिवान : पृ. 15*)

कहीं जवानी का सरूर है –

"बस तुम्हें ही/ देखने का आज मन है/
गात जैसे चांदनी पर/ रंग केशर का चढ़ा हो
या किसी ने संगमरमर को/ तराशा हो गढ़ा हो/
बंद नयनों में/ चकित-विस्मित गगन है.......
इसलिए सुरभि/ नहाया हर पवन है।" (*पृ. 11-12*)

कहीं प्राकृतिक सुषमा का आकर्षण है और कहीं आधुनिक जीवन की धड़कन –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"भरी दुपहरी/ मटमैला/ यह मछरंगा आकाश/
फिर-फिर/ लिखने लगा ओंठ पर/ लू-लपटों से प्यास.....।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : 13 मई 1990*)

"कहने को स्वाधीन भले हों/ लेकिन हम स्वाधीन नहीं हैं/
हम इतने उन्मुक्त कहां जो/ सच डंके की चोट कह सकें
भावों को उद्दाम सिन्धु में/ धारा के विपरीत बह सकें
हंसने को हंसते हैं लेकिन.......।" (*सूने पड़े सिवान : पृ. 23-24*)

"इस झूठी/ मक्कार सदी में/ सच बोले धिक्कार उसे।
पक्षपात की/ पाटी जिसने पढ़ी नहीं - / वह मूरख है,
शोषण की/ चक्की में पिसती श्वासों का - / परिपूरक है.....।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : 13 मई 1990*)

अश्क़ का भावना-क्षेत्र विस्तृत है। साहित्यिक दृष्टि से अत्यन्त सार्थक नवगीत और ग़ज़लकारों में इसाक़ का नाम ससम्मान लिया जाता है।

'समांतर' के माध्यम से इसाक़ ने नवगीत पर परिचर्चाएं आयोजित की हैं और नवगीत पर संगोष्ठियों के लिए प्रोत्साहित किया है। नवगीत पर स्वतन्त्र लेखों ने 'समांतर' को गरिमा दी है। नवगीत की प्रतिष्ठापना में इन का योगदान गाल बजाने का नहीं अपितु व्यावहारिक और ठोस है। इन की सम्पादकीय टिप्पणियां (*दृष्टव्य : समांतर के अंक*) नवगीत की पृष्ठभूमि और प्रकृति को स्पष्ट करने में महत्त्वपूर्ण है। भाषा के क्षेत्र में नवगीत का जो क्रान्तिकारी कदम उठा था उस का इन्होंने भरपूर प्रयोग किया है। इन के नवगीत परिपुष्ट नवगीत के उदाहरण हैं। गीत के साथ ग़ज़ल आजकल सभी कह रहे हैं, इसलिए क्या कुछ नया कहा जाय?

नवगीत की स्वर लहरी मे **कुमार शिव** का स्वर भी उल्लेखनीय है। मंच पर इन्होंने अपने नवगीत को काल्पनिक और बिम्बात्मक दृश्य माध्यम से नयी थिरकन दी है। दूरदर्शन, आकाशवाणी, पत्र- पत्रिकाओं और यथासंभव कवि-सम्मेलनों से कुमार शिव के नवगीतों का परिचय मिल सकता है। 'शंख रेत के चेहरे' इन का काव्य संग्रह एवं 'पंख धूप के', 'हिलते हाथ दरख्तों के' इन के ग़ज़ल संग्रह हैं। 'हिलते हाथ दरख्तों के' में 'पंख धूप के' की प्रमुख ग़ज़लों को भी ग़ज़लकार कुमार शिव ने पुनः संकलित कर लिया है। नयी से नयी उपमा, प्रतीक और सादृश्य छवि से भाव-चित्र उपस्थित कर देना कुमार शिव की विशेषता है। व्यवसाय की दृष्टि से (राजस्थान उच्च न्यायालय जयपुर पीठ में वरिष्ठ अधिवक्ता) तर्क युद्ध करने में कुशल कुमार शिव नवगीत को मधुर-स्वर से प्रस्तुत करते हैं। शालीन भव्य व्यक्तित्व और विनम्रता के साथ अन्तराभिमानी स्वभाव के धनी कुमार शिव गीत की संरचना के प्रति अत्यन्त सावधान हैं। दैनिक जीवन, आसपास का वातावरण, प्रकृति जहां से जो अनुभूति मिली उसे साज संवार कर प्रस्तुत कर देने में कुमार शिव अत्यन्त कुशल हैं। अपनी व्यक्तिगत और साहित्यिक विशेषताओं के कारण अपने वर्ग में कुमार शिव आदर से जाने जाते हैं। नवगीत के मसीहा उन्हें व्यक्तिगत रूप से पहचानते हैं। यह पहचान उन गीतों के कारण है जो वर्त्तमान व्यवस्था, दुर्बल और रुग्ण मानसिकता एवं साहित्यिक मांसल सौन्दर्य के प्रति विद्रोह के प्रतीक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आजकल आत्म प्रचार भी इस कला का आवश्यक अंग हो गया है। यह क्षमता पर निर्भर है, क्षमता सम्बन्धों के आधार पर आदर पाती है। अपने श्रम और अभिव्यक्ति कला के बल का जहां तक उपयोग हो सका है, हुआ है। अपनी शेली को वे और भी अधिक मोड़ देने के लिए तत्पर रहे हैं। नए नए गीत-ग़ज़ल लिखना और उन्हें रचनात्मक सरोकारों से प्रत्यक्ष करना उनकी तार्किक वैचारिक शक्ति का हृदय-मंथन है। मस्ती और आत्म विश्वास के साथ अकृत्रिम शैली में गीत ग़ज़लीय प्रस्तुति अत्यन्त प्रशंसनीय हो जाती है।

मंच से जुड़ कर भी कुमार शिव में बासीपन नहीं है। कुछ नया कहने की कोशिश इन की गीत- ग़ज़ल की कशमकश है। कहीं कहीं यह कोशिश अधिक हो गई है जो उस के अर्थ को ही प्रक्षिप्त कर देती है। ग़ज़ल के क्षेत्र में कुमार शिव की अपनी सोच-शैली है। उदासी का जिक्र देखिए –

"उदास पेड़ हैं पत्तों ने चुप्पियां पहनीं,
कुछेक फूलों ने बेमन से तितलियां पहनीं।" (*हिलते हाथ दरख़्तों के : पृ. 15*)

ऐसे प्रयोग ताज़गी तो देते ही हैं। सब से ज़्यादा खूबसूरत बात यह है कि कुमार शिव ग़ज़लों में घर, चूल्हा, चौका, देहरी यानी कि एक सामान्य जीवन की अनुभूति बड़ी सरलता से व्याख्यायित करते हैं –

"गीली लकड़ी, चूल्हा-चौका, चिमटा-बेलन और धुआं,
भीगा अंजन, बजते कंगन, यह गोरा तन और धुआं।"

शृंगार की ग़ज़लों में भारतीय सौंदर्य बोध की भीनी-भीनी खुशबू-झलक है। आंचलिकता के इस गुण ने ग़ज़लों को आत्मीयता दी है –

"पहले ठिठकी फिर शरमाई फिर कुछ-कुछ सकुचाई रात,
अर्द्धचन्द्र का शंख बजाती मन्दिर में घुस आई रात।" (*पृ. : 17, 20*)

कुमार शिव नवगीत की दृष्टि से अधिक सफल हैं। नवगीत के क्षेत्र में इन्होंने नये प्रतीकों, रूपकों, दृश्य-सादृश्यों और जनजीवन की विषमताओं को अनेक गीतों में चित्रित किया है। श्रृंगार और अंगार दोनों भावों को सफलतापूर्वक चित्रित करने में कुमार अधिक कुशल हैं। प्रकृति के माध्यम से भी इन्होंने कुछ नयी उपमाएं दी हैं। 'शंख रेत के चेहरे' काव्य संग्रह में इनकी अनेक रंगी अनुभूतियां तीव्र आवेगदीप्ति के साथ फूटती हैं। इन्होंने निर्भय होकर भावनगर में प्रवेश किया है, यह इन की विश्वस्त प्रतिभा और आत्मविश्वास का सूचक है। नवयुवा गीतकारों में कुमार शिव पसन्द किए जाते हैं। इनमें संभावनाओं का आकाश खुला है।

नवगीत रथ के अन्य सधे सारथि

नवगीत-रथ का पथ इतना विस्तृत हो गया है कि उसमें रथ के लिए पथ बनाना कठिन हो गया है। इस रथ का प्रत्येक वाहक नव की खोज में है। नव की कोई अन्तिम परिभाषा नहीं दी जा सकती। नव को आलोचित नहीं किया जा सकता, वह हमारी खोज है। हमारे यहां सौन्दर्य के लिए कहा गया कि 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपम् रमणीय तायाः' रमणीयता की शर्त्त ही नवता है। कोई गीत प्रत्येक क्षण कोई नया अर्थ दे तब गीत की सार्थकता सिद्ध हो सकती है। वही सार्थकता उसे नवता का उपहार देगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत और नवगीत के आन्तरिक सौन्दर्य-विभाजन की बारीक कताई करती नवगीत – प्रतिष्ठापक अनेक पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुई हैं। नवगीत के प्रबल समर्थक इसाक़ अश्क़ के 'समांतर' में नवगीत और उससे सम्बन्धित आलोच्य सामग्री निरन्तर प्रकाशित हो रही है। 'माध्यम' जैसे पत्र भी प्रकाशित हुए। इन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नवगीतों के आधार पर अनेक नाम जाने-पहचाने जाते हैं। जीवन की आपाधापी में इतना वक़्त कहां मिल पा रहा है कि मनुष्य गीतों का अध्ययन करे। अध्ययन कौन करे और किस का करे बड़ा उलझा हुआ प्रश्न है। अस्वीकृति का भाव केवल लेखक में ही नहीं पाठक और श्रोता वर्ग में भी है। दोनों एक दूसरे को महिमा मंडित इस लिए करते हैं क्योंकि वे स्वयं पहले महिमा मंडित होना चाहते हैं। नवगीत का कोई मानक व्याकरण नहीं है जिसके आधार पर ग्राह्य और अग्राह्य का नवनीत निर्णय हो सके।

नवगीत की लहर केवल दिल्ली में ही नहीं सारे भारत में आई हुई है। भारत की अन्य भाषाओं के जो गीत संग्रह प्रकाशित हो रहे हैं उनमें नयी कविता के सामने नवगीत ही खड़ा है। नवगीत में कृत्रिमता का अयाचित प्रभाव है। वह स्वयं को प्रदर्शित करने का व्यामोह है। इससे अलग थोड़ा हट कर देखें तो कुछ नाम ऐसे अवश्य हैं जो पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः प्रकाशित होते जा रहे हैं। हो सकता है इनके नवगीत संग्रह भी प्रकाशित हुए हों। कुछ ऐसे नवगीत के हस्ताक्षर हैं जो दिल्ली से बाहर के प्रान्तों में रह कर नवगीत साधना में मौन भाव से लगे हैं। उन की तराश संवार में स्फुलिंग है। अतः नवगीत रथ की पंक्ति दीर्घ-आयु है। कौन भीड़ को धकेल कर आगे आने में समर्थ है? जो हैं वह इधर-उधर भूमिकाओं में चर्चित हो जाते हैं। आजकल अपनी पसन्द के नवगीतकारों को उल्लखित करने के लिए भूमिकाओं का अधिक उपयोग हो रहा है।

सबसे बड़ी समस्या संस्कार की है। समाज का भी व्यक्तित्व होता है। संसार के सभी देशों में सामाजिक व्यक्तित्व प्रतिष्ठित होते हैं। किसी भी देश का गीत वहां के व्यक्तित्व का परिचायक होता है। व्यक्तित्व में संस्कृति प्रतिबिम्बित होती है। नवगीत से 'सांस्कृतिक अभ्युत्थान के अमृत-बिन्दु नहीं झर रहे। इस अन्यथा की स्थिति में भी संभावनाओं के प्रति आस्था और भविष्य के स्वर्ण-स्वप्न संयोजन का सुख है।'

इस संघर्षण-विघर्षण में जो नाम उभर कर आ रहे हैं या जो अपने कृतित्व के बल पर जोर मार रहे हैं उन में कुछ नाम हैं – चन्द्र देव सिंह, अमरेन्द्र, देवेन्द्र शर्मा इन्द्र, देवेन्द्र कुमार, भगवान स्वरूप, रामचन्द्र चन्द्रभूषण, सुधांशु उपाध्याय, छविनाथ मिश्र, इन्द्र सेंगर, आत्म प्रकाश शुक्ल, डॉ. उर्मिलेश, यशमालवीय, ब्रजेश भट्ट, श्याम निर्मम, विनोद श्रीवास्तव, सुरंजन, बाबू राम शुक्ल, आनन्द वल्लभ, संतोष श्रीवास्तव आदि।

'पांच जोड़ बांसुरी' के सम्पादक **चन्द्रदेव सिंह** ने अधिकांश उद्बोधनपरक गीत लिखे हैं। उद्बोधनात्मक गीतों में नादात्मक ध्वन्यात्मकता का अभाव होता है। लय-ताल की पीठ पर भी कोमल हस्ताक्षर नहीं होते। इन गीतों में अलग तरह की तीव्रता और रवानगी होती है। भावोद्रेक स्थितियों को अनुभूतिशीलता देने के लिए कवि की रचाव मुद्राएं सतर्क हैं। इसीलिए इनमें सहजता कम साहित्यिकता अधिक है। इसे कवि ने स्वीकार किया है – "गीत रचना के समय मैं भावों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को उचित शब्दावली के द्वारा व्यक्त कर पाने के प्रति अधिक सतर्क रहता हूं। उसमें संगीतात्मकता, यदि इस तरह आ जाती है तो आ जाती है, हां, साहित्यिकता बनी रहे यह भाव तो मन में रहता ही है" (*लेखक के परिपत्र का उत्तर : 20 जुलाई 1988*)। सहजता में भी साहित्यिक लुनाई हो सकती है। सहजता को त्याग कर साहित्यिक डगर पर गीत को ले जाना उसे डायलिसिस पर रखना है। वाल्मीकि के हृदय तल से फूटे छंद में क्या साहित्यिकता नहीं है? उसमें क्रौंचवध की पीड़ा ही शब्द-रूप लेकर रोम-रोम फूट पड़ी है। सहजता गीत की प्राण-चेतना है, उसे प्रदूषित कर गीत को प्रभावशाली नहीं बनाया जा सकता। कथ्य को तीव्रता देने के लिए भी अभिव्यक्ति का सहज होना बहुत जरूरी है। सहजता के कारण ही आज कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, घनानन्द आदि ज़िन्दा हैं।

जीवन की वर्त्तमान त्रासदियों से उपजा संत्रास चन्द्रदेव सिंह के गीतों की कथ्य-चेतना है। प्रतीक-बिम्बों के प्रति कवि-मन में कोई ख़ास नज़रिया नहीं है। रचना के समय जो प्रतीक रचनाकार के मन में आए उन्हीं को उसने अपना लिया है। इनमें परम्परागत और आधुनिक दोनों तरह के प्रतीक हैं –

"सुबह ही दिन ढल गया
रास्ता ही रास्ते को छल गया।"
"अर्द्ध नग्न सड़कों पर/ बालू से ढकी हुई
पिघले कोलतार जैसी आस्थाएं/ अगल-बगल
परिचित निगाहों जैसे ज़हरीले पेड़ खड़े
किसके नीचे बैठे, सुस्ताएं/ कोई भी छांह मत गहो
अपने को अपने से सहो/ यूं ही चुप रहो
कुछ भी मत कहो।"

समसामयिक संवेदना को तीखी धार बनाने के लिए कवि ने पौराणिक-प्रतीकों का आश्रय लिया है – 'आंखों पर बांध कर वंचना की समसामयिक संवेदना को तीखी धार बनाने के लिए कवि ने पौराणिक प्रतीकों का आश्रय लिया है –

'आंखों पर बांध कर वंचना की पट्टी' (*युगनायक : पृ. 44*)

इनकी गीत रचनाएं अतुकान्त, छन्द-मुक्त भी हैं और छन्दोबद्ध भी। गीतों में व्यंग्य का पुट भी भरपूर है। अनेक गीतों में लय ताल का संतुलन भी है और बिखराव भी। जहां कहीं संक्षिप्तति का अभाव है वहां अन्विति भंग है। जो गीत संक्षिप्त हैं उनमें ऐसी स्थिति नहीं है। जीवन के धूप-छांही रंगों की सुर्खी से भरपूर इनके गीतों का कथ्य जनबोधी है। यही इनके गीतों की विशिष्टता है।

'देहरी पर दीया' (नवगीत) 'पीर का पर्वत पुकारे' (ग़ज़ल) और 'जनतन्त्र की विक्रमशिला' (कविता-संग्रह) **अमरेन्द्र** की काव्य-पदचापें हैं। नवगीत को परिभाषित करते हुए अमरेन्द्र का कहना है कि "नवगीत गीत ही है लेकिन यह गीत के जकड़े शास्त्रीय नियमों की प्रतिक्रिया भी है इसे हम 'गीत का सहज योग' भी कह सकते हैं। बन्धन मुक्त संगीत की अनिश्चित यात्रा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही मेरी समझ में नवगीत को गीत से अलग करती है.....मैंने अपने नवगीतों की रचना किसी मान्यता की वकालत के लिए की है, ऐसी बात बिल्कुल नहीं। फिर गीत की गंगोत्री तो हृदय ही है – वह नवगीत ही क्यों न रहे। गीत-नवगीत के बीच में व्यवस्थित संगीत का योग-अयोग ही मानता हूं; भाव संसार की मुक्ति नहीं" (*देहरी पर दीया : पृ. 5, 10*)। क्योंकि गीत-गंगोत्री का गोमुख हृदय ही है।

गीत और कविता के विभेद को अमरेन्द्र का गीतकार जानता है। गीतों का जन्मस्थान हृदय है, कविता का मस्तिष्क, हृदय जोड़ता है, तर्क नहीं पैदा करता। बुद्धि तर्क करती है, विभेद पैदा करती है। आज का युग बुद्धिवादी है इसी से मनुष्य विभेद में जी रहा है, टुकड़ों में बंट कर कहीं से भी बहुत अधिक जुड़ नहीं पा रहा। गीत जोड़ता है। इसमें टुकड़ों को एक करने की क्षमता है क्योंकि इसमें बुद्धि की हांक नहीं होती। इसी से आज भी गीतों की उपादेयता है। कठोर दंड या सबक से व्यक्ति या समाज का सुधार तो हो जाएगा लेकिन उसकी आत्मा पर पड़ी चोट से इन्कार भी नहीं किया जा सकता। गीत इसी कठोरता, कर्कशता, रूखड़ाहट को अपने से छील कर व्यक्ति या समाज को सामाजिक, आर्थिक, और मुख्य रूप से सांस्कृतिक मोक्ष प्रदान करता है। जो मानवीय आदर्श के अनुकूल है और गीत इसी मानवीय आदर्श को बहाल करने वाला श्रेष्ठ और कलात्मक माध्यम। गीतीय चेतना के विभिन्न स्तरों को एक तह बनाने के लिए अमरेन्द्र का यह वैचारिक भावात्मक गीत बोध निश्चित ही हृदयधर्मी नवगीत है लेकिन इनके गीत इस मानक कसौटी पर पूर्णतः खरे नहीं उतरते। इनमें बहुत सी फांकें और दरारें हैं। इन दरारों को पाटना, फांकों को दूध-पानी करना इतना सरल नहीं है। अमरेन्द्र के गीतों ने इस वैचारिक तलीय भावनात्मकता से जिस सीमा तक संघर्ष किया है उसे सराहा जाना चाहिए।

प्रणय की सहज अभिव्यक्ति के चित्र इनके गीतों में अधिक हैं। प्रिया के नख-शिल्पी रूपात्मक सौन्दर्य में परम्परित रूझान तो नहीं है लेकिन उसके अंगों के प्रति रसिक लालच पूरे देह भूगोल को नापने की कोशिश करता है। रूप चित्रों की बिम्बात्मकता में कशिश है। सहज कशिश को अनेक गीतों में वहां गहरा आघात लगता है जहां कहीं कवि एब्सर्ड शब्दों का प्रयोग करता है। 'महको तुम चन्दन बन' के प्रथम अन्तरे में प्रिया के सकुचाए नेत्रों का चित्र बेमिसाल है –

"मुझे देख लेने दो/ तुम्हारी आंखों के पार/ जो लाल-लाल सागर है।
जिसकी लहरें तुम्हारी आंखों पर/ छलक-छलक जाती हैं
मेरे इन गोल हुए अधरों के प्यार से/ रंग जाती हो तुम कचनार सी
कब तक यूं दक्षिणावर्त आंखों से/ रोब से मुझे हेरती रहोगी?" (*पृ. 5, 10*)

लेकिन अगली पंक्ति में ही 'बांह पर गूरे की तरह तो नहीं टहको!' (*पृ. 11*) कह देने से उसके सौन्दर्य का दर्पण चटक जाता है। इसी प्रकार 'रूप तेरा आंखों को डस गया' (*पृ. 22*) में 'डसना' क्रिया प्रेमभाव के उपयुक्त नहीं है।

जीवन के असंगतिबोध में वर्त्तमान समय की काल मुद्राओं को चटक बिम्ब-प्रतीकों में रूपायित किया गया है। ऐसे गीतों में हल्केपन ने भी गंभीर भाव-मुद्राएं ओढ़ ली हैं –

"मेरे मन में कितने दुःख/ छुपे बैठे हैं ऐसे,
बिल में सपोले सौ-सौ/ रहते हैं जैसे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब भी तुमने पूछा दर्द/ मेरा मन टीसा,
जैसे बिल झांके से/ सांप कोई फुफकार गया।" (*पृ. 30*)

वैषम्य मूलक अग्निपथ पर चलते हुए मानव का खण्ड-खण्ड बिखराव कारुणिक दस्तावेज़ हो गया है। निराशाओं, कुंठाओं ने उसे जड़ता की प्रतिमूर्त्ति, खुरदरे गतिहीन शिलाखण्ड में बदल दिया है। आश्वासनों का सम्मोहन, आशा की भोर कथाएं अब मनुष्य के लिए व्यर्थ हो चुकी हैं क्योंकि –

"व्यर्थ ही आशा-आश्वासन का सम्मोहन
दुःख मुंह फाड़े बैठा है/ सुरसा सा सौ योजन
बन जाते छूटा था/ ज्यों राम से अवध
मेरे भी सब संगी साथी छूटे।" (*पृ. 33*)

पैराणिक बिम्बों-प्रतीकों के माध्यम से कवि ने महाजनों की पूरी कुंडली बनाई है –

"रात हो गई अहिल्या/ दुर्वासा-सा दिन हो गया
जीवन कभी सूद-सा लगता था/ अब महाजन का ऋण हो गया।" (*पृ. 35*)

सम्बन्धों के प्रति विरक्ति बोध, संवेदनाओं की ध्वस्त प्राचीरों के नीचे दफन आज का मनुष्य खुद अपनी कब्र में कफन ओढ़ कर लेटा है। पौराणिक बिम्बों की इस आंच में यही अग्नि-गांठें बंधी हैं –

"मैं भी तो रत्नगिरि का शापित यक्ष/ मैं भी तो शापित दुष्यन्त हूं,
उनका दुःख था कुछ वर्षों का/ मेरा तो जीवन पर्यन्त,
तुम क्यों कहती हो/ मैं वह हूं/ मैं वह हूं,
शापित शकुन्तला हूं/ रावण के घर में सीता हूं।" ' (*पृ. 29*)

साहित्यिक प्रतीक भी चुहलवर्णी हैं –

"करवट में रात कटी/ आंसू में उम्र
आंखों में पसरे रहे सपनों के धुम्र
थरथराए देह/ जैसे भूखे शिशु
और बुझे चूल्हे को देख/ रधिया अभागिन।" (*पृ. 86*)

गीतों का सादृश्यमूलक विधान आकर्षित करता है –

"भैया वैसा ही कुछ दिन
जैसे हथेली पर रख गया हो/ कोई अगिन।" (*पृ. 36*)
"वर्षा की रात तुम्हारे बिन
ऐसी/ जैसे अकेले में मुझको अटा कर
गुर्रा रही हो टीले पर बाघिन।" (*पृ. 37*)

टेक पांक्तिक गीतों में आन्तरिक संगीत की क्षीण धारा विद्यमान है। पुनरुक्ति-अनुप्रासात्मक संगीत एवं सांगीतिक शब्दावली का प्रयोग गीतों को लयधारी नर्त्तन देने वाला है।

इसी प्रकार साहित्यिक-पौराणिक प्रतीकों के अवगुंठन में शायर कवि की ग़ज़लें समसामयिक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक अवस्थितियों में जकड़े व्यक्ति की मनोव्यथा को अक्स करती है –

"सब मानते हैं, आदमी जो मूर्ख है होता,
दरअसल कालिदास है, मैं किससे क्या कहूं।" (*पीर का पर्वत पुकारे : पृ. 4*)

अतीत भारत के घर-घर की मुंडेर पर बैठी चहकती सौन चिरैया अब अभिशप्त हो चुकी है। आज द्वार-द्वार भिखमंगों की भीड़ जुटी है। अपने-अपने तरीके से इसमें बिरला, टाटा, मोदी, सूरी, रिलायंस, वाडिया, बजाज आदि सभी शामिल हैं। चारों ओर आज लूट-खसोट मची है। हर्षद मेहता, हितेन दलाल जैसों का जमाना है। शरणागत वत्सलता की संस्कृति का लोप हो चुका है। आज रक्तबीजों का युग है। अब से पहले रक्तबीजों के लिए कभी धरती इतनी उर्वर भी नहीं थी। इसीलिए आज भूख, गरीबी, शोषण, प्रतिरोध, प्रतिकार, हिंसा, अलगाव, साम्प्रदायिकता, आतंक, उग्रवाद, दहशत की खौफज़दा स्थितियां हैं। प्रतिशोध-प्रतिकार कभी दंगे के रूप में सामने आता है, कभी आर. डी. एक्स के विस्फोटक रूप में। सभ्य मानव आज ज़्यादा खूंखार और वहशी है और स्थितियों ने भी आदिम रूप अख्तियार कर लिया है। इसीलिए कवि के अन्दर बैठा रचनाकार इस वेदना को झेलने के लिए विवश है, जैसे जनसामान्य की कीड़े-मकौड़े जैसी ज़िन्दगी और मध्यवर्गीय मानसिकता की पथरायी संवेदन आंखें –

"सर को पटक-पटक के तुम रोते हो किसलिये,
कोई न कुछ सुनेगा ये पत्थर का देश है।
इस देश में आकर ही अब मंजिल नहीं मिलती
हमने तो सुन रखा था ये रहबर का देश है।" (*पृ. 5*)

निरुद्देश्य भटकाव आज मनुष्य की रामलीला है, आदर्श दशानन आचरण। ज़िन्दगी के तंगदिल रास्तों से होकर गुज़रती इनकी ग़ज़लों का आचरण वर्त्तमान की तथाकथित असभ्य हरकतों का कथाक्रम है।

रचनाकार में जगह-जगह शैथिल्य है वे चाहे गीत हों या ग़ज़ल। इसके बावजूद उसकी गर्व-दंभोक्ति साहित्यिक आचरण के विपरीत है। इस प्रकार की दंभोक्तियां करने वाला रचनाकार कमज़ोर ज़मीन पर खड़ा होता है। खुद न बोल कर रचना को बोलने देना चाहिए। जो भी कहना होगा रचनाएं अपने-आप बोलेंगी और उनमें यदि दम होंगा तो वह आगे बढ़ कर अपने आप समाज और व्यक्ति से संवाद कायम कर लेंगी। इस तरह की वृत्ति रचयिता को साहित्य के रचनात्मक मूल्यों से काट देती है। वह चाहे चन्द्रसेन विराट् हो या अमरेन्द्र या कोई और दूसरा-

'बड़ा ही चर्चा सुना है तुम्हारी ग़ज़लों का।' (*पृ. 9*)
'तेवर मेरी ग़ज़ल का किसी और में नहीं।' (*पृ. 15*)

ग़ज़ल कोई उर्दू वालों की बपौती नहीं, अमरेन्द्र की नज़रों में – "ग़ज़ल भी हिन्दुस्तान में ही जन्मी है, दोहे कथन पद्धति से और उर्दू भी। इसके छन्द भी अधिकांश वही हैं जो हिन्दी के छन्द हैं" (*साक्षात्कार : 19 जनवरी 1992*)। गीत-ग़ज़ल के बीच अन्तर-रेख खींचते हुए उन्होंने अपनी बात और आगे बढ़ाई है "गीत-रचना दो चरणों वाले कई बंध के हो सकते हैं और चरणों वाले बंध का भी। लेकिन ग़ज़ल तो शेरों का संग्रह है और एक शेर सिर्फ दो चरणों का ही हो सकता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, तीन-चार का नहीं लेकिन ये ऊपरी बातें हैं, असली बात है 'तज्जुअल' जिसके अभाव में रामदरश मिश्र का प्रकाशित ग़ज़ल-संग्रह भी न ग़ज़लों का संग्रह बन पाया है न अच्छा गीत संग्रह। ग़ज़ल के मोह ने हिन्दी के अच्छे गीतकारों को भी त्रिशंकु बना दिया है" (*साक्षात्कार : 19 जनवरी 1992*)।

अमरेन्द्र की ग़ज़लों के साधारण शब्द गंभीर अर्थ का बोझ उठाये हैं –

"मायूस है, उदास है औरत की ज़िन्दगी
सलीके आस पास है औरत की ज़िन्दगी।" (*पीर का पर्वत पुकारे : पृ. 23*)

नारी जन्म-जन्मान्तरों से शोषित रही है। आदि नारी श्रद्धा से लेकर आज की जीन्स-टाप धारी अत्याधुनिक किट्टी तक। उनके वैकल्य बोध की विवश त्रासदी को ग़ज़लकार खुल कर कहता है –

"उतनी तो कभी थी नहीं सीता या द्रौपदी'
जितना कि अब निराश है औरत की ज़िन्दगी।" (पृ. 23)

वर्त्तमान त्रासदी को उरेहती इनकी ग़ज़लें मानवीय नियति के सामाजिक ग्रन्थ का मुख्य अध्याय है। सत्ता दंश से लेकर खुद के बनाये वृत्तों में दम तोड़ती स्थितिगत सत्य कुंडलियां ही आज के मनुष्य का आचार शास्त्र हैं जिसे अमरेन्द्र के गीत-ग़ज़लों ने काता और कहा है। इनकी रचनाओं में शैथिल्य बोध और विखण्डन भी कम नहीं है। लय टूटी और बिखरी हुई है। संतुलन की अभाव ग्रस्तता वैचारिक बिम्बों को भी भोथरा बना देती है। भावनात्मकता में पैबन्द लगे हैं, चिन्तन की कुण्डली भी सीमित है। विस्तार की छटपटाहट ही इनकी उपलब्धि मानी जा सकती है।

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' का नाम नवगीत के सर्पकुंडल में स्थूल और आयताकार है। सिंह बंधुओं की तरह इन्द्र में भी नेतृत्व का अंकुर पल रहा है जो फलवान नहीं हो पा रहा। गीत और नवगीत का अन्तर स्पष्ट करते हुए गीतकार को कल्पना लोक का राजकुमार और नवगीत को यथार्थ परक बताया गया है। जबकि देखा गया है कि जिन्हें गीतकार की श्रेणी में रखा गया है उनके गीतों में यथार्थ की अनुभूति पूर्ण संवेदनशीलता के साथ अभिव्यक्ति पाती रही है। यह केवल दंभोक्ति है – यदि गीतकार के क्षेत्र में मात्र छायावादी गीत है तो उसे किसी सीमा तक स्वीकारा जा सकता है। इन्द्र से पूर्व और समकालीन गीतकारों में तथाकथित तथ्य और यथार्थ सघनता से प्रकट हुआ है। सामान्यजन जीवन को जो सड़क, ट्रामों, बसों, स्कूटरों में मिलता है उसे चित्रित करना निश्चय ही वर्त्तमान का गायन है परन्तु जिस आम आदमी की बात की जाती है वह आम आदमी इन्द्र के नवगीत को समझने में असमर्थ है। सामान्य व्यक्ति शब्द का 'नीम की निबौरी होना' (*नवगीत दशक - 1 : पृ. 47*), 'बरगद पर छायाओं का हस्ताक्षर करना' (*पृ. 47*), 'समिधाओं का छन्दित होकर बांसों सा चटखना' (*पृ. 48*) कहां समझ पाता है? जहां नवगीत सामान्य जीवन को सामान्य की तरह सहजता से गाता है वहां गीत आत्म साध्य होता है। खोज कर शब्द कोशों के अप्रचलित शब्द गीत को बोझिल बना देते हैं। जीवन वैसे ही बोझ हो रहा है। उसके पीड़ित स्वर को गुनगुनाहट देने में ही साहित्य की सार्थकता है। गीत का धरातल जिस सार्द्रता से अभिषिक्त है वह इस भस्म कर देने वाली अग्नि-पंक्ति की वृष्टि से धूमावृत होकर जल जाता है। जहां

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहजता है वहां गीत आकर्षित करता है। 'घर की सुधि आते ही, भर आये दृग उदास' (*पृ. 51*) में जो कचोट और उदासी का गहन क्षण है वह 'बैंजनी दरारों' (*पृ. 51*), 'स्वप्न गंधा रोशनी का छंद' (*पृ. 49*), 'आदिम अन्हियारा' (*पृ. 51*) में नहीं है। इन्द्र ने अपने गीतों को नवगीत कहलवाने का जबरदस्त आन्दोलन छेड़ रखा है।

लगता है नवगीत की शब्दावली भी नयी कविता की तरह बंधती जा रही है। रास्तें में 'कांच का बिखरापन' (*पृ. 50*) दिखाना प्रत्येक नवगीतकार की नियति बन गई है। कमाबेश सभी नवगीत संग्रहों में गाहे-बगाहे कांच का उपयोग किया गया। इन्द्र जी ने कहा – 'पड़ा पांव तले बिखरा हुआ कांच' (*पृ. 52*)। इसी तरह निंदियाती, धुंधवाती, सिसयाती आदि ऐसी शब्दावली है जो सामान्य हो गई है।

इन्द्र में गीत-सहजता भी है – 'कविताएं लिखने के नाम, हमने कुछ सूक्तियां गढ़ी' (*पृ. 52*) एक सशक्त अभिव्यक्ति है। हमारे समाज में चापलूस को सुविधा, लंगड़ों को पायल और अंधों को काज़ल बटता रहा है। यथार्थ अनुभूति का चित्र – 'बाहर वाले बस बैठ गए/ हम थे जो खड़े रहे क्यू में'। यह विडम्बना ही है कि अयोग्य पुरस्कृत होते हैं और योग्य देखता रह जाता है।

इन्द्र में नये शब्द गढ़ने की आदत है। नवगीत के नाम पर इतने विशेषण कम ही नवगीतकार दे पाये हैं। नवगीत का साहित्यिक महत्त्व प्रतिपादित करने के लिए उसे बोधगम्यता से परे ले जाना असाहित्यिकता है। वर्त्तमान जीवन की आपाधापी सहजता से व्यक्त की गई है –

"बड़े बड़े मंसूबे बांधे थे/ इस आपाधापी में कुछ न हुआ,
लो सब कुछ व्यर्थ गया/ अपनापन भीड़ों की बाढ़ में/ टूटते कगार-सा ढहा।" (*पृ. 54*)

यह मुखरता अन्य नहीं मिलती। नवगीत किसी चमत्कार प्रियता का सृजन नहीं है। नवगीत का अर्थ आज की मनुष्यता का अनुभव है। यह अनुभव सरल और सहज है। आज का आदमी गीत को जिस सरलता से ग्रहण करना चाहता है उसी सीमा में साहित्य ग्राह्य है। प्रेमचन्द का साहित्य विशुद्ध साहित्य है। आज का कहानीकार कितनी ही मशालें जला ले, सच्चाई यही है कि प्रेमचन्द सूर्य है। नयी कविता, गीत और नवगीत कितनी ही दुंदुभि बजा लें पर कबीर तो कबीर ही रहेगा। इसलिए नवगीत को शब्द कोशीय घेरे में बांधना ठीक नहीं है।

नवगीत को व्याख्यायित करने और गीतकारों को संगठित करने में इन्द्र जी ने अधिक श्रम किया है। आज के मानव की पीड़ा, घुटन, त्रास और अभावों को इन्द्र ने अपने गीतों में कुशलता से चित्रित किया है। भाव, भाषा और शैली में अनेक गीतकार प्रायः समान पाये जाते हैं। छायावादी गीतकारों की भाव, भाषा और शैलीगत समानता इन के विकास में बाधक सिद्ध हुई, यही समता और विविधता का अभाव इन के लिए हानिकर है।

मूलतः गीत का स्वभाव लेकर लिखने वालों में गीत लेखक 'इन्द्र' का नाम है। नये प्रयोगों के मोह ने इन्द्र के गीतों की स्वाभाविकता नष्ट कर दी है। इन्द्र गीत की कोमलता को सहज भाव से सहेजते तो अधिक सफल होते। नवगीत का मोह इन्हें गीत सौन्दर्य से वंचित कर गया। गीत की सहज गेयता का एक अलग स्वाद होता है। गीत की इतनी तराश अच्छी नहीं जो एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नमूना बन कर रह जाये। गीत के क्षेत्र में मसीहाई अंदाज सुख नहीं देता। इन्द्र का यही सहज गीत-स्वर मंद है। शब्दों की भीड़ में अर्थ खोना अस्वाभाविक नहीं है। वरिष्ठ नवगीतकार ठाकुर प्रसाद सिंह ने लेखक के एक पत्र के उत्तर में बिल्कुल ठीक लिखा है – "इधर डॉ. शंभूनाथ सिंह ने जो जबरदस्त (?) आन्दोलन छेड़ रखा है उस से प्राण संकट में हैं। जब शुद्ध और सही लेखन को आन्दोलन का विषय बना लिया जाता है, राजनीतिक दलों की तरह भरतियां शुरू हो जाती हैं। नवगीत का दुर्भाग्य यही है कि उसमें घुसपैठिये आ गये हैं। देवेन्द्र शर्मा इन्द्र जैसे लोग तथा और भी कई लोग हैं। डॉ. शंभूनाथ जी बहुत नाराज हैं पर उन के पास अब भी ऐसे गीतकार हैं जो कहीं से नवगीतकार नहीं हैं। इन से नवगीत की पहचान बाधित होती हैं........" (*लेखक के नाम ठाकुर प्रसाद सिंह का पत्र : 18 नवम्बर 1986*)।

ठाकुर प्रसाद सिंह का यह कथन अक्षरशः सही है, आलोचक उन के इस विचार से पूर्णतः सहमत है कि इन्द्र कहीं से भी नवगीतकार नहीं है। साहित्य विशेष रूप से नवगीत के केन्द्र में चर्चित संस्थापित रहने की मानसिकता ने उन की सोच और दृष्टि को तद्रूप और मोहासक्त कर दिया है। ग्लैमर की तरह उन का नशा न टूटे यह कामना है।

नवगीत माला में **'देवेन्द्र कुमार'** एक ऐसा पुष्प है जो भीनी भीनी सुगन्ध देता रहता है और बड़े फूल के नीचे दब कर भी मन मैला नहीं करता। नवगीतकार को प्रायः प्रकृति के मायावी जाल में फंसता देखा गया है। प्रकृति के माध्यम से कमोबेश सभी नवगीतकारों ने आज की उदासी घुटन और अभाव को गाया है। नवगीतकारों ने वस्तुतः प्रकृति का बौद्धिक उपयोग किया। यद्यपि प्रकृति स्वतन्त्र रूप से भी नवगीतों के स्वर लय के साथ ताल ठुनकती है। देवेन्द्र में भी प्रकृति की स्वतन्त्र अनुभूति-अभिव्यक्तियां हैं लेकिन जहां जीवन की तड़प अभिव्यक्त हुई वहां अत्यन्त स्वाभाविकता के साथ –

"रात गये आंखों में चलती है लू
जलता है गांव, घर, नगर धू धू धू।" (*नवगीत दशक-1 : पृ. 64*)

इसी प्रकार –

"सामने बहती नदी है/ कौन तिथि, कैसी सदी है।" (*पृ. 67*)

इस पंक्ति में प्रभावित प्रकृति के साथ वर्त्तमान का असंतोष प्रश्न बन कर सामने खड़ा है। गीत की छोटी सी काया में चिन्तन-स्तर पर जीवन को व्याख्यायित करना नवगीत का शिल्पगत वैशिष्ट्य है, जो देवेन्द्र में है।

साहित्य की कोई भी विधा हो उस का उद्देश्य एक सार्वभौमिक आदर्श है। देवेन्द्र का कहना सत्य है कि "आदमी को उसकी अपनी ही खाल से निकाल कर बाहर लाना और वस्तुओं को पहेली से अलग वस्तु के रूप में बने रहने देना सांप्रतिक साहित्य की कसौटी है।" नवगीत प्रयोग करे परन्तु जीवित का पोस्टमार्टम कर। मैडिकल कॉलेज के छात्रों की तरह मृत शरीर पर एक्सपेरीमेन्ट साहित्य का उद्देश्य कभी नहीं होना चाहिये परन्तु खेद यह है कि नवगीत के कुछ स्वयंभू हस्ताक्षर इसी ज़िद पर अड़े हैं कि उनके नवगीतों को पढ़ने के लिए पहले शब्द कोश का अध्ययन करना चाहिए। आज की बिखरी हुई ज़िन्दगी को कोई दिशा तो मिलनी चाहिए। नवगीत आज की [illegible] नियति का दस्तावेज बने – यह प्रयत्न होना चाहिए। देवेन्द्र के शब्दों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में – "नवगीत नये मानव- मन की प्रतिक्रिया है, निर्मम नियति की अभिव्यक्ति है" परन्तु नया मानव-मन राजनीतिक, असामाजिक, असांस्कृतिक असभ्यताओं से ग्रस्त होकर अपनी चिन्तन शक्ति खो बैठा है। वह अब रात को गुलाब-मन नहीं जीता, चांद की चांदनी नहीं पीता, मूल्यों को आंकने और उन्हें महसूस करने की उस की क्षमता चुक गई है। नयी कविताओं के अतिरिक्त 'हड्डियों का पुल' इन का नवगीत संग्रह है जो वर्त्तमान जीवन के असंगतिबोध का लयीकरण है। 'कैफ़ियत' और 'बहस जरूरी है' इन के कविता संकलन है। 'एक पेड़ चांदनी' नवगीत संग्रह में जीवन से जुड़ी द्रवीय प्रतीतियां और प्यास-चांदनी को नये कोणों से परखने की कोशिश है। जीवन की अकुलाहटें इस संग्रह के गीतों में सीधे संवाद करती हैं। इस गीतीय फलक का नव्यता बोध हर दृष्टि से देवेन्द्र के रचनाशील मन के विस्तार का सूचक है। इन गीतों में मानव मन की प्रतिक्रियाएं टटके बिम्बों की शिल्पीय तराश में चाशनी की तरह घुल गई हैं।

भगवान स्वरूप का नाम नयी कविता और नवगीत दोनों क्षेत्रों में जाना पहचाना गया। अभी प्रतिभा को प्रस्फुटित होकर अपना सौरभ प्रचार वायु के झोंके के साथ आम आदमी तक पहुंचाना था कि विधाता ने नयी रचना के लिए उसे हम से छीन लिया।

भगवान स्वरूप विचारों की कलात्मक अभिव्यक्ति में सर्वथा निपुण थे। रूढ़ परम्पराओं के विरुद्ध होने के बावजूद वे कहीं कहीं नवगीत की पारम्परिकता से ग्रस्त हो गए, वैसे इन का संस्कार-स्वभाव गीत के अधिक निकट है। इनमें नवगीत की तथाकथित शब्दावली का आग्रह एवं चमत्कारोन्मुखी स्वभाव का अभाव है। गीत की स्वाभाविकता का एक मिज़ाज देखिये -

"अभी-अभी देहरी पर छोड़ गया एक और आश्वासन डाकिया......।" (*पृ. 77*)

इसमें 'आश्वासन' शब्द ने इस गीत की कथ्यात्मक आलोकिनी को गुंजित कर दिया। ऐसे अनेक गीत हैं जो सहज, सरल और गीत के नवत्व को संकेतित करते हैं। नयी कविता और नवगीत को यह गीत कवि विरोधी नहीं मानता। वह कहता है – "कोई भी विधा चुकी हुई अनुपयोगी और अप्रासंगिक नहीं होती।" यह बहुत बड़ी बात है क्योंकि इससे गीत प्रासंगिक हो उठा। ऐसे वक्तव्यों और गंभीर चिन्तन से गीत पर अनुपयोगिता का जो लांछन है उसे पोंछने में निश्चित सहायता मिलती है।

सिंह बंधुओं के शिष्य की तरह इन्होंने भी गीत और नवगीत में गुणात्मक परिवर्त्तन और भिन्नता को स्वीकारा है। गुण में भिन्नता न होकर अभिव्यक्तिगत रुचि में भिन्नता कहना अधिक सार्थक होता। इस रुचि का ही प्रमाण है –

"लगता जैसे/ कुचली हुई देह पर कोई/
चला गया लोहे के पहिये.....।" (*पृ. 71*)

आज के जीवन का आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार का उत्पीड़न इन की रचनाओं में नवगीत की स्वाभाविकता के साथ उभरा है। वर्त्तमान का असंतोष, संत्रास और उदासीन स्वभाव गीतों में अभावुक संवेदनशीलता से प्रकट होता है –

"कभी कभी/ यह क्या हो जाता है/ जी होता ही नहीं/
कि उठ कर बन्द खिड़कियां, दरवाजे खोलूं.....।" (*पृ. 71*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन के प्रति यह उदासीनता सामाजिक व्याप्त उदासीनता की उद्घाटक है। इस स्वर्गीय रचनाकार की नयी कविताओं का संकलन भी प्रकाशित है। 'माटी की परतें' गीत संकलन में परद दर परत ज़िन्दगी के सच आदमकद शीशे में आर-पार दिखाई देते हैं।

रामचन्द्र चन्द्रभूषण पिछले लगभग चार दशक से गीत लिख रहे हैं। नयी कविता और नवगीत को सहधर्मी और सहयात्री मानने वाले चन्द्रभूषण अपने नवगीतों में जीवन की उदासी, यंत्रयुग की घुटन, संत्रास, पूंजीवाद से पिसते समाज की विसंगतियों को कुशलता से चित्रित करते हैं। नवगीतकारों का स्वभाव यहां भी आड़े आ गया है। नये प्रतीकों, बिम्बों और उपमानों को बौद्धिकता के स्तर पर खोज कर लाने में कौशल स्पष्ट हो जाता है – "सूरज के घोड़ों के पांवों में कील गड़ी/ चीखती दरारों पर/ थम गयी लगाम" (*पृ. 110*), 'बीज खाली निकष में बोते गए हम' (*पृ. 111*)। 'उड़े पद्‌म पांखी के मौन उड़े/ अर्थ जुड़े किसी चित्र वर्षा के' (*पृ. 113*) इसी प्रकार के अनेक उदाहरण हैं जिन से छायावादी भाषा की स्मृति हो आती है। कठिन शब्दावली और अर्थ की गहनता गीत को चिर स्थायित्व नहीं दे पाते। भावना आज स्पष्ट होकर अभिव्यक्त होना चाहती है। नवगीत के नाम पर असहज भाषा का प्रयोग उसे अप्रसिद्ध कर रहा है। पीड़ा को व्याख्यायित करते हुए पाठक की पीड़ा और बढ़ जाय, यह ठीक नहीं। लोकधुनों के आधार पर रचित गीतों का अल्हड़पन यदि एक ओर गीत-प्रतिभा को निखारता है तो दूसरी ओर पांडित्य का सौन्दर्य आकर्षित करता है। परन्तु जिस आम आदमी का दर्द इस गीत शरीर की शिराओं में गूंज रहा है वह आम आदमी पूछ रहा है –

"पूछती सीमान्त की टूटी शिला/ सर्पयज्ञ समाप्त/ कब का हो गया/ किन्तु मंत्रों का मुखर क्यों सिलसिला......।" (*पृ. 112*)

चन्द्रभूषण के नवगीत मंत्र की तरह अबूझ हैं। गीत कवि का कथ्य जितना व्यापक है उसकी प्रस्तुति उतनी ही असामान्य है।

चन्द्रभूषण के गीत पत्र-पत्रिकाओं में ही पढ़ने को मिले हैं। शब्द कोशीय प्रवृत्ति से हट कर लिखे जाने वाले नवगीत अधिक सम्प्रेष्य हैं। इनके गीत भावों में तीव्र अनुभूति की गंध है। लगता है गीत कवि जानबूझ कर पारम्परिक गीत से दामन बचाता हुआ लिख रहा है। स्वाभाविकता का आग्रह है कि गीत हृदय के वैचारिक स्तर को लेकर चले अन्यथा केवल बुद्धि उसके रस को सोख लेती है। बौद्धिकता को ठूंसना नहीं चाहिए। नयी कविता इस ठूंस से ही अधिक आलोचित हुई। नवगीत अन्ततोगत्वा हृदय की उपज है, हृदय की उपेक्षा से गीत जीवित नहीं रह सकता। चन्द्रभूषण का कोई संग्रह देखने में नहीं आया। यदि प्रकाशित हुआ भी है तो चर्चित नहीं हो पाया।

सुधांशु उपाध्याय के वक्तव्य में एक ईमानदार विचारक की झलक है। नयी कविता और नवगीत को एक दूसरे का प्रतिपक्ष मान कर चलना ठीक नहीं है। यह निश्चित तथ्य है कि जब नयी कविता का हल्ला कम हुआ तो गीत की नाजुक कलाई पकड़ने के लिए हड़कंप मचा और नयी कविता के जीते-हारे योद्धा इधर को लपके। स्वयं शंभूनाथ सिंह गीत छोड़ नयी कविता को इस लिए अपनाते रहे कि उसमें व्यक्तित्व को प्रसिद्धि मिले परन्तु नाई की बारात में हुक्का कौन भरेगा! सो सिंह साहब 'पुनः मूषकों भव' होकर नवगीत के नेतृत्व के लिए लपक लिये। इसलिए सुधांशु का [illegible] सार्थक एवं ऐतिहासिक [illegible] की ओर स्पष्ट संकेत है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सुधांशु में गीत तत्व है। नवगीत की लकीर पर चलने की कोशिश है। गीतों में कांटे, बबूल, नदी, धूप, लहर आदि का जमावड़ा है। गीत जन जीवन से विमुख नहीं, इसी की यह पहचान है – "जगह जगह बंटती है/ बेचन की मां/ कागज-सी फटती है/ बेचन की मां।" (*नवगीत दशक - 3 : पृ. 56*) सामाजिक वैषम्य और असंगतियों ने जीवन के सारे सुख सोख लिए हैं – "ऐसी काली आंधी आई काले सारे फूल हो गए" (*पृ. 58*)। आर्थिक असमानता ने मनुष्य को चेतनाहीन कर दिया है। गीतों की सहजता-सरलता मन को छूती है। आज के गीतकार खोज खोज कर ऐसे प्रतीक ठूसते हैं जो अजीब लगते हैं। सुधांशु इस आदत के मुरीद नहीं हैं। उन्होंने जैसा देखा-पाया उसे नये तेवर के साथ कहने का स्वाभाविक प्रयत्न किया है – "आंखों में है सैर सपाटे/ हाथों में बबूल के कांटे" (*पृ. 60*) इस सारी स्थितियों के जिम्मेदार हैं वे जिनके प्रति सुधांशु प्रश्नशील हैं – "कैसे लोग बदल जाते हैं/ महज़ टोपियों से" (*पृ. 60*)। आज समाज दूषित राजनीति से ग्रस्त है। इस दूषित वातावरण में कोई निर्दोष नहीं है – "खून में हाथ सब के सने हैं/ सामने कुछ पड़े मेमने हैं" (*पृ. 61*)। स्थिति वस्तुतः यही है। सुधांशु ने जिस प्रकार प्रारम्भ किया है उससे आशा की जा सकती है, परन्तु आज तक का उनका काव्य कार्य कहां तक पहुंचा है, यह प्रकाश में या चर्चा में नहीं आया। अनेक ऐसे गीत कवि हैं, जिस गति से वे आये उस गति से बढ़ नहीं पाये।

सुधांशु के गीतों में मात्रागत अनुशासन का प्रतिबंध नहीं है। वे संभवतः लय को महत्त्व देते हैं। जिस प्रकार उर्दू वाले दीर्घ-ह्रस्व को लयानुसार साधते हैं शायद वहीं भंगिमा यहां भी है।

छविनाथ मिश्र के गीतों में महानगरीय संत्रास के असंगत परिवेश का लेखा-जोखा है –
"रोज़ बसों-ट्रामों में/ एक युद्ध जीने की यन्त्रणा सहेजना
कितना दुःखदायी है/ कविता से रोटी तक की दूरी झेलना।" (*नवगीत सप्तदशक : पृ. 28*)

व्यवस्था के प्रति आक्रोशमुखी प्रतीतियों में व्यंग्य की चुटीली ख़नक है –
"योजनाएं चुक गई हैं फाइलों में बन्द
यंत्रणाएं भीड़ की हो गई हैं निश्छन्द!
चीखता है/ हर नगर, हर गांव, हर गुरूकुल! भूख से आकुल!
हर जनार्दन चेहरे पर तैरता है मौन
आग की बहती नदी पर सिरफिरे ये कौन,
जो हवा में/ रच रहे हैं भाषणों के पुल! भूख से आकुल!
राजधानी सो गई सारे खिलौने तोड़
धुंध ओढ़े ऊंघते हैं संविधानी मोड़......" (*पृ. 30*)

गीतकार की नजरों में गीत व्यक्ति की पहचान और उसका संस्कार है। इसलिए गीत से विमुखता जीवन से विमुख होना है। छान्दसिक टूटन को कवि जीवन की लयात्मक टूटन से जोड़ कर देखता है। 'कुर्ते में कितने पैबन्द' गीत गीतकार की इसी संवेदना भूमि की उपज है। 'गीत-हंस' कौओं की पंक्ति में फंस गया है। समकालीनता की इन भयावह मुद्राओं के बीच हंस अपनी चाल न भूलें, गीतकार का यही प्रयास है क्योंकि गीत हंस का चक्रव्यूही होना हमारी मूल्यात्मक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्कारों की टूटन का दुःखद अध्याय है। संवेदनाओं की रक्षा के लिए जरूरी है 'गीत हंस' की सांस्कारिक गति को पहचाना जाए –

"कागों की पातों में हंस फंस गया
दूध-धुला बोध ढहा, मूल्य धंस गया
जीने की लय टूटी/ रचना पीछे छूटी
सपने संवेदन सब दीख निश्छन्द!
टूट गए गुन-बुने गीतों के छन्द!" (*पृ. 29*)

व्यंग्यमुखी आंचलिक भाषा छविनाथ के गीत-तेवर का विस्तार करती है। कवि-मन की छटपटाहट अंचलीय प्रतीतियों में अधिक गहरी होकर मेंहदी हो जाती है। मेंहदी के हृदय की लाली वस्तुतः गीत की द्रवमुखी चेतना है जो तरल होकर छवि के गीत-बोध को व्यंग्यमुखी आकारों में रूपायित करती है। अंचलीय तत्व भाषा की चुभन लेकर व्यंग्य भावों को अनेककोणी बना देता है –

"धान सारा/ चुग गई, फ्लोरेंस की बुलबुल
एक पूरा देश टूटा, भूख से आकुल।" (*पृ. 30*)

गीतों का लय-विधान आकर्षक है, स्वर-ताल सधे हुए। संक्षिप्तता एवं टेक-पंक्तिक शैली गीत की संप्रेषणीयता को दुगुना करते हैं।

पिछले दस वर्षों में अनेक गीत कवि ऐसे उभरे हैं जिनमें संभावनाएं हैं। इन में अनेक ऐसे भी हैं जो मंच के गीत साहित्य में प्रतिष्ठा अर्जित कर पाने में असमर्थ प्रतीत होते हैं परन्तु **इन्द्र सेंगर** के गीत दोनों दृष्टियों से श्रवणीय और पठनीय हैं। इनके गीतों में मानवीय दुर्बलताओं का यथातथ्य चित्रण, समाज में परिव्याप्त हिंसा, शोषण, राष्ट्रीय भावनाओं के साथ प्रेम की पीड़ा और विरह व्यथा की अभिव्यक्तियां हैं। जो आज आम आदमी भोग रहा है वह मानसिक कथा पूरी तरह व्यक्त हुई है। कवि के गीत इन्हीं, गलियों में बंजारों की तरह घूमते हैं। आज की राजनीति गांधी जी का नाम लेती है परन्तु काम उलटे – "बापू जी तो सब के थे, पर बापू का है कौन सखे!" (*सूरज बिखरा द्वारे द्वारे : पृ. 25*) इस प्रश्न पर मानवता भी मौन रह जाती है। इसी प्रकार सेंगर समाज की ज्वलन्त समस्या को गीत में ढाल कर कहता है –

"युग से घूम रही है, निर्धन-दुहिता डाले झोली/ ले मन में धन लोभ, बोलते क्यों दहेज की बोली।" (*पृ. 39*) समाज में जो अत्याचार और शोषण विकराल रूप धारण कर रहा है उस के प्रति कवि की दृष्टि चैतन्य है। इसीलिए वह चाहता है – "नयी क्रान्ति के नये चक्षु दो, इस अंधे संसार को" (*पृ. 67*) क्योंकि बिना क्रान्ति शान्ति की संभावना नहीं है।

डॉ. सेंगर ने भाषा के विविध रूपों का प्रयोग किया है। इसमें ब्रज, खड़ी बोली, उर्दू शब्दों का यथा अवसर प्रयोग मिलता है। गीतों की धुनों में आंचलिकता और गीत की पारम्परिक शैली की गंध मिलती है। पढ़े लिखे व्यक्ति को छन्द का ज्ञान तो होना ही चाहिए। मात्रा दोष तो आजकल प्रायः सर्वत्र दिखाई देता है। डॉ. सेंगर ने प्रेम गीत भी अच्छे लिखे हैं। एक वियोगी मन की व्यथा प्रकट करने वाले अनेक गीत प्रभावोत्पादक हैं। गीत को गीत तक आते समय लगता है। डॉ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेंगर साधनारत हैं साहित्यिक कार्यक्रमों के प्रति सक्रिय हैं। भविष्य में अच्छे गीतों की संभावना की जा सकती है।

आत्म प्रकाश शुक्ल कवित्त, सवैयों, दोहों, गीतों में लोक भाषा की लयात्मक छलकन है। छलकन के साथ नुपूर नर्त्तन करती संगीतात्मकता छन्दों को कहीं मृदंग बना देती है तो कहीं पखावज। फगुनायी बोल, रसीली भाव-लहरियां, धूपीला ताप, खेत-क्यारी का पसीना-संघर्ष सभी कुछ इनके गीत-छन्दों में चहकता गुनगुन करता है। फाग की होली ठिठोली 'फागुन गीत' में पूरे आवेग को सहजता से साध लेती है –

"पनघट-पनघट चले फगुनहट/ इत-उत बहे उतानी
सोंधो लागे नमक देह को/ मीठे लागे पानी
दैय्या रे ऐसी ऋतु आयी/ दीखे अपनी देह पराई
पुतरी प्रीति की पतुरियां/ लगन लागीं......।" (*धर्मयुग, 7 - 13 मार्च 1982*)

'बरसाने की गलिन में' (*धर्मयुग, 11 - 17 मार्च 1990*) भी होली का निश्छल बिम्ब है।

सवैयों और कवित्तों में सृष्टि-असारता एवं दार्शनिकता का पुट है। 'गोरिया की लट' शीर्षक देख कर मन में श्रृंगार भाव जगता है लेकिन चिंतन-गुनन करने के बाद दर्शन की तलस्पर्शी कसावट पूरे निखार के साथ अपनी गति को संस्कारित कर तरल रंगी बिम्ब हो जाती है –

"ऐसी दिव्य दीठि जैसे साधना का ज्योति-पीठ
जैसे कोई दीप जले चंदन के मठ में।
ज्ञानी गये हार संत करत विचार
देख आ गयी दरार हठयोगियों के हठ में।
मेरे शिल्पकार तेरे शिल्प पे निसार
तूने सुंदरम् का सार सब समोया एक घट में।
बांध ले तो रात और खोल दे तो होत प्रात
दोनों दिन रात बंधे गोरिया की लट में।" (*धर्मयुग, 7 - 13 मार्च 1982*)

संक्षिप्तता इनके गीतों का अतिरिक्त गुण है। छान्दसिकता में सधापन और लय-ताल में संगीत की अनुछवियां रचनागत भाव के सारतत्व को तीव्रता से सम्प्रेषित करती हैं।

कवि-सम्मेलनीय हड़कम्प में गीत की गतक्लान्ति और कान्ति को कुछ सीमा तक **डॉ. उर्मिलेश** ने सुरक्षित रखा है। 'गीतकार' के एक साक्षात्कार में इन्होंने जिन मिश्र महोदय का स्मरण किया है, वे स्वयं छन्दोबद्ध गीत के प्रसिद्ध रचनाकार थे। बाद में उन्होंने मंच की विवशता के कारण शायद हास्य नाम से हंसाने वाला मैटर अपना लिया। वे संस्कार उर्मिलेश में हैं। वे पढ़े-लिखे सजे संवरे गीत-कवि हैं। मंच की कलाबाजियों के ज्ञाता और स्वर से गीत प्रस्तुत करने में चतुर हैं। मंच पर जिन के लिए कवित्त, सवैया, मुक्तक, ग़ज़ल, शेर आदि का समयानुकूल प्रस्तुतीकरण शंखधर का बौद्धिक प्रसार है –

"कौन क़ातिल हैं, कौन बिस्मिल है/ जानते हैं मगर नहीं मालूम।"
'सब नकल से यहां प्रमाणित हैं/ कौन है जो यहां असल ढूंढे।'

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'मंजिलें तो हजार हैं लेकिन/ रास्ता है किधर नहीं मालूम।' (*मरूगन्धा : अप्रैल - जून 1991*)

"कौन क़ातिल हमारा है मत पूछिये
वरना अपनों के चेहरे उतर जायेंगे।"

अप्रैल-1993 के 'गीतकार' में प्रकाशित साक्षात्कार के आधार पर अभी तक इनका कोई संग्रह प्रकाशित नहीं हुआ। पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित गीत ही उर्मिलेश की प्रतिभा का परिचय देते हैं। मंच के गीत-कवियों में इन्होंने अपना स्थान सुरक्षित सा कर लिया है। व्यवसाय से अध्यापन का क्षेत्र होने से इन्हें अध्ययन का पर्याप्त अवसर मिला है। छन्द को इन्होंने बारीकी से समझा है इसलिए इनकी गीत रचना को स्वर-सौन्दर्य भी मिला। इनकी गीत-ग़ज़लों में वर्त्तमान वैषम्य, विसंगतियां, अभाव, त्रास और घुटन के साथ प्रेम की प्यास मिलती है। इनके लयबद्ध गीतों में कहीं-कहीं तो कारीगरी अत्यन्त लुभावनी होती है। जो प्रतिभाशाली गीतकार अपने लेखकीय प्रभावशाली वक्तव्यों और सक्रिय गंभीरता से गीत को प्रतिष्ठित कर सकते हैं उनमें डॉ. शंखधर भी हैं। वे आलोक के साथ इस लोक का मोह भी लिपटाये हुए हैं। मंच की प्रसिद्धि इन्हें अभी साहित्यिक समृद्धि तक नहीं ला पाई। मंच के सारे गुण इनमें हैं, अतः वह अच्छे गीत के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं।

पिछले दस पन्द्रह वर्षों में नवगीत ने भाषा, शिल्प और संवेदनशीलता के स्तर पर जो नया रूप पाया है उसे रूपायित करने में एक नये तेवर के साथ यश मालवीय का नाम लिया जा सकता है। प्रतिभाशाली पिता का प्रातिभ पुत्र **यश मालवीय** युवकीय प्रकृति का प्रतिनिधि नवगीतकार है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी पत्रिका में यश मालवीय की गीत-कविताएं अक्सर देखने में आती हैं। यश ने नवगीत को एक नये व्यक्तित्व की भाषा दी है। भाषा के संस्कार उमाकान्त में भी जगमगाते थे परन्तु यश की सांस्कृतिकता वर्त्तमान स्वभाव में जीने की तलाश कर रही है। उसमें कहीं विद्रोह, कहीं विवशता और कहीं ललित लालसा है। आम आदमी की व्यथा-कथा को यश ने अनेक रूपों मे गाया है। प्रकृति के चित्र भी अनेक रूपकों में इनके गीतों में चित्रित हैं। लेखन के क्षेत्र में यश ने बहुत शीघ्र अपनी पहचान बना ली है।

डॉ. शंभूनाथ सिंह शायद इस प्रतिभा को नहीं पहचान सके। इसी वजह से ये किसी दशक, सप्तक, अर्द्धशती में देखने को नहीं मिले। हो सकता है व्यक्तिगत संपर्क का अभाव खला हो या यश ने पूजने से इन्कार कर दिया हो। यह भी हो सकता है उनके युग में यश नवगीत तलाश रहे हों। खैर, आज यश ने अपनी प्रतिभा और श्रम के बल पर सुरक्षित स्थान बना लिया है।

यश का गीत चिन्तन बिल्कुल स्पष्ट है। एक साक्षात्कार के दौरान उन्होंने कहा कि "गीत ने समकालीन कविता के समानान्तर न केवल एक सार्थक रेखा खींची है, वरन उस के कथ्य को भी आत्मसात करते हुए छंद में जीने का सार्थक एवं सफल यत्न किया, जिस से गीत-विधा का फलक और भी अधिक विस्तृत हुआ है। उस के शिल्प में संवेदना का अद्भुत एवं गुणात्मक प्रसार हुआ है। मुझे प्रमुख रूप से यही अन्तर रचनारम्भ से लेकर आज तक के गीतों में दिखाई देता है" (*साक्षात्कार : 7 जुलाई 1993*)।

यश ने बच्चे, जवान, बूढ़े, देश, जाति, समाज, धर्म, राजनीति सभी पर नवगीतीय अन्दाज़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में लिखा है। यश ने अपने पिता के यश को सुयश दिया। यश की प्रतिभा का कोई एक कोण नहीं है। गीत पर यश के अपने विचार हैं, अपनी एक आस्था है। यश का यह आक्रोश सही है कि कला में राजनीति नहीं आनी चाहिए परन्तु जिस कारण आलोचक ने गीत की उपेक्षा की उस कारण के आप भी एक अंश हैं, सभी साझेदार हैं इस उपेक्षा के। मंच का मोह और नवता की होड़ ने सहजता को लूट लिया है। यश फिर भी गीत के प्रति अत्यन्त सावधान रचनाकार हैं।

युवा लेखन की दृष्टि से यश में एक ताज़गी है और वर्त्तमान को नये ढंग से व्याख्यायित करने की ललक भी है। यह ललक नये प्रयोगों की ओर रूझान भर देती है। व्यस्तता और जीवन के प्रति निरर्थकता का भाव अत्यन्त हृदयग्राही है –

"दफ्तर से लेनी है छुट्टी, कुछ तो जी लें बिला वजह
सुबह देर से सोकर जागें, सूरज के साथ नहीं भागें।"

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि आज मनुष्य तनाव और घुटन के बीच जीवन से संघर्ष कर रहा है। ऐसी पंक्तियां मन को छूती हैं। नवगीत के इस दुर्लभ भाव-द्रवणशीलतामय व्यक्तित्व का निर्माण अनेक नवगीतकारों ने किया है। उनमें उमाकान्त मालवीय स्वयं हैं। यश ने उस पितृ-प्रतिभा को प्रकाश का प्रौन्नत रश्मि-पथ दिया है। नये प्रतीक कहीं कहीं बड़े लुभावने लगते हैं-

"नीम शाल ओढ़े बादल का/ दांत बजाती टहनी टहनी" (*दैनिक जागरण*) में शीत ऋतु का मीठा अहसास होता है। नये नये साहित्यिक और पौराणिक प्रतीक भी अभिव्यक्ति को त्वरा देते हैं –

"चलती चक्की देखकर नहीं जागती पीर
दर्द जुलाहे का कहे कोई नहीं कबीर।"
"राजनीति की द्रौपदी नंगी बीच बाजार
स्वयं परात्पर प्रभु करें, धोती का व्यापार।" (*सण्डे मेल : 3 फरवरी 1991*)

मुहावरा जन सामान्य की भाषा का अनिवार्य अंग है, क्योंकि जीवन के अनुभवों में स्थूल समानता होती है परन्तु अभिव्यक्ति का सौन्दर्य जब विशिष्ट से सामान्य होता है तो आनंद का स्तर ही कुछ और होता है। यश में यह प्रतिभा है जीवन के क्षण को स्वर में गाने की। इसलिए 'गीत खुशबू की मशालें हैं' (*समांतर*) –

'पलकों से कांटे भी चुनने पड़ते हैं।' (*हिन्दी हिन्दुस्तान : 22 मार्च 1992*)
'क़ागजी आखेट......।'
'गले की फांस.....।' (*सण्डे मेल : 3 फरवरी 1991*)

गीतों में सूक्तियों का प्रयोग गागर में सागर भरता है –

'समय दुःख के पृष्ठ का कोना कुतरता है।' (*नवभारत टाइम्स*)
'अपने भीतर आग भरो कुछ/ जिससे यह मुद्रा तो बदले।' (*हिन्दी हिन्दुस्तान*)

आंचलिकता ने उसे महका दिया है – 'धूप उतारे राई नोन/ दिन साखू रातें सागौन' (गगनांचल) जैसे प्रतीक नयेपन और अभिव्यक्ति की ताज़गी का संकेत देते हैं, परन्तु आंचलिकता का क्षेत्र

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सीमित होता है, इसलिए इस प्रकार के प्रतीकों से गीत बोझिल हो जाता है। प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं होना चाहिए। आरोपित प्रयोग तादात्म्य का सुख नहीं दे पाता। 'मन की ऋतु बदली, तुम आये/ रात हुई उजली, तुम आये' (कादम्बिनी) में जितनी स्वाभाविकता पाठक को आत्मसात करती है उतनी अन्य आरोपित गीत-पंक्तियों में कतई नहीं करती।

यश की आंखों में आदर और व्यवहार में आत्मीय भाव है। साधना के इस सात्विक पथ में उन्हें आदर्श प्रेरित करते रहेंगे – यह आशा भी की जा सकती है। वे सही ढंग से रोना और उचित समय पर हंसना जानते हैं – "हम भी कितने सस्ते हैं जब देखो तब हंसते हैं" (अमर उजाला) यही वह हंसी है जिसमें समाज स्वयं को खो चुका है। यह हंसी असली नहीं है। यह आरोपित और प्रदर्शित हंसी है। प्रदर्शन ही इस समाज को खा रहा है। यश के ऐसे गीतात्मक व्यंग प्रभावित करते हैं। असंगति तो गीत का भावात्मक क्षेत्र है अभिव्यक्त होने का। यश का गीतमय भविष्य उज्ज्वल है।

स्व. उमाकान्त का मस्तिष्क और निराला का हृदय मिल जाए तो यश की व्यक्तित्व-आकृति उभरती है। युवा प्रतिभा अपनी गतिशीलता का निरन्तर परिचय दे रही है। पिता के यशो विस्तार में यश सहायक सिद्ध हुए हैं। उन के स्वभाव में विनम्रता और भी विश्वास जगाती है। होता यह है कि जो शीघ्र चर्चित हो जाते हैं उन में अंहकार का अंकुर फूटने लगता है। प्रभु करे ऐसा न हो, होगा भी नहीं क्योंकि यश मालवीय ने इलाहाबादी अहंकार का परिणाम देखा है और शायद भोगा भी है। इसलिए यश की साधना एकान्त श्रम और निर्द्वेष जीवन वृत्ति की मांग करती है। 'सिर उठाता ज्वार' (समसामयिक चेतना के गीत) और 'एक चिड़िया अलगनी पर' (रागबोध के गीत) गीत संग्रहों की पाण्डुलिपियां प्रकाशन के लिए तैयार हैं, निकट भविष्य में इन्हें पढ़ने-गुनने का अवसर मिले, यह कामना एवं विश्वास है।

साहित्य में कथ्य का महत्त्व तब आंका जाता है जब उसका शैल्पिक स्वरूप आकर्षित करता है। किसी नारी के मन में क्या है यह कौन जाने, उसका स्वरूप सौन्दर्य मुग्धकारी होता है। फिल्मों में कोई अभिनेत्री ऐसी नहीं जो महा असुन्दर हो और चाही गई हो। अपने अभिनय के बल पर उसकी प्रतिष्ठा हो सकती है। नवगीत के समालोचित स्वरूप में शैल्पिक श्रृंगार का अपना महत्त्व है। **ब्रजेश भट्ट** नवागन्तुक कवि की भाषा नवगीत के सहज परिभाषात्मक शरीर का श्रृंगार करती है –

"गीत बांसुरी की तान थे, अनायास शंख हो गये
उड़ते थे नील-व्योम में हम घायल पंख हो गये।"

छन्द की साधना, शब्द-निर्वाह, अर्थ की सम्प्रेषणीयता तीनों गुण इस पद में मिलते हैं। नवगीत में शाब्दिक विशेषण का विशेष स्थान है। विशेषण विशेष्य के गुणात्मक व्यक्तित्व को व्यक्त करता है। आज के वातावरण में युवा पीढ़ी समस्याओं और अभावों से ग्रस्त है। उसमें शक्ति नहीं कि वह विद्रोह कर सके, एक पक्षी विद्रोह कर यह करेगा कि वह उड़ जायेगा परन्तु पंख ही घायल हो गए तो वह उड़ ही नहीं सकता। अभाव और विवशता उसके जीवन को निगल जाते हैं। जीवन में उदासी भर जाती है। चारों ओर निराशा अनुभव होती है –

"पंख कटे, बोझिल सांसें हैं, मन से डरी डरी।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन आतंक से आपूरित है। समाज संस्कृतिविहीन असभ्य हो गया, राजनीति स्वार्थ में डूबी। प्रकृति के विपरीत आचरण हैं –

"मनसा, वाचा, कर्मणा संत हुए योगी
कुंठाएं हुईं कैंसर, प्राण हुए रोगी।"

नवगीत जीवन की इसी कुंठा, निराशा, संत्रास, उत्पीड़न, निराशा और यातना को व्याख्यायित करता है। ब्रजेश इस मानसिकता को विभिन्न ढंग से कहते हैं –

"सम्बन्धों की शुष्क नदी पर पुल इतने बांधे
टूटी नाव, रेत की मछरी, सपनों को लादे।"

आदमी का सपना ही महत्त्वपूर्ण है। सपना ही न होगा तो बढ़ भी नहीं सकता और न जी सकता है। जब सपने नष्ट होते दिखाई देते हैं तो वह यातना असह्य हो जाती है। सपनों को साकार करने की इच्छा से ही –

"गुजरी अग्नि-परीक्षाओं से ये जीवन-वैदेही।"

सुख-दुःख की अनुभूतियों को सार्थक अभिव्यक्ति देने के लिए ब्रजेश भट्ट पौराणिक पात्रों का प्रयोग करते हैं –

"यक्ष निश्चय हो कि चाहे हो प्रतिज्ञा भीष्म की,
आज इस कुंठित-समर में, द्रोण कहां, वह भील।"

इस प्रकार ब्रजेश भट्ट उदासी, निराशा और व्यक्ति मन के सशक्त नवगीतकार हैं। सहज, सरल, सहायताप्रिय और गीत के प्रति समर्पित नवयुवक हैं। अभी मंजिल बहुत दूर है।

ब्रजेश भट्ट में युवजनोचित सौन्दर्य बोध भी अपनी झलक देता है। आज के अभाव-भरे वातावरण में परिस्थितियों से घिरा एक प्रेमी ही ऐसे गीत का प्रारम्भ कर सकता है –

"एक चिकनी हंसी/ खुरदुरे होंठ पर,
मरुथली झील में/ कांपती मछलियां।" *(सभी उद्धरण गीतकार द्वारा प्रेषित सामग्री से)*

प्रणय की विवशता का इससे अच्छा अहसास दुर्लभ ही है। ब्रजेश भट्ट की अधिकांश रचनाएं सामाजिक वैषम्य और अमानवीयता को संकेतित करती हैं। उनकी रचनाएं पत्र-पत्रिकाओं, आकाशवाणी-दूरदर्शन से ही उपलब्ध हो सकी हैं। अभी उनके नवगीतों का संकलन प्रकाशित नहीं हुआ है। ब्रजेश भट्ट जिस चिन्तन, अनुभूति और सावधान-क्षण को जीते हुए लिख रहे हैं उससे यह विश्वास जगता है –

"यदि कोलाहल से लड़ना है
चल, वंशी को तैयार करें।" (मधुर शास्त्री)

उन्होंने अपने गीत-संग्रह 'नाव में नदी' के प्रकाशन के लिए साधन जुटाना प्रारम्भ कर दिया है। ब्रजेश भट्ट अध्ययनशील गीतकार हैं। उनके पिता पुराण पण्डित थे अतः वे संस्कार इस कविता में बोलते हैं।

युवा नवगीतकारों में **श्याम निर्मम** *(युवा नवगीतकार, गाजियाबाद (उ. प्र.), सभी उद्धरण गीतकार द्वारा प्रेषित सामग्री से)* भी पंक्तिबद्ध है। श्याम की साधना पद्धति कुछ विचित्र सी है। वह धीरे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे नवगीत की नदी में अपना छोटा सा नवगीत बहा देता है जो अपना मद्धिम मद्धिम प्रकाश फैलाता और लहरों पर ऊपर नीचे मुस्काता रहता है। श्याम निर्मम का स्वतन्त्र रूप से कोई संकलन इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने तक प्रकाश में नहीं आया परन्तु इधर उधर पत्र-पत्रिकाओं, गीत-संकलनों, आकाशवाणी, दूरदर्शन से इनकी रचनाएं प्रकाशित-प्रसारित होती रही हैं। इन विभिन्नवर्णी अनुभूतियों में श्याम का एक स्वरूप बना है। भावनात्मक वैचारिकता का बोध इन के गीतों को सहारा दे कर ऊपर उठाता है। इन रचनाओं में मनुष्यता के प्रति समर्पित होने की भावना है। वह खुद उस मनुष्य सा है जो स्वयं तो दीपक है परन्तु कालिमा से छला गया है। यह कालिमा ही अमानवीयता है जो उस को छलती है – "मैं माटी का दीप/ स्नेह से भीगा भीगा जला/ कालिमा ने मुझको ही छला।" संकलन न होने के बावजूद इन की रचनाशैली में नैरन्तर्य रहा है। ये मस्ती एवं मन्द गति के स्वच्छन्द गायक हैं। इन के गायन में एक सांस्कृतिक सौरभ है। वह सुरभि विषपान से जन्मी है जैसे कीचड़ से कमल।

सामाजिक अभिशापों को निर्मम ने सहज-सजल होकर स्वीकारा है। द्वन्द्व-संघर्ष की तीखी धारों ने इस गीत मन को निर्ममता से खुरचा-खरोंचा है। इस खुरच-खुरचन के विष ने ही उसकी अनुभूति को गीतमय अभिव्यक्ति दी है। उन्होंने स्वयं कहा – "पहले जिसे जिया है/ फिर गीत में लिखा है।" पंक्तियों के क्रम में कुशल श्याम कभी कभी बहर में बहक जाते हैं – "कुछ पंक हो गये पर/ दर्शा रहे कमल हैं" – इन पंक्तियों में बारह मात्राएं हैं, इन्हीं के साथ की दूसरी पंक्तियां देखिए – "कुछ दल की दल दलों में तेरह मात्राएं, 'कुछ के ना कोई दल हैं – पंक्ति में चौदह मात्राएं हैं – यह क्रम समझ से परे हैं।

नवगीत के क्षेत्र में श्याम निर्मम की पहचान बन रही है। कवि का रचना मन आज के मानव की फड़कन को पहचानता है। उसका प्रतिनिधित्व करते हुए वह कहता है – "हर तरफ अंधी सुरंगें/ हम किधर जाएं? दर्द के अनगिन कथानक/ हम किसे गायें?" यह भटकन नहीं आज की समस्या है। इस प्रकार के गीत नवगीत के प्रायः सभी प्रतिनिधि संकलनों में प्रकाशित हुए हैं। नवगीत में प्रायः अनुभूतियां समान स्वर में अभिव्यक्त होती रही हैं। श्याम लीक से हट कर लिखने एवं गीत में प्रौढ़ता के पक्षपाती हैं। अभिव्यक्तियों में वे सरल और सहज हैं। इनके सामने अभी एक लम्बा मार्ग है। सभी महत्त्वाकांक्षाओं से ऊपर उठ कर उन्हें लक्ष्य तक पहुंचना है। निर्मम में संभावनाएं हैं। उनके ही शब्दों में उनसे यह कहा जा सकता है – "भूल कर संताप सारे/ हो सके तो/ तू उदासी गा।" समस्त परिस्थितियों के प्रति निर्मम होकर यदि वे अनवरत गीत रचना में संलग्न रहेंगे तो हाशिये में नहीं, सामने होंगे।

विनोद श्रीवास्तव 'भीड़ में बांसुरी' लेकर अपनी अलग पहचान कायम करने की कोशिश में है। परम्परित और प्राचीन प्रतीक-बिम्बों से इन्हें परहेज है। इसलिए समसामयिक अनुगूंजों को प्रामाणिक दस्तावेज बनाने के लिए इन्होंने चांद, फूल, कांटे, भौंरे जैसे प्रतीक-बिम्बों को न अपना कर मुहावरेदार शैली में काल मुद्राओं को गीत-स्वर दिए हैं। कवि जानता है कि आज गांवों से नगरों की ओर पलायन करते मानव के हृदय से स्नेह की सहज धारा ही विलुप्त नहीं हुई 'रतनारी आंखों के आर-पार चमकीले बिम्बों का फैलना' भी समाप्त हो गया है। मधुमास, वसन्त के किस्से अब बीते दिनों की कहानियां होकर रह गए हैं। चारों ओर डर, दहशत, अंगार,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आतंक की परछाइयां ख़ौफनाक होकर मांसपेशियों में खिंचन पैदा कर रही हैं और मन शेर के सामने निरीह मेमना हो गया है –

"यह कैसा दहशत का साम्राज्य/ लाशों से गिद्धों का घमासान
धरती की कोख हो गई सूनी/ पौरूषेय रहा नहीं आसमान
आखिर अब होने को क्या बचा/ क्षत-विक्षत आत्मा देह की।"

(*दैनिक हिन्दुस्तान : 16 अगस्त 1992*)

मृगछौनी भावनाएं बुद्धिवादी सिंह के सामने थरथरा रही हैं जिसने मानव-मन की उर्वर कल्पनाओं को बंजर-भूमि बना दिया है –

"शब्द कहां से आये/ शब्द कहां जाएंगे
बंजर होकर कैसे मेघगान गाएंगे।" (*दैनिक हिन्दुस्तान : 16 अगस्त 1992*)

'मेघ गान' की पुलक में आज व्यक्ति का स्वाभिमान ही खण्डित हो गया है वह जिए भी तो कैसे? मुहावरे सदैव अभिव्यक्ति को पैना करते हैं – 'दोस्त होकर हाथ फिर भी सेंकते हैं लोग' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 16 अगस्त 1992*) 'चादर छोटी पांवों के लम्बे होने में/ सपनों को एक मुश्त रोज़-रोज़ ढोने में' (*दैनिक हिन्दुस्तान : 16 अगस्त 1992*) आदि मुहावरों ने गीत-गति को त्वरा और सम्प्रेषण क्षमता को गहरा किया है। लय और ताल अनेक जगह खण्डित होने के बावजूद समकालीन समय चिंता की सभी लीकें इनके गीतों में खिंची हैं।

वर्त्तमान यथार्थ इतना कुरूप, वीभत्सित हो चुका है कि उसके बदसूरत चेहरे पर आतंकवाद की फसलें लहलहा रही हैं। इन्हीं फसलों ने **सुरंजन** (*दिल्ली, संग्रह - 'इसे स्वीकार लो नदी'। काफी समय से रचनारत*) की संवेदना को लील लिया है। बीसवीं सदी के अन्तिम चरणों में आस्था और क्षरित होते जा रहे जीवन-मूल्यों के संकट ने मनुष्य को परजीवी बना दिया है। संकट के बीचों-बीच फंसी मनुष्यता का यही परजीवी बोध सुरंजन की संवेदना को झकझोर देता है। आत्म बोध से परजीवी बोध क़ा महाभारत सुरंजन की गीत-अस्मिता को लयविहीन बना देता है। जीवन की इस असाहित्यिकता को व्यक्त करने के लिए कवि हालांकि पौराणिक मिथकों की ओर लौटता है, आदर्श विभूतियों का स्मरण भी करता है, लेकिन उसका अन्तर्संघर्ष क्षण-क्षण उस की बेचैनी बढ़ाता है और एक निश्चित बिंदु पर उसे नहीं पहुंचने देता। प्रयोगवादी कविता के पितामह अज्ञेय के पेड़ पर घर बनाने को कवि आत्मविघटन और अभिजात्यवादी संस्कृति की मुखौटेधर्मी अराजकता मानता है। यह असभ्यता है, सभ्यता ऐसा नहीं कर सकती। मात्र कुछ नया करने के लिए ही यदि मनुष्य पेड़ पर घर बनाने लग जाए तो पक्षियों के बसेरे कहां होंगे? मानवीय रिश्तों की संवेदनहीन स्थितियों को कवि ने समय की नब्ज से जोड़ कर देखा है। सामाजिक दंश की मनोभूमि पर जवान होती बेटी का दहेज-अभिशाप न उसे जीने देता है न मरने। दिन का सूरज चढ़ते ही किरण- किरण दर्द फैल कर मानस धरती को स्याह रात कर देता है। भरी दोपहरी में ही सूर्य के ढलने की पीड़ा क्या है। यह महसूस तो सभी करते हैं लेकिन इसका इलाज कोई नहीं। रचनाओं में व्याप्त सामाजिक सरोकार कवि की रचना-भूमि को सार्थकता से जोड़ते हैं। 'बेटी' (*इसे स्वीकार लो नदी : पृ. 34*) गीत का मर्म हृदय को छीलता है तो 'तितलियां' की संवेदना भूमि गहरे में मानस-मंथन को विवश करती है –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"मां तितलियां पकड़ो न?.........
जो घर में नहीं रहतीं/ उम्र के बंधन में नहीं बंधतीं
दहेज का मसला खड़ा नहीं करतीं/ जिंदा जलायी नहीं जातीं।
वे सिर्फ खुशबू खाती हैं, हवा पीती हैं
और ढेर सारे रंग-बिरंगे फूलों से प्यार करती हैं।" (*पृ. 35*)

विचार और भाव यहां घुले मिले हैं। जीवन और समाज की मानसिकता पर एक उल्का प्रश्न जड़ जाता है। चांद की ऊबड़-खाबड़ पथरीली-ज़मीन की तरह आकर्षणहीन जीवन दूर से ही शीतल है लेकिन पास से पल-पल जीते अर्थ-पोषित अग्निकुण्ड की तरह। समय और स्थितियों के फौजी बूटों के नीचे कराहते मूल्य और अर्थ-कुण्ठित समाज की मानसिकता ने नागफनी और बबूल की फ़सल पैदा कर दी है। रागात्मक उन्मेष अजगर वृत्ति में तब्दील हो गए हैं। क्रियाहीन हम स्वयं अजगर के उदर में जीने को तैयार बैठे हैं। वैचारिक असंतुलन, विवेक मृत अभिनय ने हमारी सम्पूर्ण चेतना को शाखविहीन कीकर बना दिया है। बुद्धि-हृदय एक-दूसरे से हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की तरह व्यवहार करते हैं। सम्भव है संघर्ष ही सत्य हो और अन्ततः इसी से कुछ निकले। बुद्धि और हृदय को एक-दूसरे के निकट आना होगा। जीवन में न अतिशय भावुकता चलती है और न ही अतिबौद्धिकता। यही कवि का अन्तर्संघर्ष है।

गीत कविता का रचनात्मक रस है। कवि इस रस से वंचित है। लय-ताल मिल नहीं पाए। बिम्ब-प्रतीक सुन्दर है लेकिन बिखरे-बिखरे। कवि में संतुलन का अभाव है, इसलिए कविताएं गीत रूप में सध नहीं पाईं। कवि का स्वर प्रायः उद्‌बोधकपरक रहा है, शायद इसीलिए गीतों में मधुरता और मार्दवता का अभाव है।

प्रदूषित पर्यावरण के बीच दम तोड़ती मानवीयता, शोषित होने की मजबूरी झेलती मनुष्यता, युगीन त्रासदियों को बांचती, सत्ता दंशित, अस्मिता, रिक्तिबोध, स्वार्थ पीड़ित द्वेष-दम्भ आदि के वृत्त **बाबूराम शुक्ल** की गीत पताकाएं हैं। महानगरीय जीवन की धुआंती धुंध घुटन को अनुभूति के धरातल पर आंजती-मांजती, काटती प्रतीतितां बाबूराम शुक्ल की गीत-प्रकृति निर्मित करती हैं। अतिबौद्धिक तार्किकता के बीच वैज्ञानिक औद्योगिक सभ्यता को पीती-ओढ़ती मनुष्यता आधुनिक प्राविधिकी एवं भौतिकता की पूरी तरह गुलाम हो चुकी है। इसके संत्रास-बिम्ब बाबूराम शुक्ल ने कमान की तरह खींचे हैं। 'सड़कें ये कोलतार की' का नमूना देखिए –

"फूलों को रौंदती चलीं/ सड़कें ये कोलतार की,
खुशबू की सांस में भरी/ गैस, धुएं, अंधकार की।
मसविदा धुंधलके का/ सूरज के हस्ताक्षर
कैक्टस के कांटों से/ लिखता है
भाग्य-लेख कलियों का/ जर्जर बूढ़ा पतझर
करता नीलाम सरेआम/ ग्रीष्म मालिक बन
नयी खिली पंखुरियां/ हरसिंगार की।" (*यात्रा में साथ-साथ : पृ. 22*)

शुक्ल की गीत-परिधि में सत्ता-लोलुप राजनीति के छल-छद्म, कुर्सी-दौड़ की अन्धी दौड़

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में शामिल नेता उनका कछुआयी आचरण व्यवहार, बार-बार मोहभंग की मुग्धावस्था, सामाजिक, अराजकता आदि सभी कुछ हैं। इन समस्याओं को फोकस करते इनके गीतों का कथ्य विभिन्न मुद्राओं में यही कथा कहता चलता है –

"भीतर लोलुपता के/ स्वार्थी खूनी पंजे फैलाती/ कुटिल नीति झांके
रंग सभी करते हैं व्यंग्य/ कालिख में डूब गयी
धूल-धुली वे सारी कूचियां/ राक्षस की काया को
राम नाम की चादर/ कहां-कहां ढांके।" (*पृ. 22*)

शब्द-प्रयोगों में सावधान शुक्ल के नवगीतों में भाषा मरोड़मुखी अभिव्यंजन में कुशल है। अधिकांश गीत, उसके चरण एवं अन्तरे भी संक्षिप्त हैं। गीतों की अन्तर्लय में व्याप्त वर्त्तमान का मुखरबोध इन्हें समकालीन गीतकारों के नज़दीक ले आया है।

कुछ रचनाकार ऐसे हैं जो पिछले दिनों नवगीत की यज्ञाग्नि के स्फुलिंग की तरह चमक में आए हैं। हिरनों की प्यास हृदय से अनुभव करने वाले कवि हैं **राधे श्याम बंधु**। इन में नवगीत की शिल्प प्रक्रिया को बौद्धिक स्तर पर चित्रित करने का आग्रह मिलता है। नव के प्रति सजगता उपमेय उपमान के समान स्तर को गहराई से नहीं देखने देती। नवगीत के शिल्प विधान का आग्रह तो ठीक है परन्तु उसमें संस्कार की गंध नहीं है। संस्कार सतत् अध्ययन और विनम्रता से आते हैं। आज के अनेक नवगीतकार ऐसे हैं जो सीखना नहीं चाहते। राधे श्याम बंधु के गीतों में एक उत्सुकता है कि वे बात नये ढंग से कह सकें। गीतकार में जीवन की पीड़ा को नये से नये ढंग से गाने की चेष्टा है।

बंधु में प्रतिभा है। कठिनाई यह है कि जिस प्रतिभा ने उन्हें यश और सम्मान दिलाया है वे मौन होकर सापेक्ष हैं कि समाज के सम्मुख हमारी प्रतिभा का मूल्य किस सीमा तक आंका गया है। बंधु के गीतों में सम्प्रेषणीयता है परन्तु रसोद्रेक नहीं है। व्यंग्य तो आजकल सभी जगह मिलता है। ज़िन्दगी अपने आप में व्यंग्य हो गई है। नवगीत की आत्मा में व्यंग्य समा गया है। इन में बांकी तिरछी शैली में वर्त्तमान को व्याख्यायित करने का कौशल है –

"शब्दों के थोथे युगबोध/ अर्थों के अवारा गर्भ
शिखरों से घाटी तक दौड़/ उगा रही शापित सन्दर्भ
कागज के कवच नहीं देते अब साथ
गीता के पृष्ठों पर ठहर गयी रात।"

"अधरों पर अभिनन्दन/ मन में अभियोग लिये
महानगर में कैसे/ आस्था की ओर जिये?"

"बौने सम्बन्धों की/ त्रिभुवन में गन्ध उड़ी
एक बात को लेकर/ बातों की भीड़ जुड़ी!
व्यंग्यों के व्यूहों में/ भी मेरा सत्य जिया!"

"राजधानी दिल की दिल्ली में भी दिलवाले कहां
दिल के बदले दिल्लगी सहता यहां है आदमी!"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जितनी लाशें दबती उतनी/ कुर्सी ऊंची होती,
जितनी रोटी छोटी होती/ बड़ी तिजोरी होती!"

(*प्यास के हिरन : पृ. क्रमशः 28, 34, 71, 80, 95*)

निश्चय ही विचार शैली की दृष्टि से बंधु के गीत पठनीय हैं। मात्राओं में बहुत से लोग रुचि नहीं लेते। वे गाकर स्वर को ह्रस्व-दीर्घ बना लेते हैं। शास्त्रीयता के मोह से मुक्त होकर साधारण जीवन की चटकीली मुहावरेदार भाषा में अभिव्यक्ति विशेषता है। धीरे-धीरे पहचान बनाने की कोशिश हो रही है। रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने जीवन को महासमुद्र कहा है। जिन खोजा तिन पाइयां – इस ओर रुचि बनी रहे तो संभावनाएं सार्थक हों।

'पलकों की पांखुरी', 'महुआ-महावर' (संयुक्त : 'महावर' - मधुर कमल, 'महुआ' - मधुसूदन साहा) और 'सात हाथ सेतु के' (संपादित) **मधुसूदन साहा** के तीन ठोस नवगीत कदम हैं। 'ऋषियों का देश' नवगीत-संकलन प्रकाश्य है। 'अंतस् के ताल पर पसरे शैवाल' को कवि ने सूक्ष्म दृष्टि से अनुभूत किया है। संक्रमण की मूल्य-रोधी विभीषिका झेलते व्यक्ति चेतना आज हीन कुंठाओं के घर सातवां ग्रह बनी हुई है। उसके हृदयी संवेदना की तटीय भूमि मलिन गंदीली, दलदली धसान बन चुकी है। आस्था, विश्वास, मूल्य नैतिकता, निष्ठा, भक्ति की धमनियों में जमी काई स्वस्थ वैचारिक भावनाओं के रक्त को रोक कर पसरी पड़ी है (*महुआ - महावर : पृ. 45*)। रेत पर टिकी नीवें दरक चुकी हैं, विश्वास चकित हैं, आशा निशामुखी चादर ओढ़ कर कुम्भकरण के घर चली गई है। परिवेश में गूंजते दशानन अट्टहास ने राम को हर काल में चुनौती दी है। (*पृ. 62*)। वर्तमान की मुश्किल भी यही है। भौतिकता के नागपाश में बंधे हम अपनी परम्पराओं, संस्कारों और मातृभूमि से छल करने को तैयार बैठे हैं –

"रोप कहां पाते हम/ निष्ठा के पांव
अनचीन्हा लगता अब/ अपना ही गांव
छीज गये/ रिस-रिस कर सारे अनुबंध।" (*पृ. 68-69*)

हमने 'नव्य मूल्यबोधी शहरी मुखौटा' (*पृ. 57*) कुछ ऐसा ओढ़ा है कि आधुनिकीकरण ने हमारे अन्तस् को पूरी तरह निचोड़ कर मरुभूमि बना दिया है, पथरीला शोर हमारी रगों में दौड़ता है। नसें मशीनी यान्त्रिकता के संगीत पर तन कर अकड़ जाती हैं। आधुनिक ज़िद की इसी अकड़न में जीवन तरस रहा है। 'चांदनी की नाव' (*पृ. 63*) गीत में कवि ने नगरबोध के इस सम्मोहन पर प्रश्नचिह्न लगाया है। जहां ऊंची-ऊंची अट्टालिकाएं तो अनगिनत हैं लेकिन आश्रय नीड़ कहीं नहीं है। रोशनी के इश्तहार ही इश्तहार हैं मगर रोशनी के सभ्य पेट में अंधकार पल रहा है।

कवि को प्राचीन परम्परागत उपमान बूढ़े और बेमानी लगते हैं इसलिए युगबोध को नापने-कातने के लिए उसने नवीन उपमान सर्जित किए हैं। प्रिया के मुग्ध सलोने उत्तेजक रूप-सौन्दर्य को गीतकार ने नव्य उपमानों से प्रतीकित किया है। हरसिंगार-सा गंधवाही प्यार, जूही-सी मुस्कान, पलाश से होंठ, चम्पा-सा गदराया यौवन, मौलसिरी अखियों से झरती समर्पण भंगिमाओं से सद्यस्नाती प्रिया, कचनार की कली मोगरे की डार है जिसके शृंगार प्रकृति ने अपने हाथों से किये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं (*पृ. 19*)। उपमानों में व्याप्त ताज़गी और नयापन यौवनगंधी पहले स्पर्श-सा उत्तेजक है।

'लिजलिज़े शब्दों' को कवि रचनादर्शी तराश के साथ आस्था-भावना की अनूठी शक्ति बनाता है। भावना-कला की लचीली आस्था-भूमि से उठ कर कवि के रचना सरोकार पौराणिक-बिम्ब प्रतीकों के सहारे आधुनिक प्रासंगिकता में युगबोध को आसानी से सम्प्रेष्य बना देते हैं - "अंगद का पांव" (*पृ. 43*), 'वामन के तीन डग' (*पृ. 57*) आदि पौराणिक गीत-बिम्ब तरल होकर कवि की सकार दृष्टि को पूरे आकार में आकारित करते हैं। गंध बिम्बों की घनीतिमा गीतों में व्याप्त भावभूमि का चित्रात्मक फलीकरण है -

"देहरी पर धूप दे/ जहां अल्पना
आंगन के चौरे पर/ चढ़े वन्दना
स्वागत में झुकी हों संदीली दिशाएं।
ऋषियों का देश चलो देख आएं।" (*पृ. 52*)

और संभावना के दृश्यान्तर हैं -

"एक अनब्याहे बिम्ब ने/ मुझसे अकेले में बात की,
थोड़ी बहुत उमर घटी/ काजल-सी रात की,
देखें, उस बिम्ब को
सवेरे फलक पर कैसे उतरता है!" (*पृ. 66*)

गीतों की संक्षिप्तति और सकारता 'अर्थ स्वर सन्धियों की पकड़, पाठकों से शब्दार्थ लय में मनोलय की खोज और आलोचकों से गीत-काव्य के विकास में नवगीत की साकार पहचान की अपेक्षा रखते हैं' (*पृ. 8*)।

भाषा में विद्यमान आंचलिक लोच निखर कर गीत कथ्य का त्वरित विक्षेपण करती है। गीतों में व्याप्त उछाह-आशा की परतें युग स्थितियों के मस्तक पर चुनौती हस्ताक्षर करती मनुष्य के पूरे वज़ूद को नये फ्रेम में उभारती है। तनाव-उछाल की द्वन्द्व त्रासदी को जीवन के फ्रेम से जोड़ कर खूबसूरत बनाने के संघर्ष करते मधुसूदन साहा के इन गीतों में मनुष्य जिज़ीविषा की अंकुठ प्यास है।

असंगत परिवेश की रिक्तता के बीच मरुस्थल से फैले चहुंमुखी अराजक अभिशापों के स्थिति-सत्य खुरची गई शब्दावली, नुकीले नव्य प्रतीक-बिम्बों के माध्यम से **मधुर कमल** की पहचान उभारते हैं। अभिशप्त राजनीति मोरनी बन कर जनसामान्य को स्वप्नरंगी, इन्द्रधनुषी अंडे दे रही है। कोरे आश्वासनों की शर-शैय्या पर अधमरी मानव देह ठण्डी होने की प्रतीक्षा में अकड़ गई है, लेकिन आदमखोर राजनीतिक सत्ता को उस पर कोई तरस नहीं आता। आज़ादी के मायने लोकतन्त्र के नाम पर शोषण की खुली छूट है। कवि सहजभाव से जनमानस को दर्पण बनाता चलता है -

"आजादी लगती है/ गलती से भटक गई
अंधे के हाथ ज्यों बटेर।"

(*संयुक्त संकलन : मधुसूदन साहा - मधुर कमल : महुआ -महावर : पृ. 111*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गांधी टोपी की तरह ओढ़ी हुई नैतिक सामाजिकता आज बदसूरत है। आधुनिक मूल्य-मानकों में अनफिट मनुष्य-अस्मिता कोमल अंगी बांझ कोख हो गई है। इसी वजह से सामाजिक गमलों में सैकड़ों संबंधों के शूल उग आये हैं। कुंठागत विक्षोभ, बेचारगी, चाह कर भी कुछ न कर पाने की लाचारी, नस-नस में व्याप्त व्याल विष को फुंकारने के लिए कवि एब्सर्ड भाषा का प्रयोग करता है –

"आओ अब एक जुट हो/ अंधकार पाखी के डैने मरोड़े।
जबड़ों के बीच दबी/ ज़िन्दगी है
च्यूइंग गम/ स्वादहीन हो गई
पर/ थूक नहीं सकते हम,
आओ अब एक जूट हो/ सामंती गिद्धों की किचकिचाई आंखें फोड़ें।" (*पृ. 113*)

वहीं कंटीली बाड़, उलझा फड़फड़ाता लहुलुहान मन-कपोत, पंखहीन पीड़ा झेलती मानसिकता, छितराए मूल्य-पंखों पर व्याध हस्ताक्षर, चटकनें और चटकनें, फिसलन और बिछलन के बीच गगनचुम्बी दर्पण से झांकती आस्थां बिवाइयां फटे व्रण की तरह टीसने लगीं – "निष्ठा का तन रह-रह कर रिसने लगा।" (*पृ. 120*)। कुर्सी के आगे आदमी आज नकारा हो गया है। चांदी की ठोकर से किसी को भी लुंज-पुंज बनाया जा सकता है (*पृ. 121*)। सत्ता-शक्ति किसी की भी वैचारिक शक्ति का अपरण कर सकती है, उसके मौलिक अधिकारों से लोकतन्त्र के मुखौटे में व्यभिचार, भावनात्मक बलात्कार कर सकती है। अंकुश की तहबाज़ारी में किसी को भी कुचला जा सकता है –

"कटी जीभ पर/ भी पहरा है/ जुल्मी थानेदार का
बांट रहा है/ बेदाने-सा/ दाना सुर्ख अनार का।" (*पृ. 102*)

नागफनी दंशों की व्याल संस्कृति ने मनुष्य को पूरी तरह परिवर्तित कर दिया है। परिवर्त्तन की इस कुचक्र लीला में चित्तचोर कान्हा की बांसुरी-छिद्रों से भी तपे स्वर-राग सिसकते हैं। इसीलिए-

"फसलों को डस गया/ मातमी धुआं
खोद गया कौन यहाँ/ मौत का कुआं
सूरज की तरस गई रोशनी
जब से तुम/रात के पहर हुए।" (*पृ. 107*)

आंखें सत्वहीन होकर तुलसी-चौरे की ओर देख रही हैं, गुलाब जैसी ज़िन्दगी आज बबूल होकर रह गई है। ट्रैजेडी तो यह है कि –

"छन्दों को छोड़ गई/ शब्द की सहेली
अधरों पर जड़ी हुई/ मौन की हथेली
सांकल पर जमीं धूल/ दर्द को अगोरे....
पूनम के जूड़े में/ गदराये फूल
टीस रहे अन्तर को/ यादों के शूल
सरसों की नयी गंध हृदय को मरोरे
बे मौसम भर आते नैन के कटोरे।" (*पृ. 103*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कवि निश्चित उद्देश्य के तहत दिशासन्धान में जुटा है। मनुष्य को अपनी ताकत का अन्दाज़ा नहीं है। जिस दिन वह अपनी अस्मिता-शक्ति को पहचान लेगा उस दिन सूर्य उसे खुद पाहुन के रूप में निमन्त्रित करेगा। कवि की रचनाशीलता इसी आशा में अन्दर के घावों की रिसन को कोंचती है। उसका गीत-चिन्तन खुलती दिशाओं को हेरता है कि मनुष्य की आंखों पर पड़े विभ्रम का अन्धकार जाल कब बिखरेगा। किरणों का हरकारा पथ को कब उज्ज्वलता देगा। आस्थाहन्त मनुष्यता के लिए कवि की यही चिन्ता उसके गीत बोध को मूल्यबोध से जोड़ने वाली है। चिन्ता का यह बोध ही मनुष्यता की वकालत है। भाषा में विद्यमान आंचलिक पुट भावों को मधुरिमा देता है। उसे मनुष्यता के करीब लाता है – "तम को चहेट रही/ धूप की बिलैया" (*पृ. 77*)। उपमानों में भी आंचलिकता का स्पर्श है – 'सरसों-सी धूप', 'नाईन-सी भोर', 'अल्हड़ ननदिया- सी फागुनी बयार', 'बांटता है-बायना' (*पृ. 81*) आदि गीत-प्रयोग ऐसे ही हैं। मुहावरों के प्रयोग ने व्यंग्यों को पैनाया है – "पानी है अधिक या शिराओं में खून" (*पृ. 111*), 'लील रही सूरज को' (*पृ. 115*) , 'मिट्टी का माधो...' (*पृ. 119*) आदि मुहावरे डंक मारते हैं।

संक्षिप्त टेक पंक्ति वाले गीतों में राजनीतिक-सामाजिक विरुपताओं को उभारा गया है। अनेक गीत कविता के आस-पास हैं। ऐसी रचनाओं की लय ताल खण्डित और असंतुलित है। तल्खियों के नंगईपन के लिए एब्सर्ड भाषा का प्रयोग युगानुकूल और युगबोध को खंगालने वाला है। यही गीतकार की सफलता है।

संतोष श्रीवास्तव ने अपने गीतों की रचना कलम-कागज़ लेकर नहीं की अपितु गा-गा कर की है। इनके गीतों में लय, ताल, तुक की संगीतात्मक तालबद्धता का समायोजन है। दुःख, वेदना और पीड़ा इनके गीतों की मूल रागिनी है। कवि इनके बिना प्रणय को भी अधूरा मानता है -

"बिना दर्द हर प्यार अधूरा/ सुन्दरता भी सत्य नहीं है,
हर दुःख से अब प्यार हो गया/ हर पीड़ा अनुकूल हो गयी।"

(*संपादक : मधुसूदन साहा : सात हाथ सेतु के : पृ. 57*)

रागात्मकता, निजीपन और नपे-तुले शब्द सुख-दुःख की अनुभूति लेकर जब हृदय की भूमि को कुरेदते हैं तब गीत अंकुरित होता है –

"थोड़े से फूल लिये/ थोड़े से कांटे
हमने भी सुख-दुःख...../ फागुन में बांटे।" (*पृ. 58*)

बदरिया, उमरिया, सांवरिया, बावरिया, डगरिया की तुकबन्दियों पर लोक गीतों का प्रभाव है। लोक-संचेतना के साथ आस-पास की परिवेशीय आहटें गीतकारों को व्यापक सन्दर्भ देती हैं। इन सन्दर्भों की गूंज को गीतकार अभिव्यक्तिगत सच्चाई के साथ नापता-तौलता है –

"रोटियों की गंध/ लागे मकरन्द,
देह का पसीना/ सांस की सुगन्ध।"
'वोट और नोट/ दोनों में खोट
सहता जन आज/ दोनों की चोट
व्यवस्था पे टंके, लाखों पैबन्द।' (*पृ. 63*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनास्था के जंगल में पर्व मनाता उग्र आतंक जीवन के यथार्थ का बयान है जिसे गीतकार ने शिद्दत से कहा है –

"ज़िन्दगी ढलने लगी है/ गोलियों की शक्ल में,
सांस में बारूद है और/ नफरतें हैं अक्ल में,
जंगलों में बदलते जाते यहां सारे शहर।
चिकने पत्थर की तरह/ विश्वास सारे हो गये,
आंकड़ों के बीच रिश्ते/ आदमी के खो गये,
मलय पर्वत की हवा में भर गया कैसा ज़हर!" (*पृ. 64-65*)

संक्षिप्तति और सम्प्रेषणी गुण के कारण रचनाकार के गीत-बोध ने अपना प्रसार किया है।

यौवन के सूर्य की संध्योन्मुखी किरणों में स्नान कर आनन्द अनुभव करने वाले **आनन्द वल्लभ** प्रतिभाशाली नवगीतकार हैं। इन्होंने जीवन के प्रारम्भ में गहरी अनूभुति को संजोया है और समय पा कर नवगीत में उन्हें बखूबी गाया है। बड़ी तेजी के साथ इनकी प्रतिभा का स्वागत हुआ है। इन्होंने मन से प्रश्न किया – "मन, तुझे कैसा लगा? यह एक नयी शैली थी। पत्र-पत्रिकाओं में इनके कुछ अच्छे गीत प्रकाशित हुए हैं। अभी तक इनका कोई संग्रह सामने नहीं आया। चर्चा के आधार पर और स्वयम् प्रत्यक्ष के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आनन्द वल्लभ में प्रतिभा है। इन का सुरीला कंठ अत्यन्त एकाग्रता चाहता है। संख्या में इन्होंने कम लिखा है परन्तु जितना लिखा है वह अच्छा है।

इन के नवगीत किसी कृत्रिम वातावरण से नहीं गुजरते। आम आदमी जिस दर्द को महसूस करता है परन्तु कह नहीं पाता वही इन की गीत-चेतना में सीप-मोती बन जाता है। ऐसे दर्द और अनुभूति को आनन्द का गीतकार सबल अभिव्यक्ति देता है। ये लघुकाय गीत अर्थ की विस्तृत आत्मा को संजोये हुए होते हैं। भाषा में नए शब्दों का प्रवेश अच्छा लगता है। आनन्द ब्रजभाषा क्षेत्र के हैं। इन में उस आंचलिकता का आनन्द भी कहीं कहीं मिलता है। नहीं कहा जा सकता क्यों ऐसी प्रतिभाएं किस प्रमाद, आलस्य के कारण निष्क्रिय हो जाती हैं। या तो ये सीमा से अधिक अपेक्षा रख लेते हैं या सुविधाजीवी हो जाते हैं। वे फिर अपने पुराने मुहावरों को दुहराने लगते हैं। कहीं भी कुछ नया जब अपनी उपस्थिति को रेखांकित करता है तो सक्रियता सफल हो जाती है। इसलिए इस प्रकार की प्रतिभा का चर्चित हो जाना ही कृति की कृतार्थता है।

पुष्प कुमार मूलतः नयी कविता के कवि हैं। नयी कविता की लयात्मकता यह सिद्ध करती है कि पुष्प में गीत की गंध है। कुछ ऐसी भी प्रतिभाएं हैं जो स्वयं गीत तत्व अनुभव करते हुए भी गीत नहीं लिखती क्योंकि उनमें आधुनिकता, बुद्धिजीवी या बुद्धिभोगी होने का मोह व्याप्त होता है। जैसे हमारे नेता इसलिए बाहर अंग्रेजी बोलते हैं, कहीं विदेशी उन्हें अनपढ़ और अनाधुनिक न समझें। इसी प्रकार यशोलिप्सा से लिप्त ऐसे नये कवि भी हैं जो इस प्रवाह में बह रहे हैं और श्रम-साधना के अभाव में अस्थायी यश से सुविधा जुटाने में व्यस्त हैं।

पुष्प की भाषा और भाव पद्धति गीत के अनुकूल है। भावनाओं में नवीनता ही गीत की प्रगति में सहायक होती है। पुष्प ने एक कविता में अंधेरे से कहा है जो आजकल कविताओं, नारों,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भाषणों में प्रायः सुना जाता है – "अंधेरा एक व्यावसायिक मुहावरा है/ जिसे ने केवल कविताओं में/ भुनाया जा सकता है, बल्कि/ आदमी उसे ओढ़ कर/ सूरज को गाली दे सकता है" (*आदमकद धूप के बीच : पृ. 21*)। यह एक कठोर सत्य है कि आज नेता अमीरी को गाली दे कर गरीबी को भुनाते हैं, साहित्यकार अंधेरा लेकर साहित्य रच रहा है, आदर्शहीन होकर आदर्श के लिए लड़ता- सा दिखाई देता है। कौन है जो अंधेरे को संकेतित नहीं करता परन्तु अंधेरा है कि घटने का नाम ही नहीं लेता। पुष्प ने भी अपनी नयी कविताओं और नवगीतों में वर्त्तमान जीवन की व्यावसायिकता, हिंसा, अन्याय, शोषण से ग्रस्त जीवन को चर्चित किया है। अच्छा हो पुष्प छन्द को सिद्ध करते हुए नवगीत के गायक सिद्ध हों। 'आदमकद धूप के बीच' संग्रह के अतिरिक्त 'समय संदर्भ में' और 'सन्नाटा बोलता है' इन के अन्य काव्य संग्रह हैं।

जानकी प्रसाद 'विवश' का साहित्यिक क्षेत्र अभी विस्तार चाहता है। 'ऋतुपर्व' इनके गीतों का प्रथम संग्रह है। कवि का परिचय. मात्र कविता है, उन्हें अपनी योग्यता कविता से ही प्रकट करनी है। यह जानना आवश्यक नहीं कि कवि के अध्ययन का क्या स्तर है और यह जानना भी आवश्यक नहीं कि कवि का आजीविका साधन क्या है? यद्यपि देखा यह जाता है कि अध्ययन और कार्यक्षेत्र का भी काव्य पर प्रभाव पड़ता है। कबीर-सूर की सौंधी गंध अपना आनंद देती है, मन को सुमन करती है परन्तु तुलसी के उपवन की महक का भी कोई जबाब नहीं है। माना कि श्यामलाल पार्षद का झंडागीत सारे देश में प्रसिद्ध है परन्तु अज्ञेय की प्रतिष्ठा का अपना महत्त्व है। विवश जी केवल रचनाओं के मूल्यांकन में विश्वास रखते हैं।

'ऋतुपर्व' की कविताएं गीतात्मक हैं। गीत की अभिव्यक्ति में सावधानी बरती गई है। जानकी के ऋतुयी गीत परम्परित छन्द की प्रवाह-प्रणाली का चिरगौरव प्रतिष्ठित करते हैं। भावना की नूतन स्फूर्ति भाषा को चोला बदलने के लिए विवश कर देती है। बात सभी कहते हैं, सभी बादल, बिजली, पानी को लेकर लिखते हैं परन्तु कवि विवश कहते हैं : 'मेघों की चादर को ओढ़ कर, सूरज विश्राम कर रहा' (*ऋतुपर्व : पृ. 22*)। सूरज के प्रति विश्रान्ति भाव सहानुभूति प्रकट करता है क्योंकि सूरज गतिशील है। विज्ञान तो सूरज को स्थिर मानता है परन्तु हमारी समझ यह है कि सूरज का रथ सवेरे से शाम तक चलता है। कवि की सहजता है जो कल्पना को चिन्तनीय नहीं बनाती। भाव की दृष्टि से वर्त्तमान के प्रति क्षोभ बहुत सार्थक है परन्तु शिल्प की दृष्टि से गीत में प्रवाह रुक गया लगता है – "अंधे प्रश्नों का उत्तर मांगे/ ये उत्तरदायी नव पीढ़ियां/ इनको चढ़ना होंगी कितनी ही/ बुद्धि की घुमावदार सीढ़ियां" (*पृ. 46*)। इसमें 'मांगे' क्रिया किसी निश्चित मानसिकता का परिचय नहीं देती, साथ ही सीढ़ियां चढ़नी होंगी, चढ़ना नहीं। आजकल लिंगदोषों को उपेक्षित किया जा रहा है। विवश जी ने मात्राओं की संगतियां अत्यन्त कुशलता से प्रस्तुत की हैं। भाषा में खड़ी बोली का पूरा स्वाद है। आजकल गीतों की भाषा में विकृति आने लगी है। प्रश्न भाषा का नहीं होता, शब्दों के प्रयोग का है। बिम्बों, प्रतीकों में कुछ नयापन होना चाहिये। महिषासुर और काली जैसे प्रतीक अब मात्र श्रद्धेय हैं। कई गीत ऐसे हैं जो रस का अपना अनुभव देते हैं - "चितवन की मोहक पिचकारी/ मादक होने लगी चेतना/ बांहों के बाहर पलभर भी/ रहना लगती कड़ी यातना" (*पृ. 36*)। प्रेम की यह भाव लीला अब रोंगटे खड़े नहीं करती। कवि गीत के प्रति समर्पित है और उसके अस्तित्व के प्रति चिन्तित भी। प्रारम्भ अच्छा है, आशा दिलाता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि विवश का गीत भविष्य में श्रोताओं के साथ प्रबुद्ध पाठकों को आत्मीय होने के लिए विवश कर देगा।

सबसे अच्छा संकेत यह है कि कवि 'विवश' प्रकृति के सन्निकट हैं। इनके होली (*पृ. 38*), दिवाली (*पृ. 43*), वसन्त (*पृ. 46*), ग्रीष्म (*पृ. 48*) आदि के गीत एक नयी भाव भूमि देते हैं। प्रकृति ने इन्हें जैसे लुभाया है उन्होंने उसे चित्रित करने का प्रयत्न किया है। कवि विवश के कथ्य से आत्मविश्वास के साथ अहं की गंध आती है। कला स्वाभिमान से आभूषित होती है और अहंकार से दूषित हो जाती है। कवि विवश की प्रतिभा में प्रकाश है, वह प्रकाश रहे उसमें चकाचौंध उत्पन्न न हो। गीतों का गठन और विचार की सम्प्रेषणीयता दोनों में ऋतुपर्व के गीत सफल और प्रस्तुतीकरण प्रभावशाली है।

हर स्वरूप भंवर (*साक्षात्कार : 10 अक्टूबर 1993*) के संक्षिप्त टेक-पंक्तिक गीतों में गीत की संस्कारशील धारा के तत्व मौजूद हैं। वर्त्तमान जड़ता और परिवेश को तेज़ाब बनाती स्थितियों की बुनावट इन्होंने प्रतीकात्मक शैली में की है। आस-पास कितनी सड़ान्ध है, मुखौटेवादी संस्कृति और व्यक्ति का मौसम की तरह बदलता आचरण आज ज़िन्दगी के बासी अखबार के प्रतिदिन की दैनन्दिन हैड लाईन बन गयी है। बदलते हैं मात्र खोल, अन्दर चेहरे वही हैं, खोखले मरुप्रदेश का मानचित्र –

"पंचतत्व के बने हैं तन, एक नहीं है आचरण
धमनियों में रक्त एक सा, एक से नहीं है आवरण।" (*साक्षात्कार : 10 अक्टूबर 1993*)

यथार्थ के नाम पर आज हर गुनाह माफ है। जीवन का यथार्थ रोटी, कपड़ा और मकान जैसी बुनियादी चीज़ों में सिमट गया है। आत्मा और हृदय का आज कोई महत्त्व नहीं। पंचभूत तत्वों से बनी मानव-काया में आज सबसे महत्त्वपूर्ण केवल चाम-देह है। उसके ऊपरी शृंगार में किसी तरह की कमी नहीं होनी चाहिए। अन्दर चाहे स्वार्थों की ईर्ष्यालू अग्नि धधक रही हो, माथे पर चंदन और होठों पर स्मिति जरूर होनी चाहिए। यही आधुनिक सभ्यता का तकाज़ा है। चेतना शून्य इस वातावरण को 'भंवर' ने अपने गीतों में साकार किया है। यही कारण है कि आज 'रिश्तों के भाव और चाहों के दाम गिर गए हैं'। उनका कोई मूल्य नहीं। जीवन आज भावहीन शब्दों की बारात हो गया है। बैण्ड-बाजे, लक-दक सभी कुछ खुली सड़क पर पैर, देह, आंखें थिरक रही हैं लेकिन अन्दर का पर्यावरण रुआंसा और सामने वाले को हर दृष्टि से चूस लेने का है। 'काल चक्र कब ठहरा' गीत में समय की परिवर्त्तनशीलता का व्याकरणशास्त्र है। 'अहसासों के सर्प', 'मनुहारों के दर्प', 'शूलों से चुभते सब सम्बन्धी गात' आदि गीत पंक्तियां आज के मनुष्य और समाज को सीधा व्याख्यायित करती है। शब्दों में मिठास है कटाक्ष कम। जहां परिवेशबद्ध तल्ख़ियों का अभिव्यक्तिकरण है वहां भाषा व्यंग्यधारी तुर्श हो जाती है, लेकिन भंवर मानव वृत्तियों और उसकी त्रासदी को कोमलता के साथ सहेजने के पक्षपाती हैं। इसलिए इनमें प्रहार और सीधा विरोध नहीं। जहां कहीं सहजता है वहां प्रभावशाली संवाद स्थिति है जहां सायास है वहां कृत्रिमता उभर आई है। शब्दों की मंजाई और चिन्तन गीतों की भावभूमि पर हावी है, इस तराश से कवि को बचना होगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गीत के राजमार्ग पर बढ़ते कुछ और चरण

कुछ ऐसे गीतकार हैं जो यौवन की दहलीज़ लांघ रहे हैं और जीवन की पीड़ा, त्रास, अभावजन्य घुटन, अमानवीय वातावरण को गीतों में चित्रित कर रहे हैं। वे गीत-नवगीत के सायास आकर्षण में नहीं बंधे परन्तु गीत के सहज रूप की साधना में व्यस्त हैं। गीत की सरल, सहज सम्प्रेषणीयता के साथ स्वरों की आरोह-अवरोह योजना को चिह्नित करने का जहां प्रयत्न हो रहा है वहीं वे चरण हैं जो गीत के विकसित, प्रतिष्ठित चर्चित रूप को सजाने संवारने में तल्लीन हैं। वे गीत को शास्त्रीय रूप देकर जनसंकुल की व्याकुलता से विच्छिन्न नहीं करना चाहते। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाये तो यह बड़ी साधना का कार्य है। इसके साथ धैर्य की भी आवश्यकता है। नवगीत की फैशनपरस्ती से अलग भावनाओं को गीत रूप में मूर्त्त करने वाले साधक सही रूप में उल्लेखनीय हैं। हम जानते हैं बहुत से गीतकार ऐसे हैं जो नये हैं, जिनका अधिक काम नहीं है, जो गीत के क्षेत्र में कुछ नया करने के लिए प्रयत्नशील हैं, उनकी गणना-प्रासंगिकता उन के प्रोत्साहन-संवर्धन में सहायक सिद्ध होगी ही साथ ही साहित्य के क्षेत्र में उस कृतज्ञता के भाव को भी जगाती है जिसका आज हिन्दी में सर्वथा अभाव हो गया है। साहित्य का लेखक यदि ईमानदारी से लिखता है और ईमानदारी से जीता है तो वह उल्लेखनीय है। आज लोग लिख तो रहे हैं परन्तु ईमानदारी का भाव खोजना पड़ रहा है। मज़ेदार बात यह है कि मनुष्य ने ईमानदारी को भी वर्गीकृत कर दिया है। ईमानदारी हृदय का प्रमुख गुण है। आज लोग हृदय को ही साहित्य से निकाल रहे हैं क्योंकि आज बुद्धि प्रधान तर्क का युग है। इस घड़ी में जो गीत की ध्वजा फहरा रहे हैं - वे स्तुत्य है, उनका प्रयत्न शलाघ्य है। इस पंक्ति में जो क्रम पा रहे हैं उनमें भी अनेक नाम हैं। पहला नाम है भूपेन्द्र कुमार स्नेही का जिस के बाद एक-एक कड़ियां जुड़ती चली हैं।

भूपेन्द्र कुमार स्नेही के आंसू बिखरे बिखरे हैं। विरह की भावअग्नि में तप कर कुन्दन बने भूपेन्द्र के बिखरे आंसू परमात्मा की लौ में खोये हैं। कबीर आदि सन्त कवियों की भांति कवि ने स्वयं को नारी के रूप में परिकल्पित कर मन-गागर को उलट दिया है –

"बैठी हूं इस सूने पथ पर जाने कब से पलक बिछाये।"

(सम्पा. राम गोपाल परदेसी : नई धरती के नए स्वर : पृ. 153)

पंजाबी लोकधुनों की खनक ने स्नेही की गीत भूमि को कसावट दी है। इस कसावट को भूपेन्द्र ने पंजाब का लोक रंग देकर हृदय-मानस के बीचों-बीच उतार दिया है। भाव-बिम्बों में लहराती सतलुज की धार, सोहनी की तड़प गूंज, हीर की व्यथा, महिवाल, रांझे की गलियां, पंजाब का खुशदिल आंगन छम-छम बरसा है –

"मेरे अंगना बीच री/ छम-छम बरसे बादरा,
छिप-छिप नाचे बीज़ुरी/ घुल-घुल जाये काजरा।" *(नई धरती के नए स्वर : पृ. 153)*

गीत-1, गीत-2, का संपादन कर भूपेन्द्र ने नवगीत की पृष्ठभूमि निर्मित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। गीत संक्षिप्त और भावपूर्ण है।

दिनेश सक्सेना दिनेशायन के संक्षिप्त गीत आधुनिकता की खरोंचों को रूपायित करने के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए प्रतीकों का सटीक इस्तेमाल करते हैं। नारी को आज भी एक कमोडिटी समझने की मानसकिता ख़तम नहीं हुई है। इस वृत्ति को प्रतीकित करते हुए दिनेशायन ने 'मछली' के माध्यम से अत्याधुनिक खोखलेपन को उजागर किया है –

"पानी में खिंचे हुए लहरों के घेरे/ ओ मछली
घेरों के पार नहीं जाना/ वहां जाल फैलाये घूमते मछेरे
लोचदार तन तेरा/ है चित्ताकर्षक/ शीशे-सी पर्त्तों में
प्राण पारदर्शक/ मोह नहीं है उनको मोमिया बदन-से
ये तो बस व्यापारी हैं/ तन के तेरे।" (*धर्मयुग : 20 अगस्त 1981 : पृ. 99*)

पारदर्शी देह उर्वशी-सौन्दर्य से कम नहीं। निश्चित जल विहार करती चमकती मत्स्य-देह पर मछुआरे रूपी कामुक पुरुषों की लालची निगाहें गढ़ी हुई हैं। व्यापार की आखेटक दृष्टि ने मछली की निश्चिन्तता का हरण कर लिया है, आधुनिक नारी की स्थिति मछली से अलग नहीं है। उसकी कुंडली में आखेट होना ही लिखा है। लक्ष्मण रेखाओं के बाहर देह के सौदागर आर्थिक जाल फैलाये भूखी निगाहों से निगलने को तैयार बैठे हैं। इसीलिए संवेदनहीन इस युग में नारी आज भी एक कमोडिटी बन कर रह गई है। जीवन की अतिबौद्धिकता से उपजी संवेदनहीन स्थितियों के प्रतीकात्मक चित्रण में दिनेशायन के गीत आधुनिकता को साध कर वर्त्तमान विष को उड़ेल देते हैं। जीवन की तिक्त कटुताएं समकालीन मानसिकता की प्रासंगिकता में सामाजिक-राजनैतिक परिवेश को व्याख्यायित करने वाली हैं।

अश्वघोष के गीतों में निकम्मी, भ्रष्ट व्यवस्था के विरोध का आह्वान है –

"भेड़ियों जो दे रहे भाषण अहिंसा के/ हैं फरेबी
आदमी के खून के प्यासे/ जुल्म इनके जिस्म का विस्तार
बंधु/ रहना हर तरह तैयार।" (*अम्मा का ख़त : पृ. 10*)

सत्ता आचरण और नेतायी दुरभिसन्धियों से तंग आकर जनसामान्य आज संघर्ष की मशाल थामे आगे आ रहा है –

"तालाबन्दी और छटनी में करता है मनमानी
सत्ता और पुलिस से उसकी यारी पुरानी
घाटे का बजट दिखाकर करता धन की चोरी
उसकी हिम्मत हुई सिकन्दर अपने भाग्य कटोरी।" (*पृ. 55*)

अपनी भूमि से जुड़े रहने का सुख और बिछुड़ने का विवशता बोध, सेठ-साहूकारों, जमींदारों के साथ प्राकृतिक आपदाएं सभी गरीब के खिलाफ़ हैं। अश्वघोष ने 'अम्मा का ख़त' गीत में आत्मीयता के साथ उन स्थिति बिम्बों की यथार्थ कचोटों को आंचलिक लोक रस में डुबो कर तरल कर दिया है लेकिन गांव के किसान मजदूर की तस्वीर मर्मान्तक चोट देती है –

"पिछले वर्ष विकट वर्षा में/ बैठ गया औसारा
छप्पर के नीचे ही रहता/ अब परिवार हमारा
तुम्हीं बताओ जाय कहां हम/ अपने ठैया-ठांव से
बहुत दिनों के बाद मिला है/ अम्मा का ख़त गांव से।" (*पृ. 61*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन की कड़वी और यथार्थ स्थितियों की लयात्मक बुनावट में अश्वघोष सफल हैं। संघर्ष और विवशता बोध के बीच झूलते आम आदमी के मन की पीड़ा इनके गीतों में बोलती है। संघर्ष-जिज़ीविषा की बुनावट खरी है, गीत-बोध मनुष्य-मन के करीब। इस करीबी ने ही अश्वघोष को गीतीय ऋदम दी है। सहज बोल जनपदीय आंचलिकता की धूप-छांव में निखर उठते हैं। जीवन की व्यथाओं को सार्थक अर्थों से जोड़ कर शोषण अन्याय का विरोध, वैषम्य पर चोट, समता सकार दृष्टि इनके गीतों की विशेषता है।

दो दशाब्दों से अधिक गीत यात्रा के वर्षों को जीने वाले **धनंजय सिंह** सरल स्वाभाविक संवाद शैली के गीतकार हैं। जीवन की अनुभूति का कोई क्षेत्र हो वह कवि की 'स्व' संवाद शैली में और अधिक मधुरता से अभिव्यक्त होता है। 'तुम' और 'मैं' के बीच का सम्वाद जीवन का अनुबंध बन जाता है। धनंजय सिंह छन्द के प्राचीन स्वरूप के पुजारी रहे हैं। लम्बे लम्बे छन्द से लेकर उन्होंने छोटे छोटे गीत लिखे हैं। इनका प्रारम्भ मंच के मिठास भरे गीत से हुआ था जिसमें वैयक्तिक दर्द की दरारें अधिक थीं। इस बीच कवि ने बहुत सरल स्वाभाविक गीत लिखे। इनके गीतों में परिवर्त्तन की आहट हैं।

गांव का आत्मीय राग, पीपल तले की छांव-चौपाल, अंबुआ के वृक्ष पर पड़े झूलों में भी आधुनिकता के दंश के कारण अब आत्मीय रिश्तों की निःसारता एवं खोखलापन झलकने लगा है। इस कसक-पीड़ा को कवि यूं शब्दायित करता है –

"हमने कलमें गुलाब की रोपी थीं/ पर गमलों में उग आई नागफनी
समझौते के गुब्बारे बहुत बड़े/ उड़ते ही सब की डोरी छूट गई
विश्वास किसे क्या कह कर बतलाते/ जब नींद लोरियां सुन टूट गई
सम्बन्धों से हम जुड़े रहे यों ही/ ज्यों जुड़ी वृक्ष से हो टूटी टहनी।"

(*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 16 जून 1978*)

धनंजय नवगीत ग़ज़ल में ढल गया है। मंच पर वे अब ग़ज़लगो के रूप में अधिक प्रसिद्ध हो रहे हैं। ग़ज़लों में उन्होंने नये प्रयोग किए हैं। इनके नवगीत का सौन्दर्य ग़ज़ल में समा गया है। धनंजय द्रुतगति से चलने वाले गीत-पथिक नहीं हैं। वे विलम्बित लय के गायक हैं। जनश्रुत और प्रचलित छन्दों में हृदय की मार्मिकता को अभिव्यक्त करने में धनंजय का कवि कुशल है। प्रतीकों का प्रभावोत्पादक प्रयोग गीत को सुन्दरता प्रदान करता है। सांप को प्रतीक मान कर लिखी इनकी ग़ज़ल इन दिनों बहुत प्रसिद्ध हो रही है। मंच पर लोग उसे चाव से सुनते हैं। इस में समाज के दुराचरण को मूर्तीकृत किया गया है। ग़ज़ल के कुछ संस्कार ऐसे हैं जो धनंजय में प्रतिबिम्बित होते हैं। इधर इन की पहचान इस रूप में बनती जा रही है और प्रतिष्ठा के स्वरों में भी आमंत्रण है।

विद्यानन्दन राजीव के गीतों में व्यवस्था-विरोध का स्वर मुखर है। आजादी के अड़तालीस वर्ष बाद भी आम आदमी सलीब पर टंगा है। जनतंत्र के मार्ग दर्शकों के निकम्मेपन और भ्रष्ट आचरण से शोषित वह आज भी अपने को ठगा महसूस कर रहा है –

"उम्र चढ़ी आजादी/ टांगेगी आदमी सलीब पर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कसमें झूठी साबित होंगी/ ओझल होगें संकल्प
नये नारों में/ होगा पग-पग पर टकराव
पालकी कांधे लिए कहारों ने/ कभी नहीं सोचा था
इस हद तक पहुंचेगा स्वार्थ समर।"

गांव छोड़ने की पीड़ा टूटन की हद तक नस-नस में पसर कर मानसिक रोगी बना देती है। विचार और अभिव्यक्ति सत्ता की क्रूरता के कारण बंधुआ हो गयी है। भावना निरर्थक प्रलाप है, रिश्ते तनाव व्याधियां। कवि इस तनाव-मानसिकता को पौराणिक बिम्ब-प्रतीकों के सहारे अभिव्यक्त करता है –

"पाहुन गाम की कहो/ गुबरीले हाथों में/ झाड़ू थामे सीता
भीगते पसीनों में राम की कहो/ पहुंच सकी है क्या, कुछ वहां....।"

जीवन में व्याप्त परवशता बोध जीवन की कमान को शिथिल कर देता है। राजीव के गीत-कथनों में जीवन का शैथिल्य यथार्थ की वकालत है।

'प्रणय' **ज्योति प्रकाश सक्सेना** के गीतों की मूल धुरी है। कहीं कहीं कोई अन्तरा आकर्षित करता है –

"हर देहरी तेरा दरवाजा दीखती
हर द्वारे तेरी ही सूरत डोलती
मेरे प्यासे गीत स्वरों में बांध कर
हर आंगन तेरी ही पायल बोलती।"

इनके गीत/ नवगीत लोक सांस्कृतिक संवेदना भूमि पर युवा हुए हैं –

"हल्दिया हथेली पर/ मेंहदी से लिखना तुम
अपने प्रियदर्शी के नाम/ पीले वातायन पर उभरेंगे
कुंकमी सवेरों के गुलमुहरी बिम्ब/ दुधिया कछारों पर बिखरेंगे
कार्तिकिया पूनम के प्रतिबिम्ब।"

'मोलश्री', 'ओस और अंगार', 'कल्पनाओं की धुरी पर' इनके गीत-संग्रह हैं। कमोबेश सभी संकलनों के गीत अत्यन्त साधारण कोटि के हैं। इनमें न प्रवाह है न गति। संगीत थमा थमा और लय बिखरी-बिखरी है।

जगत प्रकाश चतुर्वेदी के गीत लोकगीतों की लोकप्रिय धुनों पर आधारित हैं। लय-ताल के खूबसूरत बंधन में बंधी जगत की गीत-देह सजी-संवरी है। चुनरिया, बदरिया, बूंद-बूंद झर-झर, डर-डर, थिर-थिर, घिर-घिर, तिर-तिर, भर-भर आदि शब्दों से झरझराता संगीत थिरकन बन कर रोमकूपों की सिहरन बन जाता है। 'मेरे गीत के गाने वालों' गीत प्रभावान्विति का सुन्दर नमूना है जो दोहानुमा शैली में रचा गया है –

"करो कुछ ऐसा मेरे गीत के जाने वालो
मैं तो लिखते न थकूं, तुम भी गाते न थको।" (*नई धरती के नये स्वर : पृ. 239*)

लोक-संभार का तत्व गीतों को कैसे मन का राग बनाता है, यह चतुर्वेदी के गीतों से जाना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकता है। लोक का काल्पनिक रस गीत को सीमित नहीं रहने देता क्योंकि संगीत की कोई भाषा नहीं होती, इसीलिए जगत के गीत प्रकाश वृत्त हैं जो भीतर तक जाते हैं। शब्द-बोल रसीली छुअन देते हैं जैसे युवा अंगों पर पावस की पहली बूंद जलन पैदा करती है कुछ कुछ वैसा ही।

'गीत पर्व आया है' और 'पंख होते हैं समय के' **राजेन्द्र गौतम** के दो संग्रह हैं। ज़ीवन की कचोटों को उभारते इन संग्रहों के गीतों में अन्य गीतकारों की भांति समकालीन बोध, सामाजिक टूटनें, यान्त्रिकता के ख़ौफनाक ठहराव के बीच लकवाग्रस्त मूल्यबोध की कथा का वाचन है। आधुनिक मिज़ाज का रोना रोते 'गीत पर्व आया है' के गीतों में रोमान्स-रोमानियत से उपजी वेदना की तन्हाई ज़्यादा है। बासी भाव बोध को खींचते इन वेदनागर्भी गीतों की लय टूटी और बिखरी हुई है। अधिकांश गीतों में कवि सायास साग्रह लगता है यही वजह है कि गीतों का पर्यावरण पूर्णतः असंतुलित है। गिने-चुने गीत हैं जो थोड़ा ध्यान खींचते हैं। पहली कृति होने के कारण राजेन्द्र के इन गीतों में अनुभव की कमी और कचाव है, इसीलिए संवेदनाएं बिखरी-बिखरी हैं। संगठित न होने के कारण वह मुट्ठी नहीं बन पाती और गीत की देहरी छूने से पहले ही दम तोड़ देती है। कमोबेश यही चिन्तनबोध इनके दूसरे संग्रह 'पंख होते हैं समय के' का भी है। बिखराव के इसी सिलसिले को कवि रोक नहीं पाया इसीलिए डॉ. गौतम का चिन्तन पराजित मनोभाव का उद्भावक है। गीत के समर्थन में इनकी विज्ञप्तियां जितनी सार्थक लगती हैं (हैं नहीं) उनका प्रतिफल रचना में उतनी ही निराशा लिए हुए हैं। स्वयं को हीन मानने का कोई अर्थ नहीं परन्तु आज हम जिस मनुष्य की बात करते हैं उसे जीवन देने के लिए यह पंक्ति -

"हम हैं कविता के राजपथिक कब? हम तो अंत्यज हैं
स्वागत में रोज बिछा करते हैं, हम केवल रज हैं।" (*पंख होते हैं समय के : पृ. 24*)

अपनी सार्थक भूमिका अदा नहीं कर सकती। नवगीत की प्रकृति मात्र निराशा नहीं है। प्रस्तुत पंक्तियां रचनाकार की हीनता को व्यक्त करती हैं। आज मनुष्य जिस मूल्यहीनता में जी रहा है वहां रचनाकार का धर्म केवल यथास्थिति का चित्रण नहीं है। डॉ. गौतम समझते हैं धनिया, होरी, झुनियां जैसे नाम देकर गीत को नवता मिल जाती है। ये गीत धनिया, होरी तक नहीं पहुंच सकते। वहां तक गीत को पहुंचाने के लिए एक नये मुहावरे की आवश्यकता है, उसके डर से हिम्मत नहीं खोनी चाहिए। जैसे कि गौतम बिजली के भय से अपना घर छोड़ने को तैयार हो गए –

"घात में जब बिजलियां हैं/ पड़ रहा है तब हमें/ अनिकेत होना।" (*पृ. 68*)

यह 'पड़ना' एक विवशता है, दुर्बलता भी।

नवगीत के क्षेत्र में विशेषणों के प्रयोग को ज्यादा महत्त्व दिया गया। ऐसे और भी गीतकार हैं जो इन विशेषताओं के मोह में कथ्य के गाम्भीर्य को भुला बैठे। पंख, पंखी, वर्ण, वर्णी – ये तो ऐसे हैं जो तरह-तरह से इस्तेमाल किए गए हैं – ज्योतिपंखी, चंदनवर्णी आदि। सांवली पर्तें – जैसे विशेषण व्यक्तित्व के साथ मेल नहीं खाते परन्तु अस्पष्टता और भी खटकती है – "और कितनी हैं बचीं अब भी/ क्या पता गर्तें" (*पृ. 69*)। यह पंक्ति गीत के व्यक्तित्व को धुंधला करती है – 'गर्त्त' को गर्तें कहने से अर्थ के साथ शिल्प का तालमेल नहीं बैठता। डॉ. गौतम

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के गीत शास्त्रीय प्रवृत्ति से जकड़े हुए हैं। इन गीतों में आत्मद्रवता का अभाव है जो गीत का पहला गुण है।

महेन्द्र शंकर के गीतों में विस्तारक दृष्टि है जिसके कारण गीत ऋदम बीच में ही टूट जाती है। गीतों में व्यवस्था के प्रति आक्रोश, महानगरीय अवसाद, गंवई सहजता और आंचलिकता का पुट है। अंचलीय तत्व इनके गीत के निकट होने का बोध देता है –

"पास कहीं डफली पर बज रही लकड़ियां/ कि डाङ्ग-छितो-छितो-डाङ्ग-डाङ्ग
गौने की कोई बारात चली आ रही/ कि गिने-चुने चल रहे स्वांग!
धियवा के नयनों में कल का है सपना/ कि बिछुड़ेगा बाबा का गांव।"

(*नवगीत सप्तदशक : पृ. 44*)

शब्द-संयोजन में कवि सावधान है। अधिकांश गीत सायास प्रयास के वशी मंत्र हैं इसलिए प्रभावित नहीं करते। गीत की पीठिका पर नाम अंकित करवाने के लिए कवि को समर्पण भाव से गीत के प्रति गंभीर होने के साथ सहज होना होगा। अन्यथा इनके गीतों में समायी लय-टूटन और विपथगामी ताल केन्द्रीय तत्व को बिखरने के लिए काफी है।

कैलाश सेंगर के गीत-ग़ज़ल युग बोध के मापक हैं। समकालीन जीवन की जटिलताएं इनकी गीत-ग़ज़लीय प्रतीतियों को संवाद की तरह पेश करती हैं। स्थितियों और परिवेश की इन सांवादिक पदचापों में वस्तुतः जीवन की खुरदरी और समरस अचकनें ही हैं। टेक-पंक्ति का विधान इनके गीत-बोध को साध कर लय और ताल को संतुलित करता है। ग़ज़लों में परम्परित रोमानी अन्दाज ही अधिक है –

"गुलाब, ओस, लहर, चांदनी है कागज पर
वो सारी उम्र खेतों में उतर गयी होगी
तू खंडहर में यूं बचपन की ढूंढ मत गुड़िया
वो ब्याह करके किसी और के घर गयी होगी।" (*कादम्बिनी : मई 1984*)

इनके गीत-ग़ज़ल अभी किसी निश्चित दिशा की ओर संकेत नहीं करते। फिलहाल पहली सीढ़ी पर है। आगे सीढ़ियां गंभीरता और साधना के बल पर ही चढ़ी जा सकती हैं।

शैलेश भागवत के गीतों में जीवन की घुटन और ललक दोनों का समन्वय है। बेबसी और लाचारी किस प्रकार इच्छाओं को बंधक बना लेती है, इसकी मर्मस्पर्शी अनुभूतियां गीतकार की व्यथा बन कर फूटती हैं। टूटन और घुटन के इन चित्रों में निम्न मध्यवर्गीय मानसिकता की दम तोड़ती आकांक्षाएं समकालीन वातावरण का कच्चा चिट्ठा खोलने वाली हैं। संघर्षों में घिरी हताश ज़िन्दगी सौभाग्य चिह्नों के लिए भी तरस जाती है। प्रिया का प्रिय से कथन भीतर को खंगाल कर तेज़ाब लकीर खींच देता है –

"मत लाना अभी पिया/ बिछुआ तू/ पांव के
महंगाई सौतन-सी/ मार रही ताने/ गली-गली
बंजारे घूमते बहाने/ घूर रहे रात-दिवस।" (*नया प्रतीक : मार्च 1976 : पृ. 24*)

समकालीन यथार्थ के प्रभावशाली जीवन्त बिम्ब इनके गीतों की विशेषता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिरिधर गोपाल के गीतों में भी प्रकृति अन्तरंग होकर बतियाती है। शरद ऋतु का आरम्भ मन में आत्मीय भाव जगाता आता है। वर्षा के थमने पर कोड़िल्ला पक्षी बोलने लगते हैं, हरियाली चादर बन कर धरती का आंचल हो जाती है। शरद ऋतु के अंकन में पुनरूक्ति और आन्तरिक संगीत का सौन्दर्य उछाह बन कर चारों ओर थाप देने लगता है –

"शरद की हवा, यह रंग लाती है/ दूर-दूर कुंज-कुंज गाती है
फूलों की गंध अंध घाटी में/ बहक-बहक उठता अल्हड़ हिया।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 79*)

हेमन्त की भोर (*पृ. 78*) का चित्रण भी लोकपक्ष से जुड़ा है। प्रकृति के आत्मीय राग में गोपाल के गीत लयात्मक थिरकन पैदा करते हैं लेकिन इनमें विस्तार नहीं है।

महानगर की घुटन त्रासदी को **अतुल शर्मा** 'ग्राम और नगर' के ताने-बाने में बुनता है। गांव की सहजता मां की छाया बन कर आश्रय देती है। प्रकृति ऋतुएं मन को गुंजरित उपवन की स्मिति देकर लहलहाते खेत फूली बगिया बना देती है, जबकि नगर प्रतिपक्षी भूमिका में पतझर आचरण से अपनो को भी विमाता बना देता है -

"झोंपड़ियां केतन झुलसाता है/ यह रस्ता महानगर को जाता है,
गांवों में ऐसे वसन्त आया/ जैसे तुम हंसती हुई बोलती हो,
शहरों में ऐसे वसन्त आया/ जैसे लुटी दुकान खोलती हो,
कोने कटे पत्र भिजवाता है/ यह रास्ता महानगर को जाता है।"

(*धर्मयुग : 22 अक्टूबर 1988*)

अतुल शर्मा के गीतों में सहजता है मगर संक्षिप्तता नहीं है।

सूर्य प्रताप सिंह के गीतों में लोक-संस्कृति, लोकाचार, लोक-लयों और लोक-प्रकृति का सुन्दर निदर्शन है। हवा का रुख समय-समय पर बदलता रहता है। पश्चिमी दिशा से प्रवाहित होने वाली पछुआ पवन हड्डियों को भी कंपकंपा देती है –

"बह जाती होगी निर्दय/ पछुआ,
सिहरा जाती होगी तन।" (*संपादन : चन्द्रदेव सिंह : पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 111*)

नवगीतों में प्रयोगशील छन्दात्मकता के दर्शन होते हैं –

"फिर बजे नूपुर/ जगा विश्वास/ आओगी
फिर बजे नूपुर/ लगा/ निशि-वास छाओगी।" (*पृ. 115*)

संक्षिप्तति एवं लयात्मकता इनके गीत-बोध की विशेषताएं हैं लेकिन इन विशिष्टताओं को ये आगे साध नहीं पाये।

-**प्रेम शंकर रघुवंशी** के नवगीतों में चिरन्तन दर्शन का नाद-भाव है। 'मैं' 'अहं' का विस्तार है –

"आओ हम दो पल ही बोल लें/ चुप्पी के बंधन को खोल लें,
समय तो है रेशम का धागा/ औ' पिसता ही रहता अभागा,
उसससे अब गठबन्धन तोड़ लें.....................................।"

(*कादम्बिनी : मार्च 1970 : पृ. 27*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रघुनाथ प्रसाद के गीत युगीन त्रासदी का बिम्ब खींचते हैं –

"शोरों से रिस-रिस दुःखता है/ कोई अंधा कोना
जुड़े हुए शीशे में बंद/ कांप रही सदी
पलकों में पसरी है एक भरी हुई नदी।" (*कादम्बिनी : जून 1971 : पृ. 134*)

अमरनाथ मोहन महसूस करते हैं कि आज का मानव अपने कंधों पर जुआ ढोते-ढोते चुक गया है –

"झुकी हुई रीढ़ लिये, कागजी मुखौटे,
नियमित दिनचर्या, थके हुए लौटे,
चेहरों का यह तनाव किस तरह नकारें।" (*सीने में शहर : पृ. 43*)

रामसेवक श्रीवास्तव के गीतों में आधुनिक जीवन की त्रासदी एकाकीपन, कुंठा, निराशा आदि को अभिव्यक्ति मिली है। एकाकीपन का बोध रागात्मक सम्बन्धों को अपने मकड़जाल में फंसा कर बिच्छु की तरह डंकित और बिल्ली की तरह आंख मिचौली करता है –

"चुक गयी उमर ही जाने की तैयारी में
रह गये सहमते होंठ, होंठ के परिचय से
अब झिझक गयी तो लगता/ रस ही रीस गया।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 130*)

अंचलीय रस में डूब कर मानवीयकरण अलंकार नवता-बोध को रेखांकित करता है –

"पाकर वर माल/ झुका गेहूं का कंधा।" (*पृ. 121*)

साम्प्रदायिक दंगों की आंच में आज सभी की संवेदना भूमि तेज़ाब हो गई है। धर्म की आड़ में होने वाले ये फसाद मानव के संवेदनात्मक तन्तुओं को नष्ट कर उन्हें विद्रोह को उकसाते हैं। **कंवल सक्सेना** के नवगीतों की मूल पीड़ा आधुनिकता के इन्ही आयामों से जुड़ी है। साम्प्रदायिक वैमनस्य का एक झरोखा देखिए –

"........तुम्हारे सीने पर सिर रखे
महसूस करती रही मैं/ धर्म की आड़ में
होने वाले साम्प्रदायिक दंगे/ हमारे तुम्हारे बीच की दूरी
बढ़ाई हुई/ कत्ल, मारपीट की खबरें/ मन विद्रोह करता है।"

(*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 16 जून 1986 एवं मई 1982*)

डॉ. निष्काम के गीतों में सामाजिक वैषम्य, शोषण के प्रति आक्रोश है। गीतकार का विश्वास महाकाली का आह्वान करता है जिससे समाज शोषण मुक्त हो सके –

"जाग महाकाली कराली/ बढ़ा खप्पर, उठा खड्ग
चला दे चक्र/ कटे बाहर-भीतर कुचक्र
खण्ड-खण्ड हों सारे कुचाली/ यही है मेरा हिन्दुस्तान।"

(*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 16 जून 1986 एवं मई 1982*)

देवी प्रसाद वर्मा के गीतों में प्रकृति का निखरा रूप है। वर्षा-गीतों में मेघीली प्रकृति को बांधने के लिए कवि उसकी रंग-आर्द्रता, गरजने-बरसने और विद्युत-चमकार आदि का मनछोही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चित्रण करता रहा हैं लेकिन पोखर पर पण्डुक की हिटकोर, आंगन की लटकी डार पर हारिल का बसेरा, सूने घर में प्रिय स्मरण बाण समान प्रतीत होना आदि भाव जब साधारणीकृत हो जाते हैं तब कवि की प्रकृति चेतना मनुष्य-मन को गहरे में खंगालती है –

"चोर-सी बगर गयी/ बरखा की बुढ़िया
घिरे मेघ कजराये/ सपने सब हरियाये
कांच की गुड़िया/ टूट गई निंदिया।" (*नया प्रतीक : मार्च 1976 : पृ. 52*)

कजरारे-मेघों के बीच शिशिर ऋतु का बौनापन 'स्वप्निल' जाल में फंसे मृगछौने सा कांटों के बिछौने पर फड़फड़ाता हैं –

"जाड़े कि दिन बौने
ठिगने तक फैला हुआ/ धूप का जल
आहट पर चिहुंकते हुए/ लापरवाह पल
कुलाचें भरते जालों में/ जैसे मृगछौने।
रेशमी रजाई में/ दुबकी हुई रात,
सुलगते हुए अलाव सी/ गर्म कोई बात
फूलों के मुलायम जिस्म/ और कांटों के बिछौने।"

प्रकृति के प्रति कवि में अतिरिक्त रुझान है। इस रुझान में गीतकार की परिष्कृत रुचि हृदय की भाव वीथियों में पावस-सी बरसती है। गीत संक्षिप्त हैं, उनके अन्तरे भी। नव्य-बोध के लिए नव्य उपमान देवीप्रसाद वर्मा की खासियत है जो उन्हें समकालीन विद्रूपताओं से जोड़ते हैं। गीतों में अपनत्वबोध है जिसके कारण पाठक अपने को प्रकृति के बीच महसूस करता है।

जीवन-यथार्थ की एक चुहल **श्याम नारायण मिश्र** के नवगीत में देखिए –

"हीरामन! मुश्किल है समय से निपटना।
टुकड़ों के लिए/ पिंजड़े में खटना।
हीरामन! बहुत हुआ न्यौते-सा बंटना।
भोर भये दिल्ली/ सांझ भये पटना।" (*नवभारत टाइम्स : 7 जनवरी 1990*)

डॉ. वंशीधर की गीत-पीड़ा चौंकाने वाली है क्योंकि उनका यथार्थ-परिदृश्य व्यापक बोधी है। शहर की यान्त्रिक भौतिकता समर्पित संस्कृति गांव की ओर बढ़ती आ रही है जिसके परिणाम स्वरूप गांव भी औपचारिक और असंगतिबोध की मानस कसौटियों के उद्धरण बनते जा रहे इनके गीतों में सहजता और अनुभूतिगत तरलता है –

"शब्द अर्थ आंगने –
बहल गये गांव में।" (*नवगीत विशेषांक*)

केदारनाथ लाभ के गीतों में प्रेम का उदात्त रूप चित्रित है –

"जाने किस वैदिक वेला में/ तुमने मुझे छुआ
रोम-रोम हो गया ऋचा-सा/ गायत्री-सा मन
शाकुन्तल लालसा भर गई/ कामायनी किरन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रीति सुग्गा बन गई/ मेरा उर उपनिषद हुआ।" (*कादम्बिनी : अप्रैल 1967 : पृ. 20*)

महेश उपाध्याय के गीतों में सामाजिक जन-संघर्ष को वाणी मिली है। सामाजिक राजनीतिक व्यवस्था में सुधार तभी होगा जब संगठन होगा –

"अधनंगी फिर रही गरीबी, कद्दावर इन्सान की
गद्दीधारी कहते हैं, यह महिमा है भगवान की
अरहर झूमें, गेहूं नाचे, मटर बजाये ढोलकी
बिना संगठन, दशा न सुधरेगी, अपने भूगोल की।"

(*उत्तर गाथा : अंक 9 अक्टूबर 1981*, *पृ. 99*)

इनकी गीत चेतना जनवादी नारों के ज्यादा नज़दीक है।

राजकिशोर के गीत संक्षिप्त, टेक पंक्ति वाले और लय-ताल से सम्पन्न हैं –

"आओ अपने सम्बन्धों पर पुनर्विचार करें
थोड़ी-सी कलह/ थोड़ा-सा प्यार करें।" (*नवगीत : सितम्बर 1970 : पृ. 45*)

आनन्द भटनागर के गीतों में टेक पंक्ति न होकर आन्तरिक तुक साम्य है –

"मेरे दरवाजे से/ सट कर खड़ी धूप
हरी, गीली आंगन में फूल रही/ काई की पौध
हरा नीला मेरे मन में/ धूप के प्रति/ मोह बड़ा गहरा है
पर आंगन में काई के शापों का पहरा है।" (*नवगीत : मार्च 1970 : पृ. 27*)

नीलम सिंह की बिम्ब कल्पनाएं मोहक हैं, शैली-मुद्राओं में बांकपन और उत्प्रेक्षीय लयात्मकता का सलोनापन है –

"बादल : जैसे उड़ते रंग महल
जलः बेला के टटके फूल
गन्ध के बुरादों-सा लिपटा है
तलबों में अधभीगा धूल।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 153*)

आधुनिक जीवन का असंगति-बोध इनके गीतों का व्याख्या-पत्र है।

आज की भौतिकता ने मानव से उसकी सहजता छीन ली है –

"छत जितनी ऊंची, छोटा उतना आदमी
शिखरों पर चढ़ कर ऊंचा होता आदमी
भीतर का अन्धकार, बाहर की रोशनी
होठों पर हंसी और तलबों पर कीलें।" (*पृ. 152*)

गीतों में लयात्मकता है लेकिन ताल-संतुलन का अभाव है।

महेन्द्र कुमार मेहता के 'प्रदीपिका' तथा 'उज्ज्वला' संग्रहों में प्रकृति के रहस्यों के प्रति जिज्ञासा और दार्शनिक उद्भावनाओं का संयोजन है। उनका शैल्पिक नज़रिया परम्परित चौखटों में कैद हैं लेकिन वाद और आन्दोलनों से मुक्त जीवनमुखी एवं शिविरविहीन –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"साधना ही सिद्धि मेरी/ ढूंढती है शून्य उर में
पूर्णता उन्मुक्ति मेरी/ चिरविरहिणी प्रीत मेरी
प्यास ही चिरतृप्ति मेरी।" (*उज्ज्वला : पृ. 1*)

दीनानाथ तिवारी के गीतों/नवगीतों में वर्त्तमान संत्रस्त जीवन की आकुल अकुलाहटें हैं। छोटे-छोटे गीत लयात्मक और प्रवाह युक्त हैं –

"हम भी/ क्या जिये/ घुन लगी ज़िन्दगी जिये
ज़हरीली/ सर्द यह सदी/ तेज़ाबी/ घोल की नदी
कहने को/ जाते हैं कहकहे/ अन्तस् में/ आग ही पिये
रोपें/ हम/ कस्तूरी भोर/ हाथ लगे अब/ और/ शोर
हादसों ने/ चाट-ली उमर/ फटे-फटे कर्ज-हा/ सिये।" (*रविवार : 5 मार्च 1978 : पृ. - 31*)

गोपाल चतुर्वेदी की लयात्मक मुक्त छन्दता का अप्रस्तुत विधान आकर्षक है –

"युग दर्शन रचने में/ ध्याना कम्प्यूटर
सुख-दुःख केक मापदंड/ गिनती के अक्षर
सूरज के बिना उठें/ शहर के सवेरे।" (*कादम्बिनी : नवम्बर 1978 : पृ. 128*)

'बंटे हुए लोग' (*दृष्टव्य : साप्ताहिक हिन्दुस्तान : 4 फरवरी : 1979*) का प्रकृतिपरक बिम्ब तुर्श एवं अनूठा है। गीतों में व्यंग्य की धार पैनी और आकर्षक है।

सुभाष वशिष्ठ ने युगीन भाव बोध को नये उपमानों से गुणा-भाग किया है –

"समय का खलनायक जाता/ त्रासदी की फिल्में हो गई
नये लौट शकुनों के अनुमान/ खोजने हरियाला जो गये।"

(*धर्मयुग - 24 अक्टूबर 1976 : पृ. 16*)

संक्षिप्तति के कारण अन्विति-क्रम गठीला है और लयात्मकता गीत कथ्य को त्वरा देती है।

ब्रजराज तिवारी के गीतों में किशोर सुलभ जिज्ञासा और कौतूहल की मात्रा अधिक है -

"आइने में एक धुंधले चित्र सी/ उभर आती है/ बारजे छत पर
अकेला जहां होता हूं/ बिखर जाती है
अंगुलियों से जब कहीं महसूस करना चाहता हूं
न जाने क्यों बहक जाती चांदनी/ महक जाती चांदनी।" (*पांच जोड़ बांसुरी : पृ. 143*)

मुक्तछंदीय इन रचनाओं का अप्रस्तुत विधान ध्यान खींचता है।

महेन्द्र कुमार मिश्र के 'अनायास वर्षा' के गीत-संग्रह में प्रकृति का स्मृति मूलक चित्रण है –

"पंक ही न न धरती वह/ खेत और परती वह
रेत के टीले में वे बहुत याद आये
नीमों की गंध मंद/ दक्खिनी बबूल वृंद
झूल के लाल फूल फूले मन भाये।" (*अनायास वर्षा : पृ. 7*)

गीत संक्षिप्त व लयात्मक हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रंगों की गीत यात्रा' में **मंजुल मंयक** होली के रंगों के स्थान पर अपने आंसूओं की बूंदें देने का कांक्षी है –

"मेरी पीर अबीर उड़ा देना/ उनके आकाश में
जिनके रोते दिल को भी/ मुश्किल है आह निकालना
मेरे गीतों के काजल से/ छूना उनके छोर को
रंगहीन रह गयी आज/ जिनकी साधों की सारियां।" (*सण्डे मेल : 11 मार्च 1990*)

सरस्वती कुमार दीपक के गीतों में व्यंग्य के छींटे हैं –

"महानाश की आज होलिका/ सबको नहीं जला सकती है
सत्याग्रह प्रहलाद बना है/ गिरि को नहीं गला सकती है
आज विश्व के रंगमंच पर/ खेल रहे नेता गण होली।" (*सण्डे मेल : 11 मार्च 1990*)

और भवानी शंकर ने 'होली' में नए रंगों की परिकल्पना की हैं –

"किसी के हुस्न पै आया निखार होली में
किसी की आंख में आया खुमार होली में
किसी को धीर दिया, किसी को बैचेनी
अजीब रंग से बहार आयी है होली में।" (*साप्ताहिक हिन्दुस्तान : मार्च 1990*)

'रंगों की गीत-यात्रा' में कमला चौधरी, प्राण वल्लभ गुप्त आदि के छिटपुट सवैये, दोहे यत्र-तत्र पत्र-पत्रिकाओं में मिल जाते हैं।

शंकर माहेश्वरी के गीत-संग्रह 'ऋतुपर्व' में प्राचीन परम्परा का निदर्शन है जो कालिदास के 'ऋतुसंहार' से लेकर जायसी, आलम, लोकगीतों में बारहमासा और ऋतुगान की रही है। ऋतुएं प्रकृति के उल्लास की अभिव्यक्ति हैं और इस अभिव्यक्ति से मनुष्य जाति के राग-विराग, उल्लास-अवसाद का घनिष्ठ रिश्ता है। इस घनिष्ठता को शंकर माहेश्वरी के गीतों ने मुकुर बिम्ब किया है – "आंगन भर किलकारी जाए/ तुम आए' (वसंत), 'मुट्ठी भर-भर उड़ा रही है धूल/ हवा की मनमानी देखी' (ग्रीष्म), 'आंख में काजल शंभुसए केश/ आ गए तुम सांवरे किस देश' (वर्षा), चिलकती है झील/ झेल कर प्रतिबिम्ब सारे/ नितरता जस नील' (शरद), 'अंकुर आए/ भर-भर लाए/ सिट्टा बाली रे/ हवा छेड़ती तार/ और हरियाली गाये रे' (हेमन्त) 'मधुप, यह है पतझर का वन/ डाल पर खिलते नहीं सुमन/ न तो वह धूम/ नहीं उल्लास/ स्वरों का आकर्षण/ व्यथा की घड़ियों में चुपचाप/ कट रहे दिन" (शिशिर) आदि गीतों की लोक-लयात्मकता मन-मृदंग पर थाप देती है। शब्द-संयोजन सटीक और भावानुरूप है जो हृदय के लालित्य-लालसा को अनुरागवर्णी बनाता है।

डॉ. एन. सिंह के अनुसार गीत गद्यात्मक कविता के शुष्क रेगिस्तान में लय और रस का नखलिस्तान है, तो वह शारीरिक, मानसिक थकान से भरे मनुष्य को ताज़गी से भर देता है (*साक्षात्कार : 5 नवम्बर 1987*)। इनके गीत-ग़ज़लें परिवेशबद्ध सच्चाइयों का आईना है। सम्बन्धों में आ गया बिखराव, वैषम्य, चरित्रगत दोगलापन, कथनी-करनी के अन्तर को स्पष्ट करने वाली इनकी रचनाओं में वर्त्तमान सामाजिक-राजनीतिक परिवेश की विद्रूप व्यंग्य चुभनें हैं –

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

"जुल्म बढ़ते जा रहे हैं भाव से/ राजनीति हाट है परचून की
वोट की कीमत यहां सब आंकते/ किन्तु कीमत कुछ नहीं है खून की।"

(*साक्षात्कार : 5 नवम्बर 1987*)

संयोग और वियोग जीवन के दोनों पक्ष कवि के गीत मन को व्याख्यायित करते हैं। इनमें तरलता तो है खींचने की शक्ति नहीं। उद्‌बोधनपरक शैली में लिखे अनेक गीत जीवन के संघर्षों की धार को कम करने वाले हैं। गीतों में टेकपंक्ति है लेकिन लय अन्त तक साथ नहीं निभा पाती।

घमण्डी लाल अग्रवाल का गीत-संग्रह है 'नेह की परछाइयां'। इसके सभी गीत टाईप्ड हैं जिनमें कोई विविधता नहीं। मदिरोन्मत्त प्रेम के अतिरिक्त घमण्डी लाल को कुछ नहीं सूझता। सच्चा गीतकार सामाजिक हलचलों-परिवर्त्तनों को उकेरे बिना नहीं रहता किन्तु घमण्डी लाल प्रेम की बाह्य एवं सतही अभिव्यक्तियों में ही उलझा रहता है – "जवानी नाम है जिसका तुम्हारे नाम करते हम/ तुम्हीं पर कल मिटा करते, तुम्हीं पर आज मरते हम।" हालांकि कुंअर बेचैन इनके गीतों को पढ़ कर ऐसा महसूस करते हैं जैसे "कि मैं फूलों की वाटिका में घूम रहा हूं......।" उन्हें इन गीतों में प्रेम की अनन्त छलकन' महसूस हुई है किन्तु जिस प्रेम में गौरव, गरिमा, महिमा, त्याग, समर्पण न हो वह प्रेम आकर्षण तक ही सीमित रह जाता है, आत्मा पर नहीं छप पाता। अनुभूतिगत गहराई का अभाव, खण्डित लय, बिखराव, भौंरा वृत्ति की गूंज के अतिरिक्त इन गीतों में कुछ नहीं है। भारतीय संस्कृति में प्रेम कर्त्तव्य धर्म से जुड़ा है, धिकार से नहीं। प्रेम सृष्टि में डूबना सिखाता है तटस्थ रहना नहीं। कम से कम इस दृष्टिबाध कुंअर बेचैन ने बहुत शिद्दत से खंगाला है। दोस्ती निभाने के लिए साहित्यिक बेईमानी कुंअर वरिष्ठ और सधे हुए गीतकार, कवि-शायर से नहीं थी।

नन्नो चित्रे का गीत संग्रह है 'पद चिह्न' जिसका मूल स्वर उ ात्मिक प्रेम समर्पण है। 'शून्य पथ की मैं बनूंगी/ देवपथ दर्शक तुम्हारी' गीत सुन्दर है।

इनके अतिरिक्त और भी अनेक नाम सक्रिय हैं जो अपनी सीमा शक्ति में गीत-नवगीत की सांस्कारिक गतिशील इतिहास परम्परा को अलग अलग नज़रिया होने के बावजूद साज-संवार रहे हैं।

नरेश सक्सेना, मंजु अरुण, मंजु चन्द्रमोहन, बच्चन सिंह, आलोक-यादव, विष्णु खन्ना, वसंत देव, कन्हैया लाल वाजपेयी, देवव्रत जोशी, शरद सिंह, सूर्य कुमार शास्त्री, सुभाष काबरा, अनन्त चौरसिया, रतन कुमार देवड़ा, विनोद पाण्डे, ओम प्रकाश निर्मल, ओम् निश्छल, अनिल कुमार गौड़, जगदीश गुप्त, जगदीश श्रीवास्तव, नरेश श्रीवास्तव, भगवान स्वरूप पारस, महेश आलोक, रमेश चन्द्र पन्त, रामेश्वरदास वैष्णव, शैल रस्तोगी, सच्चिदानन्द समीर, सुरेन्द्र पाठक, हीरमणि सिंह, हृदय चौरसिया आदि गीतकार युगनद्ध परिवेश से जुड़ कर समय की सीधी और वक्र सभी भंगिमाओं को साध रहे हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लीक के आस-पास

गीत, नवगीत का संस्कार ले कर लिखने वाले कुछ ऐसे कवि-शायर भी हैं जो हिन्दी ग़ज़ल के बहाने गीत/नवगीत की गतिशील सांस्कारिक परम्परा को ही आगे बढ़ा रहे हैं। इनमें वरिष्ठ साहित्यिक व्यक्तित्व दुष्यन्त जैसे दिग्गज़ भी हैं (थे) और युवा ज्ञान प्रकाश विवेक, शिवओम अम्बर भी जो अपनी गीतीय तरलता को ग़ज़ल की श्री बना रहे हैं। इन में अग्रणी थे दुष्यन्त/ कमोबेश इन सभी की ग़ज़लों में नवगीतीय मानसिकता युग परिवेश को कोंचती चलती है। ये सभी कवि-शायर नवगीत की लीक के आस-पास ही है।

बालस्वरूप राही तथा माहेश्वर तिवारी ने प्राचीन प्रचलित 'ग़ज़ल' को भी नवगीतों में स्थान दिया है। 'ग़ज़ल गोई' के प्रयोग नवगीतों में अब सामान्य व्यवहार हो गया है। कहना न होगा कि शमशेर, बलवीर सिंह रंग, चन्द्रसेन विराट् और **दुष्यन्त कुमार** की ग़ज़लें अपने नए तेवर के कारण इस हद तक विशिष्ट हो गई हैं कि उन्होंने तथाकथित ग़ज़लों का दायरा तोड़ कर नवगीतों में प्रवेश पा लिया है। यह प्रवेश न तो गैर मुनासिब था और न ही अस्वाभाविक। ग़ज़ल जैसी विधा इन गीतकारों के हाथ में पड़ कर अपनी व्यक्तिगत इश्कमिज़ाजी को छोड़ कर सामाजिक यथार्थ को बड़े बुलन्द तरीके से प्रगट करने लगी थी। शमशेर कहता है – "जहां में अब तो जितने रोज़, अपना जीना होना है/ तुम्हारी चोटें होनी हैं, अपना सीना होना है" (*शमशेर बहादुर सिंह : कुछ कविताएं, पृ. 56*)। ग़ज़ल का यह मुखड़ा अपनी व्यक्ति इयता के बावजूद क्या क्रूर व्यवस्था पर एक जबरदस्त वार नज़र नहीं आता और इसी तरह दुष्यन्त कुमार की ग़ज़लों के यह नफ़ीस टुकड़े अपनी सीमाएं तोड़ते हुए क्या इंकलाब का हाथ पेश करते हुए नज़र नहीं आते –

"कहां तो तय था चिरांगा हरेक घर के लिए
कहां चिराग मयस्सर नहीं शहर के लिए।"
"सैर के वास्ते सड़कों पर निकल आते थे
अब तो आकाश से पथराव का डर होता है।"
"हिम्मत से सच कहो तो बुरा मानते हैं लोग
रो-रो के बात कहने की आदत नहीं रही।"
"न हो कमीज़ तो पांवों से पेट ढक लेंगे
ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफ़र के लिए।"
"यहां तो सिर्फ गूंगे और बहरे लोग बसते हैं
खुदा जाने यहां पर किस तरह जलसा हुआ होगा।"
"इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं है खिड़कियां।"
"मूल है तो सब्र कर, रोटी नहीं तो क्या हुआ?
आज कल दिल्ली में है, जेरे बहस ये मुद्दआ।"

(*सारिका : दुष्यन्त कुमार स्मृति अंक : मई, 1976*)

दुष्यन्त ने हिन्दी ग़ज़ल को विविधमुखी आयाम देकर रंगदर्शी प्रतीतियों का आकाश रच दिया। अंदाज़े बयां और वैचारिक सम्प्रेषण की इन्होंने रेखा मिटा दी। गिनी चुनी शब्दावली में सीधी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चोट। धंसते नीम व्यंग्य। नमक-मिठास लिये मिर्चधारी गुनगुनाहट। ऊपर से नीचे तक हिलकोरती - लहकती सुलगन अलाव धधकन बन कर ग़ज़ल के परम्परित चौखटों को दरारती चली गई। कालकूट स्थिति-सत्यों के कटानमुखी यथार्थ हस्ताक्षर दुष्यन्त सामाजिक-राजनैतिक परिवेश के असंगति पठार को तोड़ते मनुष्य तल्ख़ियों को नये सिरे से बांचते चले गए। बूंद-बूंद चू गए रिक्त जीवन-कलश को भरने के लिए सामुद्रिक विद्रोह का खारापन लेकर मेघधर्मी हो गए दुष्यन्त नीम मिठास के साथ खूब बरसे। कटुक्तियों के बीच खिंची रिक्तताएं, टूटन-धचकनें समिधाओं में लगी अग्नि-मंत्र सी चटकने लगी और दाह-दग्ध जीवन साकार होकर समकालीन आधुनिक बोध की विद्रूपमुखी सड़ांध में उतर कर कमलमुखी हो गया। जीवन का जितना भी कालकूट है दुष्यन्त-ग़ज़लों में ढल कर सावधान हो गया। मनुष्यता का चीरहरण करती सत्ता-व्यवस्था पर चोट करती दुष्यन्त ग़ज़लें कर्मयोगी भूमिका में कन्हाई हो गई। दुःशासन रक्त को चीरती इन चुनौती-ग़ज़लों में जीवन का, व्यक्ति-अस्मिता का, समाज का, राष्ट्र का हर रंग मौजूद है। अपने को हवा की माफिक पसारती इन सुगन्धवाही ग़ज़लों ने मनुष्य-दुर्गन्धों को सिरे से नापा। नख से तल-सहस्र तक, ऊर्ध्व से चक्रवायु तक। बुलन्दी से स्वाभिमान गाती इन ग़ज़ल कलगियों में मनुष्य-मर्म का आलोकपट हाशिये से केन्द्र में आ गया। गहराई में उतर कर दुष्यन्त-ग़ज़लों ने मनुष्य के अन्तर्भूगोल को पूरा का पूरा छाप लिया। न सत्ता को बख़्शा न धार्मिक-राजनीतिक परिवेश की जकड़न को। मनुष्यकर्मी सामाजिक सकारता ग़ज़ल के मुख में अग्नि बन कर मंत्र होती रही और सूर्य की तरह गतिवाही आचरण का बुनियादी संदेश लेकर जीवन का आईना बन गई। यही कारण है कि दुष्यन्त ने यदि बायें हाथ से सवाल पूछे तो दाये हाथ से अंधकार रोक लिया। भीतरी टूटनों, अर्धमूर्च्छित स्वप्न इच्छाओं के कुंठाजनित परिवेश को बांधती दुष्यन्त की ग़ज़लों ने हिन्दी काव्यात्मकता को नया माहौल, नये तेवर दिए। दुष्यन्त की ग़ज़लों ने बिना पंख के मनुष्य को उड़ने का साहस दिया, वैचारिक जागरुकता दी। यातनाओं के बीच से गुज़रने का जुगनू मन बनाया। तमस के सफर से क्रीड़ा करती दुष्यन्त की व्यंग्य कुठार ग़ज़लों ने संघर्षरत इंसान के पसीने को छंद बनाया। सदैव 'दूर की कौड़ी' लाने को बेचैन दुष्यन्त का ग़ज़ल-बोध उन सकार मूल्यों की वकालत में हरावली रहा जो इंसान को इंसान बनाने से रोकते हैं। 'गूंगी पीर' को आवाज देने वाला दुष्यन्त रक्तबीज़ों को ताउम्र तेज़ाब में नहलाता रहा और जनसामान्य को अपनी संदली ग़ज़लों से सदा प्रथम पंक्ति में लाने का यत्न करता रहा। आकाश और विद्रोह को सकार मूल्यों से जोड़ने वाली दुष्यन्त की ग़ज़लों ने एक बड़ी लकीर खींची है। बनी-बनायी पगडण्डी को छोड़ कर अपना अलग नया पथ निर्मित किया है। निर्माण-सृजन की इस यात्रा का हर छोर मानवीय जिज़ीविषा और जनसामान्य के संघर्षों से जुड़ा है। 'साये में धूप' की तमाम ग़ज़लें जिज़ीविषा और संघर्ष को ज़िन्दा रखने वाली हैं –

"दस्तकों का अब किवाड़ों पर असर होगा जरूर
हर हथेली खून से तर और ज़्यादा बेकरार।"

तात्पर्य यह है कि नवगीतकारों ने अपने प्रयोग के लिए भारतीय अथवा अभारतीय किसी भी काव्य-विधा और शिल्प को भले ही अपनाया हो लेकिन उनकी नज़र प्रयोग पर कम आन्तरिक लय पर अधिक रही, इसी का शुभ परिणाम है कि दुष्यन्त जैसे कवि के हाथों से ग़ज़ल की परम्परित धारणा ही बदल गई और पूरी रोमानियत के बावजूद उसमें युग चिन्तन की विद्रूपता, अभाव,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संघर्ष की ललक एवं विवशता समाहित हो गई। इनकी ग़ज़लों में गीत तत्व का बाहुल्य है और ग़ज़लियत या शेरियत का अभाव।

संभवतः प्रतिभा की आंच का ताप विधि सहन नहीं कर पाया जो प्रतीक जैसे प्रतिभाशाली कवि को हम से छीन ले गया। यह कहने में संकोच नहीं कि **पुरुषोत्तम प्रतीक** का आगमन एक आंधी की तरह था। प्रतीक की कविता हथौड़े से पथराई हथेली और कलपुर्ज़े जोड़ने वाली उंगलियों से जन्मी थी। उसकी कविता ने किसी परिचय की चिन्ता नहीं की। प्रतीक कभी किसी के सामने झुके नहीं। कुछ ही दिनों में उसे आभास हो गया था कि उनकी कविता का नया तेवर जल्दी ही रंग लायेगा। इसे स्वाभिमान कहिये या अभिमान - प्रतीक ने किसी भी तथाकथित बड़ों के सामने हाथ नहीं जोड़े और कुछ पाने के लिए अपना परिचय साधारण रखा।

प्रतीक की तरह उनकी रचनाएं भी अक्खड़ और मुंहफट रहीं। 'आसन दर आसन' उसकी कविताओं की पहली किताब ही नहीं, इस सच का शुरुआती ऐलान भी है। शुरु में ही उसने कहा: 'एक भरे पूरे शहर में/ वृत्ताकार मेज के गिर्द/ कुर्सियों से चिपके दिमाग/ बदलते मूल्यों पर/ चिंताएं गढ़ते हैं/ बढ़ते हैं/ अखबारी सुर्खियां लपेट कर/ खुले आम नंगे हैं।' छोटी चीजों और छोटे लोगों का महत्त्व उनके लिए काफी था। इसीलिए उनका वास्ता इनसे आत्मीयता के स्तर पर रहा।

'काक मंत्रणा' और 'मैं और रेल/ रेल और मैं' इस किताब की दो जोरदार उपलब्धियां हैं। 'काक मंत्रणा' के कउए राजनीतिज्ञों की कुटिलता के ऐसे प्रतीक हो गए हैं कि अर्थ पाठक के भीतर तक सीधे-सीधे उतर जाता है।

फैंटेसी के कुशल इस्तेमाल का प्रमाण है, किताब की दूसरी उपलब्धि। आदमी को अधूरा बन कर जीने के लिए यह व्यवस्था क्यों मजबूर करती है? यही सवालनुमा चिंता कविता के केन्द्र में है। इसीलिए कविता पूछती है, 'जहां पनाह! सल्तनत को/ साबुत आदमी क्यों खटकता है।' यह किताब ज़िंदगी के पन्नों पर वर्त्तमान स्थितियों की विसंगतियों, विषमताओं, खतरों, फरेबों और मजबूरियों के साफ रेखा चित्र उभारती है।

सन् 1974 से 1976 तक प्रतीक ने जो गीत रचे थे, वे **'गीत आदमी हैं'** के रूप में जनवरी, 1977 में सामने आए। इस किताब ने बताया कि कवि के अनुभवों का दायरा ज्यादा विस्तृत भी हुआ है और वैविध्यपूर्ण भी। यह वैविध्य संवेदना से लेकर व्यंजना करने की बहुमुखी क्षमताओं तक में निहित है। गीत को लेकर एक महत्त्वपूर्ण स्थापना प्रतीक ने 'गीत क्या है?' रचना के जरिए की। उसने गीत को 'आदमी' यानी जीवंत अनुभवों का भरा-पूरा संसार माना। यह भी स्पष्ट किया कि निरे शिल्पगत चमत्कार से आंखों को चौंधियाने वाले गीत उसकी नज़र में गीत नहीं। गीत वही, जो रोजमर्रा के संघर्षों से आंखें मिलाए और आदमी की तकलीफदेह सच्चाइयों को मद्देनजर रखते हुए सार्थक सवाल उठाए।

ज्यादातर गीत ज़िंदगी को बर्दाश्त करने की बेचैनी के कारण रचे गए। बिंबों का ऐसा सार्थक इस्तेमाल भी हुआ, जिसने वर्ग-अंतराल और शोषण दोनों को पूरे आवेग से बेनकाब किया। जैसे, 'सांस क्यों बुन रही/ आंत से कुर्सियां/ वह भी उनके लिए/ जो हैं दिन के दिए।' सर्वहारा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की मार्मिक स्थितियों ने अनेक गीतों को ऊर्जा दी। कुछ गीतों में गीत की सहजता और सहजता के गीत की आवाज मुखरित हुई। कहीं-कहीं नागार्जुन की रचनाधर्मिता की याद आई।

यह सही है कि किताब में औसत दर्जे के गीतों की संख्या भी कम नहीं है लेकिन कुल मिलाकर यह किताब आदमी को उसकी संपूर्णता में समझने-समझाने की काफी हद तक कामयाब कोशिश है। इस संपूर्णता के दायरे में आदमी के सुख-दुख की अनेक कहानियां हैं, जो सिर्फ अनुभव के खरे ताप से ही पैदा की जा सकती है (*जनसत्ता : 10 जनवरी 1988*)।

प्रतीक का मन शोषित, पीड़ित, दलित के चित्रण में रमता था। प्रगतिशील विचारधारा का उद्दाम वेग प्रतीक की कविताओं में मिलता है। प्रतीक के गीत और कविताएं सामाजिक वैषम्य, घुटन और तनाव का यथार्थ चित्रण करते हैं –

"क्यों बहरें चौराहे/ अंधे क्यों मोड़/ खींच रहे चमड़ी क्यों/ कुर्सी के जोड़.....।"

(*आदमी है सिन्धु : पृ. 27*)

राजनीति का विष इस समाज को विषैला कर रहा है और पूंजीपति समाज का आर्थिक शोषण कर रहा है। यह पीड़ा प्रतीक में कूट कूट कर भरी थी। उन्हें इस अव्यवस्थित व्यवस्था-पद्धति पर आक्रोश इस सीमा तक था कि वे कवि जनोचित भाषा की मर्यादा को अनदेखा कर कई बार गाली तक दे बैठते थे –

"भीखों मांगे वोट/ निकम्मे हट्टे कट्टे हैं/ पूंजीपति है उल्लू/ ये उल्लू के पट्ठे हैं।" (*पृ. 12*)

मार्क्सवादी विचारधारा के रचनाधर्मी लोग भाषा के इस पहलू को अपनी सुविधा के अनुसार प्रयोग में ले आते हैं। प्रतीक आक्रोश क्रान्ति का उद्गाता है। वह ठोस ज़मीन पर बैठ कर ठोस बात कहता है –

"मुट्ठी को भींचो/ डोरी को खींचो/ आंसू से अपनी आग नहीं सींचो/ ये जलती चिमनी/ वे ठंडी कोठी/ सौदा है कैसा/ हंसा हंसा पांव बढ़ा....।" (*पृ. 54*)

प्रतीक का उठान गोष्ठियों और कवि-सम्म्लनों से हुआ। पारिवारिक वातावरण नितान्त साधारण, मैट्रिक तक शिक्षा और फिर आजीविका के लिए स्प्रे पेंटिंग्स का वर्कशाप खोला। इस प्रकार प्रतीक का वातावरण मज़दूर की शोषित मानसिकता का प्रतीक है। विशेषता यह है कि प्रतीक शोषित को दुर्बल कहीं नहीं बताता। उन्हें क्रान्ति की ओर प्रेरित करता है। आम जीवन में एक साधारण आदमी को पंक्ति में स्थान न मिले तो वह झुंझला कर सारी व्यवस्था को गाली देने लगता है। जिस नेता से हम परेशान हैं उसे ही चुन भी लेते हैं। अपनी दुर्बलता को बचाने के लिए अनेक तर्क भी सामने हैं। तर्क सत्य पर आधारित नहीं होते। तर्कों के आधार पर ही तो क़ातिल बचते हैं। प्रतीक में न्याय के प्रति असन्तोष है। शासन से असंतुष्ट होना तो अब शत-प्रतिशत पाया जाता है। प्रतीक इस वैषम्य को अत्यन्त निर्भय स्वर में गाते हैं। मज़ूदर का लौह मन रक्त बहाने से नहीं डरता परन्तु अपने रक्त में प्रवाहित आरक्त स्वेद का शोषण नहीं सहन कर पाता।

'आदमी है सिन्धु' के बहुत-से गीत कठोर स्वभाव के हैं। इनमें स्थितियों के प्रति प्रतिक्रियाओं को सीधे-सीधे कह दिया गया है। प्रतिक्रियाएं अनुभूतियों और संवेदनाओं की छलनी से हमेशा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छन कर नहीं आई। इसीलिए कहीं-कहीं गीत में नारे को घुसपैठ करने का मौका मिला। ऐसा न होता तो कुछ गीतों में सहजता का अभाव न खटकता। ऐसा भी न लगता कि कवि ने एक कथ्य निर्धारित कर लिया है। और भिन्न-भिन्न तरीकों से उसे कह-भर दिया है। ज्यादातर गीत प्रतीक की ऊर्जा के सक्षम प्रमाण हैं। अधिकांश रचनाओं में जन-गीत के तेवर हैं। विषमताओं और उनकी जड़ों पर सीधी और खरी चोट है। भाषा में प्रहार करने की क्षमता और दुःखों की नब्ज पर सादगी से हाथ धर देने का कौशल इन गीतों को नागार्जुन की गीतात्मक-परंपरा में खड़ा करता है। उत्साहजनक स्थितियों की साहसी पंक्तियां हैं, 'चौबीस घंटों में/ यहां पर कब नहीं है रात/ दिन बताकर/ रात को जो कर रहे उत्पात/ क्या रखें ऐसे दिनों में उत्साह का ऐसा अतिरेक भी है जो यथार्थ के करीब कम है और भावावेश के करीब ज़्यादा।' अपने हक हथियाने के लिए सर्वहारा को दिए गए उद्‌बोधनों ने कहीं-कहीं कवि को उपदेशक बना छोड़ा है। रिक्शेवाले पर अच्छी कविता है। इसमें आसान भाषा की वैविध्यपूर्ण भंगिमाएं हैं, जो एक जैसे दीखने वाले शब्दों का इस्तेमाल करते हुए भी विभिन्न अर्थ देती है। मसलन - "पहुंचे कहां-कहां सब चढ़ कर/ रिक्शेवाले पर।" रिक्शेवाले भी अब तक हैं रिक्शेवाले पर।" उनकी कई कविताओं में प्रकृति से गहरा जुड़ाव भी झलकता है।

एक गीत में कवि ने सागर और पर्वत के दो व्यक्तित्व बनाए हैं, जो अपनी प्रकृति और स्थिति में अलग-अलग हैं। यह गीत अपने प्रभाव में अद्‌भुत है। शीर्षक है : 'होगा यह होगा एक बार।' पर्वत अहंकार का प्रतीक है और सागर अनंत ऊर्जा का/दोनों का द्वन्द्व चलता है। अंततः जीत सागर की होती है और कवि तो मानता ही है कि 'आदमी है सिंधु'। चित्र गतिशील हैं, इस हद तक कि गति साक्षात् उपस्थित होने लगती है। शब्द-संयोजन ऐसा है कि निराला का शिल्प-कौशल याद आता है। 'गीत आदमी है' से 'आदमी है सिंधु' तक आते-आते प्रतीक ने सर्जनात्मक यात्रा के कई पड़ाव देखे हैं (*जनसत्ता : 10 जनवरी 1988*)।

प्रतीक के गीतों में लोक धुनों का साहचर्य है। उनका मंचीय प्रस्तुतीकरण जनता को आकर्षित करता था। 'भौं' वाली कविता में 'भौं' का जो वक्तोक्तिकरण है, वह जनता को मनोरंजित करता था। इसी प्रकार 'बादल' कविता की प्रस्तुति थी। धूल से उठे प्रतीक को धूल की पहचान थी। बुलन्दशहर जिले के होने के कारण इनमें ब्रजभाषा का पुट था। ब्रजभाषा की लोकधुनों पर इन्होंने अनेक विप्लवकारी गीत लिखे – "ज़िन्दा होती है कुर्बानी/ भैया झूठ नहीं बोलूंगा/ कुर्सी यहां तिजोरी रे' जैसे गीतों का धरातल ब्रज की लोकधुन है। प्रतीक जनवादी कवि थे। उनका कहना था कि कविता को जनता में प्रचारित होना चाहिए। जनता में प्रचारित होना बुरा नहीं है, यह तो एक गुण है परन्तु प्रचारित करने की प्रक्रिया में यदि कविता के गंभीर गुण की उपेक्षा कर दी जाये तो यह भी उतना ही अनुचित है। क्रान्ति का एक ही अर्थ नहीं होता। जहां वैचारिक क्रान्ति होती है वहां उसका रूप ही कुछ और होता है। प्रतीक जिस वातावरण में थे उन्होंने अपने गीतों और कविताओं में उसका केवल अनुभूयमान पक्ष ही दिखाया लेकिन भीतर से प्रतीक का कवि बहुत गहरा था।

'घर तलाश कर' की ग़ज़लों में भी कवि के लिए कथ्य और संवेदना कला और कौशल से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण है। कला, विवशता की सीमा तक वस्तु की आवश्यकता न होती तो शायद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुरू में ही प्रतीक को न कहना पड़ता, 'हां, इन्हें बेशक ग़ज़ल मत मानिए/ क्या कहा है सिर्फ इतना जानिए।' इनके बावजूद बहुत सारे शेरों ने चौंकाने की प्रवृत्ति से लिखे जाने के कारण शब्द-चमत्कार का 'ग्लैमर' पैदा किया। कुछ पंक्तियों में कवि की आत्मा-मुग्धता भी सामने आई। कहीं-कहीं कला-कौशल का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि अर्थ समुद्र की उस सीपी का रत्न हो गया, जिसे पाना सिर्फ गोताखोर के ही बस की बात है। तुक्कड़-प्रवृत्ति के उदाहरण यहां उपलब्ध हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि कवि का रचना-स्रोत उसकी कुंठा है। वह कुंठित इसलिए हुआ है कि जो उम्मीद अपनी सफलता के लिए उसने की थी, वह पूरी नहीं हुई। इसकी वजह है कवि के अनुभव का वह ताप, जो अनेक शेरों में जगह-जगह अपनी ऊर्जा को साबित करता है। पक्ष और विपक्ष के चालाक गठजोड़ को नंगा करते हुए उसने लिखा, 'बंधना जिनको गले में तय हुआ/ घंटियां बजने लगीं सम्मान में।' आदमी की क्षमताएं (असल में मजबूरियां) कितनी बढ़ गई हैं, यह बताते हुए उसने कहा, 'कील-कांटों से नहीं अब कुछ बिगड़ने को रहा/ बिच्छुओं के बीच में सोने लगा है आदमी' सर्वहारा के प्रति कवि के मन में कितना सम्मान है, देखिए: 'यही आज की वेद-ऋचाएं मन से इनको बांचों तो/ फटे हुए कपड़े लटके हैं मेहनत के सब गातों पर।' कवि पोस्टर होना पसंद करता है। यह अहसास ही काफी महक-भरा है।उसे तकलीफ है तो सिर्फ इस बात की 'न कागज पर छपा देखो न ही दीवार पर चिपका/ बुरे हालात का ऐसा भटकता पोस्टर हूं मैं।' कवि की पक्षधरता घोषित करती हैं, 'दूर है जो ईंट-गारे से/ वे नहीं लगते हमारे-से' (*जनसत्ता : 10* जनवरी 1988)।

कमोबेश यही स्थिति प्रतीक के दूसरे ग़ज़ल संग्रह 'पेड़ नहीं तो साया होता' की है। इस संग्रह के पहले पृष्ठ पर अंकित मुखड़ा प्रतीक के आदमियत की छटपटाहट व्यक्त करता है –

"आदमी जो आदमीयत से भरा होगा/ ज़िन्दगी के बोझ से दब कर मरा होगा।"

(*पेड़ नहीं तो साया होता : पृ. 19*)

प्रतीक गीतों में ही नहीं ग़ज़लों में भी 'दुख दरिया था बहता आया' (*पृ. 23*) की तर्ज़ पर अपना सागर मंथन करते रहे। मंथन के इस सफ़र को 'पेड़ की पहचान उसके पात से होवे' (*पृ. 28*), 'भूख-भर आटा न था बस' (*पृ. 36*), 'आज वैसा मन कहां है' (*पृ. 36*), 'ये दुनिया की सच्चाई है' (*पृ. 39*), 'क्यों ग़ज़ल आई लबों तक भीग कर बरसात में' (*पृ. 47*), 'कुछ फरेबों ने पहन कर सादगी' (*पृ. 54*), 'पेट के खाली सफे पर ओम् लिखवाओ न अब' (*पृ. 59*), 'जब कठिन हो आंसुओं में तैर पाना' (*पृ. 69*), 'ज़िक्र करते रहे पसीनों के' (*पृ. 77*), 'लहू की बूंद से सूरज निकलता हो, निकलने दो' (*पृ. 80*), 'अगर हम ज़िन्दगी को भूल से ईमान कर देते' (*पृ. 84*), 'हौसला तूफान पैदा कर गया' (*पृ. 86*), 'दिन-भर सब का बोझ उठइयो', 'सांझ घिरे पर घर जइयो' (*पृ. 101*), 'आदमी का दर्द से कितना सही नाता रहा' (*पृ. 107*), 'पसीने के बरसने से हरा हर छोर होता है' (*पृ. 109*), 'सोच की जंजीर में बंध कर चले हैं' (*पृ. 118*), 'मत पूछों गीतों के तन पर छाले कैसे-कैसे हैं' (*पृ. 119*), ' बीच में फंस कर नगर के गांव घूरे हो गए' (*पृ. 126*) आदि ग़ज़लों ने कारवां बना दिया हैं। इसके अतिरिक्त अभी 'उधड़ा हुआ एकांत' (कविताएं), 'गीत लिख दिए मैंने' (दीर्घगीत), 'सब चलता है' (व्यंग्य लेख), 'पेड़ की मौत' (कहानियां), 'सत्य के आसपास' (चतुष्पदियां) और बहुत सी बालोपयोगी कविताएं अप्रकाशित हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीक ने बहुत कम उम्र पाई –

"रातों को दिन सा चमका देता/ यदि उमर न होती मेरी बन्धन में।"

(रमानाथ अवस्थी : बंद न करना द्वार)

प्रतीक को आयु मिलती तो वे निश्चय ही हिन्दी संसार को कुछ नया और देते। इन्होंने बालोपयोगी कविताएं भी लिखीं। इनकी अनेक कविताएं, कहानियां और बालोपयोगी साहित्य प्रकाशन के लिए प्रतीक्षित है। इनके काव्य शिल्प की अजब पहचान थी। 'पेड़ नहीं तो साया होता' संग्रह में प्रतीक का ग़ज़लकार बड़ी सफलता से व्यक्त हुआ है। उर्दू बहर और भाषा के मोड़ से वे भीतर से ऐसे कैसे जुड़े – यह अध्ययन का विषय है। विविध शैलियों में गुम्फित ये रचनाएं प्रतीक के भीतर छिपी क्षमता को प्रकट करती हैं। प्रतीक ने शब्द गढ़े नहीं हैं परन्तु सहज शब्दों का सहजता से उन्होंने ऐसा प्रयोग किया कि वह प्रभाव डालने में द्विगुणित हो गये। यद्यपि व्यक्तिगत आलोचना वांछित नहीं है परन्तु प्रतिभा के लुप्त होने का कारण यह 'मद' हो तो उसे रेखांकित किया जाना चाहिए। नेपाली, रंग, आनन्द मिश्र, रामावतार त्यागी, दिनेश, शाद, मज़ाज और अनेक आज भी हैं जो इस ओर हैं। अतः इस प्रवृत्ति पर अंकुश लगना चाहिए। मदिरा आनन्द के लिए हैं, मन्द होने के लिए नहीं। इस चक्कर में प्रतीक और रंजक ऐसे प्रतिभाशाली कवि गए हैं जिन की क्षतिपूर्ति नहीं हो सकती। प्रतीक का काव्य पठनीय है। छन्द के निर्वाह का सहज अभ्यास उसके शिल्प पक्ष को धन्य करता है जिसे आज के आलोचक अप्रासंगिक मानने लगे हैं।

धर्मयुग एक ऐसा पत्र था जिसने कुछ साहित्यकारों को प्रतिष्ठापित किया। कहानी की तरह कविता के क्षेत्र में ख़ास कर ग़ज़ल के क्षेत्र में श्री गुप्त को चर्चित कराने का श्रेय इसी पत्र को है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि **सूर्यभानु गुप्त** ने ग़ज़लें अच्छी कहीं हैं। जिन लोगों ने दुष्यन्त की ग़ज़लीय पकड़ को समझा उन्होंने ग़ज़ल में अपना नाम दर्ज करा लिया। श्री गुप्त ने ग़ज़लें ही अधिक कहीं हैं। नवगीत में श्री गुप्त का उल्लेखनीय योगदान संकेतित नहीं किया जा सकता। ये छोटी बहर के ग़ज़लकार हैं। छोटी बन्दिश में बड़ी बात करना इनके स्वभाव में है। ग़ज़लों में आज की ज़िन्दगी का नक्शा बड़ी खूबसूरती से आंका गया है –

"रात-दिन यूं चला सिलसिला झूठ का
बन गया दोस्तों! इक किला झूठ का।
सच तो मुरझा गये राजदरबार में,
कोई चेहरा खिला तो खिला झूठ का।
आईना देखने की थी फुरसत किसे,
खूबसूरत था इतना सिला झूठ का।
शहरे-जम्हूरियत – मरहबा - मरहबा,
रहगुजर - रहगुजर काफिला झूठ का।
अब के सुकरात ही बेज़हर मर गये,
हर कदम वो तमाशा मिला झूठ का।
हाथ रावण के पूरी अयोध्या है अब,
किससे कीजे यहां गिला झूठ का।" (धर्मयुग : 22 जनवरी 1984 : पृ. 16)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज मनुष्य जिस निराश वातावरण में सांस ले रहा है उस सहज अनुभूति की सरल अभिव्यक्ति अत्यन्त कलात्मकता के साथ गुप्त की गीत-ग़ज़लों में हुई है –

"किससे हारा मैं, ये मेरे अंदर/ कौन रहता है, ब्रूसली की तरह...
उसने मुझको छुपा के रक्खा है/ ब्लैक आऊट में रोशनी की तरह।"

(*धर्मयुग : 1 जनवरी 1989 : पृ. 17*)

"मेलों जैसे कुरते उनके/ खुली हवा-सी धोती
गमछे बंधे लोकगीतों के/ गुड़ सत्तू औ रोटी।" (*शीराजा - मार्च 1988 : पृ. 25*)

आज के नवचर्चित ग़ज़लकारों में सूर्यभानुगुप्त का नाम जुड़ने लगा है। जिन लोगों ने ग़ज़ल के सम्बन्ध में विचार दिए हैं उनमें सूर्यभानुगुप्त का नाम पाया जाता है।

विजय कुमार सिंघल (*आंग्ल भाषा में प्राध्यापक, भिवानी (हरियाणा) सभी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन। 'धूप हमारे हिस्से की' और 'धुंध से गुजरते हुए' ग़ज़ल संग्रह प्रकाशित। सन् 1977 से लगातार प्रकाशन। सम्प्रति - अध्यापन के साथ लेखन-कर्म। ग़ज़ल-परिदृश्य पर उभरता एक संजीदा नाम।*) मूलतः ग़ज़लकार हैं और इसी रूप में इनकी पहचान बन रही है। जीवन चाहे कितना भी मशीनी और व्यस्त क्यों न हो, गीत-ग़ज़ल की उपादेयता हर समय रही है और रहेगी। गीत ग़ज़ल मनुष्य की भावात्मक आवश्यकता है। विजय कुमार सिंघल की ग़ज़लों का मूल कथ्य वर्त्तमान जीवन और उसकी आधुनिक कुरूपता में दबी-ढकी संस्कृति का पर्दाफाश करना है। सामाजिक त्रासदियों के बीच परिवेश की भयावहता कब ग़ज़ल में रूप-आकार ले लेती है इसका ग़ज़लगो को भी पता नहीं लगता। ग़ज़लकार का निश्चित मत है कि ग़ज़ल अपनी यात्रा के आरम्भ में ही मानव-मन की गुत्थियों, टीसते अहसासों, सामाजिक विषमताओं, धार्मिक पाखण्डों और शोषण को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम रही है। यही कारण है कि रदीफ़ और काफ़ियों में कैद होते हुए भी ग़ज़ल एक पूरी तरह स्वतन्त्र विधा के रूप में आगे बढ़ती रही है। यह कहना गलत होगा कि छन्द की सीमाओं के कारण ग़ज़ल आज के जीवन की जटिलताओं और उनसे उपजी समस्याओं को पूर्ण-रूपेण प्रकट करने में असमर्थ हैं। अब इसे सिर्फ 'महबूब से बातचीत' करार देना भी इसके साथ ज्यादती होगी। इसीलिए....मेरी यह कोशिश रही है कि वर्त्तमान जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में फैले दोगलेपन की तस्वीरों को सच्चाई के आदमकद आईनों के सामने रख सकूं" (*धूप हमारे हिस्से की : पृ. 18*)।

पहले ग़ज़ल में मतले, रदीफ, क़ाफिये के साथ-साथ मक़ते का प्रयोग अनिवार्य-सा था किन्तु विजय कुमार सिंघल की ग़ज़लों में इसका प्रयोग बिल्कुल नहीं है। इनकी ग़ज़लों में आधुनिक जीवन के प्रतीकों के माध्यम से सहज भावाभिव्यक्ति है –

"सूदखोरों की इक़ अमानत है
खेत से जितने दाने निकले हैं।" (*पृ. 26*)
"तोड़ दो जुल्म की इमारत को
कुछ दरारों से कुछ नहीं होगा।" (*पृ. 60*)
"वधशालाएं बढ़ती जातीं जीवन का कुछ मोल नहीं
आज व्यवस्था काट रही है सबको अपने खंजर से।" (*धूप हमारे हिस्से की : पृ. 60*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डॉ. शेरजंग गर्ग की नज़र में विजय कुमार सिंघल की ग़ज़लों में 'सामाजिक स्थितियों, राजनीतिक दाव-पेचों, मानवीय दुराशाओं और वैयक्तिक बेचैनियों के सीधे-सादे चित्र हैं' (*पृ. 8*)।

आतंकवाद, उग्रवाद, छीना-झपटी, भौतिकता की ओर अन्धी दौड़ ने मानव-संवेदनाओं को बंजर कर दिया है। शब्द अशक्त और निरर्थक हो गए हैं तब गीत-ग़ज़ल कैसे पनपेगी –

"नदियां सूख चलीं भावों की कोई भी संवेग हीं
कैसे कोई गीत उगेगा शब्द हुए हैं बंजर से।" (*पृ. 60*)

लालसाओं और कामनाओं की फिसलन पर फिसलती मानव अनुभूतियां आपस में ही गड्डमड्ड हैं। शंका, भय, अविश्वास, अनिश्चय दिग्भ्रम व्यक्तित्व के अंग हो गए हैं। हर कोई धीरे-धीरे कदम उठाता है जैसे 'मेंहदी लगी हो पांवों में' (*पृ. 61*)। मुहावरों का प्रयोग अभिव्यक्ति को पैना और तल्ख़ी को अधिक शिद्दत से उभारता है –

"सब्ज बाग क्यों खुशहाली का हमें दिखाया जाता है....
खुद भूखे रह कर सांपों को दूध पिलाया जाता है।" (*पृ. 69*)
"रेत की दीवार की मानिंद ढहते जाइये।" (*पृ. 72*)
"इन्सानियत से आंख मिलाना कठिन हुआ।" (*पृ. 62*)

ऐतिहासिक पौराणिक संकेत भी ग़ज़ल के अनुभूतिपार्श्व में बंधे हैं –

"शायद हमें जिला दे किसी राम की छुअन
बन कर शिला इस आस में कब से पड़े हैं हम।"

उर्दू के कठिन शब्दों का प्रयोग अनुभूति प्रवाह में बाधक है। हालांकि ग़ज़लकार ने उनके अर्थ पाद-टिप्पणियों में संकेतित किए हैं, लेकिन ऐसे शब्द जन-सामान्य में ग़ज़ल-प्रसार को सीमित कर देते हैं – मैंकदे-मधुशाला, व्रर्क-बिजली, अब्र-बादल, आबशार-झरने, अक्स-परछाईं, मानीखेज-सार्थक, आईन-संविधान, तारीकियों-अन्धेरों, शबे-हिज़्र-विरह की रात, सानिहा-ट्रेजेडी आदि कुछ ऐसे ही शब्द है जिन को ग़ज़लगो ने अपना नेह और छाया दी है।

विजय कुमार सिंघल सम्भवतः गीत में उन विसंगतियों को नहीं कह पाते इसीलिए वे आशान्वित हैं –

"जब बहारों के आगमन पर चमन खिलेगा
गीत मस्ती के खुशी के गायेगा सारा चमन।" (*पृ. 40*)

जीवन कितना भी मशीनी और व्यस्त क्यों न हो जाये, गीत-ग़ज़ल की उपादेयता हमेशा रहेगी। लेखक से एक साक्षात्कार के दौरान सिंघल साहब ने इस तथ्य को खुले मन से स्वीकारा। कला जीवन के लिए होनी चाहिए - इसे स्वीकार करते हुए ग़ज़लगो विजय कुमार सिंघल का कहना था कि – 'जीवन और परिवेश की टूटन-जुड़न को प्रतीक और संकेतों के द्वारा ही कहना चाहिए क्योंकि साहित्य में बात सीधे सीधे नहीं कही जा सकती। अगर ऐसा किया जाये तो उस का प्रभाव ही नष्ट हो जाता है' (*साक्षात्कार : 6 नवम्बर 1986*)। 'धुंध से गुजरते हुए' ग़ज़लकार ने अपने आस-पास की भयावह स्थितियों को उसी प्रकार सहेजा है जैसे पूर्व के ग़ज़ल संग्रहों में।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्त की तल्खियां हर आदमी पर अपना प्रभाव छोड़ती हैं। लेकिन कोई कवि जब उनसे रूबरू होकर कुछ कहता है तो एक सलीके के साथ बात कहने की कोशिश करता है। आज के हालात, माहौल और आदमी-आदमी के बीच की दूरियां हर किसी को अखरती हैं। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी तक इसके शिकार हैं। बदलाव की चाहत सबमें है। हालातों से रूबरू होते हुए कवि सिंघल ने एक शेर कहा –

"ठहरे हुए पानी में सड़न उठने से पहले
ठहरे हुए पानी को हिलाना ही पड़ेगा।"

और शेर पढ़ते ही दुष्यंत कुमार का एक शेर जेहन में आ गया –

"अब तो इस तालाब का पानी बदल दो
ये कमल के फूल कुम्हलाने लगे हैं।"

अब इन दो शेरों से रचाकारों की मानसिकता और उनके सरोकारों का आभास किया जा सकता है। जाहिर है कि दुष्यंत का दर्द और उनका जुड़ाव गहरा है। वहीं सिंघल का सरोकार पानी में हिलोरें उठाने भर से है। इन चिंताओं का उत्तर देते हुए पृष्ठ 49 पर उनका एक शेर मिला –

"अब जिन्हें इस शहर में मिलता नहीं है आदमी
काश वो दो-चार पल हमसे भी मिल कर देखते।"

इस शेर में आदमी की अपने प्रति एक आश्वस्ति झलकती है लेकिन इसी ग़ज़ल में एक अन्य शेर में कृष्ण बिहारी नूर के मशहूर शेर का चरबा भी सामने आ गया –

"मैं जिसके हाथ में इक फूल दे के आया था
उसी के हाथ का पत्थर मेरी तलाश में है।" (कृष्ण बिहारी नूर)

और सिंघल ने कहा –

"फूल जिन हाथों से चाहा था घड़ी भर देखना
उम्र गुजरी है उन्हीं हाथों से पत्थर देखते।"

(*हिन्दुस्तान : 14 मार्च सन् 1993 ('धुंध से गुज़रते हुए' पर एक टिप्पणी)*)

ग़ज़लकार का वैचारिक धरातल मनुष्य की कल्याण-कामना से जुड़ा है। मनुष्य की कांक्षाएं और संघर्ष ही रचनाकार की रचनागत शर्त्त है। इसके लिए विजय ने रोजमर्रा की ज़िन्दगी में दख़ल देते प्रतीकों में रुचि प्रकट की है। ग़ज़ल की विशिष्ट प्रतीकात्मक शब्दावली को ग़ज़लकार ने आधुनिक संदर्भों से जोड़ने की कोशिश की है। फूल, पत्थर, कांटे, पेड़, नदी, पहाड़, बर्फ, हवा, पानी आदि शब्दों का प्रयोग नये प्रतीकों और व्यंजनाओं के साथ यथार्थ-टीसों को कीलित करते हैं। जीवन की टीसनों को कीलित कर आबशार बनाने में विजय कुमार सिंघल माहिर हैं। रचनाकार की विनम्रता काबिलेदाद है। आलोचक के एक प्रश्न के उत्तर में उनकी कहन ग़ज़ल के एक मुखड़े की तरह ही रोशनी का एक टुकड़ा थी। कुछ ग़ज़लकारों के नाम गिनाने के बाद उन्होंने कहा कि – "मैं भी पीछे की किसी पंक्ति में खड़ा मिल सकता हूं, लेकिन मुझे अभी इस क्षेत्र में बहुत लम्बा रास्ता तय करना है" (*साक्षात्कार : 6 सितम्बर 1986*)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़ल की रचना-प्रक्रिया पर उन्हीं की ग़ज़ल के एक शेर से मैं अपनी बात समाप्त करता हूं-

"इक सलीक़ा चाहिए एहसास की दौलत के साथ,
काफ़िये काफ़ी नहीं होते ग़ज़ल के वास्ते।"

इन की ग़ज़लें आधुनिक जीवन के परिवेश-झरोखे हैं, जिसकी छनती रोशनी में हमीं आदमकद हैं।

राम कुमार 'कृषक' संघर्ष की जीवन्त कथा है। संघर्ष ने ही उन्हें गीत और फिर ग़ज़ल दी हैं। कृषक के नवगीतों में एक श्रमिक का संत्रस्त जीवन अभिव्यक्त होता है। इनमें जीवन के यथार्थ को सीधी सीधी भाषा में कहने का सफल प्रयत्न है। मंच से कृषक के गीत संभ्रान्त वर्ग में चाव से सुने जाते हैं। जनवादी प्रतिबद्धता के कारण कृषक की प्रतिभा सीमित हो गई है जबकि इन के गीत ग़ज़लीय बिम्ब संभावनाओं की शक्ल निर्मित करते हैं। इन के गीत ग़ज़लों से इन की रचनाधर्मिता के प्रति दायित्व भावना उजागर होती है।

'सुर्खियों के स्याह चेहरे' इनका पहला काव्य संग्रह है जिसमें काव्यात्मकता की तलस्पर्शिता कम दर्द की चटकनें ज्यादी थीं। 'नीम की पत्तियां' इनका ग़ज़ल संग्रह है जिसमें इन्होंने जीवन को सीधे सीधे बांचा है। यथार्थ कटुक्तियां बेरहम है, सत्य से साक्षात्कार नीम निबौली की तरह मीठा है। इस नमकीन मिठास को इन ग़ज़लों में मुक्त वाणी मिली है। एक शेर मुलाहिज़ा फरमाइये –

"एक छल है गुलाबी फल देश में/ दरअसल हैं असल नीम की पत्तियां।"

जीवन की असलियत को उघाड़ती ग़ज़लें संघर्ष की जुझारू भूमिका निर्मित करती है - "टोपियों के दंगलों में तो लंगोटी भी गयी/ हादसा इससे बड़ा और गुजरेगा नहीं।"

इस प्रकार के स्थिति सत्यों को परिभाषित करते दंश नुकीले हैं। धर्म की आड़ में आदमियत की टूटती मेहराबें खण्डहर न बन जाय, इसलिए शायर सावधान कर आईना बनता हैं –

"चीखने लग जाये जब बंदे कहीं/ साफ मतलब है खुदा बहरा हुआ।"

शोषित सर्वहारा के प्रति इन की मूल्य चिन्ता इन के ग़ज़लीय व्यक्तित्व को खुरदरा बनाती है जो समय की चुनौतियों को भोथरा करने के लिए जरूरी है। पीड़ा का तेज़ाब देखिए –

"रोटियों का मुद्दआ दिल्ली से सुलझेगा नहीं/ और भूखा इस बहस में और उलझेगा नहीं।"

संग्रह की बहत्तर ग़ज़लों में गांव-घर-परगना-जिला-प्रदेश और देश के उजड़ने का धुन्ध और धुंआ तना मिलता है। कवि स्वयं एक गहरे तनाव से गुजर कर इन्हें रच पाता है। जितना तनाव कथा में रिला मिला है उतना ही तनाव रूप शिल्प में चक्कर काट रहा है।

ग़ज़लों में हिन्दी गीतों जैसी बिम्बधर्मिता ज़िन्दगी के बहुत नज़दीक आकर बात करती है। जनसामान्य की तकलीफों को चूड़ीदार नोंक बना कर धसाती, चुनौतियों को स्वीकारती ये ग़ज़लें संघर्ष की पुरअसर भूमिका तो बनाती है लेकिन जीवन नंगा हो जाता है। एक नंगा बिम्ब देखिए-

"वक्त-वेवक्त खिला होगा/ वक्त-बेवक्त झर गया गंगू
और हाथ खाली थे, पेट भी खाली/ मौत का पेट भर गया गंगू।"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अवसाद की गहरी परतें तीखी होकर जीवन और सोच को कसैला कर देती है। जनसामान्य 'गंगू' की मौत मिनट मिनट का हादसा है जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जाता।

इन ग़ज़लों की भावुक वैचारिकता की एक परिणति ऐन्द्रिय आवेगात्मकता में हुई है। ऐसा महसूस होता है कि भावनाओं में सरलीकरण या शिशु सुलभ भोली प्रतिक्रियाएं अधिक हैं – "जहन में घुस कर हमारे आप बैठे हैं/ राम जाने किस जनम के पाप बैठे हैं/ यों जहन में आपकी वंशावली पूरी/ पर सभी के आप बन कर बाप बैठे हैं" (*पृ. 11*)। इस तरह की अधिकांश ग़ज़लों ने इस संग्रह को घेरा हुआ है। जगह-जगह आदमी की चीख-चिल्लाहट है, यह घबराहट के कारण है या अपने चारों ओर की नारकीय जिंदगी से फटी है। इन ग़ज़लों में रूमानियत न होकर ज़िन्दगी की तड़प है। इन ग़ज़लों में भाषा, बिम्ब, प्रतीक, छन्द की मूर्जता है - जिससे अनुभव के वास्तव-संसार का सीधा साक्षात्कार होता है (*नवभारत टाइम्स : 27 जनवरी 1985*)।

कृषक के गीत ग़ज़लों में नीम की कड़ुवाहट है परन्तु उसमें स्वास्थ्य की मात्रा अत्यन्त उपयोगी है। इनकी गीत-ग़ज़लीय भाव-प्रतीतियां चर्चा के लिए अनुकूल मौसम की इंतजार में है। इन के संग्रहों की समीक्षाएं हुई हैं लेकिन उनका कोई ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। कृषक नवगीत के मेले में एक छोटी सी दुकान है। छोटी जरुर है लेकिन सत्य के प्रति आग्रहशील है। अच्छी प्रतिभाएं राजनीतिक सुविधाओं और शोषण की शिकार हो जाती हैं। कृषक सृजन को प्रचारित करने की कला के प्रति उदासीन है। ऐसे सृजनशील व्यक्तित्वों के लिए एक लम्बा पथ है। साधना की विनम्र पद्धति सिद्धि की ओर प्रेरित करे। गीत में गीतकार अर्थ से खेलता है, शब्द को साधन बनाता है। शब्दों से खेलना अर्थ की उपेक्षा है। कृषक का झुकाव शब्द की ओर है। गीत से अधिक वे ग़ज़लों में मुखर हैं। ग़ज़लों में विविधता है और प्रस्तुति का सरलीकृत रूप है। कृषक अभी बो रहे हैं, अंकुर फूटने, फूलने, फलने में अभी देर है।

इसमें कोई शक नहीं ग़ज़ल आजकल ग़ज़ब ढा रही है। गीत के नाम पर खाने-कमाने वाले गीतकार ग़ज़ल गाकर मंच पर अपने व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित करते हैं। साहित्य की चिन्ता से तो ग़ज़लकार भी मुक्त हैं गीतकार की तरह। हिन्दी गीत-ग़ज़ल को लेकर बहुत बार विचार हुआ है। **ज्ञान प्रकाश विवेक** ने भी हिन्दी गीत, हिन्दी ग़ज़ल और ग़ज़ल को लेकर अपने विवेकपूर्ण विचार दिये हैं। हिन्दी या उर्दू शब्द दिया जाये या न दिया जाये परन्तु हिन्दीपन और उर्दूपन के अस्तित्व पर संकट तो कोई सहन नहीं करेगा और न करना चाहिए। मातृभाषा से ऋणमुक्त होना हमारी भारतीय संस्कृति है। ज्ञान प्रकाश विवेक की ग़ज़लें उर्दू का एक मनोहर आकर्षण लिए हुए हैं क्योंकि वहां हिन्दी आलिंगनबद्ध हैं।

जहां तक ग़ज़लों का प्रश्न है विवेक की ग़ज़लें एक पढ़े-लिखे और ग़ज़ल की समझ रखने वाले पारखी ग़ज़कार की ग़ज़लें हैं। उन्होंने तराश, कटाव, छटाव कर ग़ज़ल कही है। प्यार, मुहब्बत, शराब छोड़ कर उन्होंने ग़ज़ल के द्वारा आत्ममंथन को जागृत किया है। उनकी पहचान मानने वाली है –

"खुद से लड़ने के लिए जिस दिन खड़ा हो जाऊंगा
देखना, उस रोज़ मैं खुद से बड़ा हो जाऊंगा।" (*आंखों में आसमान : पृ. 17*)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खुद से बड़ा होना मनुष्य की प्रगतिशीलता का अहसास है। गीता कहती है – 'उद्धरेदात्मनात्मानम्' अर्थात् आत्मा के द्वारा आत्मा का उत्थान। दर्शन का यह सौन्दर्य विवेक की प्रतिभा का प्रकाश है। ग़ज़ल एक भाव है जो आदमी को उभारता है। आज का आदमी निरर्थक जीवन जीता है। जीवन के महत्त्व का काल नर्त्तन देखिए –

"ज़िन्दगी होती है क्या इसको समझने के लिए
मौत को तूने किसी रोज़ तो मारा होता।" (*पृ. 18*)

मनुष्य की ऊर्जा को ललकारने के लिए यह सच्चाई कह देनी चाहिए कि यमराज एक बार कंठ धरता है –ऐसी रचनाएं समाज को जगाती हैं।

संग्रह की सारी ग़ज़लों को देखते हुए कवि विवेक की ग़ज़ल-प्रस्तुति एक नया रंग देती है। कुछ शेर तो ऐसे हैं कि होंठ फड़फड़ा जाते हैं –

"पूरे दिन में जिसे एक रोटी मिली
अपने बच्चों की खातिर बचा ले गया।" (*पृ. 26*)

हिन्दी का रंग भी अपना है वहां भी विवेक जागरुक हैं –

"समय का है रथ पारदर्शी बड़ा
पता भी न होगा, गुज़र जाएगा।" (*पृ. 27*)

इस तरह विवेक को हिन्दी का शायर कहना चाहिए। उनकी हिन्दी शायरी का नमूना देखिए-

"मेरा मकान शायद है ज़लज़लों का दफ्तर
दीवारें मुतमइन हैं हर वक़्त खुदकुशी को।" (*पृ. 21*)

यही वजह है कि 'आंखों में आसमान' तक पहुंचते हुए वे अधिक सुलझे हुए और यथार्थवादी दृष्टिकोण के तहत शेर कहते हैं। वे मिसरों को बेवजह 'खर्च' नहीं करते बल्कि शेर को शऊर के साथ कहने की कोशिश करते हैं। ग़ज़ल के मिजाज की पकड़ उनके पास है, यही वजह है कि उनके शेर कहने का अंदाजे बयां सर्वथा भिन्न है। ज़बान और लहजे की पड़ताल करें तो वे नासिर काज़मी से प्रभावित लगते हैं, लेकिन कथ्य, अनुभव और भावबोध का जहां तक प्रश्न है ज्ञानप्रकाश जीवन के आसपास बिखरे परिवेश को उठाते हैं। इसलिए उनकी ग़ज़लों में आत्मीयता का स्वर है। ये ग़जलें हमें अपने पास बिठाती हैं और हमारी चेतना पर अनुभूति का स्पर्श छोड़ जाती हैं।

ज्ञानप्रकाश की ग़ज़लों की सघन आत्मीयता हमें उनकी शब्दावली से भी हासिल होती है - बिटिया, बच्चे, स्कूल, तितलियां, पिता, मां, जुगनू, धूप, हवा, बहन, तपस्वी, पूजा, घर जैसे शब्द हमारे अपने शब्द लगते हैं बच्चों पर उन्होंने बहुत सारे शेर कहे हैं –

"बिटिया ने एक जुगनु पकड़ कर कहा मुझे
पापा, हमारे हाथ में इक माहताब है।" (*पृ. 63*)

इस शेर में छोटी-सी बच्ची के पास भी संभावना है जो एक जुगनु है। लेकिन वह संभावना महातब जैसा आकार भी पा सकती है। ज्ञान प्रकाश कुंठाओं के नहीं संभावनाओं के कवि/

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ज़लकार हैं। जुगनु का बिंब उन्होंने एक अन्य शेर में जिस प्रकार प्रयोग किया है, वह अद्‌भुत है। यहां जुगनु संभावना नहीं, संवेदना के रूप में प्रस्तुत है (*संडे मेल : 10 जून 1990*)। प्रश्न शब्दों के इस्तेमाल का नहीं है, प्रश्न है अहसास का। यदि हिन्दी-उर्दू का अहसास होता है तो उससे भयभीत नहीं होना चाहिए अपितु एक-दूसरे की भाषा को समुन्नत देख कर उल्लसित होना चाहिए। अपनी अस्मिता की सुरक्षा आदर्श की दृष्टि से हमारा कर्त्तव्य है, हम सभी का कर्त्तव्य है। भाषा को विवाद नहीं, विवेक का माध्यम बनाना होगा।

ज्ञान प्रकाश विवेक की ग़ज़लों में शिल्पगत खामियां बहुत कम हैं। एक तरह की प्रौढ़ता है। ऐसा नहीं कि सभी ग़ज़लें बेहतरीन हैं। कुछ अशआर महज़ कह भर दिये गये हैं, बस उसमें अनुभव की गहराई न आ पाने से वे दो मिसरों का जोड़ प्रतीत होते हैं। कुछ ग़ज़लों का स्वर जनवादी होते हुए भी उनमें एकाध शेर ऐसा आ गया है जो ग़ज़ल के स्वर और उसके तेवर को हिला-सा देता है। मसलन एक ग़ज़ल के चार शेर अलग प्रवृति के हैं लेकिन आखिरी शेर रुमानी है –

"दस्तके दर पे बहुत देर तलक दी उसने/ काश, इक बार मेरा नाम पुकारा होता।"

(*आंखों में आसमान : पृ. 18*)

'धूप के हस्ताक्षर' में जो चौंकाने की हद तक दोहराव मिलता था 'आंखों में आसमान' में वह बहुत कम है, फिर भी ज्ञान प्रकाश विवेक पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाये (*संडे मेल : 10 जून 1990*)।

ज्ञान प्रकाश विवेक ख्याति प्राप्त ग़ज़ल-लेखक हैं। उनसे ग़ज़ल के क्षेत्र में आशाएं और सम्भावनाएं हैं। देश की प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में ज्ञान प्रकाश विवेक की ग़ज़लें वैशिष्ट्य लेकर प्रकाशित होती रही हैं। इसमें सभी प्रकार की ग़ज़लें हैं – प्रेम, विद्रोह, मनुष्यता, राजनीति, विकृत समाज, असंगतियों से व्याप्त जीवन और संघर्षजन्य यातनाएं – जो भी आज सांसों से जुड़ा है उस पर कवि की तीखी नज़र हैं। विवेक सावधान लेखक हैं, अतः उनकी तराशगी में एक तरह की नफ़ासत है। सांचे में ढले से शेर अपनी जगह अंगूठी में नग हैं।

'आराधना की अग्नि' करने वाले **शिव ओम् अम्बर** की ग़ज़लें इधर रसिक पाठकों को खींच रही हैं। 'बांचों हूं संक्षिप्त बहुत/ सोंचो बहुत विशद हूं मैं' उनके ही एक शेर ने उनकी ग़ज़लों के शेरों के विषय में बहुत कुछ कह दिया है। सामाजिक, राजनीतिक क्रूरता के हमलावर रुख को साधती इनकी ग़ज़लें व्यक्ति-मन की गांठों को खोलने का उपक्रम है। चिंतन की प्रधानता ने हृदय की तरलता को दबा लिया है। यही कारण है कि इनकी ग़ज़लों का हर शेर एक सूक्ति प्रतीत होता है –

"दोस्तों से शिकायतें होंगी/ दुश्मनों से गिला नहीं होता।"
"फितरतन गलतियां करेगा वो/ आदमी देवता नहीं होता।"

(*हिन्दी हिन्दुस्तान : दिनांक 25-9-93*)

अपनी एक ग़ज़ल में इन्होंने 'भारतीय मां' को साकार किया है। एक-एक शेर साधारणीकरण के अग्नि-ताप से गुज़र कर खरा सोना हो गया है। कोई शेर मां के प्रति श्रद्धा-सुमन-सा है तो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई उसके दुःख, दर्द, त्याग की कहानी कहता है –

"स्नेह की संहिता रही है मां/ भागवत की कथा रही है मां।
इक मुझे चैन से सुलाने को/ मुद्दतों रतजगा रही है मां।
दाह खुद को प्रकाश जगती को/ वर्तिका की शिखा रही है मां।
दृष्टि में ले अनन्त आद्राएं/ उम्र भर मृगशिरा रही है मां।"

(हिन्दी हिन्दुस्तान दिनांक : 2-9-90)

'आराधना अग्नि की' इनका पहला ग़ज़ल संग्रह है। बहरें छोटी हैं, शब्द-गठन कसा हुआ। हांलाकि इन्होंने ग़ज़लें कम कहीं हैं लेकिन जो भी कही हैं वे दर्द से भीगी हुई और वैचारिक चिन्तन से गठी हुई हैं।

श्रवण राही के गीत-ग़ज़ल गुदगुदी पैदा कर कोंचन देते हैं। उनकी बड़ी बहरों की ग़ज़लों में भी कसावट है। समसामयिक किरचों की चटकन सुर्ख परिवेश रंग लेकर खिलती और उदास होती हैं। इस उदास खिलखिलाहट में व्यंग्य खारा और चूड़ीदार बन कर मरोड़ देता है। पौराणिक प्रतीकों ने ग़ज़लों को गहरा किया है।

अन्याय का प्रतिकार, वैषम्य के सामने थरथराती अस्मिता बिना मोल के बिक जाती है, क्योंकि न्यायप्रणाली में समय का न्यायाधीश कछुआ चाल चल कर बहुत बड़ा वैक्यूम पैदा कर देता है। समय-नियति कों झेलती गतिशील मानवीयता अनचाही स्थितियों की बैसाखी पर रेंगने को विवश है। वैवश्य-बोध की नोंक नुकीली व्यंग्य प्रतीतियां सीधी-सादी भाषा में जुबान बन कर वक़्त की आवाज़ बन जाती है। महसूस कीजिए इस कोंचन को –

'भगवान बन गए वो प्रहलाद के सहारे'
'तारीख फैसले की फिर बढ़ गई है आगे'
'हर सर को छत मिलेगी इक्कीसवीं सदी में
चर्चा थी कल कुएं पर उनकी सहेलियों में'
'बिन पंख हम क्षितिज तक उड़ते हैं, उड़ रहे हैं
कुछ लोग रेंगते हैं इमदाद के सहारे।'

कई शेर मन की दरारों को पाटतें हैं –

"शून्य है संवेदनाओं से हृदय निश्चित वही
जो कभी होता पराई पीर से आहत नहीं।" *(विजन टुडे : अप्रैल 1992)*

इनकी ग़ज़लों में पांच या छः शेर होते हैं। इनका स्वर सधा हुआ और गले में मिठास है। गले की स्वर-मिठास गीत ग़ज़लों को आसानी से दूसरे तक सम्प्रेषित कर देती हैं। सुनने और पढ़ने दोनों दृष्टियों से श्रवण राही की कही ग़ज़लें और रचित गीतों में खुरदरी तरलता है। फिलहाल भविष्य की तरफ नज़र की जा सकती है। साधना के प्रति ईमानदारी और कहन में नेकी बरकरार रही तो संभावनाओं का एक द्वार श्रवण भी है।

'बाहर धूप खड़ी है' **विज्ञान व्रत** का पहला ग़ज़ल संग्रह है। महानगर के बाशिंदे होने के बावजूद जब हम महानगरीय संत्रास और उसकी भयावह कटान को नहीं सह पाते तब महानगर के मकान,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फ्लैट में हम उस 'घर' की तलाश करते हैं जिसमें एक आंगन और तुलसी चौरा हो। विज्ञान व्रत की ग़ज़लों में इसी 'घर' की तलाश है। 'घर' ही उनका कथ्य और संवेदना है। इनकी ग़ज़लें इसी तलाश में लगती हैं। चौवन ग़ज़लों में अट्ठाईस ग़ज़लों में 'घर' की ही चर्चा है। एक छोटे से घर में दुनिया भर की वस्तुएं संग्रहीत हैं लेकिन हम घर खो चुके हैं। पापा दफ्तर (*बाहर धूप खड़ी है : पृ. 7*) का कार्य, समस्याएं घर लाने को विवश हैं लेकिन बच्चों को 'घर' चाहिए। उन्हें सूरज की रोशनी, धूप चाहिए लेकिन मजबूरी की भी बेबसी देखिए, भीतर की घुटन-कुण्ठाओं के कारण 'धूप बाहर खड़ी है' (*पृ. 11*) और 'सूरज की रोशनी' अंधे रोशनदानों से टकरा रही है (*पृ. 13*)। महानगरीय दलदल को जीता एअर कंडीशन्ड एवं कृत्रिम कूलर संस्कृति को आत्मीय अंक में समेटता मनुष्य रिश्तों को कांवर की तरह झूलता देखने को विवश है। बेबसी की ऐसी कितनी चटकने हैं जो मनुष्य की देह और आत्मा के रोम-प्रतिरोम को दरारती हृदय को धकियाती अतिबौद्धिकता के मस्तिष्क आसन पर बैठ कर अहंग्रस्त हो जाती हैं लेकिन विज्ञान की ग़ज़लें इन सूक्ष्मवर्ती लय पर्तों को पूरी तरह नहीं उघाड़ पाई। इनकी ग़ज़लें-संवेदना गहराई में जाकर तल को नहीं मथ पाती। छोटी बहर में कही गई ग़जलों में शिल्पगत प्रौढ़ता है लेकिन उनकी अधिकांश ग़ज़लों का मिजाज ग़ज़लीय नहीं है। इसीलिए वे अन्दर से मुतास्सिर नहीं कर पाती।

यद्यपि पौराणिक प्रतीक (*पृ. 9*) मुहावरेदार भाषा में ग़ज़लगो ने हाथ-पैर मारे हैं फिर भी वह ग़ज़ल के पर्यावरण तक पाठक को नहीं खींच पाते जिससे वह बंध कर उसका हो जाए। विज्ञान व्रत अभी संघर्ष के पहले पड़ाव पर है। इनके प्रयास और ईमानदारी में कमी नहीं है। लेकिन अभी अनुभव-बिम्बों की तराश बाकी है। ठीक पथ पर गति बनाये रहें तो एक दिन मंजिल भी पाएंगे।

केवल मंच द्वारा स्वयं को गीत कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के लालच में जो लोग इधर जाने गए उनमें **माधव मधुकर** का नाम भी शामिल है। गीत की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय कार्य इन का नहीं मिलता। भाव, भाषा और छन्द की दृष्टि से साधारण हैं, मंच प्रस्तुति में कलाकार हैं। इसी प्रकार संयोजक बनाम गीतकार माधव मधुकर के संग्रह भी प्रकाशित हैं लेकिन वे चर्चा केन्द्र के इधर-उधर भी चर्चित नहीं हो पाए। इन्हें किसी सुधी समीक्षक के स्थापित निर्णय की प्रतीक्षा है।

'आग का राग' संग्रह में कहने को एक सौ दस ग़ज़लें हैं किन्तु उंगली रखने लायक ग़ज़लें गिनती की हैं। ग़ज़लों में विरोधाभास है। जैसे एक ही ग़ज़ल के दो शेरों की एक-एक पंक्ति देखिए – 'जो सहारा दे सके उससे सहारा मांगिए' और दूसरी 'आप खुद उठिए किसी से क्यों सहारा मांगिए।' शकुनि जैसे पौराणिक प्रतीक भी इसी विरोधाभास के कारण अप्रभावी हैं। सब जानते हैं शकुनि को न कभी प्रतिष्ठा मिली और न मिलेगी किन्तु ग़ज़लगो की नजर में शकुनि आज की आवश्यकता है। इसीलिए वह कहता है कि 'साथ में आप शकुनि जैसा जुआरी रखिए'। कुंअर बेचैन की तरह माधव मधुकर ने भी ग़ज़ल के स्वरूप और सम्भावनाओं को लेकर पुस्तक के अन्त में एक निबन्ध लिखा है जिसमें उन्हीं की तरह ग़ज़लों के नीचे हिन्दी छंद का नाम और उसका सूत्र, फिर उर्दू छन्द का नाम और उसका सूत्र दिया गया है। शास्त्रीय विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि कवि शायर ने ग़ज़ल की अन्तर्लय को पकड़ लिया है। इनमें गरजन है, बरसन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। शैल्पिक गठाव और उसके अनुरूप ग़ज़ल का रचाव-पकाव अलग-अलग चीज़ें हैं। कम के कम माधव मधुकर की सोच और ग़ज़लें उनके कहे के अनुरूप नहीं हैं।

'ज़मीन से उठती आवाज' **बल्ली सिंह चीमा** का ग़ज़ल-संग्रह है। इक्कीसवीं शताब्दी के अलावा मानव को आज कुछ नहीं सूझता। नगरीकरण और बौद्धिक आचार संहिता के मकड़जाल में कराहता समाज आज बाईसवीं सदी की कल्पना और चिंता में खोया है। संवेदनाएं कम्प्यूटर हो गई हैं और भाव पिरामिड। एक कुलबुलाता दंशन है जिसका विष पीकर मानव विषकन्या की तरह उसका अभ्यस्त होता जा रहा है। वस्तुगत बिम्बों के ज़रिये ग़ज़लगो अपनी परिवेश-व्यथा को ज्यादा असरदार तरीके से कहता है –

"शहर तो खामोश, बराबर बोल रही सड़कें/ भारी बूटों के नीचे दम तोड़ रही सड़कें।"

महानगरों में रहते लोग विकास की बुलन्दियों को छू रहे हैं और आगे छूने के सपने देख रहे हैं किन्तु ग़ज़लकार व्यथित है क्योंकि गांव में आज भी 'होरी' लुट रहा है, 'धनिया' उदास है और 'गोबर' बेबस छटपटा रहा है। 'ले मशालें चल पड़े हैं लोग मेरे गांव के' ग़ज़ल इधर काफी लोकप्रिय हुई है। छोटी बहरों ने भावों को पूरी गंभीरता से संभाला है। ग़ज़लों और कहन में कशिश है, अभी शुरुआत है, रास्ता बहुत लम्बा है। साधना के क्षणों का महत्त्व समझ लिया तो सूत्र नहीं फिसलेंगे।

'रात गए' और 'धूप तितली फूल' नामक ग़ज़ल-संग्रह रचने वाले **प्रियदर्शी ठाकुर 'ख्याल'** की ग़ज़लों का मूल स्वर प्रेम और रोमान है। रोमानी इस अर्थ में कि उनकी संवेदना की पकड़ में आते ही गैर रोमानी चीजें भी रोमानी हो जाती हैं लेकिन बार-बार उसी कथ्य को दोहराने की प्रवृत्ति ने इनकी ग़ज़लों को एकरस कर दिया है। दोहराव क्या एक ही कथ्य को पुनः पुनः कहने और तिहराव का भी अतिक्रमण करने के कारण इनकी ग़ज़लीय प्रतीतियां सीमित परिधि में चक्कर लगाती रहती हैं। इसी वजह से इनमें गत्यात्मकता कम ठहराव ज़्यादा है।

'अब होगी बरसात' में गीत कम ग़ज़लें ज्यादा हैं। **नरेन्द्र कुमार** के इस गीत ग़ज़लीय परिवेश में आम आदमी की अभावजन्य प्रतीतियां और उसके खण्डित स्वप्न-संघर्ष के ताप-तप्त वृत्त हैं। इनकी रचनाओं का एकमात्र गुण लोकभाषा की सुगंध है अन्यथा लय टूटी और ताल खण्डित है।

इनके अतिरिक्त ग़ज़ल पट्ट पर ये नाम भी अंकित हैं। **ऐहतराम इस्लाम, श्याम प्रकाश अग्रवाल, सलीम खां फरीद, सत्येन्द्र कुमार रघुवंशी, हरजीत सिंह, शमीम फरहत, सलीम खां फरीद, देवेन्द्र मांझी आदि गीत-शायर खूबसूरत ग़ज़लें कह रहे हैं।**

यह सत्य है कि इस जनगणना में अनेक ऐसे हैं जो पाठक के लिए सर्वथा अपरिचित हैं। फिर भी हिन्दी सेवियों की तरह गीत-ग़ज़ल सेवियों की सूची भी असंख्य है परन्तु यह दावा नहीं किया जा सकता कि इस गीत-प्रसंग में सभी की संगति उपलब्ध हो गई है। इसके पीछे अनेक कारण हो सकते हैं – समय पर गीतों की अनुपलब्धि, जानकारी का अभाव, स्वयम् गीतकारों का असहयोग आदि आदि। अतः जो सूची दी जा रही है वह सर्वांगतः पूर्ण हो ऐसा नहीं है। हो सकता है आज जो गीत/ नवगीत ग़ज़ल की रचना में संलग्न हैं कल उन के संग्रह प्रकाशित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों और चर्चित हों। अनेक ऐसे भी गीत कवि हैं जो कभी बहुत प्रसिद्ध रहे लेकिन आज उन्हें कोई नहीं जानता। उनकी प्रतिभा में रचना-नैरन्तर्य नहीं रहा। कुछ ऐसे भी हैं जिनके संग्रह प्रकाशित भी हुए तो उनको उल्लेखनीयता नहीं मिली। प्रयत्न तो किया है कि गुमनामी के अंधेरे में खोये ऐसे व्यक्तित्वों को उजागर किया जाए फिर भी बहुत से ऐसे रह गए होंगे जिन पर आने वाला भविष्य प्रकाश डालेगा। जैसा कि बार बार कहा गया है कि यह गीत यात्रा है इसमें विश्रान्ति भी हैं और पड़ाव भी।

इत्यलम् – ...अथ

गीत की यात्रा मानव-हृदय की धड़कन से जन्म ले कर वेद, उपनिषद्, पुराण, लौकिक संस्कृत साहित्य, जैन, बौद्ध आदि के मधु कुंज से होती हुई अनेक विपथ, सुपथ, पाषाण खंड, सुगन्ध और निर्गन्ध फूलों, कोमल-कठोर कंटकों और जीवन की द्रुतविलम्बित सांसों का स्पर्श करते हुए आज के आपाधापी और भाग दौड़ीय वातावरण तक हुई है। इस यात्रा में न जाने कितना छूटा है–कुछ नहीं कहा जा सकता। हां जुड़ा बहुत है। इस जोड़ने की प्रक्रिया को इत्यलम् नहीं कहा जा सकता। जीवन अनन्त है और अनन्त है इस की भावना-सृष्टि। मनुष्य तो अपनी सामर्थ्य से प्रयत्न करता है और 'यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः' का अर्थ इस रूप में लेना चाहिए कि यत्न करने पर भी पूरी सिद्धि नहीं मिलती तो आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह दोष को परखे। अनुसंधानपरक यह दोष-दृष्टि ग्रन्थ कर्म की प्राण वाहिका है। दोष दृष्टि की यह स्वाभाविकता निन्दनीय नहीं है। इसीलिए हमारे षड्दर्शन चिन्तन की शैली में कभी निन्दनीय नहीं रहे।

गीत का मधुवन विस्तृत और व्यापक है। नवगीत की क्यारियों में और अनेक विविधवर्णी पुष्प खिले हैं। पुष्प का खिलना तो उसका स्वभाव है परन्तु वह कहां तक उपयोग में आया और दर्शक-दृष्टि को कहां तक लुभा कर उसकी घ्राण-क्रोड़ में खेल सका – इस पर उस का अधिकार .नहीं। लेखक का यह प्रयत्न रहा है कि कोई पुष्प अनदिखा और अनसूंघा न रह जाय, तृण से लेकर तरू तक की सुख दुःखमयी गीत-श्वासों को यथासंभव गिन लिया जाय। इस प्रयत्न में यथाशक्ति सावधानी बरती गयी है फिर भी कोई लघु तरू किसी वट वृक्ष की पत्र-छाया में न पनप सका या दृष्टि गोचर न हो सका हो तो यह भी संभव है। कभी कभी ऐसा भी होता है कि कोई विशाल वृक्ष अपनी विशालता से प्रभावित करता रहता है परन्तु उस पर फूल-फल का अभाव रहता है और एक छोटा सा पौधा अपनी मादक गंध वाले कृशकाय पुष्प से पथ पर चलते पथिक के प्राणों को अपनी ओर खींच लेता है। ऐसे अनेक गीतकार और नवगीतकार हैं जिनके संग्रह संख्या में अत्यधिक हैं और संग्रहों के कारण जाने भी गए परन्तु ऐसे भी रचनाकार हैं जिनके संग्रह संख्या में अधिक नहीं हैं या पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित रचनाओं के अतिरिक्त उनका संग्रह प्रकाश में नहीं आया। कुछ संग्रह ऐसे भी हैं जो भाव और शिल्प की दृष्टि से अत्यन्त गहन और उल्लेखनीय होते हुए भी चर्चित नहीं हो सके। किसी चर्चनीय के अचर्चित रह जाने के पीछे अनेक व्यक्तिगत और समाजगत कारण हो सकते हैं। समय परिवर्त्तन के साथ सभी प्रक्रियाओं, प्रभावों और स्वभावों में बदलाव आ जाता है। अब 'न रत्न मन्विष्यति, मृग्यते हि तत्' (रत्न किसी को नहीं खोजता वह तो खोजा जाता है) वाला युग नहीं है। अब रत्न को अपना मूल्य बताना पड़ता है, विज्ञापित होना पड़ता है। किसी ने निराला की कविता पर क्लिष्टता का आरोप लगाया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो उन्होंने कहा था "रचनाकार एक ही कार्य कर सकता है, वह रचना करता है, समझाना उस का काम नहीं है" परन्तु आज इस रचनाकार को दो काम करने पड़ते हैं, पहले वह रचना करता है फिर उसे विज्ञापित करने का कार्यक्रम भी बनाता है। जो इस विज्ञापन कला में जितना कुशल है वह उतना ही चर्चा में आ जाता है। प्रयत्न किया गया है कि जो ऐसे रचनाकार हैं जो अपने संकोची स्वभाव और आत्मविज्ञान की कला में अनिपुण होने के कारण चर्चा में नहीं आ सके उनके रचनागत व्यक्तित्व को उभारा जाय। इसके साथ ही एक बात और भी ध्यातव्य है कि जो रचनाकार महानगरों में रहे उन्हें स्वयं को विज्ञापित करने का अवसर और मंच भी सुलभ हो गए परन्तु जो उपनगर और गांवों में रहे उन्हें बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा है। इस दृष्टि से यह प्रयत्न रहा है कि उनके रचना वैभव का सही आकलन हो सके। रचना तो तप है, प्रायः महानगरों के रचनाकार रचना के क्षेत्र में फैशनपरस्त पाये जाते हैं, सुविधाओं में रह कर असुविधा को चित्रित करते हैं। अनुभूति की आंच में तपे साधक कम मिलते हैं जो मिलते हैं वे विज्ञापन-सापेक्ष नहीं रह पाते। विज्ञापन की सुविधा भी प्रत्येक को समान रूप से नहीं मिलती। पत्र-पत्रिकाएं भी निष्पक्ष नहीं है। सम्बन्धों और स्वार्थों के आधार पर रचनाएं अधिक प्रकाशित होती हैं। यही कारण है कि प्रायः प्रकाशित रचनाओं में वह साहित्यिक तत्व नहीं मिलता जो उसे उल्लेखनीयता की श्रेणी में ला सके। कभी कभी उन लघु- पत्रिकाओं में अत्यन्त विचार-प्रौढ़ रचनाएं मिल जाती हैं जिन पत्रिकाओं को उपेक्षित कर दिया जाता है, जिन की प्रसार संख्या कम हैं, अनियतकालीन हैं, जिन्हें पूर्ण रूप से क्षेत्रीय प्रसिद्धि भी नहीं मिल पाती। अनेक अभावों के कारण साहित्यिक रचना पोषिणी पत्रिकाएं असमय दम तोड़ बैठती हैं।

इस प्रयत्न-प्रक्रिया के बीच लेखक को यह भी अनुभव हुआ कि आज हिन्दी समालोचना का क्षेत्र भी संकीर्ण हो गया है। निष्पक्ष और गहन समालोचना देखने के लिए श्रम करना पड़ता है। आज समालोचना भी गुटबन्दी के घेरे में व्यस्त है। गुटबंदी भी राजनीति से शोषित है। साम्यवादी, वामपंथी, दक्षिणपंथी और न जाने कितने कटघरे हैं जहां समालोचना अपना बयान देती दिखाई पड़ती है। यदि निष्पक्ष समालोचना का दिग्दर्शन मिलता तो गीत का यह स्वरूप न होता। समालोचना के अभाव में ही गीतकार निरंकुश हुआ और कुछ तथाकथित गीतकारों को यह अवसर सुलभ हो गया कि उन्होंने गीत के आदर्श को भूल कर उसे विकृत कर समाज की भ्रष्ट रूचि की थाली में परोस दिया। चाहे नेतृत्व की लालसा से ही सही, नवगीतकारों ने हाथ-पांव पटके, शोर मचाया तो कुछ लोगों का ध्यान उस ओर आकर्षित हुआ। पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, नवगीत संकलन और कुछ आलोचनात्मक दृष्टि भी निखरी। यहां यह कहना असंगत न होगा कि नवगीत के क्षेत्र में भी शिविर निर्मित होने लगे और 'अहो रूपम् अहो ध्वनि' के बांके बिहारी अपने लोगों को चर्चित करने में साभिप्राय दिखाई दिए। गीतकार ने यह भी नहीं किया। यही कारण है कि छायावादोत्तर गीत रचना पर समालोचकों की दृष्टि नहीं गई, वह नयी कविता के आधुनिकीकृत फ़ैशन पर मुग्ध हो गया। गीत के सहज व्यापारी ने इस उपेक्षा के दूरगामी परिणामों पर विचार नहीं किया। आलोचक ने इस उपेक्षा को गंभीरता से लेने का प्रयत्न किया। प्रयत्न के पीछे निष्पक्ष दृष्टि अवश्य रही है इसीलिए जो भी कहा गया है उसे प्रमाणित करने का बल भी साथ जुटाया है। ऐसा भी देखा गया कि सम्बन्धों के आधार पर शोध प्रबंध लिखे गए। जिनमें

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राकृतिक रस नहीं था उनमें केमिकल से रसोत्पत्ति की गई। अनेक ऐसे तथाकथित समालोचक हैं जो नयी कविता की कैक्टसी धूल को भी सिर माथे लगाते रहे और गीत के फूल की सुगंध पर नाक भौं सिकोड़ते रहे। आलोचना के नाम पर न जाने क्या क्या मानदंड स्थापित करते रहे और गीत संग्रह की भूमिका तक लिखने में भी संकुचित रहे। यही कारण है कि गीत पर समालोचनात्मक ग्रन्थों का अभाव पाया जाता है।

गीत का इतिहास मात्र लिखना लेखक का उद्देश्य नहीं है। जहां तक नवगीत के ऐतिहासिक महत्त्व का प्रश्न है आलोचक ने लगभग बीस वर्ष पूर्व 'नवगीत : इतिहास और उपलब्धि' नामक ग्रन्थ में उस ओर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया था। इन बीस वर्षों में समय के साथ गीत और नवगीत दोनों में परिवर्त्तन आया है। कहीं कहीं चिंगारी की तरह नवगीत अपनी चमक दिखा रहा है। दुर्भाग्य यह है कि जैसे हिंसक प्राणी के मुंह मनुष्य का रक्त लग जाये तो वह उसी खोज में लगा रहता है। उसी प्रकार राजनीति की विषम संगति ने नेतृत्व का मोह डाल दिया है। कोई उत्तरांचल, कोई पूर्वांचल, कोई दक्षिणांचल के नवगीतकार लेकर अपने को चौधरी सिद्ध करने में लगे हैं। वस्तुतः इतिहास की तरह नाम गणना उद्देश्य न होकर नवगीत की भूमिका और उस के लिए विकासमान मंच देना या तैयार करना सद्‌भिप्राय है। यह मान कर चलना चाहिए कि सारी उथल-पुथल, वैचारिक वैभिन्न्य, रचनागत विद्रोह निर्माण की ललक छुपाये विध्वंस का भाव किसी महान् रचना की पृष्ठभूमि है। यदि आज अपने नव व्यक्तित्व के निर्माण में रत नवगीत कोलाहल भी करता है तो उसमें जहां स्वारस्य है उसे ग्रहण करना चाहिए। कोलाहल में भी कहीं तारतम्य होता है। जो गीतकार मूलतः गीत के आराधक रहे हैं और आज भी वे पूर्वस्वीकृत गीत के प्रति निष्ठावान हैं, वे उपेक्षणीय नहीं हैं। देखा यह जाता है कि युवा नवगीतकार उन गीतकारों के प्रति समादर भाव रखते हुए भी उन्हें नवगीत की परिधि में रखने से संकोच करते हैं। ऐसे गीतकारों को शिविर विहीन या मुक्त कह कर रेखांकित करने में सुविधा प्रतीत हुई। पूर्व प्रकाशित ग्रन्थ में कुछ गीतकारों को नवगीत के मंच पर ही समादृत किया गया था। दृष्टि यही थी कि वे गीत ही नवगीत के अभिभावक थे। इसलिए नवगीत के शिल्पगत सौन्दर्य और परिवर्धमान प्रवृत्तियों को संकेतित किया गया था।

नवगीत के उद्‌भव और विकास के इतिहास को आलोचनात्मक दृष्टि से परख लिया था परन्तु आज नवगीत की स्थिति यह है कि उसे साहित्य में प्रतिष्ठित करने की अनिवार्यता है। सत्य और सीधे की उपेक्षा कब तक होती रहेगी? भारत की वीणा-वेणु फूल और धूल के अंगुली और होठों पर सदा समभाव से बजती रही है। एक ने हाथ की अंगुलियों को करनी का स्वर दिया है तो दूसरे ने कथनी का। दोनों ही जीवन को सुख देते हैं। दोनों ही पूर्णता की ओर उद्दिष्ट करते हैं।

नवगीत की गीतीय ऐतिहासिकता के संदर्भ में हम द्विवेदी युग से पहले जिस गीत को देख चुके हैं उसकी श्वास गंध व्यापक प्रमाणित और स्फुटित है। आलोचक ने द्विवेदी युग से नवगीत के अप्रकाशित और अपरिभाषित जिस रूप को देखा उसकी प्रक्रिया पूर्व उद्धृत की जा चुकी है। अतः हम द्विवेदी युग तक की गतिशील गीत-यात्रा के विषय में सप्रमाण अपनी विचार मीमांसा को शब्द दे चुके हैं। द्विवेदी युग की परिधि लांघ कर घूमते गीतीय सूर्यव्रत्त की आलोक लीकों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में छायावाद पूरे आदमकद रूप में आकर खड़ा हो जाता है। नवगीत की इस सांस्कारिक इतिहास गति-यात्रा के पूरे रंग-वर्णों ने जो सुर्ख पर्व-उत्सव मनाए उनके सूक्ति संकेत देकर ही नवगीत की परिक्रमा में युग के हस्ताक्षरों को प्रमाणित किया जा सकता है। छायावाद वस्तुतः खड़ी बोली को अपनी मधुर-तरल तत्समता, लाक्षणिकता और व्यंजकता से पखार कर उसे गीतोपम और गीत-सहज बना चुका था। द्विवेदी-युग की भारी-भरकम गद्यात्मक रुक्षता और अभिधापूर्ण उपदेशात्मक सपाटता की तुलना में 'छाया' काव्य की भाषिक मधुरता, तरलता, सजलता, लयात्मकता और चित्रोपम अभिव्यञ्जन अधिक हृदयस्पर्शी, भाव-व्यञ्जक तथा इन्द्रिय-ग्राह्य प्रतीत हुए। व्यक्ति के व्यक्तित्व नारी-पुरुष के बीच भावित नये मूल्य-बोध, लोक-स्पर्श, राष्ट्रीयता, अतीत-इतिहास के प्रति नयी ग्रहण-दृष्टि - आदि नव्य-परिवेश की वकालत कर रहे थे। जीवन में वेदना, दुःख और परोत्सर्ग के नव-मूल्यांकन, सौन्दर्य और करूणा के गंगा-जमुनी संगम, प्रकृति के बीच आत्म-प्रसार मूलक शान्ति की अनुभूति आदि पक्षों ने कमोबेश सभी रचनाकारों के अन्तःकरण को आकृष्ट किया। छन्द शास्त्र के शास्त्रीय विधि-निषेधों को कठोर-बन्धनों से अलग भाषा भाव की यह नूतन लयात्मकता, स्वकीय निर्धारण के अनुशासन से उपजी नयी छान्दसिकता ने गीत-विधा में प्रवेश ही नहीं किया अपितु उसमें भावों विचारों की लय-गत अस्मिता भी अधिक स्वानुकूल और स्वभाव-सह्य प्रतीत हुई। स्फुट छन्दों में जहां अलग-अलग ऐकान्तिक एकरसता और बौद्धिक व्यायाम का मनोभार अखरता-सा प्रतीत होता था वहां गीतों के काव्य-विधान में मुखड़ा (टेक) और 'अन्तरा' के पदों की द्विविधता होने के कारण एक स्वरता का भय कम होने लगा। गीतों के पद-विधानों में यह स्वतन्त्रता अनुभव हुई कि उसे अनुभूतियों की गुनगुनाहट की गति-यति तक लहराने का अवसर प्राप्त हो जाता था। सौन्दर्य, मधुरता, तरलता, सुकुमारता एवं करुण सजलता के प्रति छायावादोत्तर कवियों में एक सुखद आकर्षण विद्यमान था। बुद्धि की तार्किक प्रखरता की तुलना में उत्तर छायावादियों को स्वानुभूतियों की सहृदय बिम्बात्मकता अधिक सार्थक, मानवीय और आत्मीय प्रतीत हुई। छायावाद से मिली इस विरासत को, रहस्य-दर्शन और सुदूर आदर्शवाद की गहन छायाओं से बचा कर अधिक मानवीय एवं हृदय-ग्राह्य बनाने का संकल्प जाने-अनजाने उत्तर-पक्ष के गीतकारों के साहित्यिक मिज़ाज़ के अनुकूल जान पड़ा। इसी भूमि पर उत्तर छायावादियों ने अपने गीत बीज बिखेरे, बोये। छायावाद में विवाह-बद्ध नारी-प्रेम की परिधियों से आगे बढ़ कर मुक्त और स्वच्छन्द प्रेयसी-प्रेम का निर्भय स्वर भी उठाया गया था लेकिन जीवनमुखी धारा के अधिकांश कवि इस स्थिति को नहीं स्वीकार कर सके और उसे मुक्त प्रेयसी प्रेम-सौन्दर्य से अधिक गृहस्थ पारिवारिक प्रेम-संसक्ति ने अधिक लुभाया। व्यक्ति, परिवार और मानवीय सम्बन्ध-विधानों में प्रेम-प्रीति की प्रधानता में ही जीवनमुखी गीतधारा के गीतकारों ने अधिक सापेक्षता महसूस की। निरपेक्ष मानसी प्रेम इन कवियों को बहुत यथार्थ और सहज-साध्य नहीं लगा जो कर्त्तव्य बोध के अभाव में या तो मनोविलास का रूप ले लेता है या जीवन के यथार्थ संघर्ष जगत से कट कर मन-साध्य एकान्त विरह-प्रेम में आत्म-निर्वासन का पर्याय बन जाता है।

धीरे-धीरे जब प्रगति, प्रयोग और नयी कविता ने गीत-विधा को ही अयथार्थ की कविता कहना प्रारम्भ कर उसे आधुनिकता के परिवेश में साहित्य बहिष्कृत और 'बीत-विधा' (आउट-आफ-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डेट राइटिंग) का लेखन घोषित कर दिया तो जीवनमुखी गीतकारों ने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकारा। गीत का विषय-विस्तार बढ़ा, सामाजिक वस्तुवत्ता, ग्राम्य जीवन-बोध, श्रम-संघर्ष के जीवन-आयाम तथा देश-बोध के भाव भी गीतायन में प्रविष्ट हुए। भाषा के तत्सम बहुल स्तर के साथ लोक-बोधक तद्भव-शब्दों का सौंधा खुरदरापन भी गीत के निकष पर संस्कार पाने लगा। सूक्ष्म लाक्षणिकता और अपेक्षाकृत अमूर्त्त व्यञ्जनपरकता भी कम हुई। व्यंजक चित्रात्मकता के समानान्तर जीवन बिम्बों की प्रधानता ने स्थान ग्रहण किया। कुछ गीतकार नयी कविता के प्रखर आधिपत्य से प्रभावित होकर उसकी ओर गये थे। उनकी भी गीतास्था डिगी और वे भी गीत-विधा की संकीर्णता और धृष्टता (घिसेपन) पर अपनी सहमति की मुद्रा लगाने लगे। 'लघु-मानव', संत्रास-बोध, अस्मिता के संकट, यान्त्रिक भौतिकता, प्राविधिकी की गहनता, 'आम आदमी' के आत्म निर्वासन, संशय, सन्देह, सामंजस्य और सह-अस्तित्व के अभाव में उत्पन्न 'अजनबीपन' व्यवस्था से बर्हिगत हुए एकाकी व्यक्ति की त्रासदी और अमेरिकी यूरोपीय समाज की आत्म-क्षरक अनुभूतियों के बीच जब ये पंक्ति में स्थान न पा सके तो गीत की ओर प्रत्यागमन की नियति के अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग उन्हें आश्रयदायी नहीं प्रतीत हुआ।

सन् 1936 ई. से खड़ी बोली काव्य और विशेष कर छायावादी कवियों-प्रसाद, निराला, पन्त, महादेवी, बच्चन, भगवतीचरण वर्मा आदि की रचनाओं के सम्पर्क में आने पर काव्यात्मक रचनाधर्मिता खड़ी बोली की मुख्यधारा से जुड़ गयी और वे प्रकृति सौन्दर्य तथा मानव-सौन्दर्य को विषय बना कर आत्मानुभूति विषयपरक प्रगीत तथा स्वानुभूतिमूलक गीत रचने लगे। प्रेम और सौन्दर्य को मानव-मूल्य के रूप में ग्रहण कर उन्हें मानव-हृदय की लौकिक विभूति तथा सांस्कृतिक सम्पदा के स्तर पर स्वीकृत करना जीवनमुखी गीत-संसार की सार्थक पदचाप प्रतीतियां हैं। कवियों का हृदय-जगत सौन्दर्य की भाव-सम्पदा को कुबेर की भांति संभालता रहा इसीलिए उनकी अनुभव-दृष्टि में सौन्दर्य के प्रत्येक आयाम की उपादेयता है। इस प्रेम-सौन्दर्य चेतना और उसके अन्तरीण भाव-बोध में गीतकार का मन शरीर से लेकर आत्मा तक संचरण करता रहा। कवि प्रेम और सौन्दर्य को मानव के लिए अमोघ वरदान और मानवीयता के व्यक्तिगत एवं सामूहिक विकास का चरम शिखर मानता है। सौन्दर्य-बोध के इस व्यापक-भाव में वासना और उसका परिष्कृत भोग भी सम्मिलित है। सामाजिक होने के कारण गीतकार के अन्तर्तल ने समय पड़ने पर देश-परिवेश तथा उसके विकास-प्रकाश एवं सुख-संकट को रचनायित किया है। कर्त्तव्य और दायित्व के भाव से जीवनमुखी नवगीतकार उसे एक ऐतिहासिक दाय मान कर ग्रहण करता है। छायावादोत्तर काल इनकी गीत-गुंजना का सुविस्तृत काल रहा है। शैली भाषिक संरचना, शिल्प और सम्प्रेषण के स्तर पर समयानुसार जो भी विकास और अपेक्षिक परिवर्त्तन-परिवर्धन हुआ लेकिन इनका मूल-सौन्दर्य-बोध, एक विराट् कामभाव अथवा कामाध्यात्म (?) की शिला पर ही आधृत रहा है। इस बीच प्रगति, प्रयोग, विदेशी यथार्थवाद, पाश्चात्य सामाजिक दर्शकों के भाव-प्रभाव, नयी कविता की अस्वीकृतियों, गीत को पिछड़ा रोमान और उपयोगातीत मान लेने की घोषणाओं, नग्न यथार्थवाद, नंगी, भूखी-रूष्ट दिगम्बर पीढ़ी या अकविता-अगीत आदि के आन्दोलनों और प्रहारों से नवगीतकारों की गीतास्था कभी भी पराजित नहीं हुई। उन्हें जहां भी जो कुछ मानवीय और मूल्यात्मक लगा, अभिव्यक्ति की जो भी भंगिमाएं और भाषिक चेतना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रभावकर और उपयोगी लगी उन्हें अपनी अस्मिता के अनुरूप जाने-अनजाने इन्होंने अपनानें में कभी कोई निषेध या गुरेज़ नहीं किया। छायावाद की लाक्षणिक मूर्तिमत्ता, भाषिक-वक्रता, प्रभावी प्रतीकात्मकता तथा नादार्थ व्यञ्जकता आदि से लेकर बच्चन की अभिधेय प्रत्यक्षता, भगवतीचरण वर्मा की तरल प्रेमात्मकता तथा नरेन्द्र शर्मा की विदग्ध भावुकता के साथ नयी कविता के अमूर्त्तन, सांस्कृतिक नव बोध और नवगीतों की लोकात्मक मिठास तथा भाषिक सोंधेपन तक इन गीतकारों के गीत-मन को जो भी छू सका, उसे स्वायत्त करने में इन गीतकारों को कोई संकोच या अस्पृश्यता की अनुभूति नहीं हुई क्योंकि प्रत्येक विधा-धारा या आन्दोलन की रचनात्मक ऊर्जा जहां भी उन्हें विशिष्ट लगी उसे कवि ने हिन्दी भारती की रचनात्मक ऊर्जा का रूप माना और उसे जीने की कोशिश की। सच्चा रचनाधर्म जहां भी निरा गृहीत एवं अतिरिक्त अहन्ता से मुक्त होकर नये से नये रूप में अभिव्यक्त हुआ वह कवि के लिए बेशक अक्षरशः अनुकार्य न रहा हो पर कवि के गीतकार ने उसका खुले मन से स्वागत किया। क्रान्तियों के सामयिक उद्घोषों और उर क्रान्तियों के तूर्य-निनादों से गीतकार का स्वात्म-विकास कभी बाधित नहीं लगा। जिस प्रकार एक शिशु वार्धक्य तक मूलतः एक इकाई ही होता है उसी प्रकार वयोगत स्वप्नशीलता, भाव-मयता, भाव-विचार, सामञ्जस्य, व्यक्ति-समष्टि के सामरस्य तथा चेतना के समग्र विकास की सांस्कृतिकता आदि आयाम स्वयं अजाने ही कवि-मानस के अंग बनते गए। इतना निश्चित है कि नवगीतकारों को लोक जीवन और मानवीयता तथा उसके भौतिक परिवेश से कट कर अनन्त अथवा अरूप में निमज्जित होना कभी प्रियतर और सुख कर नहीं लगा। नवगीतकार सत्य के साथ वास्तविक यथार्थ के सहयोग समयोग को मानव-जीवन की प्रत्येक दशा के लिए अनिवार्य मानता है। एकांगिता, एकातिरेक और एकाग्रह को कवि मानवीय चेतना का व्यामोह और सन्तुलित विकिरण मानता है। परिवर्त्तन के लिए परिवर्त्तन या मोड़ के लिए मोड़ अधिकांश गीत-कवियों को कभी भी अन्तर्मान्य नहीं हुए। समूचा मानव-जीवन और उसका कर्म-लोक कवि का रचना संसार है। समग्र मानवीय-मूल्यों का वह प्रहरी और भावोद्‌बोधक है। मानव कविता का केन्द्र और समस्त मानवेतरता मानव-सापेक्ष होकर ही कवि- कर्म का उपादन बनती है। कविता देवता या राक्षस के लिए नहीं, प्रत्युत् मानव के लिए होती है। वह ऐसी मानवीय विभूति है जो मानवेतर का आस्वाद्य बन ही नहीं सकती। जीवनमुखी धारा एवं नवगीतकारों में अनेक गीत कवि ऐसे हैं जिनके लिए कविता में विषय-परिवर्त्तन होता है, स्वभाव-परिवर्त्तन नहीं, जो भी होता है वह विषयान्तरण है, मार्गान्तरण नहीं।

कवि, गीतकार को ऊर्जा, बलिदान, पौरुष सांस्कृतिक गरिमा, वैचारिक नवप्रकाश में भी सौन्दर्य और आन्तर रस प्राप्त होता है।

राजनीति जीवन की समाज-व्यवस्था से सम्बद्ध है। आज वही सारी व्यवस्था का प्रभावक तत्व बन गयी है। कहीं-न-कहीं से वह भी उसमें आवेगी। शुक्लजी ने 'साधनावस्था' और 'साध्यावस्था' का विभेद शायद इसी दृष्टि से किया था कि 'साधन' का सम्बन्ध काव्य के कथ्य से माध्यम रूप से होता है, जहां कविता किसी बहिर्तत्व को उजागर करने का साधन होती है। साध्यावस्था में स्वयं कवि की आत्मोपलब्धि ही काव्य का मूलभूत उद्देश्य होती है। 'गीत विधा' इस दृष्टि से 'साध्यावस्था' के निकट है। काव्य में राजनीति का कथ्य वर्णित नहीं पर उसे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काव्योपदानों के साथ आना चाहिए। राजनीति अर्थनीति जहां तक जीवन को प्रभावित करते हैं वे प्रचार-विज्ञापन बन कर नहीं वरन् जीवन-मूल्यों और मानव-मूल्य बन कर काव्यगत होनी चाहिए। कवि का सरोकार मुख्यतः मानवीय और सांस्कृतिक होता है। उसकी पीड़ा किसी राजनीतिक, आर्थिक व्यवस्था से छन कर उतरायी सांस्कृतिक बोधात्मकता से ही मूलतः और मुख्यतः होती है और होनी चाहिए क्योंकि वह मानव-सन्दर्भ में 'सत्य, शिव और सुन्दर' का सर्वर-प्रहरी और मानवात्मा का शिल्पी ही होता है या होना चाहता है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो आज गीतों पर जो आरोप लगाए गए उनके मूल में बच्चन जी के गीत थे। निराशा, प्रेमोन्माद और वैराग्य जैसी प्रवृत्ति का उदय बच्चन जी के गीतों में हुआ। छायावाद के गौरव-गिरि से उतर कर गीत व्यथा भरे आंसुओं की नदी में आ गिरे। अश्रु धारा में बहने वाला गीत कुछ समय तक आर्द्रता देता रहा परन्तु उसके बाद जो गीतकार आये वे तटस्थ नहीं रहे अपितु जीवन की विसंगति, वैषम्य, कुंठा, संत्रास, अभाव, शोषण और दुर्दलन के दर्द को गाते रहे। मंच पर भी गीत अपना अस्तित्व सिद्ध करता रहा। जिन दिनों बच्चन महुआ से झरे मोती की आब से आक्रान्त थे उस समय जीवन मुखी धारा के गीतकार समाज की विषमता को गा रहे थे। इस प्रकार बच्चन ने जिस गीत को गाया वह छायावाद की ही गुनगुनी छुअन थी इसलिए देश की संघर्षशील स्थिति में या तो श्यामलाल पार्षद जैसे राष्ट्रीय गीतकार थे या हम अनिकेतन जैसे गायक बालकृष्ण शर्मा नवीन। राष्ट्रीयता का सरस और सोद्देश्य गीत-समर्पण बच्चन में नहीं मिलता। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा और जीवनमुखी धारा के गीतकार इस ओर सावधान रहे। स्वतन्त्रता मिलते ही मदोन्मत्त राजनीतिक वातावरण को देख कर इस धारा के कमोबेश सभी गीतकारों ने अपने दायित्व को बखूबी निभाया। महिला गीतकार भी कदम से कदम मिला कर चल रही थी। रचाव-सृजन की प्रवृत्तियां इन रचयित्रियों में ज़्यादा थी। सूत की माला डाल कर बच्चनजी ने भी राष्ट्रीयता का परिचय दिया, परन्तु विकासोन्मुख राष्ट्र का इस प्रकार अनुशासनहीन होना प्रबुद्ध गीतकार को सहन नहीं हो सकता था।

निर्दोष कोई पीढ़ी, कोई समय, कोई स्थिति, कोई भाव नहीं होता। यह अभाव ही प्रगतिभाव को जन्म देता है। व्यक्तिशः कुछ अपवादों को छोड़ कर महिला रचयित्रियों और जीवनमुखी गीतधारा को साहित्यिक स्वीकृति यदि नहीं मिली तो इसके लिए वे स्वयं दोषी हैं। व्यक्तिगत स्तर पर कुछ निर्दोष हो सकते हैं परन्तु आक्षेपित, उपेक्षित और अपरीक्षित गीत के वातावरण में साझेदारी उनकी भी है। इस ओर प्रयत्न ही नहीं हुए। इस साहित्य-सरोवर के अनेक कमल असमय मुरझा गये। अपने उद्देश्य-पथ से विचलित होने पर कोई मार्ग-दर्शक नहीं रहा। गीतकार यदि अपने पवित्र-गीत को अपवित्र करने पर विवश हुए तो कोई संबल नहीं मिला। गीत को आलोचना की ज्योति चाहिए थी परन्तु ज्योति वाला दीप स्वार्थोन्मुखी, सुविधाभोगी, आदर्श रहित मुट्ठियों में बंद हो गया। साहित्य में फैशन आ गया। गीतकार के पास फैशन नहीं था, उसने तो एक ही वर्दी पहनी, अन्य विधा के लोगों ने समयानुसार वर्दी बदली, वे हर एक समय में आगे रहे, और हर व्यवस्था में ढल गए। कैलाश वाजपेयी ने ठीक कहा है "तुम हमें किसी भी व्यवस्था में ढालो/ हम ढल जायेंगे/ क्योंकि हम अव्यवस्थित हैं।" हमें विश्वास है गीत अव्यवस्थित स्थिति में व्यवस्था देने का दायित्व निभायेगा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवन का यथार्थ नूतन अनुभूतियों की अंगड़ाइयां लेकर गीतों में अभिव्यक्त होने के लिए तड़प उठा। समयानुसार अनुभवों का क्षेत्र स्वयं विस्तृत होता चला जाता है, सो होता गया। अन्य कलाओं की तरह गीत भी पेट और शरीर की आवश्यकताओं से जुड़ गया। जीवन के दैनिक अनुभवों को यथार्थ रूप में ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढ़ चली। सतही प्रवृत्तियां साहित्य को रुचिकर नहीं होती। यह भी एक कारण रहा, बच्चनोत्तर जो गीत मंच पर था वह अनमने मन से साहित्य में स्वीकृत होता रहा था। क्योंकि बच्चन ने जहां गीत छोड़ा था वहां भावना का उद्रेक सामान्य मनुष्य की नैसर्गिक निराशा के मधुर संवेदन का स्पर्श पा रहा था। संवेदन सघन होकर अभिव्यक्ति के योग्य नहीं रहता। गीतों को जिन लोगों ने 'बासी' कहा उन्हें इसी सघनता के कारण उनमें बासीपन का अनुभव हुआ। उसका परिणाम यह रहा कि नेपाली और शंभूनाथ सिंह तो साहित्य में कुछ समय तक स्फुलिंग की तरह चमकते रहे, धीरे-धीरे साहित्य से गीत लुप्त हो गया। जनता के गीत-कवि जनता की गोद में जा बैठे। जनता के लिए लिखा गया साहित्य गोद में नहीं बैठता, वह उसके हृदय में बैठता है। तुलसी, सूर ने किसी कवि सम्मेलन के मंच पर नहीं गाया। इस सतही विचार-शैली की निरन्तरता के बीच इस लोपामुद्रा का दर्द झेलते हुए जीवनमुखी गीतधारा के गीतकार जनता के सामने सीधे जीवन के दुःख-दर्द गाते रहे। कुछ गीतकार तो नितान्त ईमानदारी, वफादारी और जिम्मेदारी से गीत रचना करते रहे और गीतों में मौलिक प्रयोग करते रहे परन्तु उपर्युक्त मनोवृत्ति के वातावरण में साहित्य की दृष्टि उनकी ओर नहीं गई। दृष्टि का समस्त सौन्दर्य-बोध नयी कविता के प्रसन्नानन की सुदर्शनता से अभिभूत हो गया। पराधीन मानसिकता विदेशी साहित्य के सामने स्वयं को हीन मानकर वैदेशिक काव्य-अभिव्यक्तियों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दे बैठी। हम विदेशी साहित्य की उपेक्षा नहीं करते किन्तु ईसा-मसीह का सम्मान करने के लिए अपने आराध्य का अपमान भी नहीं करना चाहेगें। नयी कविता, यदि विदेशी साहित्य से प्रभावित न होती तो वह निराला की 'जूही की कली' की तरह विराजती। नयी कविता के जनक तो निराला हैं। निराला अपूर्व प्रतिभाशाली थे इसीलिए इन्होंने गीत को छन्द का शारीरिक-सौन्दर्य-सौष्ठव और गठन दिया, साथ ही उसे संगीत की मधुर ताल-लयों में बांध दिया। 'जूही की कली', 'इलाहाबाद के पथ पर', 'विधवा' जैसी कविताएं नयी कविताएं हैं। नयी कविता का जन्म जिस उद्देश्य से और स्वाभाविकता से हुआ वह सब निराला में ही था। निराला की नयी कविता भारतीय नयी कविता थी। समय का फेर कि भारतीय मन विदेशी वेशभूषा, विदेशी विचार और विदेशी रहन-सहन को ही आधुनिकता मान बैठा।

अपना प्राचीन साहित्य वायवीय न होकर कमनीयता की ओर अग्रसर होने लगा। गीत अपनी सादगी में ही रहा। गीत इस आधुनिकता को पचा भी नहीं सकता। जांघों के बीच की चिपचिपाहट गीत-संयम के क्षेत्र में आ ही नहीं सकती।

जीवनमुखी गीतधारा के जितने भी गीतकार हैं सभी की वाणी में समाज के पतनशील स्वभाव की, राजनीति के गर्हित चरित्र की, सुविधा पुरस्कार लब्ध कलाकारों के स्वाभिमान के गिरावट की प्रतिध्वनियां हैं। गीत की सृजन-शैली में अनुशासनहीनता होते हुए भी गीत सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। इन गीतों को समालोचना का स्पर्श ही नहीं मिला। जब सोने को अग्नि ही नहीं दी गई तो वह कुन्दन-आकृति में कैसे दिखाई दे। इन गीतों का अनुशीलन विचार को अनेक मुद्राएं दे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सकता है जहां गीत की पृष्ठभूमि में भारतीय मिट्टी की सुगंध है वहां गीत ने मन को महकाया है। गीतकार को उदार होकर गीतकार को अपनाना होगा। महिला रचयित्रियों एवं जीवनमुखी गीतधारा में डॉ. रमासिंह, सुभद्रा खुराना, स्नेहलता स्नेह, माधवीलता, शान्ति सुमन, इन्दिरा मोहन, रंग, नीरज क्षेम, हृदयेश, अवस्थी, वीरेन्द्र मिश्र, रामावतार त्यागी, मधुरशास्त्री, रामस्वरूप सिन्दूर, शिशु, राही आदि अनेक गीतकार हैं जिनका गीत-साहित्य मननीय है। साहित्य का इतिहास दरिद्र नहीं होना चाहिये।

बच्चनोत्तर गीत को इसलिए जीवनमुखी कहा जा सकता है क्योंकि बच्चन का गीत-जीवन केवल निराशा के स्वर में गाता रहा। बच्चन के गीत-शिल्प का प्रभाव लेकर भी उससे थोड़ा हट कर एक स्वर था जो जीवन के मानवीय आवश्यकतापरक मूल्यों और भावों में एक प्रच्छन्न आदर्श की गूंज रखता था। इस दृष्टि से नेपाली और रंग को अधिक महत्त्व देना होगा क्योंकि इन दोनों का प्रभाव-क्षेत्र भी अत्यधिक विस्तृत है। मंच का गीत इन दोनों से अत्यधिक प्रभावित रहा। नीरज ने भी अपनी लय का प्रभाव छोड़ा। शम्भूनाथ सिंह विश्वविद्यालयीय अन्दाज़ लिए हुए थे। छायावाद में जो स्थान डॉ. रामकुमार वर्मा का है, गीत में वह स्थान डॉ. शम्भूनाथ सिंह का है। नेपाली, रंग के गीत अल्हड़ युवती या अज्ञात यौवना की तरह सहज यौवन सम्पन्न थे। उस समय मंच पर साहित्य था। बच्चन से पहले ही मंच साहित्यिक हो गया था। बच्चन को यह सुविधा मिली कि उन्हें साहित्यिक मंच मिला। सन् 40 तक बच्चन अत्यन्त प्रतिष्ठित गीतकार हो चुके थे। गीत को प्रगतिशील प्रवृत्तियों और नयी कविता के आन्दोलनों से संघर्ष करना पड़ रहा था। परिवर्त्तन की कोई सीमा नहीं होती। परिवर्त्तन के नाम पर पहले ऐसी ही क्रान्ति आती है। मनुष्य निर्लज्ज होने के बाद लज्जा का महत्त्व पहचानता है। जीवनमुखी गीत जीवन की परिवर्तित प्रकृति को गाता रहा। इस गीत को इतिहास बनाने की याद नहीं रही। आत्मकेन्द्रित अहं या सुविधाजीवी स्वभाव के कारण स्वयं को समालोचक सिद्ध करने का प्रयत्न भी नहीं हुआ। आलोचना का क्षेत्र संकीर्ण होता गया, समालोचना आलस्यग्रस्त हो गई। अत्याधुनिकता की बाढ़ ने आलोचक के अनुभूति-क्षेत्र को एक निश्चित विचार-वर्ग तक सीमित कर दिया।तार-सप्तक ने ऐसा राग छेड़ा कि सभी उससे मोहित हो गए। बाजार में माल इतना अधिक है कि खरीदार नहीं है। जिस जनता के लिए मुक्तिबोध लिख गए वह उसका एक अक्षर नहीं पहचानती। स्वयं को समायोजित करने की कला में जो जितना निपुण हो। गीतकार इस कला में सर्वथा अयोग्य है। उनका कवित्व ही ऐसा नहीं है। एक ओर मंचीय गीतकारों पर विभिन्न प्रकार के आरोप लगाकर उन्हें कोणार्क कर दिया गया दूसरी ओर जीवनमुखी गीतकारों को गंभीरतापूर्वक लिया ही नहीं गया। इसके लिए आत्मकेन्द्रित निरपेक्ष गीतकार भी उतने ही उत्तरदायी हैं। यदि गीतकार अध्ययन, अनुभव और साधना का ईमानदार पथ अपनाते तो जीवनमुखी गीतधारा गंगोत्री हो जाती। जो दशा आज नयी कविता की हुई है वह गीत की नहीं होती, यदि गीतकार सावधान होता। गीतकार ऐसा आलसी और मदमस्त हो गया कि गा उठा 'यह तुम मुझे कहां ले आये, चारों तरफ सावधानी है' (रामावतार त्यागी)। मधुर शास्त्री ने भी कह दिया – 'कुंठित रही सहजता मेरी, असहज रहा सावधानी में।' इस असहजता ने हानि पहुंचाई। यद्यपि असहजता अकारण नहीं है। सामाजिक वैषम्य, न्यायिक उदासीनता, अराष्ट्रीयता, अमानवीयता और अनेक ऐसे कारण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं जो इस असहजता के जन्मदाता हैं। इन जन्मदाताओं ने सहजता को कुण्ठित कर दिया। सामाजिक अनुशासन के विरुद्ध नपुंसक नहीं होना चाहिए। विद्रोह में शक्ति आत्मसच्चरित्रता से आती है। गीत का विद्रोह आत्मसंयम से च्युत हो गया। वह समव्यथ होकर भी अकथित रह गया। नेपाली,रंग आदि अनेक मंचीय गीतकारों ने देश पर आए संकट को गाया। चीन, पाकिस्तान आदि के हमले और बाढ़-सूखा से आक्रान्त जीवन, शोषण, अत्याचार, वैषम्य,पक्षपात सभी कुछ आज गीत में है। वह नवगीत, प्रगीत और अगीत तक हो सकता है। अगीत भी स्वाभाविक है। जब मनुष्य आतंक को जन्म दे सकता है वह अगीत का प्रेमी भी हो सकता है। अब तो अस्वीकृति का युग है। प्रत्येक के प्रति अस्वीकृति।

इस अस्वीकृति के युग में गीत को स्वीकृत कराने के लिए श्रम, साधना, सहयोग और निष्पक्ष समर्पण चाहिए। गीत को कोई नष्ट नहीं कर सकता, उसकी हत्या नहीं कर सकता। गीत हर स्थिति में मनुष्य के साथ है। सांस-सांस में गीत हैं। जहां प्राण हैं वहां गीत हैं। न्याय दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य समवाय, विशेष और अभाव में गीत है। जीवन के शरीर का प्रत्येक अंग महत्त्वपूर्ण है। गीत का शरीर भी कुछ ऐसा ही है। अंग तो अंग है उनका महत्त्व है। जो गीत नवगीत नहीं है परन्तु गीत है, अभिव्यक्ति-तंत्र आज उसमें परिवर्त्तन चाहता है लेकिन वह मात्र इसीलिए उपेक्षणीय नहीं है कि वे आज के तथाकथित नवगीत-मानकों पर खरे नहीं हैं। उनमें जीवन का तरल गुंजन है इसीलिए वे नवगीत के पूरक हैं। समाज को सांस्कृतिक स्वरूप देने के लिए संगठित प्रयत्नशील होना चाहिए। आज आवश्यकता है गीत के सम्बन्ध में सुधी समालोचक पुनर्विचार करें। आज जीवन जितनी अधिक समस्याओं का बोझ उठा कर जीने के लिए विवश है, वह सारी पीड़ा आज के गीत और नवगीत में अभिव्यक्ति पा रही है। जीवनमुखी धारा इसीलिए सार्थक है क्योंकि इसमें जीवन के सभी रूप चित्रित हो रहे हैं। अभिप्राय: यह है कि नयी कविता में चित्रित जीवन का अनुभूति पक्ष ही जीवन चित्रण नहीं है अथवा आज के गीत में जो जीवन चित्रित किया जा रहा है केवल वही जीवन नहीं है, जीवन उससे भी आगे हैं। हम इतना विश्वास कर सकते हैं कि गीत में भी जीवन की वही पकड़ और मजबूत होगी।

नवगीत की संकल्प-सृष्टि के मूल में जो प्रथमतः गीततत्व है वही आत्मिक रस है। कठिनाई यह है कि अंगार के डर से पलाश पुष्प नहीं छुआ जा रहा। हमारी दृष्टि भौतिक हो गई है इसलिए उसे मात्र भौतिकता पसन्द है। स्वयं को भौतक दृष्टि से सम्पन्न दिखाने के लिए कोई भी मूल्य दिया जा सकता है। कितने ही अच्छे नवगीत इसी भेदभाव के शिकार हुए। पक्षपातपूर्ण नवगीत दशकों ने सारा वातावरण विकृत कर दिया। इन दशकों का उद्देश्य पवित्र नहीं रहा। कितने ही अच्छे नवगीतकार इन दशकों में सम्मिलित नहीं किए गए। सम्मिलित न करने पर भी इनकी रचनाओं के माध्यम से दशक को दुर्दशा से बचाया जा सकता था, इसलिए नवगीत के अनेक वटवृक्ष अपने स्वभावानुकूल प्रतिद्वन्द्वी प्रतिभाओं को समादृत करने में संकोच अनुभव करते हैं और कर चुके हैं। इन सारी आंधियों के बीच भी अनेक नवयुवक नवगीत का दीप जलाने की ओर उन्मुख हैं। इस महान गीत-समुदाय में कोई एक गीत व्यक्ति न हो ऐसा नहीं होता। प्रकृति के अनुकूल ही क्रिया सम्पन्न होती है। नवगीत के अनेक ऐसे स्फुलिंग हैं जिनमें सारा विकृत नष्ट करने की क्षमता है परन्तु उन्हें उचित वायु नहीं मिली। नवगीत के उपवन में भी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसी अनेक कलियां हैं जिनमें खिल कर सुगन्धित करने की सामर्थ्य है परन्तु गुटबंदी के कारण अनेक प्रतिभाओं को निरुत्साहित होते देखा गया है। नवगीत में जहां शक्ति है वहां उसका सौन्दर्य अपनी अलग छवि देता है। गीत और नवगीत को एक-दूसरे की प्रतिपक्षी भूमिका में खड़ा करने के कारण ही नवगीत अनम्र हो उठा है। शुरु-शुरु में जो शहीद हो गए वे तो स्मरणीय और उल्लेखनीय हो गए उसके बाद तो नवगीत भी छायावदी-रहस्यवादी गीतों की तरह हमशक्ल हो गए हैं। बीस नवगीत-संग्रह पढ़ लीजिए– लगेगा सभी मोरपंखी, चम्पई शाखें, चिड़िया, घोंसलें, गमछें, बाल्टियां/ चूल्हे, बैल, धनिया, पोखर, अल्हड़स्तन, दिनारम्भ-सा नितम्बारम्भ, आलिंगित चकवा-चकवी, पेड़-पौधे, नदी-नाले, श्रमसिक्त श्रमिक, निर्धन परिवार, विवश निराशा, असहाय निष्क्रियता, सामाजिक विषमता, धुआं, अंधेरा, धुंधलका, सायं, लाश आदि अनेक कुछ ऐसा है जो सर्वथा सामान्य है। छायावादी और रहस्यवादी वातावरण में हम उस भूल का परिणाम भोग रहे हैं कि आज खड़ी बोली अपना अस्तित्व खोती जा रही है। किसी भी विचार को किसी दल से नहीं बांधना चाहिए। विचार ही तो गीत का आश्रय बनता है। भौतिकता तो गति को भारी बना कर रोकती है। विचार ही एकमात्र आश्रय है जो मनुष्य को मनुष्य बनाये रखता है –

"पांव तो मेरे थकन ने छील डाले,
मैं विचारों के सहारे चल रहा हूं।"

नवगीत ने भी इस पीड़ा को गाया है परन्तु त्यागी की इन दो पंक्तियों ने वास्तविक मनुष्य की स्थिति को बड़ी सहजता से व्यक्त किया है।

छिद्रान्वेषण हमारा धर्म नहीं है क्योंकि धर्म छिद्रान्वेषी नहीं होता। परिभाषा के जाल में न फंस कर इतना कहा जा सकता है कि हम अधार्मिक नहीं है। नवगीत के सहज विकास एवं उसकी नव्यता को नहीं नकार सकते। शैली और शिल्प दोनों दृष्टियों से नवगीत अलग-सा लगता है और आत्मा के विस्तार को संकुचित कर देखने की आदत ने गीत शरीर को कृश कर दिया। प्रारम्भ में तो नवगीत तीन पदों तक रहा परन्तु धीरे-धीरे वह दो पदों तक आ गया। धीरे-धीरे चार या पांच पंक्तियों में बंध गया। जीवन भी तो छोटा होता जा रहा है। तर्क करने में बुद्धि का अपव्यय करने वाले हमारे समाज गें बहुत हैं। आप उच्चकोटि का नीचा काम कर दीजिए लोग आपके समर्थक हो जायेंगे। साहित्य में भी वैचारिक विकृति का विस्तारीकरण हो रहा है। भाषा और विचार दोनों दृष्टियों से आज नवगीत पौष्टिक तत्वों की ओर नहीं है। प्रतीक, बिम्ब-विधान, शब्द-ध्वनि संप्रेषणीयता आदि गुणों को सही रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। शब्द देकर कल्पनात्मक अर्थ की अपेक्षा उचित है परन्तु पाठक का स्वयं का काल्पनिक होना कठिन है। आज भी नवगीत लिखा जा रहा है। कादम्बिनी, नवगीत, धर्मयुग, समांतर, गीतकार, नवगीत निरन्तर प्रकाशित हो रहे हैं। कुछ नवगीत ऐसे हैं जो इस परम्परा का निर्वाह कर रहे हैं। कुछ नवगीतकार होने के नाते मंच का मंथन कर रहे हैं। उन्हें साहित्यिक प्रतिष्ठा की चिन्ता नहीं। कुछ लोग अपना सिर मुंडा कर आधुनिकता प्रकट करते हैं। इसी तरह ऐसे सुरीले गीतकार विभिन्न वस्त्राग्रह और संगीत की चुटकियों से लोगों को कर्ण-सुख प्रदान करते हैं। वे नवगीत को ऐसी धुन में प्रस्तुत करते हैं कि श्रोता ताली बजायें,पाठक आंख चौड़ी करे। दिक्कत यह है कि नवगीतों की उर्वरा-भूमि में साधना और श्रम से बीज-वपन नहीं किया गया, ऐसा प्रतीत होता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इधर नयी कविता अतिबौद्धिकता के आग्रह पर और अधिक गद्यात्मक और भौतिकता के घिनौने रूप से प्रभावित होकर देह पूजा को ही पवित्र लक्ष्य मान बैठी है। हमारे ऋषियों ने सर्वप्रथम **'काम'** को बलवान बनाया। काम तो देवता है उसे देवत्व की दृष्टि से उपयोग में लाना चाहिये। 'काम' का महत्त्व है परन्तु सारी समस्याओं का विलय काम में नहीं है। आज संसार जिस ओर दौड़ रहा है उसमें शान्ति और आत्यान्तिक सुख नहीं है। अत्यधिक धन होना समस्त समस्याओं का समाधान नहीं है। नयी कविता हो या नवगीत उसे इस अति यथार्थ के मोहजाल से निकल कर स्वच्छ जीवन का स्वरूप निर्धारित करना होगा। साहित्य ही और विशेष रूप से कविता, उसमें भी गीत-कविता ही सही रूप से भूमिका निभा सकते हैं। लक्ष्य तो विश्व-मानव ही होना चाहिए परन्तु यह भी मान लेना चाहिए कि भारतीय संस्कृति ने व्यक्ति-समाज को संस्कार-सुसंस्कृत किया। आज भी इसकी आवश्यकता है और गीत-कविता को अपने दायित्व के प्रति सावधान होना चाहिये।

देखा जा रहा है कि नवगीत के साथ अपना कदम मिलाते हुए पारम्परिक गीत-शैली भी प्रवहमान और प्रगतिशील है। इन गीतों में आज का जीवन उसके सुख-दुःख, शोषण, कुंठा, त्रास, अभाव सभी कुछ संवेदनशीलता के स्तर पर चर्चित हो रहे हैं। आवश्यकता छान्दस-साधना की है। छन्द, मात्राओं के अभ्यास के साथ गहन अध्ययन और राष्ट्रीय संस्कृति के प्रति निष्ठा अनिवार्य है। अपनी संस्कृति को निन्दित कर विदेशी संस्कृति के गुणगान करने वाले को कोई व्यास याज्ञवल्क्य या आपस्तंब या चाणक्य ही दंड सुझा सकते हैं। इसीलिए मधुर शास्त्री को गीत की खोज करते हुए कहना पड़ा "छन्द हुए स्वच्छन्द विलासी/ मात्राएं ओढ़ती दीनता/ अलंकार जलते लंका से/ घूम रही नंगी नवीनता/ हित-आहत-सा पड़ा सिकता/अहित-सहित साहित्य हो गया/ बहरे हुए कान कानन के/ कोयल किसके लिए दुलारुं/ गीत! तुझे मैं कहां पुकारुं (अभ्यन्तर)।" गीत का सौन्दर्य उसके साधारणीकरण में है, साधारण होने में नहीं। जिन गीतकारों ने इस ओर गंभीर चिन्ता व्यक्त की है, वे निश्चय ही गीत की प्रतिष्ठा से भारतीय संस्कृति के आदर्श की पुनः संस्थापना में सहयोग दे रहे हैं। गीत और नवगीत इनके सामने अनेक चुनौतियां हैं। आज स्वयं को प्रकाश में लाने और साहित्य में स्थापना के लिए काव्यान्दोलनों का फैशन चल गया है। कोई नया नाम गढ़ कर दो-चार अखबारों से सम्बन्ध बना कर आन्दोलन छेड़ दिया जाता है। चर्चा हो जाती है और विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक आन्दोलनों पर पुस्तक लिखने में पहल कर लेते हैं। इसलिए गीत और नवगीत के सन्दर्भ में बात करते समय इन निरर्थक काव्यान्दोलनों की चर्चा अव्यावहारिक या अप्रासंगिक नहीं है। इन काव्यान्दोलनों के पीछे पाश्चात्य साहित्य का प्रभाव और भारतीय संस्कृति का अभाव अधिक है।

यह मैं इसलिए कह रहा हूं क्योंकि प्रयोगवादियों का एक वर्ग (अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, धर्मवीर भारती आदि) पाश्चात्य विद्वान टी. एस. इलियट से प्रभावित होकर कविता में विचार और शिल्प का समन्वित रूप सामने ला रहा था जबकि दूसरे सिरे पर कुछ लोग एज़रा पाउण्ड से प्रभावित (शमशेर और नकेनपंथी) मात्र शिल्प को ही कविता का साध्य बनाने पर तुले थे। फ्रेंच विद्वान मलार्मे ने भाषा को उदात्त भावभूमि से काट कर उसे एक स्वतंत्र सत्ता दी। शमशेर और नकेनपंथी (नलिन विलोचन शर्मा, केसरी कुमार और नरेश) प्रतीकवादी मलार्मे के इर्द-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गिर्द रहते हुए एज़रापाउण्ड के शैल्पिक चमत्कार से अत्यधिक प्रभावित थे। यही कारण है कि एज़रा पाउण्ड के सभी शिल्प-तत्व इनकी कविताओं में मौजूद हैं। नये बिम्बों, उपमानों, संगीत ध्वनियों का वैचित्र्यपूर्ण चमत्कार तो इनके काव्य में भरपूर है लेकिन केन्द्रगामी विचारतत्व की कमी इनकी कविताओं में बुरी तरह खलती है। जिसकी वजह से कविता का संतुलन गड़बड़ा जाता है। कविता में भी एक अनुशासन होता है। नकेनपंथियों ने इस अनुशासन की पूर्णतः अवहेलना की और शैल्पिक-क्षेत्र में नये-नये फैशनों को प्रश्रय देना ही इनका एकमात्र उद्देश्य रह गया। प्रयोगशीलता की इस वैचित्र्यपूर्ण अभिव्यक्ति को आगे के अनेक कवियों ने भी अपनाया किन्तु वे कोई स्थिर प्रभाव नहीं छोड़ सके। ये काव्यान्दोलन पाश्चात्य रचनाकारों और उनके काव्यान्दोलनों की गिरफ्त से बच नहीं सके अतः इन पर उनका प्रभाव पड़ना अवश्यम्भावी था। अकविता, अस्वीकृत कविता, ठोस कविता, युयुत्सावादी कविता, तिलचट्टा पीढ़ी, साठोत्तरी कविता, दिगम्बर पीढ़ी, पैसठोत्तरी कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, श्मशानी पीढ़ी की कविता आदि में भी कमोबेश इसी चमत्कार पूर्ण प्रयोगशील वृत्ति का प्राधान्य था। लेकिन इस प्रयोगतृषित वृत्ति को अपना कर भी गिरिजा कुमार माथुर, रामदरश मिश्र जैसे कवि-गीतकार गीत भूमि से जुड़े रहे। गीत-कविता उनके लिए सायास प्रयत्न नहीं है बल्कि मानव-मन में व्याप्त ज्वालामुखी है, बहता झरना है। आज़ादी के बाद के काव्य में विचार और शिल्प का बहुत बोलबाला है। योरोपीय काव्यान्दोलनों और वैचारिक दबाबों को हिन्दी कविता के नाम पर प्रकाशित करना भारतीय रचनाकारों की बहुत बड़ी भूल है। अकविता की रचना-प्रक्रिया अमरीकी एक्शन पेंटिंग से ग्रसित है इसीलिए अकवितावादी अमरीकी चित्रकार रोजेनबर्ग की तरह ही कविता को एक घट्ना-दुर्घटना या मात्र संयोग स्वीकार कर चलते हैं उससे भी आगे कुछ अकवितावादी अपनी रचनाओं में 'कट-अपशैली', 'कोलाज़शैली' का अनुकरण करने लगे हैं। इन कवियों को अकवितावादियों और इस पंक्ति में शामिल अन्य वादियों की यह अनुकरणीय दृष्टि बिल्कुल अस्वीकार्य है। कुछ का कहना है – "कविता....आत्मदहन....समीकरण....उदात्तीकरण! और भी न जाने क्या-क्या....इस जकड़बन्दी को जिन्होंने भोगा है, वे ही इस छुटकारे के सुख को समझ सकते हैं, क्योंकि – 'देह न पाए तो भटके है बवंडर-सी कविता। यह बवण्डर, यह ज्वार कभी निरन्तर उंठता है और कभी ठहर-टूट कर! इस तरह कविता न आदि है, न अन्त। दोनों ओर शुक्ति में मुक्ता-सी स्थिति है उसकी। विश्व की कौन-सी ऐसी मर्मदशा है जो वास्तविक कवि की स्नेह-संवेदना में न भीगी हो, जिस पर वह न रीझा हो! फिर भी, न तो सब- कुछ कहा जा चुका है, न कहा जा सकेगा। पीपल के पत्ते की शिराजाल-सी जटिल अनुभूतियां ज्ञेय होकर भी अज्ञेय हैं...पूर्ण होकर भी अपूर्ण पर 'कट-अप शैली, कोलाज़-शैली' या कविता को मात्र घटना-दुर्घटना अथवा संयोग मानने का यह दर्शन यदि इसी प्रकार जारी रहा तो काव्यशास्त्र के इतिहास का तो फिर खुदा ही मालिक है।

'कट अप शैली', 'कोलाज़ शैली' से अलग नवगीतकारों की गीत कविताएं 'अंधेरे से उजाले में ले जाने का उपक्रम' है। आज के नवगीतों में जितनी छटपटाहट है, उतना ही आक्रोश, जितनी भटकन है, उतना ही सन्धान संकल्प। वर्त्तमान इनकी रीढ़ है, आगामी कल में झांकने के लिए ये आतुर हैं और इसी नाभिकीय की पहचान कराना इनका लक्ष्य है। नवगीतकारों का धाराजीवी व्यक्तित्व ही रचना में विश्वसनीयता और प्रेषणीयता का संचार करता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन्होंने "गीतों को नई दिशा दी, उसका सामाजिक स्तर गीतों में उभरा। गीत व्यक्तिवादी वेदना, निराशा और हार-जीत के गायक न रहकर सामाजिक जीवन के गायक बने। लगा जैसे घुटन से भरे वातावरण में ताज़ा हवायें आई हों, उजास फूटा हो, लोक-जीवन की हरियाली और रस गीतों में मुखर होने लगे। प्रेम और सौन्दर्य की कविताओं में भी एक खुलापन दीखा, ज़मीन के प्रति प्यार उभरा।"

इसीलिए नवगीत का काव्य-संसार वाद-वादियों से अलग वादमुक्त लीक पर चलते हुए अकेले 'शंख की पुकार' सा तंद्रा विनाशक, नव चेतनता प्रदायक और प्रातः कालीन सुगन्ध सा हल्का, शुद्ध और जीवन उद्यान के हर कोने को सुरभित करने वाला है। गीत कवियों ने तितली की तरह नैसर्गिक रस को चुन-चुन कर पीया है लेकिन रंग उनका अपना है, महक आत्मा की है, फैलाव मानवता का है, मूल्य शाश्वत हैं, दिशाएं अनेकायामी हैं।

नवगीत के समानान्तर **मुद्रा राक्षस, श्रीराम शुक्ल, जगदीश चतुर्वेदी, श्याम परमार** आदि उन रचनाकारों में अग्रणी हैं जिन्होंने ई.ई. कमिंग्स से मुतास्सिर होकर अपनी कविताओं में 'टाईपोग्राफी' के साथ एब्सर्डिटी का प्रयोग किया है। एब्सर्डिटी के उस्ताद हैं **राजकमल चौधरी** और मुक्ति बोध, लेकिन यह बोध भी इनका अपना नहीं है। इनका मूल स्रोत है **कामू और सार्त्र** का साहित्य जिसे पढ़ पचा कर हमारे ये साहित्यकार उसे भारतभूमि का हिस्सा बनाना चाहते हैं। विदेशी साहित्य से प्रभावित होकर उसे अपने साहित्य की छाया बनाना स्वस्थ चिन्तन नहीं है। विदेशी साहित्य पर चिन्तन-मनन शोध सभी कुछ होना चाहिए लेकिन बिना किसी पूर्वाग्रह के। उसे भारतीय परिवेश पर जबरदस्ती थोपना अनुचित है। नवीनता और परिवर्त्तन सभी को अच्छा लगता है किन्तु परिवर्त्तन की महक अपनी होनी चाहिए। नकल को नवीनता घोषित करना बुद्धि-घिस्सुओं का चमत्कार मात्र है। 'आउटसाइडर', 'द फाल', 'ट्राफिक आफ कैंसर' आदि की सी एब्सर्डिटियां जबरदस्ती हिन्दी कविता पर नहीं लादी जा सकती। यदि ऐसा होता है तो ये तथाकथित साहित्यकार 'कूप मण्डूक' हैं जो सागर की छाती पर लहराते विस्तार से आंख मूंद उसकी चुनौती नहीं स्वीकारना चाहते। इस तरह के छद्म प्रयास स्वार्थ केन्द्रित तो हैं ही विदेशी साहित्य जबरदस्ती थोपने की साजिश भी है। इस प्रकार का आचरण-व्यवहार न तो इन्हें कामू-सार्त्र, हेनरी मिलर बना सकते है और न ही इनकी नकल आधुनिक साहित्य और साहित्यकार की पहचान बन सकती है। नवगीत के क्षेत्र में अभी इस नक़ल प्रवृत्ति और भारतीयता के प्रति उदासीन वृत्ति नहीं मिलती। साहित्यकारों की इस एब्सर्ड दृष्टि से प्रयोगमुखी गीतकारों का छत्तीस का रिश्ता है –

'दि दिव्यादि/ व्यदि दिव्य दि दि दि दि/ दि दि दिव्यव्य/ दिव्यदि/ दि दि –'
(क ख ग)
'न्यूड/ पपृक्षाः मदति/ लाप्रियाइयता/ धधहा प्रज्चकामार्दा।
चिव्यत् चाकनत्प्रचोद भाषा/ हनवण्व विशि। भोगोलिलिंग"
(अकविता – 1)

"हमारे लिए कविता के वे भाव निरर्थक हैं, जिनसे हमारे हृदयों पर नैराश्य छा जाए। हमें उस कला की आवश्यकता है जिसमें कर्म का सन्दर्भ हो। हमारे पथ में अहंवाद अथवा अपने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्तिगत दृष्टिकोण को प्रधानता देना वह वस्तु है जो हमें जड़ता, पतन और लापरवाही की ओर ले जाती है, हमारी कसौटी पर केवल वही साहित्य खरा उतरेगा जिसमें उच्च साहित्य चिन्तन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौन्दर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाई का प्रकाश हो जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा कर सके, सुलाए नहीं" (*डॉ. मिश्र : यथार्थवाद: पृ. 173*)।

मुद्राराक्षस और उन जैसे अन्य कवियों की इस प्रकार की एब्सर्डिटियों की चाहे कितनी ही गंभीर व्याख्या क्यों न की गई हो लेकिन इनका एकमात्र उद्देश्य पाठक को चमत्कार से अपनी ओर आकर्षित भर करना है। मनुष्य की जिज़ीविषा और संघर्ष-भूमि से कटी इस प्रकार की कविता में ढली एब्सर्डिटियां गीत कवियों ने नहीं लिखी जिनको समझने के लिए न जाने कितनी बार बुद्धि को कसरत-योग की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है फिर भी समझ की चौखट से अर्थ फिसल जाता है। अपने को प्रतिष्ठित करने तथा पाठक को चमत्कृत करने की इस घटिया साहित्यिक राजनीति के अनेक मोहरे हैं जिन्होंने अभिशप्त स्थितियों में जी रहे मानव को अपनी चौसर बना रखा है।

नवगीतकार न तो इस चौसर का मोहरा बनना चाहता है और न ही इस वैज्ञानिक युग में एक यंत्र। बल्कि वह तो यंत्रों की स्वीकृति को रोक कर मिट्टी में खुशबू बन कर बिखरना चाहता है –

"यन्त्रों की स्वीकृतियां रहने दो, रहने दो
मिट्टी में बस जाऊं/ खुशबू बन काफी है।" (रामावतार त्यागी)

इस यान्त्रिकता ने आत्मा को नोच लिया है और हमारे अस्तित्व को कंकाल बना दिया है-

"रूप और गंध को बसाने में/ आत्मा को नोंच लिया यन्त्रों से
अपने अस्तित्व को यों ही कंकाल किया।" (श्यामसुन्दर दूबे)

कम्प्यूटर, पिरामिड, बुलडोज़र, यूरेनियम के कारण मानवीय संवेदनायें क्षीण हो गई हैं –

"ये क्लिष्ट व्यस्तताओं से भरे पहरे
अब तो मनुष्य यांत्रिकी संस्करण हैं
हर भावुक सम्वेदन क्षीण हुआ।" (चन्द्रसेन विराट)

आज की भयावह स्थितियों के चित्र बहुत हैं किन्तु नवगीतकार किसी को दोष नहीं देता -

"गत को दधि अक्षत्/ आगत को स्वागत्
क्षत-विक्षत वर्त्तमान/ क्या करें.....
खण्डित संकल्प स्वयं/ और अपाहिज विहान/ क्या करें?
हरि ओम् तत्सत्/ डकार ले गये हम/ बंधक है स्वाभिमान।" (उमाकान्त मालवीय)

आधुनिकता-बोध में यान्त्रिकता के समावेश ने 'सदानीरा हंसी' को सोख लिया हैं फिर भी नवगीतकार एब्सर्डिटी की ओर नहीं सरका। वह समझता है कि "परिवेश का पुनरांकन किसी एक के वश की बात नहीं है – पूरी पीढ़ी खप जाती है लक्ष्य तक पहुंचने में। दुःख चाहे अपने हों चाहें दूसरों के–उनकी दास्तां का क्या कभी अन्त हो पाया है! कवि की अन्त यात्रा क्या कभी पूरी हो सकी है? नहीं, जितना वह भोगता है उससे अधिक अनभोगा रह जाता है"।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जर्मन दार्शनिक चिन्तक 'नीत्शे' ने ईश्वर को सर्वोपरि मूल्यों का निर्माता मानने से इन्कार कर उसकी मृत्यु की घोषणा कर डाली, फिर ईश्वर को मुर्दा साबित करने में हिन्दी के साहित्यकार कैसे पीछे रहते। नये कवियों के लिए 'ईश्वर' 'आब्जेक्ट' मात्र है और मनुष्य सर्वोच्च। ज्यादा से ज्यादा आज का कवि ईश्वर को एक 'मूल्य' स्वीकार करता है उसे नियामक, नियन्ता नहीं मानता। मेरे विचार में शायद यही ईश्वर की मृत्यु है। यही कारण है कि कहीं उन्हें ईश्वर भिखमंगों के बीच 'भीख मांगता दीखता है तो कहीं 'सिफलिस' से पीड़ित। अपने 'अस्तित्व रक्षण के प्रति अतिरिक्त चेतना ही शायद इसका मूल कारण है। सार्त्र की भांति 'अस्तित्व' उसके लिए पहली शर्त्त है। इच्छानुसार जितना वह स्वतन्त्रता का उपभोग करना चाहता है उतना ही वह मानव-द्रोही भी है। तर्काश्रित संशयों का घेरा उसे उसके अस्तित्व के प्रति और दृढ़ बनाता है इसलिए वह सार्त्र की 'नासिमा' और 'डेकर्ट' कृतियों के सन्देहवादी दर्शन का नायक होता जा रहा है। हर समय सन्देह में जीना उसे अपनी इयत्ता के प्रति अतिरिक्त सचेत रखता है। अस्तित्व के प्रति वह अतिरिक्त चेतना उसे अलबर्ट कामू के उपन्यास 'दि आऊटसाइडर' के धरातल पर ले जाती है और वह ईश्वर को अस्वीकृत कर संसार से परे के जीवन को नकार देता है। गीत कवियों ने मानवीय अस्तित्व को अवश्य प्राथमिकता दी, उसकी स्वतन्त्रता पर फूल चढ़ाए, उसके दुःख-अवसाद को समझा, उसके दुःखों में दुःखी हुए, सुख में सुखी। धूपछांह, रात-दिन की तरह जीवन के क्रम को गीत-कविताओं का अक्स बनाया। आस्था-अनास्था के संघर्ष को लगातार केन्द्र में रखा। मानवीय मूल्यों की सर्वोच्चता में अपना अन्तिम विश्वास प्रकट किया। उन्होंने पाश्चात्य चिन्तकों के विचार संभवतः वहीं तक ग्रहण किए जहां तक वह मानवीय अस्मिता और उस पर हो रहे शोषण, अत्याचार के विरोध का हथियार बन सके। अपने परिवेश के अनुकूल उनके विचारों को ढाल सके अन्यथा छाछ की तरह उन्हें छोड़ दिया। इसीलिए इन गीतकारों ने कहीं भी जगदीश चतुर्वेदी की तरह 'विष कन्यायें भोग कर जहरीली सन्तानों का पिता बनने' की इच्छा नहीं की। हताशा के गहन से गहन अन्धकार में भी वे जुगनू बन चमके हैं। जुगनू से जुगनू की पांत बनती चली है और अन्ततः यह कारवां विश्वास की कंदील बन चमका है।

हिन्दी कविता के पिछले चार दशकों पर नजर डालें तो कहना पड़ेगा कि नयी कविता के अधिकांश रचनाकार हेनरी मिलर, गिंसबर्ग, हर्मन हेस आदि से प्रभावित रहे हैं। इन कवियों में से अधिकांश ने नारी के देह-भूगोल की पूरी नाप-जोख की है। कई जगहों पर तो यथार्थ के नाम पर इनकी सेक्स कुण्ठाएं सभी नैतिक सामाजिक साहित्यिक हदों को पार कर अनाचार की सीमा तक पहुंच गई है। इस तथाकथित 'भूखी पीढ़ी' की इन विकृत सेक्स और संभोगेच्छाओं से भरपूर प्रतिक्रिया को साहित्य माना जाए अथवा नहीं यह विचारणीय है। इन सेक्स प्रतिक्रियाओं में व्याप्त नंगपन को चीर देने वाला कोई कृष्ण नहीं है इसीलिए कविता की द्रौपदी यहां चीर हरण से नहीं बच सकी। "कवि की स्वमुख में पेशाब कराने की इच्छा, ईश्वर की पोंद चूमने की कामना, रज से मुंह धोने या कुल्ला करने की भावना, योनि प्रसारित करने का साग्रह आदेश तथा सड़क पर अपने-अपने शिश्न पकड़ कर भाइयों का दौड़ना-यह सब स्वांग बहुत दूर नहीं ले जाता और हिन्दी में नकल की नकल तो और भी गलीज लगती है।" (नयी कविता स्वरूप और समस्याएं) सेक्स के प्रति इनका रिएक्शन ऊब और एकरसता पैदा करता है। इस प्रकार की सेक्साभिव्यक्ति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अग्रणी राजकमल चौधरी, मुद्राराक्षस, श्रीराम शुक्ल, सौमित्र मोहन, मणिका मोहिनी, जगदीश चतुर्वेदी, मोना गुलाटी आदि की आपसी होड़ अश्लीलता की सभी सीमाओं का अतिक्रमण है। यह अतिक्रमण गीतों और नवगीतों में नहीं मिलता। प्रेम और प्रणय के अनेक रूप मिल सकते हैं परन्तु यह नग्नगता काव्योचित नहीं है – काव्यशास्त्र कामशास्त्र में अन्तर हैं।

परम्परावादी दृष्टि से देखा जाय तो इसका एक मुख्य कारण निश्चित रूप से स्त्री-पुरुष का कंधे से कंधा मिलाकर प्रत्येक क्षेत्र में साथ चलना है। साथ चलते हुए प्रतिस्पर्धी होना स्वाभाविक है। तेजी से उभरते जीवन के अन्तर्विरोधों ने भोगवादी संस्कृति को जन्म दिया है। सेक्स, सहवास के धरातल पर उतरी महानगरीय मानसिकता की घर तोड़ू मुद्रा के लिए 'प्यार भावना' जैसे शब्द अर्थहीन हो गए हैं। ये शब्द घिसते-घिसते उनके लिए चपटे हो गए हैं। उनकी समझ में इनका एक ही अर्थ आता है 'सहवास' (*दृष्टव्य : ममता अग्रवाल, क ख ग - पृ. 9*) आत्मा इनके लिए फ्राड और शारीरिक धरातल सुख-शैय्या है (*दृष्टव्य : तारा तिक्कू, अकविता - 2*) इस तरह की अभिव्यक्तियों में प्रयोगवाद के सूत्रधार अज्ञेय भी पीछे नहीं हैं जो अपने आपको 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' समझते हुए घोषणा करते हैं –

"हम लोगों का एकमात्र श्रम है – सुरतिश्रम
उस अन्त्यज का एकमात्र सुख है – मैथुन सुख।" (दृष्टव्य : इत्यलम)

इस 'मैथुन सुख' का दूसरा पहलू रघुवीर सहाय सामने लाते हैं –
"थक जाएं तेरे कुच, मेरे सीने पर धक-धक करके फड़के।" (सीढ़ियों पर धूप में....)

इस 'मैथुन' और 'फड़कन' के बीच औरत का ज़िस्म है जिसकी तहों में ये रात भर सोते हैं। इनके लिए कविता का कथ्य विराट् विश्व में चल रहे विनाश की अविराम प्रक्रिया की देन है (जगदीश चतुर्वेदी : निषेध)। उनकी नजरों में "विद्रोह की भूमिका उसकी कृतियों में निषेधात्मक प्रवृत्तियों को रचना मूल्य के रूप में प्रतिष्ठापित करती हैं....सर्वत्र एक गाढ़ा धुआं है जिसने उनके मन, शरीर, विचारों को ढक रखा है" (निषेध)। इनकी यह निषेधात्मक वृत्ति ख़तरनाक मुकाम लेती जाती है। निषेधात्मक दृष्टि से मनुष्य के संघर्ष-जिज़ीविषा को नकार देना साहित्यिक मौत की पूर्व सूचना है। यथार्थ के नाम पर ऐसी नकारात्मक दृष्टि का चित्रण नहीं होना चाहिए जो मनुष्यता के सामने भयानक वैक्यूम पैदा करे। उसकी सोच को अराजकता की ओर मोड़ दे। ऐसी दिशाहीन स्थितियों में से ही असंगतियों को खरोंचते हुए साहित्यकार अपनी दृष्टि से व्यापक जीवन के संघर्ष में सन्नद्ध होता है। सामाजिक असंगतियों, विरूपताओं में से निकल कर कवि को कुछ मूल्यात्मक देना होता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो सामाजिक यथार्थ का अराजक सोच में बदलने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार के खतरे उठा कर नवगीतकारों की कविताएं सामाजिक विद्रूपताओं पर लुहार की सी चोट करती है जिसके बल पर वे निषेधवादियों से अलग खड़े हो सके। यथार्थवादी दृष्टि और सामाजिक असंगतियों के नाम पर गाली-गलौच की मुद्रा अपना लेना साहित्य नहीं है। हताशा यदि घुटन, संत्रास देती है तो इसी में से आशा के 'जुगनू' भी मुस्कुराते हैं। 'जुगनुओं' की यही मुस्कुराहटें समय आने पर 'बर्फ को भी बारूद' बना देती है। द्वन्द्वमयी निराशा का यह मतलब नहीं कि कवि आंखें रहते हुए भी अंधा हो जाए और नारी-गरिमा में भी उसे भोग-विलास और उद्दाम वासना का ज्वार दीखने लगे। यह कवि का दृष्टि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोष है तभी बीयर के समुद्र में डूबे उसे स्तनों के तट और नितम्बों की मछलियां तैरती नजर आती हैं –

"बीयर के समुद्र में
स्तनों के तट
नितम्बों की मछलियां
कमर के रेलिंग
और इन सबके ऊपर
निरन्तर.............।" (*कुमार विकल : शहर का नाम*)

यही कारण है कि श्रीकान्त वर्मा "सड़क पर/ गुजरती हुई/ हरेक/ स्त्री के साथ" (माया दर्पण) संभोग की इच्छा रखते हैं। उनका तर्क कविता की मौत है –

"क्या मैं पड़ा रहा हूं, अपनी स्त्री की जांघ की दराज में?" (माया दर्पण)

भोगपरक अश्लील यौन गज़ालत के ये नग्न चित्र किस ओर इशारा करते हैं। जगदीश चतुर्वेदी, श्रीकान्त वर्मा से भी दो कदम आगे हैं। रास्ते से गुज़रती औरत को जब वह सतीत्वरक्षा में निबद्ध पाते हैं तब कवि के शरीर में बलात्कार का तीक्ष्ण आवेग कौंधने लगता है और ऐसे में उसे प्रिया, मां, पत्नी और बेटी में भी कोई फर्क मालूम नहीं पड़ता। आवेग और आवेश में उसकी दृष्टि इतनी अंधी हो जाती है कि वह कांपते शव के साथ संभोग करना चाहता है (दृष्टव्य : इतिहास हंता)। 'नुचे हुए स्तनों' को पकड़े सड़ी-गली विकृत मानसिकता वाले ऐसे कवि रचनाकार घोंघे की तरह अपने खोल में बंद कराहेंगे ही' (दृष्टव्य : इतिहास हंता)। गीतकार की तरह आंधी के पांवों में घुंघरू नहीं बाधेंगे। यौन-कुण्ठाओं में बिलविलाते ये साहित्यकार साहित्य के माथे पर शर्म के दाग़ हैं। इन्हें हर औरत अपने पति से असन्तुष्ट और घृणा करती लगती है और हर पति पत्नी को तलाक देता जान पड़ता है। चिन्तन की यह घिनौनी मानसिकता यौनपरक कुण्ठाओं की बौखलाई हुई घोर विकृति है जिसमें 'अज्ञेय' जैसे अहंवादी भी शामिल हैं –

"कुछ नहीं यहां भी अन्धकार ही है
काम-रूपिणी वासना का विकार ही है
पर गुथीला व्योमग्रासी धुंआ जैसा
आततायी दृप्त-दुर्दम प्यार ही है।" (हरी घास पर क्षण भर)

आत्मरति से पीड़ित इनकी नपुंसकता खुज़लाहट भरे कुत्ते से भी बदतर है। धूमिल पर नजर दौड़ाइये –

"एक समूची स्त्री के पहले ही
गर्भाधान की क्रिया से गुज़रते हुए उसने जाना कि
प्यार
धनी........
लगातार बारिश में भीगते हुए
उसने जाना कि हर लड़की
तीसरे गर्भाधान के बाद

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्मशाला हो जाती है।"

और भी –

"लोलार्क कुण्ड की बनावट पर गौर करते हुए
उसने कहा था मासिक धर्म रुकते ही सुहागिन औरतें...
चमड़े की निर्जनता को गीला करने के लिए...
जांघों में.................................।" (संसद से सड़क तक)

ऐसे में भला कुंवर नारायण क्यों पीछे रहें –

"आमाशय
यौनाशय
गर्भाशय
जिसकी ज़िन्दगी का यही आशय।" (चक्रव्यूह)

और भोगवादी कामवासना यौनाचार का रूप लेने लगती है। इस वेश्याई स्वर्ग में उत्सव फोड़ों की तरह फूटने लगते हैं। बरसते अन्धकार में 'उल्लू के पट्ठे स्त्रियां रिझाऊ कविताएं' लिख रहे हैं (श्रीकान्त वर्मा : माया-दर्पण) श्रीकान्त वर्मा की यह स्वीकृति एक मज़ाक है क्योंकि वे "शोविण्डो में/ दागों से भरा/ पेटी-कोट" (माया दर्पण) टांगने में ज्यादा रुचि रखते हैं। भोगवादी यह मांसलता 'हंसी में हिलते वक्ष' (विनोदचन्द्र पाण्डेय : सफेद चिड़िया) में अटकी रहती है और उसके वक्ष की रसभरी गोलाइयां (केशु, काली बदली, अभिव्यक्ति) 'फैलते स्तनों की परिधि' के कारण निर्बन्ध हो जाती है। ऐन्द्रिक सुख की भूल-भुलैया में कवयित्री पूरी तरह नग्न हो जाती है –

"फैल रही है परिधि स्तनों की
हसरतें अभी जवान हैं
आओ साथियों....उत्सव करें
नाचें, गाएं
रक्त की लय पर
कसे हुए स्तन
थिरकते हुए
आमन्त्रित कर रहे हैं....
आओ साथियों....आज रियायत न करें तनिक भी...
मुनासिब बेरहमी से........।" (*शान्ता सिन्हा : समानान्तर सुने*)

वासना के ये घोर वैयक्तिक क्षण काम ग्रन्थियों की ऐंठन है। यह ऐंठन बेडरूम के बेरहम बिस्तर तक ही सीमित रहनी चाहिए। व्यक्तिगत अनुभवों का यह सूअर-भोज समाज के स्वास्थ्य के लिए विषभोज है। चरम हताशा के क्षणों में कुण्ठाएं यदि गलीच क्लीवता में ढलने लगें तो साहित्यकार को नीलकण्ठी बन उसे पी-पचा लेना चाहिए। गीत कवि ऐसे ही नीलकण्ठी हैं। उनमें आत्मविश्लेषण का साहस भी उतना ही है जितना सत्य कहने का। यही कारण है कि वादों के कटघरे में कैद भोगवादी संस्कृति के समर्थक अधिकांश कवि नरक को स्वर्ग समझ उसे जीते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भोगते रहे लेकिन नवगीत की दृष्टि उनकी तरह गिद्ध नहीं बनी। हताश की कुंठा मृगछाला के मनोवैराग्य में व्यक्त होती है, नारी के स्तनों की परिधि में नहीं। गीतकारों में भी हताशा है -

"दोनों हाथ बांध कर धन ने, पावों को बेकार कर दिया,
बेईमान बहुत भूखा था, खाने को ईमान धर दिया
तन बिखरा बिखरा रहता है, मन पर बिछी हुई मृगछाला,
लगता है अपने हाथों से, जैसे अपना वध कर डाला।"

साहित्यकार के जीवन में भी आशा-निराशा, कुण्ठा के असह्य व्यक्ति-क्षण होते हैं। एक सामान्य व्यक्ति की तरह उसका विचलन भी स्वाभाविक है लेकिन इसके बावजूद वह सामान्य व्यक्ति से अलग स्तर पर खड़ा है, इसीलिए उसे साहित्यकार कहा जाता है नहीं तो गली-गली में कालिदासों की जमात पैदा हो जाए। कवि को जीवन की सामान्यता से अलग करना दृष्टिकोण नहीं है। मन्तव्य यह है कि कवि की आचार संहिता समाज के लिए आदर्श होनी चाहिये, क्योंकि साहित्य के 'स-हित' की सार्थकता इसी में है। इसलिए यह अतिरिक्त दायित्व आ पड़ता है साहित्यकार पर। नेता के आचरण से समाज सुधरता है। साहित्यकार मानव के सांस्कृतिक मानस को नेतृत्व करता है। इस दृष्टि से कुकुरमुत्तों की तरह मूल्यतोड़ू ऐसे कालिदासों की समाज को कोई जरूरत नहीं है। बीट कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, अस्वीकृत कविता, टटकी कविता आदि काव्यान्दोलन 'अकविता' से दो कदम आगे कुत्सावादी सिद्ध होते हैं। गीत, अगीत, प्रगीत, नवगीत जैसे आन्दोलन इस श्रेणी में नहीं आते क्योंकि इनमें शैलीगत अन्तर है, वैचारिक नहीं। अकविता के सम्बन्ध में श्याम परमार की टिप्पणी बिल्कुल सटीक है - "सामाजिक आवर्त्तनों ने जिस सभ्यता को महानगर के चौराहे पर लाकर खड़ा किया है, उसकी हड्डियों पर चिपके मांस को नोच कर क्लान्त थके हारे, बीटन डाउन-बीटनिकों ने उसे भूखे-प्यासों की ओर ठेल दिया। कलकत्ते में आकर सभ्यता के इसी कंकाल की रानों के बीच चिपके ल्यूकोप्लास्ट को मलयज चौधरी ने उधेड़ना शुरु किया। नाभि, के नीचे नारी के फूल बागान की तीव्र ललक (हनी का जन्म दिवस, समीर राय चौधरी) और कोलैप्सिबल जांघों पर पड़े हुए गुलाब में ('कन्वेक्स गुलाब' : मलयराय चौधरी) हंग्रीयलिज्म का अवसान हो गया। प्रेमिका के ब्लाउज से अपनी कविता की कापी की जिल्द बांध कर खुश हो कैशोर्य भावुकता के अन्त में यही पाया कि जीवित रहने का कोई अर्थ नहीं है"। (अकविता और कला सन्दर्भ) इसलिए अपरीतिकालीन रीतिकालीन दृष्टिबोध सम्पन्न, संकल्प-चुके ऐसे साहित्यकारों की नपुंसक पंक्ति में गीत कवि शामिल होने को कतई तैयार नहीं हैं जो औरत के ज़िस्म को नुमाइश की बेजान वस्तु समझ अपनी मानसिक वासना के फफोले फोड़ कर अवसाद-विषाद की दल-दल में धंसे रहते हैं।

मूल्यहीनता और निराशा की स्थिति के कारण ही 'बीट' से लेकर अन्य सभी काव्यान्दोलनों में 'सेक्स' का भरपूर चित्रण हुआ। हमारे भारतीय साहित्य में प्रेम के दोनों रूप हैं काम और वासना। परन्तु काम के साथ 'देव' लगाया गया और वासना को लौकिक रति सुख दे दिया। आश्चर्य यह है कि दोनों का ही सुन्दर वर्णन है, वीभत्स नहीं। महान् काम ही महाकाव्य दे पाया, वासना नहीं, क्योंकि वासना में स्वस्थ चिन्तन नहीं होता। स्वस्थ चिन्तन के अभाव में इनके पास कोई मूल्य-दृष्टि नहीं थी। जिस प्रकार कर्म-चेतना से कट कर 'बीट' लोग भोग और ऐय्याशी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में ही जीवन की सार्थकता मानते थे उसी प्रकार नयी कविता के ये कवि स्वस्थ चिन्तन और कविता-मूल्यों से बच कर महान् कवि होने का गौरव चाहते थे जो कदापि सम्भव नहीं था। बीटवादी यदि अन्तर्राष्ट्रीय साहित्यिक तस्करों के श्रीमुख है तो बीट कवि उनकी जेब में पड़ा आइडेण्टिटी कार्ड है। डॉ. धर्मवीर भारती ने अपने एक लेख में इस दिशाहीन बीटवादी आन्दोलन की बंजर भूमि पर टर्राते बरसाती मेढकों की अच्छी खबर ली है – "कैसी व्यंग्यात्मक परिणति है। वे अपना विद्रोह करते हैं एक ऐसी दुनिया के खिलाफ जहां बुद्धि और अन्त में आश्रय पाते हैं, एक ऐसी दुनिया में जो अफीम या मारिजुआना या एल. एस. डी. द्वारा उनके लिए कल्पना में निर्मित कर दी गई है – आत्मवंचना और पलायन का यह नया ढंग उन्हें भी आकर्षित करता है जिसमें न प्रतिभा है, न सच्ची सृजनात्मकता, न अदम्य विद्रोह, न पराजय की पीड़ा, झूठे मुखौटों से लड़ाई लड़ने की शपथ से शुरु होने वाला यह सशक्त आन्दोलन खुद एक मुखौटे में कैसे परिणत हो गया" (*तलाश ईश्वर की बजरिये अफीम, सारिका, मार्च पृ. 67*)। ऐसे में जीवन और परिस्थितियों में व्याप्त अन्तर्विरोध वस्तुस्थिति को सामने ला देता है। यही कारण है कि मूल्यों के प्रति इनकी निषेधात्मक दृष्टि ने इन्हें विवेकहीन बना दिया है। "प्रायः ये सब एक-दूसरे का निषेध करते दिखाई देते हैं और कुल मिलाकर अपने आप सबका निषेध हो जाता है" (*डॉ. जगदीश गुप्त : नयी कविता स्वरूप और समस्याएं*)।

आशा-निराशा का द्वन्द्व कभी समाप्त नहीं होता द्वन्द्व सृष्टि का मूल है। साहित्य, दर्शन, कला और भावना के स्तर पर प्रत्येक दृष्टि में द्वन्द्व व्याप्त है। हमें लगता है कि समय की रफ्तार थम गयी, दिशायें खो गई लेकिन ऐसा नहीं होता। आशा का प्रबल स्वर मानव को संघर्ष की राह में सन्नद्ध रखता है। निराशा की चरम परिणति आशा में ही होती हैं। अंधेरे भी उजाले की तरह नैरन्तर्य लाते हैं। जड़ भौतिकता ने मानव के संवेदन सूत्रों को बन्दी बना लिया है। कल्पनाओं के सुन्दर ताजमहल रोज़ खड़े होते हैं लेकिन उसकी नींव में कितनी चीखें दबी हैं, कोई नहीं जानता। काल-चाबुक कंकरीट के इस जंगल में अपने स्मृति-चिह्नों को आंजता जाता है। कैबरे नर्त्तकी हो या कॉलगर्ल या किसी को दहेज की टिकटी पर फांसी वरण करनी पड़ी हो अथवा सिन्दूर पुछी इस संसार की जन्मदात्री से उसी की मौत के वारंट पर दस्तखत करवाए जा रहे हों – लेकिन इन्हीं विरूपताओं के मध्य भारतीय संस्कृति का कमल मुस्कुरा रहा है। ऐसा नहीं है कि समाज की वर्त्तमान ज्वलन्त समस्याओं से नये गीतकार विमुख हैं। नारी के प्रति इन कवियों-गीतकारों का अपना एक अलग नज़रिया है। नारी को श्रद्धा, अबला, माता, सुख-दुःख की पुंजीभूत समाधि कहते हुए उसके प्रति आदर दृष्टि रखी। इनमें एक भी पंक्ति उन्मुक्त-मैथुन सुख की नहीं मिलती।

वाद-वादियों की तरह वे नारी के आत्म सम्मान को ठेस नहीं पहुंचाते। उसे ज़लील नहीं करते। उसे मात्र शरीर नहीं समझते। समय-सत्य से मुख भी नहीं मोड़ते। यह भारत है जहां अपनी ही माटी की छाती पर परसंस्कृति के सांप फन फुफकारते हैं। नारी को भोगलिप्सा की थाली में परोसा जाना अब भारतीय संस्कृति बन गई है। आज 'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते, रमंते तत्र देवता' का सिद्धान्त चौराहों पर बिक रहा है। हमारी संस्कृति तो पाश्चात्य संस्कृति से भी दो कदम आगे बढ़ गई है। अव्यस्क बालिका को नवरात्रों में पूजने वाले हाथ और देवी मानने वाले तत्व क्या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घूंघट में बन्द अनखिली नन्हीं कलियों के साथ बलात्कार नहीं कर रहे? यह संस्कृति निश्चय ही पाश्चात्य देन नहीं है। वहां भले ही कम आयु की गर्भवती स्त्रियां हों किन्तु वहां ऐसा पाप नहीं होता। औरत का ज़िस्म एक घर होता है जहां परिवार जन्मता है, फलता और फूलता है। फिर उस घर की छत पूरी होने से पहले ही गिराने की कोशिश कैसे बरदाश्त की जाती है? संवेदना के इन सूत्रों के चूक जाने पर जब आज का गीतकार वर्त्तमान भारतीय संस्कृति की खबर लेता है तो मन के कोमल तन्तु तक झुलस जाते हैं –

"ये भूखे कंकाल सिकुड़ते सड़कों पर/ रातों में, इन की सांसें/ क़ब्र खोजती झंझावातों में।"

(*रामावतार त्यागी*)

भारतीय स्त्री के साथ जो सबसे बड़ी विडम्बना जुड़ी है, वह है दहेज। दहेज की वजह से ही पुत्री के साथ घर में दूसरे दर्जे का व्यवहार होता है। हम आधुनिका, प्रगतिशीलता और समानाधिकार की कितनी ही भाषणबाजी कर लें लेकिन सामाजिक व्यावहारिक जीवन में नारी के साथ आज भी उपेक्षित व्यवहार किया जाता है। जब इस प्रकार का पक्षपात जारी ही रहना है तो हम क्यों न अपनी दृष्टि बदल दें? नवगीतकारों ने नारी जीवन के इस अभिशाप पर अनेक गीत लिखे हैं। अनेक पदों में नारी शोषण के संकेत मिलते हैं। गीतकार द्वारा जिस सहज लहजे में समाज के इस नंगेपन को उघाड़ा गया है निश्चित ही वह रेखांकित करने योग्य है। गीतकारों ने नंगेपन को नहीं स्वीकारा। नारी-कोख को खुरचने वाली पाशविकता नहीं जानती उसको जन्म देने वाली भी कोई नारी है जिसे वह मां कहता है। उस भीड़ का क्या करें जिसने किशोरी युवती को रंडी बना कर प्लेट में सजे नाश्ते की तरह चबाना शुरू कर दिया। पनघटी बाला 'नूरी' में ढल गयी और सामाजिक वैषम्य ने 'पूरब का उजास' उसके लिए सांझ का रेशमी घना अंधेरा बना दिया। इस 'स्वप्न सुन्दरी' उर्फ 'नूरी' उर्फ 'जनपद कल्याणी' की व्यथा को कौन समझेगा जिसने सिर्फ सत्रह वसन्तों में ही जीवन का विशाल अनुभव पा लिया। नाम, ग्राम भूल चुकी सबकी 'प्रिया 'नूरी' भी गीत कवियों की कविता के केन्द्र में है जो धरती के बोझ समाज-नियन्ताओं की क्रूरता को अपने खिलते-सिसकते वक्ष पर रोज क्रीड़ा करवाती है और उनके कोढ़ी हाथ उसके गदराये ज़िस्म से भूख मिटाते-मिटाते अपनी जन्मकुण्डली के स्रोत को भूल नृशंसतापूर्वक उसे घुन लगी बेसब्र ज़िन्दा लाश में तब्दील कर देते हैं।

निश्चय ही आज की गीत कविता ने इस सूक्ष्म संवेदना को एक निश्चित दिशा देकर हमें पुनः सोचने को विवश किया है। विधि और विधान दोनों में पुरुष के समान होकर भी स्त्री अभी तक भयानक असमानता और वर्ग-विषमता की शिकार है, दुर्बल व दूसरा सेक्स है वह। पहले औरत के लिए पुरुष के सार्वजनिक पद संभालना और जैविक दृष्टि से स्पृहणीय, अलभ्य बने रहना उपहास्य था। नौकरी की आर्थिक प्रतिद्वन्द्विता में आते जाने से धीरे-धीरे वह अनौचित्य, वह व्यंग्य तो बीत गया। नए किस्म की यौनाकर्षण-विधा भी निर्मित हो गई, भले ही अभी नारी के इस रूप का सौन्दर्यशास्त्र न बन पाया हो। चाहे अभी इस प्रकार की प्रतियोगिता-सफल बाह्य कर्त्तव्यरत नारी को लेकर नये-नये मिथकों का सृजन बाकी हो, पर घर के भीतर पुरुष अभी तक नृशंस नर हैं जो अपनी मादा को इच्छानुसार बनाने और मिटाने का अपना पाशव अधिकार सुरक्षित मानता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आए-दिन पढ़ने-सुनने और देखने को मिलती ऐसी कई एक घटनाएं हमारे उस सांस्कृतिक पतन की ओर संकेत करती हैं जहां पश्चिम से आयातित फैशन, फिल्म पैसे और डिस्कों के दाहक चटकीले रंगों ने मानव की आत्मा तक को राख कर दिया है। शहरों की नसों में घुलता यह ज़हर अब कस्बों और गांवों में भी अपना कहर बरपाना शुरू कर चुका है। इसे कमोबेश सभी नवगीतकारों ने महसूसा है और मन में तेजाब भरती इस पीड़ा के अग्निवर्णी मरोड़मुखी नर्त्तन-तांडव का तीसरा नेत्र उनींदा नहीं रहने दिया अपितु उसे पूरा खोला है। गीतकार भी जिन्होंने नवगीत की पृष्ठभूमि को सहेजा इस दृष्टि से पीछे नहीं रहे। मधुर की इन पंक्तियों में तेज़ाब गंधी विवशता देखिए –

"मेरा गांव हो रहा है शहर,
मैं किसे कहूं?
वो आदमी रहे न वो घर
मैं किसे कहूं.......।"

अब भी समय है कि हम इस देहधर्मी वातावरण द्वारा देश के शिक्षा-संस्थानों व सड़कों को चलते-फिरते पब और वेश्यालय बनने से रोकने के प्रयासों में जुट जाएं। इसीलिए आज के गीत-कवि अपनी कविताओं के माध्यम से पैने व्यंग्यों द्वारा समाज की सुप्त चेतना को झकझोरते हैं। वह चाहते हैं कि नारी को भोग्या मात्र समझने वाली संस्कृति का बहिष्कार करें तथा शिक्षा-पद्धति में व्यापक सुधार कर काले धन पर इतराते नए अमीरजादों को दुरस्त कर अपनी उसी प्राचीन संस्कृति को मजबूत बनायें जो हमारा गौरवाधार रही है।

मध्ययुग तक आते-आते व्यक्ति परमुखापेक्षी उतना नहीं था, जितना आज है और न ही उसके समक्ष चिन्तन का संकट था। आज का कवि अस्वीकार से आरम्भ करके प्रस्थापित अंधेरे में दिशा खोजना चाहता है। मान-मूल्यों के इस रूपायन में ही गीत कविता की सार्थकता वह भी मानता है किंतु समष्टि और समरसता के ज्वार में बहना उसकी नियति नहीं है। इसीलिए युग धर्म से जुड़ी इन गीत कविताओं में यथास्थिति के प्रति विद्रोह भी है और प्रकाश की संकल्पना भी। गीत कवि अपनी पग-ध्वनि को पहचानते हैं और मूर्च्छित वर्त्तमान को संवेदना-शून्य नहीं होने देना चाहते। मसीहाई डगर उन्होंने नहीं पकड़ी, इनका यायावर मन इतना भर चाहता है कि अस्तित्व का संकट आत्म विस्मृति का कारण न बन जाए। अनुभूति को धार देने वाली ये गीत कविताएं मन्थन से उपजी हैं और विसंगतियों से टकराव में ही आस्था का संतुलन खोजती हैं। आज का गीत कवि समाज में चेतना का प्रवाह फैला देना चाहता है क्योंकि काव्य-सत्य के प्रति उसमें पूर्ण निष्ठा है। नैसर्गिकता की पहचान करवाने वाली इन गीत कविताओं से कवि समाज-मानस को संस्कारित कर रहा है। अतः कवि युवा-मानस के हाथ में विश्वास की कंदील थमा कर उन्हें प्रेरित करता है।

अतः "आधुनिकता और सहजता के नाम पर वादों के कटघरे में कैद रोमानी, विलासी, अति यथार्थ और कुल मिलाकर यह पूंजीवादी प्रभाव क्या जन-मानस को ग्राह्य हो सकता है? गीत कवि की यह आशंका ठीक है। ग्राह्य हो अथवा न हो युवा पीढ़ी को भटका अवश्य सकता है"

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(डॉ. सुरेश गौतम : मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन : पृ. 50)। ये कविता-वाद युवा-पीढ़ी के लिए भटकाव का मसौदा है, जीवन-दृष्टि का संबल नहीं।

यौन-तृप्ति युवा-आकांक्षा और अकुण्ठित जीवन के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। इसे पाना ही चाहिए लेकिन क्या इसी को जीवन-दर्शन का प्राथमिक और अन्तिम बिन्दु बनाया जा सकता है? यौन-कुण्ठाओं के शिकार ये कवि अपनी यौन गज़ालतों को दार्शनिकता के अन्तिम छोर तक पहुंचाना चाहते हैं। व्यावहारिकता के धरातल पर ऐसा कभी सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि इस वैयक्तिक तृप्ति के क्षण से परे नर-नारी के पास एक और दृष्टि है, कर्म का एक व्यापक मंच है और संघर्ष की एक वृहत्तर भूमिका है। इस जीवन-दृष्टि से आंख मूंद लेने के बाद भी आपाधापी के इस युग में मनुष्य कितने दिन यौन-तृप्ति के माध्यम से जीयेगा? नवगीतकारों ने इस प्रकार की विकृत मानसिकता को नहीं जिया। उनके काव्य-संकलन मनुष्य के आगे कर्म-चेतना का व्यापक मंच प्रस्तुत करते हैं। नये कवियों की गीति संपदा मानव संघर्ष को धार देने के लिए वृहत्तर भूमिका निर्मित करती है। मशीनीकरण के इस युग में उन्होंने अपनी आंखें ही खुली नहीं रखी, चिंतन के झरोखों को पारदर्शी भी बनाया है। उनकी एक भी गीत कविता में यौन गज़ालत देखने को नहीं मिलेगी। अपितु स्वस्थ प्रणय-प्रेम के चित्र ही इनकी शक्ति बन कर उभरे हैं। साहित्यकार को अपनी यौन-गज़ालतों को एक अतृप्त क्लीयोपेट्रा के रूप में नहीं उपस्थित करना चाहिए जो मनुष्य वर्ग को सम्पूर्ण दायित्वों से काट कर नारी योनि में रेंगता कीड़ा बना दे। नयी कविता के अधिकांश कवियों ने यही किया लेकिन नवगीतकार लगभग चार दशक से अपने साहित्य के माध्यम से मनुष्य जिज़ीविषा की लड़ाई लड़ते रहे हैं। उसके जीवट को उन्होंने नमस्कार किया है। उसकी निराशाओं, हताशाओं को ओढ़ा है, उसकी आस्था को झकझोरा है, उसे उसकी खोई हुई पहचान दी है। गीत कवियों ने अपने गीत-कविताओं द्वारा नारी की जांघों में सोने के लिए प्रेरित नहीं किया तो दूसरी तरफ अकवितावादियों, निषेधवादियों, बीटवादियों आदि ने कविताओं के माध्यम से काम-ग्रंथियों का दस्तावेज बयाना है। 'एक और नंगा आदमी' में सतीश जमाली (जिन्होंने 'अकवि' का संपादन भी किया है) ने शिवलिंगों की माला पहनना, टट्टी खाना, पेशाब पीना, बूढ़ी औरत की सड़ी योनि पर से मक्खियां चुन कर चबाना आदि क्रियाओं द्वारा अपने समकालीन कवियों की सड़ी- गली मानसिकता का परिचय दिया है। इस पंक्ति में ऐसे अनेक नाम हैं जिन्होंने गाली- गलौच, कुरूप-नग्नता को अपनी कविताओं की आधार वस्तु बना कर 'रति और रीति' को काव्य-सुन्दरी के रूप में प्रस्तुत कर विकृत काम-शास्त्र की रचना की है किंतु गीत कवियों ने अपने को इस पंक्ति से बहुत दूर रखा है। हालांकि नयी कविता के साथ-साथ जिन-जिन लोगों ने इस प्रकार के फ़ैशन से फायदा उठाना चाहा था वही लोग अकविता के फ़ैशन से लाभ उठाने के लिए लालायित ही नहीं रहे बल्कि इस गंदली बाढ़ का किनारा भी बने *(दृष्टव्य : लहर : अगस्त 66 : पृ. 63)*। लेकिन नवगीतकारों ने ऐसी स्थितियों को न केवल नकारा बल्कि उनका विरोध भी किया। स्वस्थ चिन्तन-आचरण की दृष्टि से इस प्रकार के साहित्य पर विचार करना शायद रसिक पाठक के लिए सबसे बड़ा गुनाह है। यह संस्कार आधुनिक कतई नहीं, बल्कि समसामयिकता से हट कर सामन्तवादी अनैतिक संस्कारों का वसीयतनामा है। ऐसे सामन्तवादी रीतिकालीन संस्कार औरत को गर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मांस और उत्तप्त सांसों से लबरेज घर की चारपाई समझते हैं जिसे अपनी स्नायविक उत्तेजना को ढीला करने के लिए जब चाहा बिछा लिया। कमोबेश सेक्स की यह अराजकता, पुरुष स्खलन का यह घृणित व्यापार ही इस वर्ग के अधिकांश कवियों के लिए साहित्य है। नवगीतकारों का काव्य संसार इनसे किसी भी स्तर पर मेल नहीं खाता।

नवगीतकारों के लिए नारी समन्वय की शिखा, प्रेरणा का स्रोत, प्राण की अनुभूतियों का पर्याय, सुहृदयी, सौम्य, शुचि, सरल, शान्ति की प्रतिमूर्ति,पावन और – 'ज़िन्दगी तो प्राण-पावक की कहानी/ प्रश्न के पवमान का तुम एक हल हो' जो ज़िन्दगी का कालकूट पीकर शिवकण्ठी हो जाती है। नवगीतकारों ने नारी की प्राचीन प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करने का प्रयत्न किया है -

"विश्व की हर वस्तु है अनुवाद केवल, वास्तव में सृष्टि की तो मूल हो तुम।"

(रामबहादुर सिंह भदौरिया)

निषेधात्मक दृष्टि और रूढ़ परम्पराओं का विरोध अवश्य होना चाहिए लेकिन फ़ैशनपरस्ती के नाम पर नहीं। फैशनपरस्ती ही यदि परम्परा का विरोध है तो अकविता, अस्वीकृत कविता, ठोस कविता, ताजी कविता, भूखी पीढ़ी की कविता, युयुत्सावादी कविता, श्मशानी पीढ़ी की कविता आदि काव्यान्दोलन ही सामने आएंगे जो बुलबुलों के समान फूटेंगे और कालान्तर में उनका कोई नामलेवा नहीं होगा। गंभीरता से देखा जाए तो इन काव्यान्दोलनों से व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का अहं सवाल जुड़ा है जो इन रचनाकरों को हर समय कुण्ठित और परेशान रखता है। ये रचनाकार नींव की ईंट न बन कर सीधे महल का कंगूरा बनना चाहते हैं। बिना साहित्यिक सीढ़ियों के चढ़ने की इस प्रवृत्ति के पीछे गुटबन्दी शिविरबाजी की भूल-भुलैया है जिसमें ईमानदार रचनाकार कभी नहीं फंसना चाहेगा। ऐसे शिविरों में भागीदार बन साहित्यकार खुद अपनी साहित्यिक मौत के वारंट पर हस्ताक्षर कर देता है। यथार्थ और आधुनिकता के नाम पर अपने आपको सत्यान्वेषी और सत्यवक्ता समझने वाले वाद कटघरे में कैद ये कवि भूल गए कि "आधुनिकता एक गुणात्मक बोध होते हुए भी नैरन्तर्य पूर्ण प्रक्रिया है। इस अनवरत प्रक्रिया के ऊपरी स्तर बदलते रहे हैं, बदलते रह सकते हैं। लेकिन उसका अन्तर्वर्ती धर्म नहीं बदलता। वह धर्म है मनुष्य की प्रगति में सहायक होना" (*हिन्दुस्तानी शोध पत्रिका : सम्पादक : बाल कृष्णराव, अंक 1, 2*)। यही वह बिन्दु है जहां नवगीतकारों के गीत-कविताएं अपनी सार्थकता प्रतिपादित करती हैं। इन गीतकारों ने अपने गीत-अनुभवों को साहित्यिक समझ की कसौटी पर ताना कसा है, कुम्हार की तरह उनका रचाव किया है, शिल्पकार की तरह सहजता से तराशा है, इसीलिए उनके एक हाथ में विष बुझा ज़हर-सा यथार्थ है तो दूसरे हाथ में अमृत संजीवन रस भी। वाद के कटघरे में कैद कवियों ने वैचारिक दृष्टि से बाह्य आग्रह स्वीकार करने के बाद भी उन आग्रह के तत्वों का अभ्यान्तरीकरण नहीं किया क्योंकि "जब तक अन्तर्जगत के तत्वों में उसका रंग नहीं चढ़ जाता, जब तक वह हृदय में तड़पते हुए जीवनानुभव का अंग नहीं बन जाता, तब तक उस आग्रह के अनुरूप रचित साहित्य निष्प्राण और कृत्रिम ही रहेगा।" (मुक्तिबोध : नये साहित्य का सौन्दर्य-शास्त्र) ! कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा उठा कर भानुमती की तरह कुनबा जोड़ने से कविता नहीं हो जाती। पर अधिकांश वाद-वादियों ने कविता के नाम पर इतिहास, भूगोल, जैविकी, मनोविज्ञान रसायनशास्त्र, भौतिकी दर्शन आदि विषयों और फिल्मी संवादों की कतरनें जुटा कर यही सब किया। निष्क्रियता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की सूचक इनकी दिशा-दृष्टि मोतियाबिन्द से ग्रसित थी। "मूढ़ताओं का उदाहरण अन्यवाद, लिंग्वादलमोतवाद, महत्त्वाकांक्षाओं के युयुत्सावाद या एब्सर्ड कविता और साहित्यिक गुटबाजी के नवगीत आदि नामों से प्रचलित काव्य-प्रवृत्तियों के पीछे कोई ठोस आधार, मान्यता या दृष्टि नहीं है। वस्तुतः ये सारी रचनाएं शिल्प के अतिवादी प्रयोग भर हैं जो अक्सर एब्सर्डिटी को भी मूल्य रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करती हैं।" (*धर्मयुग : अप्रैल 1965, पृ. 35*) इसमें कोई शक नहीं कि सांस्कृतिक और वैचारिक आधार के कमजोर होने पर राष्ट्रीय स्तर पर ही नही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी पिछले दशकों में नवनिर्माण की बातें कम और अनास्था, कुंठा, संत्रास, विघटन, आक्रोश, हताशा, विद्रोह की अभिव्यक्ति को अधिक बल मिला है। इस कारण शिल्पगत चमत्कारों का वैविध्य तेजी से संक्रमित होता रहा, ऐसे में कोई भी रचनाकार वैचारिक दृष्टि को मांज कर अपनी अलग से विशिष्ट पहचान नहीं बना सका। परिणामतः अन्दर का खोखलापन बरकरार रहा बाह्य साज-सज्जा भरपूर होती रही। युग परिवेश पर छाये अंधे युग को अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण ने और भयावह बना दिया। ऐसी संत्रसित स्थितियों में जीते जनसामान्य की पहचान तो क्या सुरक्षित रहती, प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार के संवेदना तन्तु भी झुलस गए। इसी कारण भावावेश के स्थान ने बौद्धिकतापूर्ण नवगीतों और विचार कविता का रूप ले लिया। साहित्य का कोई भी रूप हो परिवर्त्तन को रोका नहीं जा सकता, रोकना भी नहीं चाहिए लेकिन प्रश्न दूसरा है–ऋणात्मक अथवा निषेधात्मक एप्रोच लेकर क्या साहित्य की रचना की जा सकती है? शाश्वत मूल्यों के बिना क्या कोई भी साहित्य जीवित रह सकता है? निश्चित ही नहीं रह सकता। गीत कविता को मूल्यबोध से अनुप्राणित होना होगा। आन्तरिक विघटन अभी आरम्भ नहीं है। आत्मलक्षी पत्र-पत्रिकाओं के प्रचारात्मक वक्तव्यों से कोई ऐसा भ्रम नहीं होना चाहिए और न किसी विवेक सम्पन्न आलोचक को होगा ही। अपने को अलग दिखाना अलग बात है और वस्तुतः अलग हो जाना दूसरी बात।" (*दृष्टव्य : नयी कविता : स्वरूप और समस्याएं*)। रसिक पाठक को इस बात का विश्वास होना चाहिए कि अर्थहीन आन्दोलनों के झंझावातों के बावजूद आज भी गीत की सांस्कारिक गति रुकी नहीं है। अतः कैक्टसोन्मुखी समस्याओं के ट्रेजिक चक्रव्यूह में फंसी कराहती, बिंधी मानवीय आत्मा के लिए मतवादों की भीड़ से अलग नवगीत अकेले शंख की पुकार-से, आस्था-विश्वास और संघर्ष का दीपदण्ड लेकर उपस्थित है। नवगीतकारों की मानव केन्द्रित दृष्टि सर्जनात्मकता की ओर एक विशिष्ट कदम है। नवगीतकारों की पहचान व्यक्ति कवि के रूप में नहीं बल्कि सामाजिक चेतना के उन्नायक कवि के रूप में होनी चाहिए। शाश्वत मूल्यों के पुर्नस्थापन के लिए उनका संघर्षनाद पिछली पंक्ति का नहीं बल्कि हरावल दस्ते का है। उनकी तलाश नयी कविता के शिविर से अलग है। अधिकांश नवगीतकारों ने कोई ऐसा मुहाना नहीं तलाशा जो उनको सुविधापरस्तों और सुविधाधारियों की पंक्ति में शीर्षासन करवाये। तलाश सफ़र में ही है और उनका सफ़र जारी है। जन-कल्याण के लिए सर्जनात्मक क्रान्ति का वैचारिक शंख फूंकते हुए नवगीतकारों की ऊर्ध्वगामी साधना 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की गूंज संजोये–दूर, लेकिन स्पष्ट समरसता का पांचजन्य सुन रही है। इनके कण्ठ-शंख की गूंज-अनुगूंज में मानव-जिज़ीविषा के सप्तसुर है। इन सुरों को ताल मिलें, मानवीय समरसता की स्थिति में पहुंच कर जीवन-गान बने–यही इनकी साधना का एकमात्र और अन्तिम लक्ष्य है। इनके काव्य संग्रह सम्भावनाओं के अपार स्रोत उजागर कर रहे हैं। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नवगीतकारों को यह नहीं भूलना चाहिए कि अभी उनके सामने अनेक तरह की चुनौतियां हैं। उसे केवल बाहर के ही नहीं, भीतर के संघर्ष से भी जूझना है। नवगीत काव्यधारा के तट पर तपस्या में अभी बैठा है, पूजा प्रारम्भ हुई है, अतः फल की आकांक्षा अभी नहीं करनी चाहिए। अभी तो साधना पर रंग चढ़ना शेष है।

मेरे गीत यात्री, लो, इस रंग के चढ़ाव की प्रक्रिया में यह एक मुख्य पड़ाव और आ गया। विश्राम कर लो कुछ क्षण! श्वास-पथ पर चलते चलते तुम थक गए होगे। थकन स्वाभाविक है, रमानाथ अवस्थी की यह पंक्ति सार्थक हैं – 'चाहे सृजन की हो, चाहे भजन की हो, थकन की नींद एक है।' तुम्हारी यात्रा में वह स्वर भी था जो अविराम संघर्ष का आदी और अहंकार का विरोधी रहा – 'ओ विप्लव के थके साथियों, विजय मिली विश्राम न लेना' (बलबीर सिंह रंग)। यह भी तुम्हारा एक अनुभव है कि भजन को सृजन नहीं माना जा रहा। इस प्रकार के अनेक चौंकाने वाले मयूरपंखी शब्द-कपोत गगन में स्वच्छन्द विहरते मिले होगें। गगन को कोई मधुवर्णी विशेषण नहीं दिया क्योंकि आज नवगीत विशेषणवर्णी हो गया है। तुम्हारे अनुभव संसार में जीवन के प्रति विभिन्न दृष्टिकोणों का अपूर्व अक्षय कोष संचित हो गया होगा। तुम्हें स्मृति है? तुम कहां से चले थे? सब कुछ स्मृत रह सकना बहुत कठिन होता है परन्तु जो कुछ स्मृत है वह भी भारतीय आदर्श की भाव-यात्रा का अक्षुण्ण इतिहास है। इतिहास प्रेरणा देता है, वह सृजन नहीं है। खंडहर इसी अर्थ में इतिहास है क्योंकि उसके गौरव-क्षण भावना को पुनर्निर्माण की ओर प्रेरित कर देते हैं। एक ओर अग्नि-शिखर पर तिल तिल जलते, ज्योति-लुब्ध, आत्मदाही पतंग है और दूसरी ओर हरीतिमा की गरिमा, एकान्त की शान्ति, स्थिर गंभीरता लिए हुए सप्तवर्णी सरोवर की उत्थान-पतन का अभ्यास करती, अपनी निरन्तरता पर इठलातीं, खुले आकाश के नीचे बाल बिखेरे लोल लहर की स्निग्ध छाती पर हर्षित हंस हैं। पक्षी दोनों है परन्तु उड़ान में अन्तर है। धरती की पाषाण-प्रतिम कठोरता को चीर कर जो कटखनी हवाओं के बीच सांस लेता है और जीवन के लिए जीवन देता है, उस अभाव, विवशता और यातना से त्रस्त मनुष्य तक गीत-शंख गूंजे, ऐसा प्रयत्न करने की भावना जहां है वहां अवसरवादी, सुविधा लोभी, आडम्बर प्रिय, दंभी सुन्दर व्यक्तित्व देखे होगें जो आज चर्चा में हैं, विशिष्ट हैं, अब उनके इतिहास हो जाने में कोई सन्देह नहीं रह गया है।

गीत यात्री! तुम्हारी प्रतीतियों ने अनेकवर्णी रंग रास के संघर्ष-पर्व मनाए हैं उन के पदचाप-चिह्न रचाव-रंग लेकर नादात्मक गूंज के साथ रस गुफा में झरझराये हैं। निश्चय ही तुम्हारे पैरों के लीक चिह्न यात्रेच्छुओं के लिए कोई न कोई दीप अवश्य जलायेगें, यह विश्वास है – 'यह निशानी मूक होकर भी बहुत कुछ बोलती है' (बच्चन)। पहले भी कहा जा चुका है यात्रा का अन्त नहीं होता, एक पड़ाव आता है। प्रत्येक पड़ाव यात्रा की तैयारी देता है। हमेशा सोते रहने की यारी नहीं देता। तुम्हें लग ही रहा होगा कि मन पर रात उतर रही है। मेरा तुम्हारा यहीं तक का साथ था। वातावरण बदल रहा है। रात सब को अपनी गोदी में लेना चाह रही है। सो जाने पर कोई किसी की नहीं सुनता, किसी से नहीं बोलता, अपने में ही मगन सोता रहता है। आज मनुष्य को नींद आ रही है। लग रहा है नींद का बहाना है। बेचैन को चैन की नींद नहीं आती। शेरजंग गर्ग ने ठीक कहा है – 'नींद की गोद में सोना तो सहज है, लेकिन–आंख तक नींद के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आने में समय लगता है।' यह रात शान्त नहीं है। असंतोष के बादल उमड़ रहे हैं, हृदय रोष से जल रहे हैं, भटके हुए उदास समय को अनुकूल पर्यावरण नहीं मिल पा रहा। इस वातावरण के अभाव में तुम्हें नया पर्यावरण-परिवेश दे कर तुम से विदा ले रहा हूं तब तक के लिए जब तक मेरे यात्री को गीतात्मक भोर न मिल जाये। कोई नया अनुसन्धान आयेगा जो तुम्हारे पांव दबा कर थकन उतारेगा। सार्वभौम जीवन के पथ पर एक नयी लय के साथ यात्रा प्रारम्भ हो जायेगी। स्वर तो एक ही है लय भिन्न होती है – 'गीत तुम भी, गीत मैं भी/ एक स्वर है, लय अलग है'।

मेरे गीत यात्री! मैं तुम्हें भूलूंगा नहीं! मैं तुम्हें नयी धुन में पुकारुंगा। मन के राग का सप्त स्वर समुदाय लेकर एक नये साज़ पर फिर तुम्हें गाऊंगा। गाना मेरा मंत्र है, अब स्वभाव बन गया है। जब लोग गाना पसन्द नहीं करते या भौंडा गाना पसन्द करते हैं वहां सही गाना ही स्वाभिमान-संरक्षण है। इस यात्रा तक जो गाया उससे साधना में और अधिक तीव्रता आये–इस के लिए साधक को तैयार रहना चाहिए। हां, तुम भी मुझे मत भूलना। मैंने कई बार निर्मम च्यूंटी काट ली है और तुम्हें दुःख दिया है। परन्तु मिठास के लिए यह निचोढ़ का कसाव आवश्यक था। आलोचना के लोचनों में संकोच की सिकुढ़ नहीं होनी चाहिए। पक्षपात का नहीं, निष्पक्ष काजल होना चाहिए।

मेरे परिपार्श्व वृत्त! तुम्हें लग रहा होगा कि विदा लेते लेते भी ज्यादा बोल गया हूं। मैं जान कर नहीं बोला – यह आदत हो गई है। संदेह बना रहता है कि कोई सही बात पूरी तरह संप्रेषित हुई या नहीं। संदेह आज के जीवन की वृत्ति विशेष भी तो है। इस बड़बोले युग में न बोलना भी ठीक नहीं समझा जाता। इसलिए तुम भी बोलते रहना। स्मरण रखना गीत यात्री! तुम्हारा युगनद्ध होकर बोलना ही तुम्हें जीवित रखेगा। सब कुछ कह देने पर भी अनकहा शेष रह जाता है।

यह 'इत्यलम्' किसी 'अथ' की प्रारम्भिक मानसिकता का संकेत है। तुम्हें पता है सृष्टि के मूल में यही द्वन्द्व है। द्वन्द्व सृजन की प्राणवत्ता की इतिहासात्मक परम्परा का भुक्ति-मंत्र है। भुक्ति के बिना मुक्ति भी नहीं है। दूसरे शब्दों में भुक्ति मुक्ति का ही प्रारूप मानना चाहिए। नवगीत जीवन की जिस अनुभूति के व्यापक फलक को विस्तार देता जा रहा है यह 'इत्यलम्' से उसी 'अथ' की और बढ़ते कदम हैं। प्रत्येक 'इत्यलम्' की आत्मा में इसी 'अथ' का प्रच्छन्न सौन्दर्य है। इस सौन्दर्य में शिवत्व है। सौन्दर्य और शिवत्व का निवास सत्य में है। साहित्य ही क्या, कला के प्रत्येक रूप में सत्य, शिव और सुन्दर की व्यापकता इसी 'अथ' को प्रमाणित करते हैं। यह 'इत्यलम्' से अविच्छिन्न पड़ाव उसी 'अथ' के लिए भोर की कनी जैसा है। तुम्हारे इस पड़ाव के बाद 'अथ' का स्वप्न मेरी आंखों में है। गीत के गात में नये प्राण गूंजेगें – 'अथ' की यह अर्थवत्ता है। इसी 'अथ' की गुंजनमयी प्रेरणा से अभिभूत होकर सिद्धनाथ कुमार ने जो कहा है – वही तुम्हारे पड़ाव के 'इत्यलम्' के बाद 'अथ' की संदली कस्तूरी है –

"आओ, हम फिर स्वर के जाम भरें,
गीतों का एक दौर और चले।
बुझी-बुझी महफिल में बैठे हैं मनमारे,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खामोशी, दहशत में सब चुप हैं अंधियारे।
कंठ खुलें, स्वर फूटें, संवादी शब्दों के दीप जलें!
जब से स्वर बन्द हुए, घिर आया अंधियारा,
हवा चली ठंड बढ़ी, बर्फ बनी अंगारा।
गीतों की गर्मी से जमा हुआ सन्नाटा कुछ पिघले!
गीतों में आग बहुत, शक्ति बहुत होती है,
टूटती अनास्थाएं, भक्ति बहुत होती हैं।
गीतों का दौर चले, ज़िन्दा रहने को फिर मन मचले!" (*सर्वप्रिय, अगस्त 1990*)

शंभू का एक नाम महागीत भी है। अतः शेष की खोज में फिर से इस महागीत को समर्पित हो त्रिनेत्रीय! फिर फिर..... .... पुनः पुनः....

यही जीवन है नेही! ... .. 'इत्यलम्' – 'अथ'।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिशिष्ट/ पूर्व सन्ध्या

गीत का एक और द्वार : फ़िल्म और गीत की साहित्यिकता

फ़िल्मी गीतों पर लिखना हमारे ग्रन्थ का उद्देश्य नहीं है परन्तु हुआ यह कि हमारे अनेक प्रमुख गीतकार आर्थिक आकर्षण या यशोलिप्सा के कारण फ़िल्मों की ओर आकर्षित हो गए। गीत के इस फ़िल्मी गमन के प्रासंगिक कारणों को दृष्टि में रखते हुए ही सहसा प्रेमचन्द जैसे कथा शिल्पी का ध्यान हो आया, इसी प्रकार कथाकार अमृतलाल नागर भी फ़िल्मों से पर्याप्त समय तक जुड़े रहे। जब यही यथार्थ गीत के क्षेत्र में अनुभूत हुआ तो लगा कि फ़िल्म के क्षेत्र को सहसा ओझल नहीं किया जा सकता। साहित्यिक दृष्टि से फिल्म की चकाचौंध आज की विकृत मानसिकता के कारण उपेक्षणीय-सी प्रतीत होती है। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि फ़िल्म जैसे माध्यम को जो जनता के अत्यधिक सन्निकट है, अत्यधिक प्रभावी है उस का दुरूपयोग हो रहा है। भारतीय जनमानस को इस माध्यम द्वारा सुसंस्कृत, सत्याश्रयी और सभ्यता के आदर्शों को आत्मसात् प्रक्रिया की ओर प्रेरित किया जा सकता था। इस विषय पर पृथक रूप से विचार किया जाएगा। फ़िल्मों में जो गीतकार अपनी साहित्यिकता के लिए चर्चित रहे उन की चर्चा करना लेखक का नैतिक कर्त्तव्य है।

रेशमी भोजपत्र और हृदय की लेखनी

चलचित्र का रेशमी पर्दा जनता की आंखों के लिए सदा चमत्कार उत्पन्न करता रहा है। चित्र सुन्दर होना तो अनिवार्य है ही उस की प्रेषणीयता भी उतनी ही उल्लासक हो यह भी आवश्यक है। चलचित्र का इतिहास लिखना उद्देश्य नहीं है परन्तु यह बात निश्चय ही प्रासंगिक है कि जब कोई साहित्यकार चलचित्र के क्षेत्र में पांव रखता है तो वह थोड़ा सा सरलाग्रही हो जाता है। इससे एक बात तो यह स्पष्ट हो जाती है कि साहित्य का क्षेत्र उतना उदार नहीं होता जिस में सहृदय अथवा हृदयहीन सभी समाविष्ट हो जाएं जबकि चलचित्र का क्षेत्र ऐसा ही होता है जिसमें सभी प्रकार के मानस एक विचित्र प्रकार की गुदगदी में हंसते, मुस्कराते और रो लेते हैं। साहित्य का अध्ययन इसीलिए सहृदय तक सीमित रहता है।

यहां यह भी नहीं भूलना चाहिए कि फ़िल्म निर्माताओं का दृष्टिकोण साहित्यिक प्रसारण नहीं होता। वह समाज के प्रत्येक वर्ग का स्पर्श चाहता है। इस स्पर्श के पीछे आर्थिक दृष्टिकोण है। पहले चाहे उतना न हो आज तो विशुद्ध आर्थिक-वृत्ति ही प्रमुख है। यही प्रमुखता आधुनिक चलचित्रों को स्तर से गिरा भी रही है। साहित्य और फ़िल्म दोनों के बीच एक महान् अन्तर यह है कि फ़िल्म छोटे से छोटे और अनपढ़ व्यक्ति को भी अपनी और आकर्षित कर सकती है। इसलिए उसमें साहित्यिक गीतों की गुंजाइश कम रह जाती है। साहित्यिक गीतों की शब्दावली और उनकी अर्थवत्ता चलचित्रीय वातावरण के अनुकूल नहीं बैठ पाती। इसका अर्थ यह नहीं है कि फ़िल्मी गीतों में हृदय पक्ष दुर्बल होता है। वास्तविकता यह है कि फ़िल्मी गीतों को लिखते समय लेखक अशिक्षित, अल्पज्ञ, सीमित विचारवाही जन-साधारण को मस्तिष्क में रखता है। देखा भी यही गया है जो गीत सरल, सीधा और बिना उलझाव के होता है वह अधिक प्रसिद्ध होता है। यद्यपि गीतों की प्रसिद्धि में संगीत का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है तथापि गीतों के बोलों का महत्त्व ओझल नहीं किया जा सकता।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहित्यिक गीतों का वातावरण इसीलिए चलचित्रों में प्रतिफलित नहीं हो पाता। यह कहने में बिल्कुल संकोच नहीं है कि यदि किसी फ़िल्म में 'बीती विभावरी जाग री' गाया जाये तो वह निश्चय ही असफल और प्रभावहीन रहेगा। उपर्युक्त उदाहरण से यह सिद्ध किया जा रहा है कि मात्र गीत का नाम लेने से साहित्यिकता नहीं आ जाती। उस का क्षेत्रफल एक सर्वथा पृथक व्यक्तित्व लिए रहता है। यदि हमारे समाज का बौद्धिक स्तर इतना उच्च हो जाये कि निराला की रचनाओं को फ़िल्माया जा सके तो हम निश्चय ही साहित्यिक सतयुग की अवधारणा का स्वप्न देख सकते हैं। ऐसा क्यों नहीं हो पाया, इस तर्क-वितर्क के लिए यह समय नहीं है। संकेत यह करना हैं कि सामाजिक कारणों से फ़िल्मी और साहित्यिक गीतों में अन्तर आ गया है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि किसी गीत में साहित्यिकता आ जाती है तो उस की गंध कुछ विशिष्ट आनन्द की अनुभूति देती है। उदाहरण के लिए पं. नरेन्द्र शर्मा ने 'ज्योति कलश छलके' गीत लिखा प्रसिद्ध भी हुआ। इस गीत को लता जी विशिष्ट संगीत-समारोहों में गर्व के साथ गाती रहीं हैं। इस गीत की साहित्यिकता ने मन को मुग्ध किया है। इस गीत का व्यक्तित्व अन्य गीतों में विशिष्ट है परन्तु संख्या की दृष्टि से देखे तो ऐसे कितने गीत हैं। इसलिए हमारे सामने फिर वही जन मानस की ओर सर्व साधारण की समस्या आ जाती है। यदि साहित्यिक गीतकार चाहता भी है तो फ़िल्म निर्माता उसे पचा नहीं पाते और अर्थ का प्यासा गीतकार उसी धुन में गाने के लिए विवश हो जाता है।

फ़िल्मी साहित्यिकता की पहचान अलग है। पं. सुमित्रा नन्दन पंत ने विश्व प्रसिद्ध नृत्यकार उदय शंकर द्वारा निर्मित 'कल्पना' चित्र के लिए गीत लिखे परन्तु गीत प्रसिद्ध नहीं हो सके। क्योंकि पंत की साहित्यिकता आड़े आ गई। सम्भवतः उसके बाद पंत जी ने फिल्मों के लिए गीत नहीं लिखे। जनता में वे गीत अधिक प्रसिद्ध हुए जो जनता की सर्वसाधारण बोल चाल की भाषा में लिखे गये।

यदि हम गहराई से विचार करें तो फ़िल्मों में उर्दू के शायर अधिक सफल हुए क्यों कि देश पर मुग़लों का शासन एक लम्बे समय तक रहा, साथ ही जब अंग्रेजों का शासन आया तो उसने भी उर्दू को ही प्रोत्साहित किया। इस का प्रभाव यह हुआ कि जो गीत उर्दू शैली पर लिखे गए वे प्रसिद्ध हुए। उर्दू शायरों ने फ़िल्मों पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया जिसके परिणाम स्वरूप हिन्दी के गीतकारों को प्रवेश नहीं मिल पाया। यदि किसी ने प्रवेश ले भी लिया तो उसको हतोत्साहित किया गया। समस्त वातावरण के बीच भी हिन्दी गीत के व्यक्तित्व को सुरक्षित रखने वाले प्रदीप, भरतव्यास, सरस्वती कुमार दीपक, शैलेन्द्र, अनजान जैसे गीतकार विरले हैं। साहित्यिक गीतों के मंच से उठ कर पं. भवानी प्रसाद मिश्र, नीरज और वीरेन्द्र मिश्र जैसे गीतकारों ने फ़िल्मों में प्रवेश तो किया परन्तु शीघ्र ही वे वापिस लौट आए। नीरज ने अच्छे गीत लिखे परन्तु अन्ततोगत्वा उन्हें भी किसी न किसी रूप में उर्दू की अदायगी को स्वीकारना पड़ा। शुद्ध हिन्दी के साहित्यिक गीतों की संख्या नगण्य है। हिन्दी गीतों के मरुस्थल में प्रदीप और भरतव्यास ऐसे गीत कवि रहे जो गीतों में हिन्दी का मकरन्द बिखेरते रहे। मात्र शब्दों के प्रयोग से हिन्दी उर्दू का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। एक सांस्कृतिक चेतना का स्पर्श होता है जो व्यक्ति को भीतर से आभास करा देता है। प्रदीप, भरतव्यास, शैलेन्द्र, नरेन्द्र शर्मा के गीतों में जो हिन्दी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गंध है वह नीरज के अनेक गीतों में नहीं है – यह स्वीकारने में संकोच नहीं करना चाहिए। अर्थ और यश की लिप्सा ने उन्हें साहसी होने में बाधा डाल दी। सरस्वती कुमार दीपक के गीतों में हिन्दी की साहित्यिक आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश अनुभव होता है।

उदाहरण स्वरूप अनेक गीतों को प्रस्तुत किया जा सकता है। जो हिन्दी के गीतकार फ़िल्मों में रहे वे हिन्दी की अस्मिता को जीवित रखते रहें परन्तु साहित्यिकता का जहां तक सम्बन्ध है, वह उतना साहचर्य नहीं कर सकी। यही कारण है फ़िल्मी गीतकारों का हिन्दी गीत साहित्य में स्थान सुरक्षित नहीं हो पाया। इन गीतकारों में पं. नरेन्द्र शर्मा और नीरज ऐसे गीतकार हैं जो साहित्य के क्षेत्र में भी जाने जाते हैं। पं. नरेन्द्र शर्मा का हिन्दी गीत साहित्य में अन्यतम स्थान है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इस रेशमी भोज पत्र पर हिन्दी के गीत लिखने वालों में गोपाल सिंह नेपाली का नाम आदर से लिया जाता है। नेपाली ने हिन्दी गीत-मंच को अत्यन्त शक्तिवान गीत दिए। वे मंच से ही फ़िल्मों की ओर सरके। इसमें अतिशयोक्ति नहीं है कि नेपाली ने फ़िल्मों को अच्छे गीत दिए। साहित्यिकता की दृष्टि से भी नेपाली ने उसी श्रेणी के गीत लिखे जैसे प्रदीप और नरेन्द्र शर्मा ने लिखे। वे असमय इस संसार से चले गए अन्यथा फ़िल्मों को और अच्छे गीत प्राप्त हो सकते थे। यहां यह भी स्पष्ट करना प्रासंगिक होगा कि नेपाली ने फ़िल्मों में प्रवेश तो ले लिया परन्तु नरेन्द्र शर्मा के समान उन्हें साहित्य में स्थान प्राप्त नहीं हो पाया। फ़िल्मों में प्रवेश से पूर्व उन्होंने जो साहित्यिक गीत लिखे थे उन्हें आधार बना कर उन्हें सम्मान दिया जा सकता है। फ़िल्मी प्रवेश ने उन की साहित्यिकता छीन ली। जो गीत साहित्य के लिए हानिकर अध्याय साबित हुआ।

गीत तो आज भी लिखे जा रहे हैं परन्तु केवल तुकें मिलाने से हिन्दी गीत नहीं बन जाता। सच तो यह है कि धन कमाने के चक्कर में ऐसे तथाकथित गीतकार नयी उमर की नयी फ़सल में आग लगा रहे हैं। इस प्रसंग में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि इन गीतों में साहित्य वृत्ति की खोज बालू में तेल की तरह असंभव है। दिन पर दिन स्थिति और भी बिगड़ती जा रही है। खेद यह है कि जो माध्यम जन साधारण तक पहुंचने में अत्यन्त सहायक है उस की उपयोग शैली में गिरावट आ गई है। इससे भी अधिक कष्टप्रद यह है कि लोग शहद में कंकरीला रेत मिला रहे हैं और किसी को चिन्ता नहीं है कि इस पतन वृत्ति को रोका जाय। एक सामान्य शिक्षा प्राप्त व्यक्ति भी इन फ़िल्मी गीतों और साहित्यिक गीतों के अन्तर को भली भांति अनुभव कर सकता है। साहित्यिक गीतों में हृदय की जो सुगंध आती है वह इन गीतों में दूर दूर तक नहीं मिलती। इस का एक कारण यह भी है कि ये गीत स्थिति की आवश्यकता (Situation) के आधार पर लिखे जाते हैं। लिखने के लिए लिखे जाने वाले गीतों में स्वाभाविकता खोजना भी तो अस्वाभाविक है।

लोकगीत और चलचित्रीय मानसिकता

हिन्दी के अनेक गीतकारों ने गीतों में लोक गीत की सहजता, स्वाभाविकता और सरल मन की हर्ष-विषादमयी अनुभूति को सहेजने का प्रयत्न किया है। इस प्रयत्न में सभी सफल नहीं हो पाते। इसका कारण यह है कि लोकगीत का सौन्दर्य वही अपनी आत्मा में समेट सकता है जो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस धूल की चिकनाहट में स्नात हो। होता यह है कि जो कभी उस आंचल की छांह में नहीं बैठा, सोया वह जब केवल सुन कर अपने गीत में लोक गीत ठूंसता है तो उस का सापेक्ष प्रभाव सर्वथा शून्य हो जाता है। लोक गीत की छाप पड़ते ही मनुष्य बिलबिला उठता है। कई संगीतकार लोक धुन का आश्रय लेकर गीत लिखा लेते हैं जो बड़ा अटपटा लगता है।

कोई पंजाबी जब ब्रजभाषा के लोकगीत लिखेगा तो वह प्रभावी आनन्द देने में सफल नहीं हो सकेगा - ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। शब्दों का उच्चारण, प्रयोग और लहज़ा एक पृथक अन्विति चाहते हैं। लोक गीतों का उपयोग सार्थक हो सकता है परन्तु इसके लिए अतिशय एवं अतिरिक्त चातुर्य की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए 'बन्दिनी' का गीत 'मेरा गोरा अंग लै लै' को 'लई ले' उच्चरित किया गया है जो बहुत विचित्र प्रतीत होता है। अवधी, भोजपुरी और ब्रज के अनेक लोक गीत ऐसे हैं जो इस प्रकार का अन्यथा प्रभाव छोड़ते हैं।

पुस्तकालय
पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
102495

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

GURUKUL KANGRI LIBRARY

	Signature	Date
Acces on		5-1-97
Class on		
	RE	18-2-98
Tag etc	संजयपंत	3-1-98
Filing		24-3-98
E.A.R		28-3-98
Any other	RE	19-2-98
Checked		20-2-98

Compiled
1999-2000

ARCHIVES DATA BASE
2011 - 12

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमारे अन्य प्रकाशन

1.	भारतीय चिन्तन	डॉ. शंकर दयाल शर्मा (राष्ट्रपति भारत)
2.	लोकतंत्र की प्रक्रिया	डॉ. शंकर दयाल शर्मा
3.	हमारे राष्ट्रपति-डॉ. शंकर दयाल शर्मा	प्रीति
4.	ऐसे बने महान	डॉ. विजय अग्रवाल
5.	राजा भोज की चतुराई	डॉ. विजय अग्रवाल
6.	जो झुके नहीं, जो रूके नहीं	डॉ. विजय अग्रवाल
7.	विविधा-(कहानी संग्रह)	डॉ. रेखा ढैला
8.	पृथक् पर्वतीय राज	डॉ. नवीन चन्द्र ढौंडियाल
9.	लोक संस्कृति के विविध आयाम	डॉ. पोखरिया
10.	गोलू देवता, कुमाऊँ-हिमालय के न्याय देवता	डॉ. चन्द्रमोहन अग्रवाल
11.	हिमालय के उपयोगी पशु	डॉ. सोमवंशी
12.	कुमाऊँनी भाषा एवं संस्कृति	डॉ. के. डी. रुवाली
13.	कुमाऊँनी-हिन्दी शब्दकोश	डॉ. के. डी. रुवाली
14.	हिन्दी-कुमाऊँनी-अँग्रेजी शब्दकोश	डॉ. शेरसिंह बिष्ट
15.	कुमाऊँनी भाषा-साहित्य एवं संस्कृति	डॉ. पोखरिया
16.	कुमाऊँनी लोक साहित्य एवं लोक गीत	डॉ. पोखरिया
17.	कुमाऊँ का इतिहास	कुमाऊँ केसरी स्व. बद्रीदत्त पाण्डे
18.	कुमाऊँ की लोक कला, संस्कृति एवं परम्पराएँ	डॉ. कृष्णा वैराठी
19.	कुमाऊँ शिल्प कला एवं संस्कृति	श्री कौशल किशोर सक्सैना
20.	भारतीय नारी : विविध आयाम (भाग 1 व 2)	डॉ. चन्द्रमोहन अग्रवाल
21.	बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी और भारत के अतीत की खोज	डॉ. ओम प्रकाश केजरीवाल
22.	इक्कीसवीं सदी में गाँधी	डॉ. बटरोही
23.	उत्तराखण्ड आज (अंग्रेजी-हिन्दी)	स. डॉ. वल्दीया
24.	ऐसे थे बापू	डॉ. विजय अग्रवाल
25.	पृथक् उत्तराखण्ड राज्य का औचित्य-नियोजन तथा विकास के नये आयाम-सम्भावनायें और शंकायें	डॉ. शंकर लाल शाह
26.	अठमंगली (कहानी संग्रह)	प्रेम सिंह नेगी
27.	हिन्दी कहानी के 9 कदम	डॉ. बटरोही
28.	संल्कप की ओर	प्रेम सिंह नेगी
29.	उत्तरांचल हिमालय, समाज, संस्कृति एवं पुरातत्व	डॉ. एम. पी. जोशी

श्री अल्मोड़ा बुक डिपो
माल रोड, अल्मोड़ा-263601
दूरभाष : 22148, 22113

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar